

पृष्ठस्य पङ्क्तौ

पृष्ठस्य पङ्क्तौ

| | | | | |
|----------------|-----|-----|-----|----|
| द्वयम् | ... | ... | १४७ | १२ |
| धर्मः | ... | ... | १४८ | ७ |
| रः | ... | ... | १४८ | १४ |
| उत्ता | ... | ... | १४९ | ७ |
| उग्रता | ... | ... | १५० | ३ |
| मोहः | ... | ... | १५० | ११ |
| विवोधः | ... | ... | १५१ | ३ |
| स्वप्नः | ... | ... | १५१ | ११ |
| अपस्मारः | ... | ... | १५२ | ८ |
| पर्वः | ... | ... | १५२ | १३ |
| परणम् | ... | ... | १५३ | २ |
| भालस्यम् | ... | ... | १५३ | ७ |
| अमर्षः | ... | ... | १५४ | ५ |
| भेदा | ... | ... | १५४ | ११ |
| अवहिरथा | ... | ... | १५५ | २ |
| भौतसुक्यम् | ... | ... | १५५ | ८ |
| न्मादः | ... | ... | १५६ | २ |
| हृक्का | ... | ... | १५७ | २ |
| सृतिः | ... | ... | १५७ | १० |
| तिः | ... | ... | १५८ | २ |
| गधिः | ... | ... | १५८ | ८ |
| मः | ... | ... | १५८ | १२ |
| ... | ... | ... | १५९ | ५ |
| ... | ... | ... | १५९ | ८ |
| ... | ... | ... | १६० | ५ |
| ... | ... | ... | १६० | ११ |
| ... | ... | ... | १६१ | ६ |
| ... | ... | ... | १६१ | १४ |
| ... | ... | ... | १६२ | ८ |
| ... | ... | ... | १६२ | १६ |
| ... | ... | ... | १६३ | ५ |
| वाभावः | ... | ... | १६४ | ५ |
| विश्वः | ... | ... | १६४ | ९ |
| भावभेदाः | ... | ... | १६५ | २ |
| भावभेदलक्षणानि | ... | ... | १६५ | ५ |

| | | | | |
|------------------------------|-----|-----|-----|----|
| भावपदनिरुक्तिः | ... | ... | १६७ | ६ |
| रसभेदाः | ... | ... | १६८ | ५ |
| तत्र, शृङ्गारः | ... | ... | १६९ | २ |
| विप्रलम्भः | } | ... | १६९ | १५ |
| संभोगः | | ... | १६९ | १५ |
| विप्रलम्भस्वरूपम् | | ... | १७० | २ |
| विप्रलम्भभेदाः | ... | ... | १७० | ४ |
| तत्र, पूर्वरागः | ... | ... | १७० | ६ |
| कामदशाः | ... | ... | १७१ | ४ |
| तत्र, मरणे विशेषः | ... | ... | १७३ | २ |
| कामदशासु विशेषः | ... | ... | १७४ | ६ |
| पूर्वरागभेदः | ... | ... | १७४ | ९ |
| मानः | } | ... | १७४ | १६ |
| कोपः | | ... | १७४ | १६ |
| ईर्ष्यामानः | ... | ... | १७६ | ८ |
| मानभक्षोपायाः | ... | ... | १७७ | ७ |
| प्रवासः | ... | ... | १७७ | १६ |
| दश कामदशाः | ... | ... | १७८ | ४ |
| प्रवासभेदाः | ... | ... | १७८ | १७ |
| करुणविप्रलम्भः | ... | ... | १८० | ८ |
| संभोगः | ... | ... | १८१ | ६ |
| संभोगभेदाः | ... | ... | १८२ | ४ |
| हास्यः | ... | ... | १८३ | २ |
| हास्यभेदाः | ... | ... | १८३ | ८ |
| करुणः | ... | ... | १८४ | १५ |
| करुणविप्रलम्भात्करुणस्य | | | | |
| भेदाख्यानम् | ... | ... | १८५ | १३ |
| रीदः | ... | ... | १८६ | २ |
| युद्धवीरात्करुणस्य भेदाख्या- | | | | |
| नम् | ... | ... | १८७ | २ |
| वीरः | ... | ... | १८७ | ४ |
| दानवीरः | } | ... | १८७ | १० |
| धर्मवीरः | | ... | १८७ | १० |
| युद्धवीरः | | ... | १८७ | १० |
| दयावीरः | | | | |

| | पृष्ठस्य | पङ्क्तौ |
|--------------------------|----------|---------|
| भयानकः | १८९ | १४ |
| वीमत्सः | १९० | ९ |
| अद्भुतः | १९१ | ४ |
| शान्तः | १९२ | ४ |
| दयावीराच्छान्तस्य भेदा- | | |
| ख्यानम् | १९३ | २ |
| शान्तस्य रसत्वस्थापनम् | १९३ | ११ |
| वत्सलः | १९४ | १४ |
| रसाना मिथो विरोधाख्यानम् | १९५ | १५ |
| भावः | १९७ | ३ |
| रसाभासभावाभासौ ... | १९९ | १० |
| अनौचित्यदर्शनम् ... | १९९ | १४ |
| भावशान्त्यादिः ... | २०२ | १२ |

चतुर्थपरिच्छेदे—

| | | |
|--------------------------------|-----|----|
| काव्यभेदाः | २०६ | ३ |
| अभिधामूलध्वनिः } ... | २०७ | ३ |
| लक्षणामूलध्वनिः } | | |
| लक्षणामूलध्वनेर्भेदाः ... | २०८ | २ |
| अभिधामूलध्वनेर्भेदाः ... | २१० | १२ |
| सुलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वने- | | |
| ल्लेखिष्यम् | २११ | १० |
| शब्दशतशुद्धव्यङ्ग्यस्य | | |
| ल्लेखिष्यम् | २१२ | ५ |
| अर्थशतशुद्धव्यङ्ग्यस्य | | |
| द्वादशभेदाः | २१४ | ९ |
| शब्दार्थशतशुद्धव्यङ्ग्यस्यै- | | |
| कविधावाख्यानम् | २२० | ४ |
| अनेरष्टदशपिघटनिरु- | | |
| पणम् | २२१ | ३ |
| अर्थशतशुद्धव्यङ्ग्यस्यैः प्रथ- | | |
| म्येऽतिदेशः | २२९ | ७ |
| पदोशादिष्वसल्यव्यङ्ग्यव्यान- | | |
| साध्यानाम् | २३१ | १ |
| ध्वनिभेदाख्यानम् ... | २३३ | ८ |
| गुणीभूतव्यङ्ग्यम् ... | २३८ | २ |

| | पृष्ठस्य | पङ्क्तौ |
|---------------------------|----------|---------|
| गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य भेदनि- | | |
| रूपणम् | २३८ | ४ |

पञ्चमपरिच्छेदे—

| | | |
|-----------------------------|-----|---|
| व्यञ्जनास्वरूपम् ... | २५१ | ३ |
| अभिधातो व्यञ्जनायाः | | |
| पार्थक्ये हेतवः ... | २५७ | ५ |
| अभिधालक्षणयो रसादिप्रति- | | |
| पादनेऽक्षमत्यनिरूपणम् | २६० | २ |
| रसादिव्यङ्ग्याख्यानेऽनुमान- | | |
| स्याक्षमत्वमतिपादनम् | २६२ | १ |
| व्यञ्जनोपसंहारः ... | २६५ | ४ |

षष्ठपरिच्छेदे—

| | | |
|----------------------------|-----|----|
| काव्यस्य दृश्यध्वनेर्भेदाः | २७२ | ४ |
| रूपकसंज्ञाकारणम् ... | २७२ | ७ |
| अभिनयः । | २७२ | १० |
| रूपकभेदाः | २७३ | २ |
| उपलक्षकभेदाः ... | २७३ | ५ |
| नाटकलक्षणम् ... | २६३ | १३ |
| अङ्गलक्षणम् | २७५ | ४ |
| गर्भाङ्गलक्षणम् ... | २७६ | ७ |
| नाटकरचनापरिपाटी... | २७६ | १३ |
| पूर्वरङ्गः | २७६ | १५ |
| नान्या आवश्यकत्वम् | २७७ | २ |
| नान्वीलरूपम् ... | २७८ | २ |
| नान्यनन्तरैतिकृतेव्यता | २८२ | ९ |
| भारती रुसिः | २८३ | ४ |
| भारतीरुतेरज्ञानि ... | २८३ | ६ |
| आमुखं (प्रस्तावना) ... | २८३ | १५ |
| प्रस्तावनाभेदाः ... | २८४ | ६ |
| उद्भास्य(त)कः ... | २८४ | ९ |
| कथोदात्तः | २८५ | ६ |
| प्रयोगातिशयः ... | २८६ | ६ |
| प्रवर्तकम् | २८७ | १ |
| अव्यक्तमितम् | २८७ | ५ |
| नयवृत्तमितनिरूपणम् | २८७ | १३ |

| पृष्ठस्य | पङ्क्तिः | पृष्ठस्य | पङ्क्तिः |
|---------------------------|----------|-------------------|----------|
| वस्तुनो द्वैविध्याख्यानम् | २८८ ६ | तत्र, उपक्षेपः | ३०१ १८ |
| प्रासन्निकवस्तुकीर्तनम् | २८८ ११ | परिकरः | ३०२ ६ |
| पताकास्थानम् | २८८ १६ | परिचयासः | ३०२ १२ |
| प्रथमं पताकास्थानम् | २८८ १९ | विलोभनम् | ३०३ ५ |
| द्वितीयं पताकास्थानम् | २८९ ९ | युक्तिः... | ३०३ ११ |
| तृतीयं पताकास्थानम् | २९० १ | प्राप्तिः | ३०३ १६ |
| चतुर्थं पताकास्थानम् | २९० १४ | समाधानम् | ३०४ १ |
| कविक्षिप्ता | २९१ ११ | विधानम् | ३०४ ९ |
| अर्थोपक्षेपकाः | २९२ १६ | परिभावना | ३०४ १५ |
| विष्कम्भकः | २९३ १ | उद्देशः | ३०४ १९ |
| वेराकः | २९३ ८ | करणम् | ३०५ ४ |
| बुलिका | २९३ १३ | भेदः | ३०५ ७ |
| अङ्गावतारः | २९४ ४ | प्रतिमुखसंधिभेदाः | ३०५ ११ |
| अङ्गमुखम् | २९४ ९ | तत्र, विलासः | ३०५ १६ |
| अङ्गमुखे मतभेदः | २९४ १४ | परिसर्पः | ३०६ ३ |
| कविक्षिप्ता | २९५ ३ | विधुतम् | ३०६ ७ |
| अर्थप्रकृतयः | २९५ १५ | तापनम् | ३०६ १० |
| पीजम् | २९५ १९ | नर्म | ३०६ ४ |
| विन्दुः | २९६ ५ | नर्मद्युतिः | ३०७ ८ |
| पताका (वृत्तम्) | २९६ ९ | प्रगमनम् | ३०७ १४ |
| प्रकरी... | २९७ ९ | विरोधः | ३०८ ३ |
| कार्यावस्था | २९८ ३ | पर्युपासनम् | ३०८ ६ |
| आरम्भः | २९८ ६ | पुष्पम्... | ३०८ १० |
| प्रयत्नः | २९८ ९ | वज्रम्... | ३०८ १६ |
| प्राप्त्याद्या | २९८ १४ | उपन्यासः | ३०८ २० |
| नियताप्तिः | २९८ १८ | वर्णसंहारः | ३०९ ७ |
| फलयोगः (फलागमः) | २९९ ३ | गर्भसंधिभेदाः | ३१० २ |
| संधिः... | २९९ ९ | तत्र, अमृताहरणम् | ३१० ५ |
| संधिभेदाः | २९९ १३ | मार्गः... | ३१० ११ |
| तत्र, मुखम् | २९९ १६ | रूपम् | ३१० १५ |
| प्रतिमुखम् | २९९ १९ | उदाहरणम् | ३१० १९ |
| गर्भः | ३०० ५ | क्रमः | ३११ ६ |
| विमर्शः | ३०० १६ | सप्रहः | ३११ ११ |
| निर्वहणम् (उपसंहृतिः) | ३०१ ६ | अनुमानम् | ३११ १५ |
| मुखसंधिभेदाः | ३०१ १४ | प्रार्थना | ३१२ ६ |

| | पृष्ठस्य | पङ्क्तौ | | पृष्ठस्य | पङ्क्तौ |
|-------------------------|----------|---------|--------------------------|----------|---------|
| क्षितिः ... | ३१२ | १४ | फलनिरूपणम् ... | ३२२ | ५ |
| श्री (तो) टकम् ... | ३१२ | १८ | अङ्गप्रशंसा ... | ३२२ | ८ |
| अधिवलम् ... | ३१३ | ३ | रसव्यक्त्यनुरोधेनाज्ञाना | | |
| उद्वेगः ... | ३१३ | ६ | संनिवेशनिरूपणम् | ३२२ | १४ |
| विद्रवः ... | ३१३ | १० | वृत्तयः ... | ३२३ | ५ |
| विमर्शसंधिभेदाः ... | ३१३ | १४ | तत्र, कैशिकी... | ३२३ | १० |
| तत्र, अपवादः ... | ३१३ | १७ | कैशिक्या अज्ञानि... | ३२३ | १२ |
| संफेदः ... | ३१४ | ३ | तत्र, नर्म ... | ३२३ | १५ |
| व्यवसायः ... | ३१४ | ११ | नर्मस्फूर्जः... | ३२४ | १२ |
| द्रवः ... | ३१४ | १५ | नर्मस्फोटः ... | ३२५ | ४ |
| द्युतिः ... | ३१५ | ३ | नर्मगर्भः ... | ३२५ | १२ |
| शक्तिः ... | ३१५ | ९ | साल्वती ... | ३२५ | १६ |
| प्रसङ्गः ... | ३१५ | १६ | साल्वत्या अज्ञानि... | ३२६ | २ |
| खेदः ... | ३१६ | ९ | तत्र, उत्पापकः ... | ३२६ | ४ |
| प्रतिषेधः ... | ३१६ | १६ | सांघाल्यः ... | ३२६ | १० |
| विरोधनम् ... | ३१७ | ५ | संलापः ... | ३२६ | १४ |
| प्ररोचना ... | ३१७ | ११ | परिवर्तकः ... | ३२७ | ३ |
| आदानम्... | ३१८ | १ | आरभटी ... | ३२७ | ८ |
| छादनम् ... | ३१८ | ८ | आरभत्या अज्ञानि ... | ३२७ | १० |
| निर्वहणसंधिभेदाः ... | ३१८ | १४ | तत्र, वस्तुत्थापनम् ... | ३२७ | १२ |
| तत्र, संधिः ... | ३१८ | १९ | संफेदः ... | ३२७ | १८ |
| विधोषः ... | ३१८ | २३ | संक्षितिः ... | ३२८ | ३ |
| प्रयनम् ... | ३१९ | ७ | अवपातनम् ... | ३२९ | ३ |
| निर्णयः ... | ३१९ | १२ | नाट्योक्तयः ... | ३२९ | ९ |
| परिभाषणम् ... | ३१९ | २० | नामकरणम् ... | ३३० | ६ |
| कृतिः ... | ३२० | ३ | नाट्यपरिभाषा ... | ३३१ | १ |
| प्रसादः ... | ३२० | ७ | भाषाविभागः... | ३३३ | ३ |
| आनन्दः ... | ३२० | ९ | षट्त्रिंशद्वक्षणादीनामा- | | |
| समयः ... | ३२० | १२ | रूपानम् ... | ३३४ | १३ |
| उपगूहनम् ... | ३२० | १५ | रक्षणांनुदेशः ... | ३३४ | १८ |
| भाषणम् ... | ३२० | २३ | तत्र, भूषणम्... | ३३५ | ६ |
| पूर्ववाक्यम् ... | ३२१ | २ | अक्षरसंघातः ... | ३३५ | १० |
| काव्यसंहारः ... | ३२१ | ५ | शोभा ... | ३३५ | १३ |
| प्रशस्तिः ... | ३२१ | ७ | उदाहरणम् ... | ३३६ | १ |
| चतुःपञ्चश्लोपसंहारः ... | ३२१ | १८ | हेतुः ... | ३३६ | ६ |

| पृष्ठस्य | पङ्क्तौ | पृष्ठस्य | पङ्क्तौ |
|------------------|---------|--------------------|---------|
| संशयः ... | ३३६ ९ | अक्षमा ... | ३४५ ५ |
| दृष्टान्तः ... | ३३६ १३ | यवः ... | ३४५ ९ |
| तुल्यतर्कः ... | ३३७ ३ | उद्यमः ... | ३४५ ११ |
| पदोद्ययः ... | ३३७ ७ | आश्रयः ... | ३४५ १४ |
| निदर्शनम् ... | ३३७ १२ | उत्प्रासनम् ... | ३४५ १७ |
| अभिप्रायः ... | ३३८ ४ | स्पृहा ... | ३४६ १ |
| प्राप्तिः ... | ३३८ ८ | शोभः ... | ३४६ ५ |
| विचारः ... | ३३८ ११ | पश्चात्तापः ... | ३४६ ९ |
| दिष्टम् ... | ३३८ १६ | उपपत्तिः ... | ३४६ १२ |
| उपदिष्टम् ... | ३३९ ४ | आशंसा ... | ३४६ १६ |
| गुणातिपातः ... | ३३९ १० | अध्यवसायः ... | ३४७ १ |
| गुणातिशयः ... | ३३९ १४ | विसर्पः ... | ३४७ ५ |
| विशेषणम् ... | ३४० १ | उद्देशः ... | ३४७ ८ |
| निरुक्तिः ... | ३४० ५ | उत्तेजनम् ... | ३४७ १३ |
| सिद्धिः ... | ३४० ८ | परीवादः ... | ३४७ १८ |
| भ्रंशः ... | ३४० १२ | नीतिः ... | ३४८ ४ |
| विपर्ययः ... | ३४० १६ | अर्थविशेषणम् ... | ३४८ ७ |
| दाक्षिण्यम् ... | ३४१ ४ | प्रोत्साहनम् ... | ३४८ १५ |
| अनुनयः ... | ३४१ ९ | साहाय्यम् ... | ३४९ १ |
| माला ... | ३४१ १२ | अभिमानः ... | ३४९ ४ |
| अर्थापत्तिः ... | ३४१ १८ | अनुवर्तनम् ... | ३४९ ७ |
| गर्हणम् ... | ३४२ ५ | उत्कीर्तनम् ... | ३४९ ११ |
| पृच्छा ... | ३४२ ११ | यात्रा ... | ३४९ १५ |
| प्रसिद्धिः ... | ३४२ १४ | परिहारः ... | ३४९ १९ |
| सारूप्यम् ... | ३४२ १८ | निवेदनम् ... | ३५० ४ |
| संक्षेपः ... | ३४३ ३ | प्रवर्तनम् ... | ३५० ७ |
| गुणकीर्तनम् ... | ३४३ ८ | आख्यायनम् ... | ३५० ११ |
| लेशः ... | ३४३ ११ | शुक्तिः ... | ३५० १४ |
| मनोरथः ... | ३४३ १५ | ग्रहर्षः ... | ३५१ १ |
| अनुकसिद्धिः ... | ३४३ १९ | उपदेशनम् ... | ३५१ ४ |
| प्रियोक्तिः ... | ३४४ ४ | मुनिनिरूपितं नाटक- | |
| आत्मालंकाराः ... | ३४४ ९ | खरूपम् ... | ३५१ ११ |
| तत्र, आशीः ... | ३४४ १७ | लास्याज्ञानि ... | ३५२ ५ |
| आक्रन्दः ... | ३४४ २१ | तत्र, गेयपदम् ... | ३५२ १० |
| कपटम् ... | ३४५ १ | स्थितपाठ्यम् ... | ३५२ १५ |

| | पृष्ठस्य | पङ्क्तौ | | पृष्ठस्य | पङ्क्तौ |
|-----------------------|----------|---------|------------------------|----------|---------|
| आसीनम् ... | ३५२ | १९ | नाट्यरासकम् ... | ३६५ | १८ |
| पुष्पगण्डिका ... | ३५३ | २ | प्रस्थानकम् ... | ३६६ | ४ |
| प्रच्छेदकः ... | ३५३ | ४ | उल्लाप्यम् ... | ३६६ | १० |
| त्रिगूढकम् ... | ३५३ | ६ | काव्यम् ... | ३६६ | १६ |
| सैन्धवम् ... | ३५३ | ८ | श्रेष्ठणकम् ... | ३६७ | ४ |
| द्विगूढकम् ... | ३५३ | ११ | रासकम् ... | ३६७ | १० |
| उत्तमोत्तमकम् ... | ३५३ | १२ | संलापकम् ... | ३६७ | १८ |
| उक्तप्रत्युक्तकम् ... | ३५४ | १ | धीगदितम् ... | ३६८ | ४ |
| महानाटकम् ... | ३५४ | ३ | शिल्पकम् ... | ३६८ | १३ |
| प्रकरणम् ... | ३५४ | ७ | विलासिका ... | ३६९ | ६ |
| भाणः ... | ३५५ | २ | दुर्मलिका ... | ३६९ | १३ |
| व्यायोगः ... | ३५५ | १४ | प्रकरणिका ... | ३७० | २ |
| समवकारः ... | ३५६ | २ | हृत्प्रीतिः ... | ३७० | ६ |
| डिमः ... | ३५७ | ४ | भाणिका ... | ३७० | ११ |
| ईहास्यगः ... | ३५७ | १४ | श्रव्यकाव्यम् ... | ३७१ | ५ |
| अङ्कः ... | ३५८ | १३ | पद्मलक्षणम् ... | ३७१ | ७ |
| वीथी ... | ३५९ | २ | मुक्तकादिलक्षणम् ... | ३७१ | ७ |
| वीथ्यङ्गानि ... | ३५९ | ८ | महाकाव्यम् ... | ३७२ | ४ |
| तत्र, प्रपञ्चः ... | ३५९ | १३ | शृङ्गकाव्यम् ... | ३७५ | १२ |
| त्रिगतम् ... | ३५९ | १५ | कोपः ... | ३७५ | १४ |
| छलम् ... | ३६० | ३ | गदलक्षणम् ... | ३७६ | २ |
| वाक्केलिः ... | ३६० | ९ | कथा ... | ३७६ | १५ |
| अधिवलम् ... | ३६० | १९ | आख्यायिका ... | ३७६ | १९ |
| गण्डम् ... | ३६१ | ९ | चम्पूः ... | ३७७ | १२ |
| अवसन्दिताम् ... | ३६१ | १५ | विहदम् ... | ३७७ | १४ |
| नालिका ... | ३६२ | १ | करम्भकम् ... | ३७७ | १६ |
| असत्प्रलापः ... | ३६२ | ७ | सप्तमपरिच्छेदे— | | |
| व्याहारः ... | ३६२ | १५ | दोषस्वरूपम् ... | ३७९ | ५ |
| मार्दवम् ... | ३६३ | १ | दोषाणां विभागाः ... | ३८० | ३ |
| प्रहसनम् ... | ३६३ | ११ | दुःश्रवत्वादितोषाणां | | |
| प्रहसनभेदाः ... | ३६४ | १ | कीर्तनम् ... | ३८० | ७ |
| नाटिका ... | ३६४ | १३ | तत्र, दुःश्रवत्वम् ... | ३८० | १३ |
| त्रोटकम् ... | ३६५ | २ | अश्लीलत्वम् ... | ३८० | १ |
| गोष्ठी ... | ३६५ | ७ | अनुचितार्थत्वम् ... | ३८१ | ७ |
| सदकम् ... | ३६५ | १३ | अप्रयुक्तत्वम् ... | ३८२ | १ |

| | पृष्ठस्य | पङ्क्तौ |
|-------------------------|----------|---------|
| ग्राम्यत्वम् | ३८२ | ४ |
| अप्रतीतत्वम् | ३८२ | ७ |
| संदिग्धत्वम् | ३८३ | २ |
| नेयार्थत्वम् | ३८३ | ३ |
| निहतार्थत्वम् | ३८४ | १ |
| अवाचकत्वम् | ३८४ | ५ |
| द्विष्टत्वम् | ३८५ | १ |
| विरुद्धमतिकारित्वम् ... | ३८५ | ५ |
| अविगृह्यविषयांशत्वम् | ३८५ | ६ |
| वाक्ये दुःश्रवत्याचीना | | |
| कीर्तनम् | ३८९ | ५ |
| वाक्यदोषाः | ३९८ | १ |
| तत्र, प्रतिशूलत्वम् ... | ३९८ | ९ |
| लुप्तविसर्गत्वम् | ३९९ | २ |
| आहतविसर्गत्वम् | | |
| अधिकपदत्वम् | ३९९ | ५ |
| न्यूनपदत्वम् | ४०० | ७ |
| पुनरुक्तत्वम् | ४०० | ९ |
| हतवृत्तत्वम् | ४०१ | १ |
| पतत्प्रकृपेत्वम् | ४०४ | १ |
| संधिविशेषत्वम् | ४०४ | ३ |
| संध्यश्लेषत्वम् | ४०४ | ७ |
| संधिकष्टत्वम् | ४०५ | १ |
| अर्थान्तरैकपदत्वम् ... | ४०५ | ४ |
| समासपुनरास्तत्वम् ... | ४०५ | ७ |
| अभवन्मतसंबन्धत्वम् | ४०५ | ८ |
| अक्रमत्वम् | ४०६ | १४ |
| अमतपरार्थत्वम् | ४०७ | ६ |
| वाच्यस्थानमिधानम् ... | ४०७ | १० |
| भग्नप्रक्रमत्वम् | ४०८ | १ |
| प्रसिद्धित्यागः | ४१० | ३ |
| अस्थानस्थपदता | ४१० | ९ |
| अस्थानस्थसमासता ... | ४११ | ९ |
| संकीर्णत्वम् | ४१२ | १ |
| गर्भितता | ४१२ | ५ |

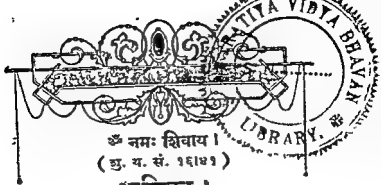
| | पृष्ठस्य | पङ्क्तौ |
|-----------------------------|----------|---------|
| अर्थदोषाः | ४१२ | ९ |
| तत्र, अपुष्टत्वम् | ४१२ | १६ |
| दुष्कमत्वम् | ४१३ | ३ |
| ग्राम्यतरम् | ४१३ | ७ |
| व्याहतत्वम् | ४१३ | ८ |
| अश्लीलत्वम् | ४१४ | ५ |
| कष्टार्थत्वम् | ४१५ | ३ |
| अनवीकृतत्वम् | ४१५ | ६ |
| निर्दुष्टत्वम् | ४१५ | १५ |
| प्रकाशितविरुद्धत्वम् ... | ४१६ | २ |
| संदिग्धत्वम् | ४१६ | ४ |
| पुनरुक्तता | ४१६ | ८ |
| प्रसिद्धिविरुद्धता | ४१६ | ९ |
| विद्याविरुद्धता | ४१७ | ४ |
| आच्छाद्यता | ४१७ | ८ |
| सहचरभिन्नत्वम् | ४१७ | ११ |
| अस्थानयुक्तता | ४१८ | १ |
| अविशेषे विशेषः | ४१८ | ६ |
| अनियमे नियमः | ४१८ | ८ |
| विशेषेऽविशेषः | ४१९ | २ |
| नियमेऽनियमः | ४१९ | ४ |
| विध्ययुक्तता | ४२० | १ |
| अनुवादायुक्तता | ४२० | ५ |
| निर्मुक्तपुनरुक्तत्वम् ... | ४२० | १० |
| रसदोषाः | ४२० | १३ |
| काव्यदोषेभ्यः पृथगलंकार- | | |
| दोषाणामसंभवत्वप्रति- | | |
| पादनम् | ४२४ | १ |
| दुःश्रवणस्य गुणत्वप्रति- | | |
| पादनम् | ४३० | ५ |
| अश्लीलस्य गुणत्वप्रति- | | |
| पादनम् | ४३१ | १० |
| श्लेषादौ निहतार्थाप्रयुक्त- | | |
| योरदोषत्वप्रतिपादनम् | ४३२ | ४ |

| पृष्ठस्य | पङ्क्तौ | पृष्ठस्य | पङ्क्तौ |
|----------------------------------|---------|--------------------------------|---------|
| अप्रतीतत्वस्य गुणत्वा- | | अष्टमपरिच्छेदे— | |
| ख्यानम् ४३२ | १० | गुणाः... .. ४४९ | ३ |
| कथितपदस्य गुणत्वा- | | गुणानां त्रैविध्यम् ४५० | १ |
| ख्यानम् ४३३ | ८ | तत्र, माधुर्यम् ४५० | ३ |
| संदिग्धत्वस्य गुणत्वा- | | माधुर्यव्यञ्जकवर्णादिः ४५३ | ३ |
| ख्यानम् ४३४ | ३ | ओजः ४५४ | ६ |
| कष्टवद्भुःप्रवत्ययोर्युगलत्वा- | | ओजोव्यञ्जकवर्णादिः ४५४ | ७ |
| ख्यानम् ४३५ | ४ | प्रसादः ४५५ | ३ |
| प्राम्पत्यस्य गुणत्वाख्यानम् ४३६ | ३ | प्रसादव्यञ्जकशब्दाः ४५६ | ३ |
| निर्देयतायां दोषाभावस्य- | | श्लेषादीनामोजस्यन्तः | |
| निरूपणम् ४३६ | ८ | भावाख्यानम् ४५७ | २ |
| ख्यातविरुद्धतायां गुणत्व- | | असमासस्य माधुर्यव्यञ्जकत्वे | |
| निरूपणम् ४३६ | ११ | कारणम् ४५९ | ७ |
| कविसमयख्यातानि ... ४३७ | २ | अर्थव्यक्तैः प्रसादयुगेऽन्तः- | |
| पुनरुक्तस्य गुणत्वाख्यानम् ४३८ | १० | भावाः ४६० | १ |
| न्यूनपदतायां गुणत्वा- | | प्राम्प्यदुःप्रवत्यस्यानेन सा- | |
| ख्यानम् ४३९ | ७ | न्तिसमस्तयोः संप्रदः ४६० | ४ |
| न्यूनपदतायां गुणदोषत्वा- | | समतायां गुणदोषयोरन्तः- | |
| भावनिरूपणम् ... ४३९ | १४ | पातः ४६० | ८ |
| अधिकपदस्य गुणत्वा- | | ओजभावीनां दोषाभाव- | |
| ख्यानम् ४४० | ८ | स्वेनाश्लीकारः ... ४६३ | १ |
| कचित्समाप्तपुनरास्तत्वस्य | | अर्थव्यक्तिकान्त्योः स्वभावो- | |
| गुणदोषाभावनिरूपणम् ४४० | १४ | तथादिना संप्रदः... ४६३ | १ |
| शर्भितत्वस्य गुणत्वा- | | श्लेषसमस्तयोर्वैचित्र्यादोपत- | |
| ख्यानम् ४४१ | ३ | योरन्तःपातः ... ४६३ | ५ |
| पतप्रकर्षतायां गुणत्वनि- | | समाधेर्युगलत्वाभावः ... ४६४ | ५ |
| रूपणम् ४४१ | ११ | खण्डनोपसंहारः ... ४६५ | ८ |
| व्यभिचारिणः स्वराच्चेनोक्तौ | | नवमपरिच्छेदे— | |
| दोषत्वाभावकीर्तनम् ४४१ | १४ | रीतिः... .. ४६६ | ४ |
| विरुद्धरसविभावादि संप्रदस्य | | रीतीनां चातुर्विध्यम् ... ४६६ | ७ |
| गुणलनिरूपणम् ... ४४२ | १२ | तत्र, वैदभीं ४६६ | १० |
| विरुद्धरसयोः समावेश- | | गौडी ४६७ | ७ |
| विचारः ४४३ | १ | पाशाली ४६७ | १३ |
| अनुकरणे दोषाणामदोष- | | काटी ४६८ | १० |
| त्वाख्यानम् ४४७ | १५ | | |

| पृष्ठस्य | पङ्क्तौ | पृष्ठस्य | पङ्क्तौ |
|------------------------|---------|------------------------|---------|
| वकाशोचितेन रचनाव- | | रूपकमेदाख्यानम् ... | ५२२ ३ |
| स्थानम् ... | ४६९ १ | परिणामः ... | ५२७ १० |
| दशमपरिच्छेदे— | | संदेहः ... | ५३० १० |
| अलंकाराः ... | ४७१ ३ | भ्रान्तिमान् ... | ५३२ ५ |
| पुनरुक्तवदाभासः ... | ४७३ १ | उल्लेखः ... | ५३३ १ |
| अनुप्रासः ... | ४७४ १ | अपहृतिः ... | ५३६ १ |
| लोकानुप्रासः ... | ४७५ १ | निधनः ... | ५३७ १४ |
| वृत्त्यनुप्रासः ... | ४७५ १० | उल्लेखा ... | ५३९ ४ |
| श्रुत्यनुप्रासः ... | ४७६ ७ | उल्लेखाभेदाख्यानम् ... | ५४१ १४ |
| अख्यानुप्रासः ... | ४७७ १ | अतिशयोक्तिः ... | ५४७ १२ |
| लोपानुप्रासः ... | ४७७ ९ | तुल्ययोजिता ... | ५५१ ७ |
| यमकम् ... | ४७९ ७ | दीपकम् ... | ५५२ ११ |
| वक्तृक्तिः ... | ४८३ २ | प्रतिवस्तूपमा ... | ५५४ १ |
| भाषासमः ... | ४८४ ५ | हृष्टान्तः ... | ५५५ १ |
| श्लेषः ... | ४८४ १५ | निदर्शना ... | ५५५ १५ |
| समज्ञश्लेषः ... | ४८९ १ | व्यतिरेकः ... | ५५८ ८ |
| असमज्ञश्लेषः ... | ४८९ १ | सहोक्तिः ... | ५६० ६ |
| समज्ञासमज्ञश्लेषः ... | ४९७ ५ | विनोक्तिः ... | ५६२ १ |
| विप्रम् ... | ४९७ ५ | समासोक्तिः ... | ५६३ ३ |
| प्रहेलिकाया अलंकारत्व- | | परिचरः ... | ५६९ १ |
| खण्डनम् ... | ४९९ ३ | श्लेषः ... | ५७० ३ |
| पशुताक्षरादिः ... | ४९९ ४ | अप्रस्तुतप्रशंसा ... | ५७१ १ |
| उपमा ... | ५०१ १ | व्याजस्तुतिः ... | ५७७ १ |
| पूर्णोपमा ... | ५०४ १ | पर्यायोक्तम् ... | ५७८ ५ |
| श्रौती उपमा ... | ५०४ ५ | अर्थान्तरन्यासः ... | ५७९ १२ |
| आर्था उपमा ... | ५०४ ७ | काव्यलिङ्गम् ... | ५८३ ५ |
| तद्धिते समासे वाक्ये च | | अनुमानम् ... | ५८५ १० |
| श्रौतार्थोपमाख्यानम् | ५०६ ५ | हेतुः ... | ५८६ ६ |
| स्रोतोपमा ... | ५०८ ६ | अनुकूलम् ... | ५८६ १० |
| एकदेशविपरिन्त्युपमा | ५१७ ६ | आक्षेपः ... | ५८७ १ |
| रसोपमा ... | ५१७ १३ | विभावना ... | ५८९ १ |
| मालोपमा ... | ५१८ ४ | विशेषोक्तिः ... | ५८९ १० |
| अनन्वयः ... | ५१९ ५ | विरोधः ... | ५९० १५ |
| उपमेयोपमा ... | ५२० ६ | असंगतिः ... | ५९२ ९ |
| स्वरणम् ... | ५२१ २ | विषमम् ... | ५९३ ४ |
| स्वकम् ... | ५२१ ११ | | |

| | पृष्ठस्य | पङ्क्ति | | पृष्ठस्य | पङ्क्ति |
|---------------|----------|---------|----|--------------------|---------|
| समम्... | ... | ५९५ | १ | समुच्चयः | ६०७ २ |
| विचित्रम् | ... | ५९५ | ७ | समाधि | ६०९ ५ |
| अधिकम् | ... | ५९५ | ११ | प्रत्यनीकम् | ६०९ ९ |
| अन्योन्यम् | ... | ५९६ | ९ | प्रतीपम् | ६०९ १४ |
| विशेष | ... | ५९६ | १२ | मीलितम् | ६११ ३ |
| व्याघातः | ... | ५९७ | १० | सामान्यम् | ६११ १२ |
| कारणमाला | ... | ५९८ | ७ | तद्गुण | ६१२ १ |
| मालादीपकम्... | ... | ५९८ | १२ | अतद्गुणः | ६१२ ४ |
| एकावली | ... | ५९९ | २ | सूक्ष्मम् | ६१३ ९ |
| सारः | ... | ५९९ | १४ | व्यालोक्ति | ६१४ १३ |
| यथासुरयम् | ... | ६०० | ४ | समावोक्ति | ६१५ १३ |
| पर्याय | ... | ६०१ | १ | भानिकम् | ६१६ ३ |
| परिवृत्ति | ... | ६०२ | ४ | उदात्तम् | ६१८ १ |
| परिसख्या | ... | ६०३ | १४ | रसबदायलंकारा | ६१८ ८ |
| उत्तरम् | ... | ६०४ | ३ | भावोदयायलंकारा | ६१९ १७ |
| वर्धापत्ति | ... | ६०५ | १ | संश्लिष्टकरालंकारौ | ६२२ ४ |
| विशेष | ... | ६०५ | १३ | ग्रन्थालसारश्लोका | ६३२ ६ |





भूमिका ।

(१) अथ कि तावत्साहित्यम् (२) एतच्च कदा प्रादुर्भूतम् (३) साहित्यस्य किमुद्देश्यम् (४) अस्य प्रधानतः प्रयन्थाः यन्त्रद्वय के (५) साहित्यदर्पणस्य च किमितिदृष्टम् ; इति पञ्च प्रश्ना ययोर्देशं समासतोऽत्र मीमांस्यन्ते—

१. कि तावत् साहित्यम्, सहितस्य भाव इति । 'गुणवचनप्राद्वानादिभ्यः—' (पा. सू. ५।१।१२४) इति प्यप् । सहभावप्राद्वानादशप्रस्थानभिन्नानां विधानात् । अथवा सहितस्य कर्म साहित्यम्, यस्मादन परीक्ष्यमाणे कविकर्मणि कान्ये सर्वा विद्याः परिसमाप्यन्ते । उक्तं च भामहलंकारे—

‘न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।

जायते यत्र काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥’

एतदुपजीव्य मयाप्युपाख्ये—

‘स्वस्वाभिलाषादिव यत्र सर्वं

विद्याविलासा मिलिता लुल(ठ)न्ति ।

तल्लोकयैदंध्यविधानयन्त्रं

साहित्यतन्त्रं कलयन्ति कल्याः ॥’

तदेतत्साहित्यं=साहिती, कविकर्मणः शासकत्वात्साहित्यशास्त्रमिति व्यपदिश्यते ।

अत एतस्य शब्दानुशासनमिव काव्यानुशासनमित्यपि नाम व्यवहार्यम् । औपसूत्रादर्शनेऽप्यत्र दर्शनेऽङ्गिन्यङ्गानां यावदुपलब्धविषयरूपत्वाद् विषयाणां चानेकशास्त्रत्वाद् वस्तुतो निरवधि गाम्भीर्यम् । अत्र विल्लङ्घनोक्तिरेषा—

‘साहित्य-पायोनिधिमन्थनोत्थं

कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः ।

१. ऋगादिचत्वारो वेदाः, शिक्षादिषडङ्गानि, मीमांसा, न्यायः, धर्मशास्त्रम्, पुराणम्, जायुर्वेदः, धनुर्वेदः, गन्धर्ववेदः, अथर्ववेद इत्यष्टादश विधाः । इहैव चतसृणां चतुर्दशानामपि मेना विधानामन्तर्भावो भवति । ‘इतिहासवेदधनुर्वेदौ गान्धर्वायुर्वेदावपि चोपवेदाः’ इति प्रशिष्ट । ‘वेदोपवेदात्मा सार्ववर्णिकः पञ्चमो गेयवेदः’ इति ज्ञौहिणिः । “उपकारकत्वादलंकारः सप्तममङ्गम् । सकलविद्यास्थानैकाग्रतन पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम् । पञ्चमी साहित्यविद्या, सा हि चतसृणामपि विद्याना निध्न्न्द्.” इति याज्ञवल्कीयः ॥ २. ‘निर्वेदग्लानिद्वङ्गाख्या—’ इत्यादि (प्रकाशकं) भरतमुनिप्रणीत साहित्यचर्यामिति लेखस्तु भ्रममूलकः ॥

यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय

काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥' (विक्रमाङ्कः १।११)

“एतत्साहित्यशास्त्रमलंकारशास्त्रत्वेनापि व्यवहियते । तत्र ‘अलंकरणमलंकारः’ इति ‘भावे’ (पा. सू. ३।३।१८) इति भावघब्-साधनोऽलंकारशब्दः । ‘अलं-क्रियतेऽनेन’ इति ‘अकर्तरि च—’ (पा. सू. ३।३।१९) इति करणघब्-साधन-स्तूपमादिषु प्रयुज्यते । अपवा ‘प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति’ इति करणव्युत्प-शोऽपि शास्त्रवाची । ‘अलंकारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु’ इति रस-शङ्काधरकारोक्तौ तु लक्षणापि संभवति ।

इयता व्याकरणादिपरिशीलनमन्तरा शक्तिसत्त्वेऽप्यायुष्मतां काव्यकरणव्यसनम्-

‘स्वाधीनो रसनाञ्चलः, परिचिताः शब्दाः कियन्तः, कचि-

त्क्षोणीन्द्रो न नियामकः, परिपदः शान्ताः, स्वतन्त्रं जगत् ।

तद्युयं कवयो वयं वयसिति प्रस्तावनाहुंकृति-

स्यच्छन्दं प्रतिसप्त गर्जत, वयं मौनप्रतालम्विनः ॥’

इत्येवमाकाराणामाक्षेपाणां लक्ष्यीभवति । शिक्षयतायादि कविमाणवकागदंकरेण चाग्भटेन खालंकारे—

‘अधीत्य शास्त्राण्यमियोगयोगा-

दभ्यासवदयार्थपदप्रपञ्चः ।

तं तं विदित्वा समयं कवीनां

मनःप्रसक्तौ कवितां चिदध्यात् ॥’ इति ।

‘कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्—’ (शृङ्गय. सं. ४ व. ८) इत्येवमादिसहा-याभिः “जन्माद्यस्य यतः, शास्त्रयोनिस्वात्” (वे. सू. १।१।२-३) इत्यादि-स्मृतिभिः पारमार्थिकस्य कवेः (परमेश्वरस्य) कर्म शब्दार्थैक्यं जगदिव, जगति व्यावहारिकस्य कवेः (वात्मीकि-व्यास-गुणादय-कालिदासादेः) कर्म काव्यं शब्दार्थैक्यं यथालक्ष्यं प्रादुर्भूयमाणं व्यवहारपदं प्रतिपद्यते । अत्र ‘कः क्व’ इत्यनुशासनमाश्रित्य भगवन्नीतोऽप्यगदत्—

‘नानृपिः कविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनात् ।

विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम् ॥

सु नृत्तरदर्शनादेव शास्त्रेषु कथितः कविः ।

दर्शनाद्वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः ॥

तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः ।

नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना ॥’

१. विक्रमाङ्कदेवचरिताख्यमहाकाव्यादिकर्तुर्विबहणस्य “विन्दुदन्दतरङ्गितामराणाः कृतां, शिरोविन्दुकं कमेति कमशिखितान्वयकषा ये केऽपि सेभ्यो नमः । ये तु प्रगल्भसदृशगणकणकुट्यलकलङ्कितगुणमुल्लेखैः कवयन्ति विच्छन्नकवित्वेभ्येव संनमति ॥” इति शक्तिमात्रसहायान् “कलाधिका हि पुरुषाः कवयो भवन्ति” इत्येवंविधान् इतिदम्भान् विदग्धपन्थीयं चकिरपि न विसरणीया ॥

इति । तदेतच्च, सूत्रितदिशैव त्रयीलक्षणं काव्यमिवाज्ञोपाज्ञादिविभूतिभिरपक्रियमाणकर्तव्यताकं व्यवहारगलोपमानोपमेयभावं भजदप्यन्योन्यानुग्राहकं परीक्ष्यते, एवं च विचारभिदयाज्ञेभ्योऽतिरिक्तमैत्रि; अहविन्यासविशेषः/अज्ञोतिपुण्या-प्रतिभानं परिभाषनीयम् । तथा—शब्दः, द्रव्यं वा गुणो वा स्यात् अर्थः, प्रारम्भ-पिंको वा व्यावहारिको वा प्रातिभासिको वा स्यात्, एतयोः संबन्धः, नित्यो वा कर्तृको वा स्यादित्यन्यदेतत् । प्रकृते स्वस्वसमयमर्यादया भिद्यमानोऽपि संज्ञासंशयज्ञाज्ञिभावबन्धुरो विश्वजनीनो बाह्यप्रवाहः साहित्येन नीयते । तत्र शिक्षा तावत्—(१) शिक्ष्यतेऽनवेति, शिक्षणं वा शिक्षा; वेद इवात्राप्युच्चारणसौष्टवपुरस्कारेणैव गुण-रीतिसंक्रान्तशरीरा । यामन्तरेण 'अविदित-गुणापि सत्कविमणितिः कर्णेपु यमति मधुधारां' इति सुयन्धूकिं तिरोदधती कालिदाससूक्तिरप्यात्मनो नैसर्गिकी श्रवणाज्जलिपुटपेयतां जहती श्रवणमु-द्वेजयति । तदेतदुक्तं भगवता पतञ्जलिना महाभाष्ये—'प्रस्तं निरस्तमविलम्बितं—' इत्यादि (५.) । तथा प्राकृतमुद्दिश्य ह्यालेनाप्युक्तम्—'अमिभं पाठवक-व्यं पठिदं सोडं अ जेण आणन्ति' (गाथा. १।२) इत्यादि । एतद्वर्जनेनैव पुनः—

“अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य

सरस्वती-विभ्रम-जन्मभूम्निः ।

घैर्दर्भरीतिः कृतिनामुदेति

सौभाग्य-लाभ-प्रतिभूः पदानाम् ॥”

‘जयन्ति ते पञ्चमनादमिञ्च-

चित्रोक्ति-संदर्भ-विभूषणेषु ।

सरस्वती यद्वदनेषु नित्य-

माभाति धीणासिच वादयन्ती ॥” (विक्रमाङ्क. १।९-१०)

इति शब्दार्थककाव्यशरीरस्वरूपपर्यवसिता कवयितृनावेदयन्ती चिह्नोक्ति-रिति दिक् ॥

१. ‘तेषामृग्यत्राधेवशेन पादव्यवस्था’ । ‘शीतिषु सामाख्या’ । ‘शेषे यजुः-शब्दः’ (मी. सू. २।१।३३-३५) इति जैमिनिपञ्चकसामयजुषां लक्षणाणि । प्रथ्योऽथर्ववेदो नातिरिच्यत इति सूत्रं ‘द्रष्टव्यम् ॥ २. इदं न्यायदर्शनानुसारेण ॥ ३. इदं बौद्धदर्शनानुसारेण ॥ ४. शब्दो द्रव्यमिति मीमांसकाः ॥ ५. शब्दो गुण इति नैयायिकाः ॥ ६. अयं विभागो वेदान्तिकानाम् । एते कतिपयैर्माथावादिन इति व्यपदिश्यन्ते । अयं मायावादो बौद्धदर्शनानुसारी शारीरक-मीमांसाकारैः श्रीशंकराचार्यैरुद्धावित इति बहूनां अग्रः । वस्तुतस्तु नायं तथाभूतः, किंतु ततोऽपि भूयाश्चिरंतन इति नूतनविज्ञानोन्मीलितलोकचनानामपि सिद्धान्त इति दिक् ॥ ७. नित्य इति मीमांसकाः ॥ ८. कृतक इति नैयायिकादयः ॥ ९. ‘अपृतं प्राकृतकाव्यं पठितुं श्रोतुं च ये न जानन्ति’ इति संस्कृतम् । एतेन तत्तद्देशीयानां भाषाज्ञानानामपि श्रवणं पठनं च व्याख्यातम् ॥

(२) कल्प्यतेऽनेनेति कल्पः, कल्पसूत्रम् । अ च भूतः स्मार्त इति द्विविधः । सोऽयं वेदे इवात्रापि वेदापजीविनि कविकर्मणि देशकालपात्राभ्यनुद्ग्यानोऽने-
कधा वर्ण्यते । तत्राग्निहोत्रविषये—

‘प्रतिशरणमशीर्णज्योतिरश्याहितानां
विधिविहित-विरिच्यैः सामिधेनीरधीत्य ।

कृतगुरुदुरितौघध्वंसमध्ययुर्वयं-

हुतमयमुपलीढे साधु सांनाय्यमग्निः ॥’ (११।४१)

इति माघोक्तिः तथा राजसूयविषये—‘आननेन—’ (१४।१८-५३)
इत्यादयः । एवं तत्र तत्र स्मार्तोदाहरणमपि द्रष्टव्यम् । स्मार्तशब्दस्य पृथार्था-
धिकव्यापारे तु—

‘अवामावामार्धे सकलमुभयाकारघटनाद्
द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत् ।

तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं

निराकारं शश्वज्जप नरपते सिध्यतु स ते ॥’

इत्यादि (१४।८८—९१) नैपथीयचरितस्य पद्यमुदाहार्यम् ॥

(३) व्याक्रियते शब्दजातमनेनेति व्याकरणम् । तद् वेद इवानापि
नामरूपव्याकरणयोगतयैव व्युत्पाद्यते । उक्तं च ‘तदधीते तद्वेद’ (पा. सू.
४।२।५९) इति स्मरतानन्दवर्धनाचार्येण—‘प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः,
व्याकरणमूलत्वारसर्वविद्यानाम्” इति । अत्र—

‘द्वन्द्वोऽस्मि द्विगुरस्मि च गृहे च मे सततमव्ययीभावः ।

तत्पुरुष कर्म धारय येनाहं स्यां यहुव्रीहिः ॥’

इति पदसमासीसमाससूक्तं सामान्यम् । पाणिनिशास्त्राभिप्रायकं तु ‘क्रियेत
चेरसाधुविभक्तिचिन्ता—’ (३।२३) इति नैपथीयस्य पद्यम् ; भारतीयानां प्रा-
थमिकशिक्षाशैलीमभिदधत् ‘दाक्षीपुत्रस्य तन्त्रे ध्रुवमयमभवत्कोऽप्यधीती कपोतः—’
(११।६१) इति बोदाहार्यम् ॥

(४) निरुच्यतेऽनेनेति निरुक्तम् । तच्च यद्यपि निर्वचनयोगेनापाततो व्या-
करणेऽन्तर्भवद् विभाव्यते तथापि विशेषाभिधित्तया पृथगेव गण्यते । तदेतद्वा-
हुलकादिकक्षातिक्रान्तं भगवता पाणिनिना—‘पृषोदरादीनि ययोपदिष्टम्’ (पा.
सू. ६।३।१०९) इत्येवं सूत्रितम् । तदनुगामिभिः—‘वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ
चापरौ वर्णविकारनाशौ । घातोस्वदर्यातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥’

१. अत्र विशेषतस्तैत्तिरीयसंहिता, ब्राह्मणानि च द्रष्टव्यानि, यदुक्तानि कल्प-
सूत्राणि भीमासादृशं च ॥ २. इदानीं तु अग्निहोत्रकर्म कादयाद्यावपि विरलं प्रवर्तते,
यत्पुरा त्रैवर्णिकानां गृहेषु प्रातःसायं ज्वाला ॥ ३. एवमादिषु चिन्त्युत्पादनाय महा-
मदोपाध्यायमहिनायादिव्याख्यानानि द्रष्टव्यानि ॥

इति निरवाचि । निषण्डप्रवृत्तीनां शब्दानामेतदनुसार्यैव व्युत्पादनम् । बहुत्र गत्यन्तरे सत्यप्यहोरात्रादितो होरादिपदव्युत्पादनमेतदुपपन्नमेव विधीयत इत्यलं प्रसङ्गान्तरेण । प्रकृते श्रौतानि स्मृतानि चोदाहरणानि बहूनि । तदितरन्तु—

‘मधुकैटभदानवेन्द्रमेदः-

प्रवविस्त्रा विपमैव मेदिनीयम् ।

अधिवास्य यदि स्वकैर्यशोभि-

श्चिरमेतामुपभुञ्जते नरेन्द्राः ॥’ (अनर्घ. १।१४)

इत्यादिकमूह्यम् । एवं च मेदसो मेदिनीति नैरुक्ताः । मिथ्येस्तु वैयाकरणाः ॥

(५) छाद्यते छन्द्यते वाऽनेनेति छन्द इति नैरुक्ताः । चन्द्यतेऽनेनेति तु वैयाकरणाः । तच्च वेद इवात्रापि ऋग्यजुःसामभिरिव तत्सधर्मभिः पद्यगद्यगानैरुपकारीति यथालक्ष्यं लक्षणीयम् । तत्र लक्षणाभिधानयोः सगतौ—

‘द्विजपुरुषपरिभवकारी यो

नरपतिरतिधनलुब्धात्मा ।

धुषमिह निपतति पापोऽसौ

फलमिय पवनहतं वृन्तात् ॥’

इत्युदाहरणीयम् । इह अपमयादयामिधानोपादानेऽलंकारान्तरमिच्छन्ति कतिपये ॥

(६) चोत्थवेऽनेनेति, योतनं वेति ज्योतिः । अन्ये तु ‘ज्युत्’ इति पठित्वा व्युत्पादयन्ति । अस्माद् अणि अचि वा ज्योतिपम् । एतच्च वेद इवात्रापि निखिलव्यवहारसाधनमित्तस्य व्यङ्ग्यस्य कालस्य, तद्यज्ञकप्रह्ननक्षत्रादेश्च योधनेनोपकारकमिति निर्णायकानां प्रत्यक्षम् । तत्र गणितविषये विज्ञानघटितानि भूयांसि श्रुतिस्मृतिलिङ्गानि । पौरुषाण्यपि—‘ईरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः’ (रघु. ३।२९) ‘प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽवमैरामजः’ (रघु. ८।६५) ‘प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम्’ (किरात. २।११) इत्येवमादीनि । इह प्रथमेन प्रतिपत्प्रारम्भिकी पूर्णापार्यन्तिकी चन्द्रस्य दौर्लभ्यवृद्धिरिष्यते; द्वितीयतृतीयाभ्यां तूथन्ती प्रापमिकी दशेति । यत्किञ्च प्रतिपदि चन्द्रादयत्नमभ्युपगम्य द्वितीया पृथ्वे, तत्र चतुरस्रम् । लङ्गादिसूक्ष्मविधिना शूरे साधिते बहुत्र प्रतिपद्यपि चन्द्रदर्शनोपलम्भात्, दूर-

१. अत्र निषण्डपदव्याख्या नैरुक्ती द्रष्टव्या ॥ २. ‘द्योरेलहोरात्रविकल्पमेके वा-
च्छन्ति पूर्वापरवर्णलोपात्’ इति वराहमिहिराचार्यः ॥

३. ‘सप्त जुजन्ति रथमेकचक्रमेको जशो बहति सप्तनामा ।

त्रिनाभि चक्रमजरमनवं यत्रेमा विशा मुवनाधितरुः ॥’

(क. सं. १, १६४, २)

४. ‘नवो नवो भवति जायमानोऽष्टां केतुरुपसामेत्यग्रम् ।

मार्गं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ॥’

(क. सं. १०, १९)

दर्शनोः कविश्रोत्रपमेययोरतितनुत्वापादनस्य प्रतिपादयितुमिष्टत्वाद् एवंविधस्थले द्वितीयायां चन्द्रनिम्बाधिक्यदर्शनप्रसङ्गात् । किञ्चहुना । १९७४ एतस्मिन्नपि विक्रमसंवत्सरे राजपूतानाख्यपञ्चाङ्गे बहूनि प्रातिपदानि चन्द्रदर्शनानीति । फलि-
तविषये तु 'ग्रहेस्ततः पञ्चमिरुचसंश्रयैः—' (रघु. ३।१३) इत्येवमादीन्युदा-
हरणानि ॥

इत्थं शिक्षादिपट्टज्ञानि कविसूक्तिषु निरूप्य संप्रति न्यायादिदर्शनानि मनाद् निरूप्यन्ते—यथा खलु शिक्षादिपट्टाकल्पना धौती, न तथा न्यायादिपट्टदर्शनी-
विभागकल्पनेति । चतुर्दशविद्याविभजनावसरे भगवता याज्ञवल्क्येन न्यायमीमांसे
सामान्यत उद्दिष्टे । चतुर्विद्याविभजनपक्षे आन्वीक्षिकीत्यपि तथा । तन्नान्वीक्षिकी
न्यायतर्कपर्यायेत्यक्षरपक्षेण भक्षपक्षपातिनः । 'यस्त्वर्कणानुसंधते स धर्मं वेद
नेतरः' (मनुः १२।१०६) इत्येवमादिवचनेन तु तर्कशब्दः पूर्वोत्तरमीमांसा-
शाखनापेक्षीति व्यक्तम् । कतिपये पुनः—

‘अथ चत्वार्युपाङ्गानि वेदानां संप्रवक्षते ।

धर्मशास्त्रं पुराणं च मीमांसा न्यायविस्तरः ॥

इत्युपाङ्गविभागं प्रतिपेदिरे । इहापि न्यायमीमांसे एव पठ्येते । अतोऽनुयोगि-
प्रतियोगितया सकलानि दर्शनानि प्रतिपत्तव्यानि ।

अथोपक्रम्यमाणे कविकर्मणि समानतन्त्रयोन्यायवैशेषिकयोः संकीर्णोदाहरणं
यथा मम देवराजवरिते—

‘न्यकुर्वन् स्फुटकोटिभङ्गिरचनैः प्राभाकरं मण्डलं

शाकिं काञ्चनभास्वरां प्रकटयञ्जात्याकृतिव्यक्तिषु ।

अर्थापत्तिनिवारणैकनिपुणो व्याख्यातसर्वेक्षणो

यस्यां तर्कवदैक्षि येन कृतिना श्रीविश्वनाथालयः ॥’

अनयोः श्रुद्धोदाहरणे तु मम दशकण्ठवधे—“यत्र च च्छलप्रसङ्गो न्याये, न
व्यवहारे; पदार्थकल्पनालाघवं वैशेषिके, न प्राप्तिरुक्तकारे” इति । यथा वा
नैपथीयवरिते—

‘ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां

‘वैशेषिकं चारु मतं मतं मे ।

औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्

क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय ॥’ (२२।३६)

साख्य-योगयोर्यथा—

‘प्रकृतेः पृथग् विकृतिशून्यतां गतः

प्रतिपिद्धवस्तुगतधर्मनिष्क्रियः ।

१. राजपूतानापञ्चाङ्गमस्माकं शिष्येण आचार्य-मैवरत्नालेन प्रवर्तितम्, ज्योति-
परल-ज्ञाथालेन च चालितम् ॥ २. श्रीश्रीधराचार्यवैशेषिकसूत्राविरोधेनैतन्निर्णी-
तम् । साख्यदर्शनमप्यत्रानुप्रादकम् ॥

पुरुषस्त्वमेव किल पञ्चविंशकः

स्फुटचूलिकार्थवचनैर्निगद्यसे ॥

(हरविजये ६१८)

‘मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय

क्लेशप्रहाणमिह लब्धसवीजयोगाः ।

ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाऽधिगम्य

वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम् ॥’

(शिशु. ४५५)

पूर्वोत्तरमीमांसयोर्व्या—

‘कृतौ सुखे जाग्रत्स्वमसि फलयोने क्रतुमतां

क कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते ।

अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं

श्रुतौ श्रद्धां यद्वा कृतपरिकरः कर्मसु जनः ॥’

(शिवमहिम्नि ।)

‘निःश्वसितमस्य वेदा धीक्षितमेतस्य पञ्च भूतानि ।

सितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः ॥’

(भामह्यम्)

एवमन्यान्यध्यास्तिकनास्तिकशासनानि तत्र तत्र कविकर्मसु सततधा गुम्फितानि । अत्र कौतुकिभिर्हरैर्यजयमहाकवेः ‘प्रकृतेः पृथक्—’ इत्यादिः ‘—भगवान्-नवानिव भवत्यणुः स्फुटम्’ इत्यन्ता (६१८-१७०) अदृष्टपूर्वा भगवत्स्तुतिः; नैपधीयचरितस्य सप्तदशः सर्गः; महामहोपाध्यायधुरंधरस्य यज्ञाधरशास्त्रिणोऽ-लिखिलासिंहापथ्य सधीविभवं विभावनीय इति ।

२. एतच्च (सादृश्यं) कदा प्रादुर्भूतम् इति मीमांसावसरे वेदाहोपास्यमानकालिकमित्यवसायः प्रमातृहृदयंगमः स्यात्; तत्तद्दर्शनानां तदनुप्राणितानामितरेषां बोधावधानां निबन्धानां वेदोपजीवकत्वेन विवेचकानां विभ्रमोपलब्धात् । वेदेषु तत्र तत्राशतोऽनुस्यूतानां विषयजातानां रहस्यमाशयेषाभिमत-याथातथ्यैर्लोकपुरुषभिर्महर्षिभिर्जगद्गुह्यधीर्षया प्रसादमधुएणि गभीराणि शास्त्राणि निरमायिपत । इति व्यक्तमपि—

१. स कविरेवं भूतार्थमुक्तवान्—ललितमधुराः सालंकाः प्रसादमनोरमा विकट-यमकशेषोद्धारप्रबन्धनिरंगलाः । अतद्व्यवस्थीश्वरे मार्गे ममोद्गिरतो गिरौ न खण्ड-नृपते चेतो वाचरपठेरपि शङ्कते ॥ धाराकाशप्रबन्धप्रणिहितपरमा श्रोत्रवेया कवीनां, याथावदपि यस्य क्वचिदपि न गता आरती भावत्वम् । प्राप्नोष्यावसानत्पुनरदमलतर-प्रातिभशानसंप्रदाजन् रत्नाकरस्य सदसि कृतपदः श्याप वागीश्वराद् ॥ हरविजय-महाकवेः प्रतिष्ठां शृणु कृतप्रणयो भगवन्प्रबन्धे । अपि शिशुरकविः कविः प्रभावाद्-वति कविश्च महाकविः क्रमेण ॥’ (हरविज. ५० स. ९६-१०२) इति ॥

‘कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या ।
संयोग एषां न त्वात्मभावा-
दात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः’ ॥ (१।२)

इति कालस्वभावादवादिन्या श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदा व्यक्ततरमव-
सीयते । एवं चाजसनेयिनां ब्राह्मणोपनिषदा—‘इतिहासः पुराणं विद्या उप-
निषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि’ इति । एवमेव छान्दो-
ग्योपनिषदापि—‘इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पिश्वो राशिर्देवो निधिर्वा-
कोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेव-
जनविद्या’ इति । साहित्यप्रतिपाद्यं दृश्यकाव्यमधिकृतं भगवता भरतेन तु
स्पष्टमात्रातम्—

‘जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयाप्रसानायर्वणादपि ॥’

(नाट्यशा० १।१७)

आग्नेये तु ध्रुवदृश्ये उभे अपि काव्ये सम्यग् व्युत्पादिते इत्युपरिष्टान्निवेदि-
ष्यते । एतेनान्यशास्त्रवत् साहित्यस्यापि वेदोपजीवकत्वम्, तत एव साहित्यमूलस्य
वेदाङ्गोपाङ्गसमानकालिकत्वं च प्रतिपत्तव्यम् ॥

तत्रभवतो राजशेखरस्य काव्यमीमांसायां कविरहस्ये तु निरूपितायां
महत्तार्थवादेन प्रस्तुयते—“यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्टये
शिव्येभ्यः । सोऽपि भगवान् स्वयंभूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः । तेषु
सारस्वतेयः वृन्दीयसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत् । तं च सर्वसमयविदं
दिव्येन चक्षुषा भविष्यदर्पदर्शिनं भूर्भुवःस्त्रितयवार्तिनीषु प्रजासु हितकान्त्यया
प्रजापतिः काव्यविद्याप्रवर्तनायै प्रायुक्तः । सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्या-
ज्ञातकेभ्यः सप्रपञ्चं श्रोवाच । तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्रासीत्, औक्ति-
कमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेतायनः, यमकानि-चित्रं
चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमोपकायनः, अतिशयं
पाराशरः, अर्थश्लेषमुत्पद्यः, उभयालंकारिकं कुवेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपक-
निरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिपणः, गुणोपा-
दानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमार इति । ततस्ते पृथक् पृथक् स्वशास्त्राणि
विरचयाचक्रुः ।

अथैवं गुरुभ्यो गिरः पुण्याः पुराणीः शृणुमःस्व यत्किञ्च धिपणं शिष्याः कथाप्रसङ्गे
पप्रच्छुः, कीदृशः पुनरसौ सारस्वतेयः काव्यपुरुषो वो गुरुरिति । स तान् बृह-

१. काल इति कालविदः, स्वभाव इति लौकायतिकाः, नियतिरिति मीमांसकाः,
यदृच्छेति निरीश्वराः, भूतानीति जगत्त्रिलत्ववादिनः, योनिरिति प्रकृतिवादिनः, पुरुष
इति पातञ्जल्य जगतः कारणं प्रतिपेदिरे ॥

तांपतिरूचे । पुरा पुत्रीयन्ती सरस्वती तुषारगिरी (तपस्यामास) प्रीतेन मनसा
तां विरिभ्यः प्रोवाच-पुत्रं ते सृजामि । अथैषा काव्यपुरुषं सुपुत्रे । सोऽभ्युत्थाय
सपादोपग्रहं छन्दस्वतीं वाचमुदचीचरत् ।

यदेतद्वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्तते ।

सोऽस्मि काव्यपुमान्मव पादौ बन्देय तावकौ ॥

तामान्नायदृष्टचरीमुपलभ्य भाषाविषये छन्दोमुद्रां देवी ससंमदमङ्कपर्यङ्केनादाय
तमुदलापयत् । वत्स, सच्छन्दस्काया गिरः प्रणेतः, वाङ्मयमातरमपि मातरं
मां विजयसे । प्रसस्यतमं चेदमुदाहरन्ति यदुक्तं 'पुत्रात्पराजयो द्वितीयं पुत्रजन्म'
इति । स्वतः पूर्वं हि विद्वांसो गद्यं ददृशुर्न पद्यम् । तदुपपन्नमातः छन्दस्वद्वयः
प्रवर्त्यन्ति । अहो स्थापनीयोऽसि । शब्दार्थौ ते शरीरम्, संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं
बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिथम् । समः प्रसन्नो मधुर उदार
ओजस्वी चासि । उक्तिचणं च ते वचः, रस आत्मा, रोमाणि च्छन्दांसि, प्रश्नोत्तर-
प्रवहिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति । भविष्यतोऽर्थ-
स्याभिधात्री श्रुतिरपि भवन्तमभित्ति—

चत्वारि शृङ्गा षयो अस्य पादा

द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।

त्रिधा वक्षो घृण्मो रोरवीति

महो देवो मर्त्या आ विवेश ॥ (श्र. सं. २ अष्ट. ८ अ. १० व.)

'तथापि संश्रुणु प्रकृतस्य पुंसः कर्म, बालोचितं चेष्टस्य' इति निगद्य निवेद्य
चैनमनोकहाध्रियिणि गण्डशैलतलतल्पे स्नातुमभ्रगङ्गां जगाम । तावच्च कुशान्
समिधश्च समाहृतुं निःसृतो महामुनिरुशनाः परिश्रुते पूष्णपुष्पोपभुतं तमद्राक्षीत् ।
कस्यायमनायो बाल इति चिन्तयन् स्वाधमपदनैषीत् । क्षणादाश्चक्ष्य च
सारस्वतेयस्तस्मै छन्दस्वतीं वाचं समचारयत् । अकस्माद्विस्मापयन् स
चाभ्युवाच—

या दुग्धापि न दुग्धेव कचिदोग्धृभिरन्यदम् ।

हृदि नः संनिधत्तां सा सूक्तिघेनुः सरस्वती ॥ इति ।

तत्पूर्वकमभ्येतृणां च सुभेषस्त्वमादिदेश । ततःप्रभृति तमुशनसं सन्तः कवि-
रिस्माचक्षते । तदुपचाराय कवयः कवय इति लोकयात्रा कविशब्दश्च 'कथं यज्ञे'
इत्यस्य धातोः काव्यकर्मणो रूपम् । काव्यैकरूपत्वाच्च सारस्वतेयोऽपि काव्य-
पुरुष इति भक्त्या प्रयुज्यते । ततश्च विनिवृत्ता वाग्देवी तत्र पुत्रमपश्यन्ती मध्येहृदयं
चक्रन्द । प्रसन्नतथ चाल्मीहिमुनिश्रया सप्रथमं तमुदन्तमुदाहृत्य भगवतै
मृगुसूतेराधमपदमदर्शयत् । सापि प्रयुज्ययोग्यता पुत्रायाङ्गुलीं ददाना शिरसि
च शुम्भन्ती सस्निग्धा चेत्तथा प्राचेतसायापि महर्षये निभृतं सच्छन्दांसि वचांसि
प्रायच्छत् । अनुप्रेषितश्च स तया निपादिनितसहचरीकं कौययुषानं करगर्क-
कारयानिशं मृदन्तमुदीक्ष्य शोकवन्धोऽकमुजगाद—

‘मा निपाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्कौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥’

ततो दिव्यदृष्टिर्देवी तस्मा अपि श्लोकाय वरमदात् । यदुतान्यदनधीयानो यः
प्रथममेतमध्येष्यते स सारस्वतः कविः संपत्स्यत इति । स तु महामुनिः प्रवृत्त-
वचनो रामायणमितिहासं समदभवत् । द्वैपायनस्तु श्लोकप्रथमाध्यायी तत्प्रभावेण
शतसाहस्रीं संहितां भारतम् । एकदा तु ब्रह्मर्षिर्हृन्दारकयोः श्रुतिविवादे दाक्षिण्य-
यान् देवः स्वयंभूस्त्वामिमां निर्घेत्रोमुद्दिश । उपश्रुतश्रुतान्तश्च मातरं व्रजन्तीं
सोऽनुययाज । वत्स, परमेष्ठिनाऽननुमतस्य ते न ब्रह्मलोकयात्रा निःश्रेयसायेत्यभि-
दधाना दृष्टाव्यवर्तयदेनमात्मना तु प्रवष्टे । ततः स काव्यपुरुषो रुपा निधकाम
प्रियं मित्रमस्य च कुमारः साकन्दं रुदन्नभ्यधीयत गौर्या—तात, तूष्णीमास्व,
साहमेया निपेधामीति निगदन्ती समचिन्तयत् । प्रायः प्राणमृतां प्रमाणमन्तरैर्न
नान्यद्वन्धनमस्ति तदेतस्य पक्षीकरणं कामपि स्त्रियं सृजामीति विचिन्तयन्तं
साहित्यविद्यावधूमुदपादयदादिशब्देनामेव ते रुपा धर्मपतिः पुरः प्रतिष्ठते तदनुवर्तं
स्त्वेनं निवर्तय च । भवन्तोऽपि हन्त मुनयः काव्यविद्याल्लातकाश्चरितमेतयोः
स्तुत्वमेतद्धि वः काव्यसर्वस्वं भविष्यतीत्यभिधाय भगवती भवानी जोषमासिष्ट ।
तेऽपि तथा कर्तुमवतस्थिरे ।

अथ सर्वे प्रथमं प्राचीं दिशं विधियुः, यत्राश्वत्थमुद्रावह्मपुष्पाद्या जनपदाः ।
तत्राभियुज्जाना तमौमेयी यं चेपं यषेष्टमसेविष्ट, स तत्रत्याभिः स्त्रीभिरन्वा-
क्रियत । सा प्रवृत्ती रौद्रमागधी । तां च ते मुनयोऽभितुष्टुबुः ।
यदृच्छयापि यादृच्चेपथ्यः स सारस्वतेय आसीत्, तद्वेषाः पुरुषा बभूवुः ।
सापि सैव प्रवृत्तिः । यदपरं नृतवासादिकमेया चक्रे, सा भारती वृत्तिः ।
तां ते मुनयोऽभितुष्टुबुः । तथाविधाकल्पयापि तथा यदवशंवदीकृतः सम्राजवदनु-
प्रासवयोगवृत्तिपरम्परागर्भं जगाद, सा गौडीया रीतिः । तां ते मुनयोऽभितुष्टुबुः ।
ततश्च स पाषालान् प्रत्युच्चाल, यत्र पाषालश्चरसेनहस्तिनापुरकाश्मीरवाहीकबा-
हीकबाह्वेयादयो जनपदाः । तत्राभियुज्जाना तमौमेयी यं वेशमसेविष्ट, स तत्र-
त्याभिरन्वाक्रियत । सा प्रवृत्तिः पाषालमध्यमा । तां ते मुनयोऽभितुष्टुबुः । किञ्चि-
दाद्रितमना यक्षेपथ्यः स सारस्वतेय आसीत्, तद्वेषाः पुरुषा बभूवुः । सापि
यदीपवृत्तगीतवाणविलासादिकं दर्शयाम्बुव, सा सात्त्वती वृत्तिः । आविद्धगति-
मत्त्वात्सा चारमयी । तां ते मुनयोऽभितुष्टुबुः । तथाविधाकल्पयापि तथा यदी-
पवशंवदीकृत इषदसमासमीपदनुप्रासमुपचारगर्भं च जगाद, सा पाषाली रीतिः ।
तां ते मुनयोऽभितुष्टुबुः । ततः सोऽवन्तीन् प्रत्युच्चाल, यत्रावन्तीवैदिशमु-
राष्ट्रमालवार्बुदभृमुकच्छादयो जनपदाः । तत्राभियुज्जाना तमौमेयी यं वेपमसेविष्ट
स तत्रत्याभिरन्वाक्रियत । सा प्रवृत्तिरावन्ती । पाषालमध्यमादाक्षिणालयोरन्तर-
चारिणी हि सा । अत एव सात्त्वतीकैशिक्यौ तत्र वृत्तौ । तां ते मुनयोऽभि-
तुष्टुबुः । ततश्च दक्षिणां दिशमासदा, यत्र मलयमेकलकुन्तलकेरलपालमज-
रमहाराष्ट्रवन्नकलिङ्गादयो जनपदाः । तत्राभियुज्जाना तमौमेयी यं चेपमसेविष्ट,

स तत्रत्याभिरन्वाक्रियत । सा दाक्षिणात्या प्रवृत्तिः । तां ते मुनयोऽभितुष्टुः ।
तामनुरक्तमना यज्ञेय्यः स सारस्वतेयस्वदेपाः पुरुषाः । सापि यद्विचित्रनृत्तगीत-
वाद्यविलासादिकमाविर्भावयामास, स कैशिकी वृत्तिः । तां ते मुनयोऽभितुष्टुः
यदत्यर्थं च स तया वशंवदीकृतः स्थानानुप्रासवदसमासं योगवृत्तिगर्भं च जगाद,
सा वैदर्भी रीतिः । तां ते मुनयोऽभितुष्टुः । तत्र वेपविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः,
विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो रीतिः । चतुष्टयी गतिवृत्तीनां
प्रवृत्तीनां च, देशानां च पुनरानन्त्यं तत्कथमिव कार्त्स्न्येन परिग्रह इत्याचार्या अन-
न्तानपि च देशांश्चतुर्धैवाकल्प्य कल्पयन्ति । चक्रवर्तिक्षेत्रं सामान्येन तदवान्तर-
विशेषैः पुनरनन्ता एवेति यायावरीयः । दक्षिणात्समुद्रादुदीचीं प्रति योजन-
सहस्रं चरुषतिक्षेत्रम्, तत्रैव नेपथ्यविधिः । ततः परं दिव्याद्या अपि यं देशमधि-
वर्त्तेयुस्त्वदेशं वेपमाश्रयन्तो नियन्धनीयाः । स्वभूमौ तु कामचारः । द्वीपान्तर-
भवानां तदनुसारेण वृत्तिप्रवृत्ती । रीतयस्तु तिस्रस्तास्तु पुरस्तात् । तत्रास्ति मनो-
जन्मनो देशस्य क्रीडावासो विद्वर्षेषु वसतुल्लं नाम नगरम् । तत्र सारस्वतेयस्ता-
मौमेयीं गन्धर्वैवपरिणिनाय । ततस्त्वद्भूवरं विनिवृत्त्य तेषु प्रदेशेषु विहरमाणं
तुपारगिरिमेवाजगाम, यत्र च गौरी सरस्वती च मिथः संबन्धिभ्यो तस्थतुः । तौ,
च कृतवन्दनौ दम्पती दत्वाशिषं प्रभायमयेन वपुषा कविमानसनिवासिनौ चक्रतुः ।
तयोश्च कविलोकस्वर्गसर्गं तमकल्पतां, यत्र काव्यमयेन शरीरेण मर्त्यमभिवचन्तो,
दिव्येन देहेन कथम भावत्वं मोदन्ते” इति ॥

अयं तु सप्रलेखं मन्यामहे—

‘कष्टं भारतायासिनः कतिपयात्कालाद्यथाशासनं
साहित्यं परिहाय दुर्व्यसनिनोऽभूवन्नितीमांस्त्यजन् ।
साधूलास्यकलाकलापकलितां लक्ष्मीं युरोपाजिरे
विशानोदयदक्षिणां चितनुते सारस्वतेयोऽधुना ॥

किंच । भो भारता ! निर्मलकर्मयोगैः

सारस्वतेयं शरणं प्रयात ।

यतो भवेयुर्ममतां प्रभावाः

पुनः पुनः किं कलिमर्हणेन’ ॥ इति ॥

अथोचं च प्राग् वेदाश्रोपाश्रममानकालिकत्वं साहित्यस्य (भूमि. ७. पृ.)
तत्रैतत्पुनः पर्यनुयुज्यते—किं कालो वेद इति । भीमांसिते च वेदकालेऽद्वितीयान्य-
श्रोपाज्ञानि स्वयं नियन्त्रितकालकलनानि स्युः । भूयते हि श्वेताश्वतराशिनां
मन्त्रोपनिषदि—

‘यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं

यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।

तच्छ देवमातमयुद्धिप्रकाशं

मुमुक्षुर्धं शरणमहं प्रपद्ये ॥’ इति ॥ (११८)

यो हि (शरणमदा) सत्यादी ब्रह्माणं विधायास्मै कार्यमन्त्रो सप्तम-

लक्षणान् वेदान् प्राहैषीत् । तमात्मदेवं शरणं प्रपद्ये संसारसागरनिमज्जनत्रासत्रस्त
इति मन्त्रतात्पर्यम् । अथमादिदेवो योगदर्शने—‘क्लेशकर्मविपाकाशयैरपराष्टः
पुरुषविशेष ईश्वरः’ (१।२४) इत्येवं लक्षणतः सूत्रितः पुनर्व्याचिख्यासायां—
‘पूर्वेषामपि गुरुः श्रोतेनानवच्छेदात्’ (१।२६) इत्यनेन गुणप्राधान्यविभक्त-
ब्रह्मादिगुरुतयाऽपि सूत्र्यते । इत्थं च ‘हिरण्यगर्भः समवर्ततामे—’ (ऋ. सं. ८
अष्ट. ॥ अ. ३ व.) इति श्रुत्यनुगृहीतया ‘स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिभूतः स देवानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥’ इति स्मृत्या प्रथमशरीरिणो ब्रह्मणो
वेदोपलब्धिकालः सूच्यादिः प्रतीयते । तत्र पूर्वं द्वितीयस्य शरीरिणः श्रवणस्मरणा-
नुपलम्भात् परमेश्वरप्रेरणया ब्रह्मणो हृदि वेदाः प्रादुर्भवन्तिरेति । तत एव ‘तेने
ब्रह्म हृदा य आदिकवये’ इत्यादि स्मर्यते सोऽयमादिकालो ब्रह्मद्वारको वेदानां
माविर्भावकाल इति । तथा चात्रायते—‘यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्व-
विन्दन्नृषियु प्रविष्टाम्’ (ऋ. सं. ८. २. २३) इति । ‘युगान्तेऽन्तर्हितान्वे-
दान् सेतिहासान्महर्षयः । छेभिरे तर्पसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ॥’ इति ।

एतेन वेदानां नित्यत्वाभ्युपगमात् सूच्यादिरपि तत्प्रणयनकालो न भवितु-
मर्हति । एतच्च तेषां नित्यत्वं ‘वाचा विरूप नित्यया’ (ऋ. सं. ६. ५. २५)
इत्यादिमन्त्रवर्णैः स्पष्टतरं धाव्यते । एतदेवाकलय्य भगवता जैमिनिना पूर्वमी-
मांसाशास्त्रे ‘कर्मैके तत्र दर्शनात्’ (१।१।६) इत्यादिद्वादशसूत्रैरनित्यत्वं
पूर्वपक्षीकृत्य ‘नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परायत्वात्’ (१।१।१८) इत्यादि-
पदसूत्रैर्नित्यत्वं सिद्धान्तितम् । उत्तरमीमांसाशास्त्रेऽपि भगवता पाराशर्येण
शास्त्रयोनित्वाधिकरणेन वेदानां ब्रह्मकार्यतां सूत्रयतापि ‘अत एव च नित्यत्वं’
(१।३।२९) इत्यनेन नित्यत्वं व्यवस्थापितम् ।

यद्येवमुच्येत, वेदेषु बहुत्र कथांशका विभाव्यन्ते—‘उतासि मैत्रावरुणो वसि-
श्रोर्वैश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः । द्रष्टुं रुद्रं ब्रह्मणा देव्येन विक्षेदेवाः पुष्करे
त्वाददन्त ॥’ (ऋ. सं. ५. ३. २४) इति । एतदुपक्रम्य निरुक्तम् (५. अ.
३ पा. १-२ खं.) (श. ब्रा. ३ प्रपा. २ ब्रा. २२ कं.) इति च,
एवं विश्वामित्रमुपक्रम्य निरुक्तम् (२. ७. २-३) इत्येवमादयोऽन्येऽपि म-
न्त्रब्राह्मणभागा उदाहार्याः । ततश्च रामायणभारतवृहत्कथारघुवंशादिपुष्पल-
भ्यानां वाल्मीकिपाराशर्यगुणाख्यकालिदासादय इव ऋग्वेदादिषु श्रूयमाणा
श्रव्य एव तेषां कर्तार इति; तथा ऋषीणां लक्ष्यभूताः पुरुरवर्चस्वीप्र-
भृतय एव तेषां कथाशक्तप्राणा इति व्यक्तं प्रतिफलति । तत एव ‘पुराणेति-
हासवलेन वेदनिर्माणकालनिर्णयो नाशक्य इति कृत एवाधुनिकैः क्षोदः’ इति
वेदानां नित्यत्वादिप्रस्तानोऽप्रयोजक इत्यपि न युक्तम् ।

स्मादेतत्, यदि नाम वेदेषु संज्ञात्वेन विभाव्यमाना वसिष्ठादिशब्दाः कातांच-
नानित्यव्यक्तीनां वाचका उपपत्त्या संगच्छेरन्, तत्र पुनः मन्त्रब्राह्मणात्मके वेद-
काये तदुपबृंहके निरुक्तपूर्वोत्तरमीमांसाविस्मरे च वसिष्ठादिशब्दास्तद्वद्विज्ञाता मन्त्र-
ब्राह्मणभागाश्च नित्यतत्वात्पर्येणैव नीयमाना यथायोग्य व्याख्यायमानाश्च स्पष्ट-

मुपलभ्यन्ते । तथाहि—छान्दोग्ये “यो ह वै वसिष्ठं वेद, वसिष्ठो ह स्वानां भवति, वागवा वसिष्ठः” इति वसिष्ठवदार्थव्युत्पादनम् । एवमन्येषामपि व्याख्या द्रष्टव्या । निरुक्ते—“इन्द्रशत्रुः सत्को पृथो मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्येतिहासिकाः, अपां च ज्योतिषां च मिथीभावकर्मणो वपेकर्म जायते तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति, अहिवज्रु सख मन्त्रवर्णा ध्राक्षणवादाय—” (१. ५. २) इति दृष्टकथातत्त्वम् । एवं प्रजापतेः सुतानुगमनम्, इन्द्रस्य अहल्योपगमनम्, इत्यादि भिन्नतात्पर्यतया नीयमानमुपलभ्यते । श्रूयते हि ऋग्वेदं हितायां ‘शुकः शुशुर्का उपो न जारः—’ (१. ५. १३) इति । ‘उपो न जारः पृथुपाजो—’ (५. २. १३) इति च । एतदेव पुनर्ऋग्वेदं हिताया ऐतरेये ब्राह्मणे—‘प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद् दिवमित्यन्य आहुवपसमित्यन्ये तामृयो भूत्वा रोहितंभूतामभ्येत्—’ इति कथारूपेण निरूपितम् । अत्र जैमिनिसूत्रभाष्यधार्तिककाराः—‘प्रजापतिस्त्वावत्प्रजापालनाधिकारादादित्य एवोच्यते च चारुणोदयवेलायामुपसमुपसन्नभ्येत् । सा तदागमनादेवोपजायत इति तदुहित्वरवेन व्यपदिश्यते । तस्यां चारुणकिरणाद्यधीजनिक्षेपारत्नीपुरुषयोगवदुपचारः’ इत्याहुः । अत्रैव ‘प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं गतं रोहिद्रूतां रिरमयिषुमृश्यस्व वपुषा । धनुष्पाणेयांतं दिवमपि सपत्राकृतममुं वसन्तं तेऽद्यापि स्रजति न मृगव्याधरभसः ॥’ इति नक्षत्रपुञ्जसंनिवेशरूपकाभितं महिगस्तवपथमपि द्रष्टव्यम् । एवमेव ऋक्संहितायां ‘उदीरय पितरा जारमाभनं—’ (७. ६. १०.) इति । एतज्जारपदमालम्ब्य तैत्तिरीयारण्यके “—गौरास्कन्दिन्, अहल्यायै जार, कौशिकब्राह्मण गौतममुवाच—” (१. १२) इति पाणिनिसूत्रितः सुब्रह्मण्यानिगदः (१ । २ । ३७) तथा शतपथब्राह्मणे (३. ३. ४. १८) । इदमिन्द्राहल्यावृत्तं वाल्मीकीये रामायणे विततम् (१. ४८-४९) अत्र निरुक्तकाराः—‘आदित्योऽत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयिता—’ (३. ३. ४) । धार्तिककारा अपि—“एवं समस्ततेजाः परमैश्वर्यनिमित्तेन्द्रशब्दवाच्याः सवितैव अहनि लीयमानतया रात्रेरहल्याशब्दवाच्यायाः क्षयात्मकजरया हेतुराजोर्व्यसस्मादनेनैवोदितेनेत्यादित्य एवाहल्याजार इत्युच्यते, न तु परस्त्रीभ्यभिचारात्” इति दिक् । अतो नित्या वेदा इति स्थितम् ॥

यत्पुनः पुरुषसूक्ते—‘तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋवः सामानि जज्ञिरे । छन्दासि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥’ (ऋ. स. १० मं । य. स. ३१ अ. । अ. सं. १९ का.) इति । ऐतरेये—‘ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्’ (५. ५. ७) इति । एवमन्यत्र । ‘अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मा सनातनम् । दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजु सामलक्षणम् ॥’ (म. १) इत्यादिसृष्टिपु वेदानामनेकधा जनिमत्त्वमात्रायते, तदपि तत्राप्राप्तानां, भूर्भुवःस्वः प्रधानानामग्निवाय्वादित्यानां तिसृणां देवतानां यज्ञप्रपञ्चार्थम् । ततश्च अग्निवायुरविभ्य इति त्रुर्ध्वेपि साप्त्वी । तत्र द्वितीयं कर्म आत्मा; दोहनं च अध्यापनं, परसंक्रान्तिसामान्येन । तथाच मुण्डके श्रूयते—‘ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव साहि० भू० ३

विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता । स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
अथर्वणे यां प्रवेदेत ब्रह्मा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् । स भारद्वाजाय सल-
वाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥' इति । उपपद्यते चैतद् दोहनं=क्षारणं=
व्युत्पादनम्=अवस्थापनं च । तदेतद् ब्राह्मणैर्मन्त्राणां संबन्धेति, स्वाभिप्रेतस्य स्वेनैव
विदाकलनदर्शनात्; उच्छिष्टश्लोके—'पुराणं यजुषा सह' इत्यत्र पुराणपदेन पुराण-
मूलानां ब्राह्मणानामेव ग्रहणोचित्याच्च (अथर्वसं. ११. २५. ४) वेदानां
जनिमत्त्वश्रुतिस्मृती अपि प्रादुर्भावगुलिके इत्यन्यत्र विस्तरः ॥

येऽपि पुनर्देशयिका नैयायिकाश्च शब्दानामुत्पत्त्यर्थं संशीलतया तद्वा-
शीनां वेदानामनित्यत्वं प्रतिपेदिरे, तदपि प्रादुर्भावनिबन्धनम् । तथात्वेऽपि
आ च हिरण्यगर्भादिदानीमवधि त एव मन्त्रा विषयश्च गुरुशिष्यपारम्पर्येण
प्रवर्तन्त इति वैदिको व्यवहारो निर्वाध एव । सांख्यास्तु वेदानामपौरुषेयतां
स्वतः प्रमाणतां च प्रतिपद्यमाना अपि तदनित्यतामङ्गीचकिरे । तथा च
सांख्यानां सूत्राणि—'न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् । न मुक्तामुक्तयोर-
योग्यत्वात् । नागौरपेयत्वाभित्यलमङ्गरादिवत् । तेषामपि तद्योगे दृष्टवाधादि-
प्रसक्तिः । यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरपजायते तत्पौरुषेयम् । निजशक्तयभिव्यक्तेः
स्वतः प्रामाण्यम् ॥' (५।४६-५१) इति । अत्र वैशेषिकास्तु—'तद्वचनादा-
त्रायस्य प्रामाण्यम्' (वै. १. १. ३।१०२. ९) इत्यत्र तदा, अनुपकान्तोऽपि पर-
मेश्वरः 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' (न्या. द. २. १. ५६) इति
गौतमसूत्रे वेद इव परास्मृष्ट इति (तेन ईश्वरेण वचनात् प्रणयनात् आत्रायस्य
वेदस्य प्रामाण्यम्) ईश्वरप्रामाण्येन वेदप्रामाण्यमाकलय्य तस्य परतः प्रामाण्यं व्यव-
जहुः । यस्तु तस्य 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' (वै. १।१।१—३) इत्यादिना
'प्रमाण—' (न्या. द. १।१।१—२) इत्यादिना च स्वर्गोपवर्गमन्मार्गमवेषणार्थां
प्रत्यक्षानुमानकक्षाधिकचर्चायां तावदाप्तोपदेशः शब्दः शरणमिति निष्प्रत्यूहप्राये
प्रयत्ने—सांख्यानां परिभाषितसाधनासौष्ठवेन चरमकोटिप्रवेशाभावाद् ईश्वरा-
सिद्धिरिव (सां. द. १।१२); चार्वाकचार्वाकवैशेषिकाणां प्रमेयप्रथमकोटि-
प्रवणानां तार्किकाणां भूतभौतिकपदार्थसामान्येन शब्दकार्यताश्रयिणः । किंवा,
प्रतिपादकदृष्ट्या प्रतिपाद्यस्य सौक्ष्म्ये तद्वारेण प्रतिपादकसिद्धिस्तस्य भूतभौतिक-
पदार्थातिशयित्वे परिणामिनीति । तत ईश्वरस्य तद्वेदकस्य ज्ञानस्य, वा ज्ञानस्य
तद्वेदस्य ईश्वरस्य चाविशेषाद् ब्रह्म-ब्रह्म-ब्रह्मेति लौकिको वैदिकश्च व्याहारः ।
तार्किकाणां सरणावपि पुनः कार्यकारणभावनित्यत्वानित्यत्वविभागादिकूप्तिः प्राधा-
न्येन लोकायतवस्तुनिर्णयिकेत्यलमियता । सिद्धान्ततत्त्वविवेके स्पष्टाधिकारे
आचार्य कमलाकरेण परमाणूनां सावयवतां साधयित्वा पर्यन्ते—'अहर्निशं
रासमवचंयैव जालो गतस्तर्कविदारमतस्तैः । अवर्गगूलानवबोधयुक्तैर्ज्ञातो निरमः
परमाणुरेषः ॥' इत्येवमुपहासेनोपसंहृतम् । परमाणुं परममहत्परिमाणं च लक्ष्यी-
कृत्य—'शून्याल्लघीयादृष्टरूपराशिर्महानन्तो यन्निमित्तं यस्मात् । सिद्ध्यत्यतः सैव
श्वास्ति नूनमणोरणीयान् महतो महीयान् ॥' इति श्रीचाणुदेवपादानां

धौतसमस्यापूर्तिरपि समनोनियोगं विवेचनीयात् । अतो नित्या वेदा इत्येव स्थितम् ॥

यत्तत्र सांप्रतिका वेदवाचस्पतयो दयानन्दस्वामिन ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां वेदानां नित्यत्वमङ्गीकृत्यापि तदुत्पत्तिगणनामकार्पुस्तत्र त्रैधा भ्रमोऽजनिः । नित्यस्योत्पत्तिकालप्रदर्शनं प्रथमो भ्रमः । उत्पत्तिकालप्रदर्शने स्थायंभुवादिवगतमनूनां संधिकालस्थ (१२०९६०००) एतावद्वर्षसंख्यस्य परित्यागो द्वितीयो भ्रमः । यस्माद्गणनायामेकसप्तत्या महायुगैरेको मनुः, ब्रह्मणो दिने तु चतुर्दश मनवः एवं षड्वनं सहस्रं ब्रह्मदिनं भवति ७१×१४=९९४ । तत्पूर्वस्य संधिकाल-योजनं शिरस्यापतति, उत्पत्तिगणोऽपि यदि वक्ष्यस्वर्हि ब्राह्मकल्पारम्भादिति तृतीयो भ्रमः । परं नहि ब्रह्मणो विलयाभावे वेदविलयः संघटते । अत्रेयं गणनापद्धतिः—

देवयुगानि ।

मानुषयुगानि ।

$$१२००००० = (३६० \times १२००००) = ४३२००००$$

$$\text{अ. दि.} = १००० \times १२०००० = (१००० \times ४३२००००) = ४३२०००००००$$

अथवा, एकमनुमानं चतुर्विंशत्युगं ४२९४०८०००० स्वसंधिका-

$$\text{लेन } २५९२०००० = १५ \times १७२८००० \text{ युतं ब्रह्मदिनं भवति ।}$$

ब्रह्मदिनगतकालस्वरूपम्—

$$७१ \times \text{मनु } ४३२०००० = ३०६७२००००$$

$$६ \times ३०६७२०००० = १८४०३२००००$$

$$७ \times \text{मनुसं. } १२०९६००० = १२०९६०००$$

$$२७ \times ४३२०००० = ११६६४००००$$

$$\text{कृतम्} = १७२८०००$$

$$\text{त्रेता} = १२९६०००$$

$$\text{द्वापरम्} = ८६४०००$$

$$\text{शकादौ गतकलिः} = ३१७९$$

$$\text{वर्तमाने ब्रह्मदिने गतम्} = १९७२९४७१७९ + \text{शकवर्षाणि ।}$$

यत्पुनरत्र सांप्रतिका वेदविधाविधयः सत्यव्रतसामश्रमिणो निरुक्तालोचने वेदकालनिर्णयः शक्योऽशक्यो वास्माकमिति कोटीकृत्याशक्य इति निरणैपुस्तदपि भूम्यादिभौतिककार्यसमानसत्ताकं सांख्यानां वेदापौरुषेयत्वे सति तत्कृतकत्वमिव प्राकृतिकप्रलयावधिकं द्रष्टव्यम् । सांख्या हि अपौरुषेयत्वनित्यत्वयोरङ्कुरादौ व्याप्तिव्यभिचारं मन्यमानास्तथा प्रतिपद्यन्ते । इत्थं च सांख्यानां खोत्रेक्षितपुरुषाभाव इव सामश्रमिणां साधनाभावे वेदकालनिर्णयोऽशक्य इति परिणमति । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकापेक्षया निरुक्तालोचनोक्तयोऽधिकतरा वैदिकसाम्राज्य-सुखसाधनहेतव इति तत्परीक्षकाणां पुरस्तादस्त्येव व्यक्तम् ॥

यत्तत्र विद्वद्बालगङ्गाधरतिलकः खोपेहे ओरायननिबन्धे संहितासहायेन ब्राह्मणादिमुन्येन वेदानां सापेक्षं लौकिकं प्राचीनत्वं साधितवान्; तदपि सिष्टाब्दतः

प्राक् (२०००) वर्षाभ्यारभ्य (१४००) वर्षपर्यन्तं वेदनिर्माणसुरभ्रेषमाणानां विद्वद्भिरभेदाचन्द्रदत्तप्रमृतीनां ध्रान्तिभञ्जनार्थमेवालमित्याहुः । सैषा गणनापद्धतिर्वेदानां वास्तविके घातनिर्णये कुण्ठितशक्तिः प्रौढगाणितिकैरुक्तेषा बहुशाखा चेत्युपेक्ष्यते । कौतुकिभिर्भारतीयज्योतिःशास्त्रवेदकालनिर्णय-दिग्भूमीमांसादिषु विक्षेपपातभगणवत् क्रान्तिपाताख्यायनांशभगणा अपि पर्यालोचनीयाः ॥

एवंच चतुरस्रमीमांसया वेदानां नित्यत्वे निष्पत्ते, किंकालो वेद इति (११४.) तृतीया कालकलनलिप्सा आयुध्मतां धात्रीकरकलितचन्द्रविम्वमुपपिण्डकेव प्रमोदावदा सहस्रं कल्पनाभूमौ, किं तावता । इत्थंच मीमांसिते च वेदकालेऽदसीयान्यज्ञोपाह्नानि स्वयं नियन्त्रिनकालकलनानि स्युः' इति कथं सुसंधानम् । तदपि प्रतिपाद्यते—अग्निनो वेदस्यैव तावन्निवृत्तत्वं प्रतिशायते, नरवत्तानाम् । एवमज्ञाग्निभावो पिरुज्जते । मैवं वाक्यैः । नात्र करचरणसंभ्रात इवाग्नी विनश्यते । केवलं रूपकम् । किंवा तथास्तु । ननु विद्वद्यत इत्युक्तम् । नैवं दोषः । वेदमुपजीव्यैव तदज्ञोपाह्नानां प्रवृत्तिदर्शनात् । ननु मन्त्रानुपजीव्य ब्राह्मणानि प्रवृत्तानि, तत एतेषामपि व्याकरणादियदज्ञादित्वं प्राप्नोति । मैवं भ्रमीः । युक्तिप्रमाणाभ्यां मन्त्राणां ब्राह्मणानां चेत्युभयेषामेव वेदत्वव्यपदेशाभ्युपगमात् । तथाहि—मननान्मन्त्राः । प्रैवणाद् ब्राह्मणानीति च खलु निरुच्यते । एवमपि वैदिकव्यवहारमन्तरेण न मन्त्राणां तादृशं किमपि लक्षणं प्रणीतं, प्रणेतुं वा पार्यते, यस्माद् ब्राह्मणासंश्लिष्टं ते विज्ञायेरन्निति तत्र तत्र लक्षणविदां सूक्तयोऽवबोधयन्ति । व्यवहारेणापि मन्त्रब्राह्मणयोः पार्थक्यावबोधे बहुत्र संहितापाठेषु न ह्यणसंकीर्णा एव मन्त्रा अद्यावधि पठ्यमाना प्रच्यतः कण्ठस्थोपलभ्यन्ते । तदेतन्निर्बाधं तैत्तिरीयाणां परस्महृत्ताणां संहिताब्राह्मणारभ्यकपाठपर्यालोचनतोऽवसीयते । तैत्तिरीयाणां घ्राजस्तेयिना च संहितादिपाठाः पाठभेदादिकृतकैसाद्विषयबलेन शास्त्राभेदमुपेक्षमाणैरप्याधुनिकैर्नैकीकर्तुं शक्याः; यदधुना वेदगलप्रहङ्कालेऽपि शास्त्राभेदप्रयुक्तसंहिताद्वैधोन्मूलनमुपपद्येत । एवंच द्वित्रशास्त्राभ्यां दोषे चरणव्यूहादिविदिते विलीने वेदविस्तरे, बावदुपलब्धवेदभागवगाहनेनापि सर्वथा मन्त्रराशिषु ब्राह्मणसंकमो नेति; वा ब्राह्मणराशिषु मन्त्रसंकमो नेति सशपथं कः प्रेक्षावान् सिद्धान्तयितुं शक्नुयात्, । तत ऋग्यजु सामयोधको मन्त्रशब्द इव मन्त्रब्राह्मणबोधको वेदशब्दः प्रायेणात्मपर्यायेण सदाजनिष्ट । तत्रापि श्रुतिस्वाध्यायाग्राभागमादिपर्याये सत्यपि प्रकृतिवैलक्षण्येन बह्वर्थो वेदशब्दो मन्त्रब्राह्मणवाच्यार्थे संकेतित इति मन्यन्ते । तथाचापस्तम्बसूत्रम्—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति । एवमेव शुक्लयजु प्रातिशाख्येऽपि निरूपितम् । 'तचोदकेषु

१ यैयाकरगैरपि ॥

२ सांप्रतमस्माकं सीमाभ्यन्तरे युरोपदेशे मैत्रायणीयानां कठानां चापि वेदग्रन्थो मुद्रितौ । एवं कृष्णयजुर्वेदे तैत्तिरीयं मैत्रायणीयं काठकं चेति वेदग्रन्थत्रयम् । अदो अस्माकं मुद्रितम् ॥

मन्त्राख्या । शेषे ब्राह्मणशब्दः' (१११३०—३१) इति सूत्राभ्यां मन्त्रब्राह्मणे विभजतो भगवतो जैमिनेरपि तयोर्वेदत्वाख्यानमेवाभिप्रेतम् तदेतद्विभजन-
गृह्यजुःसामविभागवद् याज्ञिकानां कर्मसंपादनार्थमेव जज्ञे; न पुनः स्वाध्याय-
तारतम्यसंपादनार्थमिति सर्वं तदज्ञोपाशालोढनेनासकृज्ज्ञायत एव । अपि च ।
अत्र शेषत्वेन ब्राह्मणत्वाख्यानं ब्राह्मणस्य मन्त्रसादृश्यमवबोधयति; न तस्मादेकान्ततः
पार्थक्यम् । अतः साम इव वा ऋक्सामाभ्यां यजुष इवेति । किं पल्लवितेन, मन्त्रतो
ब्राह्मणविभाग इव कर्मप्रतिपत्त्यै ब्राह्मणतोऽपि ब्राह्मणविभागः शेषशब्देनैवापस्त-
म्बेन मुनिना व्यवहारि । तथा च तत्सूत्राणि—'कर्मचोदना ब्राह्मणानि । ब्राह्मण-
शेषोऽर्थवादः, निन्दाप्रशंसा परकृतिः पुराकल्पश्च ।' इति, यदि पुनरत्र शेष-
शब्द इतरथानीयसे तर्हि ब्राह्मणशेषः कल्प इत्यनिष्टं प्रसज्यते । नहि ब्राह्मणाना-
मिव कल्पानां (धैतस्मार्तसूत्राणाम्) अपौरुषेयत्वं स्वतःप्रमाणत्वं वा मीमा-
सकैरङ्गीक्रियते । मन्त्रस्यैव ब्राह्मणस्य स्वपौरुषेयाधिकरणे 'आख्या प्रवचनात् । परंतु
श्रुतिसामान्यम् । कृते वा नियोगः स्यात् कर्मणः संबन्धात्' (१११३०—३२)
इति सूत्रैरपौरुषेयत्वं सिद्धान्तितमेवेति संक्षेपः ॥

एतेनाग्निनो वेदस्य नित्यत्वेऽप्येतस्याज्ञानानुपाज्ञानां चानित्यत्वमविरुद्धमिति
स्थितम् । अनित्यत्वे चैतेषां कालजिज्ञासायां यद्यपि मौलिकं कालविज्ञानं दुर्वि-
भाष्यं तथापि प्रचरद्ब्रह्मानुरोधेन तु तत् सुसंधानमेव । तत्रापि सांप्रतिकप्रत्ये
यत्र यः कालो निर्दिश्यते स इव चिरंतनप्रत्येऽपि काललिङ्गोपलम्भे स काल
एवास्थेयः । सोऽयं संवादविपर्यासेऽपि समस्यापूर्तिवत्तमेना सहसाऽन्यथा न
संगमनीयः । तथात्वे हि वेदेभ्यश्च ऋविप्रोक्तेषु प्रत्येऽप्यपि बहुत्र भाषाभेदाद्
अभिधानसादृश्याद् अतीतानागतवस्तुदर्शनाच्च योगविज्ञानविधुराणां परमार्थस्वल-
नादसर आपततीति मन्यन्ते स्वेयाः । तत्रेयं दिक्—वेदेषु वसिष्ठादिपदार्था
नित्या एवाश्रीयन्ते; तदज्ञोपाज्ञेषु तु ते ह्यनित्या अपि । तत एव वसिष्ठादयो
गोत्रप्रवरप्रवर्तका उपपद्यन्त इत्यन्यत्र विस्तरः ॥

१ । साहित्यस्य किमुदेशम् । अत्र तत्रभवान् भामहः—

‘धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥’

आचार्यदण्डी—

‘इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा ।

वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।

यदि शब्दादयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥

आदिराजयशोविम्बमादर्शं प्राप्य घाढ्रयम् ।

तेषामसंनिधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति ॥’

आचार्यमम्मटः—

‘काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परनिर्घृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥’

चतुर्वर्गसर्गा हि लोकयात्रा साहित्योपज्ञातेन हृदयंगमेन वार्ता गुम्फेन
संपद्यमाना कल्पलतेव व्यवहारभूमिमलंकृते । ‘न ॥ शब्दो न तद्वाच्यम्—’
इत्यादिसमुदयेन संपन्नं कविकर्म शब्दपूर्वकसृष्टिकर्मैव किं किं संपाद्यं न संपादयेत् ।

मयाप्युपशोध्यते—

‘त एव साहित्यगुणा न चान्ये

येरज्जुतैर्बुद्धिपथाधिरूढैः ।

निरर्गलोद्यद्वायसायशूरै-

राकृष्यमाणं जगदुन्नतं स्यात् ॥’

अत्र जयदेवादीनां गीतगोविन्दादिषु शास्त्रसमयोद्धनदिगपि नोपेक्षणीया
अभ्युदयनिधेयसकाङ्क्षिभिः । ममापि पुरोभागितेयम्—

कायेन वाचा मनसाऽपि कामं

शृङ्गारसाम्राज्यरसं प्रपन्नाः ।

रतिं गुरुणामपि वर्णयन्तो

विशृङ्खलाः किङ्कवयो विभान्ति ॥.

४ । अस्य (साहित्यस्य) प्रधानतः प्रबन्धाः, बन्धकाश्च के इति प्रस्तावे
संप्रति कालकवलमापशिष्टं नाट्यशास्त्रं तत्रभवता भरतेन मुनिना प्रणीतं
पूर्वम् । महापुराणमात्रेयं भगवता कृष्णद्वैपायनेन प्रणीतं परस्ताद्; इति द्वितयं
प्रेक्षावतां विचारभूमावन्नतरति ।

तत्र भरतो मुनिर्मेहेन्द्रविजयोत्सवे पितामहमहेश्वरोपदिष्टं नाट्यवेदं प्रथमं
प्रायौक्षीत् । ततो भरतान्तेवास्तिन ऋषीणां न्यङ्गकरणं इवैन्तस्त्रैरभिज्ञताः ।
ततो राज्ञो नहुपस्याभ्यर्चनया भरतानुमोदितास्ते भूमौ तस्य च गृहेषु नाट्य-
प्रयोगमकार्षुर्ऋषीणां श्लाघतश्चामुचन् । इत्यादि नाट्यशास्त्रस्यायान्त्योपान्त्या-
भ्यायैरवसीयते । एतन्मूलकमेव—

‘उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमाञ्चानाट्यवेदं विरञ्चि-

अत्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्तेषाण्डवं नीलकण्ठः ।

शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म कः कर्तुमीष्टे

नाट्यानां किंतु किञ्चित्प्रशुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि ॥’

इति द्दशरूपोक्तम् । भरतेन कृतं नाट्यशास्त्रं तद्वंशजाश्च लक्षणया भरतनाम्ना
कीर्त्यन्ते । यथा किल दीप्यन्तेः शाङ्खन्तलेयस्य राज्ञो भरतस्योत्तरे राजानः क्षत्रि-

त्रयाश्च भरता इति । तदिदं 'बहुच इवः प्राच्यभरतेषु' (२।४।६६) इति पाणिनिसूत्रतोऽपि स्पष्टम् । नाट्यशास्त्रतः पुनरन्येऽपि नाट्याचार्या उपलभ्यन्ते—

‘यथोक्तं मुनिभिः पूर्वं स्वातिनारदपुष्करैः ।’
(३४ अ. २ श्लो.)

‘न शक्यं चान्यथा कर्तुं वचनं पार्थिवस्य हि ।
अस्माकं चैव सर्वेषां नहुपस्य महात्मनः ॥
आत्मोपदेशसिद्धं हि नाट्यं प्रोक्तं स्वयंभुवा ।
शेषं प्रस्तारतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति ॥’
(३७ अ. १७—१८ श्लो.)

‘भरतानां च वंशोऽयं भविष्यंश्च प्रवर्तितः ।
कोहलादिभिरेयं तु चत्सशाण्डिस्यधूर्तितैः ॥’
(३७ अ. २४ श्लो.)

नाट्यशास्त्रस्य प्रणयनं त्वेषमुच्यते—

‘समाप्तजप्यं प्रतिनं स्वसुतैः परिवारितम् ।
अनध्याये कदाचित्तं भरतं नाट्यकोविदम् ॥
मुनयः पर्युपास्येनमात्रेयप्रमुखाः पुरा ।
पमच्छुस्ते महात्मानो नियतेन्द्रियबुद्धयः ॥
योऽयं भगवता सम्यक्कथितो वेदसंमितः ।
नाट्यवेदः कथं चायमुत्पन्नः कस्य वा कृते ॥
कल्पङ्गः किंप्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृशः ।
सर्वमेतद्यथातत्त्वं भगवन्वक्तुमर्हसि ॥
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं नाट्यवेदकथां प्रति ॥
भयद्भिः शुचिभिर्भूत्वा तथावहितमानसैः ।
भूयतां नाट्यवेदस्य संक्षेपो ब्रह्मनिर्मितः ॥
पूर्वं श्रुतयुगे विप्रा वृत्ते स्वायंभुवेऽन्तरे ।
भेतायुगे संप्रवृत्ते मनोरथेऽवस्यतम् च ॥
ग्राम्यधर्मे प्रवृत्ते तु कामलोभवशं गते ।
ईर्ष्याक्रोधादिसंमूढे लोके सुषितदुःखिते ॥
देवदानवगन्धर्वं रक्षोयक्षमहोरगैः ।
जम्बूद्वीपे समाक्रान्ते लोकपालप्रतिष्ठिते ॥
महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः ।
श्रीडनीयकमिच्छामो हृदयं ध्रुवं च यद्गवेत् ॥

न च वेदविहारोऽयं संध्याव्यः शूद्रजातिषु ।
 तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् ॥
 एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च ।
 सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित् ॥
 धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेशं ससंग्रहम् ।
 भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ॥
 सर्वशास्त्रार्थसंपन्नं सर्वशिष्यप्रवर्तकम् ।
 नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥
 संकल्प्य भगवानेवं सर्वान्वेदाननुसरन् ।
 नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसंभवम् ॥'

(१ अ. २—१६ श्लो०)

एतेन यैवस्वताख्यस्य सप्तमस्य मनोः कस्मिंश्चित्तायुगे राज्ञो नहुपस्य राज्य-
 काले; यद्वा सांप्रतिकाले गतकाले प्राग् द्वापरयुगे प्रोक्तेभ्यः पुराणेभ्यः पूर्वं श्रेता-
 युगे नाट्यशास्त्रस्य प्रणयनमिति व्यक्तम् । तत्र प्रथमकोटावन्यो नहुषो द्वितीयको-
 टावन्य इत्यपि संभवन् पन्थाः । नहुषश्च आयुषः पुत्रो ययातेः पितेति
 महाभारतम् (आदिपर्व ९५ अध्या. ७ ग.) ॥

अत्र मनुष्यस्य यावदायुः संभाव्यते तावतो बहधिकनियन्धनादिदानींतना इति-
 हासपुराणेषु संदिहानास्तान्यन्यथाऽन्यथा गमयन्तोऽपि बल्लुतो न विश्रान्ति संश्र-
 यन्ते । उपपद्यते चैतत् । यद् यथोत्पादितं तत् तथैव परीक्षितं स्वरूपप्रतिष्ठितं
 भवति । इतरथा परीक्ष्यमाणं तु स्वरूपाप्रतिष्ठितमेव । नहि मृद्वातिरेकेण विभा-
 व्यमानो मृद्वदः स्वरूपमधिष्ठितीति । एवमस्माकमार्यावर्तभुवामितिहासः पुराणं
 चापि न यथाश्रुतनामार्थमात्रमभिदधत्प्रवर्तते, किंतु पातञ्जलादिप्रख्यातयोगवि-
 भूतिसंदर्भतया (यो. द. वि. पा.) तत्रतत्र विलक्षणदेशकालपानघटितमपि
 बल्लु पल्लवयत् । अत एव भगवता वेदव्यासेन—

‘इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।

विमेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥’

(म. भा. आदिप. १ अ. ३६७ श्लो.)

इत्येवमितिहासपुराणाभ्यां वेदार्थोपबृंहणं विधीयते । न स्यादप्येवमादरभूरिति-
 हासः पुराणं चेति, यदि नाम कथमपि लोकवधनार्थं प्रवर्तमानं सिध्यत् । नैवं
 पुनर्विज्ञायते जल्पवितण्डावर्जम् । अत एव चात्र प्रयोगानवबोधेन कुतर्किया-
 नमपि ‘नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति’ इत्यनेन परिह्रियते ।
 वेदानामिवैतेषां कण्ठपाठसंप्रदायामावात् क्वचित्प्रक्षेपयोगेन संक्रान्तपातकमिव
 संसर्गदूषणमपि त्रयीतनुदर्शनसंवादक्रियया विहितप्रायश्चित्तमवसेयम् ।

१ अद्यापि बहूनां पुराणानां सम्यक् मुद्रण नाजनिष्ट, चातेऽपि श्लोकानुक्रमणीवि-
 रहेण परसंवादो दुःशकः.

यदि चात्र सांप्रतिकर्णालोचनदृष्ट्या कालसंकोचचिकीर्ष्या मीमांसकानां सहस्रसंवत्सरशब्दस्य सहस्रदिनपरताधिकरणन्यायोऽवतार्येत (जैमिनिद. ६ अ. ७ पा. १३ अधि.). तदापि विसंवादाधिस्तदवस्थ एवाभिलक्ष्यते । यतस्तत्र साधारण्येनाधिकारिचिन्तायां ब्राह्मणानुगृहीतः कालसंकोच आश्रीयते; इदं पुनर-विशेषेण कालकलनायां गमकानुगृहीतः कालसंकोचो विकासो वा कथमाश्री-येत । या च शतायुःश्रुतिः, सापि युगपरतया मन्वादिभिः स्मर्यते (म. स्मृ. १ अ. ८१-८४ श्लो.); इत्यभितिहासपुराणाभ्यामेव किमपरादम् । यत्तदुक्तजातं गमकानुपलम्भेऽप्यन्यथा नीयते । एतेन हि भगवन्तं राममर्द्रं तत्पितरं तत्र-भवन्तं दशरथं चाभिलक्ष्यीकृत्य प्रवृत्तम्—

‘दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।

रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति ॥’

(रा. वा. कं १ स. १७ श्लो.)

‘पट्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक ।’

(रा. वा. कं. २० स. १० श्लो.)

इत्यादिवाक्यं नासंगतं भन्तव्यम् । बलादन्यथानयने तु सौरमानेन '३६००' = २८५८ इति '३६००' = १९५३ इति तयोः कालावायच्छतः । अत्र द्वितीयस्य श्रद्धेयत्वेऽपि प्रथमः सर्वथाऽनुपपन्न एव । तथा तत्रैव रामायणे ‘ऊनपोद्दश-वर्षो मे रामो राजीवलोचनः’ इत्येवमादिशककालो दिनत्वेन परिणममानोऽति-तरामनुपपन्नो द्रष्टव्यः । नैवमत्रैवानुपपत्त्या पराक्रम्यते । यानि पुनर्यौतिषे होरा-रूढे नानाप्रकाराणि योगोत्थितानि पुरुषायुषाणि पठितानि तत्रापि विसंवाद-गलप्रद्वाम् मुच्यमानहे । जैमिनीयन्यायोऽपि स्थातृक्येणावतार्यमाणः कालकलनासु प्रमाणपदवीं नाधिरौदृतीत्यपि दर्शितमेव । देशकालविषयविप्रकृष्टानामेकस्वराला-पोऽपि दूरदर्शिभिरेकहेलयाऽवहेलयितुमशक्यः । प्रज्ञेपोऽपि साजात्याच्च विशिष्य मूलास्कन्धीत्यादि वृणेहल्य परीक्षणीयम् । तस्माद् वेदेष्टव्यं तदत्रोपादेष्टव्यं यद् यथा स्मर्यते व्यवस्थाप्यते वा तत् तथैव नीयमानं पूर्वोपशं भवितुमर्हतीति स्थितम् ॥

इष्टेदमपि पुरातनं ग्रन्थं पर्यालोच्यम्—

‘श्रुतौ शतायुः पुरयः प्रदिष्टौ

यदुत्तयोगी शतशब्दशक्यः ।

रामादिकानामधिकायुरातौ

युक्तं प्रतीमः फलितेऽमितायुः ॥’ इति ।

महत्त्वं चात्र लक्ष्यानुसारेण प्रीतिरतश्चम् । इत्थं च जैमिनीयन्यायाश्चन्दने पुनरिदमपि पर्यालोच्यमेव—

‘स चार्पिको घासरिको भचक्र (भवृत्त)-

भोगो भवेद् भास्करसंधयेण ।

तत्रापरं (न्तिमं) ब्राह्मणगौरवेण (दर्शनेन)

स स्वीचकारेति विरोधभङ्गः ॥' इति ।

अथवा भट्टतीयापरमोगस्य प्रथमान्तत्वे—'महर्षिणाप्राहि (ऽमानि) विरोध-
शान्त्यै' इत्येवं चरमपादः पठनीयः ॥

प्रास्तावयं च प्राक् (भूमि. १८ पृ.) साहित्यस्य प्रबन्धा बन्धकाश्च क इति ।
तत्रावशिष्यते पौराणिकी कोटिः । यत्र सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्षणायामनेके वैज्ञा-
निका विषयाः पुरस्क्रियन्ते । इदानीं तु प्रस्तुतमुपक्षिप्यते यत्पुराणेष्वन्यतम-
माग्नेयमिति । इह विषयान्तरवत् साहित्यविषयोऽपि भामह्यादिग्रन्थेभ्यस्तत्पूर्व-
भ्यो वा संक्रामितः, आहोस्विद् वेदार्थोपबृंहकेभ्य आग्नेयादिभ्य एव भामह्यादि-
ग्रन्था व्यधायिपत । तत्राद्यकोटिर्विशीर्यते बृहत्कथारघुवंशादिपर्यालोचनेन तत्क-
र्तृकालेऽपि कविकर्मपद्धतेरवश्यंभावादु, यत्प्रयातान्येतानि गुणाढ्यकालिदासा-
दिसूक्तान्यस्माकमवलम्बनानीति । आलंकारिकेषु भामहवर्जं नाम्न्यः कश्चन चिरंत-
नत्वेन संप्रति संभावनामारूढ इति यहवः । भामहग्रन्थस्तदुपज्ञमित्यपि न सिध्यति ।
यस्मात्तस्मादेव—

‘रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्यहुधोदितः ।

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति यनिताननम् ॥ १३ ॥

रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे ।

सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां घञ्छन्त्यलंकृतिम् ॥ १४ ॥

तदेतदाहुः सौशब्धं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।

शब्दाभिधेयालंकारमेदमिष्टं द्वयं तु नः ॥ १५ ॥

(१ परिच्छे.)

इत्येतेन; तथा—

‘इति निगदितास्तास्ता वाचामलंकृतयो मया

बहुविधकृतीर्दृष्ट्वाऽन्येषां स्वयं परितर्क्य च ।

प्रथितयचसः सन्तोऽभिज्ञाः प्रमाणमिहापरे

श्रुततरघियामस्वाराधं मनोऽकृतशुद्धिभिः ॥ १६ ॥’

(१५ परिच्छे.)

इत्येवमादिना च तथीयेन सूफेन प्राचा काव्यानुशासनानां शापनात् । नाट्य-
शास्त्रे हि—

‘उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा ।

काव्यस्येते छालंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥’

(१६ अ. ४१ श्लो.)

इत्येवमलंकारानुद्दिश्य लज्जयित्वा पाथ—

‘शूदार्यमर्थान्तरमर्थहीनं

भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम् ।

१ तथा च भास्करम्—“आदित्यो वा सूर्यं कथयः—यः पश्येदेवमवगच्छः, यदा संप-
बोऽथ प्रीयते, यदा मयर्दिनोऽथ वर्णाः, यदापराहोऽथ चरन्, यदाऽन्तमेवमव देवग-
तिरिति” इति । २ ‘रूपकादीनि कोकनर्ष प्रकाशस्य ४४ परिच्छेदेषु ब्रूयन् ।

न्यायादपेतं विषमं विसंधि

शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ॥’

(१६ अ. ८४ श्लो.)

‘श्लेषः प्रसादः समता समाधि-

र्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।

अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च

कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते ॥’

(१६ अ. ९२ श्लो.)

इत्येवं दश दोषास्तावन्तो गुणा उद्दिष्टा यथोद्देशं लक्षिताश्च । एत एव का-
व्यालंकारसूत्रे—‘श्लेषप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारतार्थव्यक्तिकान्तयो
मन्धगुणाः’ (३ अधिकार. १ अध्या. ४ सू.) इति ग्रामनेनोक्ताः; ‘मा-
धुर्योजःप्रसादाख्याल्यस्ते न पुनर्दश’ इति प्रकाशकारादिभिः प्रयुक्ता व्याख्या-
तृभिर्बामनोक्तया ख्यापिताथेति । परमेते (दश गुणा) बामनतः प्रज्ञत्वेन संभा-
वितस्य दण्डिनः काव्यादर्शोऽपि सन्ति । दण्डिवामनयोर्मन्धतो गुणानां भर-
ताद्युपश्लेषं न शायते । भरतेन स्मृतानां स्वातिनारदपुष्करादीनां ग्रन्थेषु
पारम्पर्येषु वा त एतेऽधिका वा काव्यालंकारविषया इति को निर्णयेत् । इतः
‘पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः । कर्मन्दकृशाश्वादिभिः’ (४।३।११०-१११)
इति पाणिनिस्तन्नाम्नां शिलालिकृशाश्चप्रणीतानां केषांचन नटसूत्राणां सत्ता-
वगमः स्वरूपानवधोघातसकुचितप्रसरः । दण्डिनः प्रज्ञत्वेन संभावितस्य भामहस्य
काव्यालंकारे तु भरतोक्त्यो दोषगुणोभ्यः कतिपय एव दर्शिताः । एवं समास-
व्यासवर्णनाभिप्रायतो भामहो भरतात्पूर्वं इत्याख्यातुमपि रचना न स्फुरति, यतो
भामहादिभिर्भरतादेव नाव्यविषय उद्धृत इति, विषयोपलब्धावपि तस्य समास-
व्यासाभ्यामुपपादनं तु ग्रन्थकृतमैच्छिकमिति मन्यन्ते ।

नाट्यशास्त्रलेखापेक्षामेवस्यापि यथाऽन्ये प्रतिपाद्यास्तत्र तत्र चन्दतोऽर्थतत्त्वा-
त्पर्यतो गृहीता विभाव्यन्ते. तर्धतेऽलंकारविषया अपीति बहुदर्शनां प्रत्यक्षम् ।
सदेतदालोकावकाशे दर्शनवैविध्येण शुक्तिशकलेषु रजतखण्डवद्, दामभक्तिषु
शुजगभोगवद्, गाम्योत्तरखलयावलम्बिनो मरीचिमालिनो मरीचिनिचयेषु पानीय-
पूरवदुत्तरकाले घाषाभावाच्च प्रत्याख्येयम् । इदानीमात्रेयस्य विशुद्धपुस्तकाला-
नेऽपि तदीयस्य विषयजातस्य तत्प्रभवत्वं तु नारदीयवाक्यवलेन संवादान्तरेण
च धेदेयमेव । आत्रेयपुराणं प्रस्तूय पठ्यते नारदीये पूर्वभागे ९९ एकोनशततमे-
ऽध्याये । तत्र ‘—छन्दःशास्त्रमनः परम् । साहित्यं च तत् पथात्—’ इदमपि ।
इत्थं च खल यथा नामप्रादमगृहीतमपि भामहादिप्रोक्तं व्यस्पादत्तादिपूपलब्धं तदी-
यतया परिगृह्यते तथैवात्रेयप्रोक्तमपि परिगृह्यताम् ।

अत्रेयं तुलनादि—

‘अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते ।

स्वशुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः ॥’

इति मामहः (१ परिच्छे. २९ श्लो.)

‘नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा ।

स्वशुणाविष्क्रियादोपो नात्र भूतार्थशंसिनः ॥’

इति दण्डी (१ परिच्छे. २४ श्लो.)

‘अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।

शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसंधि च ॥

देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च ।

प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते ॥’

इति मामहः (४ परिच्छे. १-२ श्लो.)

‘अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।

शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसंधिकम् ॥

देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च ।

इति दोषा दशैवैते घर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः ॥’

इति दण्डी (३ परिच्छे. १२५-१२६ श्लो.)

‘कर्तृवंशप्रशंसा स्याद् यत्र गद्येन विस्तरात् ।

कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भविपत्तयः ॥

भयान्ति यत्र दीप्ताश्च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः ।

उच्छ्वासैश्च परिच्छेदो यत्र सा चूर्णकोत्तरा ॥

यत्नं चाऽपरयत्नं वा यत्र साऽऽख्यायिका स्मृता ।

श्लोकैः स्ववंशं संक्षेपात् कविर्यत्र प्रशंसति ॥’

(इत्यामेयम् ३३७ अ.)

‘प्रकृतानाकुलभ्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना

गद्येन मुक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाऽऽख्यायिका भक्ता ॥

वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम् ।

यत्नं चापरयत्नं च काले भाव्यार्थशंसि च ॥

कथेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिद्वृत्तिना ।

कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता ॥’

(इति मामहः १ परिच्छे.)

‘संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥’

(इत्यामेयम् ३३७ अ.)

‘शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥’

(इति दण्डी १ परिच्छे.)

“काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।
अलंकरिष्णवस्ते च शब्दमर्थमुभौ त्रिधा ॥”

(इत्यामेयम् ३४२ अ.)

‘काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्तव्येन वक्ष्यति ॥’
(इति दण्डी २ परिच्छे.)

‘अपारे’ काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथा च रोचते विश्वं तथैतत्परिवर्तते ॥
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स चेत्कविर्योतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत् ॥’

(इत्यामेयम्. ३३९ अ.)

तथा चेदमुच्यते—

‘अपारे काव्यसंसारे कविरेव(रिक्ः) प्रजापतिः ।
यथासौ रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स पय चीतरागश्चेन्नीरसं सयमेव तत् ॥’

(इति धन्यालोकः ३ उयो.)

‘नेरत्यं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥
व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः ॥ ४ ॥’
‘वाग्येदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।
पृथक्प्रयत्ननिर्यत्यै वाग्यक्रिष्णि रसादपुः ॥ ३६ ॥
त्रियर्गसाधनं नाट्यमित्याहुः फरणं च यत् ॥ ७ ॥’

इत्यामेयं (३३७-३३८ अ.) खानात्रव साहित्यदर्पणस्य प्रथमपरिच्छेदे
न्यस्तम् (५, ११, ६ पृ.)

एतेन यावद् भामदाद्याचीनः कथन साहित्यसंदर्भो नोपलभ्येत, उपलभ्यमानो
या न परीक्षेत; तावद् भरतामेयादिभ्य एव भामदादिमन्या व्यधायिपत्र (२२ पृ.)
इति द्वितीयकोटिरेव प्रभवसीति ग्रीकादे न कोऽपि प्रत्यवाय इति स्थितम् ॥

१. काव्येति । नान तत्रभवान् सुवक्ष्यानन्दं पठयपत्रलंकाराणां सङ्ग्रहोऽपि दृष्टे-
राय भाभवत् ॥

२. प्रजेति । नेह परिदृष्टरागेऽपि मन्त्रिनीकथा—‘वृत्तानि तरणावपन्—’ इति
मन्त्रवपन्—‘हि सेभ्यते सुमनसां मनसाणि कन्धः—’ इति कश्चिद्वा नाभंरमंनोऽमाने
पौरुषमहापरिना ॥

३. गत्समिति । त्रियर्ग—‘वसिष्ठमरुतिहनादः—’ इत्येवमुपलंकाराणां स्तानुस्त्वं
कविर्गर्गन्तुर्देवतान्; न पुनः ‘वपुर्गर्गन्तुर्वाणिः—’ इति विश्वनीनां त्रियर्गमात्रु-
त्तरात् । तदिदं काव्यमन्त्रोक्तानि चतुरस्रदद्या समवाक्यमन्त्रां पुरस्तादेव न

पाणि० भू० ३

भरतमुनिश्चेतायुगे नाट्यशास्त्रं प्राणैपीदिति प्रादर्शयं प्राक् । तेन स स्त्रोतयैव
त्रेतायुगीय इति निष्प्रत्यूहम् । एवं पाराशर्यो व्यासो द्वापरयुगे पुराणान्यकार्ष-
दिति तत्र तत्र प्रसिद्धम् । तदेतद्देवीभागवतेऽपि पठ्यते—

अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः ।

भारताख्यानमतुलं चक्रे तदुपबृंहितम् ॥

मुन्वन्तरेषु सर्वेषु द्वापरे द्वापरे युगे ।

प्रादुष्करोति धर्मार्थी पुराणानि यथाविधि ॥'

(१ स्कं. ३ अ. १७-१८ श्लो०)

तेन प्रतिमुन्वन्तरं द्वापरे द्वापरे युगे महापुराणानां प्रादुष्करणात्तन्मध्ये निर्विवादं
परिगणितस्यामेयस्यापि प्रादुष्करणं कमारुहम् ॥

इह कतिपये तु—

‘आसन्मघासु मुनयः शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ ।

पद्द्विकपञ्चद्वियुतः (२५२६) शककालस्तस्य राज्ञश्च ॥’

इति वराह-मिहिरोक्त्या (वृ. सं. १३ अ. ३ श्लो.) युधिष्ठिरशकादौ
३१७९—२५२६=६५३ एतावत्कलिगतमधिगल्यैतावन्तं भारताहवकालं कलयन्ति ।
एतदुपजीव्य राजतरङ्गिण्यां कल्हणोऽपि—

‘शतेषु पदसु सार्धेषु व्यधिकेषु (६५३) च भूतले ।

कलेर्गतेषु चर्षणामभूयन्कुरुपाण्डवाः ॥’

इत्याद्याह स । तेन शतजु-मीधममानकालिकस्य पाराशर्यस्य द्वापरे पुराणकरणं
विरुद्धमिति चेदुच्यते—

शकारम्भे ३१७९ एतावत्कलिगतमासीद् इति ब्रह्मगुप्तादयो गणितिकाः ।
तथाच पठ्यते ब्राह्मस्फुटसिद्धान्ते मध्यमाधिकारे—‘गोऽमेकगुणाः शकान्तेऽब्दाः’
इति । एवमेव सिद्धान्तशिरोमणायपि, एवमेव च बालास्यवंशोद्भूतस्य श्रीपुलकै-
शिनी जैनमन्दिरस्थ-शिलाद्वयेऽपि—

निशासु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः ।

सप्तान्दशतयुक्तेषु गतेष्वन्वेषु पञ्चसु (३७३५) ॥

पञ्चाशत्सु कलौ काले पदसु पञ्चशतासु च (५५६) ।

समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम् ॥’

इत्यतः ३७३५-५५६=३१७९ पूर्वोक्तमेव कलिगतं सिध्यति । तथा ‘भारता-
दाहवादितः’ इत्युक्त्वा तत्रैव कुरुपाण्डवसत्तापि समायाति । तदेतद् आचार्यार्यम-
टेनापि स्वसिद्धान्ते (आर्यभटीये) दशगीतिकसूत्रेऽपि निरूपितम्—‘शुद्धिव-
साय भारतात्पूर्वम्’ इति । “कदैवमित्यत्राह—कल्पादेर्भारताद् शुद्धिवसाय
पूर्वमिति । भारता युधिष्ठिरादयः, सैरुपलक्षितो शुद्धिवसो भारतशुद्धिवसः ।
राज्यं चरता युधिष्ठिरादीनामन्त्यो शुद्धिवसो द्वापरावसानगत इत्यर्थः । तस्मिन्
दिने युधिष्ठिरादयो राज्यमुत्सृज्य महाप्रस्थानं गता इति प्रसिद्धिः ।” इति वती-

१. पुराणेति । २. द्वापरा पुराणोत्तमर्हकः ३. अ. मेवस्मानेन भारतशुद्धिवसाय-भार-
तमन्त्ये ॥ ४. द्वापराऽऽकल्पीये ५५ ॥

काकारः परमासीधरः (परमेश्वरः) वदति । एवं सिद्धान्तशेखरे श्रीपतिरपि । मतान्तरेणापि गणनान्तरेणापि द्वापरान्ते लङ्कायामौदयिकः सावनोऽहर्गणो ब्राह्म-
सिद्धान्तसिद्धोऽयम्=७२०६३४४४२७१५ अस्मादपि शुक्रदिनवार एव समायाति ।

अथ यदि कल्हणोक्त्या ६५३ इयति कलिवर्षयाते मघासु सप्तशतीणां सचार
ऊरीक्रियेत, तर्हि तद्वत्निर्णयेन कलिप्रारम्भे मघातः प्राङ् नक्षत्रेषु (रोहिणी-
प्रायेषु) तेषां संचारः समाव्येत । प्राचां ग्रन्थेषु तु 'आद्यन्मघासु मुनयः—'
इति व्याख्याने भट्टोत्पलोद्भूतेन वृद्धगर्गवचनेन—

‘कलिद्वारपरसंधौ तु स्थितास्ते पितृदैवतम् ।

मुनयो धर्मनिरताः प्रजानां पालने रताः ॥’

इत्यनेन पुनस्त ऋषयः कलिप्रारम्भेऽपि मघास्त्रेव वर्तमाना आद्यभिति स्मर्यते ।
इत्थं च प्रकृतोपयुक्तस्य संचारस्यासत्त्वे—

‘अक्षादक्षं शतेनाद्भैर्यात्सु चित्रशिरण्डिषु ।

तच्चारो संहिताकारैरेवं दत्तोऽत्र निर्णयः ॥

इत्यपि कल्हणोक्तिः कथमिव निर्णायिका भवन्ती भ्रमावर्तेषु मज्जत ऐतिहासि-
कानुदरेत् ।

कल्हणकाले तदुक्तयैव कालगणना—

| | | | |
|----------------|--------------------------|---|------|
| | गतकलिः | = | ६५३ |
| । | द्वापद्याशश्राजराज्यकालः | = | १२६६ |
| तृतीयगोनन्दात् | | = | २३३० |
| । | | | ४२४९ |

अथवा ।

| | | | |
|---|-----------------|---|------|
| । | गतकलिः | = | ६५३ |
| | युधिष्ठिरशककालः | = | २५२६ |
| | शककालः | = | १०७० |
| | | | ४२४९ |

‘कलेर्गतैः सायकनेत्र (२५) वर्षैः

सप्तर्षिधर्यास्त्रिदिवं प्रयाताः ।

लोके हि संवत्सरपञ्चिकायां

सप्तर्षिमानं कथयन्ति सन्तः ॥’

इत्यनेन लौकिकाब्द = ४३४९-२५=४३२४, ४३२४=शेषम् २४ । उक्तं च
कल्हणेन—

‘लौकिकेऽब्दे चतुर्विंशे (२४) शककालस्य सांप्रतम् ।

सप्तत्याऽभ्यधिकं जातं सहस्रं (१०७०) परिचत्सराः ।’

अत्र ‘राजा तृतीयगोनन्दः’ (११८५) इति राजतरङ्गिणीदर्शितातृतीय-
गोनन्दात्—

‘प्रायस्तृतीयगोनन्दादारभ्य शरदां तदा ।

१. प्राय इत्यादि । ‘सहस्रा विदपीत न क्रियान्—’ इति स्मरदेव प्राचां ग्रन्था
आलोचनीया इत्यल साहस्येन ॥

द्वे सहस्रे गते त्रिंशदधिकं च शतत्रयम् ॥'

इत्ययं कालः=२३३० संवदलेव । किंतु यः पुनः—

वर्षाणां द्वादशशती पष्टिः पट्टमिश्च संयुता ।

भूभुजां कालसंख्यायां तद्द्वापञ्चाशतो मता ॥'

इत्ययं द्वापञ्चाशतो राज्ञां कालः=१२६६ स च न संवदति । एतदुक्तं भवति—
यदि नाम प्रकृतोपयुक्ता सप्तर्षीणां गतिर्नोपलभ्यते, तर्हि तथा युधिष्ठिरकालनिर्ण-
योऽशक्यः । अत्र सिद्धान्ततत्त्वविवेके कमलाकरभट्टाः ।

‘अद्यापि कैरपि नैर्गतिरार्यवर्यै-

र्ह्येष्टा न या च कथिता किल संहितासु ।

तत्काव्यमेव हि पुराणवदत्र तज्ज्ञा-

स्तेनैव तत्त्वविषयं गदितुं प्रवृत्ताः ॥”

(भप्रह. ३२)

इत्यादि निर्णयति । तथा सिद्धान्तदर्पणे चन्द्रशेखरसामन्तोऽपि—

‘सप्तर्षीणां ध्रुवः प्राग्भिर्नोक्तः संचारसंभवात् ।

तथाप्यनुभवात्तेषां व्ययस्था क्रियतेऽधुना ॥

पूर्वाग्रं शकटाकारमुदकस्यमुडुसतकम् ।

सप्तर्विमण्डलं प्रोक्तं व्यक्तं विश्वनमस्कृतम् ॥

तत्पूर्वोन्नतरेखाग्रे मरीचिः पश्चिमे ततः ।’

वसिष्ठोऽरुन्धतीयुक्तस्तत्पश्चाद्द्विराः स्थितः ॥

तत्पश्चाच्चतुरस्रस्य शम्भुदिश्यत्रिरस्य तु ।

पुलस्त्यो दक्षिणे तस्य पश्चिमे पुलहः स्थितः ॥

क्रतुस्तुत्तरस्थानस्तत्रोक्तौ पुलहक्रतुः ।

ध्रुवक्षेत्रेण यल्लग्नौ तदक्षस्था महर्षयः ॥

कथ्यन्ते सांप्रतं (४९७०)सिंहे भूभुजां(२१)शान्तगौ हि तौ ।

कालांशैर्विश्वकैः १३ प्राच्यां पुलस्त्यो वर्तन्ते ततः ॥

ततस्तैः सायकै (५) रश्मिरद्विरा नवभि(९)स्ततः ॥

ततोऽष्टाभि(८)र्वसिष्ठोऽस्मान्मरीचिर्वर्ततेऽष्टभिः(८) ॥’

इत्येषमादि राक्षिषेषमुत्तान्ते—

‘प्रत्यब्दं प्राग्गतिः प्रोक्ता पुराणैरष्टल्लिखिताः ।

तेषां नो निश्चिता पूर्वानुभवादर्शानामया ॥’

इत्युपसमदायीत् । एतेन सप्तर्षिचाराभावात् ६५३ एतावत्कणितज्ञानं तदानीं
राजतरङ्गिणीप्रमगूलकमेव । ततो हि कलेः २५ वर्षानन्तर्यमिव ६५३ वर्षानन्त-
र्यमपि प्रशतानुपयुक्तमेव तत एव सप्तर्षिषेवत् (सौप्तिकान्दः) इव कलि-
युगषेवत् (युधिष्ठिरान्दः=भारताह्वान्दः) इत्येव कल्पनमपि स्वयंप्रमेयकमेव ।
नहि ३१०९-२५२६=६५३ एतावत्तन्तरेण भारतराष्ट्रपाण्डवयुगाकालस्य, वा
भारतसंप्रमस्य, वा युधिष्ठिरसाम्राज्यस्य, वा सप्तर्षिसमानावस्य सधुनकक्षपरीकल्प
युधिष्ठिरादेः पञ्चपाण्डवस्य महाप्रस्थानवात्तायाधोदितः प्राप्यते । तस्मात्—

‘भारतं द्वापरान्तेऽभूद्वर्तयेति विमोहिताः ।

केचिदेतां मृषा तेषां कालसंख्यां प्रचक्रिरे ॥’

इत्यन्यथा परिणतां महामाल्यचण्पकसूनोः कल्हणस्य कृतिमुपेक्षाम्नायभ्रष्ट-
नृपावली ६५३ एतावन्ति वर्षाणि संकलय्य ३१७९ एतावदेव सर्वसंमत्या कलि-
गतं (कलियुगसंवत्) शकारम्भसमये मन्तव्यम् । एवमप्यत्र नीलमुनिरात्मनः
काश्मीरकपुराणमतं न जहातीति परीक्षणीयम् । इत्थं च पूर्वदत्तसंहितायावदे
युधिष्ठिर इत्यत्र लक्षणया कस्मिंश्चित्तत्संताने नृपतौ पृथ्वीं शासतीत्युत्प्रेमम् । किंवा,
यथाश्रुतायै ‘नोद्रिमृगाद्भ्रियुत.’ इति पाठश्च स्यादिति संक्षेपः ॥

अथात्र किञ्चिदेतिहासिकरक्षापि विविच्यते—राज्ञः शंतनोर्गजातो गान्धेयो
भीष्मो जज्ञे (म. भा. आदिप. १०० अ.) । ऋषेः पराशरात् सत्यवत्याः पारा-
शर्यो ह्ययास्तः कानीनश्च (म. भा. आदिप. १०५ अ.) । शंतनुर्विवाहितायां
सत्यवत्यां विभ्राह्मदविषित्रवीर्यौ जनयामास । तत्र विचित्रवीर्योऽम्बिकाऽम्बा-
लिके काशिराजमुते उपयेमे । ततश्च—

‘ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन्पृथिवीपतिः ।

विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्षमणा समगृह्यत ॥

सुहृदां यतमानानामासैः सह चिकित्सकैः ।

जगामास्तमिवादित्यः,

(म. भा. आदिप. १०२ अ.) । मातुः सत्यवत्या आशया पाराशर्यो विचित्रवी-
र्यस्य क्षेत्रेऽम्बिकायां धृतराष्ट्रं तथाऽम्बालिकायां पाण्डुमुत्पादयामास (म. भा.
आदिप. १०६ अ.) । पाण्डोर्युधिष्ठिरादयः (म. भा. आदिप. १२३ अ.) ‘तत्रा-
र्जुनाद् अभिमन्युः, अभिमन्योः परीक्षित्, परीक्षितो जनमेजयादयः । एवं शांतनोः
सप्तमो जनमेजयः, येन पृष्ठः पाराशर्यो महाभारतं (जयं) चके (म. भा. आदि-
प. १ अ.) । यदि तदानीं राज्ञो जनमेजयस्य वयः ३६ वर्षाणि कल्प्येत, तदा—

‘आकर्णपलितः श्यामो वयसाशीतिपञ्चकः (८५)

रणे पर्यचरद् द्रोणो वृद्धः पौडशयर्षधत् ॥’

(म. भा. द्रोणप. १२५ अ. ७३ श्लो.) इत्यनेन, तथा—

‘वयः प्राप्य परीक्षितु वेदघृतमवाप्य च ॥ १३ ॥

कृपाञ्छाद्धताञ्छूरः सर्वास्त्राण्युपपत्स्यते ।

विदित्वा परमास्त्राणि क्षत्रघर्मवते स्थितः ॥ १४ ॥

पटि (६०) वर्षाणि धर्मात्मा वसुधां पालयिष्यति ।’

(म. भा. सौतिकप. १६ अ.) इति चासुदेववाक्येन ८५+६०+३६=१८१
एतदास्यै वयसि भगवतः पाराशर्यस्य महाभारतनिर्माणं सूपपद्यते । १८१ इयं
कालसंख्या अवधिशायै द्वापरकलिसंघितः—

‘अन्तरे चैव संप्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत् ।

समन्तपञ्चके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥’

(म. भा. आदिप. २ अ.) इत्यनेनापि ८५ पञ्चाशीत्या समाभिः प्राक् १६

पणवत्ता समाभिः पश्चाद् विभज्यते, पाराशर्यस्य ग्रीष्मदोषसमानकालिकत्वेना-
वगमात् । यद्यपीह—

त्वमप्युपस्थिते वर्षे पद्मत्रिशे (३६) मधुसूदन ।।

हृतशक्तिर्हतामात्यो हृतपुत्रो वनेचरः ॥'

(म. भा. छीप. २५ अ.) इति गान्धारीशापदानेन, तथा—

'पोडशे (१६)मानि वर्षाणि गतानि मुनिपुंगव !।

अस्य राज्ञो हतान्पुत्राश्शोचतो न शमो विभो ॥'

(म. भा. आश्रमवासिकप. २९ अ.) इति पद्मत्रिशदन्त-पातिना गान्धारी-
निवेदितधृतराष्ट्रराज्यभोगाभाससमयेन, तथा—

'पद्मत्रिशे त्वथ संप्राप्ते वर्षे कौरवचनन्दनः ।

दृदर्श विपरीतानि निमित्तानि युधिष्ठिरः ॥'

(म. भा. मौषलप. १ अ.) इत्यनेन गान्धारीशापपरिपाकावसरेण भारता-
हवात् ३६ पद्मत्रिशदब्दानन्तरं युधिष्ठिरादीनां महाप्रस्थानं लभ्यते, तथापि लोके
गान्धारीशापदानकालोऽपि महाप्रस्थानदिवसत्वेन ध्यवज्ज्ञे । यत्तु प्राचीनलि-
पिमाळायां भारताहवात् (१५+३६=) ५१ एकपञ्चाशदब्दानन्तरं महाप्रस्थानं
निर्णयते, तज्ज्ञान्तिमूलकं प्रतीयते ।

इत्थंच कलेर्द्वितीयस्यां शताब्द्यां राज्ञो जनमेजयस्यावस्थानं नासमञ्जसम् ।
तथैव तदानीं दीर्घजीविनो भगवतः पाराशर्यस्यापि सशिष्यप्रशिष्यस्यावस्थानं नासं-
गतं भविषुमर्हम् । महाभारतप्रयनोत्तरकालमेव भिक्षुसूत्रापरनामधेयानां ब्रह्म-
ज्वाणां प्रणयनावधारणात् । ब्रह्मसूत्राणि हि (स्मृतेश्च १।२६=ईश्वरः सर्वभूतानां
१८।६१) (अपि च स्मर्यते २।३।४५=अमैवांसो जीवलोके १५।७) (अतथा-
यनेऽपि वक्षिणे । योगिनः प्रति च स्मर्यते; स्मार्ते चैते ४।२।२०—२१=यत्र
काले ८।२३—२७) एवमादिसूत्रे शारीरकादिभाष्यसंयत्यापि महाभारतीयमो-
क्षपर्यवसमुद्भूता भगवद्गीतोपनिषदोऽनुवर्तन्तीति परीक्षणीयम् । एतेन च पुराणं
महाभारतं ब्रह्मसूत्रं चेति त्रयं यथोत्तरं तेन भगवता व्यरचोति व्यक्तम् ॥

अत्र केचित्तत्तन्निज्ञानोन्मीलितलोचनास्तु 'ब्रह्मसूत्रपदेधैव' (गी. १३।४)
इत्युक्त्वा भगवद्गीतातः प्राग् ब्रह्मसूत्राणां प्रणयनं निर्णयन्ति; एतदंगतिप्रदर्शनाय
भारतं महाभारतमिति पूर्वापरकालिकं ग्रन्थद्वयमुररीकुर्यन्ति; तत्साधनार्थं 'सूत्र-

१ 'इयं 'भारतीयप्राचीनलिपिमाळा' रामवहादुरपण्डितश्रीगौरीशंकररीताभन्दमहो-
दयेन रचिता वस्तुतो दर्शनादर्श संख्या च.

२. पुराणकृद् रामायणमपि भारतात् पूर्वं जातम् । उक्तंच भारतं द्वीवर्षेणि 'मति
चायं पुराणीतः श्लोकी भारतगीतिना मुनि । न ह्युक्त्वाः किञ्च इति बहूनि प्ररंजन
॥ ६७ ॥' (१४७ अ.) एतेन रामायणात्पूर्वं भारतं निर्मितमिति सामञ्जस्यं
उद्घापि निरस्यते ॥

भाष्यभारतमहाभारतधर्माचार्याः, (३ अ. ४ कं.) 'इत्याश्वलायनीयं गृह्यसूत्र-
मपि दर्शयन्ति । तत्रेदं विवेचनीयम्—ब्रह्मसूत्रपदार्थो हि शांकरे गीताभाष्ये
'ब्रह्मणः सूचकानि वान्यानि ब्रह्मसूत्राणि—' इत्याद्यभिप्रायान्तरेण वर्णितः ।
तथैव नैलकण्ठीये भारतभावटीपे 'ब्रह्मसूत्रपदैः ब्रह्मणः सूचकानि पदानि समु-
चिख्य वाक्यभावमापन्नानि तैर्ब्रह्मसूत्रकैर्ब्रह्मणवाक्यैस्तत्त्वमस्यायैः—' इति ।
तथैव परमार्थप्रपाथो 'ब्रह्मणः सूत्रैः पदैश्च ब्रह्म सूच्यते यैः पदैः—' इति । एवं
चात्र ब्रह्मसूत्रपदानि विशिष्य वेदान्तसूत्रबोधकानि नाभिप्रेतानीति स्पष्टम् । वस्तु-
तस्त्वैतानि सूत्राणि प्राचीनैर्मिश्रसूत्रसंज्ञया व्यवहृतानि । भारतं महाभारतमिति
ग्रन्थद्वयस्योरीकरणमपि न निरर्थकम् । प्रक्षेपयोगेन वर्धमानस्यापि शरीरान्तरो-
रपादासंभवात् । नहि पुष्टो धान्यादिराशिः स्वशरीरादतिरिच्यत इति । भरतान्
अधिकृत्य कृतो ग्रन्थ एव प्राशस्त्यादिना महाभारतसंज्ञां लेभे इति तूपपद्यते
वाङ्म । आकरे (जये) भारतं महाभारतमित्युभयं प्रयुज्यमानं पठ्यते । 'मह-
त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते' इत्यस्य निरुक्तमपि तत्रैव (म. भा. आदिप.
१ अ.) पाणिनिरपि महाभारतमस्मापीत् 'महान् ग्रीह्यपराङ्गृहीष्वासजाबालभार-
भारतहेलिहिलरौरवपुप्रहृदे' (पा. सू. ६।२।३८) । एवमाश्वलायनीये गृह्य-
सूत्रेऽप्युभयथा प्रयोगे का क्षतिः । एवमात्राये जामत्येव इन्द्रो महेन्द्र इति
पार्थक्येन व्यवहियमाणोऽत्र भगवान् पाणिनिरपि न पर्यनुयोज्यो भवेत् ।
लक्ष्यैकशरणा वैयाकरणा इति न्यायात् । ग्रन्थभूयस्त्वाकलनाद् हृदयसंकोचे तथा
प्रतिमानमिति चेत्, तदपि न सांप्रतम् । पठ्येवव्यतमस्य व्याकरणस्य विषयेऽपि
महामुनिना व्याडिना विहितः संप्रहो नाम लक्षश्लोकसंख्यो ग्रन्थो अजागारैव;
यदनुरोधेन धान्यवरीये द्वितीयकाण्डे—

‘प्रायेण संक्षेपदृचीनल्पविद्यापरिग्रहान् ।

संप्राप्य वैयाकरणान् संप्रहोस्तमुपागते ॥ ४८४ ॥

• इत्यवादि तत्रभवता भर्तृहरिणा । अस्य संगतो 'इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन्
व्याकरणे व्याडपुपरचितं ग्रन्थलक्षप्रमाणं संप्रहोभिधानं निबन्धनमासीत्' इत्याह
स्य पुण्यराजः । अत्र नागेशभट्टप्रसृतयोऽपि सहमताः । यद्येवमेकविधयिणी
चर्चा तर्हि चतुर्वर्गवर्मासंरुस्य भारतस्य महाभारतस्य कृते कथैव केति । अतोऽप्ये
पुनः—

‘कृतेऽथ पठ्यन्ति गुरुणा तीर्थदर्शिता ।

सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥ ४८५ ॥

अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्टवात् ।

तस्मिन्नरुतबुद्धीनां नैवावास्थित निश्चयः ॥ ४८६ ॥

१. अत्र 'संप्रहप्रतिक्रुके' इत्युक्त्या यथा संप्रहो महाभाष्यस्य लक्ष्यभूत इत्यवगम्यते,
तथा प्राक् संप्रहस्यापि सूत्रवार्तिकातिरिक्तं किमपि व्याकरणनिबन्धनमवश्यमवगमनमा-
सीत् इतरपेक्षदेवता महाभाष्यतोऽपि महीयसः संप्रहस्य प्रणयनमसंभवि तदिदं मनुकं
संप्रहनामतोऽपि शायत इति श्रुतं विचार्यम् ॥

वैजिसौभवहर्षसैः शुक्लतर्कानुसारिभिः ।

आपे विज्ञाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके ॥ ४८७ ॥

यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः ।

काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः ॥ ४८८ ॥

पथेतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः ।

स नीतो बहुशास्त्रत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः ॥ ४८९ ॥

इति च । राजतरङ्गिण्यां कल्हणोऽपि—

‘चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वाऽऽदेशं यस्मात्तदागमम् ।

प्रवर्तितं महाभाष्यं स्यं च व्याकरणं कृतम् ॥’

(१ तरं. १०६ श्लो.)

अहो अनतिप्राचीनस्य महाभाष्यस्य संप्रदायवैधुर्वाद् गवीत्वंकारा दुरवस्थाऽन-
निष्ट, तर्हि परमेयामध्ययनाध्यापनविधाविधुराणां पुरावेतिहासप्रवृत्तीनां यथावदवस्थो-
पलब्धिर्दूरापास्तैवेति किं चित्रम् । अत्रेदानीं भविष्यपुराणाद्युदाहरणम् । नैतावता
पुराणेतिहाससत्तैव खिलीभवति, विवेचनसंभवाद् । न वा वेदावस्थितैव पुराणेतिहास-
सत्ता, अत्रसेवोपाङ्गस्यापि पार्थक्येन भ्रमणस्मरणवद्भावाद् । तथाच ध्रुवतेऽथर्व-
वेदसंहितायां पञ्चदशे काण्डे—‘रा बृहतीं दिशमनुष्यचलत् तमितिहासश्च पुराणं
च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुवचत् । इतिहासश्च च वै स पुराणश्च च गाथानां च
नाराशंसीनां च श्रियं धाम भवति च एवं वेद ॥’, छान्दोग्योपनिषदि सप्तमे
प्रपाठकेऽपि—‘इतिहासपुराणं पथमं वेदानां वेदम्—’ मनुस्मृतौ तृतीया-
ध्यायेऽपि—‘स्त्राभ्यायं भाषयेत्पित्रे धर्मशास्त्राणि चैव हि । आख्यानानीतिहासांश्च
पुराणान्यखिलानि च’ ॥ २३२ ॥’

प्रकृते भगवतः पाणिनेः सूत्रेषु राज्ञो जनमेजयादुत्तरकालिको न दृश्यते, पारा-
शर्य-व्याससूनोः शुक्रस्यापि नाम नास्ति; पश्चात्तु यैरासिकदशधाधनाय कालाय-
नेन वररुचिना व्यासवरदेति धार्तिकमारुन्धमेव; वैशम्पायनान्तेवाशिषिषु कलाप्य-
न्तेवाशिप्रह्णारकलाप्यन्तेवास्यन्तेवाशिप्रह्णमविश्रितमिति वैशम्पायनाद्यनुषोऽना-
दत् एवेत्येतेभ्यो सातिपरभवः शालातुरीयो दाक्षीपुत्रः पाणिनिः कळेवतृप्यां

१. ‘पाणिनिरजादिको दाक्षीपुत्रः शालद्विपाणिनी । शालातुरीयः’ इति श्रिहा-
ण्डशेपे पाणिनिपर्यायाः । अत्रेदमाहुः—एणनं पनः, सोऽस्मास्तोमि णी मुनिरितेषः ।
सस्य गोप्रापस्य पाणिनः । पाणिनो मुनि अपले चतुर्थे पाणिनाय पाणिनिरिति सर्वदे-
ल्लोकोपकारकस्य शब्दानुशासनस्य (व्याकरणस्य) रचयिता मुनिः । ॥ च जाम्बवती-
जयात्पकाम्यकर्तापि । तथाच पठ्यते छल्लिनुष्यत्वेमुमाशितशापरत्योरेव रामदेरा-
मदाकविश्लोकः—‘सखि पाणिनये तले यस्य रुद्रपछादतः । आशे व्याकरणं काम्य-
मनु जाम्बवतीत्रयम् ॥’ इति । यस्य जाम्बवतीत्रयस्य ‘पाशाच्छिन्नयम्’ नामागुर्-
रापमुद्भूतकामरकोरुदीकानोऽवधीयते । मुमाशितशब्दाराधनेके पाणिनेर्यस्य वर-
रुप्यते । पाणिनिभ्यामेवापानीति मसिदिः । तत्र—‘सिहो व्याकरणस्य कर्तुरहत्तमान-

शताब्द्यां संभवति स्मैव । निरुक्तालोचने सत्यव्रतधामधर्ममहाशयेन तु पाणि-
नेरष्टम्यां शताब्द्यां संभवो राजतरङ्गिणीभ्रमादुदटङ्कि । कचिन्तु कलेः सप्तविंश्यां
शताब्द्यां पाणिनेरस्तित्वमुक्तं तदप्युपेक्षार्हम् । केचित्पुनः पाणिनिसूत्राणां मूलं शाक-
टायनीयं व्याकरणं ब्रुवते, तदपि तथाभूतम् । यस्मात्खलु यः शाकटायनो य-
स्कीये निरुक्ते; पाणिनीये सूत्रे, कात्यायनीये श्लोके च पृथक्ते; स तावच्चिरंतनः ।
तस्य पारम्पर्येण केवलं मतं ज्ञायते, तदीयं व्याकरणं तु नोपलभ्यते । इदानीमुप-
लभ्यमानं शाकटायनव्याकरणं तु केनचित्जैनेन शाकटायनेन कृतं नवीनमिति भार-
तीय-प्राचीनलिपिमालायां द्रष्टव्यम् । पाणिनिसूत्राणि लक्ष्मीकृत्य वार्तिकानां
विरचयिता कात्यायनापरनामशाली भगवान् वररुचिरपि पाणिनेः परस्तात्
पञ्चदशतसंख्येयास्तु समास्तु, अर्थात् कलेः सहस्रासत्रायां शताब्द्यां संभवत्सत्ताकः
प्रतिभाति । यस्मान्निताम्यतमपेक्षितानां वररुचिवार्तिकानां प्रणयनात् प्राक् पाणिनि-

त्रियान्पाणिनेर्मीमांसाकृतमुन्ममाय सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम् । छन्दोशाननिधिं
जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलं ह्यज्ञानावृतचेतसामतिरुपां कोऽर्थस्तिरुधां गुणैः ॥' इति
पञ्चतन्त्रश्लोकः । केचिदत्र पाणिनिद्वितीयं मन्यन्ते इति दिक् । सोऽयं भगवान् पाणिनिः शाला-
तुरे नगरे संभवतो गान्धार-देशासन्ने पाणिनाद् दाक्ष्यां जन्म लेभे इति '—पणिनश्च'
(६।४।१६५) 'तृतीयशालातुर—' (४।३।९४) 'शालातुरीयमतमेतदनुक्रमेण—'
(भामहो.) '—दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।' (महाभा.) इत्यादितो विहायते । स ताव-
द्धोकोपचिकीर्षया महीयसा तपश्चर्यया भगवन्तं महेश्वरं साक्षात्कृत्य तस्माद् अहङ्ग-
प्रभृतिं शब्दब्रह्म-परब्रह्महंहीमपीरुवेयीं चतुर्दशसूत्रीं विन्दति सेति तद्व्याख्याया नन्दि-
केश्वरकाशिकाखयायाः—'नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद दक्षां नवपञ्च (१४)
वारम् । उद्धतुकामः सनकादिसिद्धानेतदिमरौ शिवसूत्रजालम् ॥ अत्र सर्वत्र सूत्रेषु ह्यन्त्य-
वर्णचतुर्दशम् । भारवर्धं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्ध्ये ॥' इति श्लोकाभ्यामवसीयते ।
'अन्त्यं वर्णचतुर्दशम्' इति तु शब्देन्दुशेखरस्यः पाठः । अत्र शब्दब्रह्मोपबृंहणं त्रिमुनि-
व्याकरणम् । परब्रह्मोपबृंहणं तु—'अकारो ब्रह्मरूपः स्वाश्रितुणः सर्ववस्तुषु । चित्त-
लोमिं समाश्रित्य जगद्रूपं लणीश्वरः ॥ अकारः सर्ववर्णाख्यः प्रकाशः परमेश्वरः । आथ-
मन्त्रेण संयोगाद्दहमित्येव जायते ॥ सर्वं परात्मकं पूर्वं अस्मिन्नाश्रितं जगत् । शतेर्बभूव
पश्यन्ती, मध्यमा वाक् ततः स्मृता ॥ चके विशुद्धिचक्राख्ये वैपरी सा मता ततः ।'
इत्यादिनाम्ने नन्दिकेश्वरेणैवाकारीनि दिक् । एतेन सनकापुद्गरोऽपि व्यक्तः ॥

१. अयं वररुचिः कात्यायननाम्नापि ख्याप्यते । तत्र कस्य गोत्रापत्यं कात्यायन
इति स्पष्टपक्ष्या कृतनाम्नः कस्यचिन्मुनेर्वंशधरः । कतश्चन्द्रो गणादिषु पठ्यते । 'प्रियत-
क्षिता दाक्षिणात्याः' इति पतञ्जलिश्लेखेन तदेतद्वः स दाक्षिणदिद्विजानी । 'यद् तेन
कृतम्, नच तेन प्रोक्तम् । वाररुचं काव्यम्' (४ अ. ३ पा. १ आ. १०१ सू.) इति
पतञ्जलिश्लेखेन, स कस्यचित्काव्यस्यापि कवयिता । कात्यायननामतोऽनेके ग्रन्थाः प्रतिष्ठाः
तेषु कस्यो वररुचिना कात्यायनेन कृतः, कस्येतिरेणेति बहुवचनस्यानुपेक्षि ॥

सूत्राणां पठनपाठनयोः प्रवृत्तिर्दुःशक्येति प्रत्यक्षं वैयर्थ्यकरणानाम् । आसीच्च पूर्वं
 माधुरी नाम काचिद्वृत्तिः, या च भगवता पतञ्जलिना 'तेन प्रोक्तम्'
 (२।३।१०१) इति सूत्रभाष्ये निर्दिष्टा । सैषा माधुरेण प्रोक्ता (प्रकाशिता)
 तादितरेण कृतेति स्पष्टं प्रमातृद्वयम् । 'कृतौ भाष्ये—' इति श्लोकयन् काशिका-
 काशेऽपि कांचन वृत्तिं सस्मर । इह यदमञ्जरां हरदत्तः 'सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो
 वृत्तिः । सा चेह पाणिनिप्रणीतानां सूत्राणां कुणिप्रभृतिभिराचार्यैर्विरचितं विव-
 रणम्' इत्युच्ये । इतो भाष्ये पदशब्दादिके—'संप्रहे तावत्कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्या-
 महे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणम्' इति वार्तिकीयसिद्धपदार्थकक्षिका भगवतो
 व्याडेः संप्रहृतामानं महानिवन्धं प्रमाणयन्ती तदानीमपि वार्तिकसङ्ग्रहमवभाष-
 यतीति नातिरुच्छमम् । एतेन व्याडिपतञ्जलिभ्यां पूर्वमपि पाणिनिसूत्राणां वृत्तिः
 सापि वररुचिवार्तिकोपश्लिष्टेति स्पष्टं सिध्यति; सिध्यति च सूत्रेभ्यो नातिविप्रकृतो
 वार्तिकानां प्रणयनकालः । पाणिनिसूत्रसंबद्धं वररुच्युपसर्गं प्रोक्तुतव्याकरणमपि
 विरोधं प्रवृत्तम् । तदेतद् दृश्यकविकर्मणा जैनधर्मग्रन्थानां च जीवातुभूतम् । एतै-
 नापि निवेदितायोऽनुग्रह्यत इति दिक् । निरुक्तालोचने तु कलेर्विशी घाताव्यी वर-
 रुचिस्थितिकाल उक्तः । अस्मन्मते त्वेतदासन्नः संप्रहर्तुर्व्याडेः सत्ताकालः । यच्च
 आचार्योपसर्जनसूत्रवार्तिकभाष्ये व्याडीय-पदं तदपि न व्याडितो वररुचेः परमव-
 त्वसाधनायालंकार्माणम् (६।१।३६) इति वार्तिकभाष्यभेदज्ञानां नातिगूढम् । यत्तु
 बृहत्कथायां पाणिनिप्रवृत्तीनामन्ययान्यथा कपावर्कं सम्भ्यते; तस्माद्वेदानुष्ठारेण
 दृश्यकविकर्मकायपदकम् । तत एव रूपकोपरूपकाणामिति शतानि न सर्वथा भूतार्माव-
 रुन्मनीनि । एवंभूतानि श्रव्यकविकर्माण्यपि कानिचित् । एतदनुसंधाय द्वावरूपके—
 'रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथा च' इति विभागेनोक्तम् । सेवं बृहत्कथा मूर्त-
 भाषारूपिणी । उक्तं च काम्यादर्शे—'भूतभाषामयीं शशुरहुतायां बृहत्कथाम् ॥'
 भूतभाषा पैशाची; वरप्रकृतिः सौरसेनी । रमावली-प्रियदाक्षिका-नागानन्द-मालवी-
 माधव-मुद्राराक्षस-कादम्बरी-वैतालप्रबोधितिकाप्रवृत्तीनां जवनीयमेव बृहत्कथा ।
 सैयं व्यासदासपरनाम्ना क्षेमेन्द्रेण संस्कृतेऽप्यतारिता बृहत्कथामञ्जरीति, सोम-
 क्षेवेनानुदिता कथासरित्सागर इति नाम लेखे । व्याकरणमहामाध्यमादको
 गोमदायो गोणिकापुत्रो भगवान् पतञ्जलिः कलेः सप्तविंश्यां सताब्द्यां भारत-
 मुर्वं भूपयामासेति सत्यत्रतसामग्रमितेखतोऽपि निर्व्यूढम् । एष महामाध्यकारप-
 तञ्जलिस्तत्ताकालो योगदर्शनकषाद् भगवत्पतञ्जलेर्वहुपथाद् बुद्धमहामुनेरीपत्यथात् ।
 चाणन्यशिश्याचन्द्रगुप्तास्तु प्रमेवापततीति हेत्वाभावनिराधुपरस्कारेण परीक्षणी-
 यम् । तत्र योगदर्शनं, तत्त्वसमासाख्यसांख्यमूलतो स्वर्वाचीनात् पञ्चम्यायाम-

१. पतञ्ज वृत्तिर्मात्रेण कृता ॥ २. 'प्रवृत्तिः सौरसेनी' इति वररुचिपुत्रम् ॥
 ३. भगवत्सांके रीभाष्यं भगवान् पतञ्जलिः—'क्षेमेन निपत्य परेन वार्तां पदं
 शरीरस्य च नैपतेन । कोऽप्यकरोचं प्रवरं मुनीनां पञ्चवर्षं प्राञ्चिरानन्देऽपि ॥'
 इति वृत्तिपदेन पदेन योग-वैषक-व्याकरणानां भर्ता ज्ञाप्यते । अनेदं पदं ने-

कात् सांख्यदर्शनात्पराचीनमेव । यस्मात्—‘वृत्तयः पञ्चतम्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः १।५॥
स्थिरमुखमासनम् २।४६॥’ इति पातञ्जलयोगसूत्रे कस्मात् षडध्याय्या द्वितीय-तृती-
याध्याययोः । एवमन्यदपि । एषा सांख्यषडध्याय्यपि महाभाष्यकारात्पतञ्जलेः
पूर्वव । यद्यप्यस्याः षडध्याय्या अनेकानि सूत्राणि पाठतोऽपीश्वरकृष्णीयासु सांख्य-
कारिकामु संक्रान्तानि दृश्यन्ते, तावता तास्ताः कारिकास्तत्तत्सूत्राणां मूलानीति
बहूनामाधुनिकानामैकमस्यं प्रथते; तथापि—‘सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य
पठितस्य । आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताद्यापि ॥’ इतीश्वरकृष्ण-
स्मृताख्यायिकापरवादप्रकरणमर्थं कारिकामूलं यावज्ज प्राप्यते तावत्षडध्याय्याम-
नाश्वासो हृदयदौर्बल्यपरिचायक इति प्रतीमः । योगदर्शनकारः पतञ्जलिस्तु ‘एतेन
योगः प्रत्युक्तः २।१।३’ इति वेदान्तदर्शनसूत्रेण पारशर्यतोऽपि पूर्व इति ।
बुद्धमहामुनिस्तु सांप्रतिकानां धावनेऽप्यनिर्णीतधृताकालः, तत्र गौरीशंकरप-
ण्डितास्तु तस्य महात्मनो निर्वाणसंबद्—४८७ ईशातः प्राक् संभावयन्ति अ-

ध्यम्—को नाम योगः यस्य कर्तोऽयम् । यदीह योगशब्देन सुप्रसिद्धं चतुष्पा-
दात्मकं पातञ्जलदर्शनं गृह्येत; तर्ह्यस्य महाभाष्यभाषकपतञ्जलिकर्तृत्वमैतिहासिक-
दृष्ट्या विरुध्यते । यतो वैयासिके वेदान्तदर्शने सांख्यादिदर्शनवद् अंशतो योगदर्शनमपि
प्रत्युच्यते । तथाच वेदान्तसूत्रम्—‘एतेन योगः प्रत्युक्तः (२।१।३)’ वेदान्तसूत्रवृत्ति-
भाष्याणामाकलनेन सुप्रसिद्धस्य पातञ्जलदर्शनस्यैव निरासोऽवसीयते । वेदान्तसूत्रद्व-
य्यासः (पादाश्रयः) व्याकरणसूत्रकृत् पाणिनिः, पाणिनिसूत्रोपरि वार्तिककृत् चर-
कचिः (कात्यायनः) सूत्रवार्तिकभाष्यकृत् पतञ्जलिः (गोनर्दीपः) इति तु ग्रन्थानुरक्त
आचार्यक्रमः । एतेन व्यासतोऽपि पूर्ववर्तिनो योगदर्शनकर्तुः पतञ्जलेः सकाशात्पर-
वर्ती महाभाष्यकर्ता पतञ्जलिरिति स्पष्टम् । अथ वैद्यकप्रणेतापि पतञ्जलिः । अतएव
भञ्जपादौ चरके पतञ्जलिरिति लेखः । चरकः चरकाख्यग्रन्थः, पतञ्जलिः शेष इति लेखा-
शयः । तथाच पठ्यते भाष्यप्रकाशे—‘यदा मत्स्यावतारेण हरिणा वेद उद्धृतः । तदा शेषश्च
सर्वेषु वेदं साह्यमवाप्तवान् ॥ अथर्वान्तर्गतं सम्यगायुर्वेदं च लब्धवान् । एकदा स मही-
वृत्तं द्रष्टुं चर इवागतः ॥ तत्र लोकान् गद्वेग्यस्तान् व्यवधाय परिपीडितान् । खलेषु बहुषु
व्यग्रान् म्रियमाणाश्च दृष्टवान् ॥ तान् दृष्ट्वाऽतिदयायुक्तस्तेषां दुःखेन दुःखितः । अनन्त-
क्षिन्तयामास रोगोपशमकारणम् ॥ संचिन्त्य स स्वयं तत्र मुनेः पुत्रो बभूव ह । मसिद्धस्य
विशुद्धस्य वेदवेदाङ्गवेदिनः ॥ यतश्चर इवायातो न शातः केनचिद् यतः । तस्माच्चरक-
नाम्नासी विख्यातः क्षितिमण्डले । स भाति चरकाचार्यो वेदाचार्यो यथा दिवि । सदस-
वदनस्यांशो येन ध्वंसो रुजां कृतः ॥ आग्नेयस्य मुनेः शिष्या अग्निवेदादयोऽभवन् ।
मुनयो बहवस्तैश्च कृतं तत्र स्वकं स्वकम् ॥ तेषां तत्राणि ससृज्य समाग्र्यं विपश्चिता ।
चरकेणात्मनो नाद्या ग्रन्थोऽयं चरकः कृतः ॥’ इति । एतेन यदि चरकपतञ्जली एक-
व्यक्तिवचना, तर्हि सर्वं सुस्पष्टम् । इह कौतुकिमी रामभद्रयन्त्रविरचितमष्टसंगोत्तरं
पतञ्जलिचरितारं महाकान्वं द्रष्टव्यम् । पतञ्जलेनिवासो गोनर्देवः कदमीरेति बहवः,
अयोध्यामण्डले गोण्डेति कतिपये इति दिष्टम् ॥

चार—' (१।२।४५—५०) इत्यादिना प्रश्नाप्युपदिष्टाः । एतेन पूर्वं त्रय एव हेलाभासा आकलिताः, पश्चात् पञ्चत्वमुपनीता इति व्यक्तम् । अत्र 'विरुद्धासिद्ध-संदिग्धमलितं काश्यपोऽज्रवीत्' इति वैशेषिक-पदार्थधर्मसंग्रहकारः प्रशस्तपादाचार्योऽपि संवादी । एवं वृत्तौ जयनारायण-तर्कप्रधाननोऽपि । तदेतन्महामहोपाध्याय-चन्द्रकान्तमहाचार्यः स्वभाष्यभूमिकायां स्पष्टमुक्तवान् । किंच, न्यायसूत्रापेक्षया वैशेषिकसूत्राणां प्रणयनशैलीसारव्यमपि तत्प्राचीनतामवगमयतीति प्रत्यक्षं परीक्षकाणाम् । एवमपि यज्ज्यायकोशभूमिकाया महामहोपाध्यायमहर्षिमाचार्येण विपरीतमुच्यते तत्र हृदयारोहीति द्रष्टव्यम् ।

प्रमाणैः प्रमेयपरीक्षणं न्यायः, नीयते प्रमेयसिद्धिरनेनेति वा । एषोऽर्शपादापरनाम्ना महामुनिना गौतमेन न्यरूपि । इहान्तरात्मपुरस्कारेण पदार्थतत्त्वज्ञानाभिः श्रेयसपार्यन्तिकी परमात्मचिन्ता । अत्र पञ्च अध्यायाः । प्रत्यध्यायमाहिकद्वयम् । सर्वसूत्राणि ५३१ । भगवतो गौतमस्य समये आयुर्वेद इव मन्त्रकाण्डोऽपि इष्टप्रत्यय आसीत्, तत एव दृष्टान्तविधया द्वयोरप्युपादानं वेदप्रामाण्यावधारे कृतम्—'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् २।१।६८ ।' इति । स्वारस्याद्विशेषेणागमिका मन्त्रा लक्ष्यन्ते । आगमं च—'आगतं शिवब्रह्मेभ्यो गतं च गिरिजामुखे । मतं श्रीवासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते ॥' इति शब्दार्थभिन्तामणौ निरुक्तम् । वक्त्राणि—तत्पुरुषा-धोर-सद्योजात-वामदेवे-ज्ञानसंज्ञानि पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरोर्ध्वरूपाणि पञ्च । तत्पुरुषादिष्वक्षप्रतिपादका मन्त्रास्तु तैत्तिरीये आरण्यके दशमप्रपाठके श्रूयन्ते ॥

सांख्यं योगधेति समानतन्त्रे । तत्र तत्त्वानां समासो यत्र स तत्त्वसमासः सांख्यापरनामा नारायणावतारेण देवहूतिनन्दनेन महामुनिना कपिलेनोपादेयि । तथाचोक्तम्—'पश्यमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविश्रुतम् । श्रोत्राचामुरये सांख्यं तत्त्वमामविनिर्णयम् ॥' इति भागवते (१ स्कं. ३ अ. १० श्लो.) । तथा—'दुःखत्रयाभिघातादि'त्यादिसांख्यकारिकामूलभूता सांख्यपञ्चाध्यायी ॥ वैश्वानरावतारेण महामुनिना कपिलेनोपादिष्टा । तथा चोक्तम्—'शुक्लकृष्णगतिर्देवो यो विमर्ति हुताशनम् । अकल्मषः कल्मषाणां कर्ता क्रोधाधितस्तु सः ॥ कपिलं परमधि च यं प्राहुर्यतयः रादा । अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः ॥' इति भारते । विज्ञानभिधुस्तु द्वयोरैक्यं मन्यते । 'संख्यां प्रवृत्ते चैव प्रवृत्तिं च प्रचक्षते । चतुर्विंशतितत्त्वानि तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः ॥' इत्यनेन सांख्यसंज्ञायोगोऽवसेयः । एतेन तत्त्वसमासरूपं पञ्चाध्यायीरूपं चेति द्वेषा सांख्यदर्शनमवसीयते । तत्र प्रथमं प्राचीनतमम्, द्वितीयं तु—न्यायवैशेषिकदर्शनाभ्यां पञ्चाज्ज्ञे । तत्रैतद्विशिष्टम्—'न ययं पदपदार्थवादिनो वैशेषिकादिष्वत् १।२।५॥' 'न पदपदार्थनियमस्तद्वोधांशुकिः ५।८५ ॥' 'वोदशदिष्वप्येवम् ५।८६ ॥' इति । पञ्चाध्याय्यां सूत्राणि ५२६। तत्त्वसमासे तु २२ सूत्राणि ॥

महामुनिना पतञ्जलिनानुशिष्टो योगः । शुजिर योग इति धातोर्व्युत्पादितस्यास्य प्रवृत्तिनिमित्तं चित्तवृत्तिनिरोध एव । अत्र 'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः' तथा—'परेण ब्रह्मणा सार्धमेकत्वं यत्तु पात्मनः । स एव योगो विख्यातः किमन्यद् योगलक्षणम् ॥' इत्यनेन योगस्य, तथैव—'वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रं परमात्मनि । एकीकृत्य किमुच्येत योगयुक्तः स उच्यते ॥' इत्यनेन योगिनश्च स्वरूपमवधातव्यम् । योगदर्शने चत्वारः पादाः, सूत्राणि १९५ । इहान्तरात्मपुरस्कारेण—'जलसन्धवयोः साम्यं यथा भवति योगतः । तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरिति कथ्यते ॥' इति समाधितः कैवल्यपार्यन्तिकी निर्गुणपरमात्मचिन्ता । सांख्ये तु धन्तरात्मपुरस्कारेण तत्त्वज्ञानाभिर्वाणपार्यन्तिकी निर्गुणात्मचिन्ता । एतानि चत्वारि दर्शनानि लक्ष्यीकृत्य पराशरोपपुराणादियुक्तम्—'अक्षपादप्रणीते च, काणादे सांख्ययोगयोः । त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोऽसौ श्रुत्येकशरणेनृभिः ॥' त्याज्योऽसौ नानात्मवादप्रवृत्तिः ॥

धर्ममीमांसा-ब्रह्ममीमांसेति दर्शने प्रतिज्ञासूत्रतो जिज्ञासापक्षोपस्थाप्यकर्मज्ञानप्रधाने । तत्र धर्ममीमांसा महामुनिना जैमिनिना मन्त्रब्राह्मणारमकेभ्यो वेदेभ्यः कर्माणि संकलय्य निरूपिता । इह द्वादशाध्यायाः । प्रत्यध्यायं चत्वारः पादाः, परंतु पृथगे पठे दसमे चाध्याये चत्वारोऽधिकाः, अर्षाद् अष्टपादाः । सूत्राणि २०४५ । अधिकरणानि ९०७ । वस्तुतस्त्विह संकर्षकाण्डेन चतुरध्यायात्मकेन सह षोडशाध्यायाः । एवं द्वादशानन्तरं त्रयोदशेऽध्याये ८४ सूत्राणि, चतुर्दशे १०४, पञ्चदशे ९५, षोडशे ६४ । एवं च पूर्वमीमांसा न द्वादशलक्षणेव किंतु षोडशलक्षणीति । अतएव भाट्टदीपिकायामन्त्रे—'भासीत् षोडशलक्षणी श्रुतिपदा या धर्ममीमांसिका संकर्षाख्यवतुर्धर्मभागविधुरा कालेन साजायत । गायत्री त्रिपदादिमकेव विवुधैरपि पापव्यते तां पूर्णामतनोच्छ्रमेण महता गम्भीरजो भास्करः ॥' इत्युक्तम् ॥

ब्रह्ममीमांसा महामुनिना वेदव्याख्यानपरनामधेयेन भगवद्भारावणावतारेण पाराशर्येण वेदेभ्यो ब्रह्मण उपासनाज्ञाने उपादायोपदिष्टा । इह चत्वारोऽध्यायाः । प्रत्यध्यायं चत्वारः पादाः, सूत्राणि ५५४ अधिकरणानि १९१ । एते द्वे दर्शने उद्दिष्ट पराशरोपपुराणादियु—'जैमिनीये च वैयासे विरुद्धांसो न कथन । श्रुत्या वेदार्थविज्ञाने श्रुतिपरं गतौ हि तौ ॥' इत्युपप्लोक्तमस्तीति सांख्यप्रवचननाम्यतो ज्ञायते । ते एते दर्शने समानकालिके, यस्माद् उभयोरुभयत्र नामधेयं भगवतो व्यासस्यान्वेषासी च जैमिनिरिति सुप्रसिद्धम् ॥

अत्र दर्शनेषु ब्रह्ममीमांसाया (वेदान्तदर्शनस्य) एव तादृक् महिमा यदेतस्या नानाविधानि भाष्याणि जातानि । तत्र शारीरकनाम्यं निरंतरम्, यत्कर्तो व्यासस्यैव शिष्यसंताने प्रादुर्भूतः शंकरावतारः शंकराचार्य इति । तथाच सर्वे ते क्रूर्ममहापुराणे त्रिंशत्तमेऽध्याये युगधर्मानुकीर्तने—'कलौ रुद्री महादेवो लोकानामीश्वरः परः । तदेव साधयन्तुर्ना देवतानां च देवतम् ॥ करिष्यत्यवताराणि

शंकरो नीललोहितः । श्रौतस्मार्तप्रतिष्ठार्थं भक्षणां हितकाम्यया ॥ उपदेशयति
तज्ज्ञानं शिष्याणां ब्रह्मसंज्ञितम् । सर्ववेदान्तसारं हि धर्मान् वेदनिदाशितान् ॥ ये
तं प्रीत्या निषेवन्ते येनकेनोपचारतः । विजित्य कलिजान् दोषान् यान्ति ते परमं
पदम् ॥' इति । 'नारायणं पद्मभुवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च । व्यासं
शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥ श्रीशंकराचार्यमथास्य
पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम् । तं तोटकं वार्तिककारमन्यानसद्गुरुन्संततमा-
नतोऽस्मि ॥' इति गोस्वामिमण्डले सायंकाले पुष्पाञ्जलिप्रदानपूर्वकप्रणामाञ्जलि-
करणसमये पठ्यमानमभियुक्तपद्यं चेति । अस्य महात्मनः 'संवत् २१६२, तथा
'चोक्तं भारतीयज्योतिःशास्त्रे सायनगणनाप्रस्तावे—'श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादा-
चार्याणामवतारशकाब्दाः २३६२' इत्यादि ।

एतयैतिहासिकदृष्ट्या द्वापरान्ताद् अर्थात् पाण्डवसत्ताकालादारभ्य शालिवाह-
नीय-शककालपर्यन्तमतिक्रान्तासु ३१७९ एतावतीषु कलिगतसमासु लक्षभूतानां
कालपरिच्छेदकानां मुनीनामाचार्याणां भूपतीनां चावस्थानाकलनेन ग्रन्थपूर्वापर्य-
भाषाविज्ञानसंवादेन च पुराणेषु भविष्यतया कीर्तिता राजवर्णनापद्धतिरपि साधू-
पपद्यते । तथाहि विष्णुमहापुराणे चतुर्थेऽंशे चतुर्विंशेऽध्याये—'यावत्परीक्षितो
जन्म यावन्नन्दामिषेचनम् । एतद्वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पद्याद्युत्तरम् ॥ १०४ ॥' इति ।
श्रीमद्भृगुवक्त्रे द्वादशस्कन्धे द्वितीयाध्याये तु—'आरभ्य भवती जन्म यावन्नन्दा-
मिषेचनम् । एतद्वर्षसहस्रं तु धातं पद्यदशोत्तरम् ॥' इति पाठभेदः । तत्र ३००० काले
परीक्षितमारभ्य क्षेमकान्तम् २८ अष्टाविंशती राजानो युधिष्ठिरकुले । तथा 'बृहद्-
रुमारभ्य सुमित्रान्तम् ३० त्रिंशद् राजान एक्षाकदः । तथैव जरासंधमारभ्य
रिपुंजयान्तम् २२ द्वाविंशती राजानो बार्हद्रथा मागधा बभूवुः । अथ १०००
'एतदुक्तकालोत्तरं द्वाविंशस्य रिपुंजयस्यामालो मुनिक एतं (रिपुंजयं) हत्वा स्वपुत्रं
प्रद्योतं राजानं चक्रे । १३८ अस्मिन् काले नन्द्यन्ताः पद्य प्राद्योता राजानो
बभूवुः । अर्थात् अस्मिन् काले विष्णुमहापुराणरीत्या ११३८ एतावन्तः कलिग-
ताब्दा व्यतीयुः । इदं विष्णुपुराणोक्तः १०५० इति, भागवतोक्तः १११५ इति
'वा कालो निपतति । प्राद्योतेषु चतुर्थः 'नन्दिवर्धनः' पद्यतः 'नन्दी' भवति ।
एतयोरन्यतरः 'यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नन्दामिषेचनम्' इति प्रागुक्तस्य सद्यो
भविष्यतीति । यतो महापद्मनामा नन्दः, एतत्पुत्राः सुमाल्यादयो नन्दा वा १३८
एतत्कलिगतीतरम् ३६२ एतच्छंशुनामभूपालभोग्यपर्याप्तान्तरं सन्धावकाशा भवन्ति ।
'एतेन प्रागुक्तमेव ज्यायः, तथोभयत्र 'नन्दा' 'नन्दी' वा पाठः समानाकार

१. अत्र केचित् ३८८९ एतावत् कलिगतन्, अन्ये. ३९११ एतावत्, इतरेन्यत्र
उच्यते; तत्प्रधानशंकराचार्योद्घोक्तानां तत्तीठवर्तिनामभिप्रायेण नेगम्यम् । यत्र दृढ-
रीठारूपाः सर्वे शंकराचार्यसंछवेव व्यवहियन्ते । सर्वं नामसादृश्याद् बहुत्र करि-
क-
नेषु प्रसो जातः ॥ २. अदयवतारशकाब्दकालो क्षारकाभिष्टि-क्षारदापिठे प्रवर्तमान
इति तदाराधनो व्यवहृतम् ॥

इयत् इत्यपि द्रष्टव्यम् । अयो इत्याकुपु त्रिंशति राजसु त्रयोविंशः=शाक्यः,
चतुर्विंशः=शुद्धोदनः, पञ्चविंशः=राहुलः । इयमानपूर्वा भगवत्तं बुद्धं दृशति ।
यतः 'शाक्यमुनिस्तु यः । स शाक्यसिंहः सर्वार्थसिद्धः शाद्धोदनस्य सः । गौतम-
आर्कषन्नुय मायादेवीपुत्रस्य सः ॥' इत्यमरकोशनिर्दिष्टानि तन्नामान्यालम्ब्य तदीयं
चरितमुपनिषदं दृश्यते । एवमयं मुनिः कलेनैवमश्वतकासञ्ज्ञो भवति तदैतत्पूर्वोक्ते-
रतिविरुद्धम् (भूषि. २५ पृ.) । एवमुक्त्यनया कलेः षोडशशतान्यां नन्दकौ-
टिल्यादयः सिद्ध्यन्ति । एतदपि सांप्रतिकानां नयेनातिविरुद्धमिति किं क्रियताम् ।

अपैतिहासिकदृष्ट्या ह्यपरास्ताच्छालिवाहनीयशकारम्भं यावद्भक्ष्यभूताः काल-
परिच्छेदकाः 'केचिदुद्दिश्यन्ते—

कालिशताब्दी—

| | | | |
|--------------------------------|------|---|------------|
| महाराजः परीक्षितः | १०० | } | निश्चिता । |
| महाराजो जनमेजयः | २०० | | |
| भगवान् पाराशर्यः | २०० | | |
| महामुनिः पाणिनिः | ४०० | | संभाविता । |
| महाराजः शाक्यः | ९०० | | गाणितिकी । |
| महामुनिः कात्यायनः (वररुचिः) | १००० | | संभाविता । |
| तत्रभवान् कौटिल्यः | १९०० | | निश्चिता । |

१. बुद्ध इति प्रशस्तज्ञाननिमित्तकं नाम, बुध्वत् इति व्युत्पत्तेः । गौतम-बुद्धतः माह
चतुर्विंशतिर्बुद्धा जाता इति पाली-मुत्तपितके सुद्धकनिकायस्य चतुर्विंशत्तु बुद्धवंशतो
ह्यवते । एतेन बुद्धान्तरसत्त्वे 'यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धत्वभागतं नातिक्रम्य
विद्धि । ३४ ॥' इत्येवं भगवतो दशरथपुत्रस्य रामचन्द्रस्य जाम्बालिनिर्दिष्टनिराकरण-
रायणानि पावसानि संगच्छन्ते (नास्मीक्रियामा० अयोध्या० १०८—१०९ स.) ।
विष्णुपुराणसूत्रितोऽमरसिंहगृहीतः हेमचन्द्रोक्तदशावतारचरितवर्णितो बुद्धश्च गौतममुक्तो
न भिद्यते । इतो गौतमबुद्धस्य कालविर्णये शिलालेखादिसाधनं विसंवादि लभ्यते । एवं
शावदिदमिदमिति निर्णयो न जायेत, तावद् विष्णुपुराणलक्षणाभेदे ग्रहणेऽप्यस्याकं प्रत्य-
नयो नास्ति । नहि यत्र शिलालेखो नास्ति तदप्रमाणमिति न्यायः पन्थाः ॥
२. कौटिल्यज्ञानक्यो विष्णुसूत्र इत्येकव्यक्तिवचना भवन्तु । परं ख्रिस्ताब्दारम्भात्पूर्वं
नरसराणां चतुर्थे शतके विष्णुपुराणरीत्या कौटिल्यसम्बो जायते । तत् एव कौटिलीयस्य
अयंशास्त्रस्य उपोद्भूतोऽस्त्यस्यः । एतदर्थंशास्त्रं वात्स्यायनीयवकानमष्टसमस्तचारि-
भारतीयकाणिकनीतिसंश्लिष्टं मानवादिविरुद्धमपि । अस्य औपनिषदिकं चतुर्दशमधिकरणं
तु सिद्धनामाजुनीययोगरत्नावलीकल्पम् । चाणक्यसूत्राणि तु मानवशासनानुद्धानि ॥
३. अन्तरस्य प्रान्तत्वे संक्षिप्तानिस्तु उद्यानुवन्धिनोऽप्येषुदादायाः । यथा-पाराशर्यस्य
भिषुसूत्रत आश्रमरथ्यः, औदुलेभिः, आत्रेयः । जैमिनेर्गोमांसाद्यत वेदिशासनः,
काशुकायनः, लाङ्कायनः । पाणिनिपुत्रतः स्फोटयनः, चाक्रवर्गणः, सेनकः ।
एवमितरेऽपि ॥

| | | |
|-----------------------------|------|------------|
| महामुनिव्याडिः | २००० | संभाविता । |
| भगवान् शंकराचार्यः | २३६२ | निधिता । |
| महामुनिमहावीरः | २५७३ | निधिता । |
| महामुनिः पतञ्जलिः | २७०० | संभाविता । |
| महाराजो विक्रमः (सैककारः) | ३०४४ | निधिता । |
| प्रभुरीशा | ३१०० | निधिता । |
| महाराजः शालिवाहनः | ३१७९ | निधिता । |

अथ विष्णुमहापुराणाद् भारनानामिश्राकृष्णं चार्द्धद्रव्यानां च भविष्यतां राज्ञां यथाक्रमं नामान्युद्ध्रियन्ते—

१।

(२१) बृहद्रथः

(१) परीक्षित्

(२२) वसुदासः

(२) जनमेजयः

(२३) शतानीकः (द्वि.)

(३) शतानीकः (प्र.)

(२४) उदयनः

(४) अश्वमेधदत्तः

(२५) विहीनरः

(५) अधिषीमकृष्णः

(२६) दण्डपाणिः

(६) निचक्रुः

(२७) निमित्तः

(७) उष्णः

(२८) क्षेमकः ।

(८) विचित्ररथः

अत्राप्यं श्लोकः—

(९) द्युचिरथः

‘ब्रह्मक्षत्रस्य यो योनिर्विशो देवपि-

(१०) वृष्णिमान्

सरकृतः । क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थानं

(११) सुपेणः

प्राप्यते कलौ ॥ १८ ॥ (वि. म.

(१२) सुतीर्थः

पुरा० चतुर्था० २१ अ०)

(१३) तृणवधुः

२।

(१४) सुतिबलः

(१) बृहद्रथः

(१५) पारिलङ्घः

(२) बृहद्रथः

(१६) मुनयः

(३) उरुक्षयः

(१७) मेधावी

(४) वरघव्युहः

(१८) रिपुञ्जयः

(५) प्रतिव्योमः

(१९) शर्वः

(६) दिवाकरः

(२०) तिग्मः

(७) सहदेवः

१. प्रथमो ननु महाराजनाम्ना प्रतिदृश्य कुमारिलस्य मण्डनस्य वा समकालिकः शंकराचार्य इति ॥ २. जनानामन्तिमवीर्यकरः । चतुर्विध इत्यर्थः ॥ ३. उरुक्षयः पानिशोषकोऽपि स्वापकपंकजालशोषको जायः ॥ ४. ‘पत्रेः खरः’ इति पानिनिघ्नेन श्रुतापघने । हस्तघने, उग्रघने, नीममेव इति प्रथो जनमेजयस्य भावरः ॥ ५. निचक्रुः गङ्गाया अपरध्वे हस्तिनपुरे कौन्ताम्बीमण्डपस्य अनो भारद्वाजा कौन्ताम्बी राक्षसानी राज्ञः ।

| | |
|---------------------|---|
| (८) बृहदश्वः | (८) बृहत्कर्मा |
| (९) भानुरयः | (९) सेनजित् |
| (१०) प्रतीताश्वः | (१०) श्रुतंजयः |
| (११) सुप्रतीकः | (११) विप्रः |
| (१२) मरुदेवः | (१२) शुचिः |
| (१३) सुनक्षत्रः | (१३) क्षेम्यः |
| (१४) किनरः | (१४) सुवतः |
| (१५) भन्तर्विश्वः | (१५) धर्मः |
| (१६) सुपर्णः | (१६) सुध्रुवाः |
| (१७) भलिप्रजित् | (१७) दृढसेनः |
| (१८) बृहद्वाजः | (१८) सुबलः |
| (१९) धर्मो | (१९) सुनीतः |
| (२०) कृतंजयः | (२०) सत्यजित् |
| (२१) रणंजयः | (२१) विश्वजित् |
| (२२) संजयः | (२२) रिपुंजयः । |
| (२३) शाक्यः | रिपुंजयस्यामात्यो मुनिको नामैनं |
| (२४) शुद्धोदनः | (रिपुंजयं) इत्वा स्वपुत्रं प्रयोतनामान- |
| (२५) राहुलः | मभिषेक्षति । |
| (२६) प्रसेनजित् | (१) मुनिकः |
| (२७) क्षुद्रकः | (२) प्रयोतः |
| (२८) कुण्डकः | (३) बलाकः |
| (२९) सुरथः | (४) विशाखयूपः |
| (३०) सुमित्राः । | (५) जनकः |
| | (६) नन्दिदर्शनः |
| | (७) बन्धी । |

सत्रानुवंशश्लोकः—

इक्ष्वाकूनामयं वंशः सुमित्रान्तो
भविष्यति । यत्तत्सं प्राप्य राजानं सस्या
प्राप्स्यति वै कलौ ॥ १३ ॥ (वि. म.
पुरा० चतुर्थो० २२ अ०)

३ ।

- (१) जरासंधः
(२) सहदेवः
(३) सोमापिः
(४) भद्रधुतश्रवाः
(५) भयुतायुः
(६) निरमित्रः
(७) सुनेत्रः

बलाकादयः पथं प्रायोताः ।

तदनु—

- (१) शिशुनाभः
(२) काकवर्णः
(३) क्षेमधर्मा
(४) क्षतौजाः
(५) मिथिषारः
(६) अजातशत्रुः
(७) अर्भकः
(८) सद्यनः
(९) नन्दिदर्शनः
(१०) महानन्दी ।

शैशुनाभा एते । ततो, महानन्दिनः
शुद्धागर्भोद्भवो महापद्मनामा नन्दः ।
अस्य सुमात्यादयोऽर्थे सुता भवितारः ।
ततश्च नव चैताक्षन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणः
समुद्धरिष्यति । तेषामभावे मौर्याः पृ-
थिवीं भोक्ष्यन्ति । कौटिल्य एव चन्द्रगुप्त-
सुत्पन्नं राज्येऽभिषेचति ।

- (१) चन्द्रगुप्तः
- (२) बिन्दुसारः
- (३) अशोकवर्धनः
- (४) सुयशः
- (५) दशरथः
- (६) संयुतः
- (७) शालिशूकः
- (८) सोमशर्मा
- (९) शतघन्वा
- (१०) बृहद्रथः

मौर्या एते । तदनु पुष्पमित्रः सेना-
पतिः स्वामिनं हत्वा राज्यं करिष्यति ।

- (१) पुष्पमित्रः
- (२) अग्निमित्रः
- (३) शुज्येष्ठः
- (४) वसुमित्रः
- (५) उदङ्गः
- (६) पुलिन्दकः
- (७) घोषवसुः
- (८) वज्रमित्रः
- (९) भागवतः
- (१०) देवभूतिः

एते शुक्ताः । ततः कण्वादयः का-
ण्वायनाः । ततो बलिपुच्छकादयः ।
तत आन्ध्रमृत्यप्रभृतयः । ततो मौनाः ।
ततः कैटिलाश्च ।

(वि० म० पुरा० चतुर्थो० २३-२४
अध्या०) ।

अथोद्धृतानां राज्ञां कलिगतवर्षाणि यथाक्रमं लिख्यन्ते—

| परीक्षिदादि-क्षेमकान्तानाम् बृहद्गुलादि-सुमित्रान्तानाम् जरासंधादि-रिपुंजयान्तानाम् | ... | | | राज्यकालाः । |
|---|-----|-----|-----|--------------|
| प्राचीनानाम् | ... | ... | ... | १००० |
| शैशुनाभा(गा)नाम् | ... | ... | ... | १३८ |
| महापद्मादीनाम् | ... | ... | ... | ३६२ |
| मौर्याणाम् | ... | ... | ... | १०० |
| शुक्लानाम् | ... | ... | ... | १३७ |
| काण्वायनानाम् | ... | ... | ... | ११२ |
| बलिपुच्छकादीनाम् | ... | ... | ... | (३)४५ |
| आन्ध्र(व)मृत्यादीनाम् | ... | ... | ... | ४५६ |
| मौनानाम् | ... | ... | ... | १०९(९) |
| कैटिलानाम् | ... | ... | ... | ३०० |
| विष्णुपुराणानुसारेण | = | | | १०६ |
| भागवतानुसारेण | = | | | ३८४६ |
| | | | | ४१५५(क) |

१. 'काण्वाः' इति आगत्यै पाठः.

(क) अत्र श्रीमद्भागवतानुसारेण काण्वायनराज्यकाले त्रिशती आन्ध्रमृत्यादिकाले
नव ३००÷९=३०९ योजिताः । अतदयेनापि महाराजशालिवाहनस्य शककाला
भविष्यत्पस्तनसमयः कश्चिदोऽवधातव्यः । इयं राज्ञां राज्यकालकलना सूर्यसिद्धान्तस्य
किरणावल्याख्यव्याख्याया वितता । परं तत्रला लेखशैली कठिना बहुत्र नात्युपयुक्ते-
त्यस्माभिरन्यथा प्रयतितमिति निर्णयकैरालोचनीयम् ॥

इत्थं पुराणकौटिमुपसंहृत्य (भूमि. २२ पृ०) प्रकृतं चतुर्थप्रश्नोपे समासादुप-
क्षिप्यते—

अलंकारपरपर्यायं साहित्यदर्शनमस्माकं दर्शनेन त्रिधा विभागाहं प्रतीकते ।
तदित्यम् । ‘कविकर्म’ कव्यमाहुः— इति (सा. द. छा. ६ पृ.) प्राचां
शब्दाधोपः । तदिदं (कविकर्म) शब्दार्थरूपतया द्विप्रवाहं प्रवर्तते । द्वयोरपि
षट्पयित्री दोषगुणरीत्यलंकृतिमीमांसा । द्वितीयस्य (दृश्यस्य) तु दर्शनप्रयोजकरूपघो-
परूपकमीमांसापि । एते (मीमांसे) द्विशास्त्रतया तत्र तत्र निबद्धे इति भान-
हादिनिबन्धातिगदव्यक्तम् । अभिधातात्पर्यलक्षणाव्यञ्जनाख्यवृत्तिविवेकीणां बलमन्या
तृतीयापि शाखा भामहादिहृदयानुमेया ध्वनिकारादिदार्शनिकसहृदयपुरीषैरज्ञा-
विता मीमांसिता अभिनवगुप्तवादाचार्यमम्मटप्रसृतिभिराकलिता तत्र तत्र प्रती-
तैव । तत्र च त्रैविध्ये कृतमस्य प्राचन्यमिति निर्गन्नीपायां गमकस्य यत्र क्वापि
दर्शनाद् दर्शनेष्विव विशिष्टैकस्य तच्चावसीयते तथापि निबन्धावष्टम्भने यथा
प्रशंसं प्रतिभानवतां हृदयपथमधिरोहतीति । तथा चास्य दर्शनस्य ‘अलंकारः’
इति प्राक् ‘साहित्यम्’ इत्यर्वाहं संज्ञा पश्ये । कविकर्मणः काम्यस्य तु पूर्वप्र-
लक्ष्यानुसृतमप्यनुमाहक्यम् ।

आलंकारिकाचार्येषु प्रथमत्वेन संभावितो रत्निलगोमिराजः पाणिनिन्याकरण-
करसिद्धो नानादर्शननिष्ठातो भामहनामा आचार्यः काव्यालंकारनाम मल-
क्षयलक्षणं यदपरिच्छेदात्मकं ग्रन्थरत्नं व्यधत् । तदेतत्—

“शालातुरीयमतमेतदनुक्रमेण
को चक्ष्यतीति विरतोऽहमतो विचारत् ।
शब्दार्णवस्य यदि कश्चिदुपेति पारं
मीमाम्मसश्च जलधेरिति विस्रयोऽसौ ॥ ६२ ॥
विद्यानां सततमुपाश्रयोऽपरासां
तासूक्तान् च विवृणद्धि कांश्चिदर्थां ।
शब्देयं जगति मते च पाणिनीये
माध्यस्थ्यद् भवति न कस्यचित्प्रमाणम् ॥ ६३ ॥
अवलोक्य मतानि सत्कवीना-
मपगम्य स्वपिया च काव्यलक्षम् ।
मुजनायगमाय मामहेन
प्रधितं रत्निलगोमिसूनुनेदम् ॥ ६४ ॥” इति ।
“पष्टण शरीरं निर्णीतं, शतपष्ट्या त्वलंकृति ।
पञ्चाशता दोषदष्टिः, सप्तत्या न्यायनिर्णयः ॥

१. असहृदं काव्यालंकारपुस्तकं तु कश्चिदपि प्रसिद्धे, यतो तत्पथमहेन विधि-
तस्य मामहोत्पत्तौ लक्ष्यपुस्तोत्तरार्धे न दृश्यते इत्यादि.

पठ्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपञ्चकम् ।
उक्तं पद्मिः परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण यः ॥”

इति च श्लोकेभ्यो ज्ञायते । तत्र पठ्येति श्लोकद्वयस्य लेख ‘इति श्रीभामहलं-
कारे पाश्चात्यः पष्ठः परिच्छेदः’ इत्यतोऽग्रे दृश्यते । अयं भामहो महाभाष्यकारा-
रपतञ्जलेः पश्चात् काव्यादर्शकाराद् दक्षिणः पूर्वं संभवतो विदर्भेषु तदासन्नेषु वा
देशेषु बभूव । यस्मादेव ‘समुदाचार्यशून्यं यत्तदपार्थक्यमिष्यते । दाडिमानि दशा-
पूपाः पडित्वादि यथोदितम् ।’ (४ परि. ८ श्लो.) इति महाभाष्योक्तं देश-
दाडिमादिवाक्यमुपन्यस्तवान् । दक्षी च काव्यादर्शे भामहप्रन्यं गृहीतवान्
(भू. मि. २४ पृ.) भामहेन वररुचिकृतस्य प्राकृतव्याकरणस्य (प्राकृतप्रकाशस्य)
वृत्तिरपि विरचिता । भामहलंकारस्य भामहविवरणं भट्टोद्भटेन विरचितमिति
प्रतीहारेन्दुराजलेखतो ज्ञायते ।

• अस्मिन्भामहलंकारे (काव्यालंकारे) द्वितीयतृतीयपरिच्छेदयोरलंकृतयो विवे-
चिताः । तत्र द्वितीये ‘अनुप्रासः सयमको रूपकं वीपकोपमे । इति वाचाम-
लंकाराः पथैवान्यैरुदाहृताः ॥ ४ ॥’ इत्युद्दिष्टैषां विमर्शः । इह ‘स्वरूपवर्णविन्या-
समनुप्रासं प्रचक्षते’ इत्यनेन ‘उपनागरिकानुप्रासः युष्यते । प्राभ्यानुप्रासमन्यन्तु’
इत्यनेन प्राभ्यानुप्रासस्तु स्फुटः । एवं भामहमतेऽनुप्रासद्वयम् । पठ्या, उपना-
गरिका, प्राभ्येति तिस्रो वृत्तयः । प्राभ्येव उद्भट—मम्मटादिभिः कोमलेति
व्यपदिष्टा । एवं वृत्तीनां त्रैविध्ये तदुपास्ततया पठ्यानुप्रासादयस्त्रयोऽनुप्रासा
अप्युद्भटमते व्याख्याताः । उक्तं चोद्भटेन प्रथमवर्गे ‘स्वरूपव्यजनन्यासं तिस्र-
ष्वेतास्तु वृत्तिषु । पृथक्पृथगनुप्रासमुच्यन्ति कवयः सदा ॥’ इति । अथ यमकम्
‘आदिमप्यान्तयमकं पादाभ्यासस्तथाऽऽवली । समस्तपादयमकमित्येतत्प्रयथो-
च्यते ॥’ इत्यनेन पयविधमुक्तम् । द्विविधं रूपकम् । त्रिविधं वीपकम् ।
उपमा, उपमाया हीनत्यादयः सप्त दोषाः । इत एव काव्यालंकारसूत्रेषु वाम-
नेन, काव्यप्रकाशे मम्मटेनोपमादोषा गृहीताः । उपमाप्रसङ्गेन प्रतिवस्तूपमा
निर्दिष्टा, मालोपमा सूचितेति पञ्चालंकारी । अयं विषय उद्भटालंकारे प्रथम-
वर्गे, तत्र उपमा व्याकरणप्रणया विस्तीर्य निरूपिता । इत उपमाया बहवः प्रकारा
मम्मटेन गृहीताः ।

पुनश्च द्वितीये—‘आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना । समासातिश-
योक्ती च षटलंकृतयोऽनराः ॥ ६७ ॥’ इत्युद्दिष्टायां विमर्शः । इह द्विविध आक्षे-
पस्ततो यथोद्देशमर्थान्तरन्यासप्रभृतयः पञ्चालंकाराः । इति षटलंकारी लक्षयित्वा
तदवसाने—‘सैषा सर्वेव वक्रोक्तिरनयायां विभाव्यते । यत्रोऽस्या कविना कार्यः
कोऽलंकारोऽनया विना ॥ ८६ ॥ हेतुश्च सूत्रो लेशोऽप्यलंकारतया मतः ।

१. ‘अर्थेव—’ (१।२।४५) एवभाष्ये ॥ २. भट्टोद्भटः कदमीरात्रिपत्रेऽप्युदाहरण-
सभाषामासीद्—इति ‘विद्वान् दीनारण्येन प्रचर्द इत्येतन्नः । भट्टोऽनुप्रासद्वयस्य
भूमिभूः समापतिः ॥’ इति राजतरङ्गिणीतो व्यञ्जन (४ पृ. ४९५ श्लो.) । उपादी-
रगु ०५५ सिद्धाष्टाद ७८६ सिद्धाष्टपर्यन्तं कार्त्तिकेयनराज ॥

समुदायमिधानस्य वक्रोत्पन्नमिधानतः ॥ ८७ ॥” इत्यभिहितम् । काव्यप्रकाशे दशमे मम्मटेनापि—‘एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणवेनावतिष्ठते यां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात् । अत एवोक्तम्’ इत्यभिधाय सैषा सर्व्वेति मामह-
 ओक्तः प्रमाणत्वेनोपन्यस्तः । एते आक्षेपादयः यद् उद्भूटेन द्वितीयवर्गे लक्षिताः । अथ यथासंख्यम्, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्तिः, इत्यलंकारत्रयी दर्शिता । सेयमौद्ग-
 टीये तृतीयवर्गे ‘यथासंख्यमयोत्प्रेक्षा स्वभावोक्तिं तथैव च । अपरे श्रीनलंकारान् विरामाहुरलंकृतौ ॥’ इत्यादिना निरूपिता । अपरे इति कथनं मामहाभिप्राये-
 णापि । तृतीयपरिच्छेदे—‘त्रयो रसवदूर्जसि पर्यायोक्तं समाहितम् । द्विप्रकार-
 सुदार्त्तं च मेदैः श्लिष्टमपि त्रिधा ॥ १ ॥ अपहृतिं विशेषोक्तिं विशेषं तुल्य-
 योनिताम् । अपस्तुतप्रसंघां च व्याजस्तुतिनिदर्शने ॥ २ ॥ उपमारूपकं चान्वदु-
 प्रमेयोपमामपि । सङ्गोक्तिपरिप्लुती च ससंदेहमनन्दयम् ॥ ३ ॥ उत्प्रेक्षावयवं चान्ये
 संलक्ष्यमपि चापरे । भाविकत्वं च निजगुरलंकारं मुमेधसः ॥ ४ ॥’ इति त्रयो-
 विंशतिमलंकारानुद्दिश्यैषां विमर्शः । इह त्रैयवादयः श्लिष्टपर्यन्ताः सत्तालंकारा
 औद्गटीये चतुर्थवर्गे । उपमारूपकं विहाय अपहृतिमारभ्य परिप्लुतिपर्यन्ता दशा-
 लंकाराः पञ्चमवर्गे । उपमारूपकस्य तु—‘उपमानेन तद्भावमुपमेयस्य साधयत् ।
 यां वदत्युपमामेतदुपमारूपकं यथा ॥ ३५ ॥ समप्रगणनायाममानदण्डो रथा-
 त्रिणः । पादो जयति सिद्धस्त्रीमुखेन्दुनवदर्पणः ॥ ३६ ॥’ इति आमहोक्तं लक्षणं
 लक्ष्यं च । उत्प्रेक्षावयवं विहाय श्लिष्टाः पष्ठवर्गे । उत्प्रेक्षावयवस्य तु—‘श्लिष्टस्यैत-
 संयुक्तः किञ्चिदुपेक्षयान्वितः । रूपकाद्येन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा ॥ ४७ ॥
 तुल्योदयावसानत्वाद्गोचरेऽर्थं प्रति भासति । वाचाप वाधरः क्रान्तो पिशङ्गीव
 तमोपहृम् ॥ ४८ ॥’ इति आमहीये लक्षणोदाहरणे । एष उपमारूपकं
 च काव्यालंकारसङ्गेषु कामनेनापि सूचितम्—‘तद्देवानुपमारूपघोरप्रेक्षावयवौ’ ।
 (५ अधिक. १ अध्या० ३१ सू.) सन्देहमेव संलक्षितः । उपमाजन्यं रूपकमुपमाह-
 पयम् । उत्प्रेक्षाया हेतुरलंकारे उत्प्रेक्षावयवतः । अवयवेन आरम्भको लक्ष्यते । अथ
 ‘आशीरपि च केपाविदलंकारतया मता’ इत्युक्तम् । द्वितीयतृतीययोश्चित्रत्वादेराद-
 लंकृतयः ४३ । उद्भूतालंकारे (काव्यालंकारसंग्रहे) तु पुनरुत्प्रेक्षावयवतः,
 छेकामुप्रासः, लाटानुप्रासः, संकरः, काव्यहेतुः (काव्यलिङ्गम्) काव्यदृष्टान्तः
 (दृष्टान्तः) इत्येतेऽलंकारा अपि द्वाः । दण्डिनः काव्यादर्शे तु न कथनं नूतनोऽ-
 लंकारः कल्पितः । वस्तुतो मामहाशय एव महत्या वाक्यमुपमा आमहोक्तिरौऽपि
 परस्परं सूक्ष्मा परिप्लुती दृश्यते । विशेषतो लक्ष्यभूतरिषयस्तु तत्तत्तत्के निगमि-
 तव । एतस्य काव्यालंकारे तु ‘वक्रोक्तिरुप्रासो यमकं श्लेषश्च पर-
 विप्रम् । सन्देहालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि शोऽन्यस्तु ॥’ (१ अध्या. ३३ भा.)
 इति वक्रोक्तिप्रवृत्तयः पञ्च सन्देहालंकारा उपोद्देशं नीमाहिताः । एषा वक्रोक्तिः
 पूर्व्वतो विधा । श्लेषोऽपि सन्देहाभ्यां विशदयितः । तदर्थं भौतिकविषयान्तेऽ-
 प्यवान्तरमेशो जायते । अथ कालोपन्यासिदश्लेषेणा वस्तुना विशेषतया
 यावदप्रासंकारायां वीटीकरणम् (भा. ५-१ प्र.) । तत्र श्लेषः, गुरुष्वरः,

जातिः, यथासंख्यम्, भावः, पर्यायः, विषयः, अनुमानम्, दीपकम्, परिकरः, परिश्रुतिः, परिसंख्या, हेतुः, कारणमाला, व्यतिरेकः, अन्योन्यम्, उत्तरम्, सारम्, सूक्ष्मम्, लेशः, अवसरः, मीलितम्, एकावली, इति त्रयोविंशतिर्वास्तवस्य भेदाः । उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकम्, अपहृतिः, संशयः, समासोक्तिः, मतम्, उत्तरम्, अन्योक्तिः, प्रतीपम्, अर्थान्तरन्यासः, उभयन्यासः, भ्रान्तिमान्, आक्षेपः, प्रत्यनीकम्, दृष्टान्तः, पूर्वम्, सहोक्तिः, समुच्चयः, साम्यम्, स्मरणम्, इत्येकविंशतिरौपम्यस्य भेदाः । पूर्वम्, विशेषः, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुणः, अधिकम्, विरोधः, विषयः, असंगतिः, पिहितम्, व्याघातः, अहेतुः, इति द्वादशातिशयस्य भेदाः । अविशेषः, विरोधः, अधिकम्, वक्रम्, व्याजः, उक्तिः, असंभवः, अवयवः, तत्त्वम्, विरोधाभासः, इति दश श्लेषस्य भेदाः । एतेष्वलंकारेषु वास्तवभेदे—समुच्चयः, भावः, विषयः, अनुमानम्, परिकरः, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्यम्, उत्तरम्, सारम्, अवसरः, मीलितम्, एकावली—इति । औपम्यभेदे—मतम्, उत्तरम्, अन्योक्तिः, प्रतीपम्, उभयन्यासः, भ्रान्तिमान्, प्रत्यनीकम्, पूर्वम्, समुच्चयः, साम्यम्, स्मरणम्—इति । अतिशयभेदे—पूर्वम्, तद्गुणः अधिकम्, असंगतिः, पिहितम्, व्याघातः, अहेतुः—इति । श्लेषभेदे तु प्रायः सर्वेऽधिकाः । धामनस्य काव्यालंकारसूत्रेषु तु प्रायः सर्वे पूर्वत्र निपतन्तीति पश्य यथापूर्वं प्राचीनाः संदर्भाः । यथोत्तरमर्थाचीनास्तु काव्यप्रकाशचन्द्रालोकैकैवल्यानन्दरसेनगङ्गाधरालंकारकौस्तुभाः । एतेषु यावदुपयुक्तवर्षशाल्मयननिर्यासे काव्यप्रकाशे एवालंकारशास्त्रीया प्रौढशिक्षा परिष्कृतमप्यते रत्नगङ्गाधरे तु विचारचर्चा । अलंकारकौस्तुभीया विचारचर्चा तु फेबलतर्कचर्चया । यत् एषा अधीततर्केण आलंकारिकेण सुतेनावबोधुं शक्यते, अनधीततर्केण तु पठ्यमानापि बोधुं न शक्यते । उक्तंचापि कौस्तुभे—‘धियो वैधेयानां भवति विषयोऽसावविषयः—’ इति । चन्द्रालोकपद्यममयूगसमुद्भूतः कुचलयानन्दस्तु सुतरामलंकारव्युत्पादकः, केवलमेव शतालंकारपरिपूर्णं धावममेवामासयतीत्यलम् । अत्र ‘उपमाऽनन्वयस्तदुपमेयोपमा ततः । उत्प्रेक्षा चापि संदेहो रूपकापहृती तथा ॥ श्लेषस्तथा समासोक्तिः प्रोक्षा चैव निदर्शना । अप्रस्तुतप्रसंघातिशयोक्ती परिकीर्तिते ॥ प्रतिवस्तूरमा तद्वद् दृष्टान्तो दीपकं तथा । मुख्ययोगितया चैव व्यतिरेकः प्रकीर्तितः ॥ आक्षेपो विभावना च विशेषोक्तिरूपैश्च । यथासंख्यमर्थान्तरन्यासः स्यातां विरोधवत् ॥ समासोक्तिस्तथा व्याजस्तुतिः प्रोक्षा सहोक्तिवत् । विनोक्तिपरिश्रुती च भाविकं काव्यलिङ्गवत् ॥ पर्यायोक्त-

१. चन्द्रालोकः पद्यपर-मिमाषरत्नाशा अवदेष्टेन तार्किकमूर्धन्येन इत्यः । स च ११८९ शकाब्दे कर्त्तव्यः ॥ २. कुचलयानन्दः अप्पय-दीक्षितेन इत्यः । स च १५५९ शकाब्दे कर्त्तव्यो यत्रोपं कावेऽस्य शिवस्य मीलनद्विधित्वेति ॥ ३. रत्नगङ्गाधरो जगन्नाथपण्डितराजेन रचितः । स च १५८१ शकाब्दासम्पन्नः ॥ ४. अलंकारकौस्तुभी विशेषधर-वर्णितेन रचितः । स च १७०० शकाब्दासम्पन्नः ॥

मुदात्तं च समुच्चय उदीरितः । पर्यायस्थानुमानं च प्रोक्तः परिकरस्तथा ॥ व्याजो-
 क्तिपरिसंख्ये च विज्ञेये हेतुमालया । अन्योन्यमुत्तरं सूत्रमसारी तद्ददसंगतिः ॥
 समाधिश्च समेन स्याद् विषमस्तत्राधिकेन च । प्रत्यगीकं मीलितं च स्यात्तामेवावनी
 स्मृता ॥ भ्रान्तिमांस्तु प्रतीयेन सामान्यं च विशेषवत् । तदुष्णतदुष्णौ चैव व्याघातः
 परिकीर्तितः ॥ संसृष्टिसंकरौ चैवमेकपष्टिरुदाहृताः ॥ इत्येते काव्यप्रदीपोप-
 निबद्धा अलंकाराः काव्यप्रकाशे स्थिरीकृताः । त एते किञ्चिन्मूनाधिकरूपतया
 तद्विप्रमथन्येषु संचारिताः । तत्र कुशलमानन्देऽलंकारान्तरव्यवस्थापने भूषान् नशा
 इत्युक्तमेव । तदेतद्दर्पणान्ते विन्यस्तालंकारसंख्यानामपुखेनावगम्यते (छा. ६२३
 पृ.) किमत्र पौनरुक्त्येन ॥

अथ भामहेन उपनागरिकादिवृत्तिमातृकारीतिः 'गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति
 किं पृथक्' (१ परि. ३२ श्लो. इत्यादिना मनाक् स्मृत्य । सा च उद्भट-दण्डि-
 रुद्रदेवयोस्तत् परीक्षिता । गौडविदर्भदेशादिनिबन्धनेयं सीसीनां संज्ञा । तथा चोक्तं
 नामनेन—'विदर्भादिषु दृष्टवास्तवमास्या' (१ अधि. २ अध्या. १० सू.) इति
 'सापि वैदर्भा, तारस्यात्' (१।२।२२) इति च । एतेन शौरसेन्यादिभाषाविभा-
 गोऽपि व्याख्यातः । विदर्भादिवाचिभिर्वैदर्भ्यादिरिति विवक्ष्यते शौरसेनादिवाचिभिः शौरसे-
 न्यादिभाषाऽनुशिष्टेति तात्पर्यम् । अत्र 'महाराष्ट्राध्यायां भाषां प्रकृतं प्राकृतं विदुः'
 इति दण्डिनः काव्यादर्शतो विशेषोऽपि विभावनीयः ॥

भामहेन—'माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः । समासमन्ति भूषाणि
 न पदानि प्रयुजते ॥ केचिद्विज्ञोऽभिधिरान्तः समसन्ति बहून्पि ।' (२ परि
 १ श्लो.) इत्येवं गुणा उपादीयन्ते । उद्भटरुद्रदाम्नां नेवमपि गुणा गुप्यन्ते, आङ्गे-
 पाद् गण्यन्त इत्यन्यदेतत् । दण्डिना तु—'श्लेघः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमा-
 रता । अर्थव्यक्तिरुदात्तवर्गोऽन्तिसमाधयः । इति वेदमेमाण्यस्य प्राणा दशगुणाः
 स्मृताः । एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मने ॥' (१ परि. ४१—४३ श्लो.)
 इत्येते गुणा यथोद्देशं सम्यक् सीमासिताः । तत्र छिद्यमिप्रेक्ष—'अनुप्रासधिया
 गौडैस्त्रविष्टं बन्धगौरवात् ।' इति; समतामनादस्य—'इत्यनालोच्य वैषम्यमयो-
 लंकारद्वन्द्वौ । अपेक्षमाणा वदुर्धे पौरस्त्यं काव्यपदतिः ॥' इति; ध्रुवनुप्रस-
 मालक्ष्य—'इतीदं नाहत् गौडैरनुप्रासस्तु तद्विषयः । अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भ-
 रिदमिष्यते ॥' इति; अनुप्रासदुष्टिमाकलय—'इत्यादिबन्धारूपं वैधित्यं च
 नियच्छति । अतो नेवमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुजते ॥' इति; भोज-ग्रहण-
 'भोजः समासभूयस्तमेतद्वयस्य जीवितम् । पठेऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परा-
 णम् ॥' इति च परीक्षितम् । एवं देशिकपौलोचनयैव—'श्लेषप्रासपुटीच्येषु
 प्रतीच्येष्वपमानकम् । उल्लेखो दाक्षिणात्येषु सौटैरुत्तरद्वन्द्वरः ॥' इत्यवाक्षेपि
 बाणेन हर्षचरिते । वातुतस्तु यथासमर्थं सर्वं बोधनम् । नहि गौडेन दाक्षिणा-
 त्येन वा प्रत्येव किमपि सूयते । एत एव गुणा भामनेन कान्द्यालंकाराद्रेऽ
 शब्दार्थद्वयतया दण्डिपथमिमया मत्स्या निरूपिताः । यत् एते पुनर्ममयादिभिर-

न्तर्भाव्य भामहनिर्दिष्टं त्रित्वमानीताः । अन्यैव धिया किमलंकृतयो नोपसंहिये-
रन् ? यदि नाम गतानुगतिकं न स्यात् । दोषा गुणा रीतयश्चैवं संहियन्ते,
नालंकृतय इति वाङ्मात्रम् । अलंकृतिवद् रीतिवद्वा गुणानामुत्कर्षाधायकत्वेऽपि न
पारमार्थिकी शब्दार्थवृत्तिता किंतु रसवृत्तिता । एवं च 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा
गुणाः । तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ।' (२।१।१-२) इति वामनसूत्रे उपचारेण
नेये । शरीरिणं शौर्यादिगुणा इवाङ्गिनं रसं माधुर्यादिगुणाः-समवायसंबन्धेन, तथा
शरीरं हारायलंकारा इवाङ्गं शब्दार्थावनुप्रासोपमायलंकाराः संयोगसंबन्धेनोप-
कुर्वन्ते । तत्र गुणानां साक्षादङ्गुपकारकत्वम्, अलंकाराणां त्वङ्गद्वारेणोपकारकत्व-
मिति भेदः । तत्त एव—'रसमावतदाभासमावशान्तिनियन्धनाः । चरवारो
रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि च समाहितम् ॥' इत्येवमादीनां शब्दार्थालंकारवशालंकारत्वं
भावं घालंकारत्वम् ॥

'भामहेन दोषस्यै प्रथमपरिच्छेदे 'नियार्थं द्विष्टमन्वार्थमवाचकमयुक्तिमत् ।
गूढशब्दाभिधानं च कवयो न प्रयुज्यन्ते ॥ ३७ ॥' इति, यथा—'श्रुतिदुष्टार्थदुष्टं
च कल्पनादुष्टमित्यपि । श्रुतिकष्टं तथेवाहुर्वोचां दोषं चतुर्विधम् ॥ ४७ ॥' इति
च यथायथं व्याख्याय, पुनः—'अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपकमम् । शब्दहीनं
यतिग्रष्टं भिन्नवृत्तं विसंधि च ॥ १ ॥ देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च ।
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेप्यते ॥ २ ॥' इत्यादिदोषदृष्टिनिक्षेपेणैव
चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तिं नीतः । पुनरपि—'अथ प्रतिज्ञाहेत्वादिहीनं दुष्टं च
दर्शयते । समासेन यथान्यायं तन्मात्रार्थप्रतीतये ॥ १ ॥ प्रायेण दुष्योपतया
शास्त्राद् विभ्यस्यमेधसः । तदुपच्छन्दनायेप हेतुन्यायतबोचयः ॥ २ ॥' इत्यादिना
न्यायनिर्णयेन पद्यमः परिच्छेदश्च ।

अत्रेत्वं विचारपद्धतिः—

'पदानामेव संघातः सापेक्षाणां परस्परम् ।

निराकाङ्क्षं च तद्वाक्यमेकवस्तुनिबन्धनम् ॥ ४ ॥

प्रत्ययवृत्तिषु वर्णेषु संघातादि न युज्यते ।

शुद्धौ च संभवत्येतदन्यत्वेऽपि प्रतिक्षणम् ॥ ५ ॥

धीरन्त्यशब्दविषयावृत्तवर्णाहितस्मृतिः ।

वाक्यमित्याहुरपरे न शब्दाः क्षणनभ्यराः ॥ ६ ॥

अत्रापि यद् वक्तव्यं जायते तच्च नोदितम् ।

गुरुभिः किं विवादेन यथाप्रवृत्तमुच्यते ॥ ७ ॥

इत्यादि । इत एव प्रायो दोषादिविचारः दग्निच्छदत्वामनमम्मटादिप्रत्ययेषु
संरुद्धिताः पद्मवितायेति किं निर्दिचनभूयस्येन ॥

कविकर्मणो गुणरीत्यलंकृतमस्वृणारमिमनिन्यायेनोत्पद्येदेतच्च इच्छन्ते, मनु दण्ड-
चक्रादिन्यायेन हेतुमिति । दोषास्तु अपरकथ्येदेतवः । इत्थं चोत्पद्येदेतवः
सादि भू-५

पंविरहे तल्लिपायम् । तदेतदुक्तिविशेषमनुश्रुतीते नास्ति चेते वा । दोषविरहगुणरीत्य-
लंकृतिभ्योऽन्यतमस्य पोषकस्य सत्त्वेऽपि काव्यं निवेदति । पोषकस्यैव स्वभावो
यत् प्रवर्तमानः प्रायेण परेण संसृज्यते । यत्र पुनरेकहेतुया पोषकाणां प्रशस्तिस्तत्र
सल्लघावचानां सहकारिणां संनिपाते काव्यस्य परा काष्ठा ।

अत्रानलंकृतिदिशः—

‘यः कौमारहरः—’ इति (सा. द. १५ पृ.)

यथा वा—

‘कथमपि कृतप्रत्यापत्तौ प्रिये स्खलितोत्तरे

विरहकृशया कृत्वा व्याजप्रकल्पितमश्रुतम् ।

अस्तह्नसखीश्रोत्रप्रसक्तिप्रमादमसंभ्रमं

विधलितदृशा दून्ये गेहे समुच्छ्वसितं ततः ॥’

इह पूर्वस्मिन्नुदाहरणेऽयं वक्तव्याशयः—‘कारणभावात्कार्याभावः’ इति वैरो-
धिकसूत्रप्रत्ययनिके “कारणभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना ।” “कारणसामर्थ्ये कार्या
नृत्पत्तिर्विशेषोक्तिः” इति भामहारायण्यपरीक्षितान्ताकलिसे विभावनाविशेषोक्ती
अलंकृती तावत् । तत्र क्षीरनीरव्यायेन पयोव्यतिकरन्यायेन वा संदेहसंकर-
विचारवतारौ संदिह्यमानयोः स्वरूपे यथालक्षणं लब्धजन्मनी, सति कुञ्जे
विन्नमिति न्यामादभिमतौ । यः कौमारहर इत्यादिना उत्कण्ठाकारणभावे
उत्कण्ठाया उत्पत्तौ कारणविरुद्धमुखेन कारणभावः पुरस्कृत्यते । एवं ह्युत्कण्ठा-
कारणवत्त्वेऽपि अनुत्कण्ठाया अनुत्पत्तौ चेतः समुत्कण्ठत इति विरोधोत्पत्तिमु-
खेन कार्यादुत्पत्तिश्च । एवमिमे विभावनाविशेषोक्ती. साधकबाधकमानराहित्येन
अस्फुटे ह्येवानयोः संदेहसंकरोऽप्यस्फुट एव । यथा खलु ‘मुखचन्द्रं पश्यामि’
इत्यादौ । मुखं चन्द्र इवेति किमुपमा, आहोस्वित् मुखमेव चन्द्र इति रूपकम् ।
उभयथापि पूर्वत्र व्याप्रादेः परत्र मयूरभ्यंसकादेश्चाकृतिगणत्वात्समाप्तौ विधीयते ।
साधकबाधकविचारः स्फुटसंदेहसंकरश्च मूल एव स्फुटौ (सा. द. ६३० पृ.) ।
सैवं स्फुटालंकारविरहस्या अलंकृतिः एवंजातीये क्षापि लक्ष्ये लक्ष्यमाणा
कथमपहोतुं शक्या । यदत्र पुनः ‘रसस्य प्राधान्याजालंभरता’ इति मम्मटोक्तिः
क्षापि भामहादिमताभिप्रायेण । भामहोद्भूतदण्डिकद्वयमनप्रसृतयो हि प्रती-
यमानमप्य पाच्योपस्कारकत्वेन अलंकारकोटिप्रविष्टं मन्यन्ते । एवं चात्र रसव-
दलंकारः प्राप्नुवन् रसप्राप्ताध्यात्मकेन हेतुना वार्यते । ध्वनिद्वयमाहिणां
मम्मटाचार्याणां तु भवे वस्तुतो शुणीभूतव्याख्याप्रवाहपतितानां रसवदादीना-
मलंकारत्वमेव नास्ति । एतेन भामहादिमी रसवदादिनुरलंकारेभ्यः पावक्ये-
नानिर्दिष्टाः ‘भावोदयो भावसंधिर्भावशायलता च प्रथमलंकारः’ इत्यलंकारसर्वस्यैव
राजानकरुच्यननिर्दिष्टा भावोदयादित्रयोऽलंकाराः प्रतीयाः । षष्ठस्तनैस्त्वते
सप्तपि संश्रुतीताः (सा. द. ६१८ पृ.) ।

अथो औद्धटकाव्यलिङ्गलक्षणं प्रकृत्य प्रतीहारेन्दुराजेन “ननु काव्यग्रहणेन कथं काव्यस्य सरसपदार्थनिष्ठतोपदर्श्यते—” इत्याद्याशङ्क्य मध्ये कथमपीत्य-
मरुक्पथं दृष्टान्तीकृत्य “न सख्यत्रार्थालंकारः कथितपरिदृश्यते । अथ माधु-
र्याजोभ्यां परिवृद्धितस्य प्रसादस्य विद्यमानत्वात्काव्यता ।” इत्यभिधाय च पुन-
रपि “—ननु चात्रापि ईर्ष्याविप्रलम्भविरहविप्रलम्भशृङ्गाराभ्यां ‘स्वतिरोधाने-
नोपकृतः संभोगशृङ्गारो नायिकानिष्ठो निबद्धस्त्वद्योगाच्च रसबन्धमलं भविष्यति—”
इत्यादिशङ्कासमाधी महता संरम्भेणाकारिपाताम् । तेन द्वितीयस्मिन्नुदाहरणेऽ-
लंकृतिविरह एवापतति । भोजदेवेनापि—“यान्तां दैन्यपराभवप्रणयिनीं नेक्ष्वा-
कवः शिक्षिताः सेवासंवलितः कदा रघुकुले मौलौ निबद्धोऽञ्जलिः । सर्वं तद्विहितं
तथाप्युदधिना नैवोपरोधः कृतः पाणिः संप्रति मे हठात्किमपरं स्पृष्टुं धनुर्वाञ्छति ॥
अत्र निरलंकारत्वेऽपि अर्थोऽजित्वाद् गुणत्वम्” (स. कं. १ परि.) इति निर-
णायि । इत्थं चालंकार्ये निर्व्यूढेऽनलंकारेऽपि—

‘अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥’

इत्येवमलंकारनिबन्धनं चन्द्रालोककाराणामनलंकार एव ॥

अगुणदिक्—

‘खञ्जन्दोच्छलदच्छ—’ इति (का. प्र. १ उ.) ।

अत्र अद्यपि धीर्घसमासादिरूप ओजोगुणस्तथा ‘धीत्यात्मवित्तृतेर्हेतुरोजो
वीररसस्थितिः । धीमत्सरीद्रसमोत्तस्याधिज्यं क्रमेण च ॥’ (का. प्र. ८ उ.) इत्य-
नेन वीररसादावेव तस्योपयुक्तत्वेनात्र गङ्गावर्णनेऽनुपयुक्तत्वात्प्रत्युत दोषत्वाच्च
नैर्गुण्यमेव । यद्यपीदं काव्यप्रकाशेऽव्यङ्ग्यमकावरकाव्यगशब्दचित्रत्वेनोदाहृतं
तथाप्युक्तरीत्या निर्गुणत्वसत्त्वात्तदुदाहरणमपीति न दोषः । एवम्—

‘मोक्षः स कृष्णसारेक्षणे क्षणेनैव तरक्षणाद्भवति ।

इत्याचक्षेऽख्यक्षः समैक्षि गौर्या कटाक्षेण ॥’

इत्येवंजातीयकं गुणहीनार्थालंकारोदाहरणमपि हेयम् । अत्र यद्यपि शब्दालंकार
एव भाति तथा श्लेषेणार्थालंकारोऽस्योति सरसामोदेऽच्युतरस्यपण्डिताः । एवं
सत्यप्यलंकारतोऽलंकारस्य गुणस्यान्तरङ्गाणां गुणानां सक्तोचो न दोषनः ।
तथा चोक्तं भोजदेवेन—‘अलंकारमपि ध्वन्यं न काव्यं गुणवर्जितम् । गुणयोग-
स्तयोर्मुह्यो गुणालंकारयोगयोः ॥’ इति । पुनश्च यामनभोजदेवाभ्याम्—
‘युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं सदते शुद्धगुणं तदप्यतीव । विहितप्रणयं निरन्तराभिः
सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः ॥ यदि भवति यद्यद्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवन-
मन्यमङ्गनायाः । अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं निदतमलंकरणानि संधयन्ते ॥’
इति च । इदमेव प्रतीहारेन्दुराजोऽप्यथोचत्—“सुरसया तथैव इतरा गुण-

संस्कृतशब्दार्थशरीरेभ्यः काव्यम् । गुणरहितशब्दार्थशरीरे तु काव्यमात्रे काव्य-
शब्दस्य काव्यसादृश्यादुपचारात्प्रयोगो भविष्यति । उक्तं च—‘काव्यशब्दोऽयं
गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते । भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽन गृह्यते ।’
इति” ॥

अरीतिदिक्—

येषां मते शुद्धवैदर्भी वैदर्भी वा रीतिरिष्यते तत्र गौरी पाद्याडी वा लो-
कगुणत्वाद् अरीतिः । तथा चोक्तं काव्यालंकारसूत्रेषु दामनेन—‘तदारोहणार्थ-
मितराभ्यास इत्येके ।’ अत्र तच्छब्देन वैदर्भी, इतरशब्देन गौरी-पाद्याड्यौ ।
‘तस्तु न अतस्त्वशीलस्य तत्त्वानिष्पत्तेः ।’ ‘न क्षणसूत्रवानाभ्यासे प्रवरसूत्र-
वानवैचित्र्यलामः ।’ अत्र प्रथमसूत्रेण वैदर्भीलामार्थं गौरीपाद्याड्योरभ्यासो-
ऽनुमतोऽपि द्वितीयतृतीयसूत्राभ्यां सहष्टान्तं प्रत्याख्यायते । येषां मते पुनरेता-
स्तिष्ठोऽभ्युपादीयन्ते तत्र मागधी लक्ष्या ।

एवमेकस्य विकृततायामपि षोडशप्रतिपद्या पोषकान्तरप्रत्यासत्त्या वा चमस्कृती-
स्पर्शो कथिकर्मबाधविरहो मन्तव्यः ॥

अथ अथ इव इत्येऽपि कथिकर्मणि, त एत उरुपहेतवोऽलंकृतिप्रभृतय
आनवादौ पद्याचारोपादिव नटे नायकारोपाद् रूपकवशां दधानेऽभिनेये ध्वनिसर-
णिभूषणेन प्रेक्षणेनासिकाधिकाधिकावृत्तयो भवन्ति ।

इह प्रेक्षकाभ्ये सपरिहरं नाट्यशास्त्रं परिचिन्ताप्यते । तथाहि अवस्था-
नुकारारामकल्याभिनयस्य आक्रिकविधायाम्—उपाङ्गाङ्गाभिनयाध्यायावष्टमनवमी;
तदनु चोरीविधानमण्डलकल्पनगतिप्रचारकरयुक्तिपरीव्यञ्जकाध्यायाश्च । वाचिक-
विधायाम्—छन्दोविधानादयः; इहैवालंकृतिविशेषाः, भूषणसंमितानि भूषणार्थ-
वद्भिरिहाहसणानि, आशीरादिश्रमजिह्वाभाष्यालंकाराश्च, रीतिसंग्रहचारिण्यो भार-
स्यादयश्चतस्रो वृत्तयः, पञ्च संधयस्तदज्ञानि चतुःपष्टि, दोषा गुणाश्चेति ।
आहार्यविधायाम्—आहार्याभिनयसामान्याभिनयचित्राभिनयाध्याया एकविंश-
द्वाविंशपञ्चविंशाश्च । सात्त्विकविधायाम्—ताण्डवं च । एवमातोयपुष्करवाद्या-
ध्यायावष्टाविंशपञ्चविंशौ । हृदयभूतौ रसमावाध्यायौ षष्ठसप्तमावन्त्येव यथायमम् ।
इति श्रव्यदृश्यीमम् ॥

“शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्वचरं स्मृतम् ।

इदमाद्रियते अन्ये दृश्ये तु विरलं पुनः ॥”

अथ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महामात्रकारनीत्या—“अर्थः पुनरभि-
धावान् प्रवर्तते, यस्य वाचकः शब्दः । तस्य भवन्ति द्रव्यं, गुणः, क्रिया,
जातिः इति भेदाः ॥ ‘जातिक्रियागुणानां पृथगाधारेऽन नूर्तिमद् द्रव्यम् ।
दिकालाकाशादि तु नीरूपमविक्रियं भवति ॥ नित्यानित्यचराचरस्यचेतनाचेत-

नैर्वहुभिः । मेदैर्विभिन्नमेतद् द्विधा विधा भूरिशो भवति ॥ द्रव्यादपृथग्भूतो भवति गुणो नियतमिन्द्रियग्राह्यः । सहजाऽह्यार्याऽऽवस्थिकभावविशेषादयं त्रेधा ॥ नित्यं क्रियानुमेया द्रव्यविकारेण भवति धात्वर्थः । कारकसाध्या द्वेधा सकर्मिकाऽकर्मिका चेति ॥ भिन्नक्रियागुणेष्वपि बहुषु द्रव्येषु चित्रगात्रेषु । एकाकारा बुद्धिर्भवति यतः सा भवेज्जातिः ॥” इत्येवं शब्दविभागः । एष एवालंकारिकाणामभिमतो जातिगुण-क्रियाद्रव्याणामुप्रेक्ष्यत्वेन निबन्धनात् । शब्दोऽर्थो रसश्च मुख्यः । शब्दो वाचकः, लाक्षणिकव्यञ्जकभ्यां प्रागुपस्थानात्; अर्थो वाच्यः, लक्ष्यव्यञ्ज्य-तात्पर्येभ्यः प्रागवमननात्; मुखवन्मुख्य इति व्यपदिश्यते । रसस्तु सर्ववादि-नामादरास्पदं मुख्य एव । रसादिशब्दस्य रसादिप्रत्यायने संकेताभावाद्भाविधा-व्यापारः प्रभवति । अत एवामिधेयेन अविनाभूतस्य प्रतीतिराहित्याल्लक्षणापि नाक्रमते । अभिधापूर्वको हि लक्षणाव्यापार इति । अतएव च “साक्षात्संकेत-विषयो मुख्यः ॥ मुख्यार्थबोधे निमित्ते प्रयोजने च मेदामेदाभ्यामारोपितो गौणः । मुख्यार्थसंबद्धस्त्वत्वेन लक्ष्यमाणो लक्ष्यः ॥” इति सूच्यते । अथ तात्पर्याख्या श्रुतिरपि संसर्गमात्रे विरतव्यापारा । इत्यगत्या अभिधादिपयातिशायिनी तुरीया व्यञ्जनादृक्ती रसादिवोधने स्फोटायनमतानुसारिभिरालंकारिकैरुत्कृता । यद्यपि रसो न केनापि निहोतुं पार्यते तथापि तस्य बोधनव्यापारे वैमत्याद् विकल्पाः । व्यञ्जनाश्रुतिप्रतिपाद्यो व्यङ्ग्यो हि वस्तुलंकाररसादिलक्षणः, स तावाप्रतीयमान एव (छा० २३८ पृ०) । अन्येनाप्यन्ववाचि—‘मुख्यादव्यतिरिक्तः प्रतीयमानो व्यङ्ग्यो ध्वनिः ।’ ध्वनति, ध्वन्यते, ध्वननं चेति यथायोगमवधातव्यम् । अस्य व्यतिरेकविधा, यथा खलु ध्वनिकारेण अङ्कुरिता; आलोककारेण पल्लविता; श्लोचनकारेण पुष्पिता; तथैव प्रकाशकारेण फलिता, नान्येन केनापि कोऽपि विशेषोऽद्यावधि बल्लुतोऽत्र प्राकाशि ॥

अथ प्रतीयमानो व्यङ्ग्यो ध्वनिरित्यपि रसादिवेदनमग्निमात्रम्, न प्रत्येक-मर्यान्तरम् । यथा खलु व्यवहारभूमौ वाच्यस्तात्पर्यार्थो लक्ष्यो वेति । ‘विभावानु-भावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः’ (छा० ७२ पृ०) इति सर्वेदादिसंमता भारतीया रसनीवी । एतदुक्तं भवति—कारणादीनां विभावनादिव्यापारधरत्वाद् विभावादपिदाभिधाने दृष्टान्तमर्यादया विभावादिविभागलभः । संयोगादिति भरतौक्त-पञ्चम्या विभावानुभावव्यभिचारिणः समूहालम्बनतया रसं प्रति हेतुतां प्रतिपत्ताः । तत्र शब्दोपहितरूपाणां विभावादीनां व्यापाराद् उत्पाद्योत्पादक-गम्यगमक-पोष्य-पोषक-व्यङ्ग्यव्यञ्जकरूपा भावा वादिमिरादताः । रसबोधने निरूपितदृशा अभि-धातात्पर्ये निरस्ते अपि पुनर्मीमांसकमतेन लोलुटादिभिरुप्रेक्ष्यमाणोऽभिधाया दीर्घदीर्घतरो व्यापारो रसस्यानुकार्यगतत्वं च निरस्यते (सा. द. ८९ पृ० २५३ पृ०) “मद्लोलुटादयस्तु—रसस्य व्यङ्ग्यत्वमेवाङ्गीकुर्वन्ति” इति विद्वतिप्रत्यस्त-पेक्ष्यः (८० पृ०) । एवं संयोगादिति बुद्धो रसस्य विभावादेष्व उत्पाद्योत्पादकभावः सुदूरं निरस्तो मन्तव्यः । लक्षणापि निरस्तेव, यत्पुनस्तात्कैकमन्यैः श्रीशङ्क-महिममदप्रभृतिभि रसोऽनुभाष्य इत्यास्त्योयते, तदपि तस्यानुकर्तृगतत्वेन सदैव

निराकियते (सा० ६० १० पृ० २६२ पृ०) । एवं गम्यगमकभावोऽन्वयचन्त्रेण
 सुदूरमुदस्यो वेदितव्यः । सांख्यगीत्या भट्टनायकादिगी रसे गृहीतेऽपि
 भावकत्व-भोजकत्वलक्षणौ व्यापारावन्तर्गह् कियेते । यत आद्यो ह्यलौकिक-
 मिभावादिषामान्येन, द्वितीयः स्वाभिन्नरत्नादिरखनेन गतार्थः । एवं पराकः पोष्य-
 पोषकभावोऽपि द्वाताशो द्रष्टव्यः । एतेन ध्वनिकोऽपि प्रत्युक्तः (छा० २५३ पृ०) ।
 इत्यमेतास्तिष्ठो भरतोक्तसंयोगपदव्याख्या यथोत्तरं क्वचिराः, सिद्धान्तभूता तु
 व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूपा श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादोपदिष्टा मम्मटप्रकाशिता सुप्रसि-
 द्धेव । तत्र शृङ्गारः—‘शून्यं—’ (सा० ६० २३ पृ०) ॥

अन्वयोचे च प्राक् प्रायः प्रतीयमानमर्थमलङ्कारपञ्चनिश्चितं मन्यन्त इति
 (भू० ५० पृ०) तदत्राशिष्य प्रकृतमुपसंह्रियते—ध्वनिकारमतेन बाध्यविशेषवपुः-
 प्रत्ययनात् प्रतीयमान इति; वस्त्वलंकाररसादिव्यञ्जकाद् व्यङ्ग्य इति; स्फोटोदात्मक-
 व्यङ्ग्यत्वमनाद् ध्वनिरिति व्यवह्रियते । इह काव्यगुण्यावतारस्य ध्वनिकारस्य व्यवहा-
 राद् ध्वनतीति ध्वनिः शब्दः, ध्वन्यऽनेनेति ध्वनिः शब्दादिराशिः; ध्वन्यत इति ध्वनिः
 रसादिरर्थः; ध्वननं ध्वनिरिति रसादिप्रतीतिः; ध्वन्यतेऽस्मिनिति ध्वनिः काव्यम्;
 ह्येवे ध्वनियोगो लभ्यन्ते । तस्य च ध्वनेः शब्दार्थपुरस्कारेण प्रतीतावपि तत्पारमा-
 र्थिकस्वरूपावगमार्थमालंकारिकैरभिपातात्पार्यलक्षणाकभातिरान्ता व्यञ्जना अवता-
 रिता । तत्रेदं ध्वनिकारहृदयम्—‘सोऽप्यस्त्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कथन ।
 यन्नतः प्रसभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥’ इत्यादि । ‘व्यङ्ग्यमञ्जकाभ्या-
 मेव हि सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलामो महाकवीनां, न बाध्यवाचकत्वनामात्रेण’
 इत्यादिरालोचनः । ‘यो महाकविरित्यहं भूयासमित्युच्यते । एवं व्यङ्ग्यस्यार्थस्य
 व्यञ्जकस्य शब्दस्य च प्राधान्यं न दत्ता व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्यापि प्राधान्यमुक्तम्’ इत्यादि
 लोचनम् । एतेन शब्दार्थभित्तिकया व्यङ्ग्यार्थप्रतिफलवमेव महाकवित्वलामप्रयोजकं
 मन्तव्यम् । तत्र तत्पार्यलक्ष्यार्थो वृत्तस्वारस्य । वस्तुतत्पार्यलक्ष्यमपि संघर्षात्तातिरिच्यते,
 अतिरिच्यमानमपि व्यङ्ग्यमनुसरति । यैः स्फोटो न मन्यते, तैरवश्यं स्फोटोदात्मकव्य-
 ङ्ग्योपनीष्यं तात्पर्यादि शरणीकर्तव्यम् । तेषां विद्या भीमाद्युपासीनाम् । वैद्याकरणाणां
 तु स्फोटोऽभ्युपगमाद् व्यङ्ग्योऽभ्युपगमः स्फुट एव । अत एव मञ्जुशयो नागोजि-
 भट्टपादैर्व्यञ्जनां लक्ष्मीवृत्त “निपातानां योतकत्वं, स्फोटस्य व्यञ्जकता च ह्यर्थादि-
 निरुक्ता” इति पानिण्यादिमुनिश्रयीमतप्रकाशकहस्तिचर्मणि प्रपानीकृतं च; पुनः
 “योतकत्वं च, स्वसमभिध्यादृतपदनिष्ठशक्तिव्यञ्जकत्वमिति वैद्याकरणाणामप्येत-
 त्सीकार भावश्चक” इत्यभिहितम्, लक्षणैव यतार्थो व्यञ्जनेति प्रत्यवतिष्ठमानानां
 तार्किकाणां च मतं निरस्तम् । अत्र छायापि द्रष्टव्या (२५१ पृ० । २०६ पृ०) ॥

रसो न बाध्यः, न च तत्पार्यलक्ष्यम्, न च लक्ष्यः किमु व्याप्य एवेत्यनेकधा
 दत्तितम् । एवं वस्त्वलंकाररसादिव्यञ्जकोऽपि । आमादादिभिर्गु पदार्थोप-
 प्रत्युनप्रसंयासमाद्योक्तयाक्षेपव्यावृत्तिलुप्यमेवोपमानव्यासौ वस्तुवार्थं मन्यमानं
 वाच्योपरकारकतया ‘व्यतिरिच्ये पताक्षेपः यतार्थं व्यङ्ग्यमप्यम्’ इति अत्राशोभम्—
 अर्थात् कश्चित् वाच्योऽर्थः व्यतिरिच्ये परं प्रतीयमानमर्थमिति, कश्चिद्व

स्वात्काव्यांशत्वं, न ह्यपि ता ॥ शब्दप्राधान्यमाधित्यं तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः ।
 धर्मतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याप्त्या न मेतयोः ॥ द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधी-
 भवेत् । अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतिरेव च ॥ अभिधाधागतां यावे
 शब्दार्थालङ्घयती ततः । भावनामास्य एषोऽपि श्रुतारदिगणो मतः ॥ तद्भोगीकृति-
 रूपेण व्याप्यते सिद्धिमाप्तरः । दृश्यमानावशा मोक्षे यावत्कालमियं स्फुटम् ॥”
 इति । तदित्यमन्यथान्यथा प्रतीयमानो नीत इत्यपि द्रष्टव्यम् । इति शब्दा-
 र्थोपमम् ॥

अथ ध्वन्यदृशीयस्य शब्दार्थीयस्य च विभावनाद् व्याकरणाविशामीनार्प-
 वाचकत्वाधयपान्नीयोपादिषमवातिक्रान्तस्फोटवादाभ्युरगमाभ्यामादिविषंवादिभ्य-
 शनारोहणाच्च साहित्यमलंकारश्चात्र काव्यानुशासनं न कस्याप्यनुयायि पुच्छमर्हं वा
 भवितुमर्हति; किंतु—

‘प्रसत्तेर्यः पात्रं, तिलकपति यं सुक्तिरचना,
 य आद्यः स्वादूनां धुतिचुलुफलेह्येन मधुना ।
 यदात्मानो विद्याः, परिणमति यच्चार्थेषुपुषा,
 स गुम्फो याणीनां कविवृत्तपनिषेव्यो विजयते ॥’

इत्येवमादितिरूपितलिङ्गवलेन प्रचानमज्ञोति सिध्यति । अतएव मयाप्यवाचि—

‘शब्दार्थयोरुक्तिविशेषस्तत्त्वे लक्ष्येषु काव्यव्यवहारयोगाद् ।
 न्यायादिषद् दर्शनकोटिमात्रं साहित्यमस्तीति वदन्ति विद्याः ॥’

साहित्यस्य सामग्रालंकारादयः कृतिपथे प्रवन्धाः प्रागुक्ताः, (भू० ४४ पृ०)
 टीकाप्रवन्धा मम्मटसमयदर्शने निर्दिष्टाः, अन्येऽपि यत्र तत्र प्रसङ्गादुपपन्नाः ।
 केचिदिह लक्ष्यभूता निरूप्यन्ते—

तत्र ध्वनिग्रन्थाः ।

(१) ध्वनिकारिका । (२) आलोकः । (३) लोचनम् । (४) दृश्यदर्पणः ।
 (५) व्यक्तिविवेकः । एते पञ्चापि कश्मीरजन्मानोऽलम्बन्तप्रोडाः ।

वृत्तिप्रकरणानि ।

(१) कश्मीरवाक्यव्यस्य भट्टकल्लटसूत्रोर्मुकुलस्य अभिधावृत्तिमाह्वयः ।
 (२) सुप्रसिद्धराजानक—मम्मटस्य शब्दव्यापारविचारः । (३) दाक्षिणात्यस्य
 जयदीक्षितस्य वृत्तिवार्तिकम् ।

१. दृश्यदर्पणव्य इति तु शोभनः पाठः. २. अथैव शिष्यः प्रतीतिहेतुराज
 वृत्तलंकारवृत्तिकर्ता, ३. आत्मानं कीदृशं निर्दिशति स.

अलंकारग्रन्थाः ।

- (१) कादमीरकस्य राजानक—रुच्यै (च)कस्य अलंकारसर्वस्वम् । (२) कादमीरकस्य राजानक—जयस्यस्य अलंकारविमर्शिनी । (३) कादमीरकस्य भट्टशोभाकर-मिश्रस्य अलंकाररत्नाकरः । (४) दाक्षिणात्यस्य अर्पणदीक्षितस्य चित्रमीमांसा । (५) दाक्षिणात्यस्य पण्डितराज—जगन्नाथस्य चित्रमीमांसाखण्डनम् ।

नायिकारसप्रकरणानि ।

- (१) रुद्रस्य शङ्कारतिलकम् । मैथिलस्य भानुदत्तमिश्रस्य (२-३) रसमञ्जरी-रसतरङ्गिणी । (४) शिवरामत्रिपाठिनो रसरत्नहारः ।

कतिपयविचारप्रकरणानि ।

- (१) कादमीरकस्य राजानक—रुच्यकस्य सहृदयलीला । (२-४) कादमीरक-स्य व्यासदासापरनाम्नः क्षेमेन्द्रस्य कविकण्ठाभरणसुवृत्ततिलकौचित्यविचारचर्चा । (५) राजशेखरस्य काव्यमीमांसा । (६) जैनयोरिसिंहामरचन्द्रयोः काव्यकल्प-लतावृत्ती । (७) देवेश्वरस्य कविकल्पलता । (८) पर्वतीयस्य विश्वेश्वरपण्डिते-न्द्रस्य कवीन्द्रकर्णाभरणम् ।

साहित्यग्रन्थाः ।

- (१) धारापतेर्मौजदेवस्य सरस्वतीकण्ठाभरणम् । (२) महामाहेश्वरस्य विद्याध-रपण्डितस्य पर्कायलीलाशतम् । (३) दाक्षिणात्यस्य विद्यानाथस्य प्रतापकवीयम् ।

१. अक्षय महापण्डितस्य शिष्यो राजानक-मद्वक-महाकविरित्येतेन कृतस्य श्रीकण्ठपरितस्य पञ्चविंशत्सर्गाद् व्यक्तम्. २. अयमेव जयरथ आचार्योमि-नवशुतकृतस्य धीतस्त्रालोकमहाशयस्य कर्णधारो जने. ३. अयं महानुभावो वेदान्त-कल्पतरु-परिमलादिकर्ता । उक्तं चानेन—'कणमक्षपदक्षकपक्षपरिष्करणक्षुण्णतक्षुण्ण-शिरम् । अतिकर्कशतर्कशतशुभितक्षुषितक्षुषणक्षुण्णभङ्गपदम् ॥ कपिलोक्तिरिक्काकरणप्रदं कृतपत्रगच्छतिपरिष्करणम् । नमभौकिकभूषितमद्वयं विमलाद्रपचित्तुल्यगगनधिपम् ॥ महतामपि भाग्यवतं विदुषां विनिवेद्य गुरुं (श्रीरत्नराजश्रीश्रुति) इति नैयमितम् । नयसंहतिशालिनि कल्पतरु विवृतधारणः प्रथमः प्रथिनः ॥' इत्यादि. ४. अनेनेव सिद्धान्तबीमुदीभ्याख्यायाः प्रौढमनोरमायाः खण्डनरूपं मनोरमाकुचमर्दनं निरमापि । उक्तं च तदारम्भे—'लक्ष्मीकान्तपदाम्भोजमानस्य नेवसां पदम् । पण्डितेन्द्रो जगन्नाथः स्वर्गं गुरुं गुरुं (भट्टोजिदीक्षिणानाम्)' इत्यादि. ५. काव्यकल्पलता—कविकल्पलते शोकरचनाप्रकारादिके. ६. कवीन्द्रकर्णाभरणं बौद्धस्य चर्मदासस्य विद्वधनुत्तमखण्डन-मन्थविशेदे. ७. अक्षेरावनीनाथोऽलंकारशास्त्रोपरि सुप्रसिद्धानां कोटाचलमठिनाथ-युतीनां तरलायना भ्यास्ता वर्तते । अक्षेरावनीनाथकः कश्चिद्वैद्यो मुसिदभूतः । मुसिदवर्जनक्षोदा अत्रत्याश्रितानीमांसादावुदाहृतः. ८. कोटाचलमठिनाथपरिषद्गुणा सुमाररत्नाभिनीतीश्वर कृता प्रज्ञापरद्वीपस्य रत्नाचलस्य भ्यास्ता । अक्षेरावनीनाथकः कादमीरकस्योत्पन्नो रत्नभूषणः प्रसिद्धः.

(४) केनवमिश्रस्य अलंकारसोपारः । (५) जैनस्य आचार्यहेमचन्द्रस्य सोपशालं-
कारचूडामणिवृत्तिसहितं काव्यानुशासनम् । (६) जैनस्य वाग्मटस्य काव्यानु-
शासनम् । (७) जैनस्य वाग्मटस्य वाग्मटालंकारः । (८) दक्षिणात्यस्य
अच्युतरायस्य सोपशालरसामोदसहितः साहित्यशास्त्रः । (९) दक्षिणात्यस्य
कृष्णकवेर्मन्दारमन्दः ।

रूपकप्रकरणानि ।

भनञ्जयस्य दशरूपकं धनिककृतलोकसंवलितम् । भारतीयस्य नाट्यशास्त्रस्य
अष्टादश एवमेवविंशो विंशत्यनुविंशत्याप्यायाः । अनेके रूपकग्रन्थाः सर्वतन्त्र-
सतन्त्रस्य राघवभट्टादस्य अभिज्ञानशाकुन्तलायंयोतनिकातोऽन्येया इति ॥

अथ प्रसङ्गासाहित्यस्य लक्ष्यभूताः आच्योदीच्यप्रसीच्यदक्षिणात्याः कतिपये
कविकर्मणः भण्यद्भवग्रन्था निरुच्यन्ते—

तत्र काव्यग्रन्थाः ।

(१-३) कालिदासस्य रघुवंश-कुमारसंभव-मेघदूताणि । (४) छत्र-भारनेः
किराताखंणीयम् । (५) घण्टा-नाथस्य शिशुपालवधम् । (६) भीरुपस्य
नैपथीयचरितम् । (काव्यशास्त्रम्) (७) काश्मीरिकस्य ताल-रत्नाकरस्य हरवि-
जयम् । (८) काश्मीरिकस्य विहङ्गस्य यिगमाद्देवचरिताम् । (९) काश्मीरिकस्य
जगद्वरस्य स्तुतिक्रमुमाञ्जलिः । (१०) शालिवाहनस्य शौधाससप्तशती (गाहा-
सप्तसहस्रम्) । (११) प्रवरसेनस्य सेतुबन्धम् (दशमुहवहो) । (१२) शक्यवि-

१. काव्यानुशासन काव्यवकाशानुसारि । वाग्मटीयं काव्यानुशासनं तु माघीय-
वैकीकम्. २. एते हाळसादिभिः समुद्रिते दशरूपकपुस्तके सुलेखिताः. ३. 'वहति गिरि-
रथं विलम्बिघण्टादयपरिवारितवारणेन्द्रलीशम्' लक्षणेचया वयर सायस्य पण्डामावेति
प्राचीनैः संज्ञा इत्या, 'छत्र-भारवि, ताल-रत्नाकर, रघुना-विविकमेति', ४. दक्षिणा-
त्यये गोदावरीतीरे कुतलेषु प्रतिष्ठानं नाम नगरमासीत् । वत्सानी हाळसात-
बाहनादिनामा शकप्रवर्तकः शालिवाहनः । येन च गाथासप्तशती संकलिता ।
इयं वाजस्य हर्षचरिते बोधतया स्मृता । गोवर्धनाचार्यस्य मार्गसप्तशती—'यागी
प्राकृतसमुच्चिदस्ता बलेनैव संस्कृतं नीता । विद्यानुरूपवीरा कलिन्दरन्ध्रेण गणततलम् ॥'
इत्येवं स्मृता । सरस्वतीकण्ठामरणे तु द्वितीयपरिच्छेदे 'केऽभूत्तथाश्वराजस्य राज्ये
प्राकृतनामिणः । काले श्रीहाससङ्कलने च संस्कृतनामिणः ॥' इत्युक्तम् । ८४
माञ्जरायाः शालिवाहनः; सप्तशती विजयादिल इति तट्टीककृतो रत्नेश्वरमियाः ।
शालिवाहनस्यैव सभायां भूतभाषामवब्रह्मकाविर्गात्-गुणाद्य-कालावस्थाकरनकलं-
शर्ववर्मप्रवृत्तयो महानिर्वास आसत् । अतः शकप्रवृत्तेरासप्तकाले गाथासप्तशती-
संकलनकाले भवितुमर्हतीति दिक्. ५. राजतरङ्गिणीमगनया एकः प्रवरसेनः
३१८९ कस्मिन्नेऽभूत् । अस्मैव पीथो द्वितीयः प्रवरसेनः । एतत्समये उज्जयिनी ।
हर्षावरणामा मित्रादिलोऽप्यभूत् । उक्तप्रवरसेनपीरन्वतरेण सेतुयन्धारनामपेयं
दशमुहवहं प्रणीतं स्यात् । अकम्बरवहालवीन्द्र (अनुसुमनकरनलपट्टीहीनमदमन्द
भववर) सचिवो रामदासभूषणिकं सकुजसेतुवन्धनीकापारन्ध्रे—'महाराजप्रवरसेनमित्रं

देवस्य गण्डवहो (गण्डवधम्) ।

आख्यानग्रन्थाः ।

(१) दण्डिनो दशकुमारचरितम् । (२) सुबन्धोर्वासचदत्ता । (३-४) चाणभट्टस्य हर्षचरित-कादम्बर्यौ । (५) विष्णुशर्मणः पञ्चतन्त्रम् । (६) नाट्य-यणस्य हितोपदेशः ।

चम्पूग्रन्थाः ।

(१) यमुना-त्रिविक्रमस्य दमयन्तीकथा । (२) भोजदेवस्य रामायणचम्पूः । (३) अनन्तस्य भारतचम्पूः ।

नाटकग्रन्थाः ।

(१-३) कालिदासस्य अभिज्ञानशाकुन्तल-विक्रमोर्वशीय-मालविकाग्नि-मित्राणि । (४-६) धीरुपस्य रत्नावली-प्रियदर्शिका-नागानन्दानि । (७-९) भवभूतैर्महावीरचरित-मालतीमाधवोत्तररामचरितानि । (१०-१२) राजशेखरस्य चालरामायण-विद्वत्कालभट्टिका-कर्पूरमञ्जर्यः । (१३) भट्टनारायणस्य येणीसंहारम् । (१४) मुरारेरनर्घराघवम् । (१५) विशाखदत्तस्य मुद्राराक्षसम् । (१६) धीरुष्ण-मिश्रस्य प्रयोधचन्द्रोदयम् ।

एतेष्वनेकान्काव्यसाहित्यग्रन्थान्काव्यमालानुपपन्नादुद्धरस्मत्तातपादानां सुह-
द्विर्महामहोपाध्यायश्रीदुर्गाप्रसादपण्डितरक्षैः काव्यसंसारः साधूपकृत इति ॥

५। साहित्यदर्पणस्य च किमिति श्रुतम् ? अयं दर्पणो यावदुपयुक्तकाव्यशिक्षा-
धायकरवात् साहित्यशास्त्रमिति व्यपदिश्यताम् । यदयं न सरस्वतीकण्ठाभरणवद्
अनतिप्रयोजनीयविषयविस्तीर्णो नवीनविचारविकलधः न काव्यप्रतीपवद् रूपक-
प्रकरणरहितोऽतिस्थितिप्रमेयधः न साहित्यसारवद् विषयसंकलनैकतात्पर्यो
दुरुद्धरचनधः । एकदेशीयैः सह तु तुलनावकाश एवास्य नास्ति । सोऽयं कारिका-
वृत्तुदाहृतिभिर्निधा विभज्यते । तत्र कारिका वृत्तयश्च स्वीया एव, उदाहृतयस्तु
षष्टिदेव स्वीयाः । प्रमेयाणामुपपादनशैली प्रायेण सर्वत्र प्राग्लेव, यत्र हापि

महाराजाधिराजविक्रमादित्यनामस्यः साहित्यसमहास्यः सेतुबन्धं चिन्तितुं इत्यनेन
काण्डिकास्यैव सेतुबन्धकृतत्वं व्यलिस्यत् । तत्र साहित्यसंस्मरणदर्शने मूलं शृङ्खलम् ।
विक्रमकाण्डिकास्योः संस्मरणकस्तु न विरह्यते त्वोत्प्रेक्षया । पाकाटकवन्धो गृहीतव्यमनोः
सिद्धादस्य चतुर्थ-पञ्चमशतकोर्वर्तमानयोः प्रवरमेनमनुजयोः सेतुबन्धकृतत्वं तु
दृष्टिजनः शिवाशासत्रे षष्ठी । यत्ने दण्डी काव्यादर्शे सेतुबन्धं सारतीति दिष्टम् ।

१. गीतवधे वा(६)नमस्तुभ्याभिपठेयंनोयमर्गो मदिमा आश्रयेकदा मद्रपा वापतिराते-
नायमि. मत्र १२०९ गाथाः । रामानुजदयादिनाटवरचदित्र अयमेव दशोवर्मा
वाग्वला वरमराभिपठिना दण्डिनादित्येव पराजितः । 'कश्चिद्वारापिपठभीमव-
भूयादित्येवितः । तिनो मयो वयोवर्मा तद्वन्तु' इतिदिशम् ॥ इति राजशरदिष्ट-
(४१४४) । अन्त्य समयः गित्यादीपसप्तममयवोत्तरार्धम् ।

महना सा तावद् विषयसमावात्समुद्रता । शास्त्रकारेण तु सुखावबोधायैव
यतितम् । तच्च च चरमे—‘साहित्यदर्पणमसुं मुधियो विलोक्य साहित्यतत्त्व-
मखिलं सुखमेव वित्त ॥’ इति ॥

यत्पुन कुत्रचिच्छृङ्गारतरङ्गितः प्रस्तावः स चापरिहार्यतया नैतस्य दूषणाय
प्रभवति । इति दोषमाशङ्क्यैव काव्यालंकारे रुद्रदेनाभ्यधायि—

‘नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्या ।

कर्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः ॥

किं तु तदीयं दृष्टं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति ।

वाराधयेतुं बिदुपस्तेन न दोषः कवेरत्र ॥’

कियदुक्त्या, अत्रिनि कामसूत्रेऽप्येवमभिहितम्—‘धर्मवर्षं च कामं च’ इति
(छो. ११९ पृ०) ।

साहित्यदर्पणकारो विश्वनाथः । अयं दर्पणस्य चतुर्थे परिच्छेदे
(२४४ पृ०) अलावहीनं स्मरति । ‘यः सौम्यारद्रा~’ इति काव्यप्रकाशोदा-
हरणविधारे ग-संज्ञकपुस्तकपाठे (सा. द. १७ पृ०) जयन्तं स्मरति । काव्य-
प्रकाशस्य दर्पणव्याख्यानं ‘यदाहुः धीकलिङ्गभूमण्डलाराण्डलमहाराजाधिराज-
श्रीनरसिंहदेवप्रभायां धर्मदत्तं स्वयन्तः सकलसहृदयगोष्ठीपरिषदकविपण्डिता-
त्यतितामहधीमक्षारायणदासपादा.’ इत्युद्दिशति । तत्र अलावहीनः
(अलावहीन मसङ्ग) दिक्षिपरिषदः, यः सित्ताब्दे १२४६ मारितः । जयन्तः
काव्यप्रकाशस्य दीपिकाव्याख्यान्ते सन्त १२५० अर्थात् सित्ताब्दे १२५०-
५७=१२९३ मिलिराति । एवमेताभ्यामभ्यस्तनो दर्पणकारो विश्वनाथः सित्ता-
ब्दीर्मन्चतुर्दशशतकस्य पूर्वभर्गेऽनश्नं भवितुमर्हति । यस्यादयं कलिङ्गेश्वरस्य नर-
सिंहदेवस्य सभायां सपितामहं नारायणं निर्दिशति । य च नरसिंहदेवः ‘अस्ति
सप्तदशोत्तरद्वादशशतकवत्सरे (१२१७) चतुर्दशभुवनाधिपत्यारिषिद्धराज-
विराजमानः धीवीरनरसिंहदेवमहीपतिः क्षराज्यस्यैकत्रिंशत्सङ्घेऽनिलिरयमाने सिंह-
शङ्खपङ्क्तौ सोमनारे’ इत्यतिहासिकफणिकया सित्ताब्दे ११६० विजति ।
यद्यपि १२९३-११६०=१३३ उक्तसित्ताब्दयोरन्तरे पुण्यात्रयपक्षाः द्विविधभिर्द-
प्रतीक्ये तथापि दर्पणे (७८ पृ०) नारायणस्य मृदप्रपितामहत्वेन उपासना-
समञ्जसम् । प्रकाशदर्पणे नारायणस्य अन्ते दाय-दर्शनाद्, साहित्यदर्पणे
दावाददर्शनाद् व्यक्तिमेदस्तु नाशङ्क्यः । विश्वनाथात्मजस्य अनन्तदासनामो-
पलम्भाद् विश्वनाथपितामहात्रयस्य चण्डीदासस्यापि तथानामनिर्देशाय (सा.
द. ४४६ पृ०) । दर्पणे विश्वनाथपित्रा चन्द्रशेखरेण वर्णितायुमाभालु-
देशायपि नरसिंहमहीपतेरेवानुवन्धनो ज्ञायेते (सा. द. ६३) ।

१. नरसिंहनामा प्रसिद्धा महाराः शोभाः । नरसिंह उक्तसित्ताब्दीनां १३३३
मियापरमदापिच्छेदेनैकावस्थात्.

विश्वनाथस्य नाम सांघिविप्रहिक-महापात्र-कविराजेत्युपाधिभिर्घटितं दृश्यते । सत्र सांघिविप्रहिक इति राज्याधिकारविशेषः । तदानीं विद्याप्रणयिनां कलिङ्ग-पार्थिवानां राज्याधिकारे विश्वनाथस्य पूर्वपुरुषास्तदनुबन्धिनः श्रीधर-राघ-चानन्द-कृष्णानन्दप्रभृतयश्चासन् । अत एवमामापि सांघिविप्रहिक-महापात्र-विशेषणाभ्यां भूयितम् । अत्र श्रीधर-राघचानन्दौ काव्यप्रकाशस्य टीका-कृतावपि । कृष्णानन्दस्तु वैदर्भरीतिप्रधानस्य सहृदयानन्दाख्यस्य नलचरित-महाकाव्यस्य रचयिता । राघवानन्दनाम दर्पणस्य प्रथमपरिच्छेदे; सहृदयानन्दस्य 'सूचीमुखेन-' इति पद्यं सप्तमपरिच्छेदे वर्तते । सांघिविप्रहिक इति संधिविप्रहा-यिकृतः । 'तत्र नियुक्तः-' (पा० सू० भा० ६९) इति ठक् । एष उपाधी राजतरङ्गिण्यादौ सुप्रसिद्धः । महापात्रो ब्राह्मणविशेष इति केचित्, संश्लेषपदे । ननु महामात्र इति संभावनीयम् । कविराज इति महाकविसमानार्थकम् । ननु अवध(अयोध्या)प्रान्तीयप्रधानहिंदीभाषायां 'माट' इति 'प्रसिद्धब्राह्मणजातेर-वगमकम् । श्रीनारायणचरणारविन्देत्यादि तु आस्तिक्यादिप्रदर्शनार्थम् । काव्यप्रकाशदर्पणे तु "...संगीतविद्याविद्याधर-कलाविद्यामालतीमधुकर-विविध-विद्यार्णवकर्णधार..." इति विश्वनाथस्य त्रीणि विशेषणान्यधिकानि । 'वस्तुतोऽयं महाफलप्रसूतो बहुतः सहृदयश्चेति । एतत्प्रणीतग्रन्थास्त्वेते शायन्ते—(१) राघवविलासमहाकाव्यम् (२) कुबलयाश्वचरितप्राकृतमहाकाव्यम् (३) चन्द्रकला नाटिका (४) प्रभावती नाटिका (५) पोद्दशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली (एतेषां निर्माणोत्तरं) (६) साहित्यदर्पणः (७) नरसिंहविजयम् (८) काव्यप्रकाशदर्पणः । एतत्पितृव्यन्द्रशेखरस्य पुष्पमाला नाटिका, भाषार्णव इति ग्रन्थद्वयं, दर्पणतो व्यक्ता । तत्र—

‘भाषामध्यमपात्राणां नाटकोक्तौ विशेषतः ।

महाराष्ट्री सौरसेनीत्युक्ता भाषा द्विधा युधैः ॥

हीनेर्भाष्या विभाषा स्यात्ता च सप्तविधा स्मृता ।

प्राच्यावन्ती मागधी च शाकरी च तथापरा ॥

चाण्डाली शायरी चापि तथाऽऽभीरीति मेदतः ।’

इत्येतत्पुत्रस्य अनन्तदासस्य लेखेन भाषार्णवरूपमवधीयते । प्रशस्ति-रत्नावल्याः पोद्दशभा भाषाविभागो नावधीयत इति भूयान्येदविषयः ।

विश्वनाथपूर्वपुरुषाणां कलिङ्गराज्यसंबन्धः स्पुट एव । किंच । "कुट-रुचिम्, इति पादयोर्वैपरीत्ये" इति काव्यप्रकाशप्रतीकमुपादाय तथैवदर्पणे "वैपरीत्यं यत्र कुट" इति पाठः । अत्र चिद्व-पदं कादनीरादिभाषायां मन्त्रीलार्थशोधकम्, उरुतरादिभाषायां 'वृत्तवाण्टकद्वय' इत्यादि" इति लेखाद् उरुत्तरदेशनिवासोपि बहुं गुराकः । आम्नेट सेक्टरादिवास्तु लिख्यग्रीकपद्यद्वयसततक्रमणे पूर्ववत्ते साहि० भू० ६

मद्यपुत्रतटे साहित्यदर्पणो व्यरचीति जगन्मोहनशर्मसंहन्वचण्डकौशिकनाटक-
भूमिकातोऽयस्यमिति विलिरान्ति ।

साहित्यदर्पणस्य हस्तलिखितानि त्रीणि मूलपुस्तकानि संकलितानि । तत्र प्रथम-
मस्माकं पुस्तकालयस्य शुद्धप्रायं १८१६ वैकमाब्दे लिखितम् । एतत्पत्राणि २०८
प्रतिपत्रं पङ्क्तयः १८ इदं पुस्तकं क-संज्ञया व्यवहृतम् ।

द्वितीय-तृतीये पुस्तके जगपुरराजगुरु-श्रीनारायणशास्त्रिणां पर्वणीकरोपाख्या-
नाम् । इमे प्राचीने पद्यमपरिच्छेदपर्यन्ते, तदुत्तरं तु भिन्नलिप्या पूर्णकृते क्रमेण
र-ग-संज्ञाभ्यां व्यवहृते ।

अथ चतुर्थं पुस्तकं रामचरणतर्कवागीशमहाचार्यकृतविवृतिसमेतं श्रीचण्डी-
चरणरमृतिभूषणश्रीभूतनाथविद्यारत्नाभ्यां परिशोधितं कलिकात्तराजधान्यां
१९४२ वैकमाब्दे सुदितं घ-संज्ञितमिति । एषु पुस्तकेषु ग-संज्ञितमत्यन्तं
मिश्रभातुकम्, नूनमिदं साहित्यदर्पणस्य प्रथमपुस्तकप्रतिरूपकम् । इदं विश्वनाथेन
प्राग् विप्ररीर्णाणां विषयाणां संकलनार्थं लिखितं भवेत् । स च लेखनावसरः
पद्यमपरिच्छेदान्तप्रणयस्यैव संभाव्यते, तदानीमेतत्पूर्वार्धविषयाणां काव्यप्रकाश-
मपह्णाय परत्र संकलनाभावात्, काव्यप्रकाशेऽपि नायिकाभेदादिमिषमसंकलना-
दर्शनात् । एतत्परार्धविषयेषु तु प्रागे दशरूपक-काव्यप्रकाशावेव सशाम-
भूताविति न विशेषतो लेखनपरिवर्तनावसर आपतित इति नातिविरोहितम् ।
तदेतदुक्तं ग-संज्ञकपुस्तकपाठान्तराण्यपि विचार्यमाणान्यवधोषयन्ति । काव्य-
प्रकाशस्य आप्यायितप्रतिश्रुतिवशा साहित्यलोकेऽप्रतिमोऽप्ययं दर्पणः स्मारुरूपया
टीकया अस्तिष्ठति इति मन्यामहे ।

दर्पणस्य टीकाद्वयमस्माभिरुपलब्धम् । तत्र प्रथमा दर्पणकारस्यैव पुत्रेण
जनन्तदासेन कृता दर्पणलोचनादया । सेवं प्रोढा संक्षिप्ता च । अस्या एकं
मामकं पुस्तकम् । 'अथा एत-इत्युदाहरणव्याख्याशमादाय सतम-
परिच्छेदान्तमेव नाल्लुब्धम् । अत्र सप्तमपरिच्छेदान्ते एवम्—'इत्यालंकारिक-
चक्रवर्तिध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्यमहापात्रश्रीविश्वनाथमजधर्मदन्तदासकृती साहि-
त्यदर्पणलोचने दीपनिरूपणो नाम सप्तमः परिच्छेदः समाप्तः ।' एतत्पुस्तकस्य
पत्राणि ५६३ प्रतिपत्रं पङ्क्तयः २० । प्रतिपत्रि अक्षराणि ४२ । द्वितीया,
रामचरणतर्कवागीशमहाचार्यकृता वर्षणविवृतिः । अस्या निर्माणकालः—'अक्षि-
गक्षरसचन्द्र (१६२२) संमिते हायने सकवधुंवरपतेः' इति विज्ञतायेर निर्दिष्टः ।
इयं विवृतिर्ग्रन्थं 'योजयन्ती प्रयोगाशविचारे प्रौढि प्रकटयन्ती सच्छाश्रयाभुप-
कप्रति न सदेहः । किंतु बहुनात्र प्रतीकविकल्पो विरलार्थप्रतिपादकश्च सेसो
मूलं न नियम्यतीति मूलात्पूर्वागवेषणे महान् हेतुः । क्वचित् क्वचिच्च श्लोकानां
संक्षिप्तं व्याख्यानं व्याकरणाशयन्यं चेति । अस्या विरुतेर्हस्तलिखितानि

त्रीणि पुस्तकान्यासादितानि । तत्र प्रथममस्माकं पुस्तकालयस्थं शुद्धप्रायं नवीनम् । एतत्पत्राणि ३०४ प्रतिपत्रं पङ्क्तयः १२ । द्वितीयं पुस्तकं पूना-डेक्कनकालेजस्थं नास्यशुद्धं द्विशतीवर्षे लिखितमिवोपलक्ष्यमाणम् । एतत्पत्राणि १८२ प्रतिपत्रं पङ्क्तयः १८ । तृतीयमपि पूना-डेक्कनकालेजस्थं शुद्धं प्राचीनम् । एतत्पत्राणि २५४ प्रतिपत्रं पङ्क्तयः २० । इदं पुस्तकं तु प्रथमतः १५० पत्रैः खण्डितं किञ्चिद्नवसप्तम-परिच्छेदाद् दशमपरिच्छेदान्तमेव । इमे द्वितीयतृतीयपुस्तके डाक्टर एस्. के. बेलवलकर एम्. ए. महाशयैः डेक्कनकालेजसंस्कृताध्यापकैः कृपया अस्मत्सविधे प्रहिते इति तेषां महान्तमुपकारमाकलयामः । इदं पुस्तकत्रयं पुस्तकान्तरनाम्ना व्यवहृतम् । प्रागुक्तं मूलेन सह मुद्रितं चतुर्थं विरुतिपुस्तकं तु मुद्रितनाम्नेव व्यवहृतम् । तदेतन्मुद्रितपुस्तकं वङ्गकोटपत्रलेखमिधम् ।

इत्थं मूलस्य विवृतेष्व पुस्तकचतुष्टयाधारेण प्राक् १९०२ तिस्ताब्दे मुम्बापुर्यां निर्णयस्तागराख्ये यन्त्रालये मुद्रितस्यैव साहित्यदर्पणस्य विरुत्त्या विरुतिपूर्णा च सहितस्य पुनरेतत्पूर्वविशेषं द्वितीयसंस्करणमस्माभिरकारि । अस्मन्मुद्रणात्प्राद् मुद्रितेषु साहित्यदर्पणपुस्तकेषु कारिकादीनां दुरवस्थैव प्राप्यते । यथा—‘नापि भविष्यन्-’ (सा० द० ९२ पृ०) इति कारिका पदच्छेदवैलक्षण्येन वृत्तिरूपतां नीता । ‘मन्त्री स्यादर्शानां चिन्तायां तदवरोधे’ (सा० द० १०२ पृ०) इति कारिका वृत्तियोजनादिना ‘मन्त्री स्यादर्थचिन्तायामर्थोत्पन्नावपादयः ।’ इत्येवमनुष्टुप्-रूपतां प्रापिता । ‘कान्यान्तर्गडुभूततया तु नेह प्रपश्यते ।’ (सा० द०) इति वृत्तिः ‘कान्यान्तर्गडुभूता या सा तु नेह प्रपश्यते ।’ इत्येवमनुष्टुप्-रूपतां गमिता । इति दिक् ।

रामचरणतर्कभाषीशमभट्टाचार्यैर्विरचित्तः विवृतिरेव बहुपुण्यसंप्रदायि मन्यमानेन मयया तद्वाराधनाय विशेषानेव विचिन्विता छायाख्या विरुति-पूर्तिर्भूषणाय । इह प्राचामर्वाचां चालंकारिकाणां संदर्भेभ्यो विशिष्टभागं शब्द-तत्त्वापर्यन्तवानूप मांसलीकृतो दर्पणविश्लेषानुक्तविषयो यन्नतो न्यासि । अनुक्तत्वेन ज्ञायमाना अपि नातिप्रयोजनीया उक्तिमुद्रादिका उपेक्षित । क्वचित्क्वचिद्गु-नातिप्रयोजनीया अपि सूक्तयः संवादसौष्ठवाय न्यषायिष्यत । किं बहुलया यावतायासेन विरुतिपूर्तिरभ्यस्य तावता तदस्येन वा विवृतिद्याद्व्यायेनाभिनवा विरुतिर्भविष्यतीति । भवति चात्र नामकं पद्यम्—

‘मूलं वा व्याकृतं वा किमपि विरचयेत्पूर्वतोद्धारि पूर्वं

किंवा पूर्वानुरूपं सहृदयहृदयावजं संग्रहं वा ।

आतर्भूयस्तपद्वाः परकृतिकलनापिच्छिला ये प्रयन्धा

प्रप्यन्ते तैरिदानीं समयगमनिकामन्तरा कोऽस्ति लाभः ॥’

अथेष्टा नूतना, श्री. ए. उपाधिधारिणा धीजीयानन्दरियाछागरभट्टाचार्येण विरचिता साहित्यदर्पणस्य विमलारुपा व्याख्या कठिणवाराधनार्था मुद्रिता । द्वितीया नूतनतरा, काव्यतीर्थपिण्डेयान्तरधीमुद्रनायमिजानिधिमहाचार्येण संपा-

दिता साहित्यदर्पणमूलविभूतिसंस्कृतिः । यत्र १९०२ लिखान्दे मुम्भापुर्यां मुद्रि-
तस्य अस्पृष्टसाहित्यदर्पणपुस्तकस्य भूमिका-टिप्पणीभागावपहताविति हेयम् ।
तृतीया नूतनतमा, गौडशिखरदत्त-कविरत्नेन संपादिता रुचिरारूपटीका । यत्र
मूलं ग-पुस्तकपाठयोजनादिना संकीर्णम् ।

अथ साहित्यदर्पणे प्रसंगानुवृत्तानां ग्रन्थकाराणां समयादिकमकारादिवर्णकमेण
मनाद् निरूप्यते—

इहेयं गउडवहस्य गाहा न विस्तरणीया—

‘कालवसा नासमुवागयस्स सप्पुरिस-जस-सरीरस्स ।

अहि-लवायन्ति कहिं पि विरल-विरला गुणुम्भारा ॥ ९४५ ॥’

अमिनवगुप्तः ।

अमिनवभारत्याख्यभारतीयनाट्यशास्त्रव्याख्या-भाष्यलोचन-ध्वन्यालोकलोचन-
प्रवृत्तिनानानिवन्धनिर्माता महामाहेस्वरचार्यवर्योऽमिनवगुप्तपादः कश्मीरेषु बभूव ।
अस्याचार्यवर्यस्य विषये बहु वक्तव्यमुपेक्ष्य केवलं लोचनं प्रकृत्य किंचिदुच्यते—
इदं लोचनं ध्वन्यालोकाय लोचनीभवद् वादिनामपि हृदयदर्पणोऽभूत् । अन्ये तत
एव मरसरतया ध्वनिनिरासाय प्रवर्तमानोऽपि महिमा ध्वनिकारे सगौरव एव ।
किन्तुना, आलोकेन ध्वनिषु विपर्याससदेहाज्ञानमिरोत्कटे क्वलितेऽपि लोचन-
साक्षिभ्येनैव प्रतिमानम् । इत एव द्वितीयोक्तोताद् रसस्वरूपे मतभेदविदान्ता
मम्मटाचार्येण गृहीताथेति विद् ॥

लोचनस्य आरम्भे—

‘अपूर्वं यद् वस्तु प्रथयति विना कारणकलां

जगद्भायप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च ।

क्रमोत्प्रेक्षयोपाख्याप्रसरसुभगं भासयति त-

रसरस्यस्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयतात् ॥’

इति । पर्यन्ते तु—

‘किं लोचनं निरालोको भाति चन्द्रिकयापि हि ।

तेनामिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ॥’

इति । श्रीमदमिनवगुप्ताचार्यपादैः प्रणीताः प्रत्यभिज्ञादर्शनानुसारेणो ग्रन्था-
स्तपेते—(१) प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी बृहती वृत्तिः, (२) प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी लघु-
वृत्तिः, (३) तन्त्रालोकः, (४) तन्त्रसारः, (५) परमार्थसारः, (६) भास्वि-
नीविजयवार्तिकम्, (७) अनुतराष्टिका, (८) क्रमस्तोत्रम्, (९) तन्त्रवट-
धानिका, (१०) देहस्पन्देवताचक्रस्तोत्रम्, (११) परमार्थचर्चा, (१२) पर-
मार्थद्वैतशिक्षा, (१३) परात्रैशिकाविवरणम्, (१४) प्रकरणस्तोत्रम्, (१५)
बोधपथदशिका, (१६) महोपदेशविमर्शितः, (१७) भैरवस्तोत्रम्, एतद्ग्रन्था-
नामुद्देशम्—

“तरत तरसा संसारान्धि, विधत्त परे पदे
पदमविचलं नित्यालोकप्रमोदसुनिर्भरे ।
चिमृशत शिवादिष्टाद्वैतावबोधसुधारसं
प्रसभविलसत्सद्युक्त्यान्तःसमुत्प्लवदायिनम् ॥”

इति तरपादपयोपजीवि-राजानकश्रीक्षेमराजाचार्यपद्यतोऽवधार्यम् । श्रीमद-
भिनवगुप्तस्थितिकालस्तु—

‘इति नवतितमेऽसिन्वत्सरेऽन्त्ये युगांशे
तिथिशशिजलधि (४११५) स्थे मार्गशीर्षावसाने ।’

इति तद्दीर्घं बृहत्प्रत्यभिज्ञाविमर्षिणीपद्यतोऽवगम्यते । तस्य मातापितरौ विम-
ला-नरसिंहगुप्तावित्यादि तदीयग्रन्थटीकाटिप्पणीभ्योऽवसीयते ॥

आनन्दवर्धनः ।

आलोकादिविविधसंदर्भरचयिता राजानकसंज्ञकद्राह्मणकुलोत्पन्न आनन्दवर्धना-
चार्यः कश्मीरेषु बभूव । अयं कारिका-वृत्तिविभक्तमालोकाख्यं ध्वनिप्रतिपादकं
प्रबन्धं निर्ममे । येन च विशिष्यमाणा काव्यमीमांसा परां दर्शनकोटिं निन्दे । सोऽयं
काव्यसंसारालोक आलोको ध्वनिप्रदर्शकतया ध्वन्यालोकनाम्नापि राजशेखरा-
दिभिर्व्यवहियते । वस्तुतस्तु आलोकाद् ध्वनिकारिकात्वेन व्यवहार्या मूलकारिका
मिन्नकर्तृका एव । यद्यपि ध्वनिकारिकाकारस्य नाम नोपलभ्यते, तथापि ‘आलोक-
व्याख्यातुर्लोचननिर्मातुश्चकिमिष्यन्मालोकयोः पार्थक्यव्यवहारो विविक्तः । त-
थाहि—’अत एव मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न ध्रूयते । वृत्तिकृत्तु निरा-
कृतमपि प्रमेयसद्व्यापूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूय निराकरोति’ इत्येवमादयो लोच-
नोक्तयः । एवं पार्थक्ये सत्यपि यदि काश्चन कारिका वृत्तिकृता आनन्दवर्धनाचा-
र्येण परिष्कृता वर्धिता वा भवेयुर्यन्मूलकश्च ध्वन्यालोक इत्यविविक्तो व्यवहारः
प्रयत इत्यपि को वेद ।

आलोकस्य चत्वार उद्घोताः । तत्र प्रथमे ध्वनिमतमेदप्रदर्शनपूर्वकं ध्वनिस्था-
पनम्, द्वितीये अविवक्षितवाच्यप्रमेदनिर्हणम्; तृतीये अविवक्षितवाच्यप्रमेदनम्;
चतुर्थे ध्वनियुत्पादनप्रयोजनान्तरम् । अत्र ध्वनिकारिकायाः प्रारम्भः—‘काव्य-
स्यात्मा ध्वनिरिति—’ (छा० १७ पृ०) इति । सम्प्राप्तिः—‘प्रतायन्तां वाचो निमि-
तविविधार्थामृतरसा न वादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये । परस्वादानेच्छाधि-
रतमनसो वस्तु मुक्तेः सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भववती ॥’ इति । एवमालो-
कस्यापि प्रारम्भसमाप्ती द्रष्टव्ये । ध्वनिग्रन्थस्य कारिकाक्रमकस्य सदृशेः, अर्थाद्

१. अत्रैवं प्रत्यभिज्ञाद्वदान्ते शेमाचार्येणोपसंहियते—‘दिदमाणमुत्तादिभिः प्रतिकलं
सं(रुध्य)रुध्यमानो जनः पूर्णनन्दपनामिमां न चिनुते मादेश्वरीं स्तां (चित्तिम्) सितित्म् ।
मध्येबोधमुपाधि निश्चमशितस्तत्फेनसिण्डोपमं यः पश्येदुपदेशवस्तु कथितः साक्षात्स एकः
शिवः ॥’ इति ॥

ध्वन्यालोकस्योपरि षष्ठ्यालोकपरसंज्ञं लोचन-नामकं ग्रीहतरं व्याख्यानमस्ति । तत्र लोचनमिति नामकरणे ध्वन्यालोकस्य चन्द्रिकाकृपा व्याख्या नीजम् । उक्तं च लोचने—‘किं लोचनं विना लोकेन भाति चन्द्रिकयापि हि ।’ इति । इमानि ध्वन्यालोकलोचनानि मम्मटस्य प्रतिभास्त्वानि काव्यप्रकाशस्य सर्वोत्कृष्टत्वे धीजमजति । यत्र काशेऽनेकेऽलंकारनिबन्धाश्चकाशिरै । आनन्दवर्धनाचार्यस्य समयस्तु—

‘मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः ।

प्रयां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥’

इति षष्ठ्यस्य राजतरङ्गिणीश्लोकेन (५१३९) अवन्तिवर्मणमकालिकः । अवन्तिवर्मणो राज्यं ८५५ त्रिसाब्दात् ८८४ त्रिसाब्दपर्यन्तं सुप्रसिद्धम् ।

उदयनः ।

न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिमुद्धि-किरणावल्यादिप्रत्ययवयिता न्यायाचार्यपदाङ्कित उदयनाचार्यो मिथिलामण्डले गौडमण्डले वा बभूव । सोऽयं प्रशस्तपादाचार्यप्रणीतस्य पदार्थधर्मेसंग्रहस्य न्यायकन्दसारूपटीकाकाराद् भट्टश्रीधराद् अवधत्तनस्तत्समानकालिको वेति कन्दलीकिरणावत्योः संवादेनावधार्यते । कन्दलीनिर्माणकालस्तु—

‘अधिकद्दशोत्तरनवशत (९१३) शाकान्दे न्यायकन्दली रचिता ।
ध्रीपाण्डुवास्ययाचितमद्भृश्रीधरेणेया ॥’

इति । अर्थात् ९१३+७८=९९१ त्रिसाब्दः । गोवर्धनाचार्य आर्याव्रतसंस्थाने स्वशिष्यात्वेन छादरमुदयनं स्मरति—

‘उदयन-यलभद्राभ्यां सप्तशती शिष्यसोदरान्यां मे ।

धौरिव रविचन्द्राभ्यां प्रकाशिता निर्मलीकृत्य ॥’

इति । गोवर्धनश्च यद्वाभिपवेर्लक्ष्मणसेनस्य सभायां विद्वत्पञ्चनेष्वन्यतन आसीद् इति तस्यैव सभासम्प्रति शिलायामुत्कीर्णादस्माच्छ्लोकाज्ज्ञायते—

‘गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः ।

कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च ॥’

स यद्वालसेनस्य लक्ष्मणसेनस्तु त्रिस्रैकदशशताब्द्याश्चरमभागपर्यन्तं वशा-नशात् वज्रमैथिलप्रसिद्धो लक्ष्मणसेनभूभुजः सक्तस्रोऽपि ययं त्रिशदधिकतद्वत् (१०३०) शकशताब्द्याम्, अर्थात् ११०८ त्रिसाब्दे प्रवृत्तिर्भूत् ।

एवं च श्रीधराद् उदयनस्य अवधत्तनत्वे उदयनगोवर्धनादयः समानकालिकाः सिध्यन्ति । तत्र जयदेवो गीतगोविन्दकारो न तु प्रसन्नराजपूनाटककारः, मातामिनोः कालस्य च मेदात् । जयदेवेन गीतगोविन्दे खसमानकालिकः कवयोऽस्मादिपत—

१. भट्ट श्रीचन्द्रकान्त-तर्वालकारस्य श्रीविन्त्येश्वरीप्रसादद्वैदस्य च महामहोपाध्यायस्य न्यायकुसुमाञ्जलि-प्रशस्तपादमाध्यमभूमिके अपि विलोक्ये.

“वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः, संदर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव, शरणः श्लाघ्यो दुरुद्धुतेः ।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोपि न, विश्रुतः श्रुतधरो, धोयी कविस्मापतिः ॥”

कालिदासः ।

आसीत् कश्चिन् कालिदासो नाम यशस्वो । यस्मिन् भारतं लक्ष्यभूतोऽभूत् ।
तत एव श्रीपुलकेशिनः शिलालेखेऽन्ते—

‘येनाऽयोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेदम् ।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालीदासभारविकीर्तिः ॥’

इत्युदट्टि (इण्डियन् आर्चिक्वेरी ५।६७-७१) । स च शिलालेखः
३१७९+५५६=३७३५ इत्यति कलिगते ५५६ शालिवाहनीये शके, अर्थात्
५५६+७८=६३४ ख्रिस्ताब्दे उत्कीर्ण इति प्रागपि दर्शितम् (भू० ३६ पृ०) । अथ
स्वगुणगर्विणा रामविक्रमभोजादिशब्दवत् कालिदासशब्दोऽपि व्यक्लन्तरेषु स-
क्रान्तः । तथाच—

‘एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित् ।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ॥’

इति महाकविराजशेखरसूक्तिः । तथा—

‘हृल्लेनोत्तमपूजया कविवृषा श्रीपालितो ललितः,
ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारतिना ।
श्रीद्वर्षो विततार मधुकवये वाणाय वाणीफलं,
सद्यः सत्क्रिययाभिनन्दमपि च श्रीहारवर्षोऽग्रहीत् ॥’

इति रामचरितीयाभिनन्दसूक्तिश्च पप्रये । इतो ध्वनिकारः—‘कालिदासप्रभृ-
तयो द्वित्रा पश्या या महाकवय’ इति । काव्यप्रकाशकार —‘कालिदासादीना-
मिव यशः’ इति आचोचत । एवमन्येऽपि कालिदासं पुरस्तुर्वन्ति । एतेन कालि-
दासस्यानेकत्वम्, तत्कृतीनामनेकत्वं तु श्रुतंवादितात् प्रत्यक्षम् । एवं च कस्य
कतमा वृत्तिरिति निर्णयो गमकाभावे कथं जायेत ? एकस्यैव सर्वा वृत्तिरित्यपि
कालिदासानेकत्वे कथं संगच्छेत ? अभिनन्दसूक्तौ कालिदासकवय इत्यादरार्थक-
बहुवचनस्वीकारेऽपि राजशेखरात्माक् कालिदासत्रयीति कथं संपठेत ? इत्येवं

१. एक इति श्लोकः भारोहक-भगदत्त-जङ्गलसंरक्षितसूक्तिमुच्यते । हरिविषक-
रितमुभापितहाराकौ च राजशेखरनाम्ना समुद्धृतोऽस्ति । राजशेखरश्च सिद्धसंवरस-
रस दशमशताब्द्यामासीद् इति श्रीरामकृष्ण-गोपाल-माण्डन्यवराणां निर्णयः । अने-
नेव राजशेखरेण बालरामायण-कर्पूरमञ्जरी-विदुशाल-निबन्दादौ ग्रन्था निरमादिपत ।
परम्पकोपकर्ता राजशेखरस्तु सिद्धसंवरसरस ५-दशमशताब्द्यामासीत्.

विप्रतिपत्तौ प्रतिविधीयते—तत्र रघुवंश-कुमारसंभवयोरेककर्तृकतायां न मना-
गपि संशयावसरः, एतयोर्वहुत्र श्लोकाव्ययपदांशानामैकरूप्यात् ॥ तथाहि—

रघौ—

(१) धनुष्यमोघं समपत्त सायकम्
(३१५३)

(२) ततस्तदालोकनतत्पराणां
सौधेषु चाभीकरजालयत्सु ।

बभूवुरित्यं पुरसुन्दरीणां

स्यैकान्यकर्माणि विचेष्टितानि ॥

(७१५)

(३) (७१६—११ श्लो.)

कुमारे—

(१) धनुष्यमोघं समपत्त बाणम्
(३१६६)

(२) तस्मिन्मुहूर्ते पुरसुन्दरीणां
मीशानसंदर्शनलालसानाम् ।

प्रासादमालासु बभूवुरित्यं

स्यैकान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥

(७१५६)

(३) (७१७—६३ श्लो.)

एवमग्रेऽपि ।

अग्रेऽपि दृष्टव्यम्—रघुवंशं समग्रम्, कुमारसंभवम् अष्टमसर्गान्तमेवं एक-
कर्तृकं भवितुमर्हतीति । अथ—

‘जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति ।

कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः ॥’

इत्यपरापि पूर्वोद्दिष्टस्य राजशेखरस्यैव सूक्तिमुष्णवलीधृता सूक्तिः । एवं च
कुमारदासात्प्राग् रघुवंशस्य कुमारसंभवस्य चावस्थानमवशीयते । अग्रेऽपि
विचारणीयम्—क्षेमेन्द्रस्य औचित्यविचारचर्चायाम् । ‘अपि विजयीहि हठोपगू-
हन् सज नवसंगमभीष्ट वल्लभम् । अरणकरोद्गम एष वर्तते वरतनु संप्रवदन्ति
कुलकुटाः ॥’ इति श्लोकः कुमारदासनाम्ना समुद्धृतः । एतस्य चरमचरणः ‘व्यक्त-
वाचा समुच्चारणे’ (११३१४८) इति पाणिनिस्तृन्माष्ये दृश्यते । कुमारदासो
विक्रमार्कसप्तमशताब्दीप्रारम्भवर्तितुच्यते । क्षेमेन्द्रस्यैव औचित्यविचारचर्चायां
पुनः—‘सुम्नसकः सोऽस्या दशनं च्युतमूलमारमनो नदनात् । जिहामूलप्राप्तं
खादितिकृत्या निरप्रीवत् ॥’ इति श्लोकः श्यामलनाम्ना समुद्धृतः । एतस्य
चतुर्थचरणः ‘अनुकरणं चानतिपरम्’ (११४१६२) इति पाणिनिस्तृन्माष्येऽवलो-
क्यते । श्यामलो व्यक्तिविवेककारस्य गुह्यवाचाभिनवगुप्तपादादप्युक्तं इत्याद्य-
समञ्जसम् (भू. ४८ पृ०) अस्मन्मते त्वेवंशयाः श्लोकांश भाष्ये प्रक्षिप्ताः सम-
स्याविषया कापि कविनिः पुरिता चेति सकलमकलङ्कम् । प्रकृते—‘शृङ्गरे ललि-
तोद्गारे कालिदासत्रयी किमु’ इत्युत्तरार्धेन शृङ्गारविषये कालिदासत्रयी विशिष्यत
इति राजशेखरमिश्रायः । शृङ्गारप्रधानं हि मेघदूतम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, वि-

१. अरण्यगिरिनाथविरचित्वा कुमारसंभवप्रकाशिका अष्टमसर्गान्तैव । नारायणकृतं
कुमारसंभवविवरणमपि तावदेव । समग्रमापि व्याख्याकर्तृभ्यां श्लोकतः काव्यसमाप्तिर्द-
क्षिता । एवं श्लोकाचलमतिनादस्यापि व्याख्या अष्टमसर्गान्तैव.

क्रमोर्वशीयम्, मालविकाग्निमित्रम् इति । अत्र प्रज्ञलादिना मेघदूतं रघुवंशसोदर-
मेव भाति । मेघदूते हि कविर्न केवलं शास्त्रीयामेव प्रसिद्धिमनुससार, अपि तु
स्वकालिकीमपि । इह रामनिरेधिन्नकूटत्वेन अन्यथा व्याख्यानम्, दिङ्मागानामित्य-
सार्थान्तरम्, मालस्य विदिशाया उज्जयिन्याः दशपुरस्य च उल्लेखः धाराया अनुल्ले-
खश्च प्रज्ञात्वे साधनानि । पुरा यत्र सोऽत इति भवभूतिन्यायादिति दिक् । एतेन
रघु-कुमारमेघानां समानप्रभवत्वम् । सोऽयं प्रभवः किंदेशः किकालो वेति—
भावन्तिकः, उदयनाथस्तन इति संभाव्यते । तत्र वक्रैः पन्थाः, अर्वन्ती उदयन-
कथाकोविदप्रामदृष्टान् इत्यादि गमकम् । किंच, 'तासां च पथात्कनकप्रभाणां
कालीकपालाभरणा चकासे' (कुमार ७।१९) इत्यनेन सामिसंयनिर्देशेन काली
दक्षिणा, तस्या दास इति पञ्चगौडाभिधानसमाच्छायां नामापि लक्ष्यानुसारेण
सिद्ध्यतीति दिक् ॥ अथ शृङ्गारप्रधानेषु अभिज्ञानशाकुन्तल-विक्रमोर्वशीय-मालवि-
कामिमित्रेषु त्रिषु नाटकेषु प्रथमं द्वितीयं चातीव प्रशस्तम्, तत एवैतयो रघुवं-
शादिवद् ध्वनिग्रन्थादौ श्लोका उदाहृताः । मालविकाग्निमित्रस्य तु दर्पणादावेव
कतिपये । अपि च—'प्रथितयससां चार्चक-सौमिल्ल-कविपुत्रादीनां प्रव-
न्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य कृतौ किंकृतो बहुमानः' इति तदीयले-
खादपि भावकेन धर्मे लिप्सया श्रीहर्षेनात्रा प्रणीतानां नागानन्द-रत्नावली-प्रिय-
दर्शिकानामपेक्षया तदवतरत्वं प्रेक्षकाणां पुरस्तादस्त्येव तावत् । एतेन मालविका-
ग्निमित्रस्य अभिज्ञानशाकुन्तलापेक्षया भिन्नः कर्तेति जातितिरोहितम् । किंच,
'काव्यप्रथमं सुमतिरुद्ध रघुवंशपूर्वम्' इति ज्योतिर्विदाभरणभागोपि पूर्वोद्दिष्टरघु-
वंशादित्रितयमेककर्तृतया प्रतिजानीते । एवं च राजशेखरावधि विशेषमाहिकया
त्रिविकापि कालिदासत्रयी तदुत्तरं संशयसागरे निमग्ना नोपेक्ष्या प्रेक्षावद्भिः,
तथा ऋतुसंहार-नलोदयादिप्रबन्धा अपि कालिदासं संभावयन्तो न विस्म-
र्तव्याः । तथैव—

१. रामनिरिः अमरकण्टकासन्नः सिध्यति, चित्रकूटेति मलिकानाथव्याख्यानं तु
भूगोलविद्याविरुद्धम् । दक्षिणावर्तनाथस्तु रामनामा पर्वत इति सम्यगेव व्याख्येयः ।

२. दिङ्मागानामित्यनेन दिङ्मागाचार्यविषयकार्यान्तरप्रकाशनं तु सादृश्यभ्रम-
मूलकम् ।

३. वक्रत्वं भूगोलविषया विज्ञायते ।

४. आसन्नमृतपूर्वत्वे एवंप्रायाः कविकुलालापा अन्यत्रापि दृश्यन्ते ।

५. अत्र द्रष्टव्यं तारानाथतर्कवाचस्पतिभट्टाचार्याणां व्याख्यानम् ।

६. 'श्रीहर्षादर्भावकादीनामिव धनम्' इति काव्यप्रकाशव्याख्यासु प्रसिद्धमेतत् ।

७. यावत् रामकृष्णमुखोपाध्यायः (एम्. ए. बी. एल्.) महाशयोऽपि बहुमायोपनि-
वन्धे 'नानाप्रबन्ध' इति प्रबन्धे स्वमतमेवं प्रादर्शयत्—मालविकाग्निमित्रकारः कालि-
दासो रघुवंशादिकाराद् भिन्न एव । अस्य नाटकस्य रचनायाः कविस्वस्य च निदानम्-
पकृष्टत्वाद । मोक्षराजसमागमो यः कविदेकः कालिदासो विज्ञायते स एव मालविका-
ग्निमित्रकार इत्यादि ।

‘धन्वेन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहशङ्कु-
वेतालमट्ट-घटखर्पर-कालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नच विक्रमस्य ॥’

इत्येवमादिश्लोकाः परीक्षापेक्षाः । अत्रेयं भ्रान्तिदिक्—वराहमिहिरो हि—
‘सप्ताश्विदेवसंख्यं शककाल-(४२७)’ इति स्वसययं निर्दिदेश । तेन घट्टनां
समयो व्यभिचरितो द्रष्टव्यः । कालरत्नानादरेण—

‘भासो रामिल-सोमिलौ चररुचिः श्रीसाहसाङ्कः कवि-
मार्घो भारवि-कालिदास-तरलाः रुक्म्यः सुवन्धुश्च यः ।
दण्डी वाणदियाकरौ गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः
सिद्धा यस्य सरस्वती भगवती के तस्य सर्वेऽप्यमी ॥’

इत्येवमादिश्लोका अदुष्टा इत्यलम् ।

दण्डी ।

अयमाचार्यदण्डी कविः कुत्र कदा बभूवेति विज्ञानं दुःशकम् । दण्डीति नाम्ना
चतुर्याधमिणमेनं मन्यन्ते कतिपये । कतिपये पुनः काव्यादर्शे वैदर्भीरितेभ्यः
प्रशंसनाद् निदर्भजनपदस्यं दाक्षिणात्यं कीर्तयन्ते । अय—

‘त्रयोऽग्नयस्त्रयो घेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः ।
अयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥’

इति सुभाषितद्वाराबलीभूत—राजशेखरमहाकविश्लोकादण्डिनो ग्रन्थनयकर्तृत्वं
सुप्रतीतम् । तत्र काव्यादर्श-दशकुमारचरिते तावदतिरोहिते । तृतीयो ग्रन्थः
क इति श्वेयणायाम्—‘छन्दोविचित्रा सकलस्तरप्रबो निरूपित’ इति काव्यादर्शेन,
‘छन्दोविचितिरिव मालिनीसनाया’ इति सौवन्धवीयवास्तववृत्ताष्टयेण ‘छन्दो-
विचितिप्रत्यविशेषः’ इति त्रिषाष्टिशिष्यरामप्रणीतया तक्षक्या च छन्दोविचिति-
रेवेति । केचित्पुनश्छन्दोविचितिशब्दं यौगिकं मन्यन्ते । तथाच विचितिः प्रस्तार इति
कलति । अन्ये तु तृतीयं ग्रन्थं कलापरिच्छेदं कलयन्ते । मल्लिकामासतनिर्माता
तु उदण्डो न तु दण्डीति । दण्डिनः समयस्तु प्रवरसेनादधस्ताद् दद्रुटादूर्ध्वं
समवति ॥

धनिकः ।

अयं विष्णुतनूजन्मा दशरूपस्यालोककर्ता, दशरूपकं तु विष्णुतनूजन्मना धन-
जयेन कृतम्, एतौ विष्णुतनूजत्वाद् भ्रातरौ । धनजयः—

१. ज्योतिर्विश्वामरणादी.

२. भात इति श्लोकः शार्ङ्गधरपद्धतौ । शार्ङ्गधरस्य पितामहो रायवदेवो हम्मीर-
चाराङ्गः (चौहान)स्य सभायामवर्तत । हम्मीर-वीरख १२९५ सिंहान्दे खगं-

‘विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः ॥
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥’

इत्यनेनात्मानं चाकपतिराजदेवापरनाम्नो मुञ्जमूञ्जः सभायामाख्यत् । ॥ च
मुञ्जः ९९४ ख्रिस्तान्दे आसीदिति मुभापितरन्नसंदोहतो ज्ञायते । अयमेव कालो
धनिकस्यापि भवितुं युक्तः । धनिकेन काव्यनिर्णयोऽपि निरमायीति दशरूपालो-
कतो व्यक्तम् ॥

नखकुट्टः ।

कोऽयं कश्चेतन्निर्मितो निबन्ध इति नाद्यावधि ज्ञायते । एतन्मर्तं तु दर्पणस्य
पृष्ठपरिच्छेदे ‘नेपथ्योक्तं श्रुतं तत्र’ इत्याद्युक्तम् ॥

पुरुषोत्तमः ।

द्वौ पुरुषोत्तमौ ज्ञायते । एकस्त्रिकाण्डशेषकर्ता, अन्यो विष्णुभक्तिकल्पल-
तारचयिता । तत्राद्यस्य त्रिकाण्डशेषसमाप्तौ पुरुषोत्तमदेव इति नाम, द्वितीयस्य ॥
पुरुषोत्तम इति । परमाद्यस्यापि पद्यरचनायां पुरुषोत्तम इत्येव नामधेयं दृश्यते ।
तथाहि त्रिकाण्डशेषप्रारम्भे ‘अयं प्रयत्नः पुरुषोत्तमस्य’ इति । हारावलीप्रारम्भे
‘हारावली विरचिता पुरुषोत्तमेन’ इति च । अतो द्वयोरैकता संभवति । यद्ययमेव
दर्पणस्य नवमपरिच्छेदे ‘पुरुषोत्तमस्त्वाह’ इत्यादिना स्मृतस्तर्हि दर्पणकारादप्राक्
त्रिस्तान्दस्य दशमशतकपर्यन्तं पुरुषोत्तमसत्तां कल्पयतामिति हासिकानामुक्तयो
विभावनीयाः ॥

भरतः ।

एतदुपज्ञमेव नाट्यशास्त्रं लोके प्रतिदम् । एतस्य द्विपुस्तकं त्रुटिविकलमेवा-
स्मानिर्दृष्टम् । एकमादिभरतसंज्ञकमपि नाट्यशास्त्रमभिज्ञानशाकुन्तलार्थद्योत-
निकातो ज्ञायते । तत्र भरत, आदि-भरत इति द्वेधा लेखो बहुनावलोक्यते ।
भरतस्य आदिभरत उपजीव्यो भवेत् । अनेकत्र आदिभरतवाक्यानि भरतवाक्य-
समानाकाराण्यपि परीक्षितानि । भरतप्रणीतस्य नाट्यशास्त्रस्यैवोपरि अभिनय-
भारतीति समाख्या व्याख्या अभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितेति ॥

भर्तृहरिः ।

भर्तृहरिः, हरिः—इत्युभयाकार नाम दृश्यते । तत्र भाष्यप्रदीप (कव्यट)
शब्दकोष्ठभर्तृयाकरणभूषणमञ्जूपादिषु हरिरित्येव नाम स्मर्यते, भर्तृहरिरिति तु
प्रमादपतितं संभाव्यते, इति केचित् । तदन्ये न मन्यन्ते । इत्यलिखितवाक्य-
पदीयपुस्तकेष्वपि प्रतिष्ठाण्डं भर्तृहरिरिति लेखदर्शनात्, पूर्वग्रन्थेष्वपि कापि
तथैव दर्शनात्, ‘तथापि हरिबद्धेन—’ इत्येवमादिशेषानु लक्षणवदृष्टा इत्याशया-
कलनाच्च । तत्रमपता भर्तृहरिणा काण्डप्रयात्मके वाक्यपदीयं नीत्यादिशतकप्रयं
च विरचितमिति तावत्प्रतिदम् । वाक्यपदीयं नाम वाक्यपदे अधिष्ठित कृतो
ग्रन्थः । ‘शिष्टग्रन्थ—’ (४११८८) इत्यादिना छ. । यस्य हेलाराजपुत्रराजौ

‘धन्वंन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहशङ्कुः—

वेतालभट्ट-घटखर्पर-कालिदासाः ।

ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि च वररचिर्नव विक्रमस्य ॥’

इत्येवमादिश्लोकाः परीक्षापेक्षाः । अत्रेयं भ्रान्तिदिक्—वराहमिहिरो हि—
‘सताश्विवेदसूत्रं शककाल-(४२७)’ इति स्वघमयं निर्दिदेश । तेन बहूनां
समयो व्यभिचरितो द्रष्टव्यः । कालस्लनानादरे-तु—

‘भासो रामिल-सोमिलौ वररचिः श्रीसाहसाङ्कः कवि-

मार्धो भारवि-कालिदास-तरलाः स्कन्धः सुवन्धुश्च यः ।

दण्डी घाणदिवाकरौ गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः

सिद्धा यस्य सरस्वती भगवती के तस्य सर्वेऽप्यमी ॥’

इत्येवमादिश्लोका बहुधा इत्यलम् ।

दण्डी ।

अयमाचार्यदण्डी कविः कुत्र कदा यभूवेति विज्ञानं दुःशकम् । दण्डीति नाम्ना
चतुर्थाध्रमिणमेनं मन्यन्ते कतिपये । कतिपये पुनः काव्यादर्शे वैदर्भीरितेभ्यः
प्रशसनाद् विदर्भजनपदस्थं दाक्षिणात्यं कीर्तयन्ते । अथ—

‘त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो वेदास्त्रयो गुणाः ।

त्रयो दण्डिप्रयन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥’

इति सुभाषितहारावलीभूत-राजशेखरमहाकविश्लोकादण्डिनो ग्रन्थत्रयकर्तृत्वं
सुप्रतीतम् । तत्र काव्यादर्श-दशकुमारचरिते तावदतिरोहिते । तृतीयो ग्रन्थः
क इति गवेषणायाम्—‘छन्दोविचित्रा सकलस्तत्प्रथो निरूपित’ इति काव्यादर्शेन,
‘छन्दोविचितिरिव मालिनीसनाया’ इति सौबन्धवीर्यचासवदत्ताश्लेषेण ‘छन्दो-
विचितिग्रन्थविशेषः’ इति त्रिपाठिशिवरामप्रणीतया तटीत्या च छन्दोविचिति-
रेवेति । केचित्पुनश्छन्दोविचितिशब्दं यौगिकं मन्यन्ते । तथाच विचितिः प्रत्यार इति
फलति । अन्ये तु तृतीयं ग्रन्थं कलापरिच्छेदं कलयन्ते । मल्लिकामारुतनिर्माता
तु उदण्डो न तु दण्डीति । दण्डिनः समयस्तु प्रवरसेनादयस्ताद् यद्गटादर्थं
च्यवन्ति ५

धनिकः ।

अयं विष्णुतनूजन्मा दशरूपस्यालोककर्ता, दशरूपकं तु विष्णुतनूजन्मना धन-
जयेन कृतम्, एतौ विष्णुतनूजत्वाद् भ्रातरौ । धनजयः—

१. ज्योतिर्विदामरणादौ.

२. भास इति श्लोकः शार्ङ्गधरपद्धतौ । शार्ङ्गधरस्य पितामहो राघवदेवो हम्मीर-
चाहमान (चौहान)स्य समायामयवत् । हम्मीर-वीरस्य १२९५ खिलान्दे स्वर्ग-
निधिरभूत् ।

‘विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः ॥
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥’

इत्यनेनात्मानं वाक्पतिराजदेवापरनाम्नो मुञ्जमूञ्जः सभायामाख्यत् । स च मुञ्जः १९४ सिस्ताब्दे आसीदिति सुभाषितरत्नसंदोहतो ज्ञायते । अयमेव कालो धनिकस्यापि भवितुं युक्तः । धनिकेन काव्यनिर्णयोऽपि निरमायीति दशरूपालोक्तो व्यक्तम् ॥

नखकुट्टः ।

कोऽयं कश्चेतन्निर्मितो निबन्ध इति नाद्यावधि ज्ञायते । एतन्मतं तु दर्पणस्य पष्ठपरिच्छेदे ‘नेपथ्योक्तं श्रुतं तत्र’ इत्याद्युक्तम् ॥

पुरुषोत्तमः ।

द्वौ पुरुषोत्तमौ ज्ञायते । एकस्त्रिकाण्डशेषकर्ता, अन्यो विष्णुभक्तिकल्पलतारचयिता । तत्रायस्य त्रिकाण्डशेषसमाप्तौ पुरुषोत्तमदेव इति नाम, द्वितीयस्य ॥ पुरुषोत्तम इति । परमाद्यस्यापि पञ्चरचनाया पुरुषोत्तम इत्येव नामधेयं दृश्यते । तथाहि त्रिकाण्डशेषप्रारम्भे ‘अयं प्रयत्नः पुरुषोत्तमस्य’ इति । हारावलीप्रारम्भे ‘हारावली विरचिता पुरुषोत्तमेन’ इति च । अतो द्वयोरैकता संभवति । यद्ययमेव दर्पणस्य नवमपरिच्छेदे ‘पुरुषोत्तमस्त्वाह’ इत्यादिना स्मृतस्तर्हि दर्पणकारात्प्राक् सिस्ताब्दस्य दशमशतकपर्यन्तं पुरुषोत्तमसत्तां कल्पयतामेतिहासिकानामुक्तयो विभावनीयाः ॥

भरतः ।

एतदुपशमेव नाट्यशास्त्रं लोके प्रसिद्धम् । एतस्य द्विपुस्तकं क्षुद्रविक्रममेवास्माभिर्दृष्टम् । एकमादिभरतसंज्ञकमपि नाट्यशास्त्रमभिज्ञानशाकुन्तलार्णवीतनिकातो ज्ञायते । तत्र भरतः, आदि-भरत इति द्वेधा लेखो बहुप्रावलोक्यते । भरतस्य आदिभरत उपजीव्यो भवेत् । अनेकन आदिभरतवाक्यानि भरतवान्यसमानाकाराण्यपि परीक्षितानि । भरतप्रणीतस्य नाट्यशास्त्रस्यैवोपरि अभिनव-भारतीति समाख्या व्याख्या अभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितेति ॥

मर्तुहरिः ।

मर्तुहरिः, हरिः—इत्युभयाकारे नाम दृश्यते । तत्र भाष्यप्रदीप (कव्यट) शब्दकोशुभवाकारणभूषणमञ्जूषादिषु हरिरित्येव नाम स्मर्यते, मर्तुहरिरिति तु प्रमादपतितं संभाव्यते, इति केचित् । तदन्ये न मन्यन्ते । हस्तलिखितवाक्यपदीयपुस्तकेष्वपि प्रतिकाण्डं मर्तुहरिरिति लेखदर्शनात्, पूर्वग्रन्थेष्वपि कापि तथैव दर्शनात्, ‘तस्यापि हरिवदेन—’ इत्येवमादिलेखानु सापवादश्चा इत्याशया-कलनाय । तत्रमयता मर्तुहरिणा काण्डप्रयात्मकं वाक्यपदीयं नीत्यादिशतकनयं च विरचितमिति सावत्प्रसिद्धम् । वाक्यपदीयं नाम वाक्यपदे अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः । ‘शिशुकन्द—’ (४३१८८) इत्यादिना छः । तस्य हेलाराजपुत्रराजौ

व्याख्यातारौ । तत्र हेलाराजः 'कङ्कणात्प्राचीनः । शतकानि तु' स्वपरपदोपनिषदा-
नीति ग्रन्थान्तरसंवादतोऽवगम्यते । दुष्टत्वीखिन्नमानसेन भर्तृहरिणा राज्यलक्ष्मीम-
यज्ञाय वैराग्यमाश्रितमिति चिराय प्रसिद्धिः । तत्र—“यां चिन्तयामि सततं
मयि सा विरक्ता, सा चान्यमिच्छति जने, स जनोऽन्यरक्तः, । अस्माकृतेऽपि
परितुष्यति काचिदन्या, भिक् तं च, तं च, मदनं च, इमां च, मां च ॥” इत्यपि
तदीयं पद्यं लिङ्गम् । इदं—राज्ञो राश्याम्, राश्याः पुरपाले, पुरपालस्य अन्यत्रानुरक्तिं
गमयतीति किंवदन्ती । अयमेव भर्तृहरिर्हरिहरोपाध्यायविरचितस्य भर्तृहरिनिवेदा-
ख्यनाटकस्य कथानायको विभाव्यते । तत्र राज्ञो मानुमती विशुद्धचरितैव, नतूक-
किंवदन्तीगन्धोऽपि । राज्ञो योगि—गोरक्षतो वीक्षाग्रहणं चेति दिक् ॥

भोजदेवः ।

सरस्वतीकण्ठाभरणादिनानाविधसंदर्भरचयिता कृतिशकुन्तकल्पतरुधारागरी-
नाथो भूपालराजं भोजदेवो विक्रमाकंसंबत् १०७८ आसीत्, तदेतदधो निर्दिष्टात्तस्य
दानपत्राद्यक्षम् ।

• ह्रस्वस्य काव्यालंकारात्परस्मिन् भूमटस्य काव्यप्रकाशात् पूर्वसिन् काले सरस्व-
तीकण्ठाभरणमालंकारिकायां बहूतः कण्ठाभरणमेवाभूत् । तत एवास्य बहवो
विषया उदाहृतयथालंकारमन्येयूद्गता लभ्यन्ते । अस्य च पद्य परिच्छेदाः । तत्र
प्रथमे परिच्छेदे विस्तरतो श्लेषगुणविवेचनम् । द्वितीये बाह्यसंज्ञाः शब्दालंकाराः,
तृतीये आभ्यन्तरसंज्ञा अर्थालंकाराः, चतुर्थे बाह्याभ्यन्तरसंज्ञा उभयालंकारा विवे-
चिताः । पञ्चमे तु प्राचीनरीत्या रसादिदर्शितः । यद्यप्यत्र मौलिकविषयाणाम-
चान्तरमेदा नातिप्रयोजनीयास्तथाप्यनेके पदार्था उदाहरणलोकाश्च साहित्यमाध्य-
कालिकविवेकादर्शभूता अवश्यं पर्यालोचनीयाः ।

एतत् कण्ठाभरणं महाराजश्रीभोजदेवेन अलंकारशास्त्रत्वेन व्यपदिष्टम् । एतस्य
प्रारम्भसमाप्ति—

‘ध्वनिर्वर्णाः पदं यावयमित्यास्पदचतुष्टयम् ।

यस्याः सूक्ष्मादिमेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे ॥’

“यावन्मूर्ध्नि हिमांशुकन्दलभृति सर्वाहिनी धूर्जटे—

यावद्वक्षसि कौस्तुभस्तवकिते लक्ष्मीमुख्येपिणः ।

यावच्चित्तभुवस्त्रिलोकविजयप्रौढं धनुः कौस्तुभं

भूयात्तावदियं कृतिः कृतधियां कर्णावतंसोत्पलम् ॥”

इत्येवमुपश्लोकिते ।

तद्दानपत्रस्यापेक्षिताशोऽयम्—

“.....परममहारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्री-सीयकदेवपादानुध्यातप-

रममहारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीचाकपतिराजदेवपादानुध्यातपरममहारक-

महाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीसिन्धुराजदेवपादानुध्यातपरममहारकमहाराजाधिरा-

जपरमेश्वरश्रीभोजदेवः कुशली नागहृदपथिमपथकान्तःपातिवीराणके समुपगता-
न्समस्तराजपुरुषान्नाह्वाणोत्तरान्प्रतिनिवाशिपट्टकिलजनपदादींश्च समादिशति—अस्तु
वः संविदितम्, यथा अतीताष्टसप्तत्यधिकसाहसिकसंवत्सरे (१०७८) माघासि-
ततृतीयायां रवाबुदगयनपर्वणि कल्पितहलानां लेख्ये श्रीमद्वारायामवस्थितैरस्माभिः
स्नात्वा चराचरगुरुं भगवन्तं भवानीपतिं समभ्यर्च्य संसारस्यासारतां दृष्ट्वा

‘वाताश्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्य-

मापातमात्रमधुरो विषयोपभोगः ।

प्राणास्तृणाग्रजलविन्दुसमा नराणां

धर्मः सखा परमहो परलोक्याने ॥

भ्रमत्संसारचक्राग्रधाराधारांभिमां श्रियम् ।

प्राप्य ये न ददुस्तेषां पश्चात्तापः परं फलम् ॥’

इति जगतो विनश्वरं स्वरूपमाकलय्य उपरिलिखितग्रामः स्वसीमातृणागोचर-
यूतिपर्यन्तः सहिरण्यमागभोगः सोपरिकरः सर्वदायसमेतो ब्राह्मणधनपतिभट्टाय
भट्टगोविन्दमुत्ताय बह्वचाम्बलायनशाखाय त्रिप्रवराय वेङ्गवल्लप्रतिवद्धभीवादाविनि-
र्गतराधसुरसङ्गकर्णाटाय मातापित्रोरात्मनश्च पुण्ययशोविरुद्धये अदृष्टफलमङ्गीकृत्य
आचन्द्रार्काणीवक्षितिकालं यावत्परया भक्त्या शासनेनोदकपूर्वं प्रतिपादित इति मत्वा
यथा दीयमानभोगकरहिरण्यादिफमाज्ञाश्रवणविधेयेभूत्वा सर्वमस्मै समुपनेतव्यम् ।
सामान्यं चैतत्फलं युद्धा अस्मदंशजैरन्वैरपि भाविभोक्तृभिरस्तप्रदत्तधर्मदामोऽय-
मनुमन्तव्यः पालनीयश्च.....

इति कमलदलान्बुधिन्दुलोलां श्रियमनुचिन्त्यं मनुष्यजीवितं च ।

सकलमिदमुदाहृतं च युद्धा नहि पुरुषैः परकीर्तयो विलोप्याः ॥

इति । संवत् १०७८ वैश्वशुदि १४ स्वयमाज्ञामज्ञलं महाधीः । स्वहस्तोऽयं
श्रीभोजदेवस्य ॥

(इष्टियन् अष्टिकेरी ६।५३-५४)

महिमा ।

श्यामलशिष्यः धीधरसूनु राजानकमहिमाचार्यो लोचनकाराद् अभिनवगुप्त-
पादाद् किञ्चिदेवोत्तरस्मिन् अलंकारसर्वसकाराद् रक्ष्यकात् पूर्वस्मिन्, अर्थाद्
तिस्रौकादशशतके कश्मीरेषु बभूव । एतेन महामतिमता दुरवगाहस्य ध्वनिप्रस्था-
नस्य (ध्वन्यालोकस्य) निरासायैव विमर्शत्रयात्मको व्यक्तिविवेको व्यरसि ।
यद्गौरवमाकलयन् कवि-तार्किकचूडामणिः धीधीर्दयः स्वसण्डनसण्डखादस्य
चतुर्थे परिच्छेदे—

‘दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुं कविलोकविलोचने ।

काव्यमीमांसिषु प्राप्तमहिमा महिमाऽऽहृत ॥’

इत्यभ्यधात् । अत्रास्माभिरियदेवोच्यते—यत्प्रौढच्छात्रैरात्मनो विवेकतार्कि-
परो भूमिमारोपयितुमसौ व्यक्तिविवेकोऽवश्यं परिशीलनीयः । तस्मिन्नस्मिन्व्यक्ति-

१. अयम् अनन्तरयनमहामहोपाध्यायश्रीगणपतीशक्तिभिः प्रकाशितः ॥

साहि • भू • ७

विवेके प्रथमविमर्शे शब्दानौचित्यविचारः । अत्र “विधेयाविमर्शः, प्रक्रमनेदः, क्रमनेदः, पौनरुक्त्यं, याच्यावचनम्,” इति पञ्च दोषजातीः पुरस्त्रल महाकवि-
गव्यो बहुधा परीक्षिताः । तृतीयविमर्शे ध्वन्युदाहरणानामनुमानेऽन्तर्भावदर्शन-
मिति । व्यक्तिविवेकस्य—

‘अनुमानेऽन्तर्भावं सधैस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां याचम् ॥’

इत्यारम्भः;

‘अन्यैरनुल्लिखितपूर्वमिदं तुद्याणो
नूतनं स्मृतेर्विपयतां विदुषामुपेयाम् ।
ह्यसैककारणगवेपण्या नवार्थ-
तत्त्वाधमर्शपरितोपसमीक्षया वा ॥’

इति समाप्तिः ।

मम्मटः ।

‘काव्यप्रकाशकर्ता राजानकसंज्ञादाणकुलोत्पन्नो मम्मटाचार्यः कदमीरेषु
यभूष । अयमेव चिराय रुढान् गण्डिकाप्रवाहेण विततान् दोषगुणरीत्यलंकारान्
सक्षिप्य यथाशास्त्रं परिष्कृत्य च खोन्मीलिते काव्यप्रकाशे प्रथमं दर्शितवान्;
अचिरात्प्रवृत्तान् ध्वनिविषयान् यथायथं संकलप्य परिसंख्याय च यथावसरे
समासव्यासाभ्यां विन्यस्तवान्; पाठ्यदृष्ट्या कारिकासंहन्धान् प्रमेयान् दृष्ट्या
मनाग्न व्याकृतवान् । एवं यथा शब्दार्थपरिशुद्धये सूत्रद्वयुदाहरणैर्वैयाकरणसिद्धा-
न्तकौमुदी विमज्ज्यते, तथैवैव काव्यप्रकाशः शब्दार्थगुम्फपरिष्कृतये । स एव परि-
करालंकारपर्यन्तो मम्मटेन तत उच्यते । किञ्चिद् अल्लुटेन (अलकेन) कृत
इत्येतदीकायां निदर्शनाख्यामामुक्तम्—

‘कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः ।

प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायाल्लुटसूरिणा ॥’

‘एतद्वृत्तं काव्यप्रकाशस्य ‘इत्येष मार्गो विदुषां—’ इत्यन्तिमश्लोकव्याख्यामतोऽपि
निवेद्यते । एतस्य टीकास्तत्कार्थम्—

‘(१) संकेतः ... जैनमाणिक्यचन्द्राचार्यैः कृतः ।

‘(२) बालचित्तानुराजिनी ... सरस्वतीतीर्थैः कृता ।

(३) दीपिका ... जयन्तभट्टैः कृता ।

(४) आदर्शः (संकेतः) ... सोमेश्वरभट्टैः कृतः ।

(५) दर्पणः ... विश्वनाथकविराजैः कृतः ।

‘(६) विस्तारिका ... परमानन्द-चक्रवर्ति-भट्टाचार्यैः कृता ।

‘(७) निदर्शनम् (सारसमुच्चयः) ... राजानकानन्दकविभिः कृतम् ।

(८) सारसोधिनी ... श्रीवत्सलानन्दभट्टाचार्यैः कृता ।

- (९) आदर्शः महेश्वरभट्टाचार्यः कृतः ।
 (१०) काव्यप्रकाशटीका कमलकरभट्टः कृता ।
 (११) नरसिंहमनीषा नरसिंहठकुरः कृता ।
 (१२) सुधासागरः भीमसेनदीक्षितैः कृतः ।
 (१३) बालबोधिनी भट्टवामनाचार्यः कृता ।

एवमादयो ग्रन्थत उपलब्धाः, श्रीधर-चण्डीदास-भास्करप्रभृतिरचिता नामत उपज्ञाताः संहस्य पञ्चाशदासन्नाः काव्यप्रकाशस्य टीकाः । काव्यप्रकाशस्य कारिकाः प्राय उदाहृतीश्व मूलकृत्य प्रवर्तमानो महामहोपाध्यायगोविन्दविरचितः काव्यप्रदीपस्तु प्रथितटीकासरणिविलक्षणः प्रौढतरश्च । अत एवास्य प्रभाष्या व्याख्या कुवलयानन्दटीकाकारैर्वैद्यनाथभट्टैः, उद्घोताख्या तु मञ्जूपादिसंदर्भ-रत्नकारैर्नागोजीभट्टैरकारि । एवं काव्यप्रकाशस्य केवलं कारिका मूलकृत्य विद्या-भूषणेव रचिता साहित्यकौमुदी । अस्याः कृष्णानन्दिनीव्याख्येयलम् ।

अत्र संकेतः 'रसध्वजप्रहाधीशवत्सरे मासि माधवे' इति खलेखाद् (१२१६) विक्रमाब्दे निर्मितः । बालचित्तानुरजिनीकारः 'सवसुप्रहहस्तेन प्रहणा समलंकृते । काले-' इत्यादिखलेखाद् (१२९८) वत्सरे जन्म लेभे । काश्यां संन्यस्तः सर-स्वतीतीर्थसंज्ञां गतो बालचित्तानुरजिनी चक्रे । वीपिकानिर्माणकालः 'संवत् (१३५०) वर्षे ज्येष्ठवदि ३ रवौ-' इत्येवं जयन्तभट्टेनैव दर्शितः । एवं सोमे-श्वरभट्टप्रभृतयोऽपि यद्योत्तरं नवीना इति सांप्रतिकभट्टवामनाचार्यस्य बालबोधि-नीभूमिकातो व्यक्तम् । काव्यप्रदीपकारो गोविन्दपण्डितस्तु कमलाकरभट्टात् किंचि-देव प्राक्तनः, यस्मात्प्रदीपस्य चर्चा कमलाकरग्रन्थात्प्राग्भवे नास्ति । कमलाकर-स्थितिकालस्तु तरकृतनिर्णयसिन्धुतः (१६६८) विक्रमाब्दः । प्रदीपप्रभाकारो वैद्यनाथभट्टस्तु स्वनिर्मितोदाहरणचन्द्रिकान्ते (१७४०) इति विक्रमाब्दं व्यलिख-देव । प्रदीपोद्घोतकारो नागोजीभट्टो (नागेशभट्टः) अपि वैद्यनाथासन्नकालिकः । यदैव महात्मा काशीमधितिष्ठन् जयपुरनिर्माणकारिणा महाराजजयसिंहदेवेन अश्वमेधाध्वरे समाहूतो नागतवानिति जयपुरीयब्रह्मपुरीमाहाणयुद्धेषु प्रसिद्धम् । सोऽयमश्वमेधः (१७७०) विक्रमवत्सरेऽभूत् । अस्मिन्धमये सुधासागरनिर्माता भीमसेनदीक्षितोऽप्यासीत् । यद्यं (१७७९) इति संवत् प्रादर्शयत् ।

अथ यद्यपि काव्यप्रकाशकर्तुर्मम्मटस्य कालो न प्राप्यते तथाप्येवं सुदृढमनुमी-यते—प्रकाशकर्ता हि प्रकाशस्य चतुर्योन्नाये रसविचारे 'श्रीमदाचार्याभिनवगुप्त-पादः' इत्येवं सत्पापमभिनवगुप्तमेव स्मरति; पदेपदे ध्वनिविषयानाकलयन् अपि आनन्दवर्धनाचार्यस्य नाम न गृहीते, केवलं ध्वनिकार इत्येतावदेवाचष्टे; लोह-टादिनाम गृहानोऽपि न तादृशमादरं दर्शयते । इत्येवं मम्मटोऽभिनवगुप्तस्यातिनि-कटवर्ती कश्चित्प्रतिभाति । यद् अभिनवगुप्तस्य महाभाहेश्वराचार्यत्वं पदत्रिशस्रव-प्रतिपादकप्रत्यभिज्ञादर्शनाकृतत्वं काश्मीरिक्तत्वं च नानाग्रन्थेभ्यो व्यक्तम् । मम्म-

टस्य काश्मीरिक्तत्वमवितरां प्रसिद्धम् । इतश्च काश्मीरिक आनन्दकविर्निर्दर्शना-
रम्भे—“...श्रिवाशमप्रसिद्धपद्मिनिशतत्त्वदीक्षाक्षपितमलपटलः प्रकटितसत्स्वरूप-
धिदानन्दधनो राजानककुलतिलको मम्मटनामा देशिकवरः...” इति निर्दिशति ।
अभिनवगुप्तस्य समयस्तद्वेधात् (१०७१) इति संवत् सिध्यति । काव्यप्रकाशस्य
संकेताख्यटीकासमयः (१२१६) इति संवत् पूर्वमुक्तः । (१२१६-१०७१ =
१४५ इति समयान्तरम् । एतेन आचार्यमम्मटविषयेऽस्य अनुमानं साधूपपद्यत
इति परीक्षणीयम् ॥

रुद्रटः ।

अयं काव्यालंकारप्रणेता महाकविर्घाणपतेर्मौजदेवात्प्राचीनः । यतः—

‘किं गौरि मां प्रति रुपा ननु गौरहं किं
कुप्यामि कां प्रति मयीत्यनुमानतोऽहम् ।
जानाम्यतस्त्वमनुमानत एव सत्य-
मित्यं गिरो गिरिभुजः कुटिला जयन्ति ॥’

इति काव्यालंकारपर्यं सरस्वतीकण्ठामरणे द्वितीयपरिच्छेदे उदाहृतम् । रुद्रटस्य
नामान्तरं शतानन्दः, जनको घामकभट्टः, वेदः सामेति सर्वं तत्कृतैः रेङ्ग-
मुचलचापमाणशूलशफिहलबन्धनभित्तरिभ्यः खोकेर्यदष्टारं महाचक्रमुत्पद्यते
तन्निर्गतात्—

‘शतानन्दापराख्येन भट्टघामकसूनुना ।
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमतां हितम् ॥’

१ बन्धसृष्टिरतभूतस्य बन्धमाणस्य चक्रबन्धस्य स्वरूपख्याले दर्पणीयबन्धप्रकरण-
ज्जूनतापूर्वै च खडादिबन्धश्लोकाः प्रदर्शयन्ते । तत्र—

खड्गबन्धो यथा—

मारारिशफरामेभमुखैरासाररंहसा ।
सारारब्धसत्वा नित्यं तदतिहरणक्षमा ॥ १ ॥
माता नतानां संघट्टः श्रिया बाधितसंभ्रमा ।
मान्याय सीमा रामाणां शं मे दिश्यादुमादिजा ॥ २ ॥

मुसलबन्धो यथा—

मायाविनं महाहावा रसायातं लसद्भुजा ।
जातलीला यथासारवाचं महिषमावधीः ॥ ३ ॥

चापबन्धो यथा—

मामभीदा शरण्या मुसुदैवास्तप्रदा च घीः ।
घीरा पवित्रा संत्रासात्रासीष्ट मातरारम ॥ ४ ॥

वाणबन्धो यथा—

माननापरपं श्लोकदेवीं सद्गस सन्नम ।
मनसा सादरं गत्वा सर्वदा दास्यमङ्गताम् ॥ ५ ॥

इति श्लोकाज्जायते । शिशुपालवधादिविलक्षणोऽयं बन्धः काव्यं विनयति ।
शृङ्गारतिलककर्ता रुद्र इति ननु रुद्रटः । उक्तं च तिलकान्ते रुद्रेण—‘शृङ्गा-
रतिलकविधिना पुनरपि रुद्रः प्रसादयति’ इति ।

वक्रोक्तिजीवितकारः ।

वक्रोक्तिजीवितं नाम अलङ्कारसंदर्भः । यस्य रचयिता आचार्यकुन्तकः ।
अस्यैव—

‘संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः

सर्वस्यैव स जातिमात्रनियतो हेवाकलेशः किल ।

इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटावन्धेऽप्यसंरन्धवा-

न्योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरस्तिशयं यात्वभ्यिकाकेसरी ॥’

इति पद्यं व्यक्तिविवेके द्वितीयविमर्शे महिम्ना अनेकधा दूषयित्वा पर्यन्ते—

‘काव्यकाञ्चनकपाभिमानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि ।

यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एव स निदर्शितो मया ॥’

इत्युक्तम् । राजानककुन्तकेन वक्रोक्तिजीवितस्य खोपशृङ्गतेः प्रारम्भे—

‘जगन्नितयवैचित्र्यचित्रकर्मविधायिनम् ।

शिवं शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपरुरणं नुमः ॥

यथातत्त्वं विवेच्यन्ते भावास्त्रैलोक्यवर्तिनः ।

यदि तस्माद्भुतं न स्यादेव रक्ता हि किंशुफाः ॥

स्वमनीषिकयथाथ तत्त्वं तेषां यथारुचि ।

स्थाप्यते प्रौढिमात्रं तत्परमार्थो न तददृशः ॥’

इत्याद्यभिहितम् । तदानीं वक्रोक्तिजीवित-दर्पण-व्यक्तिविवेकप्रमुखाः कतिपये
कविकर्मपरीक्षकाः प्रौढप्रबन्धाः जज्ञिरे ॥

वाचस्पतिमिश्रः ।

सर्वतन्त्रस्ततश्चधिपणोऽयम् उद्द्योतकाराद् अधस्तनः उद्ययनाद् ऊर्ध्व-

शूलबन्धो यथा—

मानुषो राजस स्मार्त्तलोककूटेशदेवताम् ।

तां शिवावाशितां सिद्धाध्यासितां हि स्तुतां स्तुहि ॥ ६ ॥

शक्तिबन्धो यथा—

माहिषाख्ये रणेऽन्यान् सानु नानेयमत्र हि ।

हिमातङ्गादिवासुं च कं कम्पिनमुपश्रुतम् ॥ ७ ॥

हलबन्धो यथा—

मातङ्गान्नविधिनामुना पादं तमुद्यतम् ।

तद्वयित्वा शिरस्यस्य निपात्याहन्ति रंहसा ॥ ८ ॥

एतैः उदाहरितमभिर्वैरहमो महाचक्रबन्धो निष्पद्यते । एतेषां चित्राणि ग्रन्थान्ते
द्रष्टव्यानि ।

सनः यस्माद्वाचस्पतिना उद्योतकारकृतस्य न्यायभाष्यवार्तिकस्योपरि न्यायवार्तिक-
तात्पर्यमकारि, उदयनेन तु तदुपरि न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिरकारीति । पिशा-
चाचस्पतिना वाचस्पतिना खप्रणीतग्रन्था 'ब्रह्मसूत्रशारीरकभाष्यस्य भामल्यन्ते
निर्दिष्टाः—

‘यध्यायकणिकातत्त्वसमीक्षातत्त्वविन्दुभिः ।
यध्यायसांख्ययोगानां वेदान्तानां नियन्धनैः ॥
समचैपं महत्पुण्यं तत्फलं पुष्कलं मया ।
समर्पितमथैतेन प्रीयतां परमेश्वरः ॥’

खण्डनोद्धारकृद् वाचस्पतिमिधस्त्वस्माद्विज्ञो नवीनश्च । खण्डनोद्धारः श्रीह-
र्षप्रणीतं खण्डनखण्डखाद्यं - लक्ष्यीकृत्य कृतो वाचस्पतिना । श्रीहर्षस्तु उदयनादध-
स्तनः । यस्माद् उदयनाचार्यकृतस्य न्यायकुसुमाग्रहेः—

‘शङ्का चेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्ताराम् ।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः ॥’

इति कारिकैव श्रीहर्षेण खण्डनखण्डखाद्ये—

‘तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न खलु दुष्पठा ।
त्वद्वाथैवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि ॥
व्याघातो यदि शङ्कास्ति न चेच्छङ्का ततस्ताराम् ।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिः कुतः ॥’

इत्येवं कटाक्षिता । सोऽयं तत्त्वचिन्तामणिकाराद् गङ्गेश्वरादप्यधस्तनो यस्मा-
त्खण्डनखण्डखाद्ये—

‘धीधना याधनायास्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छथ ।
क्षेमं चिन्तामणिं पाणिलब्धमग्नौ यदीच्छथ ॥’

इति पठ्यते । सोऽयं श्रीहर्षः खण्डनखण्डखाद्ये नैषधीयचरिते चात्मानं कान्यकु-
ब्जेश्वरधर्मायामवर्णयत् । तदा कालकलनया महोदयापरनामः कान्यकुब्ज-
नगरस्य कान्यकुब्जदेशस्य वा विद्वाद्दिङ्गमावासकल्पपादपायितेज्जधिपतिषु महा-
राजो विजयचन्द्रस्तरसूनुर्जयचन्द्रो वा संभवति । यस्मात्तत्प्रमयस्तदीयदानप-
द्मात् पद्मविशालधिकद्वादशशतसंवत्सरः १२२५ (इण्डियन आण्टिकेरी १५—
७८८) । नैषधीयचरितस्य पद्मसर्गान्ते कीर्तिता विजयप्रशस्तिः कदाचित्कान्य-

१. उद्योतकारेण दिङ्नाममतखण्डनार्थं वार्तिकं व्यरुचिः । अथमेव दिङ्नामो दिङ्नाम-
नामिति मेघन्याख्याने गृहीतकारैः कालिदासविपश्चत्वेनोपेक्षितः ।

२. एतदतिरिक्तग्रन्था नैषधीयचरितस्य सर्गान्तश्लोकतोषेयाः । तत्र सैर्धविचारण-
प्रकरणम्, शिवशक्तिसिद्धिः, ईश्वरामिसिद्धिः, खण्डनखण्डखाद्यम्, इति शाल्मीया
निबन्धाः । अन्तिमचनीयुगसर्वस्वे खण्डने न केवलं तदानीमुपलभ्यमान-परवाद-खण्ड-
नमात्रम्, अपितु—‘तत्त्वज्ञोद्धारदीर्घं च योजनं विषयान्तरे । शङ्कया तस्य शोभे च
त्रिधा भ्रमति मत्किंवा ॥’ इति सचाराधर्मप्युपदिष्टम् ।

कुब्जेश्वरस्य विजयचन्द्रस्यैव भवेत् । श्रीहर्षस्य पिता हीरः (हीरा) माता मामल्ल-
देवी (मामला) देशो जातिश्च कान्यकुब्जः (कनवजिया) । एतद्वंश्याः कति-
पयेऽधुना वंशेषु निवसन्तः स्वस्याभिजनं कान्यकुब्जं, स्वपूर्वपुरुषं श्रीहर्षं च कथ-
यन्तीति सुप्रसिद्धम् ॥

वामनः ।

अथ सत्त्विकाणां काव्यालंकारसूत्राणां कर्ता लिखान्दसप्तमशतकोत्तरार्धाब्धो-
प्येतनः । यतोऽसौ भवभूतिकृतस्य महावीरचरितस्य 'दोर्दण्डार्थितचन्द्रशेखर-
धनुः—' इति पद्यमुदाजहार । भवभूतिस्तु लिखान्दस्य सप्तमशतकोत्तरार्धे यशो-
वर्मणः सभायामासीत् (भू. ५९ पृ.) । अथ ध्वन्यालोकलोचने 'अनुरागवती
संध्या—' इत्युदाहरणविचारावसरे 'वामनामिप्रायेणायमाक्षेपः—' इत्याचार्याभि-
नवगुप्तपादोक्त्या आनन्दवर्धनाचार्याभाषस्तनः (भू. ६६ पृ.) ।

कतिपये पुनः—

‘मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः संधिमांस्तथा ।

वभूवुः कचयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः ॥’

इति राजतरङ्गिणीवलेन (४१४९७) एनं कश्मीराधिपतेर्जयापीडस्यामाल्यं शं-
सन्ति । वामनस्य काव्यालंकारनिबन्धोऽध्ययनार्हः, तत्रापि शब्दशुद्धिमुक्तैः
पञ्चममधिकरणं त्ववश्याप्येतव्यम् ॥

इत्थेवं दर्पणे प्रतिनिम्बितानां मुष्टिप्राहं मामको प्रहो यद्यपि प्रयासावहस्त-
थापि परिवयायालमिति शिवम् ॥

भवति चात्रानुपगच्छी सप्तश्लोकी—

शिक्षाविभागाधिपतौ गङ्गोलीकुलदीपके ।

विद्याप्रिये राजमाने श्रीसंजीवनधीमति ॥

तत्तद्गन्थावगाहेन शिलालेखादिकेन च ।

परीक्षितप्रमेयासौ श्रुतार्था भूमिका कृता ॥ (युग्मम्)

एतया दर्शितपथः प्राक्तने वर्त्मनि यजन् ।

न व्याप्तिभूयते कापि प्राप्ते विज्ञानकञ्जुकः ॥

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्पलघपि ।

सर्वोरम्मो हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृतः ॥

१. श्रीहर्षः कान्यकुब्ज इति प्रसिद्धमेव, सत्र निमपदमप्यनुप्रासकम् । तथाच
प्रायोजि वेदान्तपद्यदरीकारे—‘निरुक्तावयिमान ये दपते ताकिकादयः । हर्षमिमादि-
भित्ते तु खण्डनादौ सुशिक्षिताः ॥’ इति ।

२. मीमांसाशेकवार्तिकम्.

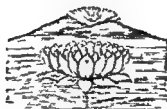
३. भगवद्गीता.

तातपादो राममञ्जो वापुदेव इति त्रयी ।
 वेतेय सूर्यतां चेतो यथा शास्त्रावगाद्यभूः ॥
 गुणदोषानुपेक्षेण या प्रीतिः किं तयाधुना ।
 ईशानः सर्वविधानां स मे स्वामी प्रसीदतु ॥
 स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
 स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥

जयपुरराजधानी
 वैक्रमाब्दा. १९७७

}

इत्याशास्त्रे
 श्रीदुर्गाप्रसादद्विवेदः ।



साहित्यदर्पणे विशेषतोऽवलोकनार्ह विषयाः ।



प्रथमे परिच्छेदे—काव्यफलनिरूपणं वस्तुतो दर्शनार्हम् (३-६ पृ.) । काव्यस्वरूपनिर्वचनावसरे सर्वाणि प्रमाणवचनानि दर्शनार्हाणि (६-२० पृ.) तत्र 'तददोषैः' इत्यादिकाव्यप्रकाशकारोक्तकाव्यस्वरूपस्य खण्डनग्रन्थगताटिप्पण्यो दर्शनार्हाः ॥

द्वितीये परिच्छेदे—अभिधा संकेत (३३ पृ.) पदगता टिप्पणी दर्शनार्हा । इतरग्रन्थविशिष्टं लक्षणाभेदानां निरूपणं वस्तुतो नैयायिकानामपि दर्शनार्हम् (३७-५६ पृ.) । यद्यप्यत्र कतिपये भेदास्तत्र तत्र महाकाव्येष्वनवकाशतया मन्दप्रयोजनास्तथापि लक्षणाभेदव्युत्पादनाय लावश्यक एव ॥

तृतीये परिच्छेदे—'विभावेन' (७२ पृ.) कारिकागता टिप्पणी निपुणं विभावनीया । उतमादिस्वरूपजिज्ञासुमिर्नेतृलक्षणगतानि प्रायः सर्वाण्येव विशेषणानि निरीक्षणीयानि (९७-१०० पृ.) । पुरा भारतवर्षेऽन्तःपुरसहायाः किंविधाः कल्पिता इति तत्त्वजिज्ञासुभिः 'वागमन' (१-३ पृ.) इत्यार्या सगूललक्ष्यलक्षणा-न्येषणपूर्वकं समाकलनीया । तत्र किरात-भ्लेच्छ-आमीरशब्दगता विशेषा अप्यु-क्त्याः । साधारणलीलक्षण (११७ पृ.) निरूपणे कलापदार्थाः प्राचीनरहस्यवेदि-भिरवश्यमनुसंधेयाः । स्वदारगुह्यर्यमनुरागेत्रितानि (१३९ पृ.) दर्शनार्हाणि । तत्र शिल्पिन्याया अभिसंधायिका भवन्तीति वात्स्यायनसंमतिर्द्रष्टव्या (१४१ पृ.) । शृङ्गारादीनां स्वरूपाणि (१६९ पृ.) काव्यप्रकाशाद्यपेक्षया स्फीतानि दर्शनार्हाणि ॥

चतुर्थे परिच्छेदे—ष्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याख्यकाव्यभेदप्रतिपादनं सुप्रतीतमेव । तत्र 'प्रधान' (२४८ पृ.) पदनिष्ठा टिप्पणी विलोकनीया ॥

पञ्चमे परिच्छेदे—व्यञ्जनादृतेः स्थापनमितरग्रन्थापेक्षया स्फीतं प्राजलं दर्शनार्हं चास्ते ॥

षष्ठे परिच्छेदे—सर्वोऽपि विषयप्रपञ्चो वस्तुतो दर्शनयोग्यः । किञ्चिन्ना, यथात्र नाटकादीनां दशरूपकाणां नाटिकादीनामष्टादशोपरूपकाणां तद्वत्विशेषभा-तानामन्येषां चोपावचानां विषयाणां विशदरूपेण निरूपणं निपुणतमं प्राप्यते, न तथा दशरूपकादिषु । सांप्रतमुपलभ्यमानेषु नाट्यशास्त्रपुस्तकेषु तु बहुत्र न्यूनता प्रतीयते । यदि हिमपि नाट्यशास्त्रसाधिकं पुस्तकं लभ्येत तर्हि दर्पणोद्भिदितवि-षयजातानां परीक्षा मौलिकदृश्यकाव्यान्वेषणाय विधातुं शक्येत । सति वृत्ते चित्र-मिति न्यायात् । धीमता हॉल्साहिवेन दशरूपकेण सह तदुपकारिणो येऽप्यायाः (१९-२०, १४) मुद्रापितालोऽपि नायिकाः ।

किं चात्र परिच्छेदे बहवो हृदयकाव्यग्रन्था उदाहरणत्वेनोपन्यस्ताः । तेषु कति-
पयानां दर्पणादितरत्र नामापि नोपलभ्यते । नामधेयमात्रेणानुमितसत्ताकानां तेषां
पुनरुद्भवाय युरोपादिमहापुस्तकालया निरीक्षणीयाः ॥

सप्तमे परिच्छेदे—सटित्युपस्थितये बहूनि पूर्वोदाहरणानि तनूकृत्य स्थापि-
तानीति तत्र तत्र प्रायो दर्शितमेवं । तत एवैतेषामुर्वरितांशान्वेषणाय प्रयासो
निष्फलः ॥

अष्टमे परिच्छेदे—वामनोक्तानां शब्दार्थगुणानां प्रकाशवत्प्रत्याख्यानं 'माधुर्य-
वृत्तिकारणम्' इति प्रकाशोक्तिप्रत्याख्यानं च दर्शनार्हम् । वामनोक्तानामितरेषां गुणा-
नामवगमार्थं 'ते त्रिधा—' (४५० पृ.) इति कारिकास्था टिप्पणी विलोक्या ।
आसीत्प्रारब्धवामनोक्तानां गुणानां प्रचुरः प्रचारः । यतः—

‘प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणः ।

भवन्ति कस्यचित्पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः ॥

इत्यादयः सूक्तयो जज्ञिरे । एवं तत्तत्कालिककविकर्मावलोकनेन तत्तत्कालिकी
साहित्यशास्त्रस्थितिरुक्तं सुशका ॥

नवमे परिच्छेदे—रीतीनां प्रतिपादनम् । तत्र वैदर्भी—गौडी—पायाली—
छाटीनां स्वरूपाकलनेन भारतवर्षीयानां चिरंतनी विद्यासमृद्धिरवगन्तुं शक्यते ।
किंचैता रीतयस्तत्र तत्रोपजीव्यनिबन्धेष्वपि संपपाद्यन्त इति नूतनत्वशङ्कादुरोऽपि
न प्ररोहतीति सूक्ष्मदृशा विभाषणीयम् ॥

दशमे परिच्छेदे—महाकाव्योपयुक्तानां सप्तदालंकाराणां (४७१-५०० पृ.)
चमरकृतानामुपमाभेदानां च (५०१-५१८ पृ.) निरूपणं तत्र 'यमकं—'
(४७९ पृ.) 'संस्कृतमहाराष्ट्रयोः' (४८८ पृ.) 'याम्यं—' (५०१ पृ.) इत्यादि-
ग्रन्थगतं टिप्पणं च दर्शनार्हम् । एवमग्रेऽपि ॥

‘एष साहित्यमातङ्गो दुर्ग्राहोऽतिमहत्तरः ।

मुष्टिमेव श्यामाति दर्पणे प्रतिविम्बितः ॥’



साहित्यदर्पणे प्रमाणत्वेनोद्धृतानां ग्रन्थानां नामानि ।

—३३—

| | पृष्ठस्य | पङ्क्तौ | | पृष्ठस्य | पङ्क्तौ |
|-----------------------|----------|---------|----|------------------------|------------|
| अभिपुराणम् ... | ... | ५ | १ | चण्डकौशिकम् ... | ... ३०८ ४ |
| विष्णुपुराणम् ... | ... | ६ | १ | जानकीरायणम् ... | ... ३१२ १ |
| बक्रोक्तिजीवितम् ... | ... | १५ | १ | मालविकाग्निमित्रम् ... | ... ३२४ १३ |
| व्यक्तिविवेकः ... | ... | १९ | ५ | कुलरायणम् ... | ... ३२५ ५ |
| रामायणम् } | ... | २९ | ६ | रामाभ्युदयम् ... | ... ३३० ७ |
| महाभारतम् } | ... | २९ | ६ | कपूरमञ्जरी ... | ... ३३० ११ |
| रघुवंशम् } | ... | २९ | ६ | माषाण्वः ... | ... ३३४ १२ |
| लोचनम् ... | ... | ७६ | ३ | ययातिविजयम् ... | ... ३३६ १० |
| रत्नावली ... | ... | १०३ | ७ | गृहपृथक्वाटिका ... | ... ३४४ १ |
| मृच्छकटिकम् ... | ... | १०३ | १२ | वच्यशिला ... | ... ३४६ १३ |
| लटकमेलकम् ... | ... | ११९ | ६ | राधाभ्युदयम् ... | ... ३५० ५ |
| चन्द्रकलानाटिका ... | ... | १२९ | १७ | पुष्पभूषितम् ... | ... ३५४ ११ |
| कुवल्याश्चरितम् ... | ... | १४९ | ९ | रत्नहस्तम् ... | ... ३५४ १५ |
| मालतीमाधवम् ... | ... | १६७ | १ | सीतामधुकरः ... | ... ३५५ १२ |
| षादम्बरी ... | ... | १७३ | १६ | सीतान्धिकाहरणम् ... | ... ३५५ २० |
| कुमारसम्भवम् ... | ... | १७५ | ७ | समुद्रमथनम् ... | ... ३५७ २ |
| विक्रमोर्वशी ... | ... | १८० | ३ | कुमुदशेखरविजयम् ... | ... ३५८ ११ |
| नागानन्दम् ... | ... | १९३ | ३ | शर्मिष्ठायातिः ... | ... ३५८ २० |
| हयग्रीववधम् ... | ... | २०१ | ९ | छलितरामम् ... | ... ३६१ १६ |
| न्यायकुसुमाञ्जलिः ... | ... | २६० | ९ | कन्दर्पकेलिः ... | ... ३६३ १७ |
| बालरामायणम् ... | ... | २७६ | ९ | धूर्तचरितम् ... | ... ३६४ २ |
| अनर्घराघवम् ... | ... | २७८ | ६ | विद्वत्कालभक्षिका ... | ... ३६४ २१ |
| पुष्पमाला ... | ... | २७८ | ७ | सम्मितरश्मम् ... | ... ३६५ ४ |
| उदात्तराघवम् ... | ... | २८१ | ७ | रैवतमदनिका ... | ... ३६५ ११ |
| शाकुन्तलम् ... | ... | २८२ | ६ | नर्मवती } | ... |
| मुद्राराक्षसम् ... | ... | २८४ | ११ | विलसवती } | ... ३६६ १ |
| वेणीसहारम् ... | ... | २८५ | ११ | शृङ्गारतिलकम् ... | ... ३६६ ८ |
| कुन्दमाला ... | ... | २८६ | ८ | देवीमहादेवम् ... | ... ३६६ १४ |
| वीरचरितम् ... | ... | २९२ | १ | यादवोदयः ... | ... ३६७ २ |
| रामाभिनन्दम् ... | ... | २९३ | ६ | वालिबधम् ... | ... ३६७ ८ |
| बालचरितम् ... | ... | ३०४ | १० | मेनकाहितम् ... | ... ३६७ १६ |
| प्रभावती ... | ... | ३०४ | १३ | | |

| | पृष्ठस्य | पङ्क्तौ | | पृष्ठस्य | पङ्क्तौ |
|-------------------|----------|---------|---------------------------------------|----------|---------|
| मायाकापालिकम् ... | ३६८ | २ | कर्णपराक्रमः ... | ३७५ | ८ |
| क्रीडारसातलम्... | ३६८ | ८ | मिक्षाटनम् | } | ११ |
| कनकावतीमाधवम् | ३६९ | ३ | जार्जविलासः | | |
| विन्दुमती ... | ३६९ | १९ | मेघदूतम् ... | ३७५ | १३ |
| केलिरैवतकम् ... | ३७० | ९ | मुक्तावली ... | ३७५ | १६ |
| कामदत्ता ... | ३७० | ३२ | हर्षचरितम् ... | ३७७ | ४ |
| शिशुपालवधम् | } | ४ | पद्मतन्त्रम् ... | ३७७ | १० |
| वैषधम् | | | देशराजचरितम् ... | ३७७ | १३ |
| राघवविलासम् | | | बिन्दुमणिमाला ... | ३७७ | १५ |
| सेतुबन्धः | } | ५ | प्रशस्तिरत्नावली ... | ३७७ | १७ |
| कुवलयार्थचरितम् | | | शारीरकमीमांसाभाष्य- व्याख्यानम्... | ५३५ | ५ |

(१)

साहित्यदर्पणम्पिकायां ७६-७७ पृष्ठयोर्वर्णितानां
चित्रबन्धानामाकारा

१ रवङ्गबन्धः

२ मुसलबन्धः।

जा
दि

मेदिश्यादु

मा

रामाणांश

सी
घ
न्या

श्रियांवाधितसंघ

मा

तानतानांसंघट्ट

क्ष
ण
र
ह
र्त्ति
द
त
त्यं
नि
वा
स्त
श्च
र
रा

रा
रि
श
क
श
मे
म
मु
खे
रा
पा
र
रं
ह

सा

मा
या
वि
न
म
हा
ह्य

धी
व
मा
ष
हि
म
घं

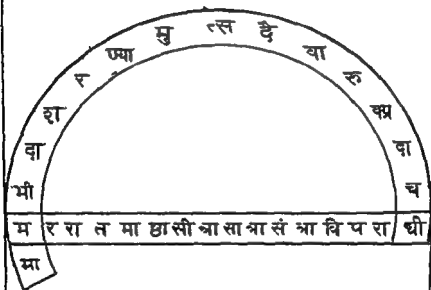
या
र
सा

या
त
ल
स
धु

या
य
ला
ली
त

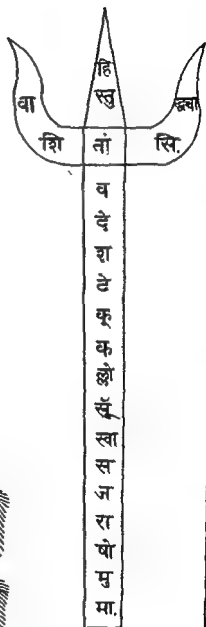
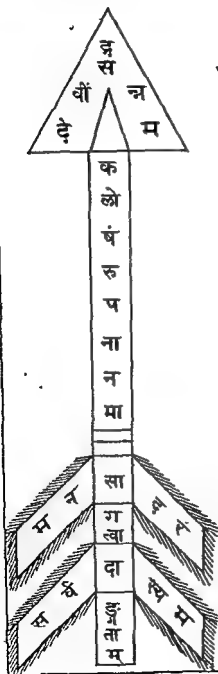
जा

३ चापबन्धः।



४ बाणवन्धः।

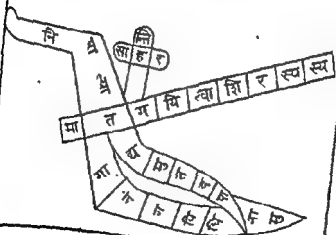
५ शूलवन्धः।

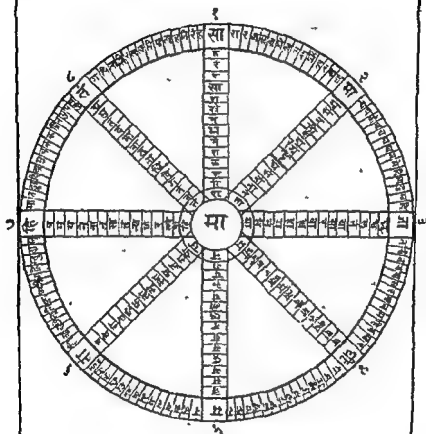


६ शक्तिबन्धः।

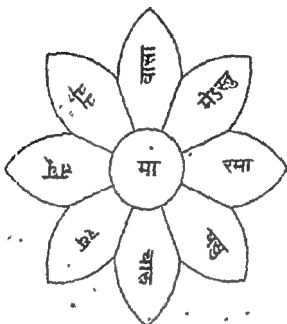


७ हलबन्धः

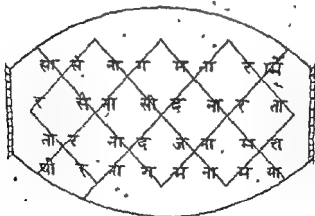




९ पद्मबन्धः। (साहित्य पृ. ४९७)



१० मुरजबन्धः। (साहित्य पृ. ४९८)



॥ श्रीः ॥

श्रीमद्विश्वनाथकविराजप्रणीतः

साहित्यदर्पणः ।

श्रीमद्रामचरणतर्कवागीशकृतया विवृत्या समेतः ।

प्रथमः परिच्छेदः ।

ग्रन्थारम्भे निर्विघ्नेन प्रारिप्सितपरिसमाप्तिकामो वाङ्मयाधिकृततया
वाग्देवतायाः सांमुख्यमाधत्ते—

विवृतिः ।

वागीश्वरीसरसगीतगुणप्रवाहं सारस्वतीसततसेवितपादपद्मम् ।

हेमाद्रिमारकतटोत्तरकान्तमीशं बन्दे खगेन्द्रभुजमौलिगतं मुकुन्दम् ॥

श्रीविश्वनाथकविराजकृतिप्रणीतं साहित्यदर्पणमतिस्थवितप्रमेयम् ।

श्रीमद्विधाय चरणं धारणं गुरुणां यत्नेन रामचरणो विवृणोति विप्रः ॥

यः परः परगुणप्रकाशने लब्धवर्णनिकरो जयत्यसौ ।

दोषगानरचितापसंचया यात्वधः पिशुनराजिरञ्जसा ॥

समप्रतिद्वान्तप्रहृष्यग्रमनसामनभिमतं प्रकटदोषप्रकरविषदितादरकाव्यादिनिरु-
पे सत्यमलंकारग्रन्थनिकरे तेषामभीष्टमदुष्टकाव्यादिनिरूपणमव्याहतसद्धान्तसंता-
मलंकारग्रन्थमारभमाणः प्रथमकारिकायाः सरस्वतीराधनप्रयुक्तार्थनिर्वाहप्रयुक्ति-
रतां प्रकाशयितुमवतरणिकां स्वयमेव ग्रन्थकृदाह—ग्रन्थारम्भ इति । ग्रन्थस्य
नवावाक्यविशेषसारम्भे आरम्भप्राक्कारे आद्यकृतिरूपसारम्भस्य मङ्गलाचरणाधि-
हरणत्वमाधादियं लक्षणा । तत्प्रयोजनं च मङ्गलारम्भयोरव्यवहितत्वबोधः । केचित्तु

विवृतिपूर्तिः ।

एकत्र यत्र नवचम्पकदामंदारिं क्षारावदातमितरत्र चकास्ति शेषः ।

तस्या इवामुत्तमनूपटनाय तस्य कसेचिदस्तु महसे प्रगतिः परस्य ॥

आचार्यतामचरणेन विकासितायां वरपंगस्य विवृती विवृण्वत्यसि ।

तत्पूर्वे जयपुरेन्द्रसमाभिनेन दुर्गोपसादकृतिना भित्ते प्रयत्नः ॥

1. एवेति । गदष्टपञ्चकृदम्, अत्र यत्र कजकाचरोपदिगतमरकतशृङ्गसुन्दरमित्यर्थः ॥

2. काम्यपञ्चादव्याख्यानादयः । एवं यथासंभवमवेति ॥

शरदिन्दुसुन्दररुचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी ।

अपहृत्य तमः संततमर्थानखिलान्प्रकाशयतु ॥ १ ॥

“आरम्भे भाविनि सतीत्यर्थः” इत्याहुः । तत्र । तथा सत्यारम्भप्राक्काल इति पदादि-
वारम्भे भाविनि सतीत्यस्मादारम्भप्रागभावसमानकालीनत्वस्यैव बोधः, न ॥ सदा
चारपरम्परापरिप्राप्तस्यारम्भाव्यवहितप्राक्कालीनत्वस्य । नच कालान्तरीणमङ्गल-
चरणस्याप्यदृष्टद्वारा प्रकृतोपयोगित्वात्तयोरव्यवहितस्य बोधोऽकिञ्चित्कर इति वाच्यम् ।
तस्य प्राशस्त्येनात्यन्तोपयोगित्वेकल्पनात् । निर्विघ्नेन प्रतिबन्धकीभूतदुर-
दृष्टविघातद्वारा प्रारिप्सितस्य चिकीर्षाविषयस्य परिसमाप्तिश्चरमवर्णपर्यन्ता-
नुष्ठानं तत्कामः । ‘ग्रन्थकृत’ इति शेषः । चाङ्गयान्यष्टादश विद्याः काव्यकला
कामशास्त्रादीनि च, तदधिकृततया तदप्यक्षतया आग्देवतायाः सरस्वत्या
स्वामुख्यनाराधनेन स्वार्थसाधनानुकूलत्वमाधत्ते करोति । अत्र प्रथमपुरुषाभिधानं
‘रामः स्वयं याचते’, ‘जीवत्यहो रावणः’ इत्यादिवत्कार्त्तप्रेनिकमेदमूरीकृत्य । अन्यथा
अस्मत्कर्तृत्वैनोत्तमपुरुष एव स्यात् । नच वृत्तिकारकारिकाकारयोर्वास्तवो मेद इति
वाच्यम् । ‘रसस्वरूपं निरूपयिष्यामः’ इति प्रतिज्ञातुर्वृत्तिकारस्य कारिकया
रसनिरूपणं तथात्वेऽसंगतं स्यात् ॥ शरदिन्द्विति । सा वेदाममादिप्रसिद्धा ।
सह एन विष्णुना वर्तमाना वा । गिरां देवी सरस्वती मम चेतसि वर्तमाना सती
तमोऽज्ञानमपहृत्य विनाश्य अखिलान् सर्वान् वाच्यलक्ष्यतात्पर्यव्यङ्ग्यरूपानर्थान्
वस्तूनि संततं यदा वेदार्थज्ञानमुपयुक्तं तदैव प्रकाशयतु प्रकटीकरोतु । यद्वा ‘संततं’
इति ‘तमः’ इत्यस्य विशेषणम् । निविडमित्यर्थः । सा कीदृशी । शरदिन्दोरिव
सुन्दरी अतिविशदा रुचिर्दाप्तिर्यस्याः सा तथा । शरदिन्दुरपि तमो ध्वान्तं विनाश्य
अर्थान् वस्तूनि प्रकाशयतीत्युपमा । वाङ्मयाधिकृततयापनाय ‘गिरां देवी’ इत्य-
नेन सरस्वत्या उपन्यासः । अथवा देवी दुर्गा मम गिरामर्थान् चेतसि व्युत्पत्सूनां
हृदि प्रकाशयतु । सा कीदृशी । शरदिन्दुसुन्दरः शिवस्तत्र रुचिरभिलाषो यस्याः सा
तथा । अन्यत्समानम् । एतत्पक्षे ‘वाङ्मयाधिकृततया’ इति कर्तृविशेषणम् । वाङ्म-
याधिकृतो ग्रन्थकृतित्यर्थः । ‘आग्देवतायाः’ इति गोपनीयदेवताया इत्यर्थः ।
दृष्टदेवताया गोपनीयत्वमागमे प्रसिद्धम् । अत्र ‘सा’ इत्यनेन सरस्वत्याः श्रवणम् ।
‘चेतसि वर्तमाना’ इत्यनेन मननं ध्यानं च लभ्यत इति त्रिविधं च सरस्वत्याराधनमत्र
फलितम् । तस्य विघ्नध्वंसद्वारा प्रारिप्सितपरिसमाप्तिः फलम् । स्वतःसिद्धविघ्नविरहस्य
प्रारिप्सितपरिसमाप्तिरेव फलम्, न तु विशिष्टम् । यथा-निष्पापस्य ब्रह्मलोकप्राप्ति-
रेवं संप्योपासनस्य फलम्, न तु पापशयपूर्वकब्रह्मलोकप्राप्तिः । तदुक्तम्-‘संच्या-
मुपासते ये तु सततं संसितव्रताः । विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम् ॥’
इति । यद्वा । निर्विघ्नेन विघ्नाभावद्वारेत्यर्थः । अभावश्च यथायथमत्यन्ताभावो
ध्वंसश्च प्राप्यः । अत्यन्ताभावपक्षे अन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वरूपं जन्यत्वमादाय

अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्य-
फलान्याह—

चतुर्वर्गफलं प्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।

काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥ २ ॥

व्यापारत्वनिर्वाहः । एतन्मते सर्वत्रैव विशिष्टफलसम्भव इति सर्वं समञ्जसम् ॥ प्रत्यु-
त्प्रयोजनवत्त्वं दर्शयति—अस्येति । प्रकल्पमाणस्येत्यर्थः । काव्याङ्गतया काव्य-
फलसाधनेऽप्रधानकारणतया । काव्यफलैरिति । 'धान्येन धनवान्' इतिवदमेदे
तृतीया । काव्यफलाभिन्नफलवत्त्वमित्यर्थः । यथा दर्शपूर्णमासाङ्गानां प्रयाजादीनां
दर्शपूर्णमासफलैर्नैव फलवत्त्वं तथास्यापीति भाव्यम् । ननु प्रयाजादीनामङ्गापूर्व-
जननद्वारा परमापूर्वं प्रत्युपकारः संभवतीति तत्र तथास्तु, प्रकृते तु शास्त्रस्य काव्य-
गुणदोषादिज्ञापनोपक्षीणत्वेन चतुर्वर्गं प्रत्युपकारसंभवाद् । कथं तत्साधनत्वमिति
चेत् । न । काव्यं हि स्वरूपसम कारणम्, किंतु कृतिज्ञानन्यतरविषयतया तत्रा-
स्योपकारः संभवतीति न कापि विप्रतिपत्तिः । नन्वस्य चतुर्वर्गतिरिक्तकाव्यगुणादि-
ज्ञानरूपफलसत्त्वात्कथमेवकारार्थान्वय इति चेत् । न । 'फलवत्त्वम्' इत्यत्र मैतोः
प्रशस्तार्थत्वेनोक्तृफलपरत्वात् । एवं च चतुर्वर्गफलसाधनत्वशानेनात्र लोकाणां
साभिनिवेशप्रवृत्तिर्भविष्यतीति भावः ॥ अन्यफलवर्णनपुर एतं वाक्यं स्वरूपनिरूपणं
प्रतिजानीते—चतुर्वर्गेति । चतुर्वर्गो धर्मार्थनाममोक्षा एवं फलम् । सुखादना-

१. काव्येति । सकलपुरुषार्थसाधनक्षमस्य काव्यस्य प्राप्तुर्भावे शक्तिस्तुल्यवितरिण्या-
स्य कारणम् । अष्टभाषीनां स्वरूपमाह स्वतंत्रः—'मनसि सत्सो गुह्यमाश्रिति निस्तुरगम-
नेकभाषिपेदस्य । अडिष्टानि पदानि च विमान्ति यस्याममौ-शक्तिः ॥ प्रतिभेत्यपरेव-
दिता सहजोत्पाद्या च सा दिषा भवति । पुंसां सह जातत्वादमयोस्तु ज्वायसी सहजा ॥
स्वस्यासी संस्कारे प्रमथर मृगपथे यतो हेतुम् । उपायास्तु कथंचिद् व्युत्पत्त्या जन्मते
पर्या ॥ छन्दोम्यकारणकलात्कक्षितिपदपदाभिविज्ञानात् । युक्तयुक्तविवेको व्युत्पत्ति-
रियं समासेन ॥ विस्तरतस्तु किमन्यत्तत् इह वाच्यं न वाचकं लोके । न भवति यत्का-
व्याङ्गं सर्वदृष्ट्यं ततोऽन्येषा ॥ अभिगतसकलक्षेयः मुक्तेः मुजनस्य संनिधौ नियतम् ।
मत्तंदिनमभ्यस्येदभियुक्तः शक्तिमाप्स्याम्यम् ॥' इति । अथमेवाशुब. 'शक्तिर्निपुणता-'
'इति श्लोकेन निबद्धो राजानंयमममटैः ॥

2. 'भूमनिन्दाप्रसङ्गात्तु निम्नलोभेऽस्तिभावने । सर्वलोभेऽस्तिविवक्षाया अवगति मनुष्या-
दयः ॥' इति तदर्थसम्प्रदः । गोमान्, कुशी, रूपवान्, क्षीरिणो वृक्षाः, उदरिणी कन्या,
दण्डी, सस्त्रिणान्, इति क्रमेणोदाहरणानि ॥

१ 'तस्य विग्रहाद्वाद्यः प्रारिखितधरित्वाति पङ्क्तम् । अभावात्तत्र येन साधनभावेन विग्रहणीयो भवितव्यः । अन्तर्भावस्य च्यवत्तत्वाभावात् सह विरोधेन विग्रहानुभावात् जन्मान्तेऽप्रभवत् तदा तन्मस्यगीभावस्य सत्यं व्यापारत्वाभावात् । न च साधनभावेन अन्तर्भावस्य च्यवत्तत्वाभावात् हीनमिति याभ्यम् । कार्यनादयत् तस्य कारणान्तरस्य च्यवत्तत्वाभावात् व्यापारस्य हीनतात् तदा अन्तर्भावस्य च्यवत्तत्वाभावात् सप्तमात् । अन्तर्भाव विग्रहकारेण तत्त्वानुभावात् नाप्येवमिति स्थात् १' इति युक्तोक्तिः पद ५

रैव । मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्यधर्मफलाननुसंधानात्, मोक्षोपयोगिवाक्ये
 पुनस्त्यागाधायकत्वाच्च । चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव
 परिणतबुद्धीनामेव जायते । परमानन्दसंदोहजनकतया सुखादेव सुकुमार-
 बुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव ।

ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः
 करणीय इत्यपि न वक्तव्यम् । कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्क-
 रोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्करामृत्तिः सार्थीयसी न स्यात् ।

किंच । काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेऽप्युक्तम्—

‘नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।’ २

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥

णात् । एतज्जन्येति । पाव्यजन्येत्यर्थः । धर्मकलस्यानुसंधानादेव तदधीनोप-
 तिस्त्वयोरर्थकामयोः सति सभावनैव नास्तीति तयोरनुपादानम् । यद्वा । धर्मप्रधानं
 फलं धर्मफलं तेनार्थकामयोरपि समग्रहः । अननुसंधानात् अपारमार्थिकत्वेन साध्य-
 त्वानिर्धारणात्, मोक्षोपयोगिवाक्यमुपनिषदादिस्त्रय्युत्पत्त्याधायकत्वात् इतरज्ञा-
 नजनकत्वात् ॥ ननु काव्यादुपनिषदादिव्युत्पत्तिस्तत्तत्संदर्शानुष्ठानं ततो मोक्षप्राप्तिर्हि
 स्वल्पसाक्षिद्विज्ञातवस्थमेवेति चेत् । सत्यम् । उपनिषदादिज्ञानादपि मोक्षप्राप्तिर्हि
 स्वभिप्रायेणास्योत्थापनात्, ‘काव्यादेव’ इत्येवकारव्यवच्छेदं दर्शयति—चतुर्व-
 र्गमिति । वेदा ऋग्यजुःसामाथर्ववेद्याः । शास्त्राणि मीमांसादीनि । दुःखादेवेति
 मुख्यव्यवच्छेदः । परिणतबुद्धीनां वेदादिभ्यो धर्मादिप्राप्तिः सुखाच्च भवति । सुकु-
 मारगतीनां तु दुःखादपि न भवतीति भावः । परमानन्दसंदोहो रसास्वादपुर-
 परम्परा । अपिना परिणतबुद्धिसमुपयः । तथा च रसास्वादाद्यमपि प्रवर्तमानस्य
 कृत्वाकृत्योपदेशपर्यवसर्गं सत् काम्यं चतुर्वर्गमपि जनयतीति भावः ॥ ननु चतुर्व-
 र्गार्थं प्रेक्षावन्तो वेदशास्त्राण्यनादृत्य कथमनाप्तवाक्ये काव्ये प्रवर्तन्तामित्यभिप्रा-
 यः प्राकृते—नन्विति । तर्हि काव्यस्य चतुर्वर्गसाधनत्वस्तीकारेऽपि । यत्तच्चतुर्व-
 र्गार्थमुद्यमः । काव्यात्तावदसाक्षाद् दुःखं विना धर्मादिप्राप्तिश्च भवति । वेदादि-
 भ्यस्तु दुःखादेव धर्मादिप्राप्तिरेवेति वेदाद्यपेक्षया काव्ये समादर इति समाधानं
 तत्तत्तत्तद्वदन्तेनाह—कटुकौषधेति । कटुवेति निष्कन्यासादीनामप्युपलक्षणम् ।
 तत्तत्तत्तद्वदन्तेनाह—कटुकौषधेति । कटुवेति निष्कन्यासादीनामप्युपलक्षणम् ।
 तत्तत्तत्तद्वदन्तेनाह—कटुकौषधेति । कटुवेति निष्कन्यासादीनामप्युपलक्षणम् ।
 तत्तत्तत्तद्वदन्तेनाह—कटुकौषधेति । कटुवेति निष्कन्यासादीनामप्युपलक्षणम् ।
 तत्तत्तत्तद्वदन्तेनाह—कटुकौषधेति । कटुवेति निष्कन्यासादीनामप्युपलक्षणम् ।

प्रत्युत ध्वनि(स)त्वेनोत्तमकाव्यतास्याङ्गीकृता । तस्मादव्यातिर्लक्षण-
दोषः । ननु कश्चिदेवांशोऽत्र दुष्टो न पुनः सर्व एवेति चेत्,
यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रदः

वादानुवाचप्रतीतिकृदिति च द्विरूपो विधेयाविमर्शः । अत्रेष्टपक्षां दोषमाह
प्रत्युतेति । अयं निपातसमुदायो विपरीतार्थकः । ध्वनिसत्त्वेन ई-
जन्यस्वावमाननरूपनिर्वेदाख्यभावध्वनिसंभवेन । अस्य 'न्यकारः-' इत्यादिवाक्य-
समुदायस्य । अङ्गीकृतेति । 'इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्यादुनिर्घुष-
यथितः' इति वदता संयमेव स्वीकृतेत्यर्थः । तस्मादुक्तदोषसत्त्वेऽपि काव्यत्व-
स्वीकाराद्वैक्षणदोषः दोषाभावघटितनिरुक्तकाव्यलक्षणदोषः । ननु विधेयाविमर्श-
दोषस्तावदाशिकत्वेन सर्वं काव्यं न दुष्टं निर्दोषस्यैव गुणालंकारसद्भावे काव्यत्वमित्य-
भिप्रायेणाशङ्कते—नन्विति । अत्र 'न्यकारः-' इत्यादिवाक्ये सर्वोऽपीति समु-
दायोऽपीत्यर्थः । यत्र ध्वनिरिति । 'अरयः' इति यदुवचने 'अत्रैव' इति सर्व-

य दोषमुक्तोपपत्तिः । तथा चोक्त व्यक्तिविवेककारः—'अनुवाचमनुकथैव न विधेयमुदीर-
येत् । न दालम्भारपदं किञ्चित्कुत्रचित्प्रतिष्ठति ॥ विधेयोदेवभावोऽयं रूपरूपकतात्मकः ।
नच तत्र विधेयोक्तिरदस्यात्पूर्वमिष्यते ॥' इति न्यायेनोद्देश्यविधेययोः पौर्वापर्यस्य निय-
मिदत्वात् । अत एव 'पूर्वतो वदिमान्' इत्येवाभिधीयते, न तु विपर्यसेन । तथा उच्यते-
'ईमुद्देश्य विधीयमानं वृथात्वं समाप्ते गुणीकृतम् । एवं च 'न्यकारः', 'अयं' इत्येतयोः
प्रत्ययोविपर्ययो वाक्यदोषः । 'वृथोच्यते' इत्यत्र समासगतत्वेन पददोषो ननु वाक्यदोषः ॥

1. अङ्गीकृतेति । ध्वन्यालोके आनन्दवर्धनाचार्येणैति शेषः । तथाहि—'सुसिद्ध-
मचनसंघर्षस्तथा कारकशक्तिभिः । कृच्छ्रितसमासेष चोत्तोऽलक्ष्यक्रमः क्वचिद् ॥'
इति ध्वनिकारिका "अलक्ष्यक्रमो ध्वनेरारम्भा रसादिभिः सुसिद्धेतिहविशेषैर्वचन-
विशेषैः संघर्षविशेषैः कारकशक्तिभिः कृच्छ्रितैस्तद्विधिविशेषैः समासेष्वेति चक्षुश्चाभि-
पातोपसर्गकारादिभिः प्रयुक्तैरभिधायमानो दृश्यते । यथा—'प्रकारः—' इति ।
अत्र हि लोके भूयसा सर्वेषामप्येषां एष्टमेव व्यञ्जकत्वं दृश्यते । यत्र 'मे यदरयः'
इत्यनेन सुसंघर्षवचनानामभिव्यञ्जकत्वम् । 'तत्राप्यतो तापसः'— इत्यत्र तद्विधेय-
पातयोः । 'सोऽप्यत्रैव निदग्निं राक्षसकुलं जीवत्यहो रात्रिम्' इत्यत्र तद्विधेय-
पातयोः । 'विश्वकर्मकर्मितः' इत्यादौ शेषेषां कृच्छ्रितसमासोपसर्गानाम् । एवंविधस्य
व्यञ्जकभूतयोः च यदमाने काव्यस्य सर्वानिशाकिनी बन्धच्छाया समुन्मीलति । यत्र
हि व्यङ्ग्यवाच्यमिदं पदस्यैकस्यैव तावदाविर्भावस्तथापि काव्ये वापि बन्धच्छाया,
प्रियुष यत्र तेषां वृत्तां समपादः । यथात्रान्तोपेक्षितयोः । अत्र हि रात्रि इत्य-
न्यिदं पदं तावत्तद्विधेयत्वात्तद्विधेयत्वेन ध्वनिसत्त्वेनोद्देश्यविधेययोः पौर्वापर्यस्यैव
वाच्यतामनम् ।' इत्यादिः ॥

१. 'नित्यवर्धन' इति शब्दः । 'वर्धन' इति शब्दः । 'वर्धन' इति शब्दः । 'वर्धन' इति शब्दः ।
२. 'वर्धन' इति शब्दः । 'वर्धन' इति शब्दः । 'वर्धन' इति शब्दः ।
३. 'वर्धन' इति शब्दः । 'वर्धन' इति शब्दः । 'वर्धन' इति शब्दः ।

अक इत्यशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्य वा किमपि न भूम् । न च कचिदेवाश काव्यस्य दूषयन्त श्रुतिदुष्टादयो दोषा, तर्हि सर्वमेव काव्यम् । तथाहि—काव्यात्मगूतस्य रसस्यानपकर्षकत्वे

‘निहन्ति’ इति तिङि ‘अहो’ इत्यव्यये ‘ग्रामटिका’ इति कर्तृपदद्विते ‘वेलुण्ठन’ इत्युपसर्गे ‘भुजै’ इति बहुवचने च यथायथ ध्वनिवदितव्यम् । अपि निरुक्तध्वने समुदायवाक्यार्थव्यङ्ग्यत्वेनाशिकत्व न सम्भवति, तथापि ध्वनिप्रकरणे वक्ष्यमाणानां सत्परिपोषकाणां पदाशध्वनीनामांशिकत्वाभिप्रायेणेदम् । नन्वयमेव न्यकार इति न्यकारस्य विधेयत्व विवक्षितं तच्च शब्दरचनावैपरीत्येन गूणीभूत रचना च पदद्वयस्यापि विपरीतेति वाक्यदोष इति वक्ष्यमाणानुसरणेना विमर्शविधेयान्तरस्य वाक्यदोषस्यान सत्त्वाद्यत्राशे दोष इत्यसंगतमिति चेत् । न । वाक्यसमुदायस्यास्य एकावाक्यस्य दुष्टत्वेऽपि निर्दोषवाक्यान्तरसम्भवात् । अशाभ्यां दुष्टावुष्टभागाभ्यामुभयतः । काव्यत्वाकाव्यत्वाभ्यामाकृष्यमाणं काव्यत्वमानमिदं ‘न्यकार-’ इत्यादिवाक्य किमपि एकतरत् । अत्रापदा ईर्ष्या वा उद्दीपित ‘जीवन्महो रावण-’ इत्यादिना व्यज्यमानेन स्वानौजस्यरूपदैवेनानुभावेन सवलित स्वावमानन निवदाख्यभावरूपोऽसलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः । वक्ष्यमाणा पदाशव्यङ्ग्यालस्यैव परिपोषका इत्यवधेयम् । नैवदोषावित्यनेनाशिकदोषातिरिक्तदोषाभाववन्ताविति विवक्षणीयमित्यत आह—न चेति । श्रुतिरुद्धादय इत्यादिपदाद्विधेया विमर्शादे परिमर्ह । यद्येव तर्हि किं दूषयन्तो दोषा स्युरत्राह—सर्धमिति । परम्परया रसदूषकत्वेनैव तेषां सर्वदूषकत्वमभ्याहृतमेवेत्यभिप्रायः । श्रुतिकट्टादीनां परम्परया रसदूषकत्वमङ्गीकारयत्राशिकत्वाभावनमुपपादयति—तथाहीति । अतः

१ न चेत्यादि । यदि सर्वत्र दोष काव्यस्य सर्वमेवाश दूषयन्नकाव्यत्वमेवोत्पादयेत्तर्हि ‘तुरङ्गकांतामुग्रहम्बाहज्जालेव’ इत्यत्र वक्त्रवाग्जिवालाख्यस्याधेस्य विप्रकृष्टतया मानात्किङ्कर्त्तव्यार्थदोषापत्तिः । यत्र चात्र काव्यत्वं न स्यात् । परं समुद्रादीनां वद्वानलज्वालायां वदचित्तसंभाव्यमानस्य मन्थोलसनस्य पुदि दशनाभेऽप्यवसायेनास्यां ज्वालारवो म्रेष्ठग्रास्यो नामास्य काव्यत्वं निवारयितुमीडे ॥

१ दूषयन्ति य २ अपि तु य ३ काव्यत्वमवधारणमप्यधीराह— इति मुद्रितपाठः
४ इति काव्यत्वं इति इति मुद्रितपाठे नास्ति ५ सर्वदूषकत्वेन तत्रां नैव रसित्वात्माय आशिकत्वात्विमर्शमिदमनादस्य सोऽप्यत्र ध्वनि-वि-सर्धमिति । तत्रां विमुपपन्नमित्यथ । उत्तरमाह—तत्र मिति । न्यकार इत्यादिवाक्य निर्देशना सर्वमेव काव्यं कृतं न स्यात् इति । एतन्मन दूषयति तथा हीति । तथा सतीत्यथ । यत्र वाग्जिनां मन दूषयितुं तद्व्याप्यं विवृणोति किं तर्हि । इति मन्त्रे । तर्हि दुःखत्वादीनां आशिकत्वेन दोषावमङ्गीकारे सर्वं काव्यं दूषयन्तं मुद्रितपाठो दोषा इत्यपि । अत्रमिति प्रत्ययचन समानम् इति न्यायेनमित्यर्थे ध्वनिः समानिमुद्रितं नन्वय दूषयति—तथाहीति । काव्यामभूत्यति । तेषां इति काव्यत्वात् । आङ्गीक्रियन् नवना इति अत्र । एतन्मन दूषयन्तं ननु इत्यपि काव्यत्वमप्यत्र ध्वनि मुद्रितपाठोऽप्यत्राशिकत्वाभावनमुपपादयति—तथाहीति । अतः

६
इत

तेषां दोषत्वमपि नास्तीक्रियते । अन्यथा नित्यदोषानित्यदोषत्वव्यवस्थापि
न स्यात् । यदुक्तं ध्वनिहृता—

‘श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।

ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृता ॥’ इति ।

• किञ्च । एवं काव्यं प्रविरलविषयं निविषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दो-
षस्यैकान्तमसंभवात् ।

पक्षेपर्वत्वे अनपक्षेपवत्ताश्रीकारे । तेषां श्रुतिकदाहीनाम् । नास्तीक्रियते ।
‘शुष्माग्नि’ इति शेषः । ‘रसापक्षेपा दोषा—’ इति दोषसामान्यसङ्गणायोमा-
दिति भावः । अत्रेष्टापत्तौ दोषसाह—अन्यथेति । विपरीतमताश्रीकारे इत्यर्थः ।
अत्रेष्टापत्तौ प्राचीनमतविरोधं दर्शयति—यदुक्तमिति । अनित्या इति ।
तेषां कचिदोषत्वात् कचिद्वृणवाचानित्यदोषत्वं तच्च दोषपरिच्छेदे व्युत्थितमिति ।
ध्वनिर्व्याजकं काव्यं व्यज्यमानो वाच्य आत्मा शरीरं यस्य तस्मिन् शृङ्गारे,
एव ते हेया धर्मेणया इत्यर्थः । एव च श्रुतिरश्रुतीनां शृङ्गारमात्रे व्यज्यते
दोषत्वं न तु दोषादिमिश्रिते शृङ्गारे । तत्र तु भवत्वव्येगुणत्वादिति । तेषु सदो-
षाक्यानां ध्वनिसत्त्वेऽपि काव्यात् नास्तीकरणीयमिति कथमुच्चात्मात्यवसार इत्य-
आह—किञ्चेति ॥ एव सदोषवाक्यानां ध्वनिसत्त्वेऽपि काव्यत्वानश्रीकारे भवदुष्-

१ नास्तीक्रियत्व इति । कचिदस्ते भासमानेऽपि दोषत्वव्याप्तीक्रियत्वं यच्च । यथा
भगवत्पुत्रहरिचरितेतिवैराग्यचक्रकस्य ‘मही वा शरं वा’ ‘दुःखमशयने वा हृदि
वा—’ इति श्लोके शिष्यात्वेन परिगण्यमानं जगदात्मनः, तपोवादिचतुर्दीपात्,
सर्वदास्यो समदर्शनमनुभाव, प्रतिधृतिद्वयो ध्वनिधारिभाव, निर्देह स्वाभिगाव,
एव शास्त्ररसनिष्पत्तौ सत्तामपि ‘कचित्पुण्यकारणे’ इति यदभिहितं तद्विषयप्रतिपाद-
कमभेदवाचनानि स्वमनुचितमवगाहते । भारद्वाजस्यैव विविधैराभिगीतमत्र भेदि-
त्यत्र सर्वं शिष्यस्य वदयतस्तपोवने नगरावस्करादौ च निमग्नमलामलुप्ततया समानदृष्टं
कचित्पुण्यकारणादिबचनमनुचिते‘भाष्यमेव । उक्तं च—‘अनौचित्यादौ वा यदसंभवं
कारणम् । प्रसिद्धौचित्यं यत्तु रससोपनिषत्पदा ॥’ इति ॥

२ धृतिरिति । हृदिदुष्टाः । यथा—अपार्थक्यं, अपार्थक्यं, अपार्थक्यं । अपार्थक्यं
मास्तेष्वपार्थक्यप्रतिपत्तिकारिणः । यथा—‘दिद्रादेवी दद्यात्तस्यो पातयेदोप-
सर्पतिः ।’ कल्पनादुष्टा इत्यो वदो कल्पना । यथा—‘यत्पुं दीपयेतिश’ यथा—
इत्यादी । ‘शृङ्गार’ इत्युक्तिरसोपलभ्यार्थम् । शृङ्गारानुशासनादि तेषां ‘वदंतात्’
इति छोपनकृता ॥

१ यत्र हि न च ‘दुःखमशयने’ इति श्रुतिरस्य २ वयस्योपलभ्यवशात्तद्विषये ।
३ यथापि यत्र ‘द्वयं यत्तु’ इति पुनरावृत्तिरस्य ४ यत्र यथापि ‘दोषा’ इत्युक्त्यानेन कारणेन
अतिशयिण्येव शृङ्गार इति पुनरावृत्तिरस्य

नन्वीपदर्थे नञः प्रयोग इति चेत्तर्हि 'ईपदोषौ' शब्दार्थौ 'काव्यम्' इत्युक्ते निर्दोषयोः काव्यत्वं न स्यात् । सति संभवे 'ईपदोषौ' इति चेत्, एतदपि काव्यलक्षणे न वाच्यम्, रत्नादिलक्षणे कीटानुवेधादिपरिहारवत् । नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः, किंतूपादेयतारतम्यमेव कर्तुम् । तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य । उक्तं च—

काव्यलक्षणं प्रविरलविषयं स्वल्पलक्ष्यम् । अत्रेष्टापत्ताबाह—निर्विषयमिति । निर्लेख्यमित्यर्थः । एकान्तमिति । अखन्तमित्यर्थः । काव्यमात्रे यस्य कस्यापि दोषस्य सद्भावादिति भावः । ननु यदि सर्वत्रैव दोषः संभवति तदा ईपदोषौ शब्दार्थौ काव्यमिति विवक्षणीयमित्यभिप्रायेण शङ्कते—नन्वीपदर्थे नञ इति । 'अदोषावित्यत्र' इत्यादौ पूरणीयम् । यदि निपुणतरकविना निर्दोषं काव्यं रचयितुं शक्यते तदा तत्रातिव्याप्तिं दर्शयन्तदूपयति—तर्हीति । नञ ईपदर्थत्वस्वीकारे इत्यर्थः । सति संभवे इति । दोषस्येत्यादि । एवं च सदोषाणां मध्ये ईपदोषा- येव शब्दार्थौ काव्यमित्यर्थररणे बलवद्वहोपरहितत्वं फलितम् । तदूपयति—एतद- पीति । बलवद्वहोपरहितत्वमपीत्यर्थः । रत्नादीत्यादिपदेन सुरणादिग्रहणम् । कीटा- नुवेधादीत्यादिपदेन मलिनत्वादिरिग्रहः । परिहारो रहितत्वम् । एष्टान्तं विवृण्व- न्प्रकृतमुपपादयति—नहीति । रत्नास्य रत्नादे रत्नत्वं रत्नादित्वं व्याहन्तुं व्यावर्त- यितुम् । स्वव्यापकाभावप्रतिबोगीकर्तुमिति यावत् । ईशाः समर्थाः । उपादेयतार-

1. नन्विष्यादि । आहोपुरणिकामात्रमिदम् । दोषाभावसत्तायां तु काव्यता निर्वा- धेवेति सदोषेऽतिप्रसत्तिवारणाय 'अदोषौ' इत्यभिहितम् । तत्र दोषाव्यक्ताभावस्य दुरपपा- द्यत्वात्काव्यरूपमर्शना ये भवन्ततश्च दोषास्तद्विही शब्दार्थौ काव्यमित्यर्थोऽस्त्वार्येक- वृत्तारत्नात्तन्मते । एवं च क्वचिदनिलदोषसत्त्वेऽपि काव्यरवमव्यादतमेनेत्वर्थारितकम् । अत एव 'निःदोषश्च्युतचन्द्रन सूनवर्त' इत्यादौ विषेयाभिमर्शदोषसत्त्वेऽपि पक्षिका- व्यता जागरूकेषु । नदीपदोषावित्यनेन निर्दोषयोः काव्यत्वं व्यवच्छिद्यते एतदोषयोर्वा लभ्यत इति केनापि सचेतमावधारयितुं पार्यते । निर्दोषयोः स्वतः काव्यत्वे सदोषयोर्ल- क्षणपटकासंभवात् नुत्रचिदीपदोषयोरेव संवातेन बोधीकरणात् । 'तस्मादृश्यमावक्ष्य' तदुपर्यं तदुपपत्तौ । अपाद्यत्वं विरोधश्च नमर्थाः पद प्रसीतिशः ॥ इति नमर्ध- संमादिका हरिकारिका । अपाद्यताः, अपाद्यम्, अनयः, अनुदरा कन्या, अरुणो वा अन्ये गोऽश्वदः, अश्वमः, इति लुट्दाहरणानि । आद्यामदृशः, पावाभावः, अश्वनिर्गः, अस्पोदरा, गवाभेतरपञ्चोऽप्युत्तमाः, धर्मविरुद्धः, इति क्रमेणार्थाः ॥

1 'न काव्यम्' 'न काव्यमर्थं कीटानुवेधादिपरिहारवत्' क. २ 'तद्वद' ख. ३ 'निर्विषयमित्यर्थः' इति खविभक्तिः. ४ 'काव्य' इत्यादि. 'काव्य' इत्यादि पाठो मुद्रितपुस्तके न. ५ 'आह' इति मुद्रितपुस्तके. ६ 'काव्योत्तरादिविषयो' पाठो नहि मुद्रितपुस्तके. ७ 'एवम्' इति मुद्रितपुस्तके.

‘कीदंतुविद्वरसांदितापारंथ्येन’ काव्यता ।

दुष्टेष्वपि मत्ता यत्र रसोऽपनुगमः स्फुटः ॥ इति ।

५४ किंच । शब्दार्थयोः समुपलब्धिविशेषणमनुपपन्नम् । गुणानां रसे-

तन्मनुष्योऽहोऽक्षयम् । अपरप्रेमिति शब्दः । 'अनुप' इति 'इवाः' इत्यनेनापि-
तम् । अत्रापि कथमेतन्मत्ता अपि काम्यस्य काम्यत्वं व्याहृत्य नैताः, किन्तुपदे-
नतात्मात्मनेन अनुपिल्लवेनामयः । साधारण्येन सामान्येन । नेतुं अन्ये काम-
यतां गतं च त्वं काम्यमेव कथम्' इत्येतेरपि साम्यत्वं स्पष्टिरस्य आह—यथेति ।
इत्याद्यनुपमो रसतुल्यतमः स्फुटः । पञ्चदशोपपन्नयोरस्यसिद्धयन्मिभूतः ।
तथा च इत्यस्यैव प्रामाण्यविरूपपञ्चदशोपपन्नयोरस्यसिद्धयन्मिभूतः ।
न काम्यत्वमिति भावः । 'अन्वय' इति शब्दे अनुपमत्वार्थः । स्फुटः इति ।
पुष्टेयं तथा सोमोपपन्नयोरस्यसिद्धयन्मिभूतः पञ्चदशोपपन्नयोरस्यसिद्धयन्मिभूतः ।
इत्यनेनैवाम् 'सोम' इति भावः । केचित्तु 'अदोषा' इति पञ्चदशोपपन्नयोरस्यसिद्धयन्मिभूतः
त्रिषद्वयमेवैव प्रामाण्यविरूपपञ्चदशोपपन्नयोरस्यसिद्धयन्मिभूतः । एते रस-
मोपपन्नयोरस्यसिद्धयन्मिभूतः । सोमन्तरं तु 'अन्वय' इति । तथा च 'अन्वय' इति
देवाहरणे 'अन्वय' इति भावः । 'प्रिपञ्चयमेवमि विप्रपञ्चयमेवमि स्यान्तरेषु ।
नौमी प्रति प्रमिहिते, तु, अदोषे प्रमिणे सद्यः साप्यि यदि किंचिदपि स्यामि' ।
इत्यत्र 'प्राप्य' इति पञ्चदशोपपन्नयोरस्यसिद्धयन्मिभूतः, 'किन्तुपदेनानुपम' इति
अन्वयः । अन्वयः प्रमिणे सद्यः साप्यि यदि किंचिदपि स्यामि' ।
नामन्वयः । 'अन्वय' इति पञ्चदशोपपन्नयोरस्यसिद्धयन्मिभूतः । 'अन्वय' इति
अन्वयः । 'अन्वय' इति पञ्चदशोपपन्नयोरस्यसिद्धयन्मिभूतः । 'अन्वय' इति

1. सगुणत्वमिति । भेदेदवानुग्रह—निर्गुणैः प्रतिष्ठातिरारण्यम् सगुणमित्युक्तम् ।

सुगता रत्नमिहापेक्षं कल्पत्वा तदभिव्यक्तशब्दापेक्षामिति भावः । अत्र एवा-
द्योक्तौ 'सुगताया सुनतेषां वृत्तिः शब्दापेक्षेया' इति हि तद्वत् । तथा सतेन मधुरः
स्वराः मधुरोऽर्थ इत्यादिन्यवदाः संगच्छन्ते ॥

‘2, काम्यभक्त्यै चन्द्रपौत्राय’ ॥

३. 'स्य वंशाख्ये' इति वार्तिकेनारम्भेनैवं भाष्येति ॥

[illegible]

कधर्मत्वस्य, 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादयः इवात्मनः' इत्यादिना तेनैव प्रतिपादितत्वात् । रसामिव्यञ्जकत्वेनोपचारत उपपद्यत इति चेत्, तथाप्युक्तम् । तथाहि—तयोः काव्यस्वरूपेणाभिमतयोः शब्दार्थयो रसोऽस्ति, न वा । नास्ति चेत्, गुणवत्त्वमपि नास्ति । गुणानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । अस्ति चेत्, कथं नोक्तं रस-

'तददोषो' इति लक्षणकृतम् । रसामिव्यञ्जकत्वेन स्वाधयरसामिव्यञ्जकत्वेन । उपचारतः परम्परासंबन्धेन । केचित्तु "इदं च ग्रन्थकृतारोपजीजानवधानादेवोक्तम् । तथाहि—परंपरासंबन्धघटकस्य मध्यभूतसंबन्धिनो बहिरिन्द्रियप्रत्यक्षे सत्येव नैवमारोपः, यत्र ॥ परम्पराघटकमध्यभूतसंबन्धी न बहिरिन्द्रियप्रत्यक्षस्तत्र त्वेवमारोपो हृदयत एव । यथा—'शीतो वायुः', उष्णं जलम्, सुगन्धिर्वायुः' इत्यत्र परम्परासंबन्धघटकानां मध्यभूतजलमिषुप्पावृषवानां सूक्ष्मत्वेनाप्रत्यक्षत्वात्तादृशारोपः । प्रकृते तु बहिरिन्द्रियप्रत्यक्षस्य, रसादेः परम्परासंबन्धघटकत्वात् संबन्धत्वेन गुणत्वारोपः शब्दार्थयोरिति । अत एवोच्ये शब्दत्ववत्तारत्ववदासाधमिति आरोपः । तत्र परम्परासंबन्धघटकस्य शब्दस्य बहिरिन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् । न चैवं 'ज्ञानत्ववानात्मा' इत्यारोपापत्तिः, तत्र परम्पराघटकस्य मध्यभूतस्य ज्ञानस्य बहिरिन्द्रियाप्रत्यक्षत्वादिति वाच्यम् । यदि च तादृशारोपो नास्ति तदा कारणान्तराभावात्स्यैव तत्र कृत्पत्नीयत्वात् । अत एवोदयनाचार्येणोक्तम्—'आरोपे सति निमित्तानुसरणं ननु निमित्तमस्तीत्यारोपः । यत्तु जपाकुमुमस्य बहिरिन्द्रियप्रत्यक्षत्वेऽपि लोहितं स्फटिकं इत्यारोपस्तत्र जपाकुसुमं नेहदापरम्पराघटकं जपाकुमुमस्य स्फटिकावृत्तित्वात् । किंतु जपाकुमुमस्य स्वच्छद्रव्यत्वाभिध्यमेव तद्वहितं प्रथमेवारोपनिमित्तमिति सुधीः शिरवयेयम्" इत्याहुः । तत्र । स्थूलजलसंयोगेन शीतो वायुः, अर्कोपलसंयोगेन उष्णं जलमित्यादौ स्थूलजलकोपलसंयोगघटितयोः परस्परयोर्मध्यपदार्थयोः स्थूलजलकोपलयोर्बहिरिन्द्रियप्रत्यक्षत्वेऽपि विशिष्टधीनियामकत्वेन संपन्धत्वाङ्गीकारान् । विद्वानन्दचमत्कारमयस्य रसस्य बहिरिन्द्रियप्रत्यक्षशायिपयत्वेन तद्वदितपरम्परायाः संपन्धत्वाङ्गीकारे याधामाशयः । वस्तुतस्तु यत्र परम्पराया विशिष्टधीनियामकत्वं सत्येव तस्याः संपन्धत्वं कल्प्यते । यत्र तु विशिष्टधीनियामकत्वं तत्र तु संपन्धनं न कल्प्यत एव । तेन 'ज्ञानत्ववानात्मा' इत्यादौ स्वगनवाविगमशाय्यं न संपन्धन्मिति । रसोऽस्तीति । रसोऽवश्यमस्तीत्यर्थः । गुणवत्त्वमपि नास्तीति । तथा च भैरवोक्तं 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यक्तं, त्वपरं स्मृतम्' इति तृतीयकाव्यप्रकारेऽभ्यासिः । गन्धत्रासंयतस्यैवैव काव्यमिति चेत्तर्हि 'शब्दचित्रं' इत्येव वाक्यं नुक्तं निमग्नतापटकेन 'सगुणो' इत्यनेनेति भावः । तदन्वयेति । रसान्तरवैयर्थ्यः ।

१. 'शिरवयेयम्' इति. २. 'केचित्तु' इत्यदि. 'मध्यभूतमध्यमयत्वं न संपन्धन्मिति' इत्यन्तः सः पुनश्चात्रैव हृदये. ३. 'यत्र रसो कथं तादृशपरिहारात्' इति. ४. 'तदा' 'मध्यभूत' इत्यदि 'यत्र' इत्यन्तः सः पुनश्चात्रैव हृदये.

वन्ताविति विशेषणम् । गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्यैतल्लभ्यत इति चेत्, तर्हि सरसावित्येव वक्तुं युक्तम्, न सगुणाविति । नहि प्राणिमन्तो देशा इति वक्तव्ये शौर्यादिमन्तो देशा इति केनाप्युच्यते । ननु 'शब्दार्थौ सगुणौ' इत्यनेन गुणामिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ काव्ये प्रयोज्यावित्यभिप्राय इति चेत् । न । गुणामिव्यञ्जकशब्दार्थवत्त्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वम्, न तु स्वरूपाधायकत्वम् । उक्तं हि—'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिध्यात्मा, गुणा शौर्यादिवत्, दोषाः कान्तादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्' इति । एतेन 'अनलकृती पुन क्वापि' इति यदुक्तम्, तदपि परास्तम् । अस्वार्थं—सत्रेण सालकारौ कचित्त्वस्फुटालकारावपि शब्दार्थौ काव्यमिति । तत्र सालकारशब्दार्थयोरपि काव्ये उत्कर्षाधायकत्वात् ।

रसो सति गुणस्य रगभावे सति गुणाभावस्यावश्यं सत्त्वादित्यथ । शब्दाध्वनियो काव्यत्वास्वीकारे त्वाह—'अस्ति' चेदिति । कथमिति । ननु रसगुणयो समनियतवद्वेकतरोर्ध्वं प्रकृताभिर्वाहो भवतीति को दोष इति चेत् । न । माधुर्यादिति यसाधारणस्य गुणवत्त्वैकस्याभावादननुगमस्य समवायः । 'रसवन्तौ' इत्युक्ते तु भावादिसाधारणस्याप्रपञ्चस्यास्त्रादपिपयताविशेषस्य रसत्वस्वीकाराशाननुगम इति भावः । ननु गुणपदेन लक्षणया रसोपस्थितिरितिभिप्रायेणाह—'गुणवत्त्वेति । एतच्च शक्यं रुच्यन्यापनाय । 'एतल्लभ्यते 'रसवन्तौ' इति विशेषणं लभ्यते । रुचिप्रयोजनभावात्क्षणान्न न समवतीत्यभिप्रायेण दूषयति—'तर्ह्येति । ननु दृष्टान्ते हृदि प्रसीत्ताभावात्क्षणान्न न समवत् । प्रकृते तु काव्ये गुणामिव्यञ्जकशब्दार्थप्रयोगोपदेश एव प्रयोजनमस्तीति कथं लक्षणया असमव इत्यभिप्रायेण शङ्कते—'नन्विति । न तु स्वरूपाधायकत्वं तद्व्यतिरेकेणापि काव्यत्वसमवादिदिति शेषः । तदेवोपपादयति—'उक्तं हीति । 'शब्दार्थौ' इति सामान्यत एवोक्तं न तु गुणामिव्यञ्जकशब्दार्थाविति । 'रसादि' इत्यादिपदेन रसाभासभावतदाभासभावान्तिभावोदयभावसंनिभासभावस्वरूपादीनां प्रदर्शनम् । गुणा वक्ष्यमाणा माधुर्याज प्रगाढा दोषा धुनिदुष्पुष्टत्वादयः । रीतयो वेदनीयैर्दीपानां मीलादयः । अलंकाराः अनुप्रासोपमादयः । एतेन वक्ष्यमाणहेतुना यथाश्रुते दूषणं न समवतीति तदपि स्मरति—'अन्वार्थं इति । अत्र च भवति ।

एतेन 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि रास्तम् । वक्रोक्तेरलंकाररूपत्वात् । यच्च कचिदस्फुटालंकारत्वे उदाहृतम्—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-

स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।

सा चैवासि तथापि तत्र सुरतन्यापारलीलाविधौ

रेचारोषसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥ इति ।

धायकत्वात्, न स्वरूपागयकत्वादित्यर्थः । एतेन उक्तहेतुना । वक्रा विचित्रा उक्तिर्वक्रोक्तिः । वैचित्र्यमलंकार इति सामान्यलक्षणमित्यभिप्रायः ॥ यः कौमार-
हर इति । रेवातीरे वेतसीतले कृतक्रीडायास्तंकीशस्थानं प्रयुक्ततावर्णनमिदम् ।
विचारेण कौमारं अनूढात्वं हरस्यपनयतीति । कौमारहरः 'वरोऽभिमतः' । एतेन
श्रीमतः सुरतचतुरस्य पत्युः सत्त्वं प्रदिपादितम् । तदुक्तम्—'धीमान्सुरतवक्ष्य
योपिता संमतः पुमान्' इति । एकार्थयोः "एव-हि" शब्दयोरेकादानगुणपतेरत्यन्ता-
संभवित्वसूचनाय । एतेनोपपत्त्यसंनिधानस्य स्तोत्रकण्ठप्रारणत्वं वारितम् । अत्रापि
तत्प्रतिभारणमस्तीत्याह—ता एवेति । यामु तत्र मीढनं कृतं तत्सजातीया एवे-
त्यर्थः । मालती वासन्तिकी जातिः । प्रदत्तमूर्डं गमनं येषां ते प्रौढाः । 'अनुब्रू-
वहन्वायुः—'इत्यादौ वह' धातोर्गमनार्थता प्रसिद्धा । वायुगमनस्य प्राशस्त्यमत्र
मान्यम् । प्रौढवायोः स्मररोहीपकत्वाभावाद्यथाभुतायेत्यागः । अथवा यथा—'महा-
पण्डितः सत्कविः' इत्यादौ महत्त्वसत्त्वादिकं पाण्डित्यकवित्वादावप्येति, तथात्र
प्रौढत्व सौरभेऽन्वेति, तद्योत्वटत्वम् । यद्वा "प्रौढा." इति सरसीनां संबोधनम् ।
सुरतचतुर इति तदर्थः । कदम्बानिलाः, धूलीकदम्बवायवः । चैत्रे तस्यैव संभारात् ।
केचित्तु—'कदम्बानिलाः कदम्बवनानिलाः, वनानिलानां प्रौढत्वे वनबहिर्भूतानां
'मान्योपलम्भादुहीपकत्वेनाह—'प्रौढाः' इति व्याचक्षुः, तथ । तथाप्येव कदम्बपर्य-
न्तानुधावनस्य निष्प्रयोजनकत्वात् 'अरण्यानिलाः' इत्यनेनैव तदर्थलभात् । न च
मालतीसंवन्धेनैव अनिलानां सौगन्ध्यलभात्कदम्बसंवन्धदर्शनं व्यर्थमिति वाच्यम्,
विलक्षणसौगन्ध्यत्रभाय तस्य सार्थकत्वात् । यथा—'रमणीकमनीयस्फोत्तले
परिपीतपटीररसोरलसः । अयमयति पद्मशरानुचरो नवनीपननीपुवनः पवनः ॥'
इति नवपुष्पितेत्यर्थः । अत्र अन्दनसंवन्धेन सौगन्ध्यलभेऽपि विलक्षणसौगन्ध्य-
लभाय कदम्बसंवन्धदर्शनम् । सा चैव तदवस्थ । तथापि तादृशसुरतसा-
मग्रासरयेऽपि । सुरतन्यापारलीलाविधौ सुरतन्यापारलीलाविधाननिमित्तम् ॥

एतच्चिन्त्यम् । अत्र हि विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य संदेहसंकरालं-
कारस्य स्फुटत्वम् ।

विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य विभावनाविशेषोक्तिनिर्दिष्टस्य । संदेहेन संदे-
हविपर्ययत्वेन संकरो मेलकः । उत्कण्ठया पत्याद्यभावरूपकारणं विना उत्कण्ठाह

१. एतदिति । गाल्ठीकदम्बनोः संसर्गभावान्गाल्ठी वासन्तिकलतेत्यर्थे प्रमाणमा-
वाद्रमसोक्तिरियं चिन्तासन्निधिसंप्राप्त्येन समकल्पकथा भवितुमर्हति । 'कौमारहर' इत्यत्र
'कौमारापूर्ववचने' इति सूत्रमपि द्रष्टव्यम् । अयेद विचार्यते—इह 'हरो वर'— इत्याद्यनु-
प्राप्तस्य स्फुटस्यापि 'सरः सरः—' इत्येवमादिषत् प्रकृतं शृङ्गाररसप्रतिपक्षवर्णयितृत्वेन ना-
लकारता । विशेषोक्तिविभाजने विद्यमाने अपि न स्पष्टे । कथमिति चेत्, इत्थम्—विशेषो-
क्तिस्त्वावधारणसत्त्वेऽपि कार्योत्पत्तिकथनम् । अत्र चानुत्कण्ठाकारणं वरोपकरणद्वोरपमुक्तता ।
तत्सत्त्वं यद्यप्यनुत्कण्ठाभाव उत्कण्ठाकारणे निर्दिष्ट एव, तथापि तानुत्कण्ठामावत्वेन,
किन्तुत्कण्ठात्तत्वेन । तस्मादस्पुटत्वमत्रा । यदि चेतोऽनुत्कण्ठितं नैवमिषीदेव तदा
स्पुटत्व मयेत् । एव कारणमावेऽपि कार्योत्पत्तिकथनं विभावना । तत्र चोत्कण्ठाकारणं
वरोपकरणद्वोरतत्ता । तदभावश्च यद्यप्युक्त एव तथापि सातत्तावदत्वेन, किन्तु तत्कार-
णेणैव । अभावाभावस्य तत्त्वात् । अतोऽस्मा अस्पुटत्वमेव । न च स एवेत्येवकारेणा-
तत्ताभावप्रतीतेरतत्ताभावत्वेन प्रतीती कथमस्पुटत्वमिति वाच्यम् । विशेषणसंगतेनैवका-
रेण विशेष्ये विशेष्यपदयोगस्य व्यवच्छेदो हि प्रत्याप्यते, न ॥ विशेषणाभावाभाव एवा-
ह्य । पर्यवसानं तु तत्रैवस्पुटत्वमेव । एव विशेष्यसंगतेनाप्येवकारेण विशेष्यमिश्रे
विशेषणाभाव एव नाहस्य प्रत्याप्यते, किन्तु विशेषणयोगाभाव इति द्रष्टव्यम् । अत एव
'शङ्खः पाण्डुर एव' इत्यादी 'नापाण्डुरः', 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्यादी च 'नान्यो
धनुर्धरः' इत्यादिः कदाचित्स्पुटत्वार्थं प्रयुज्यते । आचार्यदण्डव्याह—'त्वन्मुखं त्वन्मु-
खेनेव त्वस्य नान्येन केनचित्' इति । अन्यथा पुनरुक्तिरत्र स्यादिति । न चानुत्कण्ठ-
प्रतीतेः नञा प्रतपपस्य व्यवहारस्य सम्भवेति नवैकप्रायेऽवस्थानापरत्वा स्पष्टं मणीयदे,
ततो नहि तात्पर्यमस्यापि कारणकार्यसत्त्वान्त्वाभिगमनमप्यप्यथादुपपद्यत इति । एवम-
नयोरस्पुटत्वे च संदेहकृतसंकरोऽप्यनयोरस्पुट इति विभावनीयम् । न चासीति क्रियाया
विभक्तिविधारेणामेव सर्वत्र वरादावन्वयेन क्रियादीपक्षमेव स्पुटमिति वाच्यम् । कस्मी-
त्यहमर्थकाव्यवसायः । त्रियापदत्वेऽपि न दोषकत्वम् । तदन्वयिना सर्वेषामेव प्राकर-
णिकत्वात् । दीपकस्य तु प्राकरणिकाप्राकरणिविपर्ययत्वात्, विभक्तिविपरिणामकत्वताया
एवास्पुटात्मकत्वात् । एवकारस्याभेदवत्त्वेनेतरनिषेधपरत्वायोगाच्च न परितरत्वा । वरा-
दीनां गुणक्रियावीगपमाभावाच्च समुच्चयः । वरादीनामुपमानोपमेयभावाभावाच्च गुण-
योगिता । तद्वदवरीनामप्येवमप्यथा 'स एव हि—' इत्यादे प्रत्यभिज्ञादतिरिक्त्वाच्च न
संरन्धलकारः । यत्तु सुरभयोऽहं प्रीतिः सवापुंसमयी इति वाच्यस्तिह्यप्यस्पुटम्,
अगाधत्वात् । शृङ्गाररूपरसस्य स्पुटत्वादसंभेदलकारः स्पुट इति चेत् । न । रससात्र
प्राप्तायात् । अप्राप्तान् एव तस्यालकारोपगमात् । एवेन 'अनलकृती पुनः काति'
इति वदुःकम्, तदपि निर्वोचम् ॥

एतेन—

‘अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम् ।

रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥’

इत्यादीनामपि काव्यलक्षणत्वमपास्तम् । यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्—
‘काव्यस्यात्मा ध्वनिः—’ इति तर्किकं वस्त्वलंकाररसादिलक्षणस्वरूपो
ध्वनिः काव्यस्यात्मा । उत रसादिरूपमात्रो वा । नाथः । महे-

पकार्यकथनमितीयं विभावना, किंवा उत्कृष्टाभावस्य कारणस्वरूपे तस्याः कथनमिति
विशेषोक्तिरिति संदेहात् संदेहसंकरालंकारोऽयम् । विभावनायां कारणविहङ्गसद्भाव-
मुखेन कारणाभावः । विशेषोक्तौ कार्यविहङ्गसद्भावमुखेनैव कार्याभावः प्रतीयते, न
त्वभावबोधकमिति तयोरस्फुटत्वम् । तदुभयंकोटिकत्वेन संदेहस्य सुतरामस्फुटत्व-
मिति चेत् ‘सुरतव्यापारलीलाविधौ रेवारोधति चेतसीतस्तले’ इत्यन रेफानुप्रा-
सस्य स्फुटत्वं प्रतीहि । ‘रणौ लघू’ इत्यनेन तस्य भाधुर्यव्यञ्जकत्वमुपपादितम् ।
तेन च रसोपधारकतया तस्यालंकारत्वमव्याहतमेव । ‘लघू’ इत्यस्य असंयुक्ताधित्यर्थे
इति व्याख्यातव्यम् । केचित्तु—‘रेवातीरे चेतसीतले कृतसंकेताया नायिकामा गृहे
स्वयं परमशोऽयम्—यः पौमार इति, स एव हि वरः स वर एव विलक्षणर-
तिसमर्थ एव । एवं च रसस्य प्रधानत्वालंकारत्वमिति काव्यप्रकाशोक्तौ रसस्य
रसाभासस्यैव रतेरुपपत्तिगोचरत्वेन रसाभासस्यैव संभवात्’ इत्याहुः । तत्र ।
व्यङ्ग्यभावादुपपत्तेरग्राह्यात् । यत्तु वैशिष्ट्यमेवात्र व्यञ्जकमिति चेत् । न । यत्तु-
स्तादृशवैशिष्ट्ये मानाभावात् । प्रत्युत ‘स एव हि वरः’ इत्यनेनैवोपपत्तिरनेत्यन्ता-
संभवित्यमुच्यते । एतेनोक्तदोषसमूहेन । अदोषमित्यादि । निर्दोषस्य गुणालं-
कारस्य सरसस्य काव्यस्य प्रशंसापरमिति भावः । यस्त्विति । त्रिरूपः त्रिप्रकारः ।

१ काव्येति । ‘काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति श्रुत्यैः समाग्रातपूर्वस्वस्याभावं जगदुरपरे
आक्षेपानुसृतमन्ये । केचित्तायां स्थितमपि यत् तद्वत्तुल्यदीर्घं तेन ब्रूमः सद्वचनमनप्रीतये
तत्स्वरूपम् ॥’ इति ध्वनिकारिका । अन्ये सं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः ।
शेषं नातिरिक्तोहितम् ॥

१. गुणलक्षणे तु पाठक्रमः कथं दृश्यते—‘एतेन’ ‘वक्रोक्तिः’ इत्यादि । ‘—रूपत्वम्’ इत्यन्तः, पाठो
मात्रेण तत्र । ‘एतेन अदोष—’ इत्यादि । ‘अदोषत्वम्’ इत्यन्तः पाठो दृश्यते. तत्र ‘यत्तु—’ इत्यादि
‘—संदेहसंकरालंकारस्य गुणत्वम्’ इत्यन्तः पाठो दृश्यते. यथात् ‘अथ यत्तु यत्तुसंदेहसंकरालंकारस्य
विभावनायाः परिपूर्णत्वमव्याप्ताभावात् तत्त्वम् । संदेहसंकर इति । न हि विशेषोपधारणवादे कार्योपपत्ति-
विभावनायाः पूर्णत्वम्, किंतु प्रसिद्धकर्मनिरवधारणसंवेद्येति विभावनायाः पूर्णता स्यात् । अत्र निन्दे-
वधारणवादायां कार्योपपत्तिरिति चेत् । पूर्णत्वम्, अत्र तु प्रसिद्धकर्मनिरवधारणवादायां कार्योपपत्ति-
विभावनायाः पूर्णता । अथवा विभावनासंदेहोक्तौ उपपत्तिः । इत्यथ उपपत्तिरिति चेत् ।
‘वैशिष्ट्यसंदेहसंकरालंकारस्यैव तत्त्वत्वम्’ इति । अथवा उपपत्तिरिति चेत् । उपपत्तिरिति चेत् ।
‘एतेन संदेहसंकर इति ।’ इत्यादि । पाठो दृश्यते. अन्यत्राप्यत्र । २. ‘तत्र नाथः’ इति त्रिरूपः ।

लिकादावतिव्याप्तेः । द्वितीयश्चेदोमिति ब्रूमः । ननु यदि रसादिरूपमात्रो
ध्वनिः काव्यस्यात्मा, तदा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।

मा पहिअ रत्तिअन्धिअ सेज्जाए मह णिमज्जहिंसि ॥

इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत्
न । अप्रापि रसाभासवत्तैवेति ब्रूमः । अन्यथा 'देवदत्तो ग्रामं याति'
इति वाक्ये तद्ब्रूत्यस्य तदनुसरणरूपव्यङ्ग्यावगातेरपि काव्यत्वं स्यात् ।
अस्त्विति चेत् । न । रसवत् एव काव्यस्याङ्गीकारात्, काव्यस्य प्रयो-

ग्रहेलिकादाविति । 'तद्व्यालिङ्गितः' कण्ठे नितम्बस्यलमाभितः । गुरुणा संति-
धानेऽपि कः ब्रूयति मुहुर्मुहुः ॥' इत्यादावित्यर्थः । अत्र किञ्चिदूनजलकलशरूपं
वस्तु व्यङ्ग्यम् । ओमिति खीकरोमि ॥ अत्ता इत्यादि । 'ध्वञ्चरन् निमज्जति'
अत्राहं दिवसकं प्रलोकय । मा पयिक रात्र्यन्ध शय्यायां मम निमहुपसि (शय्याया-
माययोर्मोहोः) ॥' इति संस्कृतम् । रात्र्यन्धकत्वेन कथितात्मानं पयिकं प्रति स्वयं
दृष्ट्वा उचिरियम् । अत्ता ध्वञ्चः । निमज्जति निमग्ना मृतप्राया तिष्ठति ॥ वस्तुमा-
त्रस्य स्वशय्यामात्रप्रवेशरूपवस्तुन एव रतेरुपपत्तिविषयत्वादन शृङ्गारमात्रः ।
यस्तुतास्तु रसापसंकीर्णमस्त्वलंशरश्मिः काव्यप्रचारमप्ये निर्वचनस्योन्मत्तप्रलपित-
त्वप्रसन्नमयेनास्वाद्यव्यङ्ग्यमात्रस्य काव्यात्मत्वमवश्यं वाच्यम् । एवं च प्रकृते
व्यङ्ग्यवस्तुरचनास्वाद्यतया तेनापि काव्यव्यवहारो भवितुमर्हति, आस्वाद्यत्वं चाङ्गादसं-
वलितप्रतीतिविषयः । अन्यथा वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि काव्यत्वस्योच्चारः ।

१. 'महं मज्जहिंसि' इति ध्वन्या-गेकलोचने पाठः । महं इति निपातीऽनेवादेव-
तिरप्राप्त्योरित्यर्थे ननु ममेति । तर्हि हि विशेषवचनमेव शङ्काकारि भवेदिति प्रच्छन्नाभ्यु-
पगमो न स्यात्.

२. काव्यस्येति । वस्तुतश्चाङ्गीकारमार्गे हि कविकर्म, तच्च निमित्तः शृङ्गारनिर्गन्ध-
नम्, तत्र शब्दभित्तिका अर्थस्य प्रतीयमानत्वाच्च तदात्मकारवरूपम् । निनेपालामपि
परावन्ताररसादिप्रधानास्वादनद्वाराण्य हितोपदेशेभ्यस्तुलीकरणम् । एवं चास्वाद्यत्वम-
दिना वस्तुतश्चाङ्गीकारप्रधानानां काव्यत्वमव्याहृतम् । 'रस एवात्र जीविनम्' इत्याद्ये-
यादी ॥ रसपदार्थध्वन्यकारणयोर्बोधिभेदेऽस्ति, ननु रसापदं शृङ्गारमात्रविधानो बोधि-
भेद एव नियत इति । अत्र वदमप्याश्रयते—'तत्र निर्वचनशृङ्गारार्थगुणवशो हानि श्रुतम् ।

१. 'रस' इत्यत्र 'रस' इति मुद्रितपाठः. २. 'न' ख-ग-पुस्तकेष्वेवम्. ३. 'गच्छति' क.
४. मुद्रितपाठे तु 'वस्तुमात्र' इत्यत्र—'वस्तुमात्र' इति ख-ग-पुस्तकेष्वेवम्. ५. 'वस्तुमात्र' इति
अप्यत्र 'वस्तुमात्र' इति ख-ग-पुस्तकेष्वेवम्. ६. 'वस्तुमात्र' इति ख-ग-पुस्तकेष्वेवम्. ७. 'वस्तुमात्र' इति
ख-ग-पुस्तकेष्वेवम्. ८. 'वस्तुमात्र' इति ख-ग-पुस्तकेष्वेवम्. ९. 'वस्तुमात्र' इति ख-ग-पुस्तकेष्वेवम्.

जनं हि रसास्वादमुखपिण्डदानद्वारा वेदशास्त्रविमुखानां सुकुमारमतीनां
तज्जपुत्रादीनां विनेयानां 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादि-
कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेश इति चिरंतनैरप्युक्तत्वात् । तथा चाग्नेय-
पुराणेऽप्युक्तम्—'वाम्बैदग्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' इति ।
व्यक्तिविवेककारेणाप्युक्तम्—“काव्यस्यात्मनि सङ्गिनि, रसादिरूपे
न कस्यचिद्विमतिः” इति । ध्वनिकारेणाप्युक्तम्—‘नहि कवेरिति’

नीरसस्य काव्यत्वास्वीकारे हेतुमाह—काव्यस्य प्रयोजनं हीति । 'रसास्वादमुख-
पिण्डदानद्वारा' इति पाठे पिण्डं समूहः । रसास्वादमुखसत्तानद्वारेत्यर्थः । मुखेति
पवर्गपञ्चमादिपाठे मुखपिण्डं लोभद्रव्यम् । विनेयानां इत्याकृत्यज्ञापनीयानाम् ।
तथा च शब्दप्रधानेषु वेदेषु अर्थप्रधानेषु पुराणैतिह्येसादिषु चायासयद्गुणेषु विमुद्रानां
सुकुमारमतीनां हि शुणीभूतशब्दार्थेषु रसास्वादप्रधानेषु प्रथमं तान्द्रसास्वाद-
मुखोद्देशेन प्रवृत्तित्वं काव्यार्थानां इत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशपरतावधारणमिति
भावः । तदुक्तम्—‘स्वादुकाभ्यरसोन्मिथ्रवाक्याथंमुपभुजते । प्रथमालीढमधव-
पिबन्ति कटु भेपजम् ॥’ इति । काव्यार्थं काव्यस्य परमतात्पर्यार्थमुपभुजते आस्वा-
दयन्ति । दार्ढ्यदग्ध्येति । वाचो वैदग्ध्यं वैचित्र्यं प्रधानं यत्र तस्मिन् । एवकारेण
‘अलंकारादिव्यवच्छेदः । अत्र काव्ये । जीवितं जीवनाधायकम् । सङ्गिनि

गपादिबन्धरूपाय काव्यसामान्यलक्षणम् ॥ दोषे सति गुणेऽपि किं बालकगौरवि ।
अतो निर्दोषपागुण्यमेवात्राद्रियता युगे ॥ धर्मा रसा लक्षणाणि रीतिरवृत्तिवृत्तयः ।
रसिकहृदयः दोषे काव्ये सन्ति च वृत्तयः ॥ अलंकारा गुणेष्वेव प्रथम्यन्ते प्रायशो मुखे ।
गुणैर्म्योऽस्तः पृथक्तेन प्रथममार्गं न तद्वत् ॥ अलंकारेष्वपि गुणा वदप्यन्तर्भवन्ति हि ।
तथाप्याभारतायोगान्मुख्यास्तेऽनः सुधीप्रियाः ॥ अलंकारविहीनोऽपि सुदृष्टः सीमाग-
च्छुद्धः । गुणहीनमलंकारसहस्रमपि किं तथा ॥ रसितदृष्टिध्वलकारा गुणैश्च । पृथगप्य-
लम् । इत्यन्ते तेषु बाहुल्यात्तेषां तेषां च सीद्ध्यतः ॥ अलंकारा यदाप्येवमन्तर्भूता
गुणैश्चमी । रसलक्षणमायुर्वृत्तिरिति तदा न किम् ॥’ इति । किं च । पदमेन नीर-
सपदेष्विव प्रवन्धरसेन नीरमपेषु रससंचारकल्पनानि वृत्त्यास्ता मुत्तरप्रवन्धेषु व्यभि-
चारिणीति रिक्तम् ॥

३. सीमागच्छम् ॥

१. उत्तमिति । पञ्चानोक्तस्य सूचीयोलोके ‘विभावमावाजुनाद—’इत्यादिकारिकायां
व्याख्यानावसरे ॥

१. 'गुण' च २ 'दोष' कल-ग. ३. 'अप्युक्त' कल-पुस्तकसंश्लेष. ग. पु. ४. ५
'तथा' 'इत्यदि' 'इति' इत्यादि लोके नति.

वृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलभः, इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः' इत्यादि ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषांचिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं स्यादिति चेत् । न । रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्मरसेन, प्रमथरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात् । यत्तु 'नीरसेष्वपि गुणामिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद्दोषाभावादलंकारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः स रसादिमत्काव्यबन्धसाम्यादौण एव । यत्तु वामनेनोक्तम्—'रीतिरात्मा काव्यस्य' इति तन्न । रीतेः संघटनाविशेषत्वात् । संघटनायाश्चावयवसंस्थानैरूपत्वात् आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात् । यच्च ध्वनिकारेणोक्तम् —

'अर्थः सहृदयश्चाप्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः ।

वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य मेदाबुधौ स्मृतौ ॥' इति ।

अवश्यं स्थायिनि । विमतिरस्तरसः । इतिवृत्तं नीरसवान्यप्रबन्धः । आत्मपदलभः स्ववाचकशब्दशब्दप्राप्तिः । कविसंबन्धिप्रबन्धत्वेनैव काव्यशब्दप्रयोगो नास्तीति भावः । इतिहासादेर्भारतादेः । आदिना रामायणरघुवंशादिपरिमहः । तत्सिद्धेः काव्यपदप्राप्तिमिद्धे । घोरदिरसप्रधानानां भारतादीनां सुतरां काव्यसंज्ञात्वमिति भावः । तर्हि रसपद एव काव्यत्वस्वीकारे । पद्यानामिति गद्यानामुपलक्षणम् । 'गद्य पद्य च मिश्रं च तन्निधेयं व्यवस्थितम्' इत्यनेन गद्यस्यापि काव्यत्वस्वीकारात् । तेषां नीरसपद्यानां व्यञ्जकप्रतिपाद्यप्रतिपादकसंबन्धेन रसवत्त्वमिति भावः । 'यत्' इत्यव्ययं, 'य' इत्यर्थः । नीरसेषु 'बन्धे शरत्तिलोत्तरे इन्द्रजयकविभ्रमे । इन्द्रनीलनिगलक्ष्म सुंदरालालिनः श्रियम् ॥' इत्यादिषु । संघटनाविशेषत्वाद्गुणाभिष्यञ्जकशब्दविन्यासरूपत्वात् । ननु रीतेः संघटनाविशेषरूपत्वेऽपि काव्यात्मत्वस्वीकारे यो दाप इत्यंत आह—संघटनायाश्चेति । काव्यशरीरस्य वाक्यस्यावयवापदानि तेषां संस्थानं समुचितस्थाने निवेशस्वरूपत्वादित्यर्थः । तद्भिन्नत्वादवयवसंस्थानभिन्नात्वात् । सहृदयश्चाप्य सहृदयानां हृदयंगमः । प्रतीयमानो व्याप्यः ।

१. अर्थ इति । शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम् । तत्र शरीरग्रहणादेव केनचिदात्मना सदनुप्राणितं काव्यमेव । तत्र शब्दस्तावच्छरीरमात्र एव संनिविशते । सर्वज्ञ, नसर्वेष्वर्थमन्तारमूलकृशादिवत् । अर्थः पुनः सकलजनसंवेद्यो न भवति । न अर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः । लौकिकभेदिकवाक्येषु तदभावात् । तदाह—सहृदय व्याप्य इति । न एक एवाथो दिशाएतया मिश्रिमिर्विभागगुणामियुज्यते । तथाहि—शुक्लेऽर्थरूपरे किमिति कलेशितसहृदयः स्थापते । तद्वद्विषयं केनचिद्विशेषेण ।

वृत्तमात्रनिर्वाहणात्मपदलभः, इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः इत्यादि
ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषांचिच्चीरसानां पैधानां काव्यत्वं
स्यादिति चेत् । न । रसवत्प्रधान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन, प्र-
न्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात् । यत्तु नीरसेष्वपि गुणानिव्यञ्जक-
वर्णसद्भावादोषाभावादलंकारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः स रसादिमत्काव्य-
बन्धसाम्यादौण एव । यत्तु धामनैनोक्तम्—‘रीतिरात्मा काव्यस्य’ इति
तत्र । रीतेः संघटनाविशेषत्वात् । संघटनायाश्चावयवसंस्थानरूपत्वात्
आत्मनश्च तद्विज्ञत्वात् । यच्च ध्वनिकारेणोक्तम्—

‘अर्थः सहृदयश्चाप्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः ।

वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदाख्यौ स्मृतौ ॥’ इति ।

अपदं स्यामिति । यिमतिरस्वरसः । इतिवृत्तं नीरसवास्यप्रबन्धः । आत्मपद-
लाभः संवाचककाव्यसंज्ञाप्रसिद्धिः । कविसंबन्धिप्रबन्धत्वेनैव काव्यशब्दप्रयोगो भास्वीति
भावः । इतिहासादेर्भारतादेः । आदिना रामायणशुक्लशादिपरिग्रहः । तत्सिद्धे
काव्यपदप्रसिद्धिः । वीरादिरसप्रधानानां भारतादीनां सुवर्णं काव्यसंज्ञाख्याम इति
भावः । तर्हि रसपद एव काव्यत्वस्तीकारे । पदानामिति गद्यानामुपलक्षणम्
‘यद्यपि पद्यं च मिथं च तन्मिथं व्यवस्थितम्’ इत्यनेन गद्यस्यापि काव्यत्वस्तीकारात्
तेषां नीरसप्रधाना व्यञ्जकप्रतिपाद्यप्रतिपादकसंबन्धेन रसवत्त्वमिति भावः । ‘यत्
इत्यप्यर्थः’ ‘यत्’ इत्यर्थः । नीरसेषु ‘पन्ध्रे शरच्चित्तोत्पत्तेः कुन्दलवक्रविग्रहे । इन्द्रनी-
लनिभं मक्ष्मं संदधाल्ललितः श्रियम् ॥’ इत्यादियु । संघटनाविशेषरूपत्वाद्गुणानिव्य-
ञ्जकशब्दविन्यासरूपत्वात् । ननु रीतेः संघटनाविशेषरूपत्वेऽपि काव्यात्मत्वस्तीकारा-
नो ऽप्य इत्यंत आह—संघटनायाश्चेति । काव्यस्य नीरस्य शब्दस्यैवैवंपा-
पदानि तेषां संस्थानं समुचितस्थाने निवेशस्तद्रूपत्वादित्यर्थः । तद्विश्रुत्यादवय-
वसंस्थानमिच्छत्वात् । सहृदयश्चाप्यः सहृदयानां हृदयंगमः । प्रतीयमानो ध्यातव्यः ।

१. अर्थ इति । शब्दार्थस्यैव तादात्म्यम् । तत्र शरीररसाभावेन केनचिदात्मन
सदनुमानेन भाव्यमेव । तत्र शब्दस्यैव शरीरस्यैव एव सन्निवेशादेः । सर्वत्र
नतरेवमेवैवतात्पर्यं कुर्यादित्यर्थः । अर्थः पुनः सकलजनसंज्ञेनो न भवति । न शब्द-
मात्रेण काव्यव्यपदेशः । लौकिकवेदिनवाक्येषु वदमावाप । वदाद—सहृदय-
भाव इति । स एव वषाधो दिग्गजतया विनिर्मितविमानयुष्माभिरुज्ज्वले । तयादि-
हृदयेऽर्चरूपते किमिति कविचित्तहृदयः व्यापते । तद्विषयत्वं केनचिद्विशेषेण ।

‘रसपदं’ इति वदमावापेति । ‘सिद्धे’ इति शिवायव्येति । इतिहासादेर तत्सिद्धे’ इति
वदमावापेति । ‘यत्’ इति वदमावापेति । ‘यत्’ इति वदमावापेति । ‘यत्’ इति वदमावापेति ।

यको यस्य । तेन विना तस्य काव्यत्वाभावस्य प्रतिपादितत्वात्
'रस्यते इति रसः' इति व्युत्पत्तियोगाद्भावतदाभासादयोरपि गृह्यते
तत्र रसो यथा—

भावतया । जीवनाधायक उपादेयताप्रयोजकः । तेन रसेन । तस्य वाक्यस्य
प्रतिपादितत्वादिति । 'देवदत्तो ग्रामं याति' इत्यादिग्रन्थेनेति बोध्यम्—
ननु शृङ्गारादिभेदेन नवप्रकारो रसस्तदभावात् 'यस्यालीयत—' इत्यादिवाक्य-
कथं काव्यत्वमत आह—रस्यत इति । आस्वाद्यत इत्यर्थः । भावादीनामप्याह
दविषयत्वमव्याहृतमेव । विषयत्वमप्यखण्डमतिरिक्तं बोध्यम् । तेन नाननुगम इति
भावः । (भेदे—'न्यकारो ह्ययमेव—' इत्यादौ विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया उद्देश्यवि-
धेयभावयोधकानुपूर्वाविरहेणाकाङ्क्षाविरहाद्व्यक्त्यस्यैवाभावः । काव्यज्ञानं विना
रसपदार्थस्य दुर्निरूप्यत्वादन्वोन्याश्रयः, 'रसघटकविभावादीनां काव्यघटितत्वात्'
इति वृणन्नयं कश्चित्पण्डितमन्य उपन्यस्यति, तदतीव मन्दम् । आनुपूर्वीविशेषह-
पाया आकाङ्क्षाया विरहेऽपि श्रोतृजिज्ञासारूपागात्रस्या विद्यमानत्वाद्वाक्यत्वाशङ्के-
तादृशाकाङ्क्षाया एव वाक्यघटकत्वेन ग्रन्थकृतैवाङ्गीकारात् । यद्वा । संकीर्णत्वग-
र्भितत्वदोषदुष्टयोः पदसमुदायबोरासत्तिकरूपेणैव वाक्यत्वं करण्यते अन्यथा
काव्यदोषत्वमेव न स्यात् । तथात्रापि कतिपयानुपूर्वायोगादस्य वाक्यत्वाङ्गीकारादखण्डा-
स्यादविशेषविषयत्वरूपस्य भावादिसाधारणस्य रसत्वस्य ग्रन्थकृतैव निरुक्तत्वाच्च
'अखण्डास्यादविशेषत्वं चानन्दसवलितज्ञानविषयत्वमेवात्र भावादिसाधारणं वाच्यम्'
न च 'ब्राह्मण, पुनस्ते जात' इत्यादिवाक्ये आनन्दसवलितज्ञानजनकेऽतिव्याप्तिस्त-
द्वारणाय काव्यजन्यत्वं विशेषणमुपदेयं, तथा सति अन्वोन्याश्रयदोष इति वाच्यम् ।
अत्र हि शब्दबोधानन्तरमेवानन्दो जायते । तयोः पौर्वापर्यमस्मितोऽपि कालला-
घवादुत्पलपत्रघटव्यतिभेदनवत् न गृह्यते । वाक्ये तु शब्दबोधानन्तरमलौकिका-
स्तादनाख्यव्यापारादिवलदेवमेवानन्दसवलितमलौकिकं ज्ञानम् । तदेवास्माभी रस-

नहाभाष्यं संगच्छते । उल्लङ्घयान्यतरसिन्नपि तत्त्वात् 'यस्यो न हो' इतिवन्न तदापत्तिः ।
केचित्तु—कविकर्म काव्यमिति सभारवानुरोधाच्छब्द एव काव्यत्वम्, न त्वयं । तस्य
संस्कृतिसाध्यत्वाभावात् । तस्मात्पदसदमविशेषः काव्यमिति उल्लङ्घनं स्वीकुर्वते । तन्न
रमणीयम् । तथाहि—आस्वादोद्गोर्धत्वमेव वाक्यत्वप्रयोजकम्, तच्च शब्देऽप्ये चाति-
शिष्टम् । तथापि रसोद्गोर्धकत्वाङ्गीकारात् । अत्रेऽपि इदमवश्यं इव काव्यत्वम् ।
कविकर्मत्वव्यवहारस्तु तत्प्रवाच्यत्वाद्वाक्यः । शब्दमित्यत्ववादिमते तु शब्दरूपेऽपि कवि-
कविकर्मत्वव्यवहारो मातृकः । अत एव 'शब्दददुरं करोति' इति पाणिनिप्रसूतं संगच्छते
अन्यथा नित्यत्वसिद्धान्तो व्याजुष्येतेतिदिह ॥

१. अत्रेत्यादिभेदकान्तर्वर्ती पाठः प्रक्षिप्त इति प्रतिभाति ॥

१. 'शब्दजन्यत्वाङ्गीकारात्' च. २. 'भाष्यनामास्मात्' च. ३. 'अपि' च. ४. 'अपि' च. ५. 'अपि' च. ६. 'अपि' च. ७. 'अपि' च. ८. 'अपि' च. ९. 'अपि' च. १०. 'अपि' च. ११. 'अपि' च. १२. 'अपि' च. १३. 'अपि' च. १४. 'अपि' च. १५. 'अपि' च. १६. 'अपि' च. १७. 'अपि' च. १८. 'अपि' च. १९. 'अपि' च. २०. 'अपि' च. २१. 'अपि' च. २२. 'अपि' च. २३. 'अपि' च. २४. 'अपि' च. २५. 'अपि' च. २६. 'अपि' च. २७. 'अपि' च. २८. 'अपि' च. २९. 'अपि' च. ३०. 'अपि' च. ३१. 'अपि' च. ३२. 'अपि' च. ३३. 'अपि' च. ३४. 'अपि' च. ३५. 'अपि' च. ३६. 'अपि' च. ३७. 'अपि' च. ३८. 'अपि' च. ३९. 'अपि' च. ४०. 'अपि' च. ४१. 'अपि' च. ४२. 'अपि' च. ४३. 'अपि' च. ४४. 'अपि' च. ४५. 'अपि' च. ४६. 'अपि' च. ४७. 'अपि' च. ४८. 'अपि' च. ४९. 'अपि' च. ५०. 'अपि' च. ५१. 'अपि' च. ५२. 'अपि' च. ५३. 'अपि' च. ५४. 'अपि' च. ५५. 'अपि' च. ५६. 'अपि' च. ५७. 'अपि' च. ५८. 'अपि' च. ५९. 'अपि' च. ६०. 'अपि' च. ६१. 'अपि' च. ६२. 'अपि' च. ६३. 'अपि' च. ६४. 'अपि' च. ६५. 'अपि' च. ६६. 'अपि' च. ६७. 'अपि' च. ६८. 'अपि' च. ६९. 'अपि' च. ७०. 'अपि' च. ७१. 'अपि' च. ७२. 'अपि' च. ७३. 'अपि' च. ७४. 'अपि' च. ७५. 'अपि' च. ७६. 'अपि' च. ७७. 'अपि' च. ७८. 'अपि' च. ७९. 'अपि' च. ८०. 'अपि' च. ८१. 'अपि' च. ८२. 'अपि' च. ८३. 'अपि' च. ८४. 'अपि' च. ८५. 'अपि' च. ८६. 'अपि' च. ८७. 'अपि' च. ८८. 'अपि' च. ८९. 'अपि' च. ९०. 'अपि' च. ९१. 'अपि' च. ९२. 'अपि' च. ९३. 'अपि' च. ९४. 'अपि' च. ९५. 'अपि' च. ९६. 'अपि' च. ९७. 'अपि' च. ९८. 'अपि' च. ९९. 'अपि' च. १००. 'अपि' च.

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
 निद्रान्वाजमुपागतस्य सुत्रिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
 विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
 लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसन्ता बाल चिरं चुम्बिता ॥
 हि संभोगशृङ्गारोत्थो रसः ।

वै यथा महापात्रराघवानन्दसांघिविग्रहिकाणाम्—
 यस्यालीयत शरकसीम्नि जलधिः पृष्ठे जगन्मण्डलं,
 दद्याया धरणी, नखे दितिसुताधीशः, पदे रोदसी ।
 कोपे क्षणगणः, शरे दशमुखः, पाणौ प्रलम्बासुरो,
 ध्याने विश्वम्, असावधार्मिककुल, कस्मैचिदस्मै नमः ॥

अत्र भगवद्विषया रतिर्भावः ।

पदेनोच्यत इति । आनन्दसवलितत्वमिह तादात्म्यसम्बन्धेनानन्दविशिष्टत्वम्, न ॥
 जनकतासम्बन्धेन । विजातीययोर्ज्ञानानन्दयोस्तादात्म्याग्रीकारोऽलौकिके न बोध इति
 सर्वमवदातम् । तदामासेति । रसाभासभावाभासेत्यर्थः । आदिना भावशा-
 ल्यादीनां ग्रहणम् ॥ शून्यमिति । सख्यादिहीनमित्यर्थः । शयनाच्छयाया
 किञ्चिदुत्थानं प्रियजागरणे क्षटिति स्वरणार्थम् । उदयाने चैनस्त्व जागरणहेतुश-
 ब्दानुत्पत्तये निद्रान्वाजं छलनिद्रां सुचिरनिर्वर्णनं च निद्राविधयाय । तेन विश्रब्ध-
 विश्रस्तं यथा स्यात्तथा परिचुम्ब्य । गण्डस्थलीमिति पत्युरित्यनुपपद्यते । लज्जान-
 म्रमुखी सतीत्यर्थः । केचित्तु—'लज्जत इति लज्जा क्रिया । तत्रैवालोक्तानन्तर्य-
 स्मान्वयः' इत्याहुः । तच्च । कृत्प्रत्ययानामभिधाननियम्यतया लज्जापदस्य लज्जाध-
 गवोपे सामर्थ्याभावात् । स्थितादिपदाध्याहारैरेव एककर्तृत्वमवधेयम् । बाला-
 नववधू । चिरचुम्बनं चाधिकर्णपरिशोधनार्थम् । वीरादिरसानामुदाहरणान्यभे-
 दास्यति ॥ यस्येति । 'अलीयत' इति च दशसु वान्त्येष्वन्वेति । शरको भस्मत्वव-

१ अत्र पतिरालम्बनविभावः शून्यवासगृहादि लोपनविभावः । पत्युर्मुखनिष्प-
 नादि अनुभावः, लज्जादासम्बन्धवद्भावि-
 न्मिचारिभावः, रति स्थाविभावः तजो-
 रसनिष्पत्तिः । अत्र स्तेरुभयालम्बनत्वेऽपि नायकविषयिण्या नायिकानिष्ठायास्तस्या
 उद्बेको विद्भिभ्य चर्वाणामिषय इति सहृदया । एतत्पद्यममरुतकस्य । विशेषनिष्ठासु-
 मिस्तटीका विवेचनीया । एवमाद्युदाहरणलोकानामकारादिवर्णानुक्रमेण सूची ग्रन्थान्ते
 उपरुपिता, यदाधारेण यत्तमानानां निष्ठासापूर्तिः सुश्रुता । विमत्र घटनपाठनानु-
 क्रमेण लेखकलिखेनेति ॥

॥ असाविमि । अतो कृपाणे ॥

हि य ए न पुच्छेत्तु नास्ति य 'आरुयो रस' न पुच्छेत्तु नास्ति

रसाभासो यथा—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।

शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥

अत्र संभोगशृङ्गारस्य तिर्यग्विपयत्वाद्रसाभासः । एवमन्यत् ।

दोषाः पुनः काव्ये किंस्वरूपा इत्युच्यन्ते —

दोषास्तस्यापकर्षकाः ।

श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वखञ्जत्वादय इव, शब्दार्थद्वौ देहद्वारेणेव, व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इ साक्षात्काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते ।
एषां विशेषोदाहरणानि वक्ष्यामः ।

गुणाः किंस्वरूपा इत्युच्यन्ते—

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः ॥ ३ ॥

गुणाः शौर्यादिवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, देहद्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यस्यात्मभू-

तस्य वीम्नि एरुदेष्टे । दितिमुताधीशो हिरण्यकशिपु । रोदसी यावापृथिव्यौ अत्रानीयातामिति वचनविपरिणाम । कस्येहिदनिर्वचनीयमहिम्ने । अत्र दर्शभिर्वा कथैर्दर्शानताय दर्शिता । ते यथा—‘मत्स्य भूमीं वराहश्च नृसिंहोऽथ यामन रामो रामश्च रामश्च बौद्ध कर्का च ते देश ॥’ अनुवर्तमानः सेवमान । अन्यद्वावाभागादि । ननु दोषादीनां काव्यलक्षणापटव वाक्षिरासाहृतया तन्निरूपणमसंगतमित्यत आवाह्यामुपापयति—दोषा पुनरिति । तस्य काव्यस्य गुणा इति । गुणानां शब्दार्थोत्कर्षद्वारा यथा रसोत्कर्षत्वं तथा गुणपरिच्छेदे दर्शयिष्यते । शौर्यादीनामौपचारिकदेहधर्मत्वाभिप्रायेणायं दृष्टान्तः । ननु निरलंकारवाच्यापेक्षया कर्मणामिव निर्गुणवाच्यापेक्षया गुणानां काव्योत्कर्षमत्वं नोपपद्यते । निर्गुणत्वस्य नीरसत्वसमनियततया नीरसस्य काव्यत्वानुपकारेणैव निर्गुणस्य

१ वर्तति । ‘वर्त्ती’ इति पाठः सर्वत्रोपलभ्यते । परंतु कर्को षवल्पोटकोऽस्यास्तीति मुरपतिरारस्याय ‘कर्को’ इत्येव पाठः सानीयान् । भयवतो घोटकवाहनत्वात् न किमुभोत्पन्नत्वात् कर्को । ‘सित. कर्को’ इत्यमरः । ‘उत्तमस्यैर्दर्शसकाश. दिशु कर्कोट्टे दिशु’ इति दर्शावतारचरितम् ॥

१ ‘दोषा’ इत्यादि ‘एतु’ इत्यमरः पाठो म-पुल्ले म-ति. २ ‘अपुट’ क-पुल्ले म-ति

३ ‘उत्तम’ इत्युत्तमो म-पुल्ले म-इत्यमरः. ४. ‘तमेव म-पु.

समुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते । इह यद्यपि गुणानां
सधर्मत्वं तथापि गुणशब्दोऽत्र गुणामिव्यञ्जकशब्दार्थयोरुपचर्यते ।
अतश्च 'गुणामिव्यञ्जकाः शब्दा रसस्योत्कर्षकाः' इत्युक्तं भवतीति
गोवेत्तम् । एषामपि विशेषोदाहरणानि चक्ष्यामः ॥

इति श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुवतसोहिताणवर्णधारध्वनिप्रस्थानपरमाचार्य-
कविसूचिराजकैराष्ट्रदशमार्पणविरचितानीमुजंगसाधिविग्रहिकमाहापात्र-

श्रीविश्वनाथकविराजकृतौ साहित्यदर्पणे काव्यसंह-
निरूपणो नाम प्रथम परिच्छेदः ।

* अत्र मूलकोटि ३३ । उदाहरणश्लोका ३६ ।

काव्यज्ञानज्ञीकारादित्यभिप्रायेण शङ्कते—इह यद्यपीति । इह नवीनालंकारिक-
संप्रदायमते । रसधर्मत्वेमिति । काव्ये गुणानामव्यभिचारित्वरूपनाय प्रसा-
दगुणप्रकरणे प्राचीनैदकम्—यथा 'स च सर्वरसव्यापी काव्यजीवात्तुरिच्यते' इति ।
तथापीति । अत्रानन्तरोक्तकारिकायाम् । शब्दीनां गुणामिव्यञ्जकत्वं गुणपरि-
च्छेदे व्यञ्जीमविव्यति । अर्थाणां वृद्धतानुद्धततया ओजोमाधुर्यव्युत्पत्त्य, इदिति
प्रतिपाद्यत्वेन प्रसादव्यञ्जकत्वमवगन्तव्यम् । उपचर्यते लक्षणया प्रयुज्यते ।
अतश्च गुणशब्दोपचारिकत्वस्वीकारात् । शुद्धाः शुद्धार्थाः । एवं च गुणामि-
व्यञ्जकशब्दार्थहीनमपि व्यञ्ज्यं सम्भवति तदपेक्षया गुणामिव्यञ्जकशब्दार्थयो काव्यो-
त्कर्षकत्वमुपपन्नमिति भावः । ननु गुणामिव्यञ्जकपदविन्योसस्य रीतित्वेन निरूपणो-
क्त्या रीतेरेतेनैव संप्रदेहे पृथक्पदुपादानमनर्थकमिति । तदेतच्चिन्त्यम् ॥

इति श्रीरामचरणतर्कवागीशमहाचार्यविरचिताया साहित्यदर्पणविरचितौ

प्रथमः प्रकाशः ।

१ 'एव' ॥ २ 'मधुकर' क १ 'साहित्यविद्या' क ३ 'वार' क-अ पुस्तकयोर्मसि
॥ 'उदाहरण' ग



द्वितीयः परिच्छेदः ।

वाक्यस्वरूपमाह—

वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तिद्युक्तः पदोच्चयः ।

योज्यता पदार्थानां परस्परसंबन्धे बाधामावः । पदोच्चयस्यैतदम्

उपोद्घातसंगत्या वाक्यं निरूपयति—वाक्यमिति । प्रकृतसिद्ध्यनुकूलचिन्त
विषयत्वमुपोद्घातः । काव्यलक्षणं चात्र प्रकृतम् । योग्यतामाह—पदार्थानामिति
परस्परसंबन्धे परस्परान्वयबोधे । हेतुविशेषः । 'न तत्र कृष्णा हेतुः' इति
वत् पक्षार्थे सप्तमी । बाधो विपरीतद्युद्धिः । तथा बान्वयबोधे हेतुभूतबाधामा
योग्यतेत्यर्थः । प्रत्यक्षादिकरणभूतबाधामाववारणाय भूतान्तं विशेषणम् । 'पयस
सिद्यति' इत्यादौ श्रोतुः सेकः पयःकरणकत्वाभाववानित्यादिविपरीतद्युद्धेरभावः
सा चान्न प्रमारुपा ग्राह्या । अन्यथा तादृशप्रमभाजि श्रोतरि सति 'पयसा सिद्यति
इति वाक्यं न स्यात् । ननु तादृशप्रमाया अप्रसिद्धा तद्विरहस्याप्रसिद्धिरिति निरुक्त
योग्यता शशविषाणवदलीकेति चेतर्ह्येवं व्याख्येयम्—परस्परसंबन्धे इति
सैत्तम्यार्थो 'निरूपकत्वम् । परस्परसंबन्धनिरूपकाणां पदार्थानामित्यर्थः । तात्पर्य
विषयीभूतपरस्परसंबन्धे सतीत्यर्थः । बाधामावः सद्भावः । एवं च तात्पर्यवि
षयीभूतसंबन्धेन तैर्निरूपकाणां पदार्थानामेकतरस्मिन्नपरपदार्थसद्भावो योग्यतो
प्रकृतम् । पाकादौ विद्यमानस्य वदिकरणकत्वस्य सेकादौ येन केनचित्परम्पर
संबन्धेन सद्भावे 'वदिकरा सिद्यति' इत्यादेर्बाधयत्वप्रतप्तौ सद्धारणाय तात्पर्यविषयी
भूतेति संबन्धविशेषणम् । अस्ति च 'पयसा सिद्यति' इत्यादौ पयःकरणकत्वस्य स्वरू
पसंबन्धेन सेके सद्भावः । योग्यताया व्यावृत्तिमाह—पदोच्चयस्येति । एतदभा

१. वाक्यमिति । आकाङ्क्षायोग्यतासत्तिद्युक्तां पदानां समूहो वाक्यमिति । तत्रा
सत्तिर्नन्दुद्धेरविशेष्येन शाब्दबोधे कारणम् । अमन्दुद्धेस्तत्त्वमावेऽपि पदार्थोप
सिद्धावाकाङ्क्षादितोऽविलम्बेनेव बोधो भवतीति न शाब्दबोधे तस्याः कारणत्वमिति
अङ्गुष्यायां प्रतिपादितम् । दैनर्दयामपि-नबोत्ताया आचसेः श्रौतेऽन्मावादविशेषदर्शनेन
पदाम्प्यवधानप्रमत्स्यापि तत्राभावाच्छाब्दबोधो न स्यादिति वाच्यम्, श्लोकादौ योजनत
बाधयादेवान्वयबोधोपगमात् इत्यापमिदितम् । तात्पर्यमपि शाब्दबोधे कारणम् । तस्य
एतापदं वाच्यं वा एतदर्थबोधोपायोद्यत इति प्रयोगुरिच्छारूपम् । तात्पर्येणियाम
तु प्रकरणादिकर्तव्यं । अतो भोजनावसरे केचनपदेन एवमस्य युक्तावसरेऽप्यस्य च
प्रत्ययः । प्रकरणादेः उक्तिनियामकत्वे ज्ञानेन निर्वाहे हि तात्पर्येणेति न वाच्यम्
अनाच्छाब्दार्थेऽप्यविशेष्यबो बोधो जायतेऽप्येवमिति प्रसङ्गात्, तात्पर्यं तु वेति ।
एतत् इत्यनुमन्निरोधान् । अत एव पय आनदेस्तादेने प्रकरणमज्ञानतो दुर्गं ज

१. 'वाक्यं' इति पदार्थोपसिद्धिः । इत्यत्र एता युक्त्यादेर्वाच्यं । २. तत्तिद्यु

।ऽपि वाक्यत्वे 'बहिना सिञ्चति' इत्याद्यपि वाक्यं स्यात् । आकाङ्क्षा ।
तीतिपर्यवसानविरहः । स च श्रोतुर्निज्ञासारूपः । निराकाङ्क्षस्य
वाक्यत्वे 'गौरभः पुरुषो हस्ती' इत्यादीनामपि वाक्यत्वं स्यात् ।

अनिर्मुक्तयोर्म्यताविरहे । बहिनेत्यादि । अत्र कारणस्य कार्यनिरूपितत्वनियमात्कार्य-
यतिरेकेणानुपपत्त्या सेकरूपे कार्यं भवत्येवाकाङ्क्षेति ध्येयम् । आकाङ्क्षामाह—
आकाङ्क्षेति । प्रतीतेः पदार्थोपस्थितेः पर्यवसानमन्वयबोधजनकत्वेनेच्छाविरहः,
तस्य विरहः । अभाव इत्यर्थः । नन्वेवमाकाङ्क्षापदस्याभावबोधकत्वे लक्षणापत्तिरित्यत
आह—स चेति । प्रतीतिपर्यवसानविरहश्चेत्यर्थः । अभावाभावः प्रतियोगिसत्त्वरूप
एव, न त्वतिरिक्तः कल्प्यत इति भावः । अस्ति च 'पयसा सिञ्चति' इत्यादौ पयसेति
पदार्थस्य सिञ्चतीति पदार्थेनान्वयबोधजनने श्रोतुरिच्छा । प्रतीतिपर्यवसानं च
कचिदस्त्वाभाविकं कचिज्जनितान्वयबोधत्वेन । तत्राद्यमाह—गौरिति । अत्र गवा-
दिप्रथमान्तपदोपस्थापितानां पदार्थानामभेदातिरिक्तसंबन्धेनान्वयबोधोऽभ्युत्पन्न इति
भवति पदार्थोपस्थितेरन्वयबोधजनने श्रोतुरिच्छाविरहः । अत्राभेदातिरिक्तसंबन्धेन
बाधसंश्लेषेऽपि सरवादिसंबन्धेन बाधविरहरूपयोग्यतास्तीति ध्येयम् । द्वितीयं यथा—

वेति प्रश्न उपपद्यत इति । एकतिद्वयानमिति तु ज्ञान्दिकः । एकतिद्वन्तार्थमुख्यविशेष्यक-
बोधजनकपदसमूह इति तदर्थः । तेन पचति भवति, पयस दृग्मे भावति, ब्रूहि ब्रूहि देव
। इत्त इत्यादौ क्रियापदस्यानेकत्वेऽपि वैकल्यावयवत्वहानिः । तार्किकाः पुनः 'सुबन्तसमूहः,
। इत्तसमूहः, सुसिद्धन्तसमूह इति विभागमाहुः । तत्र प्रथमः—त्रयः कालाः । इह
। वर्तमानत्वासंभवेन सन्तीत्यादेः दुर्ज्ञानत्वेन जायन्त इत्यादेशाच्चाहारसमवयवमनन्ति ।
द्वितीयः—पचति भवति । तृतीयः—चित्रः पचति । भीमांसकास्तु विधिनिषेध इति द्विविधं
। लिङादिपदयुक्तिं वाक्यमाहुः । तत्र विधिः—स्वर्गकामो यजेत । निषेधः—न कलशं भक्ष-
येत् । इति दिक् । वाक्यबोधत्वेवम्—पूर्वं तावच्छब्दसंबन्धादनन्तरं श्रोतुरात्मनि, समुप-
स्थीयते तत्तदर्थः । समुदीयते च योग्यतादिवशेन तेषां परस्पर विशिष्टान्वयबोधेन ।
उपस्थितिश्च स्मृतिरेव । स्मृतिर्लोके समनुभूतपदार्थसोद्बोधकसहकृतसंस्कारेण जायते ।
तत्रान्योद्बोधकस्यानुपलम्भाच्छब्दमवयवस्यैव तत्संस्कारोद्बोधे कारणत्वमङ्गीक्रियते । एक-
संबन्धिज्ञानस्यापरसंबन्धिसारकताया अन्यत्र दर्शनाच्छब्दार्थयोरपि परस्पर सदन्वित्य-
त्पत्तिरिति । उपस्थिते च, संस्कारोद्बोधकस्यैव, नाप, च, स्मृति, शब्दार्थः, पदार्थः
सह संबन्धो न स्यात्तर्हि सतोऽर्थस्मृतिर्न जायेत । सर्वन्ते चार्थाः शब्देः । अतएव
वाक्यपदीये—'सति प्रत्ययहेतुत्वे सवन्ध उपपद्यते । शब्दस्यार्थेपेतोऽतस्तत्संबन्धोऽ-
स्तीति नम्यते ॥' इति प्रत्ययहेतुत्वान्वयानुपपत्त्यैव तयोः सवन्धसद्भावानुमितिः ॥ च
सवन्धो वृत्तिरूप इति ॥

१. 'इत्यपि' ख ग घ. २. 'त च' ग-पुस्तके नास्ति. ३. 'अप' इत्यादि. 'भवति' इत्यन्तः
पाठ पुस्तकान्तरे उद्धृत इति प्रतिपादित. ४. 'स्वाभाविक एव' इत्यधिकं पुस्तकान्तरे. ५. 'अना-
भेद' इत्याख्य '—वेद्य' इति पर्यन्तः पाठो नहि पुस्तकान्तरे.

आसत्तिर्विच्छेदः । बुद्धिविच्छेदेऽपि वाक्यत्वे इदानीमुच्चारितं
देवदत्तशेखरस्य दिनान्तरोच्चारितेन गच्छतीति पदेन संगतिः स्यात्
अत्राकाङ्क्षायोग्यतयोरात्मार्थधर्मत्वेऽपि पदोच्चयधर्मत्वमुपचारात् ।

✓वाक्योच्चयो महावाक्यम्—

योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त इत्येव ।

‘विमलं जलं, नद्याः कच्छे महिपथरति’ इत्यत्र नद्या इति पदार्थोपस्थितेर्जलमिति
पदार्थनान्वयबोधे सति सिद्धे ‘इच्छाविरहात्’ इति न्यायेन ‘कच्छे’ इत्यनेन श्रोतुरन्
यबोधे इच्छाविरहः । यदि पुनरुक्तनान्वयेच्छया प्रयुज्यते तदा ‘नद्याः’ इत्यस्य काय
क्षिणोत्कन्यायादनुपपत्त्या ‘कच्छे’ इत्यनेन स्वयम्भाद्रहीतवकृतात्पर्यस्य श्रोतुरन्मयान्
यबोधेच्छा संभवतीति ध्येयम् । आसत्तिमाह—आसत्तिरिति । मुदेः पदार्थोपस्थि
तेरविच्छेदोऽव्यवधानम् । अव्यवहितपदार्थोपस्थितिरिति तात्पर्यार्थः । व्यवधानं
कालबाहुल्येन प्रकृतानुपयोगिपदार्थोपस्थित्या च संभवति । तत्राद्यमाह—बुद्धीति
वाक्यत्वे वाक्यत्वस्वीकारे । दिनान्तरेत्यत्यन्तव्यवधानदर्शनाय । प्रहरादिव्यवध
नेनाप्यनासन्नत्वं बोध्यम् । संगतिर्याक्यव्यवहारोपयोगिमेलकः । द्वितीयं यथा—
‘गिरिभुक्तमग्निमान्देवदत्तेन’ इत्यत्र गिरिरग्निमान्, भुक्तं देवदत्तेनेति वाक्यार्थबोध
द्वयं प्रकृतम् । तत्र प्रयत्नानुयोगिन्या भुक्तमिति पदार्थोपस्थित्या, द्वितीयानुयोगिन्य
अग्निमानिति पदार्थोपस्थित्या व्यवधानम् । प्रकृतोपयोगिपदार्थोपस्थित्या व्यवधानं
‘त्वासत्तिरस्त्येव । तेन ‘अथेन ग्रामं गच्छति’ इत्यादौ ग्रामपदार्थोपस्थितिव्यवधानेऽपि
अक्षपदस्य गच्छतीत्यनेनासत्तिरन्याहतेव । स्वार्थबोधसमाप्तत्वमपि पदोच्चयविशेषं
बोध्यम् । तेन ‘शून्यं वासगृहं’ इत्यादिभागस्य न वाक्यत्वम् । योग्यताकाङ्क्षयोः पदो
च्चयधर्मत्वमुपपादयति—आकाङ्क्षेति । आकाङ्क्षाया इच्छरूपत्वाद्विपरीतपुद्गलभाव
रूपयोग्यतायाश्चात्मनिष्ठतयान्वयबोधेत्वादात्मगृहित्वमेव । उपचारात्सजन्यज
नकत्वरूपपरम्परासंयन्धात् । एकपदार्थोपपदार्थसद्भावरूपयोग्यतायास्तु पदार्थध
र्मत्वेऽपि स्वाधयोपस्थापकत्वसंयन्धेन पदोच्चयधर्मत्वमेवावगन्तव्यम् । निरुक्तावसेत्
प्यात्मधर्मत्वात् तत्राप्येषैव रीतिरनुवर्तय्या । यदि पुनः समभिहारविशेष आकाङ्क्षा
अप्यवधानोचरितव्यमासत्तिः, तदानयोः साक्षादेव पदोच्चयधर्मत्वमित्याद्यां विस्तरः
महावाक्यमाह—वाक्योच्चय इति । योग्यतायभावे महावाक्यत्वस्वीकारे ‘बहुप

१. उपेति । उपचारे लक्षणा । तात्पर्यानुपपत्तिशेषकारे बीजम् ॥

१. ‘नद्या’ ग. २. ‘पदस्य’ ख. ३. ‘उच्यते’ घ. ४. ‘तत्र’ ङ. ५. ‘योग्यता’ इति
नद्या ग. पुनरेव नद्या; घ. पुनरेव तु ‘वाक्योच्चय’ इत्यस्य प्राप्तिरिति. ६. ‘अप्यवहिताराधे’
प. ग. पुनरेव नद्या; घ. पुनरेव तु ‘वाक्योच्चय’ इति. ७. ‘महावाक्य’ इत्यादि. ८. ‘अप्यवहिताराधे’
म. ग. पुनरेव नद्या; घ. पुनरेव तु ‘वाक्योच्चय’ इति. ९. ‘आसत्तिरिति’ इत्यादि. १०. ‘पदोच्चय’ इत्यादि. ११. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. १२. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. १३. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. १४. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. १५. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. १६. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. १७. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. १८. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. १९. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. २०. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. २१. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. २२. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. २३. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. २४. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. २५. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. २६. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. २७. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. २८. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. २९. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ३०. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ३१. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ३२. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ३३. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ३४. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ३५. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ३६. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ३७. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ३८. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ३९. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ४०. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ४१. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ४२. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ४३. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ४४. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ४५. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ४६. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ४७. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ४८. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ४९. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ५०. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ५१. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ५२. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ५३. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ५४. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ५५. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ५६. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ५७. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ५८. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ५९. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ६०. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ६१. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ६२. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ६३. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ६४. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ६५. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ६६. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ६७. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ६८. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ६९. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ७०. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ७१. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ७२. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ७३. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ७४. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ७५. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ७६. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ७७. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ७८. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ७९. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ८०. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ८१. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ८२. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ८३. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ८४. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ८५. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ८६. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ८७. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ८८. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ८९. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ९०. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ९१. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ९२. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ९३. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ९४. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ९५. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ९६. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ९७. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ९८. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. ९९. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि. १००. ‘वाक्योच्चय’ इत्यादि.

इत्थं वाक्यं द्विधा मतम् ॥ १ ॥

इत्थमिति वाक्यत्वेन महावाक्यत्वेन च । उक्तं च तत्रवार्तिके—

‘स्वार्थबोधसमाप्तानामङ्गोद्भित्वव्यपेक्षया ।

वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहृत्य जायते ॥’ इति ।

तत्र वाक्यं यथा—‘शून्यं वासगृहं—’इत्यादि (२३ पृ.) । महा-

वाक्यं यथा—रामायणमहाभारतरघुवंशादि ।

पदोच्चयो वाक्यमित्युक्तम् । तत्र किं पदलक्षणमित्यत आह—

वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः ।

‘विष्टता, गगनं वर्तते’ इत्येतयो ‘मिश्ररूपवसति, गृही भुङ्क्ते’ इत्येतयोर्भिन्नदि-
शोच्चारितयोः ‘बधुया विष्टता, पटो वर्तते’ इत्येतयोरपि महावाक्यत्वं स्यात् ।
मत्र प्राचा सवादमाह—स्वार्थेति । ‘स्वार्थबोधेन समाप्तानां निराकाङ्क्षाणां
पुनरङ्गोद्भित्वव्यपेक्षया गुणप्रधानभावेनाकाङ्क्षायां संहृत्य एकार्थप्रतिपादकत्वेन मि-
लित्वा वाक्यानामेकवाक्यत्वं जायत इत्यर्थः । वाक्यार्थानां गुणप्रधानभावेन
वैशिष्ट्यादेकत्व तत्प्रतिपादकत्वेन वाक्यानामेकवाक्यत्वमिति भावः । पदनिरूपणे
प्रसङ्गसंगतिमुपपादयति—पदोच्चय इति । वाक्यनिरूपणे स्पृतस्य पदस्या-
नुपेक्षणीयत्वमिह प्रसङ्ग इति भावः । वर्णाः स्वरव्यञ्जनरूपाः । प्रयोगार्हाश्च

१. वर्णा इति । वर्णोत्पत्तिस्तावदेवमुपवर्ण्यते—चेतनेन ज्ञातार्थविवक्षया तद्व्यञ्ज-
कशब्दनिष्पादनाय प्रेरितमन्तःकरण मूलधारस्थितमनसं चालयति, तच्चालितोऽनलस्तस्य-
वर्तिबाहुचालनाय प्रभवति, तच्चालितेन बाहुना तत्रैव सूक्ष्मरूपेणोत्पादितः शब्दः परा-
वृत्तिगम्यमिधीयते । ततो नामिदेशपर्यन्तचालितेन तेन तद्देशसंयोगादुत्पादितः शब्दः पश्य-
न्तीति व्यवहियते । यतश्च यस्य सूक्ष्मसूक्ष्मतरतयेत्यवबोधोपमाप्रगल्भता, नासादीवदृतिगो-
चरता । तत्तत्तेनैव हृदयदेश परिसरता हृदयसंयोगेन निष्पादितः शब्दो मध्यमेत्युच्यते ।
सा च स्वकर्णविधानेन ध्वन्यात्मकतया सूक्ष्मरूपेण कदाचिदसाकम्पि समधिगम्या ।
ततो मुखपर्यन्तमाक्रामता तेन कण्ठदेशमासाद्य धूर्धानमाहस्य तत्प्रतिघातेन परावृत्त्य च
मुखविशेषे कण्ठदिकेष्वङ्गेषु स्थानेषु स्वाभिघातेनोत्पत्तिः शब्दो वैद्रीति कथ्यते । अथ
वर्णानां क्रमवतामाशुतरविनाशित्वेनैवदानेकवर्णानुभवासंभवात् पूर्वपूर्ववर्णाननुभूयान्त-
वर्णव्यवकाशे पूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसदृकतेनान्वयवर्णसंबन्धेन पदगुत्पादनसमय-
प्रवृत्त्यागृहीतेन श्रोत्रेणैकदैव सदसदनेकवर्णानुवादिनी पदप्रतीतिर्जन्यते, सहकारिसाम-
र्थ्यात् प्रत्यभिज्ञावत् । प्रत्यभिज्ञाप्रत्यये हि ज्ञातापि पूर्वावस्था स्फुरत्येवेति । ‘सुप्तिदन्तं
पदम्’ इति तत्रमवान् पाणिनिः । ‘ते विमचयन्ताः पदम् । २।२।६०।’ इति यगवान्
गौतमः । न्यायनये द्विविध पदम् । मुख्यं शेषं चेति । यत् शक्तिवृत्त्या यमर्थमुत्पाप-

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यञ्ज्यश्चेति त्रिधा मतः ॥ २ ॥

एषां स्वरूपमाह—

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः ।

व्यञ्ज्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥ ३ ॥

ता अभिधायाः ।

इतः तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिममभिधा ॥

तमवृद्धेन मध्यमवृद्धमुद्दिश्य 'गामानय' इत्युक्ते तं गवानयन-
वृत्तमुपलभ्य चालोऽस्य वाक्यस्य 'साक्षादिमत्पिण्डानयनमर्थः' इति

वर्ता वर्णानामनन्वितैकार्थबोधकत्वमुक्तं केषांचिद्वा । तत्र, नाद्यः । 'सुन्दरस्य देव-
तस्य धनम्' इत्यादौ विशेषणविभक्तेरनर्थकत्वात् 'सुन्दरस्य' इत्यादिपदेऽव्याप्तेः ।
पि द्वितीयः । 'बहिना सिद्ध्यति' इत्यादौ सर्वपामनन्वितैकार्थबोधकत्वाभावेऽपि
शेकं तथात्वसद्भावादतिव्याप्तेः । एवं च पदलक्षणमेवं वाच्यम्—'असमासाङ्ग-
मिद्वत्तद्वेषयुक्तप्रकृतिः पदम्' । युगन्तेन केवलप्रकृतेः । असमासाङ्गत्वेनेन 'पितुः
सा, जहिजोडः' इत्यादौ पूर्वावयवस्य । 'रजदन्तः' इत्यादौ उभयोरपि ।
कृतिः' इत्यनेन वाक्यमहावाक्ययोर्व्यवच्छेदः । समासावयवस्य पदत्वाङ्गीकारे
शीलोत्पलम्' इत्यादिपदस्य वाक्यत्वं स्यात् । योग्यतालक्षणघटकपदार्थानाह—
र्थ इति । पदप्रतिपाद्य इत्यर्थः । एषां वाच्यादीनाम् । अभिधया बोध्य-
ति । अभिधाजन्यबोधविषय इत्यर्थः । अर्थबोधे शब्दस्य वृत्तीनां च कारणत्व-
माह विषयविषयिणोरभेदोपचाराद्बोध्यम् । वास्तवकारणं तु शब्दतद्वृत्तिज्ञानमेव ।
शब्दस्य प्रकृतेः प्रलयस्य च शक्तयोऽर्थबोधे सहकारिण्यो युक्तयः । अभिधादिशक्ति-
माह—तत्रेति । अभिधादिषु मध्य इत्यर्थः । संकेतितार्थस्येति । संकेतितप्रह-
ार्यार्थस्येति ॥ नाद्यैः, संकेतस्याभिधाया अभिधत्वेनात्माधरापत्तेः । किंतु कोश-
वाकरणादिप्रतिद्वस्य मुख्यार्थस्येत्यर्थः । मुख्यत्वं च लक्ष्यव्यङ्ग्यापेक्षया प्रथमोप-
भतिविषयत्वम् । बोधनात् स्वज्ञानेन शब्दबोधजननात् । संकेतप्रहोपायानवृ-
त्त्यवहारादीनाह—उत्तमेति । वृद्धेन संकेतप्रहवता । प्रयोजकप्रयोज्यभावसंपाद-
ाय उत्तमत्वमध्यमत्वाभ्यां वृद्धयोरुपन्यासः । तं मध्यमवृद्धं गवानयनप्रवृत्तं गवा-
यनगोचरयत्नवन्तमुपलभ्य गवानयनक्रियया अनुमाय चालः 'संकेतप्रहामाववान्
स्य' 'गामानय' इत्यस्य प्रथमं शक्तिप्रहात्पूर्वं प्रतिपद्यते इति । अनुमितेन यत्नेन

१. साद्येति । साक्षा गलकम्बलः, आदिपदेन लाहूलककुदसुरादि गृह्यते.

१. 'तम' इत्यधिकं ॥ य पुस्तकयो २. 'बद्धा' 'द्वौ घटौ' इति मनुवाक्यस्य समेदेनान्यतरपैवर्ष्यमिति
गयाद् 'द्वौ' इति मागस्यानर्थक्येऽपि 'घटौ' इति 'मागस्यानन्वितैकार्थबोधकत्वात्तनातिव्याप्ते' इति
द्वितपुस्तकेऽधिक पाठः ३. 'पदलक्षणमेव वाच्यम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति. ४. 'अनेन' इति
स्वभावान्तरे नास्ति. ५. 'संकेतप्रहवाय' इति पुस्तकान्तरे.

प्रथमं प्रतिपद्यते, अनन्तरं च 'गां वधानं' 'अश्वमानय' इत्यादावावा
 द्वापाभ्यां गोशब्दस्य 'साम्नादिमानर्थः' आनयनपदस्य च 'आहरणम'
 इति संकेतमवधारयति । 'कचिच्च प्रसिद्धपदसममिहारात्, यथा-
 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिवति' इत्यत्र ।

मध्यमद्वयस्य गवानयनगोचरं ज्ञानमनुमिनोति, तद्वोचरप्रवृत्तिं प्रति तद्वोचरज्ञान
 हेतुत्वात्, ततस्तस्य ज्ञानस्य को हेतुरित्यावाह्यायामुपस्थितत्वात् 'गामानय' इ
 चान्वयस्यैव सादृशज्ञानहेतुतां कल्पयतीति भावः । अश्वमानयेत्यादाविति
 उक्ते इति शेषः । आवापोद्वापाभ्यामिति । आवापोद्वापाभ्यामन्वयव्यति
 काभ्यां 'गा वधानं' इत्यत्र गोपदसत्त्वे साम्नादिमत्पदार्थबोधः । आनयनपदव्या
 रेकेणाहरणपदार्थबोधाभावः । 'अश्वमानय' इत्यत्र गोपदव्यतिरेकेण साम्नादिमत्
 पदार्थबोधाभावः । आनयनपदसत्त्वे आहरणपदार्थबोधः, इत्येवंरूपान्वयव्यतिरेकौ
 संकेतमभिधानामशक्तिम् । सा चातिरेकैव न त्वस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत
 श्वरेच्छा । ईश्वरे कूपयतां पामरासीनामपि शाब्दबोधोदयादतिप्रसङ्गाच्च । अत एव
 धुनिकसंकेतितानां चैत्रादिपदानामपि संकेतः संगच्छते । न चाशौचव्यपगमे पि
 नामधेयं कुर्यादिति सामान्यतश्चैत्रादिपदानामपीश्वरसंकेतितत्वमिति वाच्यम् । त
 तयागतिर्संभवेऽपि सादृच्छिकसंकेतितवित्यादिपदानां संकेतासंगतिप्रसङ्गात् । त
 स्याथ पदार्थे वैशिष्ट्यं नाम संबन्धः कल्प्यते 'अयं घटपदाभिधेयः' इत्यादिप्रत
 तिबलादिति साप्रदायिकाः । कचिदिति । प्रसिद्धस्य गृहीतसंकेतस्य पदस्य सम
 मिहारात् साहचर्यात् । समीपोच्चारितत्वादित्यर्थः । प्रेक्षावद्भिः प्रायेण योग्यपदा
 र्थोपस्थापकं पदं समीपे प्रयुज्यत इत्यादिसंबन्धतः प्रसिद्धपदार्थान्वययोग्यपदार्थ
 विशेषोक्तिप्रहो भवतीति भावः । एवं च शक्यार्थे योग्यतासत्त्वेऽपि वक्तृतात्पर्यवि
 शेषस्यात्र हेतुत्वकल्पनात्तत्र न शक्तिप्रहः । संकेतमवधारयतीत्यनुक्तः । एवम
 प्रेऽपि । प्रमिमेति । प्रफुल्लेत्यर्थः । 'अत्र कमले मधुकरो मधु पिवति' इति पदा
 नामन्वययोग्यतार्थस्त्वज्ञानेन मधुकरपदस्य भ्रमर एव शक्तिप्रहः । मक्षिकाद
 तादृशयोग्यतासत्त्वेऽपि वक्तृतात्पर्यविशेषज्ञानाभावाच्च शक्तिप्रहः । कमलाभ्य
 न्तरे भ्रमर एव मधु पिवतीति जानता जनेन कमलपदसममिहारान्मधुकरपदस
 भ्रमरे संवेतो गृह्यते । आतोपदेशात् प्रामाणिकवचनात् । एतदुपलक्षणम् । व्या
 करणादयोऽपि शक्तिप्रहोपाया द्रष्टव्याः । तदुक्तम्—'शक्तिप्रहं व्याकरणोपमान
 कोपासवाक्यान्वहारात्तच्च । वाक्यस्य शेषादिरूपेर्वेदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस
 रूढः ॥' इति । दाक्ष्यादिशब्दानां दशाक्षपदेषु शक्तिप्रहो व्याकरणात् । गोसदृश
 पिण्डदर्शनाद् गोसदृशो गवयपदवाच्य इत्यतिदेशवाक्यस्वरूपे अयं गवयपदवाच्य
 इत्युपमानात् । 'विनायको विन्नराजद्वैमानुरगणाधिपाः' इत्यादी कोपात् । आसव

१. 'अयं' इति क.ग. पुस्तके नोति. २. 'इह' न पुस्तके नास्ति. ३. 'प्रसिद्धस्य' इत्यादि. ४. 'अत्र कमले' इत्यादि. ५. 'विनायको' इत्यादि. ६. 'विन्नराजद्वैमानुरगणाधिपाः' इत्यादि. ७. 'विनायको' इत्यादि. ८. 'विन्नराजद्वैमानुरगणाधिपाः' इत्यादि.

शात्, यथा—‘अयमश्वशब्दवाच्यः’ इत्यत्र । तं च संकेतितमर्थं धरन्ती शब्दस्य शक्त्यन्तरानन्तरिता शक्तिरभिधा नाम ।

संकेतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च ॥ ४ ॥

यादित्र(द्व)यमुदाहृतं स्वयमेव ग्रन्थकृता । वाक्यशेषाच्छक्तिग्रहो यथा—‘यवमय-
रुर्भवति । वारही चोपानत् । वैतसे कटे प्राजापत्यं धिनोति ।’ इत्यत्र यववराहवे-
षशब्दाः किं म्लेच्छप्रयोगात् कहुवायसजम्बूनां वाचकाः, उक्त आर्यप्रयोगाद् दीर्घ-
रूकसूकरवज्रुत्थानामिति विप्रतिपत्तौ ‘वसन्ते सर्वसस्यानां जायते पत्रशातनम् ।
‘इदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः ॥’, ‘वराहं गवोऽनुधावन्ति’, ‘अंशुजो
‘तसः’ इति वाक्यशेषरूपवेदविरोधिनी म्लेच्छप्रतीतिः स्मृतिरिव वेदविरुद्धा हेया ।
‘आर्यप्रयोगादेव दीर्घशब्दादौ शक्तिग्रह इति । ‘शक्तिः कवित्वबीजरूपः ‘संस्कार-
विशेषः’ इत्यादौ विरुतेः । आनन्त्यव्यभिचारदोषप्रसन्नशङ्कया व्यक्तिशक्तिवादमपहा-
सिपादिशक्तिवादमाह—‘संकेत’ इति । द्रव्यं संज्ञाविषयः । संज्ञा च द्विविधा—

१. अभिधेति । सेयमभिधा त्रिविधा—केवलसमुदायशक्तिः, केवलवयवशक्तिः,
समुदायावयवशक्तिसकरश्चेति । आधाया विर्यादिवदाहरणम्, तत्रावयवशक्तिरभावात् ।
देहीवायारतु पाचकपाठकादिः, तत्र धातुप्रत्ययशक्तियोध्ययोरर्थयोरन्वयेनोद्यतितात्पाकक-
रूपादधातुवेदधातन्तरस्यानवभासेन समुदायशक्तिरभावात् । तृतीयायाः पङ्कजादिः । इह
धातुप्रत्ययरूपावयवशक्तिवैधाना पङ्कजननकर्तृणामाकाङ्क्षादिवशादनवये प्रकाशमानात्प-
ञ्जनिकर्तृरूपादधातुरित्यस्य पञ्चावविशिष्टस्य प्रत्ययेन तदर्थसमुदायशक्तिरपि कल्पनादु-
च्यते संकरः । एता एव विधा रूढि-योग-योगरूढिशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते । अश्वगन्धाश्व-
र्णमण्डपनिशान्तकुवल्यादिपदेषु का शक्तिरिति । अत्र केचित्—‘अश्वगन्धारसं पिवेत्’
त्यादिषु विषयविशेषे केवलसमुदायशक्तिः । ‘अश्वगन्धा वात्रिशाला’ इत्यादिषु तु केवल-
योगशक्तिः । समुदायावयवशक्त्योहभयोरैकशब्दाश्रयत्वे कथं केवलत्वविशेषितयोरप्यद्विती-
भेदयोरिति तु न शङ्क्यम् । समुदायावयवशक्तिवैधयोरर्थयोरन्वयेन तादृशशक्त्योः केवलस्य
प्राप्ताज्यात् । इदमेव हि केवलत्वमिह विवक्षितं यदन्वयायोऽन्वयार्थबोधकत्वम् । सकरस्त्व-
वयवयोग्यार्थबोधकयोरिति न तस्मात् प्रसक्तिः—इत्याहुः । अन्ये तु—अश्वकर्णादिशब्देषु
अभिधायाः प्रथमद्वितीययोर्निधयोः प्रसक्तिः । केवलत्वविरहात् । परतु संकरस्य ही भेदो
—योगरूढिवैयर्थिकरूढिश्च । तत्राद्यस्योदाहरणं पङ्कजादिशब्दाः । द्वितीयस्य त्वश्वकर्णा-
यः—इत्याहुः । ‘चतुर्थे यवायमभिधाया भेदः’ इत्यप्यन्ये । ‘अखण्डा एव ॥ शब्दाः ।
‘त्र समासेषु पदानां कृतकितित्त्वं न तेषु च प्रत्ययानां विभागः कार्त्तिक पदेति कुत्रास्ति
योगशक्तिः, विशिष्टस्य विशिष्टार्थे रूढेरेवाभ्युपगमादित्यपि वदन्ति ॥

२. संकेत इति । अत्रायं निष्कर्षः—यद्यपि सकलप्रयोजनसंपादकतया व्यक्तिरेव
वैतसश्च तथाप्यानन्त्याव्यभिचाराच्च न तत्र संकेतो युक्तः । तथाहि—किं सर्वस्य
गोव्यक्तिषु संकेतग्रहः, आहोस्वित् कस्याचिदेकस्यैव । नापः । अनन्तानां गोव्यक्तीनां
गणपदुपस्थानासम्भवात् । नान्तः । यस्या गोव्यक्ती संकेतग्रहस्तदतिरिक्ताया गोशब्देन

जातिगोपिण्डादिषु गोत्वादिका । गुणो विशेषाधानहेतुः सि
चिरंतनी, आधुनिकी च । तत्राद्या हरिहरादिः । द्वितीया दित्यडवित्यादिः । जा
दिपदार्थमाह—जातिरिति । गोपिण्डादिषु गोव्यक्त्यादिषु । सिद्धो नित्यः ।

मानासंभवात् । अपि च व्यक्तिकात्किवादे—‘गौः शुक्रवर्णवांश्चलनक्रियावान् हि
नामा’ इत्यभिप्रायेण ‘गौः, शुक्रः, चलः, दित्यः’ इति प्रयोगे गवादिभिश्चतुर्भिरपि
भेदेका सैव गोव्यक्तिरुच्यते इति पदार्थभेदो न स्यात् । तत्र व्यक्तेरेव पदार्थत्वात्, तस्य
प्रकृते एकत्वात् । तथा च विषयविभागाभावे गवादिशब्दार्थानां घटः कलश इत्यादीनां
वैकाप्यवाचकत्वेन सहप्रयोगो न स्यात् । उपाधिदात्तिकादे तु—जातिगुणक्रियासंज्ञा
प्रवृत्तिनिमित्तभेदेन गवादिशब्दानां पर्यायत्वाभावाद् भवति सहप्रयोग इति । तत्र जा
गोत्वादिः सत्त्वानविशेषाभिव्यक्त्या प्रत्यक्षसिद्धा गवादिपदानामभिधेया । अनुमानसि
च प्राणवरसनत्वादिघ्राणरसनादिपदानाम् । अयं जातिरूपः शब्दः प्राणप्रद इत्यभि
यते । प्राणनं प्राणो व्यवहारयोग्यता । तं ददाति सपादयतीति प्राणप्रदस्तन्निर्वा
इत्यर्थः । सर्वगोवृत्तिर्जातिरिति यावत् । ‘प्राणप्रदत्वं च यावदस्तु स्थितिसंभन्धित्वम्’ ।
नरसिंहादयः । तदुक्तं वाक्यपदीये—‘गौः स्वरूपेण न गौर्नाप्यगौः, गोत्वाभिसंवन
द्रौः’ इति । अस्माथः—गौ गोपदोद्देशः साक्षादिमान्यमी स्वरूपेण जातिरहितव्यक्ति
मात्रेणेत्यर्थ इति व्याख्यातारः । अज्ञातगोत्वकेन धर्मस्वरूपमात्रेणेत्यर्थ इत्यन्ये । न गौः
न गोव्यवहारनिर्वाहकः । नाप्यगौः । नापि गोभिन्न इति व्यवहारस्य निर्वाहकः । त
सति दूरादनभिव्यक्तसंस्थानतया गोत्वाग्रहदशाया गवि गौरिति गोभिन्न इति वा व्यवहा
स्यात् । स्वरूपस्वाविशेषाद्वे गौरिति गवि चागौरिति वा व्यवहारः स्यादिति भावः
‘अगौः’ इत्यत्र ‘गौरतद्धितलुक्’ इति ट्प्रत्ययो न भवति ‘नृनस्तत्पुरुषात्’ इति निर्
धात् । गोत्वाभिसंवन्धाद्रौत्ववत्तया क्षान्ताद्रीगोशब्दव्यवहार्य इति । एवं च यावद्रौन्मा
हार तत्र गोपिण्डे गोत्वस्य सत्त्वात्प्राणप्रदत्वमिति भावः । एवं च नित्यमेकमनेकानुग
सामान्यं जातिरिति तद्वक्ष्यं बोध्यम् । गुणः शुद्धादिः शुद्धादिपदानामभिधेयः । शुद्ध
दिना हि लघुसप्तार्कं गवादिषु बहु व्यावर्त्तय इति तात्पर्यम् । अत्रेदं तत्त्वम्—सत्त्वं
त्रयस्य द्रव्यस्य गुणेन पश्चाद् योग इति । एवं चोत्पन्नस्य द्रव्यस्य क्षणमेकं निर्गुणत्वम्
जातिगुणस्यैव द्रव्यस्योत्पत्तिः । ‘जन्मना जायते जातिः’ इत्युक्तेः । एवं जातिगुणयोर्मै
म्भेद इति नहवः । प्रदीपकृतस्तु—‘यद्यपि शुद्धत्वादेर्नित्यत्वाभ्युपगमे गोत्वादिना समक
लमेव संबन्धित्वम्, तथापि तस्य संबन्धः कदाचिदपैत्यपि, न तु गोत्वादेरिति विशेषः
इत्याहुः । कदाचित्पाकापवसायाम् । आदिपदेन रज्ज्वावस्थाया ग्रहणम् । पाकेन र
नेन च वर्णान्तरसंज्ञादन इति तदर्थः । एवं च ‘सत्त्वे निश्चितेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यां
आपेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः ॥’ इति गुणलक्षणं बोध्यम् । अयमर्थः—द्र
माश्रयते, तत एव च द्रव्याश्रितवर्ते, विभ्रवातीयेषु द्रव्येषु दृश्यते यः स गुणः । ए
जातेर्गुणत्वं शारितम् । सा हि द्रव्ये निश्चिन्माना द्रव्यं न कदाचिज्जहाति । न च भिन्न
दीयानि द्रव्याण्यभिविनिश्चिन्ते । यद्यपि गवाधादिषु प्राणित्वमस्ति, तथापि प्राणित्वेन ते
मेकजातीयत्वमेव । ननु क्रियाया. पूर्वोक्तलक्षणयोगानुगत्वं प्राप्नोति, सा हि द्रव्ये नि

तुधर्मः । शुक्लादयो हि गवादिकं सजातीयेभ्यः कृष्णगवादिभ्यो
 ते गुणानामपि नित्यत्वम् । आविर्भावतिरोभावावेव उत्पत्तिविनाशप्रतीतिविपर्ययो ।
 तुधर्मो द्रव्यमात्रवृत्तिः । विशेषाधानहेतुत्वमुपपादयति—शुक्लादयो हीति ।

१. कदाचिद् द्रव्यान्निवर्तते निश्चित्यं हि द्रव्यं कदाचिद् भवति, कदाचित्सक्रियम्, मित्र-
 तीयानि च द्रव्याण्याश्रयतीत्याह—आधेय इति । उत्पाद्य इत्यर्थः । यथा घटादेः पाकजो
 णादिः । अक्रियाजोऽनुत्पाद्यः । यथा—आकाशादेर्गह्वरादिः । क्रिया तूत्पाद्यैव न नि-
 ति, तस्या द्वैविध्याभावाद्गुणत्वाभावः । नन्वेवं द्रव्यस्यापि गुणत्वं प्राप्तमिति, अवयविद्र-
 व्यवयवद्रव्येषु निविशते, असमवायिकारणसंयोगनिवृत्तौ च विनाशात्ततोऽपैति, मित्र-
 तीयेषु च हस्तपादादिषु दृश्यते, द्विविधं तत्रित्यानित्यमेतेन निरवयवस्य द्रव्यस्यात्म-
 भाषणादेर्नित्यत्वादवयविद्रव्यस्यानित्यत्वादित्यत आह—असत्त्वप्रकृतिरिति । अद्रव्यस्त्व-
 त्वा इत्यर्थः । 'पृथग्जातिषु' इत्यत्र श्यासः । समासे 'जात्यन्ताच्छ बन्धुनि' इति छः स्यात् ।
 न व्यक्तियु जालाधारेषु दृश्यमानो जातिषु दृश्यत इत्युच्यत इति 'बोतो गुणवचनात्'
 ते सृष्टे आप्यकैयटयोः स्पष्टम् । क्रिया च भावना उत्पादयितुं व्यापाररूपा साध्यत्वेना-
 र्थीयमानेति ज्ञेयम् । तदुक्तम्—'व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया' इति,
 तावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते । आश्रितकर्मरूपत्वात्तत्र क्रियेत्यभिधीयते ॥' इति
 । यावदिति । सर्वमित्यर्थः । सिद्धमसिद्धं वेति । सिद्धं वर्तमानध्वंसप्रतियोगि । तद्विजम-
 त्त्वम् । तच्च वर्तमानं भविष्येति द्विविधम् । तेन 'अपचय' 'पश्यति' 'पचति' इत्यादीं
 नञ् साध्यत्वेनासत्त्वरूपत्वेनाभिधीयमाना क्रियेति क्रियाशब्दस्य रुढिर्दक्षिता । योगि-
 त्वमुच्यते—आश्रितेति । आश्रितकर्म रूपं यस्यास्तत्त्वात् । पूर्वापरीभूतावयवकत्वादि-
 त्थेः । तदीयावयवानामभिधायणाश्रयःश्रवणपर्यन्तानां क्रमेणोत्पत्तेः । क्रियापदेन तत्समु-
 द्योऽभिधीयते । यत्र च क्रमिको व्यापारोऽस्ति तत्र रुढिरादरणीयेति पूर्वापर्यारोपणे वा
 नञ् फलस्य स्वजनकव्यापारमतपूर्वापर्यारोपाद्यौगिकत्वम् । किञ्च क्रमिकावयवानामेक-
 सत्त्वेऽपि यत्किञ्चिदवयवसत्त्वकाले वर्तमानत्वव्यवहारः । अवयवावयवविनोदभेदोपात्तः ।
 तत्राभिध्यत्वव्यवहारस्तु सर्वेषामवयवानां भूतभविष्यत्वयोरेव । न तु यत्किञ्चित्क्रियामू-
 लादौ । उक्तं च—'गुणभूतेरवयवैः समूहः क्रमवन्मनाम् । बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रि-
 ति न्यपदिश्यते ॥' इति । अस्यार्थः—क्रमिकतत्त्वव्यापार प्रति गुणभूतेर्गुणभावेन भास-
 नेतिरवयवरूपलक्षितः एकत्वबुद्ध्या प्रकल्पितोऽभेदो यस्मिन्तद्रूपः क्रमवन्मना व्यापारा-
 समूहः क्रियेति । अत्र क्षणनश्वराणां व्यापाराणां मेलनाभावेन बुध्येत्युक्तम् । तथा
 बुद्धिजन्यसंस्कारद्वारा तेषां मेलनसंभव इति भावः । अत एव आप्त्ये—'क्रिया हि
 भेदमत्यन्तापरिदृष्टा पूर्वापरीभूतावयवा न शक्यते पिण्डीभूता निदर्शयितुम्' इति ।
 व्यापारसमुदायात्मिकायाः क्रियाया दर्शनायोग्यत्वोक्त्या तदवयवानां तद्विषयत्वं व्यति-
 त्मुखेन दर्शितम् । तस्याभाभिभेकबुद्धिविषयस्यैकत्वव्यवहारः इत्यपि बोध्यम् । अथ च
 शुक्लादीनां चर्यादीनां च प्रतिव्यक्तिगोददर्शनादानन्त्यव्यभिचाराभ्यां व्यक्तिशक्तिवादो-
 न्यामिहापि कञ्चिद्विपर्ययमिति चेत्, तेषां लघवात्प्रत्यभिधानाच्चैकत्राया अभ्युपगमात् ।

व्यावर्तयन्ति । द्रव्यशब्दा एकव्यक्तिवाचिनो
क्रियाः साध्यरूपा वस्तुधर्माः पाकादयः । एषु हि
न्तादिपूर्वापरीमृतो व्यापारकल्पः पाकादिशब्दवाच्यः । एष्वेव हि
केरुपाधिषु संकेतो गृह्यते । न व्यक्तौ ।

साध्यरूपा जन्मस्वभावाः । एषु साध्यरूपवस्तुष्वेतेषु । अधिभ्रयणेति ।
यणादीत्यर्थः । अधिभ्रयणं चुड्यां स्थाल्या आरोपणम् आदिराश्वयवो यस्य ।
भ्रयणं चुड्याः स्थाल्या अवरोपणम् अन्तोऽन्ताश्वयवो यस्य, तयोः
आदिशब्देन गृहनिर्गमादिप्रामान्तरप्रवेशान्तप्रमृतीनां ग्रहणम् ।
गमनादिग्रहणम् । एष्वेवं हीति । जाल्यादिषु चतुर्षु मध्ये ये व्यक्तेरुपाधयो ।
जातिगुणक्रियास्वरूपास्तेष्वेवेत्यर्थः । संज्ञाशब्दानां तु व्यक्तामेव संकेतग्रहः ।
व्यक्तिव्यतिरिक्तत्वानावेनोपाधित्वाभावात्तानात्वाभावेनोक्तदोषद्वयाभावाच्च ।
एवोक्तम्—‘द्रव्यशब्दा एकव्यक्तिव्यतिरिक्तः’ इति । केचित्तु “संज्ञाशब्दानां
यामेव संकेतग्रहः, उपस्थान्योपस्थापकभावेनाविनाभावाद् व्यक्तेरुपेक्षः” इत्या-
तज्ञः । संज्ञायाः शब्दानतिरिक्तत्वेन तस्यवोच्चारणमेदेन भिन्नतया निरुक्तदो-
षप्रसङ्गात् । एवं च द्वितत्वादिकं व्यक्तिस्वरूपमेव न ॥ पदार्थान्तरमित्यवधार-
णानन्त्येति । नानाव्यक्तिषु नानाशक्तिरूपनानागौरवमित्यभिप्रायः । ईश्वरे-
ष्वे तद्विपरिवर्त्य नानात्वरूपनमेव गौरवमित्यवगन्तव्यम् । “ननु नानान्तर्व्य-
क्तिप्रदः, किंतु दृष्टव्यक्तावेवेति कुतो गौरवमित्यत आह—व्यभिचारेति

गनुत्तम्—'गुणक्रियावद्व्यञ्जानां वस्तुतः परस्परानामाश्रयेदान्त्रेय इव लक्ष्यते' इति
तथा च भेदप्रतीतिर्नैव भवेति भावः । इदं प्रत्यक्षम् । वस्तुविनाशमपीतिरपि तत्रैव
वर्णनित्यतावादे गणराश्यापत्तिर्विनाशप्रतीतिर्नैव भवेत् स्वीकाराय । यादृच्छिकस्तु
क्षेप्यया शिरादिशब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तत्वे संनिवेशो भवति स च 'परम्परया ध्या-
गतशरमवर्णाभिभ्यस्तथोऽखण्डः स्फोटः' इत्येकं । अत्राप्यवच्छिन्नो वर्णसमुदाय-
इत्यपरे 'वेदला व्यक्तिरेव' इतीतरे । तत्राद्यमत्रद्वये विशेषणज्ञानादिशिष्टमलम्बः । स
यमते च निर्दिष्टव्यामर्कः प्रत्यक्षः । तदित्य चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति दर्शनं च
स्मृतम् । संयत्तां शब्दानां जातिरेवार्थः । गुणक्रियाशब्दानां गुणक्रियागन्तायाः यदृच्छ-
शब्दानां च शालुद्रुमुदायुतीततत्तत्तद्वृत्तिसंज्ञासमवयवमभिप्रायैवृत्तेषां जातेरेव
भिषेयतासंभवात् । इति जातिवृत्तिदर्शनमिति संशयः । अत्र—'बोद्धव्योऽप्रत्यक्ष-
उपनिषात्कारिरेतिष्ठः । इच्छासि संविदाख्यानं चित्तेत्याहुतेति' इति ।

अथ लक्षणा—१

मुख्यार्थवाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते ।

रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरपि ता ॥ ५ ॥

प्रहृष्टकालादृष्टव्यक्तावपि बोध्यस्य कार्यस्य सत्त्वाद् व्यक्तिसंकेतग्रहरूपकारणस्य
त्वाद व्यभिचार इति भावः । ननु गुणक्रियाणां प्रतिव्यक्तिभिन्नत्वेन आनन्त्य-
त्वाभ्यां कथं संकेतग्रह इति चेत् । न । तन्मते गुणादीनामपि जातिवदे-
रेव । भेदप्रतीतिस्तु आश्रयभेदादौपचारिकी । एतदसहमाना अन्ये जातावेव
इति वदन्ति । यथा फाव्यप्रकाशे—‘संकेतितधनुर्भेदो जालादिर्जातिरेव वा’
। एतन्मते गवादौ गोत्वादिरिव, शुक्रादौ शुक्रत्वादिसः, पाकादौ पाकत्वादिसः,
हृदादौ हृदयत्वादिरस्ति । इत्यादीनां प्रकृत्यवस्थाकालभिन्नत्वेन भिन्नत्वाङ्गीकारात्त-
दित्यत्वादिजातिस्वीकारः । एवं शुक्रत्वादिजालाश्रयस्य शुक्रादिगुणस्यैवाक्षेपः ।
इपरत्वे तु लक्षणैवेति मन्तव्यम् । ननूपाधौ संकेतग्रहाङ्गीकारे ‘विशेष्यं नाभिधा-
तक्षीणशक्तिर्विशेषणे’ इति न्यायाद् ‘गामानुय’ इत्यादौ गोपदादिना कथं गवादे-
इति चेत् । न । गवादेराक्षेपेण सभात् । तदुक्तम्—‘व्यक्त्यविनाभावात्तु जाला-
कराक्षिप्यते’ । यथा—‘क्रियते’ इत्यादौ कर्ता । ‘कुरु’ इत्यादौ कर्मेति । आक्षेपो
नानम् । व्याख्यादिज्ञानव्यतिरेकेणापि व्यक्तेरनुभवात्, किन्तु स्मरणमेव गोत्वादि-
रगवादिस्मरणभावेन गोत्वादिविशिष्टशब्दबोधानुपपत्तेः । अत एवोक्तम्—
‘तेश्चकं पदं व्यक्तिमेवानुभावयति स्मारयति च’ इति । जातिशक्त्युपाधिशक्त-
यः ॥ अथ लक्षणेति । अभिधानिरूपणानन्तरं लक्षणा निरूप्यत इत्यर्थः ।
यार्थस्याभिधेयार्थस्य । याधे अन्वयानुपपत्तिग्रहे । अत्र ‘मुख्यार्थसंबन्धग्रहे’
पि बोध्यम् । तेन विना लक्षणाया अग्राहकत्वात् । उक्तं च—‘संबन्धानुपपत्तिभ्या
इलक्षणा’ इति । तद्युक्त इति । मुख्यार्थसंबन्धीत्यर्थः । मुख्यार्थसंबन्धिनि-
णा नास्तीति सूचनायैतत् । अन्यो मुख्यार्थतावच्छेदकातिरिक्तधर्मावच्छिन्नः ।
यार्थभिन्न इत्यर्थस्तु न मनोरमः । प्रयोजनाभावात् । स्वार्थस्यापि बोधिका-

१. मुख्येति । यद्यपि ‘काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्’ ‘छत्रिणो यान्ति’ इत्यादी न मु-
लार्थवाधस्तथापि तात्पर्यार्थविषयीभूतवाक्यार्थबोधभावोऽग्राहिप्रेतः । आधे उपवातक-
त्वं मुख्यार्थस्यान्वयो न तु काकत्वेन, अन्ये एकसार्थप्रवृत्तत्वेनैव मुख्यार्थस्यान्वयो न
एतित्वेनेति नाभ्यासि । यत्र काकमात्रे तात्पर्यं न तत्र लक्षणम् । एतेन तात्पर्यानु-
त्तिरेव लक्षणाङ्गीज नत्वन्वयानुपपत्तिरिति सूचितम् । यद्यपि ‘यष्टीः प्रवेशय’ ‘गङ्गायां
ः’ इत्यादानुभवापेक्षादर्शनादिनिगमनाविरहस्तथापि ‘गङ्गायां घोषः’ इत्यत्र तात्पर्य-
वै कुतो गङ्गापदेऽपि स्वार्थसंबन्धिनौकादौ न लक्षणा, तावताप्यन्वयानुपपत्तिशान्तेः ।
स्तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाङ्गीजमित्यवश्यम् । घोषपदस्य गीनादौ लक्षणा किं न
इति तु न युक्तम् । न विधौ परः ‘उभयार्थ’ इति लक्षणायाः कर्तुमशक्यत्वादिति दिक् ॥

‘कलिङ्गः साहसिकः’ इत्यादौ कलिङ्गादिशब्दो देशविशेषादिरूपां
 स्वार्थेऽसंभवन्वया शब्दशक्त्या स्वसंयुक्तान्पुरुषादीन्प्रत्याययति, यथा
 ‘गङ्गायां घोषः’ इत्यादौ गङ्गादिशब्दो जलमयादिरूपार्थवाचकत्वात्प्र-
 कृतेऽसंभवन्त्वस्य सामीप्यादिसंभवन्वसंबन्धिनं तदादिं बोधयति, सा शब्द-
 स्वार्षिता स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद्धाविता वा शक्तिर्लक्षणा नाम ।
 पूर्वत्र हेतू रूढिः प्रसिद्धिरेव । उत्तरत्र ‘गङ्गातटे घोषः’ इति प्रतिपाद-

यामुपादानलक्षणायां ‘रामोऽस्मि सर्वं सहै’ इति वक्ष्यमाणार्थां स्वार्थस्यैव दुःख-
 सहिष्णुत्वेन बोधिकायां रामशब्दलक्षणायामव्याप्त्याधायकत्वाच्च । अत एव
 ‘कदली कदली-’ इत्याचार्यान्तरसंक्रमितवाच्यलक्षणाभूलक्ष्यनेरुदाहरणमपि संग-
 द्ध्यते । अत्र द्वितीयकदल्यादिपदानां पौनरुक्त्या कदलीत्वादिना भन्वयमलम-
 मानानां शीतत्वादिना कदल्यादिरूपमुख्यार्थस्यैव बाधकत्वेन लक्षणास्वीकारात् ।
 एवं ‘पण्डितकवयः कपयो हन्ये कवयस्तु केवलं कपयः’ अत्र द्वितीयकपिपदस्य
 कान्यजन्यलामपूजाख्यात्यादिभागित्वेन कवेरेवोपस्थापनेऽपि लक्षणा । एवं च
 सामान्यशब्दस्य विशेषपरत्वेऽपि लक्षणा संभवति । शक्यतावच्छेदकपटितविशि-
 ष्टधर्मस्यापि शक्यतावच्छेदकतिरिक्तत्वस्वीकारात् । यथा ‘त्वामस्मि वच्मि’-
 इत्यादौ । रूढिः प्रसिद्धिः । सा च भूरिप्रयोगरूपा, तस्या ज्ञानात् । अर्वा-
 चकशब्दप्रयोगः साप्रयोजनक इति सामान्यतः प्रयोजनज्ञानाद्वा । प्रयोजनस्य
 विशेषज्ञानं तु लक्षणजन्यबोधानन्तरमेव भवतीति तस्य हेतुत्पनुपपन्नम् । ‘प्रयो-
 जनादिर्युद्देश्ये पथमी’ इत्यन्ये । अत्र प्राणुक्तयोर्दण्डचक्रादिन्यायेन मिलितयोरेव
 कारणत्वम् । धरमयोस्तु तृणारणिमणिन्यायेन प्रत्येकत्वेवेति विशेषज्ञापनाय भिन्न-
 विमतया व्यवधानेन च तेषां निर्देशः । वक्तृतात्पर्यं हि लक्षणा । तच्चास्माच्छ-
 व्दान्मुख्यार्थसंबन्धी बोद्धव्य इति वक्तुरिच्छाविषयत्वम् । निरुक्तहेतवस्तु तस्या ए-
 वौघकाः । एवं च निरुक्तहेतुप्रयजन्यज्ञानविषयीभूतलक्षणया मुख्यार्थसंबन्धी प्रत्या-
 ययत इति भावः । मुख्यार्थसंबन्धबोधिनी या व्यञ्जना तत्रैतादृशज्ञानविषयत्वाभा-
 वाच्चातिव्याप्तिः । रूढिहेतुकायाः प्रयोजनहेतुकायाश्च लक्षणयाः प्रसिद्धलक्षणयोर्ल-
 क्षणं सगमयन्धारिकां विदुषीति—कलिङ्ग इति । साहसं चेतनधर्मः । तस्माच्चे-
 तने देशविशेषेऽनुपपत्तिं दर्शयति—कलिङ्गादिशब्द इति । देशविशेषे स्वार्थे वर्त-
 मानः कलिङ्गादिशब्दोऽसंभवन्वाहसिकवाच्यवययोग्यमर्थमभिधया बोधयितुमशक्तु-
 रवित्यर्थः । स्वसंयुक्तान्स्वार्थसंबन्धान् । प्रकृते घोषवाताखन्वययोग्येऽसंभवन्नभिधया
 वर्तितुमशक्तुवन् । केचिदभिधां स्वाभाविकं शब्दव्यापारं वदन्ति । तत्रत्ये लक्षणायां
 वैलक्षण्यमाह—स्वाभाविकेतेरेति । अन्ये स्वीधरेच्छाविषयत्वरूपमाहुः । तत्रत्ये
 त्वाह—ईश्वरेति । अनुद्धाविता अनुत्पापिता । इदानींतनवक्तुभिरुत्पापितेति
 यावत् । पूर्वत्र कलिङ्ग इत्यादौ । उत्तरत्र गङ्गामित्यादौ । गङ्गातट

ालम्ब्यस्य शीतत्वपावनत्वातिशयस्य बोधनरूपं प्रयोजनम् । हेतुं विनापि-
स्य कस्यचित्संबन्धिनो लक्षणेऽतिप्रसङ्गः स्यात्, इत्युक्तम्—‘रुद्धे-
प्रयोजनाद्वापि’ इति ।

२ केचित्तु ‘कर्मणि कुशलः’ इति रूढावुदाहरन्ति । तेषामयमभिप्रायः—
कुशांक्षातीति व्युत्पत्तिलम्बः कुशप्राप्तिरूपो मुख्योऽर्थः प्रकृतेऽसंभव-
न्विवेचकत्वादिसाधर्म्यसंबन्धसंबन्धिनं दक्षरूपमर्थं बोधयति । तदन्ये

इति । प्रतिपादयतीति प्रतिपादनं वाच्यम्, तदलम्ब्यस्य । मुख्यशब्दघटितवा-
क्येनाप्रतिपाद्यस्त्वर्थः । तीरेस्य विप्रकृष्टांशगतशीतत्वाद्यपेक्षया संनिहृष्टांशगतशीत-
त्वादेराधिक्यमत्रातिशयः । एवं च ‘अतिशीतेऽतिपावने तीरे घोषः’ इति व्यञ्जना-
जन्यबोधो लाक्षणिकशब्दप्रयोगस्य प्रयोजनमिति भावः । ‘काश्चित्तव त्वशक्तिः’
इति लक्षणाया निषेध उक्तः । अशक्तितो रुद्धिप्रयोजनविरहात् । यथा—‘कमले
चरणापातं मुलं क्षुमुषि तेऽकरोत्’ । अत्र निर्जितत्वं लक्ष्यते । एषा नैयार्थ-
लक्षणा दोषतया वक्ष्यते । सा च कविप्रयोगानर्हत्वात् प्रकृतलक्षणास्य लक्ष्या
न भवतीति तत्रातिव्याप्तिवारणाय चरमहेतुद्वयं न्यस्तम् । तदेव दर्शयति—हेतु-
मिति । रुद्धिप्रयोजनयोरन्यतरमित्यर्थः । संयन्धिनो मुख्यार्थसंबन्धिनः । ल-
क्षणे लक्षणायाम् । उदाहरन्ति ‘काव्यप्रकाशकारादयः’ इति शेषः । लाति पृच्छति ।
व्युत्पत्तिः प्रकृतिप्रत्ययविभागकल्पना, तल्लम्ब्यस्तत्रातिपाद्यः । प्रकृते लौकिक-
कर्मान्वयेऽसंभवान्योग्यतामलभमानः । पदार्थस्यान्वयानुपपत्तिप्रतिसंधानद्वारा
लक्षणायामुपयोगित्वमित्यभिप्रायेणेदम् । अन्य इति । स्वपक्षमभिप्रायेण दक्षरूप-

१. तदन्य इति । नातिवचिरमेतत् । अस्ति वाक्येऽवयवशक्ते रुद्धिशक्त्या निषप्र-
योगेन कुशलपदस्य कुशप्राप्तिणि शक्तत्वमभ्यारतमेव । किं च प्रयोगप्रवादेणैव प्रवृत्ति-
मित्यस्तीकारे यौगिकम्वयवहारस्य मूलच्छेदो दुर्वारः । तथा चाहोदिनार्थकाद्यदिवा-
तोरोणादिके रक्ति निष्पन्नस्य चन्द्रपदस्य शशिनि योगशक्त्या नियमितस्याप्यन्यथा प्रवृत्ति-
निमित्तत्वे तत्पदादेव स्वर्णकपूरकाम्पिलमेवकपदार्थानां भावे खण्डाखण्डशक्तयोः को भेदः ।
अत एव अश्वगन्धादिपदमौषधिविशेषबोधे रूढम् । अश्वसंबन्धकत्वात् धाजिशालाबोधे यौ-
गिकमिदं यौगिकरूढमित्युच्यते । ‘रुद्धिर्योगावधारिणी’ इति प्रकरणाद्यभावे बोध्यम् ।
यत्र मण्डपपदादिभ्यो मण्डपानकर्त्रादे रूढ्यर्थमण्डपादिगुणवत्त्वेन बोधस्तत्र प्रथमप्र-
तीतरुद्धिनिषयमुत्पाद्योत्पाद्येन योगाद् रुद्धिपूर्वकलक्षणाया बलवत्त्वेन लक्षणमेव बोधः
इति मञ्जूपाद्यां व्यवसायितम् । एतेन कुशलपदे दक्षत्वरूपाखण्डोपाधिमात्रं समर्थयता
वेष्टिकृतामप्युक्तिर्न पेशला । अपि च । व्युत्पत्तिप्रधानव्युत्पत्तिप्रधानाधारण-दि शब्दानां
प्रवृत्तिनिमित्तम् । तदपि ‘शक्तिमाहं न्यावरणोपमानकोशाहवाक्याश्चवहारतश्च । वा-
नयस्य शेषादिद्वयेवैदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥’ इति शक्तिमाहकशालानुस-
तम् । तत्र च प्रयोगप्रवाहशीला रुद्धिः । सा च व्यवहारजीवातुर्व्यापार्यं प्राप्तप्रसरा
महाभाष्यकारादिनिरूपितशब्दचतुष्टयीपक्षे शाकटायनादिसंमतत्रयीपक्षे च समानेव ।

न मन्यन्ते । कुशग्राहिरूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्या-
र्थत्वात् । अन्यद्भिः शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम् ।
व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे 'गीः शेते' इत्यत्रापि लक्षणा स्यात् ।
'गमेडोः' (उणादि-२।६७) इति गमघातोडोप्रत्ययेन व्युत्पादितस्य
गोशब्दस्य शयनकालेऽप्रयोगात् ॥

संवेत्येवकारेण कुशग्राहिव्यवच्छेदः । अत्र हेतुमाह—अन्यद्भीति । व्युत्पत्तिल-
भ्यार्थप्रतीतौ प्रसारीभूतो धर्मो व्युत्पत्तिनिमित्तम्, यथा गोशब्दस्य गमनकर्तृत्वम् ।
संकेतग्रहे प्रसारीभूतो धर्मः प्रवृत्तिनिमित्तम्, यथा गोत्वजातिः । शब्दानां व्युत्पत्ति-
निमित्तमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति तु न नियमः । पाञ्चदशशब्दस्य द्वयोरप्यसत्त्वेऽपि
गवादिशब्दस्य व्यभिचारात् । प्रकृते तु कुशग्राहिव्यवच्छेदव्युत्पत्तिनिमित्तस्यानेकप-
दार्थघटितत्वेन गुरुत्वात्तदुपेक्ष्य लघुना दक्षत्वरूपावच्छेदोपाधिनैव कुशलशब्दस्य
संकेतग्रहः । ननु रुढिव्युत्पत्तिरपि पदार्थोपस्थापिकेति रुढिविषयस्यैव व्युत्पत्ति-
विषयस्यापि मुख्यत्वमात्मा, इति चेत् । न । रुढ्या प्रतिरुद्धाया व्युत्पत्तेः
पदार्थोपस्थापकत्वाभावात् । तदुक्तं भट्टरादैः—'लब्धार्थिमका सती रुढिर्भवेद्योगा
पहारिणी । कल्पनीया तु लभते नात्मानं योगवाधतः ॥' इति । लब्धात्मिकं
जैमित्तपदार्थोपस्थितिका योपपरम्पराप्रसिद्धा सत्यनादिसिद्धा योगापहारिणी व्युत्पत्ति-
लभ्यार्थप्रतीतिप्रतिवन्धिक । कल्पनीया लाघवप्रतिस्थापितामिरेदानीं तनैव दूरवनीया ।
आत्मानं पदार्थोपस्थितिं न लभते न जनयति । योगवाधतः योगेन बाधनात् ।
रुढेह्यस्याः पदार्थोपस्थापकत्वस्य च कल्पनामुपेक्ष्य ह्युत्तमयोगस्यैव पदार्थोपस्थापक-
त्वमात्रं कल्प्यत इति भावः । व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यत्वस्वीकारे दोषमाह—
व्युत्पत्तिलभ्यस्येति । मुख्यार्थत्वे मुख्यार्थत्वस्वीकारे शयनकाले गमनकर्तृरूप-
मुख्यार्थत्वाच्च इति भावः । यदि पुनरुणादिप्रत्ययाना व्युत्पत्तेः प्राग्विकस्वसुगम्यत्वे
ततो गुणेन क्रियमा सक्त्वेन वा संसर्गशालिनी योगानुप्रादिका व्युत्पत्तिरस्तु । वा 'वाहु-
लकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायस्तमुच्यमानादपि वेष्टाम् । कार्यसंशेषविषेश तदुक्तं नैगमरुढिर्भव
हि मुक्ताधु ॥ नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम् । यत्त पदार्थ-
विशेषसमुत्पत्तेः प्रत्ययतः प्रकृतेष्व तद्वक्ष्यम् ॥' इति वणानुपूर्व्येनानुमानमात्रप्रयोजना रुढा-
नुवादिकास्तु । जातिगुणक्रियादन्वयलक्षणेषु शब्देषु खण्डाखण्डोपाधिसाधारण्येनैव मुख-
मिव मुख्य इति शब्दार्थव्यवदेशः । शुद्धादिशब्दा गुणे मुख्या गुणिनि लाक्षणिकाः,
वचनवचन वा मुख्या एवेति तु स्वस्वदशेनानुसारी वादः । तत्र पूर्वत्र लक्षणा, परत्र
'गुणवचनेभ्यो मत्तुपो डुमिष्टः' इति वार्तिक च मानम् । यत्पुनर्व्युत्पत्तिरपि 'गीः शेते'
इत्यत्र गमनमात्रेण लक्षणावृत्तिः सा तु 'सिद्धः स्वपिति' इत्यादिवत्समाधेया । जाति-
शब्दत्वनङ्गीकारे तु न च शङ्कासमाप्ती इत्यल पञ्चालमक्षणेन ॥

१. 'इति' क-पुस्तके नास्ति. २. पुस्तकान्तरे 'कहे' इत्यस्ति. ३. 'जनिता' इत्यादि 'परम्प-
राप्रसिद्धा' इत्यतः पाठो पुस्तकान्तरे न दृश्यते. ४. 'व्युत्पत्ति' इत्यादि '—मादा' इत्यन्तः पाठः ।
५. पुस्तकान्तरे नास्ति.

तद्भेदानाह—

मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये ।

स्यादात्मनोऽप्युपादानादेपोपादानलक्षणा ॥ ६ ॥

दा 'निपक्षे सायका सन्ति' इत्यत्र लक्षणापत्तेर्लोपो द्रष्टव्यः । 'यो अन्तवर्मेणि' इत्यस्मान्मुलप्रत्ययनिष्पन्नस्य सायकशब्दस्य विनाशाभावकालेऽपि प्रयोगादिति । लक्षणाया सामान्यलक्षणमुक्त्वा विशेषलक्षणमाह—मुख्यार्थस्येति । अत्रापि ग्रंथेऽस्याह्वयम् । तृतीयायै पठ्यो । वाक्यार्थ इति । सप्तम्ययौ पठकत्वम् । तेषां च मुख्यार्थस्य वाक्यार्थपठकत्वव्यवधानाय यथा वृत्त्या वाक्यार्थे यत्र भिव्या- हतपदार्थे आत्मनोऽविकारादन्यस्याप्यन्वयसिद्धये अन्वयरोधाय मुख्यार्थेन इतरस्य वाक्यतावच्छेदकवातिरिक्तधर्मावच्छिन्नस्य भाष्येण प्रत्यायनम् । एवोपादानलक्षणा स्यादित्यर्थः । सहाधीजमाह—आत्मनोऽपीति । मुख्यार्थस्यापीत्यर्थः । उपादानात् प्रत्यायनात् । मुख्यार्थविषयिणी—प्रतीतिरुपादानम्, तदेतुलं लक्षणा उपादान- लक्षणा । यद्वा, उपादीयते स्वार्थो गृह्यतेऽनेनेत्युपादानम्, तन्नाम्नी लक्षणा उपा- दानलक्षणा । 'उपादानं लक्षणं च' इति काव्यप्रकाशे नाम व्यक्तम् । अन-

[illegible]

रूढावुपादानलक्षणा यथा—‘श्वेतो घातति’ । प्रयोजने यथा—

लक्षणायेः । क्वचिन्मुख्यार्थ एव । क्वचिन्मुख्यार्थविशिष्टो मुख्यार्थभिन्न एव । क्वचिन्मुख्यार्थस्तद्विशेषेत्युभयम् । आधो यथा—‘कदली कदली—’ इत्यादि । द्वितीयो यथा—‘कुन्ताः प्रविशन्ति’ इति । तृतीयो यथा—‘एते राजकुमार गच्छन्ति’ इति । अभिधाजन्यमुख्यार्थोपस्थितेरन्वयानुपपत्तिग्रहाद्युपशीणत्वेन तदुपस्थितये पुनर्लक्षणापेक्षेत्यवगन्तव्यम् । ननु ‘छत्रिणो यान्ति’ इत्यादावुपादानलक्षणायामन्वयानुपपत्तिग्रहविरहात्कथं सामान्यलक्षणगमनम् । न चान्न लक्षणैव नास्ति, किंतु ‘देवदत्तो याति’ इत्यादिवाक्ये तद्वत्त्वानुसरणमिव यवनादिवैशिष्ट्यसचिवया व्यञ्जनयैव छत्रिभिन्नगमनादि प्रतीयत इति वाच्यम् । तथा सति राजकुमारेषु तत्सदृशेषु च गच्छत्सु ‘राजकुमार गच्छन्ति’ इति गौणोपादानलक्षणोदाहरणमसंगतं स्यात् । उदीच्यबोधेऽनुभवसिद्धं मुख्यार्थविषयत्वं च न स्यात् । अत्र केचित्—
“मुख्यार्थबाधश्च तात्पर्यविषयस्यान्वयस्य मुख्यतावच्छेदकरूपेण निर्वाहे एव । ‘गङ्गाया घोषः’ इत्यादौ तात्पर्यविषयस्य तीरादौ घोषान्वयस्य मुख्यतावच्छेदकप्रवाहत्यादिना ‘छत्रिणो यान्ति’ इत्यादौ तात्पर्यविषयस्य छत्र्यच्छत्रिणां गमनाद्यन्वयस्य मुख्यतावच्छेदकच्छत्रित्वादिना चानिर्वाहात्” इत्याहुः । तत्र । तात्पर्यस्य प्रयत्नमुपस्थापकमावेनानुपस्थितौ तद्वदितान्वयानुपपत्तेरप्यनुपस्थितेः । न च प्रकरणादिना तदुपस्थितिः, कथमनुपस्थिते तीरादौ मुख्यार्थसंबन्धग्रह इति वाच्यम् । तथा सत्यसमन्वयानुपपत्तिप्रतिसंधानादिना, वक्तृतात्पर्यलक्षणायाः प्रकरणादिनैवोपस्थितिसंभवात् । नन्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामन्वयानुपपत्तिग्रहादेरपि कारणत्वमवगम्यते, प्रकरणादिना विशिष्य ज्ञातायामनेकार्थशब्दाभिधायामतिव्याप्तिवारणाय तस्योपादानं सार्धंक्रमिति चेदन्वयानुपपत्तिरेवास्त्वाम्, किमपरेण मुख्यायसंबन्धग्रहनन्तरेण । वस्मकस्याचिदुपस्थापिकायां नेयार्थलक्षणापामतिव्याप्तिवारणाय तदिति चेत्तदेवास्तु । किमप्येन । तेनैव नामार्थशब्दाभिधावारणसंभवात् । एवं च ‘छत्रिणो यान्ति’ इत्यादौ व्यभिचाराद् व्यावृत्त्यभावाच्च अन्वयानुपपत्तिज्ञानमनुपादेयमेव तस्य लक्षणाविशेषज्ञापकम् । लक्षणासामान्यज्ञापकं तु मुख्यार्थसंबन्धज्ञानमेव । अत एवोक्तम्—‘अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते । लक्ष्यमाणगुणैर्योगादुत्तेरिष्टा तु गौणता ॥’ इति । अभिधेयस्याविनाभूतमविनाभावः संबन्धमात्रं तस्मात्तद्वहात् प्रतीतिर्यस्या वृत्तेः सा लक्षणोच्यत इत्यर्थः । अन्यच्च—‘शक्यादशक्योपस्थितिलक्षणा’ इति । शक्यात् शक्यसंबन्धज्ञानात् । उपस्थीयतेऽनयेत्युपस्थितिः । शक्यसंबन्धश्चनज्ञाता शक्यतावच्छेदकमिन्नधर्मावच्छिन्नोपस्थितेरुपायो लक्षणेत्वर्थः । अनयोर्गोप्यतायस्तु न सम्यक् । वक्तृतात्पर्यविशेषरूपाया लक्षणायाः स्वकार्योपस्थितिरूपत्वामानात् । एवं ‘छत्रिणो यान्ति’ इत्यादावेकसार्थवाहित्वरूपशक्यसंबन्धज्ञानादेव ज्ञातया लक्षणया छत्रिसार्थवाहित्वेन छत्र्यच्छत्रिण उपस्थाप्यन्ते । नत्वान्वयानुपपत्तिप्रतिसंधानापेक्षपीति । उक्तोदाहरणयोर्लक्षणं

‘कुन्ताः प्रविशन्ति’ । अनयोर्हि श्वेतादिभिः कुन्तादिभिश्चाचेतनतया केवलैर्धावनप्रवेशनक्रिययोः कर्तृतयान्वयमलभमानैरेतत्सिद्धये आत्मसंबन्धिनोऽध्यादयः पुरुषादयश्चाक्षिप्यन्ते । पूर्वत्र प्रयोजनाभावाद्विः । उत्तरत्र तु कुन्तादीनामतिगहनत्वं प्रयोजनम् । अत्र च मुख्यार्थस्यात्मनोऽप्युपादानम् । लक्षणलक्षणायां तु परस्वैवोपलक्षणमित्यनयोर्भेदः । इयमेवाजहत्स्वार्थेत्युच्यते ॥

अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थं परस्यान्वयसिद्धये ।

उपलक्षणहेतुत्वादेवा लक्षणलक्षणा ॥ ७ ॥

योजयति—अनयोर्हीति । एतत्सिद्धये धावनप्रवेशनेकर्तृत्वान्वयबोधाय । आत्मसंबन्धिन इति । यथायथं समवायिनः स्वसंयोगिनश्चेत्यर्थः । आक्षिप्यन्ते प्रत्याप्यन्ते । प्रयोजनं प्रयोजनीभूतज्ञानविषयः । एवमन्यत्रापि । अस्याः संज्ञान्तरमाह—इयमेवेति । अजहदत्यजन्त्वार्यौ मुख्यार्थौ यामिति विग्रहः । अत्र ‘श्वेतो धावति’ इत्युदाहरणं चिन्त्यम् । धावनानुकूलकृतिरूपस्य धावनकर्तृत्वस्याश्वसंबन्धेनापि श्वेतगुणेऽन्वयासंभवात् । न च ‘कुन्ताः प्रविशन्ति’ इत्यादौ यथा कुन्तस्याचेतनस्यापि पुरुषसंबन्धेन प्रवेशकर्तृत्वमुपचर्यते तथात्राप्यचेतनस्य धावनकर्तृत्वमौपचारिकमिति बाध्यम् । कुन्तस्य पुरुषसंबन्धोत्पन्नक्रियासंबन्धेनैव कर्तृत्वोपचारात् । प्रकृते तु श्वेतगुणस्याश्वसंबन्धेनापि क्रियासंबन्धासंभवात् । तस्मात् लक्षणलक्षणाया एतदुदाहरणम् । एव च ‘श्वेतः शोभते’ ‘श्वेतं पश्यति’ इत्याद्येतदुदाहरणं बोध्यम् । अत्र श्वेतगुणविशिष्टाश्वस्य शोभादर्शनयोरन्वयस्तत्पर्यविषयः । यत्र वाक्यस्योपाधेर्यत्किम्यतिरिक्तप्रयोगरूपा रूढिरस्ति तत्र लक्षणयैवाविनाभूताया अपि व्यक्तेरुपस्थितिः न त्वाक्षेपेण । गवादिपदानां तादृशरूढेः प्रयोजनस्य आभावाल्लक्षणाया असंभवादाक्षेपेणैव व्यक्तेरुपस्थापकत्वमित्यभिप्रायेणेदमुदाहरणमुपन्यस्तम् । ‘गुणे शृङ्गादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तदति’ इति विशिष्टशक्तिवादिनां मते लक्षणान्न नास्तीत्यवधेयम् । लक्षणलक्षणायाह—अर्पणमिति । अत्रापि यथेत्युपज्यते, समामिष्याहृतपदार्थं मुख्यार्थमिच्छस्यैवान्वयस्योपायं यथा इत्याशब्देनैवात्मनोऽर्पणं मुख्यार्थमिच्छबोधेनोपयोगीकरणम् । एषा लक्षणलक्षणा स्यादिति संबन्धः । संज्ञायोजमाह—उपलक्षणहेतुत्वादिति । वाक्यार्थान्वयिनो मुख्यार्थेत्येतरव्यावृत्तिबोध उपलक्षणम् । ‘कलिङ्गः साहसिकः’ इत्यादौ वाक्यार्थं साहसादान्वयिनो मुख्यार्थस्य देशविशेषादेः पञ्चाटप्रभृतेर्व्यावृत्तिबोधो लक्षणयैव जायते’

1. अजहदिति । ज्ञानेन्द्रसरस्वतीचरणान्तु—‘अहत्स्वं पदं यं च अहत्स्वः, सोऽर्थो यस्यमिति बहुव्रीहिकर्मो बहुव्रीहिः’ इत्याहुः । स्वशब्दस्य सर्वनामरवात्पूर्वनिपाते प्राप्ते भाष्यप्रयोगाद्वाबदन्तादित्वाद्वा न पूर्वनिपातः ॥

रुद्धिप्रयोजनयोर्लक्षणलक्षणा यथा—‘कलिङ्गः साहसिकः’, ‘ग-
ज्ञायां घोषः’ इति च । अन्योर्हि पुरुषतटयोर्वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये
कलिङ्गगङ्गाशब्दावात्मानमर्पयतः ।

यथा वा—

‘उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते मुजनता प्रथिता भवता परम् ।

विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्त्व ततः शरदां शतम् ॥’

अत्रापकारादीनां वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये उपकृतादयः शब्दा आ-
त्मानमर्पयन्ति । अपकारिणं प्रत्युपकारादिप्रतिपादनान्मुख्यार्थवाधो-
वैपरीत्यलक्षणः संबन्धः फलमपकारातिशयः । इयमेव जहत्सार्थेत्युच्यते ॥

आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।

इत्यन्ये । तत्र ‘उपदिशति कामिनीनां—’ इत्यादी मुख्यार्थत्वेतरव्यावृत्तिबोधाभा-
वेनाव्याख्यापतेः । एवं च वाक्यार्थान्वयिमुख्यार्थमिश्रितमुख्यार्थान्यपदार्थोपस्थि-
तिरूपलक्षणमिहावगन्तव्यम् । ‘उपदिशति—’ इत्यादी शिक्षावचनरूपोपदेशेनामि-
धित एवाविष्कारः प्रतीयते । ‘कलिङ्गः साहसिकः’ इत्यत्र ॥ देशविशेषरूपमु-
ख्यार्थस्य मिश्रितस्य पुरुषस्य प्रतीतिरस्ति । किंतु तस्य वाक्यार्थान्वयित्वात्तमेवेन
विशिष्टमुख्यार्थमिश्रणं संभवत्येव । ‘कुन्ताः प्रविशन्ति’ इत्याद्यामुपादानवारणाय
मिधितान्तं विशेषणम् । ‘कलिङ्गः साहसिकः’ इत्यादिसंग्रहाय वाक्यार्थान्वयीति
मुख्यार्थविशेषणम् । लक्षणे—‘उपलक्ष्यतेऽनेने(त्विप)लक्षणम् । तन्नात्र लक्षणा(उप)-
लक्षणलक्षणा । पूर्वश्रात्मनोऽमुपादानादित्युपादानपदम्, अत्रोपलक्षणहेतुत्वादित्युप-
लक्षणपदं च भावसाधनमवगन्तव्यम् । क्रमेणोदाहरति—रुद्धिप्रयोजनयोरिति ।
अर्पयतः यथादर्थं पुरुषतटबोधेनोपयोगीकुरुतः ॥ उपकृतमिति । यत्र भवता बहु-
पङ्क्तं तत्र किमुच्यत इत्यर्थः । ‘तत्र’ इत्येव कुत्रचित्सुखके पाठः । परमुल्लेखं यथा
स्यात्तथा मुजनता प्रथिता प्रकटीकृता । यदा ‘परम्’ इति मान्तमन्वयमेवकारार्थकम् ।
मुजनता प्रथितेत्यर्थः । सुखितं यथा स्यात्तथा आस्त्व तिष्ठ । ततो बहुपङ्क्तिमु-
जनताप्रपन्नाभ्यां शरदां घटमराणां शतमिति, अविच्छेदे द्वितीया ॥ अत्रापका-
रादीनामिति । आदिपदादमुजनतामुचितयोर्महणम् । उपकृतादय इति ।
आदिपदान्मुजनतामुचितयोर्महणम् । संज्ञान्तरमाह—इयमेवेति । लक्षणलक्षणे-
त्यर्थः । जहदयजन् सार्थो गामिति विग्रहः । पुनरपि लक्षणाया द्वैविध्यमाह—
आरोपाध्यवसानाभ्यामिति । अत्र विशेषेण तृतीया । तेन आरोपाः राध्य-

१. ‘अहो’ इति पुनश्चकारे कश्चित्. २. पुनश्चकारे ‘अहो’ इत्येव पाठो प्राप्यते. ३. ‘अमुज-
रतीनां’ इति टीकायाः पाठः ४. पुनश्चकारे ‘अहो’ इत्येव पाठो प्राप्यते. ५. ‘अहो’ इति
१. जहदयजन् सार्थो गामिति विग्रहः. २. पुनरपि लक्षणाया द्वैविध्यमाह—
आरोपाध्यवसानाभ्यामिति. अत्र विशेषेण तृतीया. तेन आरोपाः राध्य-

। तैः पूर्वोक्ताश्चतुर्भेदलक्षणाः ।

विषयस्यानिर्णीयस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत् ॥ ८ ॥

सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका ।

विपर्ययिणा अनिगीर्णस्य विषयस्य तेनैव सह तादात्म्यप्रतीतिकृत्ता-

वसानायेति । 'अश्वः श्वेतः' इत्यादौ निरुक्ताहुपदद्वयेन धारावाहिकभेदप्रतीतिरेव जायते ननु लक्षणाजन्यप्रतीतिरिति । तत्प्रतिबन्धकः पदयोः समानविभक्तिक्रव-
बलेन शक्यलक्षणयोरभेदारोपः कल्पनीय इति भावः । ननु भेदप्रतीत्यनन्तरमभे-
दारोप आहार्य एव संभवति, तस्य प्रतिबन्धकत्वं केनापि नाङ्गीक्रियत इति चेत् ।
न । लक्षणिकबोधानुरोधेन शुक्लगुणविशिष्टबोधाभिप्रायबोधसहकृतस्याहार्यस्याप्यभे-
दारोपस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनात् । न च सहकार्येव प्रतिबन्धकोऽस्तु, किमाहार्यस्य
प्रतिबन्धकत्वकल्पनेनेति वाच्यम् । ग्राह्याभावानवगाहित्वेन तस्य प्रतिबन्धकत्वक-
ल्पनाया अन्याय्यत्वात् । अस्तुतस्तु आहार्यत्वस्य तत्प्रतिबन्धकत्वस्य च कल्पनाम-
पेक्ष्यावश्याङ्गीकरणीयस्य सहकारिण एव प्रतिबन्धकत्वकल्पने लाघवमस्ति, तथापि
प्राचीनमतानुसारादेवं व्याख्यातमिति । प्रतीयमानेन लक्ष्यार्थेन शक्यार्थस्याहार्य-
भेदप्रतीतिरप्यवसानम् । लक्षणाजन्यपदार्थोपस्थितेः प्राक्काले तादृशारोपाप्यवसा-
नयोः सत्त्वात् लक्षणायास्तद्वैशिष्ट्यमवगन्तव्यं फलपरिचयेम् । तयोः स्वरूपमाह—
विषयस्येति । निरुक्तारोपविशेष्यस्येत्यर्थः । अनिर्गण्यस्य प्रयुक्तशब्दप्रतिपादि-
तस्य । अन्यतादात्म्यप्रतीतिकृतं स्वजन्यपदार्थोपस्थितिद्वारा शक्यतावच्छेदकप्रतिरिक्त-
धर्मावच्छिन्नस्याभेदप्रतीतिकृत्वा लक्षणा सा सारोपा स्यादित्यर्थः । 'अश्वः श्वेतो

१. सारोपेति । जारोपेण सह वर्धत इति सारोपा । विषयविषयिणोर्भेदोपन्यासो-
 ऽप्यारोपार्थः । विषयतिरग्रेण विषयिणोऽभेदप्रतिपत्तिरध्यवसानम्, तेन सह वर्धत इति
 साध्यवसाना । विषयनिष्ठासाधारणधर्मप्रतिपत्तिसहकृतान्यस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिः सारोपा ।
 विषयनिष्ठासाधारणधर्मप्रतीत्यसहकृतान्यस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिः साध्यवसाना । एवं च
 उदयवाचकपरसारवासरवमात्रेणारोपाध्यवसानम्यवहार इति बोध्यम् ॥

[illegible]

१. 'सा धर्मोदासपुरी' इति ग्रन्थके नास्ति. २. 'विश्विक' इत्यत्र 'वीर्य' इत्यं
क-नाम पुनरेव नास्ति.

तोऽयम् । अत्रावयवावयविभावलक्षणसंबन्धः । 'ब्राह्मणोऽपि तक्षासौ' ।
तात्कर्म्यलक्षणः । इन्द्रार्थासु स्थूणासु 'अमी इन्द्राः' । अत्र
स्थूललक्षणः संबन्धः । एवमन्यत्रापि । निगीर्णस्य पुनर्विषयस्यान्यता-
स्यप्रतीतिकृत्साध्यवसाना । अस्याश्चतुर्षु भेदेषु पूर्वोदाहरणान्येव ॥

अर्थकारित्वं प्रयोजनमित्यन्ये । ब्राह्मणोऽपीत्यपि वास्तव्यादिपरिग्रहः । तक्षा
वैविशेषः । समस्ततक्षेवर्मणि नैपुण्यमत्र प्रयोजनम् । इन्द्रार्थास्त्विति ।
पूजार्थं कल्पितास्त्वित्यर्थः । स्थूणासु स्वर्मेष्टु । इन्द्रवत्पूज्यमानत्वमत्र प्रयो-
म् । एतदुदाहरणचतुष्टयमपि सारोपाया एव । '—निगीर्णस्य मता साध्यवसा-
न' इति कारिकाश्रुत्वं (दल) व्याकरोति—निगीर्णस्येति । शब्दं विनैवाक्षेपा-

इत्यव्यापार सपादयतीति पराक्रमातिशयः प्रयोजनं व्यङ्ग्यम् । कर्मधारयाभिप्रा-
यत् । इत्यस्यामिति षष्ठीसमासे तु 'पीठा कार्पाटिकैर्गङ्गा' इत्युदाहार्यम् । इह
शब्दो गङ्गावयवे लाक्षणिक इति ध्येयम् । अवयवपुञ्ज पञ्चावयवीति भवेऽवयवशान्तर-
तासाय माप्रम् ॥

१. पूर्वमिति । अत्रेय लक्षणादिक्—'तात्स्थ्यात्तथैव तादर्थ्यात्तरसामीप्यात्तथैव च ।'
साहचर्यात्तादर्थ्याज्ज्ञेया वै लक्षणा उपेः ।' इत्याद्या हसति, सिंशो माणवकः, वटे गानः,
प्राणि प्रवेशय, पार्थिवार्थो वृत्तिगिदवा पार्थिव इति तदुदाहरणम् । शौतमोऽप्याह—
'इच्छरणत्वात्तादर्थ्यवृत्तमानेधारणसामीप्ययोगसाधनाभिपत्त्येभ्यो ब्राह्मणबालवटपुञ्ज-
चन्दनगङ्गाशकदात्रपुरेणैवतद्भावेऽपि तदुपचारः २।२।१४' ॥ इति । तस्य भाष्य-
तः । तदभावेऽपि तदुपचारः । तच्छब्दव्यवहार इत्यर्थः । स च तदमरारोपेणारोपनिमित्तानि
'सहचरणादीनि । यद्भीः प्रवेशय । मञ्जः क्रोशन्ति । वीरणेष्वास्ते । अय राजा यम ।
स्य. सत्तु । चन्दन तुला । गङ्गायां पोषः । वृष्णः शकटः । अत्र प्राणाः । अय कुलस्य
मा । इत्युदाहरणानि क्रमेण । यष्टित्वारोपो ब्राह्मणे, साहचर्यात् । मञ्जत्वारोपो बालेषु
तस्यात् । कटेपु वीरणत्वारोपः, तादर्थ्यात् । राशि यमत्वारोपः, वृत्तात् । सत्ती
सत्वारोपः, सम्मानकारणात् । चन्दने तुलात्वारोपः, तक्षार्थत्वात् । गङ्गायां वीरधर्मा-
त्वारोपः, तरसामीप्यात् । शकटे तदमरारोपत्वारोपः, कृष्णपुण्ययोगात् । अत्रेपु
णत्वारोपः, प्राणसाधनत्वात् । पुरे राजत्वारोपः, कृष्णभिषत्वात् इति तस्याव्यापारः ।
अत्र साहचर्यं नाम यष्टा मित्यसंबन्धः । तत्संबन्धात् 'यष्टिकावान्' इत्येव स्यात् । न
'यष्टिका' इति । 'यष्टिकावान्' इति तु मुख्य एव । तस्मादुपचारीजमन्यदलभ्यम् ।
अप्येते—यष्टिकार्या तावदर्थं यष्टिकाशब्दो यष्टिकात्वनामिनिमित्तश्च तदुपपन्नमेव
मिति ब्राह्मणे समवायेनाप्यारोप्य ब्राह्मणं यष्टिवत्त्वमिति न्यायवार्तिककारः । 'गीर्वा-
नेकः' इत्यादावपि साधारणकर्मजलक्षणादिरूपेण निमित्तेन बाहीकसारोपि उपोद्वेन शेषः ।
तो व्यञ्जनया मुत्पयकाधेदप्रतीतिः प्रयोजनम् ॥

प्रयोजने यथा—राजकुमारेषु तत्सदृशेषु च गच्छन्सु 'एते राजकुमारा गच्छन्ति' । रूढावुपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा—'तैलानि हेमन्ते सुखानि' । प्रयोजने यथा—'राजकुमारा गच्छन्ति' । रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी यथा—'राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति' । प्रयोजने यथा—'गौर्वाहीकः' रूढौ लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा—'राजा कण्टकं शोधयति' । प्रयोजने यथा—'गौर्जल्पति' ।

अत्र केचिदाहुः—गोसहचारिणो गुणा जाड्यमान्यादयो लक्ष्यन्ते । ते च गोशब्दस्य बाहीकार्थभिधाने निमिस्तीभवन्ति । तदयुक्तम् ।

मुखजननेऽन्वयोऽस्तीति भाष्यम् । मन्वेवं कथमत्र मुखार्थबाध इति चेत्, सर्वपादिलेहानां तिलभवत्वाभावात् । सामानाधिकरण्येनान्वयानुपपत्तिरेवात्र मुखार्थबाधत्वाङ्गीकारात् । न चैतत्परार्थकदेशस्य तिलमेहस्य तिलभवत्वसंभवात्कथमन्वयानुपपत्तिरिति वाच्यम् । तादृशान्वयस्याप्युत्पन्नत्वेनानङ्गीकारात् । नहि पिकहरिणविहंगमभुजंगा इत्यन्वयः केनाप्यप्रमत्तेनाङ्गीक्रियते । एवं च 'तैलानि सुखानि' इत्यत्र प्रतीयमानेनैतत्परदायेन तैलपदार्थस्यान्वयानुपपत्तिरेव मुखार्थबाधः । न चैवं 'गङ्गाया घोषः' इत्यादौ सर्वत्रैव तादृशमुखार्थबाधसंभवे किमिति ग्रन्थस्यैव मुखार्थबाधान्तरं दर्शितमिति वाच्यम् । वित्पटस्य मुखार्थबाधस्य प्रतिसंधानेनैवोपपत्तौ छिद्यं तस्य प्रतिसंधानानुसंधानस्याप्यवत्वात् । एते 'राजकुमारा इति । अत्र विलक्षणपरिच्छेदकत्वरूपकधर्मलक्षणसादृश्यसंबन्धेन राजकुमारस्तत्सदृशाश्च प्रतीयन्ते । सदृशानामपि राजकुमारसदृशदरणीयत्वं प्रयोजनम् । राजा गौडेन्द्रमिति । शोधयति दमनेन निर्वहं करोति । सीक्षणाप्रवृत्ताविशेषः कण्टकपदस्य मुखार्थः । तस्य शोधनासंभवाद्दुःखदत्त्वेन तत्सदृशे शत्रौ लक्षणा । 'शुद्रशत्रौ च कण्टकः' इत्यादिषोपस्तु निरुद्धलक्षणाया एव ग्राहकः, न त्वभिधाय इति भाष्यम् । गौर्वाहीक इति । बाहीको हलबाहकः । गौर्जल्पतीति । जल्पनं व्यक्तवचनम् । तच्च गौर्न संभवतीत्यन्वयानुपपत्तिः । 'गौर्वाहीक' इत्यत्र शान्दशोषप्रकारं दर्शयन्परमत्वं निरुक्तेति—अत्र केचिदाहुरिति । गोसहचारिणो गोशब्दो गोतत्त्वसामानाधिकरण्या वा, जाड्यमज्ञत्वं मान्यं विदग्धरमार्शमत्यम्, आदिना दुःखसाक्षिण्यदिपरिग्रहः । बाहीकार्थभिधाने बाहीकरूपस्यार्थस्याभिधाय बाधने निमिस्तीभवन्ति प्रवृत्तिनिमित्ततामुपयान्ति । ननु गोतये गृहीता

1. बाहीक इति । बाहीको नाम देवविदेहः । एतस्य पुरुषो बाहीकः । केचित् बहिर्भवे बाहीक इति गुरुपत्त्या संशयारविर्भूत इत्यर्थः । 'बहिर्भित्तो यमः', 'ईकहृ य' इति बाहिर्भाष्यां हितोवे ईकहि च इति बबोरेभेत्तु बाहीक इति रूपम् इत्याहुः ॥

1. 'दुःखसाक्षिण्यं करोति गौरी' इति म. पु. छेदः १४५. २. अत्र 'ह' 'द' 'घ' 'ण' 'प' करोतमम् इत्यधिकं म. पु. छेदः.

गोशब्दस्यागृहीतसंकेतं वाहीकार्थमभिधातुमशक्यत्वाद् गोशब्दार्थमात्र-
बोधनाच्च । अभिधाय विरतत्वाद् विरतायाश्च पुनरुत्थानाभावात् ।

अन्ये च पुनर्गोशब्देन वाहीकार्थो नाभिधीयते । किंतु स्वार्थ-
सहचारिगुणसाजात्येन वाहीकार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते । तदप्यन्ये
न मन्यन्ते । तथाहि—अत्र गोशब्दाद्वाहीकार्थः प्रतीयते, न वा ।
आद्ये गोशब्दादेव वा । लक्षिताद्वा गुणाद् । अविनाभावाद्वा । तत्र, न

शक्तिर्व्यक्तिमिव तत्सदृशमपि बोधयत्वित्यत आह—गोशब्दार्थमात्रबोधना-
च्चेति । विरतत्वात् प्रतीतियोग्यताविरहेण नष्टप्रायत्वात् । सकृदुच्चारितशब्दस्या-
भिधया सकृदर्थबोधकत्वनियमादित्यभिप्रायः । नन्यस्य नियमस्य श्लेषादौ व्यभि-
चारदर्शनात्फलवलेन पुनरपि प्रतीतियोग्यता कल्पनीयेत्यत आह—विरताया
इति । उत्थानाभावात् प्रतीतिजननोन्मुखीभावविरहात् । श्लेषादौ धर्मान्तरे गृहीत-
वृत्तयन्तरमर्थान्तरं बोधयतु । प्रकृते तु गोत्वे गृहीता शक्तिर्गोत्वाभ्रयं बोधयित्वा
यदि तत्सदृशमपि बोधयेत्तदाभिपर्येव लक्ष्यार्थबोधसमयेन लक्षणैव नाङ्गीक्रियेतेति
भावः । स्वार्थेति । स्वार्थं गोत्वम् । तत्समानाधिकरणेत्यर्थः । गुणसाजा-
त्येनेति । लक्ष्यगतगुणानां शक्यार्थसहचरितत्वासंभव इति भावः । आद्ये प्रती-
तिपक्षे । न प्रथमः, न गोशब्दजन्यप्रत्ययपक्षः । असंकेतितत्वाद् गोशब्दसंके-
तविषयत्वाभावात् । न द्वितीयः, नाविनाभावजन्यप्रत्ययपक्षः । शाब्देऽन्वयेऽ-
संभवात् शाब्दबोधविषयत्वासंभवात् । अत्र हेतुमाह—शाब्देति । एतच्च
शाब्दाध्याहारवादिना मतमाधिलोकम् । अर्थ्याध्याहारवादिना मीमांसकानां मते
त्वविनाभावलभ्यस्यान्वयस्य शाब्दबोधविषयत्वाङ्गीकारश्चेत्तदूपगम् । अन्ययोपाधिश-
क्तिवादिना मते व्यपेक्षे शाब्दबोधविषयत्व न स्यात् । न च लक्षणयैव तत्र व्यपेक्षे-
रुपस्थितिरिति वाच्यम् । रुढिप्रयोजनाभावात्तत्र लक्षणाया असंभवात् ॥ न च
गदादिपदानां व्यपेक्षौ रुढिरस्तीति वाच्यम् । लक्ष्यार्थव्यतिरिक्तलक्ष्यार्थप्रयोगशा-
स्त्रिनः शब्दस्य लक्ष्यार्थप्रयोगरूपाया रुढेरलक्षणाहेतुत्वाङ्गीकारात् । गदादिपदानां
तु व्यक्तिसदृशत्वं एव गोत्वादौ प्रयोगः । लक्ष्यार्थे प्रयोगमात्रस्यैव लक्षणाहेतुत्वा-
ङ्गीकारे उपाधिशक्तिनामते सर्वत्रैव लक्षणया व्यक्तिबोधसंभवात् । 'ऐन्द्र्या ऋचा
गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इत्यादौ द्वितीयान्तपदरूपाया श्रुतेरिन्द्रापेक्षया ऋतिस्यर्थोपस्था-
पकत्वरूपबलवत्त्वम् । श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवार्थे पारदौर्बल्यम-

१. शब्देति । भाट्टमीमांसकानाम् ॥

२. अर्थेति । प्रामाकरण्याम् ॥

१. 'महात्म्यात्' अ. २. गो- इत्यन्य पुनरुत्थानाभावात् इत्यन्ता पाठो ग-पुस्तके
न दृश्यते ३. 'उपाध साजात्येन वाहीरगता एव लक्ष्यन्ते' क ४. 'एतदप्यन्ये क
'भाष्येऽपि कश्च

प्रथमः । वाहीकार्थस्यासकेतितत्वात् । न द्वितीयः । गोगवयचन्द्रमु-
खादिशब्दद्वन्द्वानामवयवप्रसादादिसाम्येऽप्यन्योन्यस्यान्यतमशब्दार्थानभि-
धायकत्वात् । न तृतीयः । अविनाभावलभ्यस्यार्थस्य शाब्देऽन्वये
प्रवेशासंभवात् । शाब्दी ह्यकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते । न द्वितीयः ।
यदि हि गोशब्दाद्वाहीकार्थो न प्रतीयेत, तदास्य वाहीक-
शब्दस्य च सामानाधिकरण्यमसंगतं स्यात् ।

तस्मादत्र गोशब्दो मुख्यया वृत्त्या वाहीकशब्देन सहान्वयमल-
भमानोऽज्ञत्वादिसाधर्म्यसंबन्धाद्वाहीकार्थं लक्षयति । वाहीकस्याज्ञत्वा-
द्यतिशयदोषनं प्रयोजनम् । इयं च गुणयोगादौणीत्युच्यते । पूर्वा-
त्तूपचारमिथ्यणाच्छुद्धा । उपचारो हि नामात्यन्त विशकलितयोः
शब्दयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिसङ्गेनमात्रम् । यथा—

धैविप्रख्यात्' इति जैमिनिश्रोत्रं न स्यात् । आक्षेपापेक्षया लक्षणाया मुख्यार्थवा-
धादिप्रतिषेधानुरूपेणैव मिलम्भ्याद्यर्थोपस्थापकत्वात् समवाये विरोधेऽयं विप्रक-
र्षाद्विलम्भ्याद्यर्थोपस्थापकत्वात् । 'श्रुतिर्द्वितीया क्षमता' च लिङ्गं वाक्य पदान्येव तु
सहतानि । सा प्रक्रियाया कथमित्यपेक्षास्थानं कर्मो योगबलं समाख्या ॥' इति
कारिकाया सूत्रार्थव्याख्या । न द्वितीयः, न प्रतीतिरित्यभावपक्षः । अस्य गोश-
ब्दस्य, वाहीकशब्दस्येत्यनन्तरं चरारो बोध्यः । सामानाधिकरण्यमेवार्थप्रति-
पादकत्वम् । क्षमतमाह—तस्मादत्रेति । तस्मानुपदर्शितमतद्वये दोषसंभवात् ।
अन्वयमिति । भेदसंबन्धेनेत्यादि । अज्ञत्वादीति । व्यक्तिभेदेऽपि गुणक-
ययोरित्यमित्यभिप्रायेणेदं निर्वचनम् । अन्यया शक्यत्वं ययोरैव धर्मस्वरूपसंबन्धो
न संभवति । प्रयोजनमिति । अत्राहार्थभेदप्रतीतिः प्रयोजनमिति काव्यप्रकाश-
कारः । इयं चेति । गुणस्य साधारणधर्मस्य योगात् स्वविषयकज्ञानजनकरवसे-
न्यात् । तदुक्तम्—'लक्ष्यमाणगुणयोगादुत्तेरिष्टा तु गोणता' इति । लक्ष्यमाणस्य
गुणं साधारणधर्मयोगादुपदर्शितसंबन्धादुत्तेरक्षणया । पूर्वा सादृश्यातिरिक्तसं-
न्धानेधनता । तत्र यत्त्वमर्थोपेक्षापेक्षया नोपेक्ष्यते तत्त्वमिति । 'तत्त्वमसि' इत्यादि-
पठे' इत्यादावपि सारोपाया उपचारमिथ्यणाच्छुद्धा ॥ स्यादित्यतः प्रयुक्ततरेणो-
पचारमीज निर्वचि—अत्यन्तमिति । व्युत्पत्तिरितिभ्यागमागच्छेदे भेदप्रतीता-
भेदसंबन्धेनान्येति । विशकलितयोगिनाद्याहृतयो सादृश्यातिशयमहिम्ना
सादृश्यातिशयबोधाभिप्रायबोधेन भेदमिधित्वाधर्म्यमेव सादृश्यमिति । भेदप्र-
तीतेरुत्तान्तिहत्वं च शक्यत्वं ययोरैव संबन्धानुपपत्तिरिति, यथा शुभ्रं पट इत्यत्र

१. नेति । प्रत्यये, नेति पूर्वार्थे गोशब्दस्य द्वितीयस्थितेनेन दृश्यते ।

‘अग्निमाणवकयोः’ । शुक्लपटयोस्तु नात्यन्तं भेदप्रतीतिः । तस्मादेव
दिषु शुद्धैव लक्षणा ।

व्यङ्ग्यस्य गूढागूढत्वाद्विधा स्युः फललक्षणाः ॥ १० ॥

प्रयोजने या अष्टभेदा लक्षणा दर्शितास्ताः प्रयोजनरूपव्यङ्ग्य
गूढागूढतया मत्त्येकं द्विधा भूत्वा षोडश भेदाः । तत्र गूढः वाक्या
भावनापरिपक्वबुद्धिविभूतमात्रवेद्यः । यथा—‘उपकृतं वेदु तत्र’

शुक्लगुणान्पट शुक्लगुणाक्षिप्त इति शक्यलक्ष्ययोः समवायो भासते, न त
अग्निमाणव इत्यत्र लक्षणाजन्यबोधात्प्राक् शक्यलक्ष्ययो सादृश्यसंबन्धो भासते
किंतु सादृश्यबोधाभिप्रायबोधानन्तरमेवात्यन्तिकभेदप्रतीतिः संभवति । तस्या
सादृश्यातिशयबोधाभिप्रायबोधसहकृतेनभेदारोपेण स्थगनमनुत्पत्तिरेवोपचारः
न त्वभेदारोप इत्यर्थः । अत्यन्तपदव्यावृत्तिमाह—शुक्लपटयोरिति । नात्यन्तं
भेदप्रतीतिरिति । अत्र कृदभिहितभावस्यापि विशेषणस्यात्यन्तमित्यस्य कर्मत्व
स्वीयत्वे ‘अपृथग्रूपफियैविशेषणस्य कर्मत्वं स्वीयत्वं च’ इति सूत्रस्थस्यापृथग्रूपेला
वेर्नन्युक्तमनित्यमिति न्यायेन व्यभिचारत् । अत्र भेदप्रतीते समवायाक्यशब्द-
शक्यसंबन्धावगाहनानात्यन्तिकत्वमित्यभिप्रायः । ननु गौणलक्षणातो रूपकालका-
रस्य को भेदः, रूपकालकारेऽप्यभेदारोपानन्तर सादृश्यबोधस्यानुभवसिद्धत्वादिति
चेद्, रूपकेऽभेदारोपात्प्रागपि सादृश्यप्रतीतिः संभवति । गौणलक्षणाया पथा-
देव, सादृश्यप्रतीत्यो कारणत्वलक्षण्यादपि भेदलक्ष्यं संभवति । ‘आरोप्यमाणस्य
प्राक्निर्देशो हि गौणलक्षणाप्रयोगश्चावश्यम्, पथाभिर्देशे रूपकप्रयोगवान्वयमिति नियम्’
इति केचित् । ‘गौडेन्द्र कण्ठकं शोधयति’ इति गौणलक्षणोदाहरणं ‘राजति
व्योमकासारे राजहंस शुषाकर’ इति रूपकोदाहरणं ददतो ग्रन्थकृतस्तज्जानि-
मतमिति मन्तव्यम् । प्रयोजनलक्षणाया द्वैविध्यमाह—व्यङ्ग्यस्येति । शुद्धैर्विभव
सुसुमविषयगामित्वेनातिशयः । उपकृतमिति । अत्र वक्तृतात्पर्यरूपाया लक्षणायाः

१ ‘प्रत्येकं गूढं च द्वैविध्यतया गूढं व्यङ्ग्यतया च द्वैविध्यतरोऽप्यभेदाः’ ग २ ‘मुखं विकसित-
कितं वज्रितपत्तिमप्रेक्षितं समुच्छ्रितविभ्रमा गतिरणाकसहसा भग्नः । उरो मुकुलितस्रग लपन
मधुचोदुर बतेन्दुवदनातनौ तरुणमोहमो मोदते । मुखं विकसितकितमित्यादि । वतसाधये ।
इन्दुवदनातनौ चन्द्रमोहोदरे तरुणमोहमल्लारुण्यमादुर्गमो मोदते । वृद्धिं यातीत्यर्थः । तमेव
नोद्गमकामाह—सुमनसादिषा । विकसितमित्यति । विकसितं च तस्मिन्नेति विवक्षित-
मित्यम् । विकसितं हि सुसुमपदम् । स च सितेऽनुपपन्नः । यत्तु विकसति च सप्तम्यो भवतीति
विवक्षितपदो बाधितविरासमुत्तरार्थः सप्तम्यस्य कसाल्पस्य स्रग लपनमधुचोदुरवसुरमित्यादिप्रयोगेन च
रस्य व्यनक्ति । वक्षितवकिमेति । वक्षितं नावचीतृत्वे वक्षिमा येन सद्रक्षितवकिम् । अत्र मरीकरण-
येनपदम् । स च वक्षिमणि अनुपपन्नः । यो हि वस्य वयो भवति । तस्यापतो भवति । वक्षित-
पदो बाधितमुत्तरार्थं भावयत्वादिषादृश्यद्विक्रियाण लक्ष्यफलदनुपपत्त्यादिप्रयोगेन व्यङ्ग्यमिति
समुच्छ्रितविभ्रमा गतिरिति । समुच्छ्रिता उद्भवा विभ्रमा वत्सा वा समुच्छ्रिताविभ्रमा । अत्र समु-
च्छ्रितं वत्सादेर्म । स च विभ्रमेऽनुपपन्नः । यत्तु समुच्छ्रति च उत्कल्लो भवतीति समुच्छ्रित-

। अगूढ , अतिस्फुटतया सर्वजनसंवेद्य ! १ यथा—

'श्रीपरिचयाज्जडा अपि, भवन्त्यमिशा विदग्धचरितानाम् ।

उपदिशति कामिनीना यौवनमद् एव ललितानि ॥'

अत्र 'उपदिशति' इत्यनेन 'आविष्करोति' इति लक्ष्यते । आवि-
रातिशयश्चाभिधेयवत्स्फुटं प्रतीयते ।

धर्मिधर्मगतत्वेन फलस्यैता अपि द्विधा ।

एता अनन्तरोक्ता षोडशभेदौ रक्षणा कलस्थ धर्मिगतत्वेन धर्मिगतत्वेन च प्रत्येक द्विधा भूत्वा द्वात्रिंशद्भेदाः । :

दिङ्मात्रं यथा—

रूक्षमतिमानवेद्यत्वेन तन्मूलकव्यञ्जनाजन्यबोधविषयो गूढ इति भावः । उपदि-
 शतीति । 'धीपरिचयाग्रहा अपि नवन्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम्' इति पूर्वार्ध-
 नस्य । एतदर्थं दृष्टव्यं 'उपदिशति-' इति । ललितानि हेलालीलादीनि ।
 प्राविष्करोति प्रकाशयति । परप्रवर्तकयाक्यरूपस्योपदेशस्य चेतनधर्मतया यौय-
 नमदे बाधाविष्कारे लक्षणा । स्फुटत्वं सर्वजनवेद्यत्वादिति भावः । पुनरपि तस्या

[illegible][illegible]

तात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वोपक्षीणासु यन्न्योऽर्थो बोध्यते सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादेश्च शक्तिर्व्यञ्जनजननगमनप्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यञ्जना नाम ।

तत्र—

अभिधालक्षणांमूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा ॥ १३ ॥

अभिधामूलमाह—

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते ।^३

एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साभिधाश्रया ॥ १४ ॥

आदिशब्दाद्विप्रयोगादयः ।

वाक्यधर्मत्वम् । एतत्पदं वाक्यं चैतदर्थबोधाभिप्रायकमिति ज्ञानविषय एव सा स्वार्थं बोधयति । तिसृषु वृत्तिष्वन्यो मुख्यलक्ष्यतात्पर्यार्थभिन्नः । अर्थादिकस्येत्यादिपदं विवृणोति—प्रकृतीति । आदिपदादुपसर्गादिग्रहणम् ॥ नियन्त्रिते 'नियम्य प्रतिपादिते । अन्यस्यार्थान्तरस्य धीहेतुर्बोधोपायः । यत्र तु प्रकरणादिनियमो नास्ति तत्र यावदर्थबोधे वक्तृतात्पर्यं तावन्त एवार्था वाच्याः । यथा—'व्यथा द्वयेषामपि मेदिनीसूताम्' इति । अत्र राजपर्यतयोरन्यतरस्य व्यञ्ज्यत्वे 'द्वयेषां' इत्यनन्वितं स्यात् । अभिधाश्रया अभिधामूला । आकरणीकमर्थं बोधयित्वाभिधायां विरतायामप्राकरणीकबोधे व्यञ्जना अभिधान्तरमपेक्षत इत्यभिधामूलत्वमस्याः । नन्वभिधान्तरस्य संयोगादिना प्रतिबद्धत्वेन कथं व्यञ्जनाजन्यबोधे सहकारित्वमिति चेत् । न । अभिधायाः स्वातन्त्र्येणार्थान्तरोपस्थापने संयोगादेः प्रतिबन्धकत्वकल्पनात् । नन्वभिधयैवार्थान्तरमुपस्थाप्यतां किं व्यञ्जनया संयोगादेः प्रतिबन्धकत्वस्य च कल्पनेनेति चेत् । न । अप्राकरणीकद्वितीयार्थबोधाधिष्ण्यप्रवृत्त्यभावेन तस्यास्याद्विशेषजनकत्वेन च तत्र वैजात्यसावश्यं वाच्यत्वेन तस्य च कारणविशेषाधीनसिद्धिकत्वेन व्यञ्जनासिद्धेरभिधया द्वितीयार्थस्य प्रथममुपस्थाने संयोगादेः प्रतिबन्धकत्वकल्पनस्या-

१. प्रकृतीति । प्रकृतिर्नाम अर्थवबोधहेतुः प्रत्ययविधानावधिभूतः शब्दविशेषः । सर्वेषामेव प्रत्ययानां प्रकृतिं निमिचीकृत्यैवेत्यचिविधानात् । आर्येऽप्युक्तम्—'तावेव सुसिद्धौ यौ ततः परं सैव प्रकृतिरापा' इति । (ततः) विधानावबोधेः (यौ परं तावेव सुसिद्धौ) या च तयोः (आद्या) विधानावधिभूता (सैव प्रकृतिः) इति तदर्थः । प्रत्यस्तु प्रकृतिमवधीकृत्य विधीयमानः स्वार्थबोधकः शब्दविशेषः । अत एवाह सगवान्भर्तृहरिः—'यः शब्दः स्वेतरस्यार्थे स्वार्थस्यान्वयबोधने । यदपेक्षस्तयोः पूर्वा प्रकृतिः प्रत्ययः परः ॥' इति ॥

१. 'वृत्ति' च. २. 'तत्र' च-पुस्तके नास्ति. ३. 'तत्र' इत्यधिकं च-पुस्तके. ४. 'आदिशब्दा-
'गदयः' इति च-पुस्तकेषु नास्ति.

कं हि—

‘संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।’

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥

सामर्थ्यमौचित्यं देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषसृष्टिहेत्वः ॥' इति ।

यत्कृत्वा च । विप्रयोगस्तथागः । साहचर्यं सहकारित्वेन कार्यकारित्वम् । विदो-
ता वैरम् । एतच्चतुष्टयं 'समभिध्यादृतपदार्थान्तरेण सहेति बोध्यम् । अर्थः प्रयो-
नम् । लिङ्गं चिह्नम् । संभवाद्दोषोपपत्तिरिति यावत् । अन्यस्य तुल्यविभक्तिकस्य
पामर्शं निर्दिष्टजननशक्तिः । औचित्यं प्रकृतोपयोगित्वम् । तच्च यदुपस्थितं
तुर्जिह्वासा निवर्तते परम् । केचित्तु—'अर्थद्वयेऽन्वयसंभवैऽन्येकार्थं एव तात्पर्यं
'चित्ती' इत्याहुः । तत्र । तात्पर्यविशेषस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पने सर्वत्रैव तत्संभवे
योगादेः प्रतिबन्धकत्वकल्पनानौचित्यात्, एतद्वाहकस्य प्रकृतोपयोगित्वस्य प्रथमो
स्थितायेन तस्यैव प्रतिबन्धकत्वकल्पनौचित्याच्च । ननु भवन्मतेऽपि औचित्या एव
वैत्र नियामकत्वमस्तु किमन्येषां तत्कल्पनेनेति चेत् । न । नियन्त्रकान्तरासंनिधान
व तस्या नियन्त्रकत्वकल्पनात् । देशः समभिध्यादृतप्रदेशः । कालः समभिध्या-
तदिनरात्र्यादिः । व्यक्तिः शब्दस्य पुंस्त्वादि लिङ्गम् । स्वर उदात्तादिः । अनपः
छेदे अनेकत्वेन प्रतिपर्यनियमे विशेषणैकतरस्य स्पष्टौ पदार्थोपस्थितिरुक्त्या
तत्र इत्यर्थः । एतच्च मीमांसकनये, नैयायिकनये तु—सर्वेषामेव पदार्थानामुपस्थि-

1. उक्तमिति । 'बाधवपदीये हरिणा' इति शेषः । संयोगो नाम नानार्थशब्दशब्दा-
परवृत्तितया अप्रसिद्धत्वे सति तत्पञ्चनववृत्तितया प्रसिद्धः संबन्धः । विमयोगो विरूपः ।
'कसिन्कार्ये परस्परपेक्षितं साहचर्यम् । विरोधिना प्रसिद्धे वेरम्, सहानवस्थानं च ।
अथैः मयोजनम्, चतुर्व्यापगिषेयम् । प्रकरणे वक्तृभोक्तृद्वितयः । निजं नानार्थशब्द-
वान्तरावृत्तिरेकधनयणः साद्याच्छब्दो 'धनैः' । शब्दस्यान्वयस्य संनिर्भाजनार्थवदेकार्थ-
त्वं संसर्गार्थान्तरबाधकपदसमन्विताः । सामर्थ्यं कारणजः । भौमिदी, योगदत्ता ।
नो जगदादिः । कालो दिवसादिः । व्यक्तिः पुनर्पुंसकलीलिङ्गानि । स्वरं ध्वजादिः ।
ते संयोगादयः शब्दार्थस्वानवच्छेदे तात्पर्यसंदेहे तदपाकरणकारणेन विशेषरूपसिद्धेयः ।
निर्णयेतव इत्यर्थः । उपनिषदानामनेकेषामेकतामात्रार्थात्तात्पर्यनिर्णयद्वारा तन्मात्रार्थविषय-
जन्यबोधजनका इति भावः । 'अत्र सामर्थ्यमेवैकं मुख्यं निर्णायकं संयोगादयस्तत्त्व-
प्रपञ्चः । ते सामर्थ्यस्तेषामिष्यते' इत्यत्रे । 'सगच्छ-' इत्यत्र सगच्छकयोः संयोगो भग-
वन्मात्रनिष्ठाया प्रसिद्धो भगवति हरिशब्दसामिधाया निधनेनावस्थापकः । 'अगच्छ-' इत्यत्र
शरीरे विरूपः । 'भीमाजुनी' इत्यत्राजुने भीमसाहचर्येभ्युन्नतशब्दस्य धातुनिधेयानिधा-
नम् । 'कर्त्ताजुनी' इत्यत्र वक्तृधातुकमावादेभ्युन्नतशब्दस्य धातुः । सहानवस्थानकथन-
सिद्धेः पु 'प्रायाजुनी' इत्यत्राहचर्यम् । अर्थादिबोधजननायुराहारमने निहती मन्म-

‘सशङ्खचक्रो हरिः’ इति शङ्खचक्रयोगेन हरिशब्दो विष्णुमेवाभिधत्ते । ‘अशङ्खचक्रो हरिः’ इति तद्वियोगेन तमेव । ‘मीमार्जुनौ’ इति अर्जुनः पार्थः । ‘कर्णार्जुनौ’ इति कर्णः सूतपुत्रः । ‘स्थाणु वन्दे’ इति स्थाणुः शिवः । ‘सर्वं जानाति देवः’ इति देवो भवान् । ‘कुपितो मकरध्वजः’ इति मकरध्वजः कामः । ‘देवः पुरारिः’ इति पुरारिः

तिनियन्त्रणवशादेकस्यैवार्थस्य शाब्दोऽनुभव इति । एकत्रैव संयोगादीनां द्वित्राणां संभवे यथास्फूर्तिं नियन्त्रकत्वं बोध्यम् । क्रमेण संयोगादीनां नियन्त्रणमुदाहरति—
‘सशङ्खेति । तद्वियोगेन शङ्खचक्रविरहेण तमेव विष्णुमेवाभिधत्त इति पूर्वोक्तान्वयः । शङ्खचक्रवति विष्णौ तद्विरहः कालविशेषे संभवति । पार्थो धनंजयः । स्थाणु-
मिति । अत्र ‘भवच्छिदे’ इति चरमांशो बोध्यः । अन्यथा भवच्छेदरूपस्य प्रयोजनस्यानुपस्थितौ तस्य नियामकत्वं न स्यात् । ‘भवान्’ इत्यनेन प्रकान्तराजरूपार्थ एव दर्शितः, न तु युष्मत्त्वेन । ‘तत्र शक्तिः’ इत्यपरे । कुपित इति । मकर-
ध्वजपदं कर्मधारयबहुव्रीहिभ्यामनेकार्थकम् । कोपस्य
मस्यैव बोधकम् । केचित्तु—‘मकरध्वजपदं कामसमुद्रानेकार्थकम् । कोपस्तु काम-
स्यैव चिह्नम् । समुद्राधिष्ठातुः कोपसंभवेऽपि विरहिविषयः कोपोऽत्र बोध्यः’
इत्याहुः । तत्र । ‘संप्राप्तं मकरध्वजेन मथनं—’ इत्यादिप्रयोगबलान्मकरध्वजपदस्य
समुद्रे शक्तिकल्पनेऽपि तदधिष्ठातृदेवताबोधस्तु लक्षणेवेति तत्र कोपसंभवस्याकि-
चित्करत्वात्कोपविशेषप्रतिसंधानस्य मकरध्वजपदार्थविशेषप्रतिसंधानाधीनतया त-
प्रथममनुपस्थितौ नियन्त्रकत्वायोगाच्च । देवः पुरारिरिति । “पुरं देहेऽपि दृश्यते”
इति हाराचलीदर्शनात्पुरशब्दस्य देहवाचकत्वम् ‘पुरारिः’ इति व्युत्पत्त्या पुरारि-
पदं योगादिवाचकमपीत्यनेकार्थकं नृत्त्यविभक्तिकस्य देवपदस्य सांनिध्याद्देवपदं
शिवमात्रबोधकम्” इत्याहुः । तत्र । ‘पुरारिः शिवः’ इति ग्रन्थविरोधाद् राजादेर्व्या-
वर्तकत्वेन सुरमात्रबोधकमित्यस्यैव शक्तं युक्तत्वाच्च देवपदस्य शिवत्वेन शक्त्यभा-

व्याख्यातानि । स्वरस्य निशामकत्वे तु ‘इन्द्रशत्रुर्वधेयः’ इत्युदाहरणम् । अत्र इन्द्रः शत्रुः
शातविता हिसको यस्येति बहुव्रीहौ ‘बहुव्रीहौ प्रकृशांश्वर्षपदम्’ इत्यनेन पूर्वपदमकृति-
स्थरे ‘अनुदात्तं पदमेकवर्जम्’ इत्यनेन शेषनिपाते भाववाच्यत्वम् । तेन चेन्द्रस्य
शातनकर्तृत्वं बोध्यते । इन्द्रस्य शत्रुरिति षष्ठीतत्पुरुषे ‘समाप्तस्य’ इति सूत्रेणान्तोदात्त-
त्वम् । तेन चेन्द्रस्य शातनकर्तृतायावगमः । इन्द्रशत्रुत्वस्य विधेयत्वाच्च संबोधनविभक्तिः ।
एवं ‘स्थूलपृथ्वीमाशिवारूपीमनुदाहीमालमेत’ इत्यत्रापि तत्पुरुषबहुव्रीह्यर्थनिर्णय इति
महाभाष्यपरस्पृशादौ स्पष्टम् । आदिना सत्त्वपलनत्वणत्वादिग्रहः । ‘सुप्तिकम्’ इत्यादौ
पूजार्थः सुः कर्मप्रवचनीयः । ‘सुप्तिकम्’ इत्यत्रोपसर्गोऽन्यार्थः । ‘प्रनायके’ प्रगतनाय-
कदेशबोधः । ‘प्रनायके’ प्रणयनक्रियाकर्ता । गत्वाद् । इति मञ्जूपादौ स्पष्टम् ॥

शिवः । 'मधुना मत्तः पिकः' इति मधुर्वसन्तः । 'पातु वो' दयितामु-
खम्' इति मुखं सामुख्यम् । 'विभाति गगने चन्द्रः' इति चन्द्रः
शी । 'निशि चित्रभानुः' इति चित्रभानुर्वह्निः । 'भाति रथाङ्गम्'
ति नपुंसकव्यक्त्या रथाङ्गं चक्रम् । खरस्तु वेद एव विशेषप्रतीति-
जन काव्य इति तस्य विषयो नोदाहृतः ।

इदं च केऽप्यसहमाना आहुः—'खरोऽपि काकादिरूपः काव्ये
विशेषप्रतीतिक्रमेण । उदाचादिरूपोऽपि मुनेः पाठोक्तदिशा शृङ्गारादि-
सविशेषप्रतीतिक्रमेण' इति । एतद्विषये उदाहरणमुचितमेव इति ।
तथाहि—खराः काकादयः उदाचादयो वा व्यङ्ग्यरूपमेव
विशेषं प्रत्याययन्ति, न खलु प्रकृतोक्तमनेकार्थशब्दस्यैकार्थनियम-
रूपं विशेषम् । किंच । यदि यत्र कचिदनेकार्थशब्दानां प्रकरणादि-
नियमाभावादनियन्त्रितयोरप्यर्थयोरनुरूपस्वरवशेनैकत्र नियमनं वाच्यं,
तदा तथाविधस्थले श्लेषानङ्गीकारप्रसङ्गः । न च तथा । अत एवाहुः
उपनिरूपणप्रस्तावे—'काव्यमार्गे खरो न गण्यते' इति च नयः ।

सामान्यशब्दविशेषपरत्वाङ्गीकारेऽपि पौनरुक्त्यापातात् । मधुपदं दैत्यविशेषा-
न्नेकार्थकम् । कौकिलम्नादने पसन्तस्यैव रागध्वम् । पातु च इति । मुरपदमा-
प्यनेकार्थकम् । प्रापणे सामुख्यस्यैवोचिती । 'पातु च' इति कचित्पाठः । प्रिया-
रतप्रातिकूल्यजनितखेदं नैयकं प्रति सख्या उक्तिरियम् । प्रियाया मुखं सामुख्यं
रतानुकूलत्वं वो युष्मान्पातु । प्रातिकूल्यजनितखेदाद्रक्षत्वित्यर्थः । अत्र सामुख्य-
स्यैव प्रकृतोपयोगित्वम्, नत्वाननादेः । चन्द्रपदं वर्षराघनेकार्थकम् । चित्रभानुपदं
विश्वरूपानेकार्थकम् । रथाङ्गमिति । चक्रवाकपरत्वे पुंस्त्वं स्यात् । वेद इति ।
चन्द्रशत्रुरित्यादी बहुमीहितत्पुरुषयोः खरमेदो वेद एव विशेषप्रतीतिक्रमेण । न
आख्यादावित्यर्थः । मुनेः पाठोक्तदिशेति । अस्तेन मुनिना शृङ्गारादौ खरविशेष
उक्तस्त्वदनुसारेणैव । यथा—'हास्यशृङ्गारयोः खरितोदात्तम्', वीरशृङ्गारोत्पदा-
त्खरितम्, करुणभीमस्तम्भयानवेष्यनुदात्तस्वरितमुत्पादयेत्' इति । उच्य उदात्तः ।
'नीचोऽनुदात्तः । समादृत खरितः । स च मध्यम एव । आदौ खरितः पश्चादुदात्तः
खरितोदात्तः । एवमन्यत्रापि । न च तथेति । खरमेदसत्त्वेऽपि महाकविभि-

१. काव्यप्रकाशकाराः ।

१. 'खर' क. २. 'भाति' क. ३. 'निशि भाति' पूर्वः ग. ४. 'रथ' क. ५. 'इति-
उदाहरणम्' ग. पुस्तके नास्ति. ६. विषये मोदकम् क. ७. 'इह' क. ८. 'पातुप्रातिकूल्य-
रत' क. ९. 'प्रापणे' क. १०. 'सामुख्यमेव' पाठः सर्वत्रोपलब्धः. ११. 'प्रियाया' इति
उदाहरणे १२. 'नायक' इति नास्ति पुनरुक्तिः,
आदि ६

इत्यलमुपजीव्यानां भान्यानां व्याख्यानेषु कटाक्षनिरूपेण । आदिशब्दात्
'पृतावन्मात्रस्तनी' इत्यादौ हस्तादिचेष्टादिभिः स्तनादीनां कमलको-
रकाद्याकारत्वम् ।

एवमेकस्मिन्नर्थेऽभिधया नियन्त्रिते या शब्दार्थस्यान्यार्थबुद्धिहेतुः
शक्तिः सामिधामूला व्यञ्जना ।

यथा 'मम' तातपादानां महापात्रचतुर्दशभाषाविलासिनीभुजंगमहा-
'कवीश्वरश्रीचन्द्रशेखरसांघिविग्रहिकाणाम्—

'दुर्गोलङ्घितविग्रहो मनसिजं संमीलयस्तेजसा

प्रोद्यद्वाजकलो गृहीतगरिमा विष्वम्भृतो भोगिभिः ।

श्लेशाङ्गीकारात् । श्लेषानङ्गीकारो न कर्तव्य इत्यर्थः ॥ दुर्गेति । दुर्गः परिखादिभिरल-

१. पृतावदिति । एषा प्राकृतगाथा, अत्र तु तच्छायांश्च यवोपन्यस्तः ।
तथादि—'एदमेसत्थणिभा एदमेसेहि' अच्छिवसेहि । एदमेसान्नायां एदमे-
सेहि' दिन्नएहि ॥' 'पृतावन्मात्रस्तनिका पृतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम् । पृतावन्मा-
त्रावसा पृतावन्मात्रेदिवसैः ॥' इति संस्कृतम् । सौन्दर्यातिशयशालिन्या नयनगोच-
रमगताया गुणश्रवणमात्रजनितानुरागेण वायकेनावसायां पृथावा दूसा इयमुक्तिः ।
'चिरमवातिनि नायके नायिकावसां योषयन्ताः कस्याभिरुक्तिरियम्' इत्यन्ये । 'पृताव-
त्परिमाणं ययोस्तौ पृतावन्मानौ आमलकादिपरिमाणौ स्तनौ यस्याः सा । पृतावत्परिमाणं
ययोस्ते पृतावन्मात्रे विवक्षितकमलदलादिपरिमाणे, ताभ्याम् अक्षिपत्राभ्यां लोचनदला-
भ्याम्, उपलक्षितैस्त्वयैः । उपलक्षणे तृतीया । पृतावद् विवक्षितं परिमाणं उच्चावादि
यस्याः सा, तथाभूतावसा स्वरूपं यस्याः सा । पृतावद् बुद्धिस्त परिमाणं संख्या येषां
तथाविधैर्दिवसैर्लक्षणा सनत्संरक्षपक्षिता । परिच्छिद्येति यावत् । सर्वकथनस्यैव प्रापशो
लोकन्यवहारसिद्धत्वात् । अत्र मुकुलकारहस्ताभिनयेन स्तनपरिमाणविशेषे, पद्मदलाकृ-
तिना तेन नेत्रपरिमाणविशेषे, उच्चतापुष्टिप्रदर्शकेन तद्विशेषे, अमृतवहुभारणारिरूपेण च
दिवससंख्याविशेषे बुद्धिस्तमात्रपदसंख्या पृतावच्छब्दा नियमितशक्य इति ॥

२. एवमित्यादि । अत्रेदमववेयम्—यत्रोभयोरर्थयोस्तात्पर्यं स श्लेषः, यत्र त्वेकस्मि-
न्नर्थे वाच्यत्वं, सामग्रीयदिष्टा तु द्वितीयार्थप्रतीतिः सा च्वनेति । अत एव रत्नगङ्गा-
धरेऽप्युक्तम्—'छेवे द्वयोरर्थयोवाञ्चत्वम्, एककालत्वं च । इह त्वेकस्य धान्यप्रत्ययम्, अप-
रस व्यञ्जनात्, भिन्नकालत्वं च' इति । अत्रचन्द्रवर्धनाचार्येण—'यत्र चन्द्रश्चक्षुषा साम-
न्यादिना वाच्यमतिरिक्त व्यञ्जनेवाञ्चकारान्तरं प्रकाशते स च्वनेर्वैचयः' इति ॥

१. 'मायानां' इति म-पुलके नास्ति. २. 'मम' इत्यादि नास्ति. क स पुलकयोस्तु
'विराडिनीभुजंग' इति नास्ति.

नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारय-

ग्गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावलम्बः ॥'

अत्र प्रकरणेनाभिधेये उमावलम्बशब्दस्योमानाममहादेवीवलम्बमा-
नुदेवतृपतिरूपेऽर्थे नियन्त्रिते व्यञ्जनयैव गौरीवलम्बरूपोऽर्थो बोध्यते ।
'एवमन्यत् ।

लक्षणामूलमाह—

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम् ।

यया प्रत्याप्यते सा साध्यञ्जना लक्षणाश्रया ॥ १५ ॥

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ जलमयाद्यर्थबोधनादर्भिधायी तदाद्यर्थ-

द्वितः प्रतिरोद्धुमपारितो विग्रहः संप्रामो यस्य सः । दुर्गं भित्वापि रिपुभिः सह
विग्रहः क्रियत इति भावः । यद्वा दुर्गेरलङ्घितोऽप्यलङ्घितो विग्रहो यस्य । दुर्गव्यवधानं
विनैव शुद्ध्यत इत्यर्थः । मनसिजं कामं तेजसा बान्ध्या समीलयन् पराभवन् ।
प्रोद्यत् प्रकृष्टाभ्युदययुक्तं राजकं राजसमूहं सति वश्यतया गृह्णाति स तथा । गृहीत-
गरिमा प्राप्तगौरवः । भोगिभिरुपभोगयुक्तं पुरुषैर्विष्वक् सर्वतो वृत्तो व्याप्तः । क्षत्रे-
क्षत्रियश्रेष्ठे कृतेक्षणो दत्तदृष्टिर्न भवतीति । तनापि तुच्छबुद्धिरिति भावः । गिरि-
हिमालयो गुरुः श्वशुरो यस्य स शिवः, तत्र रुचिमल्लपं धारयन् । यद्वा गुरौ
गमीराशया गिरि वापि गाढामुकुष्टां रुचिं प्रकाशं धारयन् कुर्वन् । गां पृथ्वीमा-
क्रम्य पराक्रमेण स्त्रीकृत्य, विभूत्या धनसंपदा भूषिता तनुर्यस्य स उमावलम्बो राज-
विशेषो राजति । अयमर्थं प्रथममभिधेयैव प्रतिपाद्यते । पश्चादस्य बान्धवस्थानेकार्थ-
पदपठितत्वज्ञानाज्जायमानं वक्तृतात्पर्यज्ञानमभिधान्तरमद्वयकृतमेवमर्थं बोधयति ।
दुर्गया पार्वत्या लङ्घितोऽर्थत्वेनाश्रान्तो विग्रहः शरीर यस्य सः । मनसिजं कामं तेजसा
तृतीयनयनोत्थज्योतिषा समीलयन्नाशयन् । प्रोद्यन्ती राजकृत्य चन्द्रारण्यं यस्य
सः । गृहीतगरिमा प्राप्तशरीरगौरवः । भोगिभिः सर्वं । नक्षत्रेशेन चन्द्रेण कृतमी-
क्षणं येन स । गिरिगुरौ हिमालये वा वृषभमाक्रम्य आरुह्य विभूत्या भस्मना भूषित-
देहः । उमावलम्बः शिवः । प्रकरणेनेति । 'नियन्त्रिते' इत्यग्रेणान्वेति । अभिधेये-
'अभिधेया' प्रतिपाद्ये । 'अभिधेया' इति पाठे प्रकरणेन राहाभिधेया नियन्त्रिते
इत्यर्थः ॥ लक्षणामूलमिति । 'व्यञ्जनाम्' इत्यनेन प्रकरणलभ्येनान्वेति । लक्षणा
प्रयोजनवती, उपास्यते शब्दस्य कृतेनाप्रीक्रियते, यस्य कृते यस्य बोधनिमित्तम् ॥
अभिधायामिति । गिरितायामित्येनान्वयः । चरासत्तात्पर्यार्थबोधनात् । तात्पर्या-

१. अत्र शिवपते उमावलम्ब इत्यनेन लभ्योऽर्थो दुर्गां लङ्घितमिह इत्यनेन पुनरुक्त-
भूतः ॥

१. 'लक्षणा' क. २. '—'गाढो महादेवी तद्वत्ता' य. ३. 'प्रकृष्टा' य. ४. 'गिरिगुरौ'
इत्यर्थः ॥ ५. 'गुप्तयो'.

बोधनाच्च लक्षणायां विस्तृतायां यथा शीतत्वपावनत्वाद्यतिशयादिवोध्यते
सा लक्षणामूला व्यञ्जना ।

एवं शार्दूलं व्यञ्जनामुक्तवार्थमाह—

वक्तृयोद्धव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः । ५

प्रस्तावदेशकालानां काकोशेष्टादिकस्य च ॥ १६ ॥

वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत्सार्थसंभवा ।

व्यञ्जनेति संबध्यते ।

तत्र वक्तृवाक्यप्रस्तावदेशकालवैशिष्ट्ये यथा मम—

‘कालो मधुः कुपित एष च पुष्पघन्या

धीरा वहन्ति रतिरेवहराः समीराः ।

केलीयनीयमपि बहुलकुञ्जमञ्जु-

दूरे पतिः कथय किं करणीयमैव ॥’

अत्रैतं देशं प्रति शीघ्रं प्रच्छन्नकामुकस्त्वया प्रेष्यतामिति सखी

‘प्रति कयौचिद्यज्यते ॥’

बोद्धव्यवैशिष्ट्ये यथा—

‘निःशेष्युतचन्दनं स्तनंतटं निर्मृष्टरागोऽपरो

नेत्रे दूरमनजने पुलकिता तन्वी सैवेयं तनुः ।

रूपायां वृत्तौ चेति लभ्यते ॥ यक्रिति । वक्तादिचेष्टापर्यन्तानां वैशिष्ट्याद्वैलक्ष-
ण्यज्ञानाज्जायमाना या शक्तिरन्यमर्थं बोधयति सा अर्थसंबन्धा व्यञ्जनेत्यर्थः । विद-
क्षितार्थं यः प्रतिपद्यते स बोद्धव्यः । प्रस्तावः प्रकरणम् । काकुः स्वरविकारा, तस्या
वैलक्षण्यं वक्तृशिरधालनम् । वाच्येति । लक्ष्यव्याप्त्यभोपलक्षणम् ॥ बहुलोऽशोक-
स्तस्य कुजेन तन्मूलस्थलतादिगृहेण मञ्जुर्मनोज्ञः । व्यक्त्यार्थमाह—अत्रेति । वक्तव्याः
कामुकत्वम्, वाक्यस्योद्दीपनविभावसमूहकामोदेकजनकत्वरालपत्यलाभकर्तव्यानि-
श्चयविषयत्वम्, प्रस्तावस्य सुरतविषयत्वम्, कालदेशयोः कामोदेकजनकत्वम् ।
वैशिष्ट्येऽप्येतदेवोदाहरणम् । वाच्यस्य पत्यसंनिधिकामोदेककालीनवर्तव्यप्रशस्त्य
स्वरहस्यवेदिवयसासमाधानीयत्वं वैशिष्ट्यम् ॥ निःशेषेति । नायकमानेतुं प्रेषितां

१. निःशेषेति । एतव्याख्या नातिरुचिरेति पुनर्व्याख्यायते—नायकानयनाय प्रेषितां

-१. ‘सार्धं व्यञ्जना’ घ. २. ‘या वैशिष्ट्यादन्यमर्थ’ ख. ३. ‘अव’ घ. ४. ‘एत’ क-मुल्ले-
नाधि. ५. ‘बोधये’ क-ख-घ. ६. ग-मुल्ले ‘निष्कण्ठध्वनि-’ इत्यारम्भ ‘-पद्मनिमीलना-
दिबेदाया कथा-विशेषे-’ इत्यन्तोऽपि नान्य इहेव सत्ये । तस्य ‘वैशिष्ट्यप्रतिपत्तिर्वा-’ इत्यादि-
‘उभ निष्पत्त्यदि’ इत्यन्तोऽपि नान्य इत्यादि वादो न दृश्यते. ७. ‘तथा’ ख.

तदुपभोगेन ह्युत्तचन्दनादीन्स्नानेभ्याजेन गोपयन्तीं सखीं, प्रति नायिकायाः सोऽष्टु-
नोक्तिरियम् । मन्वेष्टया नायात इति मिथ्यावादिनि, हे दूति, बान्धवजनस्य मम

तं समुज्यागतां दूतीं प्रति स्नानकार्यप्रकाशनमुखेन संभोगं प्रकाशयन्त्या, विदम्बोत्तमना-
यिकाया उक्तिरियम् । अयि मिथ्यावादिनि, मया गत्वा बहुधा प्रसादितोऽपि नायात इति
मिथ्याभाषणशीले, बान्धवजनस्य मद्रूपस्य अज्ञातः स्वार्थसाधनतत्परतया अनाकलितोऽग-
णितः पीडाया वियोगानलसंभूताया आगम भागमनं यया तथाभूते । हे दूति, न तु
सखि । प्रतारणकरत्वादूतीपदेन मिथ्याभाषणशीलत्वव्योम्यता व्यज्यते । त्वम् इतो मत्स-
काशात् वापीं ज्ञातुं स्नानार्थं गतासि तस्य बहुधा वृत्तापराधस्य अतः पथाधमस्य परवेद-
नानभिज्ञतया दुःखप्रयोजककर्मशीलस्य अन्तिकं समीपं न पुनरिति 'गतासि' इत्यनुप-
ज्यते । पुनरेवार्थः । नैव गतातीत्यर्थः । उक्तार्थे साधकमाह—निःशेषत्वादि । तथैत्यस्य
स्तनतदादिभिः सर्वैरन्वयः । यतस्तत्र स्नानयोजनं प्रान्तसमदेशे निःशेषं यथा स्वात्तया
च्युतं रत्नलितं चन्दनं यस्यात्तथाभूतम् । न तूःखलम्, नापि संध्यादिरूपनिशोन्नतभा-
गोऽपि । वापीगतबहलयुवजनप्रपापारवश्यादंसद्वयं लग्नामस्तिकीकृतमुज्ज्वलायुगलेन
तदस्वीकृततया मुहुर्मुहुः परामर्शात् । अत एव च्युतमित्युक्तम्, न तु व्याधितं
स्नातितं वेति । युवजनसमर्पेण तन्नाम्ननबकाशात् । व्यङ्ग्यपक्षे तु—तद एव मर्दनाधिक्या-
त्संध्यादौ नायककरपरामर्शयोगाच्च तदमेव तथाभूतमिति व्यक्तमेव । पदमभरोऽभरोऽभो
निःशेषं यथा स्वात्तया कृष्टो न स्वीकृतमृष्टः राजः साम्बूलरक्तिमा यस्य तथाभूतः । उक्ता-
मत्वेन बहलजलसंवन्धात् । न तूत्तरोष्ठः । न्युम्नतया तत्संवन्धमाग्यात् । व्यङ्ग्यपक्षे तु—
अभरोष्ठे एव कामशास्त्रे जुम्बनविधेः उत्तरोष्ठे जुम्बननिषेधाच्च तत्रैव तदुक्तं तथात्वम् ।
किञ्च, नेत्रे लोचने दूरं प्रान्तभागे एव अन्तर्जने अन्नरक्षिते । खानकाले नयनवोर्मुद्र-
णान्तमध्ये जलसंवन्धाभावात् । व्यङ्ग्यपक्षे तु—प्रान्त एव जुम्बननिषेधेमध्ये तन्निषेधाच्च
तत्रैवाजनत्वम् । तथा इयं इदममाना तव तनुः स्त्रीरं तन्वी कृष्टा । स्नानजन्यशीठ-
वशात् । अत एव पुलकिता पुलका रोमोद्भवाः संजाता यस्यास्तथाभूता । व्यङ्ग्यपक्षे
तु—कादर्वं दुरतदमात्, पुलकश्च तत्रानुभूतादुत्तरसंस्तरणात्, । एवं निरम्बाया गूढ-
तारपर्यवाचोयुक्तया साधारणेभ्येतेषु बाधयार्थेभ्यःपक्षे विदम्बोत्तमनायिकात्पदु-रील्लशादि-
रूपवत्तुषोद्गम्यवैशिष्ट्यवलादधमपदार्थो दुःखप्रयोजककर्मशीलत्वरूपः साधारणो बाध-
त्वादद्याया तादृशकर्मोन्तरशीलत्वरूपेणावस्थितो व्यजनया दूतीसंभोगरूपतादृशकर्मशी-
लत्वाकारेण पर्यवस्यति । अत एव स्मृतिरिति व्यङ्ग्यपक्षेकत्वादधमपदस्य प्राधान्यम् । वक्तु-
षोद्गम्यवैशिष्ट्यवलेन विशेषाकारेण पर्यवसाने विलम्बाभावात् । चन्दनच्यवनदीनां तु
स्नानकार्यतया निवृद्धानां योग्यतया संभोगाद्भूतात्पक्षेच्युम्बनादिकार्यतावतिसंभवे तसि
तदजनदारा संभोगगमकत्वमिति विशेषः । अत्र च तद्व्यवहृतायां यद्वाच्यबहुधा
विश्रुतिमि यथा तद्वैविधेये दृढमनुरक्तानि तदुक्तमेव ममेवैविधिविनिषवद्भनाननितपरि-
तापप्राप्त्यतितीर्थाहेतुकविमलममसंचारिनिर्वेदध्वनिः । तदनुगुण्य दूतीसंभोगः । चन्द-
नच्यवनदीनां च वाच्यानां व्यङ्ग्यानां च परिरम्भजुम्बनाद्यनुमानानां संभोगोत्कर्षा-
रेभ्योऽप्येकानां निर्वेदोत्कर्षत्वमिति संक्षेपः ।

मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे

वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥

अज्ञातपीडागमे, त्वमितो मत्सकाशात्स्नातुं वापीं गता, न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकं गता । यतस्ते स्तनतटं निःशेषच्युतचन्दनम्, अधरथ निर्मृष्टरामः, नेत्रे दूरमल-
न्तमनजने, तन्वी कृशा तनुः पुलकिता । स्नानकार्यमिदं सर्वमिति बोधयन्त्या भाषा-
ततो दुर्विदग्धानभिधया बोधयितुं विदग्धनायिकया तथा प्रयुक्तं पश्चादतुरणनरीत्या
'मम धम्मिअ-' इत्यादाविवात्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति व्यञ्जनया प्रतीयते ।
एतदर्थस्याभिधया बोधने ग्राम्यत्वदोषः स्यादिति केचिदाहुः । एतद्वाङ्मनं प्राचां
वाचरूपतिमिश्रप्रभृतीनामसंमतम् । तेषामयमभिप्रायः—'मम धम्मिअ-'
इत्यादौ भ्रमणविघ्नकारिणः क्षुनो विनाशाद्धमणं युज्यमिति प्रथममभिधान्वयबोधो
जायते । तदनन्तरमेव सिद्धान्तिके भ्रमणमल्यन्तमयुज्यमिति भ्रमणमापावतारो
भवति । प्रकृते तु पदार्थविशेषानुसंधानचतुरणां श्रुतिरिति तत्तत्पदार्थविशेषप्रति-
संधानात्प्रथममेव पापावतारः । तथाहि—तटदेशमेकदेशपरं समपरतो सम्यक्
पीडनाभावेन स्तनैकदेशस्यैव चन्दनच्यवनम्, ज्ञाने तु सर्वस्यैव स्तनस्य चन्दन-
च्यवनं स्यात् । तटपदस्य स्वरूपार्थकत्वे स्तन एव लक्षचन्दनः, न त्वज्ञानतरम् ।
मुखमुत्तानीकृत्य चुम्बनेनाधरस्यैव रागभ्रंशः, न तूत्तरोष्ठस्य । मुखं न्युज्जीकृत्य ज्ञाने-
नोभयोरेव रागभ्रंशः स्यात् । इयमिदानींतनी । तदानीमपि तत्प्रसङ्गेन पुनश्चो भवति ।
ज्ञानीयपुलकस्य पथि धमादिना नाशसंभवात् । अधमस्य प्रागपि ज्ञातनिष्ठपतिप्र-
हस्य । एवं च निरुक्तमुरतनिर्णयचिह्नत्रयस्य तत्सङ्गीपगमनमन्तरेणासंभवाद विना
लक्षणाभ्यवयवबोधो न भवतीति नमृपदस्य एवकारार्थे लक्षणा । अयोगव्ययच्छेद-
रूप एवकारार्थे नमर्षस्याभावस्य प्रतियोगित्वं संयन्धः । एवं वापीं स्नातुमित्यत्रापि
विपरीतलक्षणाया गमनाभाव एव प्रतीयते । तथा च त्वमितो वापीं स्नातुं न
गता, तस्याधमस्यान्तिकमेव गतेत्यन्वयबोधः । रन्तुमिति प्रयोजनं व्यञ्जनया
प्रतीयते । यत्रान्वययोधात्प्राग्भावावतारस्तत्र लक्षणा, यत्र तु पश्चात्तत्र व्यञ्जना ।
अन्यथा 'उपहृतं-' इत्यादावपि लक्षणा न स्यात् । तदुक्तम्—'कचिद्वाप्यतया
रुचातिः कचित्स्वापातस्य भाषनम् । पूर्वत्र लक्षणेन स्यादन्यत्र व्यञ्जनेन तु ॥'
इति । कचित् 'उत्तराश्रमिषैव तु' इति चतुर्थचरणे पाठः । अत्र यत्ता-
द्विशेषाद् व्यञ्जयान्तरमपि—इत्यधर्मणाल्यन्तहीनायामपि त्वयि शापरापायां
तन्निप्रप्यधमे गम नाश्या किं त्वेवमकृतहायां त्वयि यद्वाङ्मन्यदुम्या विश्वसिमि,
या च तन्निभेर्बन्धिभे देष्टारगिनि दुर्विदग्धे मन्दभागिनी हृदमगुरक्षासि, तदेवं-
मिपाधनाय हसन्ननितप्रौढरितापुष्टपाकपात्रत्वं मम युक्तमेवेति रिप्रलम्भप्रभेदे-
र्षांमानमभिप्रायिर्वेदध्वनिरिति । अत्र फलस्य स्वयतस्त्वर्मान्यतरवृत्तिवर्णनमेव

१. इतिप्रति । इतिप्रमाणधिरं नावतिष्ठते ॥

१. उपहृतं 'विन' इति वदते.

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति विपरीतलक्षणाया लक्ष्यम् । तस्य च रन्तुमिति व्यङ्ग्यं प्रतिपाद्यं द्वितीयैश्लिष्टाद्भोध्यते ।

अन्यसंनिधिवैशिष्ट्ये यथा—

‘उभ निश्चल निष्पन्दा, मिसिणीपत्तम्नि रेहद् बलाया

निष्मलमरगअभाअणपरिद्धिआ (दा)सद्धसुत्ति न्व ॥’

अत्र बलाकाया निःस्पन्दत्वेन विश्वस्तत्वम्, तेनास्य देशस्य

रमणस्य तदन्यतरदृष्टित्वाद्भक्षणामूलव्यञ्जनाया - असंभवारप्रतिपाद्यवैशिष्ट्येनैव रमणस्य प्रतीतिरित्यभिप्रायेण ग्रन्थकृदाह—तदन्तिकमेवेति । विपरीतेति । तत्समीपगमनाभावाभावबोधनादिति भावः । निरुक्तपुरतच्चिद्वयमेव द्वितीयैशिष्ट्यम् । केचित्तु—‘तदन्तिकं न गतासीत्यस्य वाक्यत्वाद्भक्षणयाश्च शब्दमात्रदृष्टित्वाद्भक्षणं न संभवति’ इत्याहुः । तत्र । उक्तकमेण नमपद एव लक्षणास्वीकारात् । ‘वापीं स्नातुं गतासि तदन्तिकमेव गतासीति योजनाया तदन्तिकगमनं वाच्यमेव । तस्यैव रन्तुमिति व्यङ्ग्यम्’ इत्यपरे । तदपि न सम्यक् । त्वर्यपुनःशब्देन नमपस्य पूर्वान्वयस्य व्यवच्छेदात् । केचित्तु—‘ज्ञानेन चन्दनाधररागयोः शालनमेव, न द्युतिनिर्माणने तयोः संभोगपर्यणदेरसंभवात्, अतश्च्युतनिर्मुक्तपदे अपि तैष्यज्ञके’ इत्याहुः । तत्र । तयोः ज्ञानकार्यत्वानुपकारे स्वमतसिद्धप्राथमिक्योद्धानुदयप्रसङ्गात् ॥ अन्यसंनिधिवैशिष्ट्ये व्यङ्ग्यार्थव्यञ्जनामाह—उभ निश्चलेति । ‘प्रदम् निश्चल निःस्पन्दा मिसिनीपत्रे शुजते बलका । निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥’ इति संस्कृतम् । उभ पदम् । निश्चलेति संबोधनम् । ‘संकेतस्थानं चेष्टाशून्यं’ इति तदर्थः । ‘निश्चला पृथिवी सेव निःस्पन्दा’ इति केचित् । ‘अतिनिश्चला’ इत्यपरे । शङ्खशुक्तिः शङ्खकपालम् ॥ अन्यस्य यस्य

१. उभ इति । ‘उभ इति पदयत्नार्थे देसीति नरसिंहकुराः, अभ्यवमिति नागोजिमहाः । मिसिनी कमलिनी तस्याः पत्रे बलाका सितपक्षिविशेषो वक्रपक्षिर्वा रान्ते । त्वं पश्येति वाक्यार्थः कर्म । किभूता । निश्चलनिःस्पन्दा । निश्चला चासी निःस्पन्दा चेति विशेषणोभयपदः कर्मधारयः । ‘पुंवत्कर्तृधारयः’ इति पुंवत्तत्राणः । ‘चलनं देशान्तरप्राप्तिका शरीरक्रिया, स्पन्दनं त्ववयवमात्रक्रिया । ‘रपदि किञ्चिच्चलने’ इति भातनुसारात् । तेन न पीनरक्तम् । केव राजत इत्याह—निर्मलेत्यादि । निर्मलं स्वच्छं यन्मरकतस्य नीलमणैर्भाजनं पात्रं तत्र परिस्थिता विद्यमाना शङ्खशुक्तिरिव । शङ्खशुक्तिश्च शङ्खवदितं शुभलाकारं पात्रम् । अत्राचेतनोपमया लेखतोऽपि शोभामावस्तेन निर्जनत्वं गम्यते ॥

२. निःस्पन्देति । निःस्पन्दत्वेन वाच्येन विश्वस्तत्वं व्यङ्ग्यमिति शेषः । तेन व्यङ्ग्येन विजनत्वं व्यङ्ग्यमिति शेषः ॥

१. ‘व्यङ्ग्यं प्रतिपाद्य’ य. २. ‘विमलवत्’ ख. ३. ‘अत आह—पुनर्निर्मुक्तपदे अपि इति पुलकान्तरे. ४. ‘व्यञ्जने’ इति पुलकान्तरे.

विजनत्वम्, अतः संकेतस्थानमेतदिति कयापि संनिहितं प्रच्छन्नका-
मुकं प्रत्युच्यते । अत्रैव स्थाननिर्जनत्वरूपं व्यङ्ग्यार्थवैशिष्ट्यं प्रयोजनम् ।

‘मित्रकण्ठध्वनिर्धारैः कांकुरित्यभिधीयते’ इत्युक्तप्रकारायाः काको-
भेदा आकरेभ्यो ज्ञातव्याः । एतद्वैशिष्ट्ये यथा—

‘गुरुपरतन्त्रतया बत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।

अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि सुरभिसमयेऽसौ ॥’

अत्र नैष्यति, अपि तर्हि एष्यत्येवेति काका व्यज्यते—

चेष्टावैशिष्ट्ये यथा—

‘संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।

हंसनेत्रार्पिताकृतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥’

अत्र संध्या संकेतकाल इति पद्मनिमीलनादिचेष्टया कयाचिद्ध्यो-
त्यते ।

संनिधिः सामानाधिकरण्यम्, तस्य प्रच्छन्नकामुरुनिरूपितत्वं वैशिष्ट्यम्, उच्यते
व्यज्यते । अत्रैव अस्मिन्नुदाहरण एव निर्जनत्वातिशयो वैशिष्ट्यं प्रयोजनं तृतीयव्य-
ञ्जनायाः कारणम् ॥ भिन्नेति । शोकहर्षभयादिकृतेत्यर्थः । आकरेभ्य उपजीव्यभर-
तादिप्रत्येभ्यः ॥ सुरभिसमये वसन्तकाले । अपि तर्हीति । अपि त्वित्यर्थः ॥
संकेतेति । विटमुपपत्तिम् । हसत्प्रफुल्लम् । नेत्राभ्यामर्पितमाकृतमात्रमाभिप्रायो यत्र
तद्यथा स्यात्तथा निमीलितमित्यर्थः । यद्वा, हंसदिति नेत्रविशेषणम् । एतदेव पद्म-
निमीलनस्य नेत्रार्पिताकृतत्वं वैशिष्ट्यम् । चेष्टादिकस्येत्यादिपदाचेष्टाभिरंहादिप्रहः ।

१. उच्यते इति । व्यञ्जनया प्रतिपाद्यते इत्यर्थः ॥

२. कांकुरिति । कायत्यर्थान्तरमिति काकुः । यद्वा कांकुजिहेति पस्पशायां भाष्य-
कारः । उद्भाषारविशेषसंवाधत्वाच्छोकहर्षभयादिभिर्ध्वनेर्विकारः काकुः । तथा चोक्तम्—
‘वानयामिधीयमानेऽर्थे येनान्यः प्रतिपद्यते । मित्रकण्ठध्वनिर्धारैः स कांकुरिति
कथ्यते ॥’ इति ॥

३. संकेतेति । संकेतकाले मनो यस्य । तं जिज्ञास्यमित्यर्थः । अत एव हसद्गया
नेत्राभ्यामर्पितं सूचितमाकृतं रहस्यं येन । हसदिति शिष्टं प्रफुल्लमित्यर्थः पद्मविशेषण-
म् । येष व्यक्तम् । इह नेत्रेक्षितेन लक्षितो गूढाभिप्रायः कामिन्या निराश्रुतेन पद्मनि-
मीलनेन प्रकाशितः ॥

एवं वक्रादीनां व्यस्तसमस्तानां वैशिष्ट्ये बोद्धव्यम् ।

त्रैविध्यादियमर्थानां प्रत्येकं त्रिविधा भेदा ॥ १७ ॥

अर्थानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यत्वेन त्रिरूपतया सर्वा अप्यनन्तरोक्ता व्यञ्जनास्त्रिविधाः । तत्र वाच्यार्थस्य व्यञ्जना यथा—‘कालो मधुः—’ इत्यादि । लक्ष्यार्थस्य यथा—‘निःशेषच्युतचन्दनं—’ इत्यादि । व्यङ्ग्यार्थस्य यथा—‘उञ्ज णिचल—’ इत्यादि । प्रकृतिप्रत्ययादिव्यञ्जकत्वं तु प्रपञ्चयिष्यते ।

शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः ।

एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ॥ १८ ॥

यतः शब्दो व्यञ्जकत्वेऽप्यर्थान्तरमपेक्षते, अर्थोऽपि शब्दम्, तदेकस्य व्यञ्जकत्वेऽन्यस्य सहकारितावश्यमङ्गीकर्तव्या ।

‘अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्ट्यान्निविधो मतः ।

शब्दोऽपि वाचकस्तद्वच्छक्षको व्यञ्जकस्तथा ॥ १९ ॥

तद्वैशिष्ट्ये यथा—‘नादत्ते भूयणं दत्तं नाहूता चिरमुच्छति । मृगांशी न शिपस्यक्षि सादरं मयि पश्यति ॥’ अत्र चेष्टाविरहेण कोपो व्यज्यते । तस्य च फान्तापराधकालीनत्वं वैशिष्ट्यम् । व्यस्तानां प्रत्येकं समस्तानां द्विष्ट्यादिसंज्ञानाम् ॥ त्रैविध्यादिति । इयं व्यञ्जना ॥ प्रपञ्चयिष्यते । ‘असलक्ष्यकमप्यङ्ग्यध्वन्युदाहरणे’ इति शेषः ॥ ननु शाब्द्या व्यञ्जनायामर्थस्यार्थमपि शब्दस्योपयोगित्वमस्त्येव तत्कीदृशमनयोर्भेदकारणमत आह—शब्दबोध्य इति । अर्थान्तराश्रय अर्थान्तरोपस्थापकः । ‘व्यनक्ति’ इत्यनुपज्यते । इत्यनुपपत्तिदर्शनानन्तरमुपपत्तिमाह—एकस्येति । सहकारिता अप्रधानकारणत्वम् । अप्रधानत्वं च व्यवहितोपकारित्वेन । एवं च यत्र यस्याव्यवहितोपकारित्वेन प्रधानत्वं तत्र तत्संबन्धित्वेनैव तस्यां व्यवहार इति भावः । ननु नाट्यदात्रौ वेशाभिनयादेरपि व्यवहृत्यसम्भवेन व्यञ्जकद्वैविध्यमात्रमुक्तमिति चेत् । न । तत्रापि शब्दोपहितार्थस्यैव व्यञ्जकत्वाङ्गीकारात् । वेशाभिनयादेस्तु चेष्टादिवैशिष्ट्यरूपसहकारित्वोपगमात्तत्र शब्दसत्त्वेऽपि वेशाभिनयदर्शनस्य प्राधान्येनैव दृश्यत्वव्यवहारः । अत एव वक्ष्यति—‘श्रवणे पेयमनेवैर्दृश्यं क्षीर्मेव लोचनेर्बहुभिः । भवदर्धमिव निबद्धं नाट्यं सीतास्वयंवरणम् ॥’ इति ॥ अभिधादिव्यापारत्रय निरूप्य तत्प्रयुक्तं शब्दस्यापि त्रैविध्यमाह—अभिधेति । उपाधि-

अभिधोपाधिको वाचकः । लक्षणोपाधिको लक्षकः । व्यञ्जनोपाधिको व्यञ्जकः ।

किं च—

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने । ५

तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्वोधकं परे ॥ २० ॥

अभिधायै एकैकपदार्थबोधननिरमाद्वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य

व्यापारः । अभिधया लक्षणया वा शब्दैः प्रत्येकमुपस्थापितानां पदार्थानां संसर्गो वाक्याद्भासमानस्तत्पर्याख्यां वृत्तिमपेक्षत इति प्राचीननैयायिकमतमाह—किं-चेति । मतान्तरसूचनाय 'आहुः' इति । 'परे' इति परेणान्वयः । इयमेवाधुनिकैः संसर्गमर्यादोच्यते । अभिधायै इति लक्षणाया उपलक्षणम् । अभिहितानामभिधया लक्षणया वा पदोपस्थापितानामन्वयबोधवादिनां प्राचीननैयायिकानामित्यर्थः ।

१. तात्पर्येति । एतदुक्तं भवति—लाघवापदानां पदार्थमात्रे शक्तिः, नावन्वयाद्येऽपि । गौरवादनन्वयत्वत्वाच्च । तदर्थो हि तात्पर्यार्थो वाक्याद्यर्थविलक्षणशरीर आकाङ्क्षा-योग्यतावृत्तिश्चादपदार्थोऽपि प्रतीयते । न चापदार्थविषयस्यापि शब्दबोधविषयस्य कथं-चिदुपस्थितस्य गगनादेरपि तद्विषयत्वावृत्तिरिति वाच्यम् । अपदार्थविषयस्य शब्दबोध-विषयतायामप्रयोजकत्वाच्च । इत्यभिहितान्वयवादिनो नैयायिक-भाट्ट-मीमांसकाः । तेषा-मपमभिप्रायः—'यद ऋतेति' इत्यादी यदवृत्तिकर्मत्वानुकूल वृत्तिरित्यर्थो बोध्यते । तत्र यदवृत्तस्य यदोऽर्थः, अन्वयस्य च कर्मता, वृत्तिता तु न कस्यापि, इत्यपदार्थोऽपि वृत्तिना तात्पर्यवशादनयोः संसर्गविधया यासते । अन्विताधिधानवादिनः प्रामाण्य-शक्त्यु—अन्वयरूपे वाक्यार्थोऽपि पदानां शक्तिः । व्यवहारेणान्वितस्यैवोपस्थानात्तत्रैव शक्तिप्रदात् । तथाहि—'देवदत्त, गामानय' इत्युक्तमवृद्धप्रयोगात्साक्षादिमतीं व्यक्तं मध्यमवृद्धे संचारयति, तद्येष्टया तस्य वाक्यस्य तदर्थबोधकत्वमनुमाय पश्चात् 'गा-नय, अथमानय' इति प्रयोगे गवापसरणमयाहरणं च दृष्टान्वयव्यतिरेकाभ्यां क्रिया-पदार्थान्वये कारके कारकपदस्य, कारकपदार्थान्विन्यायां क्रियायां च क्रियापदस्य शक्तिरित्युपपत्त्ययति । तत्र प्रयोगकाले तस्य प्रथमत एवान्वितवृत्तिर्भवति । न च गौरवेणान्वयार्थपरिहारः । प्रथमगृहीतान्वयशक्तेरुपजीव्यत्वेन तदपरिहारात् । शब्द-बोधे तु आकाङ्क्षादिवशाद्वृत्तिजदिविशिष्टरूपस्य आसत्त इति नापदार्थो वाक्यार्थः' इति वदन्ति । अत्रापि यीर्जं तु—'अन्वितत्वेन वृत्तयपि अन्वयविशेषावयवाय आकाङ्क्षादिकं कारणमवश्यमातीतवन् । यत् च विशेषान्तरेण अन्वयस्यैव मानमिति तैत्थ्यवदयमभ्यु-पेक्षम्' इति ॥

बोधिका तात्पर्यं नाम वृत्तिः । तदर्थश्च तात्पर्यार्थः । तद्वोधकं च वाक्यमित्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ॥

इति साहित्यदर्पणे वाक्यस्वरूपनिरूपणो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ।

अत्र मूलकारिकाः=२० । पूर्वाभिः सह २३ ।

उदाहरणश्लोकः=९ । पूर्वैः सह १५ ।

good translation

अन्विताभिधानवादिनो गीमासकगुरवस्तु—‘क्रियाकारकयोः प्रथमत एवान्वयबोधो जायते, ततः शक्तिग्रहः, पदविशेषसमभिव्यक्तिरिति । किं तात्पर्याख्यवृत्तिस्वीकारेण’ इत्याहुः ॥

इति श्रीरामचरणतर्कवागीशमहाचार्यविरचितायां साहित्यदर्पणविरचितौ

द्वितीयः प्रकाशः ।

१. अभिहितेति । अभिहितानां स्वस्वरूपा पदैवस्थितानामर्थानामन्वय इति चेददन्ति तेषामभिहितान्वयवादिन इत्यन्वयेमभिधानम् ॥

२. अन्विसेति । पदान्वयान्वितानि भूत्वानन्तरं विशिष्टमर्थं बोधयन्तीति चेददन्ति तेषामभिधानवादिन इत्यन्वयं नाम ॥

१. ‘तदर्थं च तात्पर्यार्थः’ च.



तृतीयः परिच्छेदः ।

अथ कोऽयं रस इत्युच्यते १

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।

रसतामेति रत्यादिः स्याग्रीभावः सचेतसाम् ॥ १ ॥

काव्यलक्षणरूपैककार्यानुकूलत्वसंगत्या वाक्यनिरूपणानन्तरं रसं निरूपयितुमाह-
नयेति । वाक्यनिरूपणानन्तरं कोऽयमिति जिज्ञासाविषयो रसो निरूप्यत इत्यर्थः ।
अयं काव्यलक्षणनिविष्टो रसः । विभावेनेत्यादि । सचेतसामिति । नायकादिनि-

१. विभावेनेति । इह स्वस्वप्रतिशोभनेष्वेव 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगादस-
निष्पत्तिः' इति नाट्यशास्त्रप्रक्रिया व्याचक्षाणानामनेके पक्षाः सेतु कतिचन प्रकृतोपयो-
गित्वाद् व्युत्पत्त्यापामकत्वाद् ह्यवयवमत्वाच्च प्रदर्श्यन्ते प्राभलीकियन्ते च । तत्र
मदुल्लोखुदप्रभृतीनामेव सिद्धान्तः—'स्वापिनां विभावेनोत्पाद्योत्पादकभावरूपादनुभावेन
गन्धगमकभावरूपाद्यनिचारिणा योन्वयोपकमावरूपात्संबन्धादस्य निष्पत्तिरत्यसिद्धि-
व्यक्तिः पुष्टिकेतव्यः । तथाहि—सूतनादिभिरालम्बनविभावैः स्वायी रत्यादिषो जनिताः
उपायनादिभिरदीपनविभावैरदीपितः, अनुभावेः यदाद्यमुख्यलक्षणादिभिः प्रतीतियोग्यः
कृतः, व्यभिचारिभिरुत्कण्ठादिभिः परिपोषितो रामादावनुभावैः नाट्यनाभिनेये
रसः । नटे तु शुल्बरूपवानुसंधानवदादारोप्यमाणः सामाजिकानां वगत्कारदेतुः'
इति । निष्ठितार्थसाम्यम्—यथा सर्पाभावेऽपि सर्पतयावरोकिताया रज्जोरपि भयमु-
त्पद्यते तथा सीतादिविषयानुरागरूपा रामादिरदोरनियमानासि नर्वकेऽभिनयनैपुण्येन
तस्मिन्सिद्धेव प्रतीयमाना सहृदयहृदये चमत्कारमर्पयन्त्येव रसपदगीमपिरोहतीति । नर्व-
कताः—'प्रथमं रामादिगतसीतादिविषयकरत्नादिव रसः सहृदयैः काव्योपासकसिद्धा-
देष्टानुनीयते । ततस्तस्य कमनीयविभावाद्यभिनेयप्रदर्शननिष्ठेण रामाद्यनुकारिणि नर्वके
साहृदयशानरूपदोषादारोपः साक्षात्काररमको धर्म्ये लौकिक आरोप्यादे इत्येकिकः
'रामोऽयं सीताविषयकरतिमान्' इत्याकारकधर्माकृतिहेतुरिति । न च साहृदयस्य भेदग-
र्भापादादे 'उक्तिं कथं रामायरोप' इति चेत् । न । भेदस्य 'नर्वकेनैपुण्यभेदेष्टेष्टाग्रहणात्'
नेदं हृदयमाह । सामाजिकेषु रसनिष्पन्नभावे तत्र चमत्कारानुभवविरोधात् । च
संज्ञानमेव चमत्कारहेतुः । लौकिकशृङ्गारादिविलोकनेनापि चमत्कारमसंज्ञाय । न पात्र-
भावविशिष्टानवस्थायाव आरोपस्तथा ननु साक्षात्कारमात्रमिति वाच्यम् । ध्वन्द्वमु-
दादी वैपरीत्यदर्शनात्, अन्यथैवोपपत्त्या साहृदयस्वभाव्या मानामावाच' इति ॥
भीटाङ्ककस्य तु—'स्वापिनो विभावादिभिरनुमाप्यानुमापकमावरूपसंबन्धादस्य निष्प-
त्तिरनुमितिदित्यर्थः । तथाहि—नियमविषया भीः सम्बन्धुक्तिः । यथा 'राम पवायम्'

१. नर्वकं ध्वन्द्वनाट्येवमप्युत्कारहेतुः किं नु वस्तुतश्च ध्वन्द्वनसंबन्ध एव । तथा दृष्टमपि
नाट्येवमानं तथा, किं नु वस्तुनो नियमानमेव ।

‘अथैव रायः’ ईदमोक्तव्यस्योदयस्योदरिष्वपि । अन्तर्गतनीर्णनाया ॥ निष्पत्तिः ।
 ईदोत्तरकाण्डे ‘न रामोऽयम्’ इति वाक्ये ‘रामोऽयम्’ इति । विश्वोपदेशिका तु
 संप्रत्ययः । यथा ‘अथ रामो न वा’ इति । महतोमयविषया तु सादृश्यः ।
 यथा ‘रामोऽयम्’ इति । एतावन्तो लोकप्रसिद्धपरीतिष्वो विज्ञाया चित्रे
 ‘गुरोऽयम्’ इति च ‘रामोऽयम्’ इति कृत्वा प्रयत्नं पशुभूतो नरो विषयीकियते ।
 तन्मन्त्रादिपदानमरि विभावादिष्वं निहमवस्थये । इत्यतः । पूर्वमेव रोमाघातिर्मा-
 वने शुक्रशिखामापाय इतरदाभ्यामेन नटेन—‘सैवं ममाक्षेपु घातारण्यदा घृष्टक-
 र्पूरयत्किंका इत्योः । मनोरथभीर्नसः उतिरिणी मानेवरी लोचनगोचरं गता ॥’
 इति । ‘देवाइदमय तथा पपशयतनेवया निमुच्य’ । अत्रिलेखितेकत्रयः काकः
 सनुपायप्रभावम् ॥’ इत्यादिक्याप्यानुसंधानकदाकम्बोहीवनविभावाभिष्यप्ये तदनु-
 शुनय रोमाघादेर्दंतीपसानुमावस्वार्निर्भवेन स्यजन्यस्योत्पत्त्यादेर्भविष्यारिभावस्य
 तदादेर्दृश्यदृष्टिवादिप्रकटनेन च प्रकाशनात् । अथ सैः इतिमरयेनात्रतिहेरति कृत्रिमरये-
 नादानात्मापरी इत्यादिनुमीयते । अनुमानाकारस्तु—‘रामोऽयं सीतात्रिपदकरिमान् सी-
 तायाश्चनविभावर्यंरुद्रोऽपिपविभावरामोमाघापनुमासोत्पत्त्यादिसंवादिमावत्संविधावात्
 ‘यो यदात्मकविभावरये सत्यनुमावत्संवादिमावत्वात् ॥ तद्वनिमान्’ इति पक्ष्यां
 सामान्यनी व्याप्तिः । ‘यो मैवं स मैवम्’ इति व्यतिरेकव्याप्तिर्वै । सैव पानुमितिः
 सपमत्कारमतीतिरूपा चवैना । अत्रस्तथा निषयीनिषमाणः एवारी रस इत्युच्यते । पर्वणा
 च सामानिकानानिति तेष्वेव रस इति व्यवहारः । ननु साधारणार यव सपमत्कारः,
 नत्वनुमित्वादिरपि । अन्यथा घृष्टादावनुमीयमानेऽपि रसः स्यात् । न स्यात् । वस्तु-
 सीदृश्यवत्तादसनीयापेन त्वादित्वाविनाशितरागुमेवैकशुष्कात् । तथापि रत्नामीनं

१. यत्र विशेषणान्वित एवकारत्वन विशेष्ये विशेषणत्वासंबन्धरूपमयोगं निवेदति । यथा 'राम एवावधू' इत्यत्र रामस्य विशेषणत्वेन तदन्वित्रे एवकारेण इदमर्थे विशेष्ये रामवाच्योऽयं नियतयज्ञस्य रामत्वं नियमयति । यत्र विशेषणान्वित एवकारत्वन विशेष्ये-
 सरसिनिर्देश्येऽभीष्टपदसंबन्धं निवारयति । यथा—'अयमेव रामः' इत्यत्र राममिति रामावयवसंबन्धं निवारयन्नस्मिन् रामत्वं नियमयतीति प्रागपि श्रुत्यादिभ्यः ।

३. यथा 'नेदं रजतम्' इत्युत्तरकान्तिके वाच्ये सति शुद्धी रजतपुष्टिः । वाच्यमात्रे तु न निष्पाद्यम् । स्वतःप्रामाण्यवाच्ये वाच्यत्वे प्रामाण्यमहात् ।

३. यपि जित्रे गुरगनुदिते सिध्यानुदिते च वापि बाधशिरस्कस्यैवात्र भ्रमत्वेन विषधुगान्न दोषः । इह बाधानवतारः रज्जुं यव, ज्वयथा तद्रूपेण पशुवमेव न सिद्ध्येत् ।

४. यदनुपानवरोन यत्तावान्हालो यापितः सेयं माणेश्वरी मम मनसः सकाशातोच-
नगोचरं गतेति संशयः । पूर्वं मनस्येवासीत् संमति बहिर्दृष्टेति भावः । ज्ञेयेषु सुधारस-
च्छय, परीक्षणेन सर्वाङ्गीणसंतापशान्ता सोदितसंपादनात् पीयूषरमवृष्टिः । इति नैऋत्योः
शोभनः पूरो द्रवो यस्य तथाभूतस्य कर्पूरस्य शलकिका जलनतुल्यता । अतिशयि-
तानन्दहेतुत्वात् शरीरिणी मनोरथस्य श्रीः संपत्तिः ।

5. 'अभूवम्' इति श्लेषः ।

साहि. ७

नटेऽसत्त्वाद्वाभावतरेऽनुमितेरेव कथं स्यादिति चेत् । न । तेषामभावनिश्चयमावात्स्या-
यितया संभाव्यमानत्वात् ।' इति । एतन्मतनिष्कर्षस्त्वयम्—यथा कुञ्जटिकापातसं-
कुले देशेऽविद्यमानस्यापि धूमस्याभिमानाद् धूमनियतस्य धूमध्वजस्यानुमानम् । तथा
नटेनैव 'भवेत्ते विभावाद्याः' इति निष्पन्नं प्रकटीकृतैस्तत्राविषयमानैरपि विभावादिभि-
स्तद्विषया रतिरनुमीयमानाऽपि निजसौन्दर्यवलात्सामाजिकानामास्वाद्यमानतया चम-
त्कृतिभावद्वन्ती रसतामेतीति रतेरनुमितेरेव रसनिष्पत्तिरिति । नेदमपि हृदयमार्गः ।
प्रत्यक्षमेव शानं चमत्कारजनकम्, नानुमित्यादिरिति लोकप्रसिद्धिमवधूयान्यथा कल्पने
मानाभावादप्यथैव योजनासंभवात् ॥ भट्टनायकस्य तु—“न तावन्नटगतत्वेनानुमीयते,
तदानीं रामाद्यभावेन तद्रत्यादेरप्यभावादसत्तः सत्त्वेनानुमानाविषयत्वाद्भूतो रामादिवि-
षयिण्या नटगतत्वेनानुमितयापि रस्या सामाजिकेऽसत्या सचमत्कारजननासंभवाच्च । न
रामादिनायकगतत्वेनोरपघटे, विभावादीनां पारमार्थिकत्वाभावात् । न वा सामाजिक-
गतत्वेनाभिव्यज्यते, सिद्धस्यैव व्यङ्ग्यत्वसंभवादस्य चासिद्धत्वात् सर्वेषामेवाभिव्यक्ति-
मत्तत्वाच्च । तस्माद्विभावादिभिः संयोगाद्भोग्यभोजकभावसंबन्धादस्य निष्पत्तिर्भूतिरिति ।
न च भोगपक्षेऽपि रमस्यासिद्धत्वाद्भोगासंभव इति वाच्यम् । भोगस्यालौकिकताभाभ्युप-
गमात् । एवं सत्यप्यन्यनिष्ठो रसादिः स्थायी अन्यनिष्ठैरेव विभावादिभिः कथमन्येन
भोक्तव्यः अतिप्रसङ्गात्—इति चेत्, उच्यते—शब्दात्मनः काव्यस्य त्रयो व्यापाराः—
अभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोजकत्वं सदृश्यविषयम्' इति ।
यथाहुः—“अभिधा भावना चैव तन्मोक्षोक्तिरेव च" इति । तत्राभिधा निरन्तरत्वात्-
राधेयतत्वेन द्विविधा । तेन लक्ष्यविषयस्यापि संग्रहः । भावकत्वं साधारणीकरणम् ।
तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते । साधारणीकरणं चैतदेव
मर्यादादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः स्थाय्यनुभावादीनां च संबन्धि-
विशेषाणश्चिद्वस्त्वेन । अन्तं व्यापारद्वयं नात्येऽपि । एवं काव्ये नात्ये च भावकत्व-
व्यापारेण साधारणीकृतैर्विभावादिभिर्भोजकत्वव्यापारसहितेन तथाहृत एव रसादिः
स्थायी भुज्यते । भोगश्च सत्त्वगुणोद्रेकात्मकाशये च आनन्दस्वरूपरूपा अनन्यात्म्यना
वा संनिष्ठस्वरूपो धैर्यिकगुणानुभावनिर्लक्षणः । सत्त्वरजस्तमोगुणानामुद्वेगेन प्रमा-
सुरादुःखमोहाः प्रकाश्यन्ते । उद्वेकश्च स्वेतराशमिभूयावस्थानम्" इति । एष सारांशः—
शब्दस्याभिधाय्यापारवत्काव्यनाट्ययोस्तद्विलक्षणं भावकत्वभोजकत्वनामकं व्यापारद्वयम-
तिरिक्तमस्ति वाच्यार्थोपोचरमेव तत्रायेन भावकत्वव्यापारेण विभावादिरूपमीषादयो
रामादिर्लक्ष्मिणी रीतिश्च सीतात्वरामत्वसंबन्धाद्यमपहाय सामान्यतः कामिनीत्वरतिता-
दिर्भोपस्थाप्यते । अन्तेन भोजकत्वव्यापारेण तून्नीत्या साधारणैश्च विभावादिष्वहकृतेन
छा रतिः सदृश्यैतत्ताप्य इति रतेरत्वाद् एव रसनिष्पत्तिरिति । एतदपि न सम्मत् ।
ननु तद्व्यवधानमप्यत्र कथं वा तत्राभिधानियन्त्रोऽप्यर्थव्यवहारा वा क्लीकृतादिसद्व्यवहारेण
तत्पदार्थावगमकतया च निन्देन व्यग्रनाम्नापारैरेव मतापेक्षया तदतिरिक्तव्यापारद्वयद्वयने

१. निरन्तरावो गुणः ॥ अन्तरं व्यवधानं तेन सह वर्गेन इति शब्दः । गुणार्थेना-
भादुरसिता व्यवहारेऽर्थः शब्दार्थः लक्ष्य इत्यर्थः ।

विभावादयो वक्ष्यन्ते । सात्त्विकाश्चानुभावरूपत्वान्न पृथगुक्ताः ।

द्योऽपि रत्यादिर्ज्ञानसंबन्धेन सामाजिकनिष्ठो रसो भवतीत्यभिप्रायः । ननु 'विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः' इत्यादिना सात्त्विकभावानामपि रसघटकत्वमुक्तम्, भवता तर्कितं नोच्यत इत्यत आह—सात्त्विकाश्चेति । सात्त्विकाः स्वप्न-स्वेदादयः । दध्यादीत्यादिना प्रपाणकादिपरिग्रहः । रूपान्तरं विभिन्नरूपं परिणतः प्राप्तः । यद्वा रूपान्तरं परिणतं निष्पन्नं यस्य स तथा अभ्याहित इतिवत् कान्तस्य

मानाभावात् । न च व्यञ्जनास्थाने तादृशयोग एव कश्चन व्यापारः कल्पनीय इति वाच्यम् । तथापि भावकत्वरूपाधिकव्यापारान्तररूपनस्यैवार्नाचितात् ॥ आचार्याभिनवगुप्तपादानां तु—'स्वायिनां विभावादिभिः समं व्यञ्ज्यव्यञ्जकभावरूपासंबन्धादिभावादीनां वा परस्पर संयोगान्मिलनादस्य निष्पत्तिरित्युच्यते । तथाहि लोके प्रमदादिभिराकम्बलकारणैश्चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैरुपपातादिभिः कार्यस्थितादिभिः सहकारिभिश्च स्वायिनो रत्यादेरनुमितिविषये परिशीलनबलेन स्मृतिति प्रवृत्तिमतां सामाजिकानां वासनारूपतत्त्वान्तःस्थितः, काव्ये नाट्ये च गुणाङ्ककारयोगेन काविकथाचिक्सात्त्विकाद्वार्यरूपेणाभिनयेन च तैरेव कारणत्वादिभ्यपदेशपरित्यागेन विभावनानुभावनसंचारणरूपव्यापारवत्तया भौतिकविभावानुभावसंचारिपदव्यवहार्यैः—ममैवेते, शत्रोरेवेते, नोदासीनस्यैवेते, इति संबन्धिविशेषस्वीकारनियमस्य न ममैवेते, न शत्रोरेवेते, नोदासीनस्यैवेते इति संबन्धिविशेषपरिहारनियमस्य चाज्ञानासीतात्वादिविशेषाश्रयपक्षाय कामिनीत्यादिना प्रतीतैः अभिव्यक्त्यो रत्यादिः स्थायी तत्तद्भारमनिष्ठोऽपि विभावादिसाधारण्यबलाद्रसानुभवकाले विगलितपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मतया प्रादुर्भूतेतराज्ञानशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा—सकलसद्वदयसंवादकारिणा प्रमातृविशेषसंबन्धामह रूपेण साधारण्येन स्वाकार इवामिष्टोऽपि प्रत्यक्षीकृतः, चर्च्यमाणतैकप्राणतया चर्वणनाशे विनष्टो रस इति प्रतीतिगोचरः, विभावादिकालमात्रस्यामित्वेनानित्यचर्वणः, धानकरसत्यायेन चर्च्यमाणः, पुर इव परिस्पृष्टः, हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीणमिनास्निदन्, अन्यसर्वमिव तिरोदधत्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्, 'भौतिकचमत्कारक सी शृङ्गारादिको रसः' इति । तत्रार्थक्रमः—प्रथम साधारण्यपदेभ्यस्तत्तदर्थोपस्थितिः, ततो यथोपस्थितविभावादिगोचरो वाक्यार्थबोधः, ततो गुणाङ्ककाराभिनवादि, ततो रत्यादियासनावतः सद्वदयस्य साधारण्येन विभावादिबोधः, तेन च साधारण्येनैव विभावादिसंबन्धितरत्नवच्छिन्नप्रतिदानन्दावरणमहाप्रकाशमानानन्दचिद्विषयो विभावादिसंबन्धितः स्थायी रत्यादिको रस इति ॥ नन्यानां तु—'कार्ये नाट्ये च कविना जटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जनाव्यपारेण रामार्दा सीतादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सद्वदयतोऽप्युपस्थितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य मद्विना कल्पितरामस्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाञ्चक इव रजतलण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभाससीतानिषयकरत्यादिरेव रसः' इति । अर्थं च, कार्यो दोषविशेषस्य । नाट्यश्च । तत्राशस्य स्वोत्तरभाविना लोकोत्तराहादेन मेदाप्रहासमुखपदव्यवहार्यो भवति । स्वपूर्वोपस्थितेन रत्यादिना तदमहाप्रकाशितेनैकवाक्यवधानादाव्यवहार्यो वर्णनीयश्चेत्यत इत्यादि रसगताधरे मपश्चिदम् ॥ १

व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसः । न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते ।

तदुक्तं लोचनकारैः—‘रसाः प्रतीयन्त इति (तु) ओदनं पचतीति-
वद्यवहारः’ इति । अत्र च रत्यादिपदोपादानादेव स्थायित्वे प्राप्ते पुनः

परनिपातः । पयो यथाम्लयोगेन रूपान्तरपरिणतं सहधुच्यते । यथा वामिका कर्पू-
रखण्डमरिचादियोगेन रूपान्तरपरिणता प्रपाणकमुच्यते । तथा रत्यादिः स्थायीभावः
काव्योपस्थापितविभावादियोगेन रूपान्तरपरिणतश्चिदानन्दचमत्कारस्वरूपं प्राप्तः ।
विषयस्यैव ज्ञानत्वेन परिणाम इति परिणामवादिनां मतेनेदम् । ननु चिरवि-
नष्टस्य रत्यादेः कथं रूपान्तरापत्तिरिति चेत् । न । रत्यादिपदेन रत्यादितादात्म्येना-
श्वयसिताया सामाजिकवासनाया लक्षणात् । तदुक्तं प्रकाशकृता—‘सामाजिकाना-
यासनात्मतया स्थितो रत्यादिर्भावः’ इति । वासनामनग्रीकुर्यता मर्तमाह—व्यक्ती-
कृत इति । व्यक्तीकृत एव ज्ञानविषयतापन्न एव रत्यादी रसः । एवकारेण वस्तु-
सत्त्वव्यवच्छेदः । चिरविनष्टस्यापि ज्ञानविषयत्वसंभवादिति भावः । व्यक्तीकृत एवे-
त्यनन्तरं वाक्यतो बोध्यः । ‘एतद्व्यक्तीकरोति—नत्त्विति । रूपान्तरपरिणामे सह-
ग्रान्तप्राचीनसंवादमाह—तदुक्तमिति । यथा पाकसंबन्धेन ओदनरूपं प्राप्तस्त-
ण्डुल ओदनत्वेन व्यवहियते तथा प्रतीतिसंबन्धेन रसरूपं प्राप्ता सामाजिकवासना
रसत्वेन व्यवहियत इति भावः । रसस्य प्रागनवस्थाग्रीकरे प्राचीनसंवादमाह—
तदुक्तमिति । नन्योदनं पचतीत्यत्र पाकत्पूर्वमोदनस्यानवस्थाने क्रियानिमित्तवा-
भावेन न मर्त्यं न स्यात्, अत ओदनपदस्य तण्डुललक्षणावयवमग्रीकरणीयेत्यसिद्धो
दग्रान्त इति चेदुद्भाव्यते, तदा ‘कटं करोति’ इति द्रष्टव्यः । ‘क्रियानिमित्तं
हि कारकम्’ इति प्रवादस्य प्रायिकत्वमिति भावः । यद्यपि रत्यादीनां नादमादि-
निष्ठतया पूर्वसिद्धत्वमस्त्येव तथापि सामाजिकनिष्ठतया ज्ञानात्पूर्वमिहासत्यं विरहि-
तम् । यथा तण्डुलानां पाकत्पूर्वमोदनत्वं नास्ति तथा रत्यादीनामपि प्रत्ययात्पूर्वं

१. रसा इति । अत्रायं पूर्वापरसंदर्भः—प्रतीतिः स्वरगततादात्म्यवदने सर्वत्र हेतु
प्रतीतिरपरिहारा । रसस्य प्रतीतिरिति विद्याचरदम्बवद्वार्ता स्यात् । किंतु यथा प्रतीतिमात्र-
त्वेनाभिहितेऽपि प्रात्यक्षिकवानुमानिकवाद्यमोत्या प्रतिभानष्टा योपि प्रत्यक्षः च प्रती-
तिरुपायरेलक्षणादनैक, तद्विरयमपि प्रतीतिस्वर्बणात्वादनमोगापरनामपेयां सवतु । तन्नि-
दानमूलाया दृश्यसंज्ञानुपकृताया विभावादिसामय्या लोकोत्तररूपत्वाद्रसाः प्रतीयन्त
इति । ओदनं पचतीतिवद्यवहारः प्रतीयमान एव हि रसः । प्रतीतिरेव रिशिया रमना ।
सा च नात्ये रसिकानुमानप्रतीतिरेविलक्षणां प्रमुखे लयावतया सदधाना । एवं काव्ये
चाभ्यप्रतीत्येव विलक्षणां प्रमुखानुपेक्षमावेति ॥

१. ‘व्यक्तीकृत एव रसः’ तण्डुलदेव गदित । ‘व्यक्ती’ इति तण्डुलदेवगदितम्. २. ‘घट इव’ इ.
३. ‘ओदनपरिण’ ग. ४. ‘व’ तण्डुलदेव गदित ५. ‘रत्यादि’ इति ‘विश्वविद्या’ इति
पाठः रसिकानुपेक्षे गदित. /

स्थायिपदोपादानं रस्यादीनामपि रसान्तरेष्वस्थायित्वप्रतिपादनार्थम् ।
ततश्च हासकोधादयः शृङ्गा(रवी)रादौ व्यभिचारिण एव ।

तदुक्तम्—

‘रसावस्यः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते’ इति । २

अस्य स्वरूपकथनगर्भं आस्तादनप्रकारः कथ्यते—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।

/वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्तादसहोदरः ॥ २ ॥

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।

स्वांकारवदभिन्नत्वेनायमास्ताद्यते रसः ॥ ३ ॥

रसत्वं नास्तीत्यर्थः । ननु ‘रतिर्हासश्च—’ इति वक्ष्यमाणवार्तिक्या रस्यादीनां स्थायित्वं प्रतिपादितं तदत्र स्थायिपदं निरर्थकमित्याशङ्क्य समाधत्ते—अत्र चेति । रसलक्षणे चेत्यर्थः । रसान्तरेष्विति । ‘व्यभिचारितया’ इति शेषः । रसाद्यस्य इति । परमिति मान्तमव्ययमेवकारण्यम् । रसेष्ववश्यमवस्थानात् स्थायी । अनावश्यकत्वे व्यभिचारीत्यर्थः । रसादिर्यस्वरूपं प्राप्य रगो भवति तद्-
र्शयंस्तप्रास्ताद एव प्रमाणमिति तद्विरूपणं प्रक्रमते—अस्येति । रसस्येत्यर्थः ।
स्वप्रकाशेति । यथा ज्ञानान्तरं रसगोचरं घटादिकं प्रकाशयति तथा रस आत्मा-
नमेव प्रकाशयतीत्यर्थः । चिद् विभाषादिर्धिया । वेद्यान्तरेति । विषयान्तर-
संपर्केज्ञानवच्छिन्नप्रकाशः । ब्रह्मास्तादसहोदरः ब्रह्मसाधारणरससदृशः । लोकोत्तरा-
न-

१. ब्रह्मेति । ब्रह्मास्तादे ब्रह्मानात्रं ब्रह्माद्यत्र रसो नु विभाषादिब्रह्मपीति भेदासहो-
दरत्ववचनम् । उक्तं च लोचनकारीः—‘परममास्तादसमन्नाकारित्वं बाणु कस्य रसा-
स्तादस्य’ इति ॥

२. स्वांकारवदिनि । यथा ज्ञानसैवाकारो घटादित्यन्तारमित्रोऽपि तद्विषयो बाह्य-
रहीभिचते तत्प्राप्तीत्यर्थः । अनेन उक्तम्—रसं वेदने तावद्विचार्यम् । अन्यथा भग-
वान्त्वं प्रकाशेत । एवं च स्वस्वरीरूपप्राप्त्यैरहासप्राप्त्याभिव्यक्तं बुद्धिः रसमेव स्वात्म-
रूपप्रकाशिका । प्रकाशवदिनि । तदुक्तम्—‘नान्देऽनुमाप्यो बुद्ध्याऽपि तस्या मानुषदो-
शनरः । प्राप्तामाहवैपुर्ण्यसत्वं सैव प्रकाशते ॥’ इति ब्रह्मसं-
घटीरवयवाग्रह्यं प्रादुर्भूतं रसवेदनापरप्राप्यं बुद्धिपरं तदोर्ध्वं नाम ब्रह्मणेन प्रादुर्भूतं च रूपेण प्रकाश-
ितम् । तदोर्ध्वेदश्चापुमाग्रह्यः । देन वेदनेन रसेपे तदुक्तो न भिद्यते । यथा ज्ञानेना-
स्मानः (षष्ठ्युपादि निश्चेद्विषयि) तेषां ज्ञानदो वेद्यते । भेदे सति वेदनेन तदावस्थं
संरक्षितं न स्यात् । तादात्म्यसंभवेऽपि यमरेऽप्येवास्ति । तस्यादुर्ध्वेवाकारादिवाप्य-
नादस्तादनेकाकारावभासः इति लिख्यम् ।

‘रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते’ । इत्युक्तप्रकारो बाह्यः
मेयविमुखतापादकः कश्चनान्तरो धर्मः सत्त्वम् ।- तस्योद्रेको रजस्तमसी
अभिभूय आविर्भावः । तत्र हेतुस्तथाविधालौकिककाव्यार्थपरिशीलनम् ।
अखण्ड इत्येक एवायं विभावादिरत्यादिप्रकाशसुखचमत्कारात्मकः ।
अत्र हेतुं वक्ष्यामः स्वप्रकाशत्वाद्यपि वक्ष्यमाणरीत्या । चिन्मय इति
स्वरूपार्थे भयम् । चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः । तस्मा-
त्तत्त्वं चासद्बुद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारा-
यणपादैरुक्तम् । तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे—

‘रते सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुमूयते ।

तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः’

तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥’ इति ।

चमत्कारसारः । स्वाकारवदिति । यथा स्वस्माद्विज्ञोऽपि देहोऽहं स्थूल इत्यादि-
भेदोद्वेगज्ञाभावेन प्रतीयते, तथा रसोऽपि ज्ञातृज्ञानभेदोद्वेगज्ञाभावेनास्वाद्यत इत्यर्थः ।
घटादिज्ञाने ज्ञाते वेद्यीति यथा ज्ञातृज्ञानभेदः प्रतीयते तथात्र नेति भावः । यद्वा
स्वाकारवत्स्वविषयवत् । परिणामवादिभिर्ज्ञानतद्विषययोर्भेदानुवीकारादिति भावः ।
कामलोभादिपीडभूता मनोधर्मा रजस्तमसी, ताभ्यामस्पृष्टं स्वसार्यजननेऽसंस्पृष्टं
मनो मनोधर्मः । मिथुनोति—इत्युक्त इति । उक्तस्वरूप इत्यर्थः । घाह्यं घहि-
र्भवम् । लौकिकमिति यावत् । मेयं यस्तु । विमुखता ज्ञानानुकूलव्यापारभावः ।
तस्यापादकः प्रयोजकः । ज्ञानानुकूलव्यापारश्चात्र दहनोयोगः । अभिभूय स्वका-
र्याक्षमे कृत्वा । आविर्भावः प्रतिबन्धकाभावेन स्वसार्यक्षमत्वेनावस्थानम् ।
तत्र तरवोद्रेके । अलौकिको यः काव्यार्थो विभावादिरस्य परिशीलनमत्यन्ताभि-
निवेशः । प्रकाशः संवित् । ननु मिलिता विभावादयो रसस्तत्कथमस्यारण्यमत्यन्त
आह—अत्रेति । अणुवृत्तायामित्यर्थः । हेतुमिति । समूहालम्बनज्ञानतादात्म्यमेव
हेतुर्यस्यते । स्वप्रकाशत्वाद्यपीत्यादिना मुरतादात्म्यपरिग्रहः । स्वरूपार्थ
इति । न त्वममयो यज्ञ इति तत्रानुर्याधे । श्रोतृतीतार्थाकलनेन किमेतदिति
ज्ञानप्रापजनने चित्तस्य दीर्घप्रायस्त्वं चित्तवित्सारः । दृष्टहेतुभ्योऽयं मनित्वज्ञानेन
हेतुनुसंधाने मनोव्यापारणमेव चित्तवित्सार इत्यपरे । विस्मयो विस्मयशब्दोऽप-
रपर्यायो याचरान्तरं यस्य सः । यज्ञ अपरपर्यायाऽभिग्रहः । तत्प्राणत्वं
चमत्कारमात्मवत् । सारः स्थिरजः । सपर्यत्र श्रद्धाएव । चमत्कारमात्मवे

१. ‘रसा प्रकाशप्रकाश’ अ. २. ‘मरि’ स म-पुल्लङ्घयो. ३. ‘भस’ म. ४. ‘वस’ इति
म-पुल्लङ्घयो. ५. म-पुल्लङ्घयो. ६. ‘तस’ इति म-पुल्लङ्घयो. ७. ‘मर’ इति
म-पुल्लङ्घयो.

कैश्चिदिति प्राक्तनपुण्यशालिभिः । यदुक्तम्—

‘पुण्यवन्तः प्रमिष्वन्ति योगिवद्रससंततिम् ।’ इति ।

यद्यपि ‘स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः ।’ इत्युक्तदिशा रसस्यास्वादानतिरिक्तत्वम्, तथापि ‘रसः स्वाद्यते’ इति कार्त्तनिकं भेदमुररीकृत्य ‘कर्मकर्तरि वा प्रयोगः ।’ उदुक्तम्—‘रसमानतामात्रसा-
त्त्वात्मकाशशरीरादनन्य एव हि रसः’ इति । एवमन्यत्राप्येवंविध-
स्वल्पेपूपचारेण प्रयोगो ज्ञेयः ।

नन्वेतावता रसस्याज्ञेयत्वमुक्तं भवति । व्यञ्जनायाश्च ज्ञानविशेषत्वाद्
द्वयोरैक्यमापतितम् । ततश्च—X

चमत्कारस्यायिभावत्वे । तस्मात् सर्वप्रादुर्भूतरससंभगात् । वस्तुतस्तु रसार्थशस्यानु-
भूयमानत्वे यथायथं शृङ्गारादिव्यपदेशस्तत्स्थाननुभावेऽद्भुतव्यपदेश इति मन्तव्यम् ।
प्राक्तनेति । ऐहिकपुण्यस्यैतच्छरीरे सुखजननासंभवादिति भावः । प्रमि-
ष्वन्ति आस्वादयन्ति । यद्यपीति । काव्यार्थसंभेदादिभावादिमेलकात् । आत्मा
शुद्धिः, आनन्दः सुखम्, तयोः समुद्भवो विषयान्तरतिरोधानेनाविर्भावः । ‘रसः
स्वाद्यते’ इति । प्रयोग इति वक्ष्यमाणेनान्वयः । कार्त्तनिकमारोपितमुररीकृत्य
अङ्गीकृत्य । रसास्वादयोः कर्मक्रियाभावित्वेनोद्भवो भेदग्रहणमन्तरेण न संभवतीति
भावः । तत्प्रयोगस्य ग्रामाण्योपपत्त्यर्थमाह—कर्मकर्तरि चेति । रसः स्वाद्यते वा-
स्वाद्यते । स्वाभिमतत्वादविषय इत्यभिप्रायः । रसस्यास्वादरूपत्वे प्राचां संवादमाह—
रस्यमानतेति । रसमानता आस्वादः, तन्मात्रस्य । न त्वतिरिक्तस्य । सारत्वात्
सामाजिकानामुपादेयत्वात् । प्रकाशशरीरात् संवित्स्वरूपात् । ज्ञानरूपतापन्न
एव रसादिः सामाजिकानामानन्दचमत्कारसंवलनोपादेयत्वाद्रस इति भावः । ननु
विभावादिमेलकाज्जायमानानन्दसंवलितमिलितविभावादिसंविद्रस इत्युक्तं भवति,
विभावादीनां मेलकश्च विभावादिविशिष्टवैशिष्ट्यावगण्योक्तज्ञानविषयत्वमित्यवश्यं
प्राच्यम्, प्रकारान्तरेण तन्निरूपणस्याशक्यत्वात्, तादृशज्ञानं च विभावादीनां प्रले-
कज्ञानादेव भवति, एवं च तादृशज्ञानानन्तरं रसास्वादः कथं जायतामुपायाभावा-
दित्यभिप्रायेण शङ्कते—नन्विति । एतावता रसस्य विभावादिसमुदायप्रकारस्य
रसत्वाङ्गीकारेण । अज्ञेयत्वमिति । उपायत्वाभावादित्यर्थः । स्वप्रकाशस्य स्वानु-
त्पत्त्येवाज्ञेयत्वमिति भावः । ननु व्यञ्जनयैव रसास्वादो जायतामित्यत आह—
व्यञ्जनायाश्चेति । विभावादिसमुदायसामर्थ्यस्य चेत्यर्थः । ज्ञानविशेषत्वाद्
विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानरूपत्वात् । द्वयोर्व्यञ्ज्यव्यञ्जकयोः । ततश्च द्वयोरैक्यापाताच्च ।

१. ‘स्थानेषु’ क. ख. २. ‘भवतीति’ घ. ३. ‘इदानीं स्वादनारब्धव्यापारेण सामाजिकानां स्वा-
सनामाधात्कार एव रस इत्यभिप्रेयमानत्वादीनां मन्त्राण्यवस्थिति—मन्त्रित्वादिना तादृशत्वेन गोप-
रीकृत इत्यन्तेन’ इत्यधिकं कुत्रचित्. ४. ‘उपायत्वाभावादित्यर्थः’ इति नास्ति पुस्तकान्तरे. ५. ‘व्यञ्ज-

‘स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः ।

यथा दीपोऽन्यथाभावे को विशेषोऽस्य कारकात् ॥’

इत्युक्तदिशा घटप्रदीपवद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः पार्थक्यमेवेति कथं रसस्य व्यङ्ग्यतेति चेत्, संत्यमुक्तम् । अत एवाहुः—‘विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्तिभेदेभ्यः स्वादनाख्यः कश्चिद्व्यापारः ।’ इति । अत एव हि

अस्य हेतोः कथं रसस्य व्यङ्ग्यतेत्यन्वयः । द्वयोः पार्थक्य एव व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः संभवतीत्याह—स्वज्ञानेनेति । खं व्यञ्जकत्वेनाभिमतं तस्य ज्ञानेन अन्यधी-हेतुर्व्यङ्ग्यप्रतीतिरुक्तः सिद्धेऽर्थे सतीत्यर्थः । अन्यभावेऽसिद्धार्थज्ञापकत्वे अस्य ज्ञापकस्य कारकाज्जनकात् । जनरो हि कार्यमुत्पाद्य प्रमाशयतीति भावः । अभि-नवगुप्ताचार्यमतानुसारेण रसास्वादोपायमाह—अत एवेति । निरुक्तपूर्वपक्षा-देवेत्यर्थः । आहुः । अभिनवगुप्ताचार्यमतानुयायिन इति शेषः । भट्टलोल्लटाद-यस्तु—रसस्य व्यङ्ग्यत्वमेवाशोकुर्वन्ति । तथाहि—रामादौ व्यञ्जनया प्रतीयमानो रसादिज्ञानसंबन्धेन सामाजिकरुचौ रसः, तथा ज्ञानं ‘रमः सीताविषयकरतिमान्’ इत्याकारकमेव । यथा चिरविनष्टस्यापि यागादेः स्वजन्यापूर्वसंस्वेनैव स्वर्गाद्यव्यव-हितपूर्ववृत्तित्वं कल्प्यते, तथा रसादिरतीतस्यापि स्वगोचरज्ञानसत्त्वेनैव सामाजिक-वृत्तित्वं कल्प्यत इत्यवधेयम् । लाघवानुसंधानपरेण ग्रन्थकृता अस्मिन्नेव मते ‘अभि-धादिविलक्षणम्—’ इत्यादिना स्वरसः प्रमाशयिष्यते । अयं रससाक्षात्कारानुकूलः, कृतिरूपादनम्, ज्ञप्तिभेदा ज्ञानानुकूलव्यापारविशेषा व्यञ्जनादयः, कश्चित्स-हृदयानुभवसिद्धः । अत एव विलक्षणव्यापारस्वीकारादेव । विलक्षणाः करण-व्यञ्जनादिभिजाः । व्यपदेशा व्यवहाराः । एवं च यथा संयुक्तसमवायेन सुग्रादि-साक्षात्कारः, तथा स्वादनाख्यव्यापारेण वक्ष्यमाणस्वावासनासाक्षात्कार इति भावः । यथा भूतलं रजतवदिति ज्ञानं द्रुत्वयंशे लौकिकं रजतांशे त्वलौकिकं, तथा रस-साक्षात्कारोऽपि वासनांशे लौकिको रसायंशे उपनीतभानात्मकालौकिक इत्यवधेयम् । ननु वासना तावदिच्छादिवहुणविशेष एवास्तु, तथा सति संयुक्तसमवायेनैव तद्ब्रह्म भविष्यति किं स्वादनाख्यव्यापारेणेति चेत् । न । तस्या शुण्विशेषत्वे प्रमाणाभावात् । न च लाघवमेव तत्र मानमिति वाच्यम् । तत्र सत्ताशुणत्वसंबन्धकल्पने गौरवात् । न च तस्या अदृष्टरूपत्वमस्त्विति वाच्यम् । तथात्वे साक्षात्कारानुपपत्तेः । नापि ज्ञाने-

नायाधेति । व्यञ्जनाग्रन्थमपीतिहेत्यर्थः । ज्ञानविशेषत्वाद् साक्षाद्विलक्षणज्ञानरूपत्वात् । ननु सामा-निकादृशवशाद्विषयभेदार्थं व्यञ्जनाग्रन्थप्रतीतिरप्यास्वादरूपत्वमुपपद्यत इत्यत्र माह—द्वयोरेक्यमाप-तिरित्यर्थः । तदर्थेति । ततो विभाव्यास्वादस्य रसत्वाङ्गीकारात् । द्वयोर्ब्रह्मव्यञ्जकयोरेक्यमापत्तिर-चेत्यर्थः । कटीभूतज्ञानकारणभूतज्ञानविषयविभाव्यातिरिक्तविषयत्वव्याप्तादित्यर्थः । विषयभेद एव व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः संभवतीति । प्राचीनसंज्ञादेनाह—स्वज्ञानेति इत्यधिकं पुस्तकान्तरे.

१. ‘सत्यमुक्तम्’ इति म-मुक्तं नास्ति. २. ‘इति’ क-मुक्तं नास्ति. ३. ‘ततः’ स्व-ग. ४. ‘लं-’ इत्यदि ‘-यर्थः’ इत्यन्तं पुस्तकान्तरे नास्ति.

रसनास्वादनचमत्करणादयो विलक्षणा एव व्यपदेशा इति । अभि-
धादिविलक्षणव्यापारमात्रप्रसाधनग्रहिलैरसामी रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमुक्तं
भवतीति । ५

च्छारूपत्वम् । प्राक्तनीनेत्यनेन स्थिरत्वव्यमाञ्जनेच्छायास्तृतीयक्षणे नाशात् । नापि
संस्काररूपत्वम् । तस्यातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षासंभवादस्य स्पष्टित्वापत्तेः । ननु तथापि
'वासनावानहम्' इति ज्ञानाकारः स्यादिति चेत् । न । प्रथमं हि नाट्यकाव्यदर्शनश्र-
वणाभ्यां विभावानुभावयोरुपस्थितिः । एवमाक्षेपेण झटिलेव व्यभिचारिस्थायिभाव-
योरुपस्थितिः क्वचिच्छब्देनापि तयोरुपस्थितिः, सा च दोषतया वक्ष्यते ।
ततो वक्ष्यमाणसाधारणीकरणाद्यध्यापारपलेन सीतादयो मम रामस्येति विभावा-
दिवत्तुष्टये प्रत्येकं साधारण्यप्रत्ययः तदनन्तरं व्यञ्जनया रससमानाकारप्रत्ययस्तदनु
तत्सहकृतेन स्वादनाख्यव्यापारेण 'रमोऽहं सीताविपयकरतिमान्' इत्याकारकः
स्ववासनायां रत्याद्यभेदं स्वस्मिन्नायकाभेदमवगाहमानः साक्षात्कारः संपद्यते ।
'भूतलं रजतपत्' इति भ्रमे श्रुतिवादिकमिव वासनात्वादिकमत्र न भासत इति
भावः । 'प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते' इति 'उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्या-
भिमानतः' इति च वक्ष्यमाणस्य दवसीयते । अस्मिन्मते पदार्थान्तरस्य वासनायाः,
स्वादनादिव्यापारस्य च कल्पने गौरवमसहिष्णुराह—अभिधादीति । आदिना
लक्षणातात्पर्ययोर्महणम् । अभिधादिविलक्षणव्यापारो व्यञ्जना तन्मात्रप्रसाधने ग्रहिलैः
सयलैरस्माभिर्नवीनालंकारिकैः । मात्रपदेन स्वादनादिव्यवच्छेदः । व्यङ्ग्यत्वं व्यञ्ज-
नाजन्यबोधविषयत्वम् । तच्च रसस्य स्वप्रकाशव्यञ्जनाजन्यविभावादिसंवलितरत्यादि-
ज्ञानरूपत्वाङ्गीकारेण संभवति । तथा च निरुक्तसाक्षात्कारे रत्यादेरुपनायकत्वेन रत्या-
दिव्यञ्जनं भवद्विरवश्यमङ्गीकार्यम् । तदेवास्मी रस उच्यते । किमधिकेन वासना-
दिनापदार्थरूपनेनेति भावः । अत एव वक्ष्यति—'अङ्गीकार्यां तुर्यां वृत्तिर्बोधे'^१
'रसादीनाम्' इति । अत एव रसादेरसंलक्ष्यकमव्यङ्ग्यत्वमुपपद्यते । व्यञ्जनापक्षे
'द्वयोरैक्यमापतितं—' इत्यादि ग्रहणमुक्तं तदपि न सम्यक् । व्यञ्जनाया वृत्तताप-
र्यरूपज्ञानत्वेन निरूपितत्वादस्य च तद्विषयभावात् । यद्वा विभावादीनां प्रत्येकं
ज्ञानं जनकं विशिष्टज्ञानं जन्यमिति भेदाङ्गीकारात् । न च साक्षात्कारस्यैवास्वाद-
रूपत्वं न तु व्यञ्जनाजन्यबोधस्येति वाच्यम् । व्यङ्ग्यचारुत्वेनैव व्यञ्जनाजन्यबोधस्या-

१. 'इति' 'तानुक्तं' 'निरुक्तं' । २. 'अपि' 'कल्पना' 'निरुक्तं' । ३. 'व्यपदेश' 'रीति' 'पुनः-
कान्तरे' । ४. 'ननु व्यञ्जनाया रससमानाकारप्रतीत्यङ्गीकारे किं मानमिति चेत् । न । रसोद्बोधे'
रत्यादिमतामानार्थं तदङ्गीकारात् । न च मायमिकरत्यादिमताज्ञानेनैव तद्विज्ञानमिति वाच्यम् ।
साधारण्यतीत्यनन्तरं तस्य नाशात् । न च विभावादिजीवितावधिरिति काव्यप्रकाशदर्शनेन तस्य
क्षणचतुष्टयावस्थावित्तमिति वाच्यम् । तदनुद्भावयता ग्रन्थज्ञाना तदङ्गीकारात् । यदि च दिनद्वय
दवश्यमेव विभावादिसंज्ञान रसोद्बोधकमित्युच्यते तदा सामान्यज्ञाना नावकाशभेदमार्थं तदङ्गीकार
इति मन्तव्यम् । यदि स्वमेदस्य सधर्मविषयमानङ्गीक्रियते तदा तदङ्गीकार विनाप्युपपत्तिरिति श्येयम्'
इत्यधिकं पुनश्चित् । ५. 'एतन्मते विभावादिज्ञानसहकृत्या व्यञ्जनया रसरूपस्यादिज्ञानं जन्यम्
इति व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः पार्यव्यवभावात्' इत्यधिकं पुनश्चाहरे.

ननु तर्हि करुणादीनां रसानां दुःखमयत्वादसत्त्वं (तदुन्मुखत्वं) न स्यादित्युच्यते—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।

सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥ ४ ॥

आदिशब्दाद्वीमत्समयानकादयः । तथाप्यसहृदयानां मुखमुदणाय पक्षान्तरमुच्यते—

किंच तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ।

नहि कश्चित्सचेतन आत्मनो दुःखाय प्रवर्तते । करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात्सुखमयत्वमेव ।

प्यासादरूपत्वसंभवात् । ननु वासनाया अनङ्गीकारे कथं श्रोत्रियजरन्मीमांसकानां रसाभिष्वक्तिर्न जायते इति चेत् । न । रसासादमुपजनकपुण्याभावात् । अत एव 'कश्चित्प्रमातृभिः' इत्युक्तम् । तर्हि रसस्यानन्दमयत्वस्वीकारे । तदुन्मुखः क-

१. करुणेति । रसगङ्गाधरेऽप्युक्तम्—ननु रतेरस्तु नाम रामादाविव सहृदयेऽपि सुखविशेषजनकता, करुणरसादिषु तु स्वाभिनिः शोकादेर्दुःखजनकतया प्रसिद्धस्य कथ-
मिव सहृदयाहादहेतुत्वम् । प्रायत नायक इव सहृदयेऽपि दुःखजननस्यैवाचिलात् । न च सत्यस्य शोकादेर्दुःखजनकत्वं क्लृप्तम्, न कस्वितस्येति नायकानामेव दुःखम्, न सहृदयस्येति बाध्यम् । रञ्जुसंधिर्देर्मयकम्पायनुत्पादकतापचेः । सहृदये रतेरपि क्लृप्ता-
रायेन सुखजनकताशुष्यचेति चेत्, सत्यम् । अकारप्रधानकाव्येष्वम इव करुणप्र-
धानकाव्येष्वपि यदि केवलाहाद भव सहृदयसहृदयप्रमाणरुस्तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वाद्योक्त्येवकारकाम्यव्यापारस्यैवाहादप्रयोजकत्वमिव दुःखप्रतिबन्धकत्वमपि कल्प-
नीयम् । अथ यथाहाद ॥ दुःखमपि प्रमाणसिद्धं तदा प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम् । स्वस्वकारणवशाद्योभयमपि अभिष्यति । अथ तत्र कवीनां कर्तुं सहृदयाणां च ओष्ठं
वधं प्रवृत्तिः । अनिष्टसाधनत्वेन निवृत्तेरचित्वात् । इति चेत्, इदस्याधिपत्या-
दनिष्टस्य च न्यूनात्वाच्चन्दनद्रव्येपनादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः । केवलाहादयादीनां तु प्रवृत्तिरप्रवृद्धेव । अशुपातादयोऽपि तत्तदानन्दानुभवसामान्यात् । न तु दुःखात् । अत एव भगवद्भक्तानां भगवदर्शनादर्शनादशुपातादय उदयन्ते । नहि तत्र नात्वपि
दुःखानुभवोऽस्ति । न च करुणरसादौ स्वात्मनि शोकादिमदृश्यादिवादाहम्पारोपे
यथाहादस्यदा स्वमादौ संनिपातादौ वा स्वात्मनि तदारोपेऽपि स स्यात् । आनुम-
तिकं च तत्र येषं दुःखम् । इतीहापि तदेव शुद्धमिति बाध्यम् । अथ हि लोकोत्तरस्य
काम्यव्यापारस्य प्रदिप्ता, दत्ययोऽप्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आहादम-
लोचिके जनयन्ति । निरुद्धो हि कमनीयः काम्यव्यापारस्तुभूत आस्वादः प्रमाणान्तर-
जगदनुभवादिभिः ॥

अनुपपत्त्यन्तरमाह—

तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ॥ ५ ॥

करुणरसस्य दुःखहेतुत्वे करुणरसप्रधानरामायणादिमवन्धानामपि दुःखहेतुताप्रसङ्गः स्यात् ।

नैनु कथं दुःखकारणेभ्यः सुखोत्पत्तिरित्याह—

हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात् । *Where*

शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः ॥ ६ ॥

अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् ।

सुखं संजायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः ॥ ७ ॥

‘ये खलु वनवासादयो लोके दुःखकारणानि’ इत्युच्यन्ते त एव हि काव्यनाट्यसमर्पिता अलौकिकविभावनव्यापारवत्तया कारणशब्द-
वाच्यतां विहार्यालौकिकविभावशब्दवाच्यत्वं भजन्ते । तेभ्यश्च सुरते
दन्तधातादिभ्य इव सुखमेव जायते । अतश्च ‘लौकिकशोकहर्षादिका-
रणेभ्यो लौकिकशोकहर्षादयो जायन्ते’ इति लोक एव प्रतिनियमः ।
काव्ये पुनः ‘सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते’ इति निय-
माज्ञा कश्चिद्विषयः ।

कथं तर्हि हरिश्चन्द्रादिचरितस्य काव्यनाट्ययोरपि दर्शनश्रवणाभ्या-
मश्रुपातादयो जायन्त इत्युच्यते—

अश्रुपातादयस्तद्द्रुतत्वाच्चेतसो मर्ताः ।

तर्हि कथं काव्यतः सर्वेषाम्दीदृशी रसाभिव्यक्तिर्न जायत इत्यत आह—

णादिरसव्यञ्जककाव्यादिश्रवणादी प्रवृत्तः । सचेतनः सामाजिकः । अनुपपत्त्य-
न्तरमनिश्चाप्यन्तरम् । चरचरवस्तुजातं लोकस्वस्य संश्रयात् स्वभावात् ।
काव्यसंश्रयात् काव्यसंवन्धात् । सुखं सुखमेव सर्वेभ्यो लौकिकशोकहर्षनिमि-
त्तेभ्यः तर्हि करुणादीनां सुखमयत्वस्वीकारे । अश्रुपातादय इत्यादिना निश्चा-
सादिपरिग्रहः । द्रुतत्वाद् हर्षेण गलितप्रायत्वात् । परमत्वे वासनाया रमबोधहेतुत्वे

१. ‘करुणादि’ क. २. ‘स्यादित्यर्थ’ ग. ३. ‘ननु हर्षशोकादिप्रकारेणो हर्षशोकादय एव जायन्त इति व्याप्तिः, तत्पर्यं विभावादिभ्यः सुखोत्पत्तिरित्याह’ ग. ४. ‘अलौकिक’ इति नास्ति ग. पुस्तके. ५. ‘एव’ क पुस्तके नास्ति. ६. ‘अतश्च’ इति ग पुस्तके नास्ति. ७. ‘अपि’ क. ८. ग. पुस्तके. ८. ‘चेतसो कारिकाया’ अतश्चो द्रवीयायास्तुष्टेऽप्यश्रुपातादयो भवन्तीत्यर्थः इति व्याख्या. ९. ‘ननु’ कथं ग.

न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम् ॥ ८ ॥

वासना चेदानीं तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः । तत्र यद्याद्या न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपि स स्यात् । यदि द्वितीया न स्यात्तदा यद्वागिणामपि केषांचिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तत्र स्यात् ।

उक्तं च धर्मदत्तेन—

५ 'सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् ।

निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्यां समसनिभाः ॥' इति ।

ननु कथं रामादिरत्याद्युद्बोधकारणैः सामाजिकरत्याद्युद्बोध इत्युच्यते—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः ।

तत्प्रभावेण यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः ॥ ९ ॥

प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ।

शब्दव्यभिचारेण । प्रमाणमाह—न जायत इति । तदास्वादो रसास्वादः । रत्यादिवासना रत्यादितादात्म्येन प्रतीयमानां वासनाम् । मिलितयोरेव तयोः कारणत्वं दर्शयति—तत्रेति । श्रोत्रियो वंदिकः । स रसास्वादः । तद् रत्युद्बोधादर्शनम् । ननु श्रोत्रियादीनां प्राक्तनवासनासत्त्वे किं प्रमाणमिति चेत्, तदभावे प्रमाणासत्त्वेनैव तत्सिद्धेः । न च फलभाव एव तत्र मानमिति वाच्यम् । इदानींतनवासनाव्यतिरेकस्यैव फलभावप्रयोजकत्वोपगमेनोपपत्तौ तदभावस्य तत्प्रयोजकत्वकल्पनार्थो भ्रान्त्याप्यत्वात् । वस्तुतस्तु इदानींतनवासनार्था प्रमाणं नास्ति । मय रगाद्यन्यथानुपपत्तिरेव मानमिति वाच्यम् । तस्या रगादि प्रत्यजनकत्वादित्यावनताज्ञानादिनैव तत्सिद्धेः । रङ्गान्तः नृलयालमये । कुड्यं भित्तिः । निर्वासनानां काष्ठादि-वदस्यामुद्बोधो न जायत इत्यर्थः । रसबोधे साधारण्यमभिमानस्य कारणतां व्यपस्थापयितुमाशङ्कते—ननु कथमिति । रामादिरत्याद्युद्बोधकारणैरिति । सीतादिभिरित्यर्थः । सामाजिकरत्याद्युद्बोधैः सामाजिकरत्यादिवासनोद्बोधः । तेषां तं प्रत्यसाधनत्वादित्यर्थः । सामाजिकानां सजातीयरत्यादिमाजालेनापि नायकाद्यभेदावगाहिरसप्रदोपपत्तौ वक्ष्यमाणसमाधानमकिंचित्करमित्यतो अनुप्येतामाजिकानां सुदुर्जनं प्रति वीरालम्बनोत्साहोद्बोधोऽलन्तासंगवीति तमुपपादयितुं वीररसं दर्शयन्समाधत्ते—व्यापारोऽस्तीति । साध्रयं साधारणं नायकसामाजिकसंबन्धिघनं करोति उभयसंबन्धित्वेन प्रतिपादयतीति साधारणीकृतिः । तत्प्रभावेण तत्त्वन्यसाधारण्यमभिमानेन । यस्य रामस्य । पाथोधिप्लवनादयः समुदनिग्रहादयः । आदिनां रावणिग्रहादिग्रहणम् । प्रमाता सामाजिकः । तदभेदेन रामाभेदेन । स्वात्मानं

ननु कथं मनुष्यमात्रस्य समुद्रलङ्घनादावुत्साहोद्बोध इत्युच्यते—

उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः ॥ १० ॥

नृणामपि समुद्रादिलङ्घनादौ न दुष्यति ।

रत्यादयोऽपि साधारण्येनैव प्रतीयन्त इत्याह—

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते ॥ ११ ॥

रत्यादेरपि स्वात्मगतत्वेन प्रतीतौ सभ्यानां श्रीडातङ्गादिर्मवेत् ।
परगतत्वेन त्वरस्यतापातः ।

स्वम् । 'स्त्वोपवासादिभिरप्युदमैः स्वरूपमस्यानवलोक्यन्तम् । भूमेदमीमाननविम्ब-
मब्धि विव्याध बाणत्रितयेन रामः ॥' अस्य श्रीरामस्य । अत्र श्रीरामोत्साहस्य समुद्र
भालम्बनविभावः । स्वरूपानवलोकनमुदीपनविभावः । समुद्रवेधनमनुभावः । भूमे-
दव्यङ्ग्यः, कोषो' व्यभिचारिभावः । एषु साधारण्याभिमानान्मनुष्यसामाजिकानामपि
'रामोऽहं क्रुद्धः स्वरूपानवलोकनोदीपितसमुद्रनिग्रहविषयकोत्साहवान्' इति प्रतिपत्ति-
रुपपद्यते । अत्र ज्ञानोपनीतस्य श्रीरामोत्साहस्याभेदेन स्वादनाख्यव्यापारेण स्ववास-
नैव सामाजिकैरास्त्रायते । न च 'यस्य हनूमतः पाथोधिप्लवनादयः समुद्रतरणादयः' इति
यथाश्रुतमेव सम्यगिति वाच्यम् । तादृशोत्साहस्य वीररसत्वाभावेन प्रकृतानुपयोगित्वात्
युद्धदानदयाधर्मोत्साहस्यैव वीररसत्वाङ्गीकारात् । नायकसामाजिकभेदबोधमुपपाद्य
वासनोत्साहाद्यभेदबोधमुपपादयितुमाह—**कथमिति ।** मनुष्याणां तादृशोत्साहाद्य-
संभवेन साजाल्येनाभेदप्रतीतिर्न भवतीति सूचनाय मनुष्यमात्रस्येति । लङ्घनं निग्रहः ।
साधारण्याभिमानत इति । समुद्रलङ्घनोत्साहादिः मम रामादेशेति साधार-
ण्यप्रहादित्यर्थः । न दुष्यति उपपद्यते । ननु ज्ञानप्रत्यासत्त्या संनिकृष्टस्योत्साहादेः
साक्षादेव सामाजिके प्रकारत्वमस्तु किं वासनायाः प्रस्तरत्वाङ्गीकारेणेति चेत् । न ।
वासनांशे साक्षात्कारत्वप्रमात्वानुपपत्तेः । लौकिकप्रत्यक्षस्यैव साक्षात्कारत्वाङ्गीकारात्
'पुण्यवन्तः प्रमिष्यन्ति योगिवदसंसर्ततिम्' इत्यादिप्राचीनव्यवहारेण 'धर्मिणि सर्व-
मभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः' इत्युक्तदिशा रसबोधस्य वासनांशे प्रमात्वमङ्गीक्रियते ।
'एतदभिप्रायेणैव पूर्वकारिभार्या प्रमातृपदोपन्यासः । स्थायिभावानां साधारण्यप्रतीती
प्रतिबन्धकभावमुपपादयितुमाह—**रत्यादयोऽपीति ।** आदिना उत्साहादिपरि-
ग्रहः । तद्वद् विभावादिवत् । उपपादयति—**रत्यादेरपीति ।** आत्मगतत्वेन
आत्ममोत्रसंबन्धित्वेन । आतङ्कः शङ्का । परगतत्वेन नायकमात्रसंबन्धित्वेन
प्रतीतावित्यन्वयः । अरस्यतापातो निरुक्तसाक्षात्कारविषयत्वाभावापत्तिः । एवं
च रत्यादिर्मवेति नायकस्यैवेति संबन्धविशेषस्वीकाराप्यवसायस्य प्रतिबन्धक-
स्याभावः सूचितः । एतदुपकरणं नैव गमेति नैव नायकस्येति संबन्धविशेषपरिग्रहा-
प्यवसायस्याप्यभावो बोध्यः । विभावादौ साधारण्यप्रतीतिं प्रतिबन्धकभावप्रदर्श-

१. 'रत्यादेः—' इत्यादि "इत्याह" इत्यन्तः पाठः मनुष्यके नास्ति. २. 'स्वात्मगतत्वेन' घ.

विभावादयोऽपि प्रथमतः साधारण्येन प्रतीयन्त इत्याह—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।

तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥ १२ ॥

ननु तथापि कथमलौकिकत्वमेतेषां विभावादीनामित्युच्यते—

विभावादिव्यापारमलौकिकमुपेयुषाम् ।

अलौकिकत्वमेतेषां भूषणं न तु दूषणम् ॥ १३ ॥

आदिशब्दादनुभावनसंचारणे । तत्र विभावनं रत्यादेर्विशेषेणास्वा-
दाङ्कुरणयोग्यतानयनम् । अनुभावनमेवमूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव
रसादिरूपतया भावनम् । संचारणं तथाभूतस्यैव तस्य सम्यकारणम् ।

नैनोपपादयति—विभावादयोऽपीति । आदिना अनुभावव्यभिचारिभावयोर्ग्र-
हणम् । प्रथमतो रसबोधात्प्राक् । परस्य नायकस्यैव, न परस्य नैव नायकस्य, ममेति
ममैवेति, न ममेति नैव ममेति, तदास्वादे रसास्वादे भाविनि सति परिच्छेदः संव-
न्धविशेषस्वीकारपरिहाराध्यवसायः । तथा च तादृशाध्यवसायस्य प्रतिषन्धकस्या-
भावेनोपहितः साधारणीकरणाख्यव्यापारः सामाजिकानां सीतादयो मम रामादे-
त्येति साधारणप्रत्ययमभ्याहृतमेव जनयतीति भावः । लौकिकानामपि विभावादीना-
मलौकिकत्वं धावनोपायं साधयितुमाशङ्कते—नन्यति । तथापि साधारणीकृत्या-
ख्यव्यापारस्वीकारेऽपि । एवं रसोत्पत्त्यनुगुणमेतेषां विभावादीनाम् । नन्वेतेषामलौ-
किकत्वं रसोत्पत्त्यनुगुणमेव न त्वनुगुणमलौकिकफलसिद्धेरर्हश्चरत्वादत आह—भूष-
णमिति । 'अलौकिकरससिद्धेः' इति शेषः । भूषणमनुगुणम् । दूषणं विगुणम् ।
तथा चालौकिकालौकिकफलसिद्धिर्मास्तु, विभावादीनां काव्यनिबन्धनादलौकिकत्वे
सति तेभ्योऽलौकिकरसोत्पत्तिः सामाजिकानामनुभवसिद्धेवेति दुरपलप एवालौकि-
कयोः कार्यकारणभाव इति भावः । रसस्यालौकिकत्वमुपपादयिष्यते । विभावादि-
पदव्युत्पत्तिलभ्यमेव विभावादिस्वरूपमाह—तवेति । विशेषेणेति । विभावन-
पदघटितस्य विशब्दस्यार्थः । अतिशयेनेति तदर्थः । अङ्कुरणमङ्कुरसदृशीभवनं सूक्ष्म-
रूपेणाविर्भावः । एवं च रत्यादेः सूक्ष्मास्वादरूपेण य आविर्भावस्तच्छोक्तप्रापणमिति
समुदितार्थः । प्राप्त्यर्थचौरादिक'भू'धातुना विभावनपदसिद्धिरवधेया । एवंभूतस्य
सूक्ष्मास्वादरूपेणाविर्भूतस्य । समनन्तरमिति अनुभावनपदघटितस्यानुशब्दस्यार्थः ।
रसादिरूपतया शृङ्गाररूपतया । यद्वा रत्यादेरेत्यादिपदेन देवादिविषयरत्या-
दीनामपि परिग्रहः । रसादीत्यादिपदेन भावादिपरिग्रहः । एतेन भावादीनामपि

१. 'प्रथमतः' क-ख पुस्तकयोर्नास्ति. २. 'नन्यति' उदात्त 'न' पुस्तके नास्ति. ३. 'तथापि' क-
पुस्तके नास्ति. ४. 'आदि-' इत्यादि 'रने' इत्यन्तः पाठो ग पुस्तके नास्ति. ५. 'तस्य' ग पुस्तके
नास्ति. ६. 'परिपोषयितव्य' इत्यधिकं ग पुस्तके. ७. 'अनुभव' पुस्तकान्तरे. ८. 'दृष्टचरणवात्'
पुस्तकान्तरे.

विभावादीनां यथासंख्यं कारणकार्यसहकारित्वे कथं त्रयाणामेव
रसोद्बोधे कारणत्वमित्युच्यते—

कार्यकारणसंचारिरूपा अपि हि लोकतः । ३

रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येव ते मताः ॥ १४ ॥

ननु तर्हि कथं रसास्वादे तेषामेकः प्रतिभास इत्युच्यते—

विभावादिजन्यत्वमुक्तं भवति । भावनमुत्पादनम् । सूक्ष्मास्वादरूपेणाविर्भूतस्यापि
तस्य रसव्यपदेशो नास्ति, किं त्वनुभावपरिपुष्टस्यैव । नत्वङ्कुरे वृक्ष इति व्यप-
देशः, किंतु काण्डपल्लवोद्गम एव । तथाभूतस्य रसादिरूपेणोत्पन्नस्य, तस्य
रसादेः सम्यगर्थं चारणमास्वादनपात्रीकरणम् । व्यभिचारिभावेनात्यन्तपरिपुष्टस्यैव
रसादेरत्यन्तास्वादनमिति भावः । एवं चास्वादपरिपोषातिपरिपोषजनकत्वेनैवानु-
भावसंचारिभावयोरास्वादजनकत्वमिति भावः । विभावाः कारणानि । अनु-
भावाः कार्याः (याणि) संचारिणः । सहकारिण इति क्रमः । ननु सहकारिपदं
कारणविशेषपरं कथं रसादेः कार्यविशेषाणां निर्वेदादिसंचारिभावानां सहकारि-
त्वमुपपद्यते । उच्यते—साधनस्यानुमानवादिमते स्वकारणानुमितौ मनसः सह-
कारितया लोके तथाव्यपदेशात् । ननु तथापि निर्वेदादीनां रसादिकार्यत्वे नानु-
भावत्वमेव युज्यते कथं संचारित्वमिति चेत् । न । तेषां व्यापारवैलक्षण्येन फल-
वैलक्षण्यात्, व्यपदेशवैलक्षण्यस्योचितत्वात् । संचारिरूपाः सहकारिरूपाः । लो-
कतः लोके कारणान्येव । इति निरुक्तव्यापारत्रयबलादस्वादेरास्वादरूपत्वेनोत्पाद-
नादिति भावः । ननु 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति मुनिव-
चनाद्विभावादीनां समुदितानामेव कारणत्वं वाच्यम् । तथा सति कारणान्येवेति
बहुवचनमनुपपन्नम् । तादृशस्थले एकवचनस्यैव युक्तत्वात्, तृणारणिन्यायेन प्रत्येकं
कारणताप्रत्ययप्रसङ्गाच्च । अत एव काव्यप्रकाशे—'शक्तिर्निपुणता लोकसाक्षात्का-
व्याद्यवेक्षणात् । काव्यहृदिक्रियाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥' इत्यत्र 'त्रयः समुदिता
हेतुर्न तु हेतवः' इत्युक्तम् । उच्यते—कारणपदस्यैकधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपित-
कारणतापरत्वे द्वेकवचनम् । कारणतामात्रपरत्वे तु तादृशस्थलेऽपि बहुवचनं साधु ।
प्रकृते रसादेः कार्यभूतयोरप्यनुभावव्यभिचारिभावयो रसरूपतोत्पत्तौ कारणत्वमिति
कारणतामात्रे तात्पर्यम् । न तु तादृशकारणतायाम् । काव्यप्रकाशनिर्वचनस्य तु
कार्यकारणभावप्रादुर्भावात् कार्यतावच्छेदकेऽपि तात्पर्यमिति । रसं प्रति विभावा-
दीनां व्यञ्जनाजन्यैकज्ञानविषयत्वे सत्येव कारणत्वमुपपादयितुमाह—ननु तर्ह्येति ।
तेषां कारणीभूतविभावादीनाम् । एकप्रतिभास एकरसरूपतया परिणामः ।

१. 'ननु विभावादीनां प्रत्येकं कारणकार्यसहकारिरूपाणां रसं प्रति कथं कारणत्वमित्युच्यते' ग.
२. 'अपि' ख. ३. 'कारणकार्य' ख. ४. 'कारण' घ. ५. नन्वित्यतः प्राक् तदुक्तं पदमिहोक्तम्—
'विभावैरनुभावैश्च संचारिवैकव्यभिचारिणि' । आनीकमात्रः स्वापत्वं रसाधीभावो रसः रसता ॥ इत्य-
धिकं ग-मुल्लेखे.

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते ।

ततः संमिलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् ॥ १५ ॥

प्रपाणकरसन्यायाच्चर्यमाणो रसो भवेत् ।

यथा खण्डमरिचादीनां संमेलनादपूर्वं इव कश्चिदास्वादः प्रपाण-
करसे संजायते । विभावादिसंमेलनादिहापि तथेत्यर्थः ।

ननु यदि विभावानुभावव्यभिचारिभिर्मिलितैरेव रसस्तत्कथं तेषा-
मेकस्य द्वयोर्वा सद्भावेऽपि सै स्यादित्युच्यते—

सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत् ॥ १६ ॥

हृदित्यन्यसमाक्षेपे तथा दोषो न विद्यते ।

अन्यसमाक्षेपश्च प्रकरणादिवशात् ।

यथा—

‘दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयोः

संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।

विभिन्नशरणाणां विभिन्नकार्यतया परिणामस्वैवीचित्यादिति भावः । विभावादेरती-
तस्यापि रसास्वादकारणत्वकथनं तज्ज्ञानाभिप्रायेणेति ध्येयम् । प्रतीयमानः प्रत्ये-
कमिति । प्रत्येकं विभावादौ साधारण्यप्रतीतिरित्यभिप्रायेणोदम् । नन्वन्तरा प्रत्येकं
प्रतीत्यनन्तरं कल्पनीयं प्रमाणाभावात् । ततः प्रत्येकप्रत्ययानन्तरं संवलितः व्यञ्ज-
नया विशिष्टवैशिष्ट्यावगाह्येकज्ञानरूपतां प्राप्तः प्रपाणकरसन्यायात् प्रपाणकरस-
इव चर्यमाणः । स्वाभिज्ञाहादमयचर्वणविषयः प्रपाणकः । पक्षे विलक्षणरसवत्ता-
योपलभ्यमानो रसश्चिदात्मकः पदार्थः । उपमानोपमेययोश्चर्यमाणत्वमुपपादयति—
यथेति । खण्डमरिचादीनामित्यादिपदेनामिक्षाकर्पूरयोर्ग्रहणम् । यथा खण्डादिवत्तुष्ट-
यमेलकाज्जायमाने प्रपाणकरसवे मायुर्यादिविलक्षणो विशिष्य निर्देष्टुमशक्य आस्वादो
रसाख्यगुणविशेष इव विभावादिवत्तुष्टयमेलकात्तया जायमाने शृङ्गारादिरसेऽप्याहादः
संजायत इत्यन्वयः । ‘देवक्यां देवरूपिण्या विष्णुः सर्वगुहाशयः । आविरसीद्यथा
प्राच्या दिशीन्दुरिव पुष्कलः’ इत्यादाविव सप्तम्यन्तप्रथमान्तपदार्थयो रूपमाद्वयमुप-
स्थापयतीत्येवशब्दयोर्न पौनरुक्त्यम् । अत एव रसास्वादपदयोः श्लिष्टत्वादुपमा-
नोपमेयभावः । स स्यात् रसः स्यात् । समाक्षेपे व्यञ्जनया बोधे संति । दोषो
रसानुपपत्तिः । प्रकरणादिवशात् प्रत्यावादिर्विशिष्यात् । दीर्घाक्षमिति । बाहू

१. ‘प्रतीयमाने’ ग. २. ‘यदि’ तत्पुस्तके नास्ति. ३. ‘रसः’ क.ख. ४. ए पुस्तके तु- ‘विषय-
विमलितान्मुपमंभेयं मयुकरकोटिलवृजितैर्दिवा भी । चरणिस्त्रिभङ्गकुरादृष्टा मणतिपरे दयिने
मधीद मुत्थे ॥’ आलम्बनोदीपनविभावमानवर्णनेऽपि प्रसीदेति । पदसामर्थ्यात्कटाक्षविधेयपुत्राशेषादीना-
मनुभावादीनां मुत्थे इत्यतो गार्ग्यन्यासादीनां च व्यभिचारिणमौचित्यादेवाक्षेपः । इत्युदाहरणं वर्तते.

मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादानुदग्राहुली

छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः सृष्टं तथास्या वपुः ॥'.

अत्र मालविकामग्निलपतोऽग्निमित्रस्य मालविकारूपविभावमात्रवर्णनेऽपि संचारिणामौत्सुक्यादीनामनुभावानां च नयनविस्फारादीनामौचित्यादेवाक्षेपः । एवमन्याक्षेपेऽप्यूह्यम् ।

अनुकार्यगतो रस इति वदतः प्रत्याह—

पारिमित्यालौकिकत्वात्सान्तरायतया तथा ॥ १७ ॥

अनुकार्यस्य रत्यादेस्तद्गोधो न रसो भवेत् ।

सीतादिदर्शनादिजो रामादिरत्याद्युद्गोधो हि परिमितो लौकिको नात्यकाव्यदर्शनादेः सान्तरायश्च, तस्मात्कथं रसरूपताभियात् । रसस्यैतद्धर्मत्रितयविलक्षणधर्मकत्वात् ।

नताविति स्त्रीणां नतस्फुम्भत्वं प्रशस्तमिति भावः । संक्षिप्तमविवर्तिणं स्त्रीणामविवर्तिणं वक्षस्तत्त्वं गुण इति भावः । प्रमृष्टे लिप्ते । पार्थास्त्रामलक्ष्यत्वादियमुत्प्रेक्षा । छन्दोऽभिप्रायः । मनसो नर्तयितुं क्षपलीकर्तुः कामस्य । अस्या मालविकायाः ॥ औचित्याद्वाच्यस्य विभावस्य वैशिष्ट्यात् । एवमिति । अन्याक्षेपे विभावाक्षेपे । यथा—‘परिमृदितमृणालीम्लानमर्जं प्रवृत्तिः कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु । कलयति च हिमाशोर्निष्कलहस्य लक्ष्मीमभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः ॥’ अत्र विप्रलम्भशृङ्गारस्यानुभावमात्रस्याज्ञसौष्ठवादेः सत्त्वम् । तदालम्बनविभावस्य, तथेष्टादेरहीपनविभावस्य, अभिचारिभावस्य विपादादेवाक्षेपेण व्यमः । अनुकार्यो नायकः । पारिमित्यानायकमात्रगतत्वेनाल्पत्वात् । रसस्य तु नानासामाजिकगतत्वेन तदसंभवादिति भावः । लौकिकत्वादिति । रसस्यालौकिकत्वमलौकिकविभावादिजन्यत्वाद्वाच्यमाणप्रकारेण चावगन्तव्यम् । सान्तरायतया नात्यकाव्यदर्शनभ्रवणप्रतिकूलया । तस्मात्पारिमित्यादित्रयसंबन्धात् । पारिमित्यादीनां रसभेदव्याप्यत्वमुपपादयति—रसस्येति । एतदिति पारिमित्यादीत्यर्थः । विलक्षणत्वं च तदभा-

१ वदत इति । मृष्टोल्लयादीन् ॥

१. ‘अनुकार्यो रामादि’, तदन्तो रत्यादिना परिमित’, न अलौकिकस्य, बालान्तरभूतत्वात्सान्तराय । स कथमपरिमितलौकिकाद्युद्गोधो रसता गच्छेत् ।’ इति पाठान्तरं ग पुस्तके. २. ‘दित’ ख. ३. ‘तत्’ ख. ४. ‘अत्र संयोगशृङ्गारालम्बनविभावस्य नायकस्य तथेष्टादेरहीपनविभावस्य चाक्षेपेण व्यमः’ इति पुस्तकद्वये पाठान्तरम्.

अनुकर्तृगतत्वं चास्य निरस्यति—

शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः सरूपताम् ॥ १८ ॥

दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत् ।

किं च ।

काव्यार्थभावेनायमपि सम्यपदास्पदम् ॥ १९ ॥

यदि पुनर्नटोऽपि काव्यार्थभावनया रामादिस्वरूपतामात्मनो दर्शयेत्
तदा सोऽपि सम्यमप्य एव गण्यते ।

नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः ।

यो हि ज्ञाप्यो घटादिः स सन्नपि कदाचिदज्ञातो भवति न ह्ययं
सथा प्रतीतिमन्तरेणाभावात् ।

व्याख्यात्वमेव । एवं च यदर्थभावव्याप्यो यद्वृत्तिधर्मस्त्वदर्थस्त्वद्व्याप्य इति
नियमः संपद्यते । यथा—पटवृत्तिधर्मः पटव्यं घटत्वरूपधर्मभावव्याप्यो भवति,
घटत्वधर्मोऽपि पटभेदव्याप्यो भवति । यथाश्रुतं तु न सम्यक् । तथाहि—यदर्थो
यद्वृत्तिधर्ममिदंस्त्वदर्थस्त्वद्व्याप्य इति नियमो नोपपद्यते । घटत्वं घटवृत्तिधर्मान्त-
रविलक्षणं न तु पटभेदव्याप्यमिति व्यभिचारात् । यदि तु यद्वृत्तिव्यावृत्तिप्रति-
योगिताको भेदो विवक्ष्यते तदा नायं दोष इत्यवधेयम् । अनुकर्तृगतत्वं नटवृ-
त्तित्वम् । अस्य रसस्य । गुरुतो ग्रहणं शिक्षा । शिक्षितार्थस्य मुहुरनुष्ठानेन संस्का-
रुतिशयोऽभ्यासः । मानपदेन काव्यार्थभावनामव्यवच्छेदः । अयमपि नर्तकोऽपि ।
सम्यपदास्पदं सम्यपदवाच्यः । रसस्य स्वप्रकाशत्वं पर्यवसाययितुं ज्ञानान्तरप्रा-
प्तत्वं निरस्यति—नायमिति । अयं रसो ज्ञाप्यो जन्वज्ञानविषयः, रसस्य जन्य-
ताभावो निरूपयिष्यते, नातो वाचः । ईश्वरज्ञानविषयत्वस्य केवलान्वयितया
साध्याप्रसिद्धिरतो जन्येति । स्वसत्तायां स्वावस्थाने । पञ्चम्ये सप्तमी । प्रतीतिं
विना स्वावस्थानस्याभावादित्यर्थः । अत्र साध्यसाधनयोः पक्षमात्रवृत्तित्वेनान्वयद-
धान्ताभावादन्वयव्याप्तिप्रहो न संभवतीति व्यतिरेकव्याप्तिप्रहोराये व्यतिरेकदृष्टा-
न्तमाह—यो हीति । अत्र वीप्सा वेदितव्या । सन्नपि अवस्थितोऽपि । कदा-
चित् ज्ञानसामान्यभावदशायाम् । तथा च यो यो ज्ञाप्यः स ॥ प्रतीतिं विना कदा-
चिदवतिष्ठते यथा घटादिरित्यभिप्रायः । अत्र ज्ञानाभावकालीनावस्थानाभाव एव
हेतुः पर्यवसन्नः । ज्ञानं चात्र स्वविषयकमीश्वरज्ञानातिरिक्तमवगन्तव्यम् । नातो

१ अन्विति । न्यायरीत्या नात्यशास्त्रफक्किा योजयता श्रीशङ्करादीनां भवे
रसस्यानुकर्तृगतत्वम् । इह फक्किरेत्युक्तिस्तु भवीनलेखाभिप्रायेण । केचन प्रकृतं नात्य-
शास्त्रोक्तगर्भं सत्यत्वेन व्यवहरन्ति तन्निरासार्थम् । एतच्छास्त्रं तु पक्षगपात्मकम् ॥

यस्मादेयं विभावादिसमूहालम्बनात्मकः ॥ २० ॥ २

तस्मान्न कार्यः—

यदि रसः कार्यः स्यात्तदा विभावादिज्ञानकारणकं एव स्यात् । ततश्च रसप्रतीतिकाले विभावादयो न प्रतीयेरन् । कारणज्ञानतत्कार्यज्ञानादीनां युगपददर्शनात् । नहि चन्दनस्पर्शज्ञानं तज्जन्यसुखज्ञानं चैकदा संभवति । रसस्य च विभावादिसमूहालम्बनात्मकत्वयैव प्रतीतेर्न विभावादिज्ञानकारणकत्वमित्यभिप्रायः ।

नो नित्यः पूर्वसंवेदनोज्झितः ।

हेत्वप्रसिद्धिः । शाप्यत्वाभावस्य साध्यस्य व्यतिरेको शाप्यत्वमेव निरुक्तहेतुव्यतिरेकश्च ज्ञानाभावशालीनावस्थानं तयोः सहचारप्रहेण साधने साध्यव्याप्तिं ग्राहयित्वा पक्षधर्मत्वं ग्राहयति—न ह्ययमिति । अयं रसः । तथा सन्नपि न कदाचिदज्ञातः । तत्रापि हेतुमाह—प्रतीतिमिति । अन्तरेण विना । रसस्य कार्यमुपयुक्तज्ञानान्तरवैलक्षण्यत्वात्कार्यत्वाभाव साधयति—यस्मादिति । एष रसः विभावादिसमूहालम्बनात्मकः यथासंभवविशेषणविशेष्यभावापन्नविभावादिसमूहविषयकः । 'रसः कार्यत्वाभाववान् सुखमयत्वे सति विभावादिसमूहविषयकत्वात्' इत्यनुमानम् । रससमानाकारे व्यञ्जनाजन्यज्ञाने व्यभिचारवारणाय सत्यन्तं हेतुविशेषणम् । बाधोत्सारकं तर्कमाह—यदीति । रसप्रादुर्भावप्राक्क्षणे विभावादिज्ञानस्यैव संभवात्कारणकत्वमेवोपपद्यत इत्येवकारेण । ननु कार्यत्ववति घटादौ विभावादिज्ञानकारणकत्वं नास्तीति मूलशैथिल्यमिति चेत् । न । विभावादिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानत्वसमानाधिकरणकार्यत्वस्यापाद्यस्य विवक्षणीयत्वाद् रससमानाकारे व्यञ्जनाजन्यज्ञानादायापायापादकोव्याप्तिग्रहः । अत्रेष्टापत्तौ दोषमाह—ततश्चेति । रसस्य विभावादिज्ञानकारणकत्वात्प्राकारणत्वेत्यर्थः । रसप्रतीतिकाले रसप्रतीतौ न प्रतीयेरन् न विषयाः स्युः । ज्ञानेति । ज्ञायमानकारणज्ञायमानतज्जन्यसुरयोर्युगपददर्शनात् एकसंविदिषयत्वाददर्शनात् । एतदेव दृष्टान्वेनोपपादयति—नहीति । चन्दनस्पर्शतज्जन्यसुखं चैकज्ञानविषयो न भवतीत्यर्थः । आपतेरनुगुणं बाधं दर्शयति—रसस्य चेति । आनन्दरूपस्य विभावादिसमूहालम्बनात्मकप्रतीतिरूपस्यैत्यर्थः । एवं च विभावादिज्ञानकारणकत्वरूपस्यापाद्यस्याभावे सिद्धे तेनैव कार्यत्वरूपविशेष्यभाववृत्तौ निरुक्तापादकस्य विशिष्टाभावः सिध्यतीति भावः । तदुक्तं काव्यप्रकाशटीकाकृता चण्डीदासेन—कार्यं गुणं स्वकारणे सह नैकस्यां संविद्यभासमानं दृष्टम् । एतच्च गुणं विभावादिसंवलितं ग्राहये, तस्याच्च 'कार्यम्' इति । एवं च विभावादिज्ञानस्य रसं प्रति यत्कारणत्वमुक्तं तत्पूर्ववर्तित्वमात्रेणोपचारिकमिति ध्येयम् । रसस्य नित्यत्वाभावमप्युपपादयति—नो नित्य इति । एष इत्य-

असंवेदनकाले हि न भासोऽप्यस्य विद्यते ॥ २१ ॥

न खलु नित्यवस्तुनोऽसंवेदनकालेऽसंभवः ।

नापि भविष्यन्साक्षादानन्दमयप्रकाशरूपत्वात् ।

कार्यज्ञाप्यविलक्षणभावान्नो वर्तमानोऽपि ॥ २२ ॥

विभावादिपरामर्शविषयत्वात्सचेतसाम् ।

परानन्दमयत्वेन संवेद्यत्वादपि स्फुटम् ॥ २३ ॥

नैर्निर्विकल्पकं ज्ञानं तस्य ग्राहकमिष्यते ।

नृपज्यते । पूर्वसंवेदन विभावादिज्ञानात् प्राप्तज्ञानं तद्वद्विहित इत्यर्थः । यदि रसो नित्य स्यात्तदा विभावादिज्ञानात्प्रागपि ज्ञायेतेति बाधोत्तरात्कारणः । ननु विभावादिज्ञानं तद्ग्राहकमिति प्राचाले कथं रस प्रतीयतेत्यतो दोषान्तरमाह—असंवेदनेति । अस्य रसस्य संवेदनशरीरत्वादसंवेदनकाले सुतरामसंभव इति भावः । साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्राहकं साध्याभावसाधनाभावयो सहचारं दर्शयति—न खल्विति । रसस्य भविष्यत्त्वाभावं साधयति—नापीति । एष इत्यनुपज्यते । साक्षादिति । साक्षात्कारविषयानन्दबहुलप्रकाशरूपत्वादित्यर्थः । लौकिकप्रत्यक्षे विषयस्य कारणत्वाज्ज्ञोकारेण भविष्यतस्तदसंभवादिति भावः । रसस्य वर्तमानत्वाभावमपि साधयति—ज्ञाप्येति । ज्ञाप्यकार्येति प्रामादिक पाठं आर्याषट्कगणभङ्गप्रसङ्गात् । कार्यज्ञाप्येत्येव पाठः सम्यक् । एवं वर्तमान इत्यत्र नशब्द प्रामादिक, नोशब्दः सम्यक् । वर्तमानस्य वस्तुन कार्यज्ञाप्याभ्यन्तरत्वनियमादिति भावः । रसग्रहस्य निर्विकल्पकज्ञानस्वरूपत्वाभाव साधयति—विभावादीति । परामर्शोऽन विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ग्रहः । तद्विषयत्वात्तन्मात्रविषयत्वात् । परानन्देति । परमानन्दत्वप्रकारकसंवेदनविषयत्वादित्यर्थः । निर्विकल्पकं ससर्गानवगाहि । भासमानससर्गप्रतियोगित्वरूपप्रकारत्वस्यापि ससर्गग्रहमन्तरेणासंभवादिति भावः । तस्य रसस्य । ग्राहक विषयतानिरूपकम् । रसग्रहो निर्विकल्पकरूपः

१. नेति । भावरूपवालादिशून्य निर्विकल्पकम् । वस्तुन सविकल्पकम्, तत्र रस-
भेदेन गृह्यत इत्याशङ्क्या नान्यतरेण गृह्यत इति श्रुतस्यापेक्षितम् ॥

१. आर्येय इतिप्रसङ्गेषु पदभेदेद्वयसंभवेन सचरूपता मौल्य २. 'पूर्वेति । संवेदनात्पूर्व
प्राग्वृत्ति पूर्वसंवेदन पूर्वपरनिर्देशात्मानवृत्तिवशात्तेन । रसस्य सद्रिक्त्यनैतत्तद्वैभोमित्यनित्यत्वाभावात्
सिध्यतीति भावः । ननु साध्यवृत्ति यत्संवेदन तद्वद्विहित इत्यर्थः । रसस्योत्पत्तेः प्रागुक्तित्वादि-
समये स्वप्राग्वृत्तिसंवेदनविषयत्वाभावस्य हेतोः स्वरूपासिद्धेः, निजाया ग्राहकत्वात्संभवेन निरुक्तहेतोत्तम
सङ्गादादप्यभिचारात् । नापि पूर्वमतीत यत्संवेदन तद्विषयत्वमात्रो हेतु रससंवेदनस्यापि । अतीतत्वस्य
मयेनातीतत्वसंवेदनविषयत्वस्य केवलान्वयपितृया तस्यापसिद्धेः । ननु रसस्य नाशोत्तरमव्युपनीतमागादि
संभवात्संवेदनमागवृत्तित्वाभावस्य हेतोः स्वरूपासिद्धत्वमत्र माह—असंवेदनेति । इति पुस्तकान्तरे
१. 'रस' इत्यादिः 'अवेद्य' इत्यन्तः पाठः पुस्तकान्तरं न दृश्यते.

तथाभिलाषसंसर्गयोग्यत्वविरहाच्च सः ॥ २४ ॥

सविकल्पकसंवेद्यः—

सविकल्पकज्ञानसंवेद्यानां हि वचनप्रयोगयोग्यता । न तु रसस्य तथा ।

साक्षात्कारतया न च ।

परोक्षस्तत्प्रकाशो नापरोक्षः शब्दसंभवात् ॥ २५ ॥

तत्कथय कीदृगस्य तत्त्वमश्रुतादृष्टपूर्वनिरूपणप्रकारस्येत्याह—

तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम् ।

तत्किं पुनः प्रमाणं तस्य सद्भाव इत्याह—

प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम् ॥ २६ ॥

इत्यर्थः । विभावादिनिष्ठप्रकारतायाः परमानन्दत्वंनिष्ठप्रकारतायाश्च निरूपकस्य रस-
प्रहस्य निष्ठप्रकारात्मकनिर्विकल्पकस्वरूपत्वं न संभवतीति भावः । एतेन स्वमात्र-
प्राप्तस्य रसस्य निर्विकल्पकज्ञानरूपत्वमपि न सिध्यतीति ध्येयम् । रसप्रहस्य सवि-
कल्पकज्ञानस्वरूपत्वाभावमपि साधयति—तथेति । अभिलाषो वचनं तस्य संसर्गः
प्रयोगः । तद्योग्यत्वाभावादित्यर्थः । स रसः सविकल्पकसंवेद्यः संसर्गावगादिज्ञान-
विषयः । प्रागुक्तहेतुद्वयसंगतैरस्य सविकल्पकज्ञानविषयत्वमस्त्येव । किंतु सविक-
ल्पकवेद्यान्तरादस्य वैलक्षण्यसाधने तात्पर्यं वेदितव्यम् । स्वप्रकाशकत्वेनापि
ज्ञानान्तरमाह्लात्सविकल्पकादस्य वैलक्षण्यं बोध्यम् । शुद्धनये तु—सविकल्पकज्ञानानां
स्वेनैव प्रहृ इति नैतद्वैलक्षण्यम् । साक्षात्कारतयेति । स्वादनाख्यव्यापारस्य
मनःसंनिकर्षत्वाङ्गीकारेण तज्जन्यत्वादिति भावः । परोक्षः प्रत्यक्षविलक्षणः ।
तत्प्रकाशो रसप्रहो नापरोक्षः नापि प्रत्यक्षरूपः । शब्दसंभवात् काव्यजन्य-
विभावादिज्ञानजन्यत्वनियमात् । अनेन प्रत्यक्षान्तरवैलक्षण्यमेव साधितं न तु प्रत्य-
क्षभिन्नत्वम् । प्रागुक्तविरोधात् । अस्य रसस्य तत्त्वं यायार्थम् । अश्रुतोऽदृष्ट-
पूर्वश्च निरूपणप्रकार इतरभेदानुमापको घर्मे स्वभावो यस्य तस्येत्यर्थः । तस्मा-
दुपदर्शितलौकिकज्ञानानन्दवैलक्षण्यात् । सत्यमित्येवकारणं । अलौकिक एवेत्यर्थः ।
अन्यत्राश्रयणदर्शनं चालौकिकवस्तुसिद्धौ गुण एव न तु दोष इति भावः । तदु-
क्तम्—‘अलौकिकसिद्धेर्भूषणमेव न तु दूषणम्’ इति । विदुषां चर्वणेत्यन्वयः ।
अत्र रसे । स्वाभिन्ने चर्वणास्वरूपे । तदुक्तम्—‘चर्वणैव भगवती स्वसंवित्स्वस्व-

1. तथेति । तथेत्यादि सविकल्पकसंवेद्य इत्यनेनान्वेति । आस्तादे ज्ञानान्तरासंभ-
वाद्रसमात्रविषयिण्यां चर्वणायां नामरूपाशुद्धेसाभावाच्च न सविकल्पकत्वपक्षोऽपि संभ-
वतीति तात्पर्यम् ॥

चर्वणा आखादनम् । तच्च 'खादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः' इत्युक्तप्रकारम् ।

ननु यदि रसो न कार्यस्तत्कथं महर्षिणा 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति रक्षणं धृतमित्युच्यते—

निष्पत्त्या चर्वणस्यास्य निष्पत्तिरुपचारतः ।

यद्यपि रसामिन्नतया चर्वणस्यापि न कार्यत्वं तथापि तस्य कादाचित्कतया उपचरितेन कार्यत्वेन कार्यत्वमुपचर्यते ।

अवाच्यत्वादिकं तस्य वक्ष्ये व्यञ्जनरूपेण ॥ २७ ॥

तस्य रसस्य । आदिशब्दादलक्ष्यत्वादि ।

ननु यदि मिलिता रत्यादयो रसास्तत्कथमस्य स्वप्रकाशत्वं कथं वाखण्डत्वमित्याह—

१ रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेवं यस्माद्रसो भवेत् ।

ततोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिध्यति ॥ २८ ॥

यदि रत्यादिकं प्रकाशशरीरादतिरिक्तं स्यात्तदेवास्य स्वप्रकाशत्वं न

रूपादभिज्ञे तस्मिन्प्रमाणम्' इति । ननु यदीति । अस्या विप्रतिपत्ते 'तस्मान्न कार्यः' इत्यनन्तरमेवोत्थापयितुमीचिलेऽपि सिद्धान्तस्य चर्वणामहसाभ्युत्पत्त्याचर्वणा-
निरूपणानन्तरमेवोत्थापनमुचितमेव । महर्षिणा भरतेन । अस्य रसस्योपचारतः
स्वाश्रयमाश्रयसम्बन्धेन । प्रतीयत इति शेषः । तस्य चर्वणस्य । कादाचित्क-
तया आविर्भावतिरोभाववशेन कदाचिद्भवतया । अत्रामेदे तृतीया । उपचरि-
त्वेन लक्षणया प्रतीतेन । कार्यत्वेन कार्यसादृश्येन हेतुना कार्यत्व कार्यसादृश्य-
मुपचर्यते निरुक्तपरम्परासम्बन्धेन प्रयुज्यते । अवाच्यत्वमनभिधेयत्वम् । व्यञ्ज-
नानिरूपणे व्यञ्जनाया प्रामाण्यनिरूपणे पञ्चमपरिच्छेदे । अलक्ष्यत्वादीत्यादिना
तात्पर्यप्राप्तावपरिग्रहः । रसस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं चोपपादयति—ननु यदीति ।
स्वप्रकाशत्वं स्वस्वरूपज्ञानविषयत्वं रत्यादीना तदसम्भवादिति भावः । अखण्डत्व-
मेवरूपत्वं परिणामवादिमते । सिद्धान्तमाह—रत्यादिरिति । अस्य रसस्य । न
तथा प्रकाशशरीरादतिरिक्तत्वम् । ननु रसस्य स्वप्रकाशचिन्मयत्वाज्ञीकारेण तद्वाह-
कस्य चर्वणस्यापि तद्रूपत्वमुपपन्नम् । एवं च 'निष्पत्त्या चर्वणस्यास्य निष्पत्तिरुप-

१ विभावेति । कविकाया 'विभावादिसंयोगात्' इति पञ्चम्या विभावादीना हेतु-
त्वमुक्तम् । तच्च क्लृप्तं शापकत्वं वा स्यादिति शङ्कोद्भावनम् ॥

१ तस्य—इत्यादि—'दि' इत्यन्तं न पुल्लिङ्गे नास्ति २ न विभावादिपुंल्लिङ्गे न पुल्लिङ्गे न स्वरूपे
३ 'दि'—इत्यादि—'उपेया' इति च इत्यन्तं पाठो न पुल्लिङ्गे नास्ति

सिध्येत् । न च तथा । तादात्म्याङ्गीकारात् । यदुक्तम्—‘यद्यपि रसानन्यतया चर्वणापि न कार्या (र्यम्) तथापि कादाचित्कतया कार्य-त्वमुपकल्प्य तदेकात्मन्यनादिवासनापरिणतिरूपे रत्यादिभावेऽपि व्यवहार इति भावः’ इति । ‘सुखादितादात्म्याङ्गीकारे चास्माकं सिद्धान्त-शय्यामधिशय्य दिव्यं वर्षसहस्रं प्रमोदनिद्रामुपेया’ इति च । ‘अभिन्नो-ऽपि स प्रमात्रा वासनोपनीतरत्यादितादात्म्येन गोचरीकृतः’ इति च । ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमनङ्गीकुर्वतामुपरि वेदान्तिभिरेव पातनीयो दण्डः । तादात्म्यादेवास्याखण्डत्वम् ।

‘चारतः’ इति यदुक्तं तदसंगतमित्यत आह—यद्यपीति । उपकल्प्य लक्षणया व्यवहृत्य । तदेकात्मने चर्वणास्वरूपे । अनादीति । सामाजिकानां प्राक्तनी या वासना तस्या परिणतिरूपे । आविर्भूतज्ञानरूपे रसे इत्यर्थः । एतेन रसस्याकार्य-त्वमुपपादितम् । ननु चैवेणातोऽभिन्ने रसे लक्षणया साक्षादेव कार्यत्वं प्रतीयते कथं निरुक्तपरम्परया व्यवहर्तव्यमत आह—रस्यादीति । रत्यादिविषयावच्छेद इत्यर्थः । ‘विभावादिसंयोगाद्व्याधी रसो जायते’ इत्यत्र रसे साक्षाद्व्याधौ रसज्ञा-रैव निष्पत्तिः प्रतीयत इति भावः । व्यवहारं निरुक्तपरम्परया प्रयुङ्क्ष्व । ननु परिणामवादिमते रत्यादेर्ज्ञानतादात्म्यं स्वप्रकाशत्वं चोपपद्यता ‘स्वप्रकाशानन्दचि-न्मयः’ इत्यनेन रसस्यानन्दमयत्वं ‘चमत्कारप्राणः’ इत्यनेन चमत्कारमयत्वं श्लोक्तम्, तदसंगतं विजातीयानां चिदानन्दचमत्काराणामेकरूपत्वासंभवादत्त आह—सुखादीति । आदिना चमत्कारपरिग्रहः । आस्माकीमालंकारिकसंप्रदाय-संबन्धिनीम् । ‘तस्मादलौकिकं सत्यं वेद्यं सहृदयैरयम्’ इति सिद्धान्त एव सुख-संपादकत्वेन शय्या तामधिशय्य अधिधित्य । दिव्यमिति । मनुष्याणां पञ्चवि-कत्रिशतसंख्यकवर्षे देवानामेकवत्सरो भवति । एवं वर्षसहस्रं प्रमोद एव नेत्रनि-मीलनादिकारित्वेन निद्रा तामुपेया । प्राप्नुहि । तथा चास्माकं सिद्धान्ताश्रयणेन चिर-कालमपि चिन्तया वादिभिर्दोषोद्भावनं कर्तुं न शक्यमिति भावः । रसस्य स्वप्रका-शत्वमुपसहरति—अभिन्नोऽपीति । ‘स्वस्मात्’ इति शेषः । स रसः । प्रमाना इति भावप्रधानो निर्देशः । तेन चर्वणारूपप्रमयेत्यर्थः । संपश्यते । वासनयामुप-नीतो ज्ञानप्रलासस्या भवेदेन प्रकरीकृतो यो रत्यादिस्वस्य तादात्म्येन विशिष्टः गोचरीकृतो विषयीकृतः । ननु ज्ञानस्यानुव्यवसायेनैव ग्रहो भवति कथं स्वप्रकाश-त्वमिति वदतो नैयायिकानाक्षिपति—ज्ञानस्येति । उपरि मते दण्डो दोषः पात-नीय उपन्यसनीयः । ज्ञानस्यानुव्यवसायेन तस्यापि ज्ञानान्तरेण ग्रह इत्यनवस्था-रूपोऽत्र दोषो वेदितव्यः । रसस्याखण्डत्वेऽपि ज्ञानतादात्म्यमेव हेतुमनुपज्य दर्श-यति—तादात्म्यादेवेति । ज्ञानतादात्म्यादेवेत्यर्थः । अस्य ‘रसस्य ।’ ननु

रत्यादयो हि प्रथममेकैकंशः प्रतीयमानाः सर्वेऽप्येकीमृताः स्फुरन्त
एव रसतामापद्यन्ते । तदुक्तम्—

‘विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः ।

प्रतीयमानाः प्रथमं खण्ड्यो यान्त्यखण्डताम् ॥’ इति ।

‘परमार्थतस्त्वखण्ड एवायं वेदान्तप्रसिद्धमक्षतत्त्वद्वेदितव्यः’
इति च ।

अथ के ते विभावानुभावव्यभिचारिण इत्यपेक्षायां विभावमाह—

रत्याद्युद्बोधकां लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः ।

ये हि लोके रामादिगतरतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सीतादयस्त
एव काव्ये नाट्ये च निवेशिताः सन्तः ‘विभाव्यन्ते आस्तादाङ्कुरभा-
दुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः’ इति विभावा
उच्यन्ते ।

तदुक्तं भर्तृहरिणा—

‘अद्बोधहितरूपास्तान्बुद्धेर्विषयतां गतान् ।

प्रत्यक्षानिव कंसादीन्साधनत्वेन मन्यते ॥’

व्यस्ताना रत्यादिविभावादीना कश्चमेकरूपत्वमत आह—रत्यादयो हीति ।
आदिना विभावादिपरिश्रह । एतच्च शङ्काररसे । वीरवीर तूमाहादयो हेया ।
एकीभूता व्यञ्जनावन्मैत्रज्ञानविषयत्वेन एकरूपत्वं प्राप्ताः । स्फुरन्तश्चिद्रूपत्वं
प्राप्नुवन्त । सात्त्विकानुभावयोगोऽखण्डत्वस्यैव पृथगुपादानम् । खण्ड्यो प्रत्ये-
कम् । ननु ज्ञानतादात्म्याद्वीकारेऽप्यखण्डत्वं न सम्भवति मुख्यमरुताराभ्यामैक्या
सम्वादत आह—परमार्थतस्त्विति । वस्तुतस्त्वित्यर्थः । अलौकिकभावा
दिति यावत् । अलौकिकमेव दृष्टान्तमाह—वेदान्तेति । अक्षमीमासा, वेदान्त-
स्वन यथा चिदानन्दरूपोऽयं पुरुष इत्यनेन चिदानन्दयोरेकनफरपत्वमुपपादितं
तथा चिदानन्दचमत्काराणामेकरूपत्वमिति भावः । अद्बोधहितरूपान् काव्य-
प्रकाशितस्वरूपान् । बुद्धेर्व्यञ्जनावन्मैत्रयोषस्य । कंसादीनि । वीरसाधन-
विभावानिप्रायेण । साधनत्वेनेति विशेषणे तृतीया । मन्यते सामाजिक

१ ‘रत्यादयो— इत्यादि—‘तदुक्तं’ इत्यत्र पाठो ग-पुस्तके नोक्तिः । २ इति ‘रसविरूपत्वम्’ इत्य-
धिक ग-पुस्तके । ३ ‘अथ—’ इत्यादि—‘मन्वते’ ४ इति हरिकारिकायाः पाठो ग-पुस्तके नास्ति,
किंतु ‘ननु विभावान्बोधो रस इत्युक्तं के ते विभावया इत्याह—यद्बोधोऽर्थो विभाव्यन्ते’ इत्यादिना
समाहः । अनेन वक्ष्यतेत्याह विभाव इति कीर्तितः ॥’ इत्येव पाठोऽर्थः

तद्भेदावाह—

आलम्बनोदीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।

स्पष्टम् ।

तत्र—

आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्भवात् ॥ २९ ॥

आदिशब्दान्नायिकाप्रतिनायिकादयः । अत्र तस्य रसस्य यो विभावः
स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते । तत्र नायकः—

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।

दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥ ३० ॥

वैदग्ध्यः क्षिप्रकारी । शीलं सदृष्टम् । पैवमादिगुणसंपन्नो नेता
नायको भवति ।

तद्भेदानाह—

धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च ।

धीरप्रशान्त इत्यवमुक्तः प्रथमंश्चतुर्भेदः ॥ ३१ ॥

स्पष्टम् ।

तत्र धीरोदात्तः—

अविकथनः क्षमावानंतिगम्भीरो महासत्त्वः ।

स्येयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥ ३२ ॥

अविकथनोऽनात्मस्थापाकरः । महासत्त्वो हर्षशोकाद्यनभिभूत-
सभावः । निगूढमानो विनयच्छन्नगर्वः । दृढव्रतोऽङ्गीकृतनिर्वाहकः ।

यथा—रामयुधिष्ठिरादिः ।

इति शेषः ॥ तद्भेदौ विभावप्रसंगे । तस्य विभावस्य ॥ नायकादिरिति ।
नायरो रतेर्नायकः आलम्बनं तं नायकादिमालम्ब्य विपरीतस्य ॥ त्यागी दाता ।
कृती वीरः । कुलीनः मनुजोद्भवः । उत्साहः कर्मगन्धर्वसायः । रूपारिचवान् ।
निगूढाभिप्रायश्च वैदग्ध्यम् । शीलं सदृष्टम् । नेता नायकः तद्भेदाभावरप्र-
कारणः ॥ अतिगम्भीरो दुरवबोधानिप्रायः । श्रेयसा कर्मणि स्थिरारः ॥

१. इयं गाथा पदचरणा विनया । पदभेदेऽपि ॥

अथ धीरोद्धतः—

मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहंकारदर्पभूयिष्ठः ।

आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः ॥ ३३ ॥

यथा—भीसेनादिः ।

अथ धीरललितः—

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात् ।

कला नृत्यादिका । यथा—रत्नावल्यादौ वत्सराजादिः ।

अथ धीरप्रशान्तः—

सामान्यगुणैर्भूयान्द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात् ॥ ३४ ॥

यथा—मालतीमाधवादौ माधवादिः ।

एषां च शृङ्गारादिरूपत्वे मेदानाह—

एभिर्दक्षिणघृष्टानुकूलशठरूपिभिस्तु षोडशधा ।

तत्र तेषां धीरोदात्तादीनां प्रत्येकं दक्षिणघृष्टानुकूलशठत्वेन षोड-
शप्रकारो नायकः ।

एषु त्वनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः ॥ ३५ ॥

द्वयोस्त्रिचतुःप्रभृतिषु नायिकासु तुल्यानुरागो दक्षिणनायकः ।

यथा—

स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता, वारोऽङ्गराजसं-
धूतै रात्रिरियं जिता कमल्या, देवी प्रसाद्यां च ।

अहंकारः अहं महानिति ज्ञानविशेषः । दर्पः शौर्यवीर्याद्यतिशयः । मृदुः अप्र-
चण्डचरितः ॥ सामान्यगुणैर्नायकसामान्यगुणैः । धीरोदात्तादित्रितयभिर्यो
नायको धीरप्रशान्त इत्यभिप्रायः ॥ एषां धीरोदात्तादीनाम् । षोडशचेति ।
शृङ्गारे षोडशप्रकारो नायको भवति रसान्तरे तु चतुष्प्रकार इत्यवधेयम् ॥ स्नाता
शुद्धस्नाता । वारः सुरतार्थं नियमिदादिवसः । जिता जयेनात्मपुरतार्थं प्राप्ता । देवी
कुन्तामियेका राजपत्नी । देवेन राक्षस । अप्रतिपत्त्या कर्तव्यानिश्चयेन मूढं व्याकुलम्

१. एभिरिति । दक्षिणधीरोदात्तः, दक्षिणधीरोद्धतः, दक्षिणधीरललितः, दक्षिणधीर-
प्रशान्तः, एवं घृष्टादिषट्पदयोर्जनेन षोडशप्रकारका नायका इत्यवधेयम् ॥

१. मनुष्ये कल्याणद्वयास्या नक्षि. २. मनुष्ये तु 'मला रत्नादिका' इति पाठः. २. 'धीरप्रशान्त'
३. ४. 'महिलासु' च. ५. 'नायिकासु' इति मनुष्ये गच्छि. ६. 'नायक' इति गच्छि मनुष्ये.

इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥
कृतागां अपि निःशङ्कस्तर्जितोऽपि न लज्जितः ।
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्यितो घृष्टनायकः ॥ ३६ ॥

यथा मम—

शोणं^३ वीक्ष्य मुखं विचुम्बितुमहं यातः समीप, ततः
पादेन ग्रहृतं तथा, सपदि तं घृत्वा सहासे मयि ।
किञ्चित्तत्र विधातुमक्षमतया बाष्प. सृजन्त्याः सखे ।
ध्यातश्चेतसि कौतुकं नितनुते कोपोऽपि वामभ्रुवः ॥

अनुकूल एकनिरतः—

एकस्यामेव नायिकायामासक्तोऽनुकूलनायकः ।

यथा—

अस्माक सखि घाससी न रुचिरे, त्रैवेयकं नोज्ज्वल,
नो वक्रा गति, रुद्धत न हसितं, नैवास्ति कश्चिन्मदः ।
किञ्चिन्त्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो नान्यतो
दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम् ॥

अप्राप्तिनिश्चयश्च न्य वामनो यस्य तेन ॥ कृतागा. कृतापराध । मिथ्यावाक्यं मयै
तत्त कृतमित्ययथार्थवचन । त पादम् ॥ अत्र प्रथमपादेन कारिकाया प्रथमपा-
दोक्त द्वितीयपादेन द्वितीयपादोक्त लक्षण वेदितव्यम् ॥ अस्माकमिति । कस्या-
श्चिन्नायिकाया उक्तिरियम् । त्रैवेयकं वण्टभूषणम् । वक्रा चित्रा । उद्धतमुत्कटम् ।

१. इतीति । इति अतः पुरसुन्दरी प्रति विज्ञाय यस्या यद् वक्तव्यं तदवगम्य मया
विज्ञापिते विविच्य निवेदिते सति । एतदुक्तं भवति—कृतुकादेव तावदुपेक्षणीया किमुत
कुन्तलमहाराजतनया, साधारणोऽपि समयो दुर्लभ्य किमुताङ्गनायस्तत्तमवीहितन्या-
यागतनमागमसमय, सामान्येऽपि जये परतत्रता किमुत कामलाकलामकमलामपुके ।
एवमुत्तरोत्तराधिकार्यसंपादेऽपि महाराज्ञा प्रचारनं तान्तसर्वोपरीति रदस्यम् ॥

२. नाडिका इति । अत्र तत्संयोगे द्वितीया ॥

३ 'वक्षमेक्ष्य चुम्बितुमह' इति साधयान् पाठः ॥

१ गपुष्पके तु 'तस्या' शब्दविशेषनस्तनपुगप्रयोगमुदाहृतं किं बन्धव्यपाननिर्वाहकारव्यतिरेक
गोसायने । इत्युक्ते क तद्विन्दुरीषं सहसा तच्छ्रवणं मया कश्चित् एवमेव तत्पुष्पकादभ्यां च
तद्विन्दुत्वं ॥ इति परबीकमुदाहरणं दृश्यते २. 'एकस्या' इति कश्चित् वा-पुष्पके 'नाडिका
३ 'यति' ग ४. 'इत्यदि' इत्यधिक क-पुष्पके

शठोऽयमेकत्र वद्धभावो यः ।

दर्शितवहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति ॥ ३७ ॥

यः पुनरेकस्यामेव नायिकायां वद्धभावो द्वयोरपि नायिकयोर्बहिर्द-
र्शितानुरागोऽन्यस्यां नायिकायां गूढं विप्रियमाचरति स शठः ।

यथा—

‘शठान्यस्याः काञ्चीमणिरणितमारुर्ण्य सहसा

यदाश्लिष्यन्नेव प्रशियिलमुजग्रन्थिरमवः ।

तदेतत्काचक्षे घृतमधुमयत्वद्दुह्यचो-

त्रिपेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ॥’

एषां च त्रैविध्याहुं त्तममध्याधमत्वेन ।

उक्ता नायकमेदाश्चत्वारिंशत्तथाष्टौ च ॥ ३८ ॥

एषामुक्तपोडशभेदानाम् ।

अथ प्रसङ्गादेतेषां सहायानाह—

दूरादुपतिंनि स्यात्तस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्ते तु ।

सौभाग्ययौवनाद्यलक्षणैर्गो मिशरो मदः । नायकवशीकरणकारणं मम किमपि
नास्ति । किंतु तर्थापि । अन्ये परकीयाः । अपिना स्वकीयाः । सुमनोऽपि नायि-
कान्तरप्रियोऽपि । यद्वा मनोज्ञोऽपि । अन्यतो नायिकान्तरे । इयता एतावतैवा-
भिप्रायादेन । दुःस्थितं दुष्टचित्तं प्रतिकूलं च ॥ यद्धभावो निवृत्तानुरागः । दर्शितो
भूषणदानादिसाम्येन प्रकटितो बहिः सुरतातिरिक्तोऽनुरागो येन सः ॥ शठेति ।
पूला वचनमिदम् । छावद्मे कुन कथयामि । न तुत्रापीत्यर्थः । घृतमधुमयेति ।
घृतमधुतुल्येत्यर्थः । घृतमधु यथा आपाततः स्वादु पश्चादियम्, तथा तत्र वच-
नमप्यापाततो रमणीयं पश्चादनिष्टाचरणेनायथार्थत्वप्रतिभासादित्यतुल्यमिति भावः ।

१. एवामिति । एत एव नायकमेदा दशरूपावलोके द्वितीयप्रकाशे । तत्र प्रथमस्य
भीरोदात्तादिचतुष्टयस्य चोदाहरणानि द्रष्टव्यानि । अत्रेदमप्यवधेयम् । कामशास्त्रे दत्तादि-
जातिभेदेन चतुर्भिधो नायकः । तथा चोक्तम्—‘पुनश्चतुर्णां कथितः कामशास्त्रेषु
जातितः । दत्तो मदः कूचिमारः पाञ्चाल इति चरिभिः । पद्मिनीवल्लभो दत्तो मदः
स्याचित्रिणीप्रियः । पाञ्चालकूचिमारो तु पद्मिनीशङ्किनीप्रियो ॥’ इति मन्दारमरन्दे
शुद्धमिन्दो ॥

१ ‘य’-इत्यादिपङ्क्तिः ग पुल्लोके नास्ति. २ ‘बहिः’ ग पुल्लोके नास्ति. ३ ‘मयत्वादुह्यचो-
इति’ पाठः. ४ ‘सर्वेषामुत्तममध्याधममत्वेन कश्च.’ ‘सर्वेषामुत्तममध्याधममत्वेन’ घ. ग पुल्लोके
तु ‘एषा ॥ नायकानामुत्तममध्याधममत्वेन । कथितः नायकमेदाश्चत्वारिंशत्तथा आष्टौ ॥’ इति पाठः.

किञ्चित्तद्गुणहीनः सहाय एवास्य पीठमर्दाख्यः ॥ ३९ ॥

तस्य नायकस्य बहुव्यापिनि . प्रसङ्गसंगते इतिवृत्तेऽनन्तरोक्तैर्नायक-
सामान्यगुणैः किञ्चिदूनः पीठमर्दनामा सहायो भवति . यथा—
रामचन्द्रादीनां सुग्रीवादयः ।

अथ शृङ्गारसहायाः—

शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः स्युः ।

भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जनाः शुद्धाः ॥ ४० ॥

आदिशब्दान्मालाकाररजकताम्बूलिकगान्धिकादयः ।

तत्र विटः—

संभोगहीनसंप्रेक्षितस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः ।

वेशोपचारकुशलो चाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ॥ ४१ ॥

चेटः प्रसिद्ध एव ।

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः ।

हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः ॥ ४२ ॥

स्वैकर्म हास्यादि ।

किमपि हितमहितं वा । गणयति निधिनोति ॥ एषां नायकानाम् ॥ दूरानुवर्ति-
नीत्यस्यार्थमाह—बहुव्यापिनीति । इतिवृत्ते वर्तव्यकर्मणि ॥ भक्ता नायकानु-
रक्ताः । नर्मसु परिहासेषु । शुद्धाः परदारगमनदोषरहिता ॥ संभोगहीना
अपकृष्टा सपद यस्य सः । गत्यादिकलानामेकदेशं जानाति, नतु समुदायम् ।
वेशस्य उपचारे करणे कुशलः ॥ विदूषकमाह—कुसुमेति । यपुरिति ।

१. पीठेति । कार्यनिशेषेऽधिकृतवात्पीठं गृह्णातीति पीठमर्द इत्यन्वयो संज्ञा ॥

२. विट इति । वेदयानागरिकयोः परस्परं संदेशं वेदति कथयतीति विटः । 'विट
शब्दे' इति यशोधरः । 'एवविधो विटचेटः संधानकुशलो मठः' इति मन्दारामरत्ने ॥

३. गोष्ठ्यामिति । 'वेदयामवने समायामन्यतमस्योदवसिते वा समानविषाणुद्विशील-
मिस्रवयसां सह वेदयामितरुपैराकापैरासनबन्धो गोष्ठी' इति चात्स्थायनः । अन्यतमस्य
नागरस्योदवसिते गृहे वा । स्त्रीप्रतिबद्धकलाप्रतिपत्त्यर्थं वेदयानां गोष्ठ्यामन्तर्भाव इति
तद्व्याख्यातारः ॥

१. 'रामस्य सुग्रीव' वा २. 'अथ' इति परिक्रान्तं ग. पुस्तके नास्ति. ३. 'शृङ्गारविशेष' इति स.
४. 'आदि-' इति परिक्रान्तं ग. पुस्तके नास्ति. ५. 'ग-पुस्तके तु 'सदर्म-' इत्यारम्भ 'अथ दूरग-
हास्य' इत्यन्तो प्रायो न दृश्यते.

अर्थचिन्तने सहायमाह—

मन्त्री स्यादर्थानां चिन्तायां—

अर्थास्तद्वावापादयः । यत्तत्र सहायकथनप्रस्तावे—‘मन्त्री स्वं चोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने’ इति केनचिल्लक्षणं कृतम्, तदपि राज्ञोऽर्थचिन्तनोपायलक्षणप्रकरणे लक्षयितव्यम्, न तु सहायकथनप्रकरणे । ‘नायकस्यार्थचिन्तने मन्त्री सहायः’ इत्युक्तेऽपि नायकस्यार्थत एव सिद्धत्वात् । यदप्युक्तम्—‘मन्त्रिणां ललितः शेषा मन्त्रिप्रायत्त-सिद्धयः’ इति, तदपि स्वलक्षणकथनेनैव लक्षितस्य धीरललितस्य मन्त्रिमात्रायत्तार्थचिन्तनोपपत्तेर्गतार्थम् । न चार्थचिन्तने तस्य मन्त्री सहायः । किं तु स्वयमेव संपादकः । तस्यार्थचिन्तनाद्यभावात् ।

शरीरचेष्टाविशेष इत्यर्थः ॥ मन्त्रीति । अस्य इति सहायः इति चानुपज्यते । चिन्तायामुपायनिरूपणे । स्वमण्डले क्रियमाणं कर्म तन्मम् । परमण्डले क्रियमाणं कर्म भावापः । आदिना शत्रुनिग्रहादयः । यत्त्विति । स्वं चेति चकारो वार्थः । उभयं मन्त्रिसद्वयम् । तस्य नायकस्य । सहायकथनप्रस्तावे शेषमाह—नायक-स्येति । एवं च स्वं चेलादि निरर्थकम् । तदनुपादानेऽपि तन्नामात् । स्वयं चिन्तापक्षे स्वस्य सहकारित्वरूपसहायत्वानुपपत्तेरुभयचिन्तायां कारणान्तरप्रसङ्गा-च्चेति भावः । सद्विद्वद्बन्धुसोपायार्थत्वम्, न तु सहायपरत्वमित्यवगन्तव्यम् । मन्त्रिणेति । आयत्तसिद्धिरित्यन्वयः । ललितो धीरललितः । शेषा धीरोदात्तादयः । स्वलक्षणेति । चिन्तन इति । धीरललितलक्षणनिविष्टेन तस्यार्थचिन्तनाद्यभावः । तेन च मन्त्रिमात्रायत्तार्थसिद्धिर्कथं प्रतीयते इति भावः । तस्य धीरललि-

१. तन्नेति । तन्मम् तन्मम् । स्वाधीनत्वात्स्वराष्ट्रे क्रियमाणं कर्मापि तत्राशब्देनोच्यते । वा समन्ताद् वपन्ति इति कर्तव्यतामीनमन्त्रेत्यानापः । ‘डुवप् धीजतन्तुसंताने’ ‘इलक्ष’ इति घञ् । ‘पर प्रत्यावापः फलति श्रुतेकस्तारिने’ इति ॥

२. केनचिदिति । दशरूपके धनंजयेनेत्यर्थः । तत्रार्थं सुगमः संदर्भः—अथ नेतुः कार्यान्तरसहायानाह—‘मन्त्री स्वं चोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने’ । तस्य नेतुः अर्थचिन्तायां तद्वावापादिलक्षणायां मन्त्री वा आत्मा वा उभयं वा सहायः । तत्र विभागमाह—‘मन्त्रिणां ललितः, शेषा मन्त्रिप्रायत्तसिद्धयः’ । उक्तलक्षणो ललितो नेता मन्त्रायत्तसिद्धिः । शेषा धीरोदात्तादयः अनियमेन मन्त्रिणा स्वेन वा उभयेन वा अङ्गी-कृतसिद्धय इति ॥

३. क-उल्लेखे तथा अद्वितपुल्लेखे ‘मन्त्री स्यादर्थानां चिन्तायां तद्वदवरोधे’ । इत्यर्थार्थं सविवरणं गतपदयोर्वनेन ‘मन्त्री स्यादर्थचिन्तायामप्यौत्तम्यमादया ।’ इत्येवमनुष्टुप्स्वरूपं प्रतिपत्तम् ‘तथा तद्वद-वरोधे’ इति सङ्घं गते बोधितम्. २. ‘सत्यमेव सत्यम्’ क.

अथान्तःपुरसहायाः—

तद्वदवरोधे .

वामनशण्डकिरातम्लेच्छाभीराः शकारकुञ्जाद्याः ॥ ४३ ॥

मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्चर्यसंयुक्तः ।

सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः ॥ ४४ ॥

आद्यशब्दान्मूकादयः । तत्र शण्डवामनकिरातकुञ्जादयो यथा

रत्नावल्याम्—

नष्टं वर्षवैर्मनुष्यगणनाभावादपास्य त्रपा-

मन्तःकञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ।

पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं

कुञ्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥

शकारो मृच्छकटिकादिषु प्रसिद्धः । अन्येऽपि यथादर्शनं ज्ञातव्याः ।

अथ दण्डसहायाः—

दण्डे सुहृत्कुमारादविकाः सामन्तसेनिकाद्याश्च ।

दुष्टनिग्रहो दण्डः । स्पष्टम् ।

ऋत्विक्पुरोधसः स्युर्ब्रह्मविदस्तापसास्तथा धर्मैः ॥ ४५ ॥

तस्य । स्वयमेव मन्त्रयेव निष्पादकः प्रधानकारणम् ॥ तद्वदिति । अवरोधेऽन्तःपुरे । वामनादयो नायकस्य सहाया इत्यर्थः । शण्डदिष्टलोपस्थः स्त्रीबो वा । शकारमाह—मदेति । मदमूर्खताभ्यामभिमानी अहं महानिति शानवान् । मदादिप्रयवान् वा ॥ नष्टमिति । वानरवेपेणान्तःपुरप्रविष्टं विदूषकमालोदय भयेनान्तःपुरस्थानां पलायनवर्णनमिदम् । नष्टमदर्शनतां प्राप्तम् । वर्षवैरैः शण्डैः । 'सौविदाः कञ्चुकिनः' इत्यमरः । किरं पर्यन्तदेशमततीति किरात इति नाम्नः स्ववाचकशब्दस्य सदृशं योग्यं पर्यन्तदेशं प्राप्त इत्यर्थः ॥ मृच्छकटिकं नाटिकाविशेषः । अन्ये म्लेच्छाभीरादयः । आटविका वनचारिणः ॥ ऋत्विगिति । धर्मैः धर्मकर्मणि

१. शण्डेति । शान्त्यति पौरुषाभावादिति शण्डः । 'शमु उपशमे' । शमेर्दः । मूर्खन्यादिस्तु वणुप्रकृतिकः । तत्र मयन्तादृतस्य बाहुल्यद्वयं पातोः एव सारवामावध । शण्डो वरैवर इत्यनर्थान्तरम् । 'ये तत्त्वस्यैवाः कुञ्जः, स्त्रीस्य स्त्रीस्यभिनः । आत्मा न दुष्टः कार्येषु ते वै वर्षवयः स्वृताः ॥' इति नाट्यशास्त्रे स्त्रीपुंलोपचाराध्याये ॥

२. मृच्छेति । मृच्छकटिकं मकरजविशेष इत्युच्यते ॥

ब्रह्मविदो वेदविदः, आत्मविदो वा ।

अत्र च

उत्तमाः पीठमर्दाद्याः—

आद्यशब्दान्मन्त्रिपुरोहितादयः ।

मध्यौ चिटविदूषकौ ।

तथा शकारचेटाद्या अधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४६ ॥

आद्यशब्दात्ताम्बूलिकगान्धिकादयः ।

अथ प्रसङ्गाद्भूतानां विभागगर्भलक्षणमाह—

निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा संदेशहारकः ।

कार्यप्रेष्यस्त्रिधा दूतो दूत्यश्चापि त्रयाविधाः ॥ ४७ ॥

तत्र कार्यप्रेष्यो दूत इति लक्षणम् ।

नायकस्य सहाया इत्यर्थः । आत्मविदो योगिनः ॥ सुस्त्रिष्टं सुसंगम् ॥ मितार्थः—

१. दूत इति । पटुता भाष्यमिच्छिताकारकता प्रचारणकालज्ञा विषयबुद्धिर्बलं कृत्वा प्रतिपत्तिः सोपाया चेति दूतगुणाः । अन्यथा—युक्तम्—‘आत्मवान्मित्रवान्युक्तो भावशो देशकालविद् । अणायमभ्यवसैनं कार्यं संसाधयेन्नरः ॥’ इति । आत्मग्याहितगुणत्वादात्मवान् । सहायविमोहेन मित्रवान् । युक्त इति राजकृत्तानुष्ठानेन युक्तः स्वकर्मनिष्ठ इति तदर्थः ॥

२. दूत्य इति । अन्यत्र विशेषः—निसृष्टार्थो परिमितार्थो पञ्चहारी स्वयंदूती मूढ-दूती भार्यादूती भूकदूती वातदूती चेति दूतीविशेषाः । तत्र नायकस्य नायिकायाश्च ययामनीषितमर्भमुपलभ्य स्वगुण्या कार्यसंपादिनी निसृष्टार्थी, इदं करणीममितेतावतो-ऽर्भस्य निरुद्धगतिरुद्धार्थेति कार्यकदेशमभिमोहेकदेशं चोपलभ्य शेषं संपादयतीति परि-मितार्थी, परिमितः परिच्छिन्नोऽर्थो भूत्वा इति । संदेशमार्गं प्रापयतीति पञ्चहारी, संदेशमार्गमिति कार्यस्य स्थिरत्वात्तन्मार्गं पत्रेण वचसा वा प्रापयतीति पञ्चहारीत्यर्थः । दौलेन प्रदिता अन्यथा स्वयमेव नायकमभिगच्छेत्, अज्ञानवी नाम तेन सहोपमोर्गं स्वमे कथमेव, गोत्ररक्षितं भार्या चास्य निन्देत्, तद्व्यपदेशेन स्वयमीर्ष्यां दर्शयेत्, नखदर्शनचिह्नितं वा किंचिद्व्याप्य, अपठेऽहमादौ दातुं संकल्पितेति ‘आभिदपीत, मम भार्या वा वा रमणीयेति विविक्ते पर्वतुजुजीव सा स्वयंदूती । नायकमार्गा मुग्धां विधास्यावप्रणवानुप्रविश्य नायकस्य चेहितानि पृच्छेत्, योगाच्छिद्येत्, साकार मण्ड-येत्, कोपमेनां ब्राह्मेय, एवं च प्रतिपद्येति आवयेत्, स्वयं चास्यां नखदर्शनपदानि निर्वर्तयेत्, तेन द्वारेण नायकमाकारयेत्सा मूढदूती । स्वभार्या वा मूर्धा प्रयोज्य तथा

तत्र—

उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम् ।

सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थस्तु स स्मृतः ॥ ४८ ॥

उभयोरिति येन प्रेषितो यदन्तिके प्रेषितश्च ।

मितार्थभाषी कार्यस्य सिद्धकारी मितार्थकः ।

यावद्भाषितसंदेशहारः संदेशहारकः ॥ ४९ ॥

अथ सात्त्विकनायकगुणः—

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यतेजसी ।

ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः ॥ ५० ॥

तत्र—

शूरता दक्षता सत्यं महोत्साहोऽनुरागिता ।

नीचे घृणाधिके स्पर्धा यतः शोभेति तां विदुः ॥ ५१ ॥

तत्रानुरागिता यथा—

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।

उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना कश्चित् ॥

एवमन्यदपि ।

र्थभाषी अल्पार्थकथकः । स्वाभिना यावदुक्तं तावदेव संदेशः, तं हरति व्याहर-
तीति स तथा ॥ सात्त्विकः सत्त्वगुणाज्जातः । सत्त्वभावीनां सात्त्विकत्वेऽपि ते
नायकस्य नायिकायाश्च भवन्ति । एते पुनर्नायकस्यैवेति विशेषः ॥ पौरुषा नाय-
कसंबन्धिनः ॥ महाशूरताह उद्यमः । नीचे क्षुब्धे । घृणा दया ॥ महीपतेरजस्य ।
प्रकृतिषु मन्त्रिप्रभृतिषु । निम्नगाशतेषु नदीसमूहेषु । अंस्य अजस्य ॥ अन्यच्छूर-

सह विशासेन योजयित्वा तथैवाकारयेत्, आत्मनश्च वैचक्षण्यं प्रकाशयेत्सा भार्या-
दूती । बाला वा परिचारिकामद्येषामदुष्टेनोपायेन प्रदिश्यात्, तत्र सति कर्णेपत्रे वा
गूढलेखनिधानं नखदशनपदं वा सा भूकदूती । पूर्वप्रस्तुतार्थेतिज्ञसंबद्धमन्यजनाग्रहणीयं
कीर्तिकार्यं ग्रथं वा वचनमुदासीना या व्यावयेत्सा वातदूती । इति कविराजद्वयम् ॥

१. अहमिति । यथा नानादेशागतायुजानचामु सरित्सु सरित्पतेरेकाकारतया प्रेम-
भेदो न लक्ष्यते तथा महीपतेरजस्यापि प्रजासु कापि जने विमानभावतारो नालक्ष्यतेति
भावः ॥

१. 'धैर्यं गाम्भीर्यतेजसी' इति कभुलके । 'धैर्यं—' इति ख. लक्षणमपि पाठक्रमेणैव. २. 'तय—'
इत्यादि. 'एवमुदाहरणान्युदाहि इत्यन्तः पाठो न-मुक्तके नास्ति.

अथ विलासः—

धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः ।

यथा—

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्रयसत्त्वसारा

धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।

कौमारकेऽपि गिरिवद्रुस्तां दधानो

वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥

संक्षोभेऽप्यनुद्देगो माधुर्यं परिकीर्तितम् ॥ ५२ ॥

ऊह्यमुदाहरणम् ।

भीशोकक्रोधहर्षाद्यैर्गाम्भीर्यं निर्विकारता ।

यथा—

आहूतस्याभिपेकाय निस्पृष्टस्य वनाय च ।

न मया लक्षितस्तस्य स्वरूपोऽप्याकारविभ्रमः ॥

व्यवसायादचलनं धैर्यं विभे महत्सपि ॥ ५३ ॥

यथा—

ध्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्ह्रः प्रसंख्यानपरो बभूव ।

आत्मेश्वराणां नहि जातु विभ्राः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥

अधिक्षेपापमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत् ।

प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम् ॥ ५४ ॥

तादि ॥ तृणीकृतौ तुच्छीकृतौ जगत्रयस्य सत्त्वमुत्साह सारो यत्नं च यथा सा ।
धीरा मन्त्रसा । उद्धता उद्धृता च । एतेन गतेश्चित्रत्वं नैकरूपत्वं च । अत्र नाय-
कस्य उत्साहद्वेषोरतिशयसूचनाय वीररसत्वेन दर्पत्वेन चोक्तिः ॥ ऊह्यमुदाह-
रणमिति । यथा भम रामविलासे—‘तच्चिपीय षट् कर्णपदव्या खेदमाप न
मनागपि राम । शूलपाणिरिव घोरमुदमं कालकूटपटल किल पूर्वम् ॥’ तस्य
श्रीरामस्य । आकारो मुखनेत्रादि तस्य विभ्रमो वैपरीत्यं येन दर्पशोकादयो
लक्ष्यन्ते ॥ व्यवसायात् प्रारब्धकर्मण । अचलनम् अप्रच्यवनम् ॥ प्रसं-
ख्यानपरो योगनिष्ठः । आत्मेश्वराणां मनोनिरोधक्षमाणाम् ॥ अधिक्षेपो

१. असिञ्जति । असिञ्जणे वसन्ताविर्भावसमये ॥

१. ‘यय’ च २ ‘तस्य’ इत्यदि—‘अयस्य’ इत्यन्तं पाठो हि ‘मनोनिरोधक्षमाणाम्’ इत्यस्यदम
दस्यते उपनिवृत्तम्

वाग्वेपयोर्मधुरता तद्वच्छृङ्गारचेष्टितं ललितम् ।

दानं सप्रियभाषणमौदार्यं शत्रुमित्रयोः समता ॥ ५५ ॥

एषामुदाहरणान्यूहानि ।

अथ नायिकां त्रिभेदा स्नान्या साधारणा स्त्रीति ।

नायकसामान्यगुणैर्भवति यथासंभवैर्युक्ता ॥ ५६ ॥

नायिका पुनर्नायकसामान्यगुणैस्त्यागादिभिर्मर्यादासंभवैर्युक्ता भवति ।

सा च स्वस्त्री अन्यस्त्री साधारणस्त्रीति त्रिविधा ।

तत्र स्वस्त्री—

विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्त्रीया ।

यथा—

लज्जापञ्जतपसाहृणाहं परमत्तिणिप्पिवासाहं ।

अविणअदुम्मेघाहं घण्णाण घरे कलत्ताहं ॥

भर्तृनमः । अपमानः पराभवः । आदिना अपकारादि । प्रयुक्तस्य कृतस्य । परेण शत्रुणा ॥ उदाहरणं यथा रामविलासे—‘विस्फारस्फुरदोष्ठपङ्कजमतिस्त्रिभालकान्तं क्रुधा किञ्चिन्नोहितलोचनाम्बुजयुगेनाकुक्षितभ्रूलतम् । युक्तं तस्य दुरुक्तमुत्तरयितुं तेजोभरादुद्यतं नेत्रान्तेन निवार्य लक्ष्मणममुं प्रोचे स्वयं राघवः ॥’ विस्फारम-
त्यन्तं स्फुरदोष्ठपङ्कजं यस्य तम् । तस्य भार्गवस्य । अमुं भार्गवम् ॥ तद्वन्मधुर-
तायुक्तम् ॥ ललितौदार्ययोरुदाहरणे मम—‘वीक्ष्य तस्य रुचिरे कलेवरं समिश्रम्य मधुरं च भाषितम् । स्मारसारमुपलभ्य विभ्रमं दास्यमस्य कलयन्ति सुभ्रुवः ॥’
‘दत्ते सहासवचनं सप्रियवचनं च भूपाल । रिपुरपि लभते मानं निरीतिभारं धरा तस्मात् ॥’ स्वा स्वकीया । अन्या अन्यस्त्रीया । साधारणी सर्वोपभोग-
योग्या । ‘स्त्री’ इति सर्वत्रान्येति । यथासंभवैरिति । तेन दक्षतोत्साहतेजाति
नायिकानां न वर्णनीयानि । अत एव दक्षतादयो नायकस्यैव सार्विका गुणा
युक्ता ॥ लज्जेति । ‘लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परमर्तुनिष्पिपासानि । अधिनयदु-

* 1. पसाहणाह इति । अत्रान्वयार्जवस्य ‘इ’ इत्यस्य दीपस्यापि लघुत्वेनोच्चारणं कर्तव्यं
हृन्दोन्मुरोधात् । तथा चाह प्राकृतपिङ्गलकारः—‘वह दीहो विअ वण्णो लद्ध जीहा पदह
होइ सोवि लद्ध । वण्णो वि तुरिअपड्डिओ दोतिणिमि पद्ध जाणेडु ॥’ इति । ‘यदि दीर्घ-
मपि वर्णं लघु कृत्वा निहा पठति तदा सोऽपि वर्णो लघुरेव भवति । द्वौ वर्णौ त्रयो वा
वर्णास्त्वरितपठितास्तानेक एव वर्ण इति जानीत ॥’ इति तट्टोक्ता । एव चान् दीर्घव-
र्णस्य लघुत्वेनोच्चारणार्थं तद्वर्णोऽपि एवमर्पचन्द्राकारं चिह्नं कृतमिति बोध्यम् । एवमन्येऽपि
वर्णसंविधवचनादेशप्रभृतयो विशेषास्तदाकरग्रन्थतोऽवधेयाः । यानन्तरा प्राकृतस्य कवि-
कर्मणो यथावद् वाचनमपि दुःशकम् । तच्छायापरीक्षणं तु दूरापास्तम् ॥

१. ‘अथ नायिकाभेदा’ इति ।—‘त्रिविधा’ इति । २. ‘साधारणा स्त्री च’ इति । ३. ‘नायिका पुन’ इति
स पुस्तके नास्ति । ‘नायिका’—इत्यादि ।—‘कलत्ताहं’ इत्यन्तं स पुस्तके नास्ति । ४. ‘त्रिभेदा’ क स.

सापि कथिता त्रिभेदा मुग्धा मध्या प्रगल्भेति ॥ ५७ ॥

तत्र—

प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा ।

कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥ ५८ ॥

तत्र प्रथमावतीर्णयौवना यथा मम तातपादानाम्—

मध्यस्य प्रथिमानमेति जघनं, वक्षोजयोर्मन्दता

दूरं यात्युदरं च, रोमलतिका नेत्रार्जवं धावति ।

कंदर्प परिवीक्ष्य नूतनमनोराज्याभिषिक्तं क्षणा-

दङ्गानीव परस्परं विदधते, निर्लुण्ठनं सुभ्रुवः ॥

प्रथमावतीर्णमदनविकारा यथा मम प्रमावतीपरिणये—

दैते सालसमन्धरं भुवि पदं, निर्याति नान्तःपुरात्,

नोदामं हसति, क्षणात्कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि,

किंचिद्भावगभीरयकिमलवस्पृष्टं मनाभापते,

सभ्रूमङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम् ॥

मैवानि धन्यानां गृहे कलत्राणि ॥' इति सस्कृतम् । लज्जायै पर्याप्तानि समर्थानि प्रसाधनानि भूषणानि येषां तानि । अविनयदुर्मैधानि अविनयानभिज्ञानि ॥ सापि स्वकीयापि ॥ अवतीर्णमुत्पन्नम् ॥ मध्यस्येति । प्रथिमानं स्थूलत्वम् । मन्दता कृशास्त्वम् । धावति प्राप्नोति । नूतन यथा स्यात्तथा मनोराज्येऽभिषिक्तम् । राज्ञः प्रथमाभिषेकसमये प्रजा हर्षेण परस्परं द्रव्यं लुण्ठन्तीति व्यवहारः ॥ वृत्त इति । सालस मन्धर च यथा स्यात्तथा दैते । क्षणात् प्रतिक्षणं कलयते धत्ते । हिया

१. प्रथमेति । प्रथमावतीर्णौ अभिनवोन्मेषौ यौवनमदनविकारौ तारुण्यानङ्गविभ्रमा यस्यां सा । 'सकम्पा जुम्भते वक्र हस्त्येवोपगृहिता । पराङ्मुखश्चिरतरस्य आस्ते रन्तु च बाष्पति ॥' इत्यादिदिशा रतौ वामत्वमवपेक्षम् । 'अन्दा निषेवमाणेऽपि यदि कुप्यति सा प्रिये । रोदित्यस्याग्रतः स्वल्पमनुनीता च तुप्यति ॥' इत्युक्तदिशा माने मार्दवमवसे-यम् । प्रथमावतीर्णयौवनान्तरपञ्चमेदानां क्रमेणोदाहरणम् ॥

॥ मध्यस्येति । मध्यभागे या निशालतासीत्सा जघनेन लुण्ठिता तेन तदिशा जातम्, एव जघने यत्काश्यं तन्मध्यभागेन लुण्ठितं तेन स क्रशो जातः । एवमुदर-स्थौल्यं निर्लुण्ठितं सत् कुचयोर्जातम्, कुचयोश्च काश्यंमुदरे । रोमलताकादित्य नेत्रयोः सगतम्, नेत्रयोः सारत्वं रोमलतायामिति तात्पर्यम् ॥

३ इदोदाहरणे शब्दार्थयोर्वन्धसाम्यं नास्तीति सहृदया एव प्रमाणम् । अतएव पूर्वं परकीयान्येवोदाहरणानि लक्ष्यभूतानि न्यस्तानि । यदत्र रसगङ्गाधरे सर्वकथमुद्धृता—'निर्माय नूतनमुरादरणानुरूपम्—' इत्येवमुदङ्कि तद् वङ्गावरकक्षाप्रवेद्यान् शिक्षासमुचित-मित्यलं महत्सु वाचालतया ॥

रतौ वामा यथा—

‘दृष्टा दृष्टिमघो ददाति, कुरुते नालपमाभाषिता,
शय्यायां परिवृत्त्य तिष्ठति, बलादालिङ्गिता वेपते ।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनाग्निर्गन्तुमेवेहते,
जर्ता धामतयेव संप्रति मम प्रीत्यै नवोढा प्रिया ॥’

माने मृदुर्यथा—

‘सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवल्नावक्रोक्ससूचनम् ।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोललकैरश्रुभिः ॥

समधिकलज्जावती यथा—

‘दत्ते सालसमन्धरं—’ इत्यत्र (१०८ पृ.) श्लोके ।

यन्त्रणा व्याकुलभावम् । कामप्यनिर्वचनीयाम् । भावेन निगूढाभिप्रायेण किञ्चिद्-
भीरुदुरवबोधं वक्रिण्या एव स्फुटं च यथा स्यात्तथा भाषते । उत्पत्यन्ती सादर
कथयन्तीम् । ईहते चेष्टते ॥ सा पत्युरिति । अपराधोऽन्यनायिकासमम ।
प्राथमिकतज्ज्ञानसमये सख्या सख्येन वा य उपदेशस्तम् । विभ्रम स्मरविकार,
अङ्गस्य बलन सवरणम्, ताभ्या सहिता । यदि विभ्रमो न स्यात्तदा पत्युरपराधे
ईर्ष्यापि न स्यादिति भावः । वक्राया अपराधव्यञ्जिकाया उक्ते ससूचनं कथनम् ।
पर्यस्ते वपले, व्याकुले वा नेत्रोत्पले यस्या सा । रोदित्येव । न तु भ्रुकुटिबन्धा-
दिकं करोति । लुठन्तो लोलाक्षला अलका यत्र तैः ॥ ननु समधिकलज्जावती तान
व्रतौ प्रतिकूला भवतीति ‘रतौ वामा’ इत्यनेनैव तस्या ग्रहणे सिद्धे ‘समधिक

१. धामतयेति । इति प्रतिकूलाचरणतयैव संप्रति नवसमये नवोढा नवपरिणीता
प्रिया मम प्रीत्यै जाता । अत्रेदमाकृतम्—अभिनवसमागमे धम्भा. प्रतिकूलवर्तित्वमेव
नितरा भूषणम् । अन्यथा गौरवराहित्येन दोः शीत्यं स्यात् ॥

२. सविभ्रमेति । सविभ्रमं यथा स्यात्तथा अङ्गस्य भ्रुकुट्यादेः बलना स्वाभिप्रा-
याविष्करणाय चालनं वक्त्रीकरणम्, याश्च वक्रोच्चयः, ताभिः ससूचनमिति समस्ते
स्मारस्तम् । स्वच्छैरिति निर्मलैः । अच्छयोर्निर्मलयो कपोलयोर्मूलेन गलितैः । अत्रनप-
त्ररचनाव्यपगमादक्षकपोलयो स्वच्छता, तेन रोदनाधिक्यम् । उत्पन्नशयनान्मूलेन
गलनम् । ‘अश्रुभिः’ इतीत्यभूतलक्षणे तृतीया । अश्रुवाप्य निश्चितं वा केवलं रोदनमेव
करोतीत्यर्थः ।

३. सख्येनेति । सख्येन छीदनेनेत्येव पक्षो व्यापारः ॥

अत्र समधिकलज्जावतीत्वेनापि लज्जाया रतिवामताया विच्छित्ति-
विशेषवत्तयां पुनः कथनम् ।

अथ मध्या—

मध्या विचित्रसुरता प्ररुढस्वरयौवना ।

ईपत्प्रगल्भवचना मध्यमव्रीडिता मेता ॥ ५९ ॥

विचित्रसुरता यथा—

‘कान्ते तथा कथमपि प्रथितं मृगाक्ष्या

चातुर्यमुद्धतमनोमध्या रतेषु ।

तत्कूजितान्यनुवदद्भिरनेकवारं

शिष्यायितं गृहकपोतशतैर्यथास्याः ॥’

प्ररुढसरा यथात्रैवोदाहरणे ।

प्ररुढयौवना यथा मम—

‘नेत्रे खजनगजने, सरसिजप्रत्यर्थि पाणिद्वयं,

वक्षोजौ करिकुम्भविभ्रगकरीमत्युन्नतिं गच्छतः ।

कान्तिः फाञ्जनचम्पकप्रतिनिधि, वीणी मुंघास्यन्दिनी,

सेरेन्दीवरदामसोदरवपुस्तस्याः कटाक्षच्छटा ॥’

लज्जावती’ इति पृथगुपादानं किमर्थमित्याह—अत्रेति । विच्छित्तिविशेषवत्तया
यैचिष्यविशेषपदपादकत्वेन ॥ प्ररुढे अत्यर्थमुत्पन्ने स्वरयौवने यस्याः सा ।
मध्यमं व्रीडितं लज्जा यस्याः सा । त (अ)स्याः कूजितानि अभ्यक्षशब्दविशेषान् ।
शिष्यायितं शिष्यवदानरितम् ॥ नेत्रे इति । खजनानां गजने परामवका-

१. कान्त इति । हे कान्ते, उद्धत उत्कटो मनोमनो यस्यास्तस्या मृगाक्ष्या रतेषु सुरत-
व्यतिकरेषु चित्तपरिरम्भेन रगणादृतम् । कपोतानां चिराप्यवज्जलमाय रतेष्विति बहुवचनम् ।
अन्यथा तादृशी शिष्यता मन्वेत । कथमपि सहता व्यवसायेन तथा चातुर्यं सुरतसंग्रहैर्दग्धं
प्रथितं यथास्याः तानि विविधगद्गिरेलक्षणेन प्रथितानि । एतेन आश्रयं स्यूयते । कूजितानि
मणितविशेषान् । अनेकवारमसकृत् अनुवदद्भिः कूजनाव्यवहितोत्तरकाळं गृणद्भिः गृहकपो-
तशतैः शिष्यायितम् । अन्तेवासिबदाचरितगिर्यैः । कान्ते शिष्ये, इति सप्तम्यन्तमपि ॥

‘१. ग पुल्ले ॥ ‘मध्या’ यथा—‘मध्यातयौवनावद्वा मोहन्ता सुरतक्षमा ।’ इत्येव लक्ष्यं दृश्यते.

२. ‘यथा’ क, ‘तथा’ ख. ३. ‘विचित्र’ इत्यादेः ‘अन्वयमपि’ इत्यन्तस्य ग्रन्थस्य स्थाने ‘तय यौव-
नवती मध्या यथा—’आलपापान्प्रविरागो विरलमस्ति इत्यल्लक्ष्यविशेषपक्षं बीजोद्गमिष्य प्रथिता प्रतनयति
, मन्वाप्यवतिष्ठो वितम्बः । लक्ष्म्यलक्षार्थमूर्ध्वकृचक्षिस्तुते नूनमन्त शरेण स्पृष्टा मोदन्मनोज्ञा हरिण-
चिपुष्टो दृश्यते यौवनश्रीः ॥ एवं मध्यागावदिकमूलम् । इति पाठो गन्धर्वकैः, ४. ‘सुवारपार्थिनी’ क.

एवमन्यथापि ।

अथ प्रगल्भा—

सराब्धा गाढतारुण्या समस्तरतकोविदा ।

भावोन्नता दरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्तनायका ॥ ६० ॥

सराब्धा यथा—

‘धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि

विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।

रिणि । प्रत्यर्थि वैरि । ताभ्यां सादृश्यत्वमः । करिकुम्भयोर्विशिष्टभ्रमं करोति या ताम् । स्नेहस्य प्रकुलस्य इन्दीवरदान्नः सोदरं सदृशं वपुः स्वरूपं यस्याः सा । छटा धारा ॥ एवमिति । एवं लक्षणानुसारेण अन्यत्र किञ्चित्प्रगल्भवचनामप्यमग्री-
डितयोर्वदाहरणमूढम् । यथा—‘सुभग कुरवकस्त्वं किं ममालिङ्गनोत्कः किमु सुखमदिरेच्छुः केसरो नो हृदिस्थः । त्वयि नियतमशोके युज्यते पादघातः प्रिय-
मिति परिहासात्पेशलं कचिद्वचे ॥’ ‘किञ्चिदाकुशयस्यासं मन्दहासातिमुन्दरम् ।
दरमुद्रितनेत्रान्ता चुम्बतीशे नितम्बिनी ॥’ भावैरनुभावैरुन्नता प्राप्ताधिकरूपा ॥
धन्यासीति । सखीनां मध्ये मुरतसमये बाह्यकयालापिनीं कचिदुपहसन्त्याः

१. धन्येति । सखीमण्डले रहस्य कथयन्ती प्रति विदग्धाया उक्तिरियम् । पूर्वं साक्ष-
तोक्तावेकस्याः संशोध्यत्वादेकवचनं धन्येति । तत्रः स्तोत्रपंथ्यापने बह्वीनां संशोध्यत्वाद्
बहुवचनं सख्य इति नासंगतिः शङ्कनीयात्र । पाठोऽन्येवमेव सर्वत्र । हे सखि, या त्वं
प्रियसंगमे रतान्तरेष्वपि रतिमध्येष्वपि विश्रब्धानां विश्रब्धानां चाटुकानां प्रियवाक्यानां
शतानि कथयसि सा त्वं धन्यासि । इति योजना । प्रथमतः प्रियसंगमे एव विलक्षणा-
नन्दनगन्धरतया तरुधनमशक्यम् । तत्रापि रते । तत्रापि नादी नान्ये, किं तु मध्ये ।
तस्य च पुनरिदानीं स्मरणमित्याश्चर्यभूतं तव सावधानत्वमिति भावः । भोः सख्यः,
प्रियेण नीचीं नामितलवसनग्रन्थि प्रति करे प्रणिहिते प्रणिधानविषयीकृते, नीच्यां करो-
ऽपितम्य इति सकल्पविषयीकृते । न त्वपि ते इत्यर्थः । आदिकर्मणि क्तः । अवाचकत्वापत्तेः
अभिप्रायस्य लाघवापत्तेश्च । यदि किञ्चिदपि स्मरामि तदा श्रुयामि श्रुयं करोमीति
योजना । भवतीनां श्रुयोऽहं तु न किञ्चिदपि स्मरामि । किं पुनस्तादृशवाक्यमित्यपिश-
ब्दार्थः । यद्यपि ‘श्रु उपलम्बने’ इति वार्तिकेनात्मनेपदं प्राप्नोति तथापि श्रुयकरणक-
प्रकाशनाविवक्षया न उत्पवृत्तिरिति, आप्ये ‘उपलम्बने’ इत्येव पाठः । प्रकाशनमिति
तदर्थः । सिद्धान्तकौमुद्याम् ‘उपलम्बने’ इति पाठ एतस्य व्याख्यानं च वृत्तिग्रन्था-
नुरोपेनेति च शब्देन्दुशेखरे द्रष्टव्यम् ॥ अस्यैव श्लोकस्य पद्यामृतः ‘धन्यास्ताः सखि
योषितः प्रियतमे, सर्वाङ्गल्लेखेऽपि याः प्रागल्भ्यं प्रययन्ति मोहनविधावाल्गव्यं धैर्यं महत् ।
अस्माकं तु तदीयपाणिकमलेऽप्युन्मोचयत्यंशुकं कोऽयं का वयमत्र किं तु मुरतं नैव
स्मृतिर्जायते ॥’ इति रङ्गकविश्लोकः ॥

नीर्वा प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण

सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥'

गाढतारुण्या यथा—

‘अत्युन्नतस्तनमुरो, नयने सुदीर्घे,

वक्त्रे भ्रुवावतितरां, वचनं ततोऽपि ।

मध्योऽधिकं तनु, रनूनगुरुर्नितम्बो,

मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनाया ॥'

समस्तरतकोविदा यथा—

‘कचिचाम्बूलकः कचिदगरूपद्माङ्गमलिनः

कचिच्छूर्णोद्गारी कचिदपि च सालककपदः ।

वलीमङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः

स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति स्तं प्रच्छदपटः ॥'

भावोन्नता यथा—

‘मधुरवचनैः सभ्रूमङ्गैः कृताङ्गुलितर्जनैः

रमसरचितैरङ्गन्यासैर्महोत्सववन्दुभिः ।

असकृदसकृत्स्फारस्फारैरवाङ्गविलोकिता-

स्त्रिभुवनजये सा पञ्चेपो. करोति सहायताम् ॥'

स्वल्पग्रीहा यथा—

‘धन्यासि या कथयसि—’ इत्यत्रैव (१११)

रुस्याश्चिदुक्तिरियम् । प्रियस्य सगमेऽपि स्पर्शमात्रेऽपि या त्व विभ्रब्धेन विश्वासेन
चाद्भुतशतानि प्रियोक्तिशतानि कथयसि सा त्व धन्या । किमुत .रतान्तरेषु ।
शपामि शपथं करोमि । अत्र परस्मैपदमशिष्टम् ॥ ततोऽपि भ्रूम्यामपि । अति-
तरामत्यर्थम् । वक्त्रमित्यर्थः । अनूनगुरु अतिस्थूल । किमप्यत्यर्थम् । अद्भुतयौ-
वनाया उद्दमयौवनाया ॥ कचिदिति । ताम्बूलकं ताम्बूलजन्यरागोक्षित ।
अगरु कालागरु । अङ्गं निहम् । चूर्णानि गन्धद्रव्यविशेषानुद्गिरति निघ्नीवतीति
स । पदं चिह्नम् । वलीयस्त्रिखलीमि कृता ये भङ्गा निम्नत्वादि तेषामाभोगैः
परिपूर्णतामि । अलकेभ्यः केशेभ्यः पतितैः स्वलितैः शीर्णकुसुमैः उपमर्दितपु-
ष्पैश्चोपलक्षित । सर्वावस्थं सर्वप्रकारम् । कथयति सूचयति । प्रच्छदपटं शय्या-
वरणवस्त्रम् ॥ मधुरेति । कृतानि अङ्गुलितर्जनानि यत्र स । रमसरचितैः हर्ष-

१ ग-पुष्पके तु गाढतारुण्याया उदाहरणं नास्ति २ ‘समस्त-’ इत्यदि ३ ‘मेशान्वराणां’
इत्यतः पाठो ग-पुष्पके नास्ति

आक्रान्तनायकां यथा—

‘स्वामिन्मङ्गुरयालकं, सतिलकं मालं विलासिन्कुरु,

प्राणेश त्रुटितं पयोधरतटे हारं पुनर्योजय ।

इत्युक्त्वा सुरतावसानसमये संपूर्णचन्द्रानना

स्पृष्टा तेन तथैव जातपुलका प्राप्ता पुनर्मोहनम् ॥’

मध्याप्रगल्भयोर्भेदान्तराण्याह—

ते धीरा चाप्यधीरा च धीराधीरेति पद्विधे ।

ते मध्याप्रगल्भे ।

तत्र—

प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्या धीरा दहेदुषा ॥ ६१ ।

धीराधीरा तु रुदितैरधीरा पर्योक्तिभिः ।

तत्र मध्या धीरा यथा—

‘तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति

प्रियजनपरिभुक्तं यदुकूलं दधानः ।

मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्री-

र्धजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥’

मध्यैव धीराधीरा यथा—

‘बाले, नाथ, विमुञ्च मानिर्नि रुपं, रोषान्मया किं कृतं,

खेदोऽस्मासु, न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि ।

कृतैः महोत्सवस्य बन्धुभिः जनकैः । स्फारस्फारैः भविष्यैः ॥ स्वामिन्निति ।
भट्टारय भक्तियुक्तं कुरु । त्रुटितं छिन्नम् । तेन स्वामिना । मोहनं सुरतमुख्यादिज्ञानम् ॥
‘मध्या’ इति स्थानत्रयेऽन्वेति । सोत्प्रासवक्रोक्त्या सपरिहासश्लिष्टवचनेन ।
दहेत् संतापयेत् । रुपेति कर्तृविशेषणम् ॥ तदिति । अवितथं सत्यम् । मण्डनेन
भूषणेन कृता भीः शोभा । वल्लभा प्रिया तत्कर्तृकालोकनेन । अत्र च [अ]वितथमिति
मिथ्या, यद् यस्मात् मम तापाय प्रतिनायिकापरिहितवत्त्वं परिचाय मम मेहमागाः ।
यद्यहं ते प्रिया स्या तदा मत्तापजनकं कर्म न कुर्याः । एतत्तावत्सता मण्डनं न
भवति । यदि तवैतन्मण्डनं तदा तज्जन्वशोभा या प्रिया भवति । तामेवावलोकय ।
ममालोकनया किं प्रयोजनमिति श्लेष एवात्र वक्रोक्तिः ॥ बाले इति । नायकस्य
नायिकायाथोक्तिप्रत्युक्तिरूपः श्लोकोऽयम् । खेदोऽस्मासु कृत इत्यन्वयः । भवत-

तर्हि रोदिषि गद्गदेन वचसा, कस्याप्रतो रुद्यते,
नन्वेतन्मम, का तवासि, दयिता, नासीत्यतो रुद्यते ॥

इयमेवाधीरा यथा—

‘सार्धं मनोरयशतैस्तव घूर्त कान्ता
सैव स्थिता मनसि कृत्रिमहावस्म्या ।
अस्माकमस्ति नहि कश्चिदिहावकाश-
स्तस्मात्कृतं चरणपातविडम्बनाभिः ॥’

प्रगल्भा यदि धीरा स्याच्छन्नकोपाकृतिस्तदा ॥ ६२ ॥

उदास्ते सुरते तत्र दर्शयन्त्यादरान्वहिः ।

तत्र प्रिये ।

यथा—

‘एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युन्नमादूरत-
स्ताम्बूलानयनच्छलेन रमसाश्लेषोऽपि संमिश्रितः ।
आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्यान्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः ॥’

‘धीराधीरा तु सोल्लुण्ठयामितैः खेदयत्यमुम् ॥ ६३ ॥

अमुं नायकम् ।

स्तावदपरधो नास्ति । मम रूपा कथं खेद इत्यभिप्रायेण—का तमेति । दयिता
भार्या । नासीति । अहं न दयिता । प्रेमपानमित्यर्थः ॥ इयमेव ममैव ॥ सार्ध-
मिति । कृत्रिमेण सामाविकेतरेण ह्येन भावविशेषेण तत्र मनोरमा इह तत्र
मनसि । कृतवैयर्थ्यम् । चरणपातेन विडम्बनाभिर्विद्रावैः ॥ प्रमदमेति । छप्पा संवृता
कोपाकृतिः कोपसूचको मुखरागादिर्यथा । उदास्ते उदासीना अनुरागहीना भवति ।
नहिर्वाहान् । न त्वान्तरान् ॥ तत्रेति विज्ञोति—प्रिये इति । एकमेति । एक-
स्मिन्नासने आसनसंस्थितिः उपवेशनसंबन्धः । रमसाश्लेषो हर्षास्तिजनम् । संमिश्रितः
सम्यक्प्रतिरुद्धः । न मिश्रितः नोत्तरेण युक्तः कृतः । व्यापारयन्त्या नायकपरिचर्यार्थं
सम्भाषारीजुर्वेत्ता । अन्तिके इति विजनत्वमावोपपत्तये । उपचारतः प्रीतिद्वेष-
व्यापारान् विधातुम् । कोप इति संनोगप्रतिरोधः क्रोधस्य फलम् । तेनैव कान्तो

१. ‘एवं मध्यवीर्यदिव्यपूज्यम्’ ग. २. ‘सर्व-’ इति सोको ग पुच्छके नास्ति. ३. ‘तमेति नायके
ग. ४. ‘सोल्लुण्ठयामितैः’ इत्यभिप्रायः ग-पुच्छके.

यथा मम—

‘अनलंकृतोऽपि सुन्दर हरसि मनो मे यतः प्रसभम् ।

किं पुनरलंकृतस्त्वं संप्रति नखरक्षतैस्तस्याः ॥’

तर्जयेत्ताडयेदन्या—

अन्या अधीरा । यथा—‘शोणं वीक्ष्य मुखं—’ इत्यत्र (९९ पृ०) ।
अत्र च सर्वत्र ‘रुपा’ इत्यनुवर्तते ।

प्रत्येकं ता अपि द्विधा

कनिष्ठज्येष्ठरूपत्वान्नायकप्रणयं प्रति ॥ ६४ ॥

ता अनन्तरोक्ताः पद्मेदा नायिकाः ।

यथा—

‘द्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-

देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः

ईषद्वकितकंधरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-

मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥

मध्याप्रगल्भयोर्भेदास्तस्याद्वादश कीर्तिताः ।

मुग्धा त्वेकैव तेन स्युः स्त्रीयामेदास्त्रयोदश ॥ ६५ ॥

परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा ।

वशीकृत इति भावः ॥ प्रियवद्भासमानमप्रियं सोलुण्ठनम् ॥’ अनलंकृत इति ।
किं पुनरिति । किमुत्तरेण्यः । तस्याः प्रतिनायिकायाः ॥ शोणमित्यादि धृष्टनायकोदा-
हरणे उक्तम् । स्वयेव लक्षणपत्रके ॥ दृष्टेति । प्रियतमे भार्ये । एकस्याः स्वल्प-
प्रणवन्नायिकायाः । क्रीडामनुबन्ध आरम्भः । अपरासतिप्रणयिनीम् ॥ तस्या-

१. अन्तरिति । अन्तर्यो हासस्तेन लसन्तो नायिकाप्रवारणदृष्टनायकवेदगध्यजन्य-
वहलानन्दोदयेन दीप्यमानौ कपोलौ फलमिव यस्यास्ताम् ॥

२. मुग्धेति । रुद्रोऽप्याह—‘एकाकारा मता मुग्धा पुनर्भूय यतोऽनयोः । अति-
सहमतया भेदः कविभिर्न प्रदर्शितः ॥’ इति ॥

१. ‘यथा—’ इत्यादि ‘तस्याः’ इत्यन्तं न पुच्छके नास्ति. २. ‘अनयोस्तुपुत्राहरणम्’ न.
३. ‘अनन्तरोक्ताः’ न पुच्छके नास्ति. ४. ‘नायिका’ न पुच्छके नास्ति.

तेन

यात्रादिनिरतान्योढा कुलटा गलितव्रणा ॥ ६६ ॥

यथा—

‘स्वामी निःश्वसितेऽप्यसूयति, मनोजिघ्रः सपत्नीजनः,

श्वश्रूरिज्जितदैवतं, नयनयोरीहालिहो यातरः ।

तद्दूरादयमञ्जलिः, किमधुना दृग्मङ्गिभावेन ते,

वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिक, व्यर्थोऽयमत्र श्रमः ॥’

अत्र हि मम परिणेतानाच्छादनादिदातृतया स्वाम्येव न तु बलभः ।
त्वं तु वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिकतया मम बलभोऽसीत्यादिव्यङ्ग्यार्थवशा-
वस्थाः परनायकविषया रतिः प्रतीयते ।

कैन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना ।/-

दिति । उपदर्शितलक्षणभेदादित्यर्थः ॥ यात्रादीति । उत्सवादीत्यर्थः । कुलटा
परमवृणामिनी ॥ स्वामीति । निःश्वसिते सतीत्यर्थः । निःश्वसितेन प्रच्छन्नकामु-
काप्राप्तिदुःखमनुमाय मह्यमीर्ष्यतीति भावः । मनसो प्राणजप्रत्यक्षासंभवेन अभि-
प्रायवेदने लक्षणा तस्य आचार्य प्रयोजनम् । एवमप्रयोरपि । इक्षितमभिप्रायसूच-
कधेष्टाविशेषः, तद्वत् तदभिज्ञ । ईहालिहधेष्टाविशेषसूचनीयार्थमभिज्ञः । यातरः
पतिभ्रातुः पदयः । वैदग्ध्या मधुरो मनोहरः प्रबन्धः सुस्तप्रयोगस्तस्य रसयुक्तः ।
यद्वा, वैदग्ध्या मधुरः प्रबन्धो यस्य तत्संबोधने तथा । अत्र स्वाम्याद्याकीर्णे देशे ।
श्रमो मत्प्राप्तिसाधनव्यापारः । ननु स्वप्राप्तिसाधनव्यापारव्यर्थत्वबोधनेनास्याः परना-
यकरस्यभावः प्रतीयते तेन च कुलटायाभाव इति कथमस्याः परनायिकात्वमत-
आह—अत्र हीति । परिणेतो विवाहकर्ता । एतदुपलक्षणम् । ‘अधुना’—‘अत्र’
पदाम्ब्यामपि कालान्तरे देसान्तरे च श्रमसार्थनित्यन्यजनेनापि रतिः प्रतीयत इति ॥
अजातोपयमा अजातविवाहा ॥ उदाहरणान्तरं ॥ नैषधीयचरिते यथा—
‘अनैषधायैव जुहोति तातः किं भो कृशानो न शरीररक्षेयाम् । ईष्टे तनूजन्मतनोः स नूनं
मत्प्राणनायस्तु नलस्तथापि ॥’ अत्र विवाहात्पूर्वं दमयन्त्या नयनुरागः ॥ साधार-

१. यात्रादीति । आदिशब्देन दारदेशवसान-गोष्ठीयोजन-राजमार्गादलोक्त-
हरणप्रातिपेक्षसद्वनगमनादयो वेद्याः । इषमन्योढा न प्रधानरते वचित्रिबन्धनीया । तथा
चोक्तम्—‘अन्यङ्गी कन्यकोढा च, नाऽन्योडाङ्गिरसे वचित् । कन्यानुत्पानिच्छातः
कुर्यादङ्गाङ्गिसंघयम् ॥’ इति दिक् ॥

२. कन्यका अनूढा । ‘अस्याय विवाहायलघातारणीवत्पदम्’ इति य. ३. ‘यात्रा’ इति कर्त्त-
व्यं वक्ष्यते अनुच्छेदे. ४. ‘तव पतेर्यथा यथा’ इति य. ५. अनुच्छेदे तु ‘त्रितीया यथा चान्द्रीन्द्रि-
क्षेव पाठः न तु ‘अथ—इह—’दो ‘मन्त्रिके’ इत्यन्ता ५. एतादृशवार्थं अनुच्छेदे वक्ष्यते.

अस्याश्च पित्राद्यायत्तत्वात्परकीयात्वम् । यथा मालतीमाधवादौ मालत्यादिः ।

धीरा कैलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका ॥ ६७ ॥

षष्ठियमाह—धीरेति । सुरतपण्डितेत्यर्थः । कला नृत्यगीतादयः, तत्र प्रगल्भा

१. कलेति । कलाश्चतुःषष्टिः । ता पताः—(१) गीतम्, (२) वाद्यम्, (३) नृत्यम्, (४) भालेख्यम्, (५) विशेषकच्छेद्यम्, (६) तण्डुलकुसुमवलिविकाराः, (७) पुष्पास्तरणम्, (८) दशनवसनाग्ररागः, (९) मणिभूमिकाकर्म, (१०) शयनरचनम्, (११) उदरबाधम्, (१२) उदकाघातः, (१३) चिन्ताश्च योगाः, (१४) मास्यप्रधनविकल्पाः, (१५) शैलरकापीडयोजनम्, (१६) नेपथ्यप्रयोगाः, (१७) कर्णपत्रमङ्गाः, (१८) गन्धयुक्तिः, (१९) भूषणयोजनम्, (२०) देन्द्रजाताः, कौचुमाराश्च योगाः, (२१) हस्तलापयम्, (२२) विचित्रशक्यूपमव्यवहारक्रिया, (२३) पानकरसरागासवयोजनम्, (२४) सूचीवानकर्मणि, (२५) 'सूत्रक्रीडा, (२६) वीणाढमरुवाद्यानि, (२७) मद्देहिका, (२८) प्रतिमाला, (२९) दुर्वाचकयोगाः, (३०) पुस्तकवाचनम्, (३१) नाटकाख्यायिकादर्शनम्, (३२) काव्यसप्तस्वापूरणम्, (३३) पट्टिका-वेष्टनविकल्पाः, (३४) तक्षकर्मणि, (३५) तक्षणम्, (३६) वास्तुविद्या, (३७) रूप्यरत्नपरीक्षा, (३८) धातुवादः, (३९) मणिरायाकारज्ञानम्, (४०) दृ-क्षाद्युर्वेदयोगाः, (४१) मेघकुङ्कुटलावकयुद्धविधिः, (४२) शुकसारिकाप्रलापनम्, (४३) लक्ष्मिदाने संवाहने केशमर्दने च कौशलम्, (४४) अक्षरमुद्रिकाकथनम्, (४५) श्लेष्मिष्ठविकल्पाः, (४६) देशभाषाविज्ञानम्, (४७) पुष्पशकटिका, (४८) निमित्तज्ञानम्, (४९) वस्त्रमातृका, (५०) धारणमातृका, (५१) संपाठ्यम्, (५२) मानसी, (५३) काव्यक्रिया (५४) अभिधानकोषः, (५५) छन्दोहा-नम्, (५६) क्रियाकल्पः, (५७) छलितकयोगाः, (५८) वस्त्रगोपनानि, (५९) द्यूतविशेषाः, (६०) भाकर्षक्रीडा, (६१) बालक्रीडनकानि, (६२) वैनयिकीना, (६३) वैजयित्रीना (६४) व्यायामिवीना च विद्याना ज्ञानम् । ५—विशेषकेति । विशेषकस्तिलक यो ललाटे दीयते । तस्य भूर्वादिपञ्चमवस्थानेकप्रकार छेदनमेव छेद्यम् । ६—तण्डुलेति । नानावर्णैरतण्डुलतण्डुले चरस्वतीभवने मणिकुट्टिनेषु तथा कुङ्कु-मैर्मण्डितैः शिवार्चनार्थं च मक्तिविकाराः । ८—दशनेति । रागशब्दः प्रत्येकमभि-संवध्यते । तत्राङ्गरागोद्गमाष्टिः कुङ्कुमादिना । ११—उदकेति । उदके सुरमादि-द्रव्यम् । १२—उदकेति । हस्तयत्रमुक्तैरुदकैस्त्राडनम् । १३—चिन्ता इति । नानाप्रका-रदौर्भाग्यैकेन्द्रियपल्लित्विषणादयः । २०—कौचुमारा इति । कुचुमारस्यैव सुमगकरणा-दयः उपायान्तरासिद्धसाधनार्थाः । २४—सूचीति । सूच्या यत्सम्पन्नकरण तत्सूची-वानम् । २५—सूत्रेति । नालिकासंवारनालादिमुत्राण्यमन्यथान्यथा दर्शयन् । छिन्ना दग्ध्वा च पुनरच्छित्त्वादग्ध्वा च दर्शयन् । तच्चाङ्गुलिन्यासात् । देवकुलादिदर्श-

निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिष्वपि ।

वित्तमात्रं समालोक्य सा रामं दर्शयेद्बहिः ॥ ६८ ॥

काममङ्गीकृतमपि परिक्षीणधनं नरम् ।

मात्रा निःसारयेदेपा पुनःसंधानकाह्वया ॥ ६९ ॥

अतिनिपुणा । बहिः कृत्रिमम् । काममन्तर्यमङ्गीकृतं बलभत्वेन स्वीकृतम् । मात्रा

नम् । २८—प्रतीति । यस्या अन्त्याक्षरिकेति प्रतीतिः । सा श्रीदार्था वादार्था च । यथो-
क्तम्—‘प्रतिशोकं क्रमाच्च संपायाक्षरमन्तिमम् । पठेतां श्लोकमन्योन्यं प्रतिमालेति
सोच्यते ॥’ इति । २९—दुरिति । सन्दतोऽर्धतश्च दुःखेन्येच्यत इति दुर्वाचकम् । तस्य
प्रयोगाः क्रीडार्था वादार्थाश्च । ३२—कान्येति । समसनं समसा । ‘असु क्षेपणे’ प्यत् ।
‘संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः’ इति वृद्धिर्न । तस्याः पूरणम् । तद्यथा मम—‘गीर्वाणोद्देष्टु
महाशयानां वैशानतरालेषु च कामुकानाम् । रागादुरं पल्लवयत्यमन्दं यत्राच्युतोदारक-
धाप्रसक्तः ॥’ अत्र तुरीयः पादः समसा । ३५—तमुपेति । वर्धकिकर्म । शयनासनाम-
धम् । ३८—धात्विति । क्षेपवादः । स ■ मृत्पक्षरत्नधातूनां पातनशोधनमेलनादि-
भागहेतुरर्थाभिः । ४०—वृत्तेति । रोपणपुष्टिचित्रसाधैचिम्बकृतो मृष्टोवागार्थाः । ४२-
उत्सादन इति । मर्दनं द्विविधम्—पादाभ्यां हस्ताभ्यां च । तत्र पादाभ्यां पम्पदं
तदुत्सादनमुच्यते । हस्ताभ्यां अचिह्नोभ्यद्गुरुं तत्केशमर्दनम् । शेषाङ्गेषु मर्दनं सवाह-
नम् । ४४—अक्षरेति । अक्षरार्थां मुष्टिरिव मुष्टिका मुष्टिरिति । सा साभासा निराभासा
च । तत्र साभासा अक्षरमुदेत्युच्यते । तथा कथनं गूढवस्तुमग्नार्थं ग्रन्थसंक्षेपार्थं च ।
तदुक्तमाचार्यरविगुप्तेन चन्द्रप्रभाविजये—‘गहनप्रसन्नसर्वा कतिपयसूत्रामिमामनन्तमु-
त्तीम् । अनधीत्याक्षरमुद्रां वादसमुदे परिश्रुवते ॥’ इति । निराभासा मुदेत्युच्यते । तथा
कथनं गौप्यवस्तुमग्नार्थम् । यथोक्तम्—‘मुष्टिः किसलयं चैव च्छया च निपताकिका ।
पत्राकाङ्क्षमुद्राश्च मुद्रावर्गेषु स्यात् ॥ अत्रुत्पञ्चाक्षराप्येषां साराध्याहुल्लिखन्तु । संयोगाद-
क्षरं युक्तं भूतमुद्रा प्रकीर्तिता ॥’ इति । ४५—म्लेच्छितेति । यत्सापुशब्दोपनिषदमप्यक्ष-
रविन्यासादस्पृष्टार्थं तन्म्लेच्छितम् । गूढवस्तुमग्नार्थमेतत् । ४९—यप्रेति । सजीवानां
‘निर्जीवानां यथाणां शानोदकसंप्रामार्थं घटनाशास्त्रम् । ५०—धारणेति । हृतस्य ग्रन्थस्य
धारणार्थं शास्त्रम् । ५२—मानवीति । मनसि अथ चिन्ता दृश्यादृश्यभेदविषया ।
५७—छलितकेति । परव्यामोहनाथाः । आकपेति । पाशकन्धीदा । घृतविशेषत्वेऽपि पुनर्व-
चनमादरार्थम् । सशृङ्गारत्वादुविशेषत्वाद्वा । अक्षरद्वयापरिधाने हि नल्युधिधिरयोरपि परा-
जयात् । ६२—वैनेति । स्वपरविनयप्रयोजनादैनयिक्यः आचारशास्त्राणि । एवमितरे अपि ॥

1. काममित्यादि । स्पष्टोऽयमर्थो वात्स्यायनीये वैशिकिकाधिकरणे—‘सक्तं तु पूर्वोपका-
रिणमप्यत्यक्तं ज्वलीकेनानुपाठयेत् । असारं तु निष्प्रतिपत्तिकमुपायतोऽपवादयेत् ।
अयमवश्यम् ।’ इति, ‘वर्तमानं निष्पीडितार्थमुत्सृजन्ती पूर्वसंश्लेषेन सह संदध्यात् । त
चेदवसिताथो वित्तवान्सानुरागश्च ततः संवेयः ।’ इति च ॥

तस्कराः पण्डका मूर्खाः सुखप्राप्तधनास्तथा ।

लिङ्गिनश्छन्नकामाद्या अस्याः प्रायेण वल्लभाः ॥ ७० ॥

एपापि मदनयत्ता कापि सत्यानुरागिणि ।

रक्तायां वा विरक्तायां रतमस्यां सुदुर्लभम् ॥ ७१ ॥

पण्डको वातपाण्डादिः । छन्नं प्रच्छन्नं ये कामयन्ते ते छन्नकामाः । तत्र रागहीना यथा लटकमेलकादौ मदनमञ्जर्यादिः । रक्ता यथा मृच्छकटिकादौ वसन्तसेनादिः ।

गृहीतोपकरणद्रव्यं निःसारयेद्वाहयति (येत्) । संधानं सुरतार्थं संनिधानम् । सुखेन अनायासेन प्राप्तं धनं यैस्ते । लिङ्गनस्त्रपस्त्रिवेपधारिणः । अस्याः वैद्यायाः ।

१. तस्करा इति । अयमर्थो धात्वावनीये सविशेषमुक्तः—‘स्वतन्त्रः पूर्वं वयसि वर्तमानो वित्तवानपरोक्षश्चित्तरथिकरणवानकृच्छ्रपिगतवित्तः । संवर्षवान्संततायः सुभगमानी श्रायनकः पण्डकश्च पुंशब्दार्थः । समानस्पर्धी स्वभावतस्त्रापी । राजति महामात्रे वा सिद्धो देवप्रमाणो विचावमानी गुरुणां शासनादिगः सजातानां लक्ष्यभूतः सवित्त एक-पुत्रो लिङ्गी प्रच्छन्नकामः शूरो वैद्यश्च ।’ इति ॥

२. रतमिति । रतमस्यां सुदुर्लभमित्युक्तिस्तु नितरा जघन्यतमा हरितालपातयोग्या च । शास्त्रस्य वस्तुस्थितिरुपापनमात्रपरतया तदनुमोदनानुपलम्भादिछेदनादुत्तराच्च । अत एव कामसूत्रकृताप्यभिहितम्—‘धर्ममर्थं च कामं च प्रत्ययं लोकमेव च । पर्यत्येगस्य तत्त्वयो न च रागात्प्रवर्तते ॥ अधिकारवशादुक्ता ये चित्रा रागवर्धनाः । तदनन्तरमत्रैव ते यत्ताद्विनिवारिताः ॥ तदेतद्ब्रह्मचर्येण परेण च समाधिना । विहितं लोकयात्रायै न रागा-र्थोऽस्य सविधिः ॥’ इति । एवं परकीयाविषयोऽपि जघन्यतम एव । उक्तं च ग्तेनैव—‘सदृश्य शास्त्रतो योगान्पारदारिकलक्षितान् । न वाति च्छलना कश्चित्स्वदारान्मति शास्त्र-विद् ॥ पाक्षिकात्वात्प्रयोगाणामपायानां च दर्शनात् । भर्माभ्येयोश्च वैलोभ्यान्नाचरेत्पा-रदारिकम् ॥ तदेतद्दारयुष्मर्भमारब्धं भवसे नृणाम् । प्रजानां दूषणायैव न विषयोऽस्य सविधिः’ इति ॥ अथवा, अष्टादशभाषावारविलासिनीमुग्गस्य च सर्वं शोभते ॥

३. पण्डक इति । पण्डको नरमन्यो नपुंसकः । स चात्मनः पुस्तकशपनार्थं बहु वितरति । वस्तुतस्तु पण्डको वातपण्डकादिरिति व्याख्यानं व्यायः । तथा चोक्तं चरक-संहितायां शरीरस्मान्नेऽनुत्यगोत्रीयास्थे द्वितीयाध्याये—‘वाय्वग्निदोषादृपणौ तु यस्य नाश गतौ वातिकपण्डकः सः ।’ इति । एवमन्येऽपि पण्डकमेदा निरूपिताः । पण्डते । ‘पण्डि गतौ’ । अच् । यद्वा, पणते । ‘पण व्यवहारे सुतौ च’ । अमन्ताहुः ॥

४. छन्नेति । प्रच्छन्नकामिनो हि प्रकटे न कामयन्ते लोको मा शास्त्रीदिनि । ते कामेन बाध्यमाना बहु वितरन्ति । छन्नं यथा स्वात् तथा कामयन्ते इति कर्मण्यण् ॥

पुनश्च—

अवस्थाभिर्भवन्त्यष्टावेताः पोडशमेदिताः ।
स्वाधीनभर्तृका तद्वत्खण्डिताथामिसारिका ॥ ७२ ॥
कलहान्तरिता विग्रलब्धा प्रोपितभर्तृका ।
अन्या वासकसञ्जा स्याद्विरहोत्कण्ठिता तथा ॥ ७३ ॥

तत्र—

कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम् ।
विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वाधीनभर्तृका ॥ ७४ ॥
यथा—‘अस्माकं सखि वाससी—’ इत्यादि (९९ पृ.) ।
पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्पसंयोगचिह्नितः ।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरौर्ष्याकपायिता ॥ ७५ ॥
यथा—‘तदवितथमवादीः—’ इत्यादि (११३ पृ.)
अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा ।
स्वयं चाभिसारत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका ॥ ७६ ॥

कमाद्यथा—

नै च मेऽधगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि ।
निपुणं तथैनमभिगम्य वैदेरभिदूति काचिदिति संदिदिशे ॥
‘उत्क्षिप्तं करकङ्कणद्वयमिदं, बद्धा दृढं मेखला,
यत्नेन प्रतिपादिता मुखरयोर्मञ्जीरयोर्मृकता ।

एषा वैश्यापि ॥ ईर्ष्याकपायिता ईर्ष्या कलुषीकृतचित्ता ॥ अभिसारिकापदस्य
व्युत्पत्तिरभ्यमर्थद्वयमेव लक्षणद्वयमाह—अभिसारयत इति ॥ न चेति । स
कान्तः अभिदूति अभिमुखागता दूती प्रति संदिदिशे वाचिकं न्यस्तवती ॥ उत्क्षिप्तं

१. पोडशेति । त्रयोदश स्त्रीयाः, द्वे परकीये, एका सामान्येति मिलित्वा पोडशमे-
दिता एताः । स्वाधीनपदिकाद्यष्टावस्थाभिः प्रत्येक भिद्यन्त इति तात्पर्यम् ॥

२. चदेरिति । विष्णवे प्रार्थने वा लिट् ॥

१. ‘यथा’ क २. ‘यस्या रतिगुणाकृष्टे रति पार्श्वे न मुच्यते’ म ३. ‘य—युच्यते तु—’ निम्नकथा-
वसुकुलीकृतनामनेत्रो नारीनखत्रणविशेषविचित्रिताङ्गः । यस्या कुलोऽपि गृहमेति पतिः प्रमाते सा
खण्डितेति कथिता सुविभिः पुराणि ४. ‘यथा—’नवनखत्रयमत्र गोपयत्यशुकेन—’ (इत्यादि) इति
पाठः ५. ‘कमाद्य’ इति म पुस्तके नास्ति. ६. ‘स्वरस्य प्रस्तुतविषये सावतिमिराणि तद्वन्तरूपाणि ।
नाथो पुस्तकात् ‘अवधरकरदण्डकैरवह’ ० म. ६. ‘उत्क्षिप्तं—’ इत्यादि ‘उदाहरणम् ।’ इत्यन्त-
पाठो म-पुस्तके नास्ति.

आरब्धे रमसान्मया प्रियससि क्रीडाभिसारोत्सवे,

चण्डालस्त्रिमिरावगुण्ठनपटक्षेपं विधत्ते विधुः ॥'

संलीना स्त्रेषु गात्रेषु मूकीकृतविभूषणा ।

अवगुण्ठनसंवीता कुलजाभिसरेद्यदि ॥ ७७ ॥

विचित्रोडबलवेया तु रणन्नूपुरकङ्कणा ।

प्रमोदसेरयदना स्याद्वेश्याभिसरेद्यदि ॥ ७८ ॥

मदस्फलितसंलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना ।

आविद्धगतिसंचारा स्यात्प्रेम्याभिसरेद्यदि ॥ ७९ ॥'

तत्रापि 'उत्सिसं—' इत्यादि (१२० पृ.) । अनयोरुक्तमुदाहरणम् ।

प्रसङ्गादभिसारस्थानानि कथ्यन्ते—

क्षेत्रं वाटी भग्नेदेवालयो दूतीगृहं वनम् ।

मालापञ्चः दैमशानं च नद्यादीनां तटी तथा ॥ ८० ॥

सम् ऊर्ध्वं न्यत्तम् । एतेन तयोः शब्दप्रतिरोधः । प्रतिपादिता कृता । तिमिरमेव

अवगुण्ठनपटः आच्छादनपत्रं तस्य क्षेत्रं निरासम् ॥ प्रसङ्गादभिसरणक्रममाह—

संलीनेति । गात्रेषु अङ्गेषु । संवृत्तिसर्वाङ्गीत्यर्थः । अवगुण्ठनेन आच्छादनपटेन

संवीता संरुतदेहा । एतदुपलक्षणम् । अनुलेपादिनापि संवीता । तत्रान्धकारे नील-

यत्रकुसुमकस्त्रिणासंवीता । ज्योत्स्नायां चन्दनद्रव्यसंवीता । क्रमेण यथा—'सितं

वसनमर्पितं वपुषि नीलचैलभ्रमान्मया भूषमदाशया मलयजद्रवः सेवितः । करेण

परिबोधितः सज्जनशङ्कया दुर्जनः परं परमपुण्यतः सखि न लहिता देहली ॥',

'मल्लिरामालभारिण्यः सर्वाङ्गीणार्द्रघन्दनाः । क्षीमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभि-

सारिकाः ॥' आविद्धः उद्धावितः पत्युः सङ्गावो यथा । 'आविद्धगतिसंचारा' इति

पाठे आविद्धया उद्धतया गत्या संचारः सकेतस्थानप्राप्तिर्यस्याः । सेत्यर्थः ॥ अत्र

कुलजाभिसरणप्रकारे । अनयोर्वेश्याप्रेम्याभिसरणप्रकारयोः । तत्र क्रमेणोदाहर-

णम् । यथा मम—'वामेषुवेद्यविधुरं धुरि दत्तवित्तं शिञ्जानमशुमणिनूपुरकिङ्कि-

णीका । मन्दं घृहकुचनितम्भरेण हृषादम्भासयत्यभिसरत्युत कापि धन्यम् ॥'

'कान्तं तमेकान्तगुणभिरामं महीहिताधानविद्वदकामम् । प्राप्यापमोदं विदधे सखीति

श्रुत्वत्यनीष्टं प्रमदाभियाति ॥' अत्र 'समोदम्' इति वक्तव्ये 'अपमोदम्' इति

१. 'मालापञ्चा' क; 'मालिपञ्चा' ग; 'मालयं च' घ. २. 'वैमशानानि' क. ३. 'साहि' ११

एवं कृताभिसाराणां पुंश्चलीनां विनोदने ।

स्थानान्यद्यौ तथा ध्वान्तच्छन्ने कुत्रचिदाश्रये ॥ ८१ ॥

चाटुकारमपि प्राणनाथं रोपादपास्य या ।

पश्चात्तापमवाप्नोति कलहान्तरिता तु सा ॥ ८२ ॥

यैथा मम तातपादानाम्—

‘नो चाटुश्रवणं कृतं, न च दशा हारोऽन्तिके वीक्षितः,

कान्तस्य प्रियहेतवो निजसखीवाचोऽपि दूरीकृताः ।

पादान्ते विनिपत्य तत्क्षणमसौ गच्छन्मया मूढया

पाणिभ्यामवरुध्य हन्त सहसा कण्ठे कथं नार्पितः ॥’

प्रियः कृत्वापि संकेतं यस्या नायाति संनिधिम् ।

विग्रलब्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता ॥ ८३ ॥

यैथा—

‘उत्तिष्ठ दूति, यामो, यामो यातस्तथापि नायातः ।

याऽतः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः ॥’

नानाकार्यवशाद्यस्या दूरदेशं गतः पतिः ।

सा मनोभवदुःखार्ता भवेत्प्रोषितमर्तुका ॥ ८४ ॥

सलापस्खलनम् ॥ क्षेत्रं सस्योत्पत्तिस्थानम् बाटी निर्जनवास्तु । मालापदैः पुष्पो-
द्यानम् । विनोदने इति । सुरतोत्सवायेत्यर्न । कुत्रचिदाश्रये पुंश्चल्योऽभित-
रन्ति इति शेषः । ‘आश्रयः’ इति प्रथमान्तपाठे ध्वान्तच्छन्ने कुत्रचिदेशे आश्रयोऽ-
धिष्ठानं पुंश्चलीनां विनोदे भवतीत्यर्थः । चाटुं प्रियोक्तिं करोतीति चाटुकारः तम् ॥
हारो नायकेन प्रसादाय वीरमानो मुक्ताकलापः ॥ यामः संकेतकालः ॥ नाना-
कार्यवशादिति । ‘तापसंभ्रमयोरप्युपलक्षणम्’ । तेनोक्ते हरणे नाव्यातिः ॥

१. बाटीति । गृहोपानमित्युचितम् । मालापञ्च इत्यस्ये लिखित ‘पुष्पोद्यानम्’
इति लेखदोषाद्गृहम्, ‘निर्जनवास्तु’ इति तु अवलमिति प्रतिपाति यव ‘मालापं च’
इति पाठः साधुः ॥

१. ‘मुनिः माह ध्वान्तच्छन्न इत्यं तथा ॥’ ग. २. ‘पादयोः पतिते कान्ते वा माने न विमुच्यति ।
तस्मिन्नेति तु तापार्ता कलहान्तरिता तु सा ॥’ ग. ३. ‘यथा मम तातपादानाम्’ ग. पुस्तके नास्ति.
४. ‘अदूरदूरतराणां हस्तिना मेघ्य पूर्वं चरत् (१) समानितया यापि संकेतके ॥’ न मिलति सत्त दत्ता
चतुर्गो दैवयोगात्प्रवदति अरतका नायिका विग्रलब्धाम् ॥’ इति ग. ५. ग. पुस्तके तु ‘वति ५
मिथितो धीणाद्यो—’ (इत्यादि) इति पाठः ६. ‘दूरदेशं गते कान्ते विवर्णा मलिना कृपा । या तिष्ठति
सदापाट्ठा सा स्यात्प्रोषितमर्तुका ॥’ इति ग. ७. ‘आश्रयं च’ इत्येकस्मिन्पुस्तके.

यथा—

‘तां जानीयाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि संहरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेपु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमयितां पद्मिनीं बान्धुरूपाम् ॥’
कुंरुते मण्डनं यस्याः सञ्जिते वासवेश्मनि ।
सां तु वासकसञ्जा स्याद्विदितप्रियसंगमा ॥ ८५ ॥

यथा रौघवानन्दानां नाटके—

‘विदूरे केयूरे कुरु, करयुगे रत्नवलये-
रत्नं, गुर्वी श्रीवाभरणलतिकेयं किमनयां ।
नवामेकामेकावलिमयि मयि त्वं विरचये-
नं नेपथ्यं पथ्यं बहुतरमनङ्गोत्सवविधौ ॥’
आगन्तुं कृतचित्तोऽपि दैवान्नायाति यत्प्रियः ।
तदनागमदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा ॥ ८६ ॥

सां जानीया इति । कुबेरशापात्प्रोषितस्य यक्षस्य मेघं प्रत्युक्तिरियम् । पद्मिनीं वेति
वाशब्द इवार्थः । ‘वा स्याद्विकल्पोपमवोरिवार्थे च समुच्चये ।’ इति विश्वप्रकाशः ।
उत्तरार्धे द्वितीयान्तेषु प्रथमान्तपाठः क्वचित्सुस्तकेषु दृश्यते तदा, पुनरिवशब्द
एव ॥ कुंरुत इति । सखी इति शेषः । सञ्जिते शय्याप्रवीपादिभिः परिष्कृते ॥
विदूर इति । मण्डयन्तीं सखीं प्रति कस्याधिकुक्तिरियम् । नवां नवगुम्फिताम् ।
अन्यथा परिरम्भमन्त्रेण झटिति झुटितां स्यात् । बहुयष्टिकहारस्य परिरम्भातिविग्रहे-
तुत्वादाह—एकावलिमिति । एकयष्टिकहारमित्यर्थः ॥ यत्प्रिय इति । यस्याः

१. ग पुस्तके ॥ ‘आधिधामां विरहशब्दे’ इत्युदाहृतम्. २. ‘वासवेश्मनि सुवविपततये वा
समागमविधिं विदधाना । तिष्ठति शिवधामायमसञ्जा तं’ ‘मुनिर्षदस्ति वासकसञ्जाम् ॥’ इति ग.
३. ग पुस्तके ॥ ‘रौघवानन्दानां’ इत्यादि ‘-विधौ ॥ इत्यन्त पाठो नास्ति, किंतु तत्स्थाने ‘भङ्गे-
प्याभरणं करोति बहुय यज्ञेऽपि सचारिणि मातृ त्वा परिशुद्धे वित्तुते शय्या चिर ध्यायति । इत्यारु-
ह्यविकल्पतत्परचभाषकस्य श्रीलक्ष्मणस्य व्यासस्यपि विना त्वयां वरतनुंश्च निर्यां नेष्यति ॥’ इति दृश्यते.
४. ‘उद्गमनमममहाश्वरवेपमानां रोमाधनशुक्तिमङ्कमावहन्ती । गाढानुरागवचना पुरतः सखीनामु-
त्कण्ठितां वदति तां भरतः कवीन्द्रः ॥’ इति ग.-

यथा—

‘किं रुद्धः प्रियया कयाचि, दंथवा सख्या ममोद्वेजितः,

किंचा कारणगौरवं किमपि, यन्नाद्यागतो बल्लभः ।

इत्यालोच्य सृगीदृशा करतले विन्यस्य वक्राम्बुजं

दीर्घं निःश्वसितं, चिरं च रुदितं, क्षिप्ताश्च पुष्पलजः ॥’

इति साष्टाविंशतिशतमुत्तममध्याधमस्वरूपेण ।

चतुरधिकाशीतियुतं शतत्रयं नायिकाभेदाः ॥ ८७ ॥

प्रिय इत्यर्थः । तदनागमेति । प्रियानागमनेनेत्यर्थः ॥ किं रुद्ध इति । संके-

१. कारणेति । कारणगौरवं हेतुदेकः । प्रयोजनविशेष इति यावत् ॥

२. इतीति । स्त्रीया तावद्विविधा—मुग्धा मध्या प्रगल्भा चेति । तत्र मुग्धैकधा, मध्याप्रगल्भे तु धीराधीरोमयभेदेन पञ्चिधे । धीरा मध्या, अधीरा मध्या, धीराधीरा मध्या । एवमप्रेऽपि । एताश्च पद्धिधा ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वाभ्यां द्विविधाः । धीरा ज्येष्ठा—कनिष्ठा, अधीरा ज्येष्ठा—कनिष्ठा, धीराधीरा ज्येष्ठा—कनिष्ठा चेति । एवं द्वादशभेदाः । मुग्धया सह त्रयोदश भवन्तीति स्त्रीयाकथा । परकीया द्विविधा—परोक्षा कन्यका चेति । सामान्या त्वैका । एताः पुनः सभेदाः स्वकीयापरकीयासामान्याः स्वाधीनपतिकापट्टाव-
स्थाभिः प्रत्येकं विधन्ते । एवं चतुरधिकशतं स्त्रीयाः । षोडश परकीयाः । अष्टौ सामान्याः । आसां संकलनेऽष्टाविंशलधिकशतं नायिकाः । $२०४ + १६ + ८ = २२८$ । त्र्यसामान्यमुत्तममध्यमधमभेदगणनया चतुरधिकाशीतियुतं शतत्रयं भेदाः । $२ \times १२८ = २५६$ । तत्रापि द्विधाद्विभोमभेदगणनया द्विपञ्चाशदधिकैकादशशतं भेदा जायन्ते । $२ \times २५६ = ५१२$ । अत्रेदमव्यवधेदम्—यद्यपि मुग्धाया लज्जाप्राधान्येन, मध्याया लज्जामदनप्राधान्येन, प्रगल्भायाः प्रौढिप्राधान्येन, धीराया भैरवप्राधान्येन, अधीराया अभैरवप्राधान्येन, धीराधीरायां भैरवभैरवप्राधान्येन, ज्येष्ठायाः प्रेमज्येष्ठप्राधान्येन, कनिष्ठायाः प्रेमकानिष्ठप्राधान्येन, परोक्षाया रहस्यप्राधान्येन, मुग्धाया इव कन्यकायाः, सामान्याया विस्रप्राधान्येन, अष्टविधा नायिका भवन्ति तेषां प्रस्थानं बलवैः कृतं प्रियसखैरत्नैरजलं गतं दृष्ट्वा न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः । यादं निश्चितचेति प्रियतमे सर्वे सम प्रस्थिता गन्तव्ये सति जीवितप्रियं सुहृत्सार्धः किमु त्यज्यते ॥’ इत्यादिलक्ष्यादुत्तरसुक्ते कृतदेशान्तरगमनाध्यवसाये प्रिये प्रवर्तस्यद्भर्तृका नवमी नायिका भवितुमर्हति । तस्याः प्रोपितभर्तृकाविप्रलब्धाविरहोत्कण्ठितासु नान्तर्भावः । सनिहिते प्रेयसि तत्त्वायोगात् । न कलहान्तरितावामन्तर्भावः । कलहाभावाद्-

१. ‘एलीदृश’ भवन्तापमयादिकस्य श्लाघानिबन्ध प्रति मुहुः प्रसरन्ति दूरम् । आप्याम्बुशीचिप निमज्जनकातेरेव निद्रा दृशोर्न सविषेऽपि पदं विषते इ’ इति म. २. ‘मध्यमाधमस्वरूपगत’ क-ख-ग-प्र-सक्ये वृ ‘भेदे पूर्ववदावमुत्तममध्याधमभेदेन’ इति पूर्वाभेदः । ‘मध्यमाधमस्वरूपगत’ घ. ३. ‘नायिकाविधानां स्यात्’ क ख. ‘नायिकाविधानं स्यात्’ ग. ‘नायिकाभेदानां स्यात्’ घ.

इह च परस्त्रियौ कन्यकान्योदे संकेतात्पूर्व विरहोत्कण्ठिते । पश्चाद्विदूषकादिना सहाभिसरन्त्यावभिसारिके । कुतोऽपि संकेतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे । इत्यत्र सैवानयोः । अस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात् । इति कश्चित् ।

क्वचिदन्योन्यसांकर्ष्यमासां लक्ष्येषु दृश्यते ।

यथा—

‘न खलु वयममुष्य दानयोग्याः पिवति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम् ।
विट विटपममुं ददस्व तस्यै भवति यतः सदृशोश्चिराय योगः ॥’

तस्याया नायिकायाः प्रियानागमने वितर्कोऽयम् ॥ अवस्था त्रयो भेदाः । अनयोः परस्त्रियोः । अवस्थान्तरायोगादिति । प्रकारसंभवादिति भावः । तथाहि—
परस्त्रियाः पार्श्वे नायकस्य सैततमवस्थानायोगात्त स्वाधीनमर्तृकात्वम् । नायिकान्तरसंभोगेन ईर्ष्याया असंभवात् खण्डितात्वम् । नायिकान्तरसंभोगदोषात्कान्तत्यागासंभवेन न कलहान्तरितात्वम् । कान्तस्य दूरदेशगमनेन मनोभङ्गदुःखार्तत्वाभावात् प्रोषितमर्तृकात्वम् । परालोकनशङ्कया सञ्जितवासवेदमनि भण्डनासंभवात् वासकसंज्ञात्वम् । तथा चानयोर्द्विभिन्नेन पदेव भेदाः । न त्वष्टविषयत्वेन पोडशेति । तत्र चतुरशीत्यधिकशतत्रयसंख्या नोपपद्येति भावः । ‘अस्वाधीनप्रिययोः’ इत्युपदर्शनमात्रम् ॥ आस्तामुपदर्शितप्रकाराणां नायिकानाम् । लक्ष्येषु महाकविप्रयोगेषु ॥ न खल्विति । सपुष्पपद्मवा वृक्षशराया प्रियायै गच्छन्तं नायकं प्रति नायिकाया उक्तिरियम् । अमुष्य विटपस्य । पिवति चुम्बति । पाति योषिदन्तरेभ्यो धारयति । हे विट हे पित्र कामुक । विटपं सपुष्पमालां शासाम् । सदृशोरिति । विटं त्वां

नवमानित्वाच्च । ॥ खण्डितायामन्तर्भावः । अभ्योपभोगलाञ्छितस्य प्रियस्यागमनानाभावात्, प्रियायाः कोपाभावाददर्शनात्, काकुवचनकातरावलोकनादिसञ्चितान्तरिकपक्षपातदर्शनाच्च । न वासकसंज्ञायामन्तर्भावः । गच्छति प्रिये सञ्जीकरणाभावात् ‘तेदोद्वेगाच्च । न स्वाधीनमर्तृकायामन्तर्भावः । उत्तरक्षण एव विप्रयोगदर्शनात् भवेति स्वाधीनत्वव्याप्यत्वाच्च । नाप्यभिसारिकायामन्तर्भावः । उत्ताहराद्विलाद्व अन्तस्तापदर्शनाच्चेति । एतद्वक्षणं तु ‘प्रतिदेशान्तरं यस्या भासत्येवोत्तरक्षणे । प्रवत्सलपति का सा स्वात्मयाणच्छेदनीयमा ॥’ इति शेषमिति नन्याः । इत्येवमादि रसमञ्जरीविभ्रमा भ्रमरभ्रामका व्यक्ता एवेत्यल कालयापनेन ॥

१. कश्चिदस्ति आचार्यधनिकः ॥

॥. नेति । वयममुष्य दानयोग्या न मयामः खलु । किंतु या अस्मावेवासकी त्वद्विया रहः एकान्ते त्वां पिवति पान करोति पाति भदनानलसंतापदहति च । तस्यै

‘तव कितव किमाहितैर्वृथा नः क्षितिरुहंपल्लवपुष्पकर्णपूरैः ।

ननु जनविदितैर्भवद्गलीकैश्चिरपरिपूरितमेव कर्णयुग्मम् ॥’

‘मुहुरुपहसिताप्रिवालिनादैर्वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।

वसतिमुपगतेन धाम्नि तस्याः शठ कलिरेष गहांस्त्वयाद्य दत्तः ॥’

‘इति गदितवती रुषा जघान स्फुरितमनोरमपक्ष्मकेसरेण ।

श्रवणनियमितेन कान्तमन्या सममसिताम्बुरुहेण चक्षुषा च ॥’

इयं हि यक्रोक्त्या परुषवचनेन कर्णोत्पलताडनेन च धीरमध्यताधी-
रमध्यताधीरप्रगल्भताभिः संकीर्णा । एवमन्यत्राप्युद्धम् ।

इतरा अप्यसंख्यास्ता नोक्ता विस्तरशङ्कया ॥ ८८ ॥

ता नायिकाः ।

पिपति पाति वेति । ‘व्युत्पत्तिद्वयेन सैव विटपा अयमपि विटप इति पुल्लयोर्योगो
योग्यो भवतीत्यर्थः । भवद्गलीकैर्भवतोऽप्रियवचनैः । स्फुरितो मनोरमः पक्ष्मवत्के-
सरो यस्य तेन । चक्षुःपक्षे—पक्ष्मेव केसरो यस्य तेन । यक्रोक्त्येति । विटश-
ब्दस्य नानार्थकल्पनाविचित्रोक्त्येत्यर्थः ॥ इतरा अपि पद्मिनीहस्तिनीप्रभृतयः ॥

अमुं विदाम्नातीति विटपं पल्लवम् । ‘विटपः पल्लवे विद्धे’ इति विश्वः । ददत्त प्रयच्छ ।
ब्रज गच्छ । यतो दानाक्षिराय सटशोरजुरूपयौर्योगो भवतु । उभयोरपि
विटपत्वादिति भावः ॥ हे कितव घूटे, वृथा व्यर्थमेवाहितैः । तत्कार्यस्यान्यथा
सिद्धत्वादिति भावः । तव सवन्धिभिः क्षितिरुहाणा पल्लवाः पुष्पाणि च तान्येव कर्ण-
पूरयन्तीति कर्णपूराः कर्णावतंताः । तैर्नोऽस्माकं किं तत्तावद्वम् । न किंचिदस्ती-
त्यर्थः । ननु अहं, जनविदितैर्भवद्गलीकैस्तवाप्रियवचनैः कर्णयुग्मं चिरपरिपूरितं नित्यं
पूर्णमेव । अतः पूरितस्य पूरणायोपादलमेभिरिति ॥ अलिनादैर्मुहुरुपहसिता प्रतारणा-
येति प्रहसमानामिव स्थितेना कलिकां कोरकम्, अल्पं कलिं कलहं च । ‘कलटे च
शुगे कलिः’ इति धैजयन्ती । स्त्रीप्रत्ययस्यविवक्षितः रूपे । नः अस्माकं किमर्थं वितरति ।
‘ह शठं गूढीवीप्रयकरीरु’, तस्याः स्त्रीव्यायाया भ्रात्रि भवेन वर्सीतीत्येतमुपगतं
स्वया अथैव वर्तमानो महान् कलिः कलहो दत्तः । स्वदत्त एव महति कलौ स्थिते
किं कल्पन्तरेणेत्यर्थः ॥ इति गदितवती उक्तवती अन्या स्त्री रुषा कान्तं स्फुरितान्युज्वलानि
मनोरमाणि च पक्ष्माणीव केसराणि । अन्यत्र केसराणीव पक्ष्माणि, यस्य तेन श्रवणे
नियमितेन श्रोत्रे निरुद्धेन अस्तिताम्बुरुहेण नीलोत्पलेन चक्षुषा च समं शृगपञ्चयान
तादयामासेति ॥

१. इतरा इति । तथा चोक्तम्—‘पुनश्च ताक्षिणा देवा दिव्यादिभ्योभयात्मना ।
चतुर्धा चोद्धतोदात्ता रुचिता शान्तिका तथा ॥ अक्षता च क्षता यातायाता यायावरेत्यपि ।

कथासामलंकारः—

यौवने सच्चजास्तासामष्टाविंशतिसंख्यकाः ।

अलंकारास्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः ॥ ८९ ॥

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।

औदार्यं धैर्यमित्येते सप्तैव स्पूरयत्तजाः ॥ ९० ॥

लीला विलासो विच्छित्तिर्विब्वोकः किलकिञ्चितम् ।

मोड्ढायितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मदः ॥ ९१ ॥

विहृतं तपनं मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम् ।

हसितं चकितं केलिरित्यष्टादशसंख्यकाः ॥ ९२ ॥

स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि ।

पूर्वे भावादयो धैर्यान्ता दश नायकानामपि 'संभवन्ति' । किंतु सर्वे-
ऽप्यमी नायिकाश्रिता एव विच्छित्तिविशेषं पुष्पन्ति ।

नायिका निरुन्य सौर्यत्वसंगत्या तदलंकार निरूपयति—अथेति । तासां नायिका-
नाम् । अलंकाराणामङ्गजत्वायलत्पत्यस्यभायजत्वेस्त्रिविध्यं दर्शयन्नुद्देशं करोति—शो-
मेति । 'भवन्त्यपि' इत्यपिशब्दस्य योजनां दर्शयन्निवृणोति—पूर्वे इति ।

पुनश्चतुर्धा कथिता पूर्वेर्भौजादिभिर्पुंषेः ॥ पद्मिनी क्षिप्रिणी चैव शङ्खिनी हस्तिनीति
च । पुनश्चतुर्धा कथिताः कामशास्त्रेषु जातिवः ॥ कपिनी वातुला पिच्छला प्रहृष्टा
पुनस्त्रिधा । अयोक्षानां च भेदनां लक्षणोदाहरी भूते ॥ दिव्या क्षण्ण्पादपः प्रोक्ता
अदिव्या माहतीमुत्ताः । दिव्यादिव्या इति प्रोक्ता आनकीदविमणीमुत्ताः ॥ गर्वशा-
लिन्युदना स्यादुदात्ता गूढमानिनी । हस्तिता साध्वमानेहाः शान्ता निर्मानमानसा ॥
उदात्तेषु भवेत्तीराभाषीरा सुदृढा मता । ललिता तु भवेन्मुग्धा शान्ता स्त्रीबोधमा
मता ॥ मुक्तान्येन पुरा पश्चाद्दाम्येनाश्रुता मता । मुक्ता क्षतिमुनेनोदा राज्ञा सत्यवती
यथा ॥ मते भवेति यथन्य भिता सा तु क्षज्ञा मता । यथा तारा रविमुग भिता पाटिनि
मारिते ॥ यातायाता तु मुगपद्दाम्येनेषु भर्तुनि । यथा पाण्डुमुनेरुदा हृषरस पुमा-
रिका ॥ ऊर्ध्वेन तु सेलच्छा क्रमापायावरा मता । यथा बहुवैरुदा माधवी चोदला-
त्मजा ॥ पद्मिनी पद्मवदना शिरीषगुदला तथा । शङ्खिनी सादूरुग्मप्या बोधिन्यस्तक्षनी
तथा ॥ शीर्षपादा हुतगतिः कुटिलाक्षी च रिहला । हस्तिनी बहुमुख्या भिषपा
विहङ्गुतथा ॥ हस्ता रथूलावरा गौरशरीरा मन्दगामिनी । कपिनी हृष्टरागा स्वाध्वनामा
मुक्षिरप्लोचना ॥ वातुला तु कठोराक्षी चप्रला कृष्णशक्तिः । यथामध्वमरवर्णा च बहु-

१. 'विराट' छ-प. २. 'लपान' इत्यस्ति 'पुष्पम' इत्यन्तः पठ्यते ग-पु-ल-के व-ति. ३. 'उ' द-स. ४. 'भारति' व-स. ५. 'कर्मत्वमस्य' इति पुनश्चागरे व-ति.

तत्र भावः—

निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया ॥ ९३ ॥
जन्मतः प्रभृति निर्विकारे मनसि उद्बुद्धमात्रो विकारो भावः ।
यथा—

‘स एव सुरभिः कालः स एव मल्यानिलः ।

सैवेयमवला किंतु मनोऽन्यदिव दृश्यते ॥’

अथ हावः—

भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु संभोगेच्छाप्रकाशकः ।

भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते ॥ ९४ ॥

यथा—

‘विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्वालकदम्बकल्पैः ।

साचीकृता चारुतरेण तस्यौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥’

अथ हेला—

हेलात्यन्तसमालक्ष्यविकारः स्यात्स एव तु ।

स एव भाव एव ।

विच्छित्तिविशेषं विलक्षणवैचित्र्यम् ॥ प्रथमविक्रिया संभोगेच्छायाः प्रथमः
प्रकृतिविपर्यासः । उद्बुद्धमात्र, ननु स्फुटं प्रतीयमानः । एतेन हावहेलालक्षणाति-
व्याप्तिर्वातिता ॥ ‘कागारे चाश्वत्यादिरहिताना भ्रूनेत्रादीना चाश्वत्यादिरूपप्रकृति-
विपर्यासरूपसंलक्ष्यविकारः ईषलक्ष्यसंभावः । एतेन हेलालक्षणातिव्याप्तिर्वातिता ॥
विवृण्वती प्रकटयन्ती । साचीकृता वन्दिकृता । पर्यस्तविलोचनेन शिवे

भोज्या प्रलापिनी ॥ पितृका शोषनयना गौराङ्गी कुचला रसे । सा चतुर्भा पुनरपि
नायिका प्रतिनायिका ॥ यथा दुष्यदजा प्रीता मेणीसहारनारके । हेतुरीप्याकटादीना सपक्षा
प्रतिनायिका ॥ दुर्वोधनस्य दयिता तत्र आनुमती यथा । तस्याः कैश्चिद्गुणैर्हीना पूज्या
भेवोपनायिका ॥ सया न्यूनापि वा किञ्चित्कनीयस्वनुनायिका ॥’ इत्यादि मन्दारमरन्दे ॥

१. ‘लक्षणाभ्याम्’ य. २. ‘निर्विकारात्मकत्वस्य प्राप्त्यावलम्ब्यविक्रिया’ इति ग. ३. ‘जन्मतः—
इति पक्रिया नास्ति न पुस्तके ४. ‘यथा इत्यतः माक्’ न पुस्तके ‘तत्र विकारहेतोः सत्यपि अविकार-
कारं सत्यम्’ इति पाठः ५. ‘स एव—’ इति नास्ति न पुस्तके, तत्राभावे तु ‘छायापरोक्षोत्तरपि क्षणेऽ-
सिम्’ इति श्लोको दृश्यते तत्र ‘अविकाररूपात्तत्त्वत्वात् प्रथमो विकारोऽन्तर्विपरिवर्ती बीजस्यो-
न्मतेव स भावः । यथा—‘हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधर्मैश्चन्द्रोदयारम्भं हवाम्बुतापि । उमापुते विम्ब-
रक्षाधरोडे व्यापारयन्मास विलोचनानि ॥’ इति पाठः ६. ‘हेलास्तु स्यात्तरो हावोऽक्षिपूविलासवृत्तः ।
मतिनियताहविकारकारी स्याद्वातः सभावविशेषो हावः ॥’ इति ग. ७. ‘विवृण्वती—’ इति श्लोको
नास्ति न पुस्तके ८. ‘स एव हेला मुम्बस्यद्वातारसम्बन्धः । हाव एव स्यादभूतो विकारभूतत्वात्सम्बन्ध-
स्यहारसम्बन्धो हेला’ इति ग.

यथा—

‘तह से झचि पउत्ता बहुए सव्वङ्गविन्ममा सअला ।
संसइअमुद्धमावा होइ चिरं जह सहीणं पि ॥’

अथ शोभा—

रूपयौवनलालित्यभोगाद्यैरङ्गभूषणम् ॥ ९५ ॥

शोभा प्रोक्ता—

तत्र यौवनशोभा यथा—

‘असंमृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवास्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमल बाल्यात्परं साय वयः प्रपेदे ॥’

एवमन्यत्रापि ।

अथ कान्तिः—

सैने कान्तिर्मन्मथाप्यायितद्युतिः ।

मैन्मथोन्मेपेणातिविस्तीर्णा शोभैव कान्तिरुच्यते ।

यथा—‘नेत्रे खज्जनगज्जने—’ इत्यत्र (१०५ पृ.) ।

अथ दीप्तिः—

कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते ॥ ९६ ॥

यथा मम चन्द्रकलानामनाटिकाया चन्द्रकलावर्णनम्—

परिक्षिप्तेनेण । बालकदम्बेलनेन पुलकस्याल्पत्वं तेन च भावस्याल्पलक्ष्यत्वं प्रतीयते ॥ तह से इति । ‘तथा तस्या क्षटिति प्रवृत्ता बन्धा सर्वाहवि-
भ्रमा सकला । सशयितमुग्धभावा भवन्ति चिरं यथा सखीनामपि ॥’ इति सस्कृ-
तम् । सशयितमुग्धभावा सदियधशैशवा ॥ लालित्यमत्राना सुदुमारत्वम् ।

१. वय इति । नैपुण्येनपेयैर हि पुनस्तयो मूष्यन्ते नाप्यन्ते कल्पन्ते चेति भावः ॥

१. ‘अथ—’ इत्यादि । ‘एवमन्यत्रापि’ इत्यन्तः पाठो न पुलके नास्ति तत्स्थाने ‘अथापि तत्र’—
(शोभा) रूपोपभोगादयैः शोभाह्वातां विभूषणम् । यथा—तत्र मय्युज्जीतव विभेय बाधां धम
म्यहमन्ते पुनो निषण्णा । भूतार्थशोभाह्वयमाणेना मयापने सविहितेऽपि मार्गे ॥ इति १ ‘मन्-
थाप्यायितद्युत्या सेव कान्तिरिति श्रुत्या ।’ इति म. २ स-पुस्तके तु ‘मन्मथ—’ इति पठित्वा नास्ति
तदन्ते ‘उन्मीलदनेन्दुदीप्तिश्चैर्द्वे सप्तकारित भिन्न वीनकुचरमयस्य च कथा हस्तमयविहृतम् ।
एनस्याः कलविदुषण्डकदहीवत्य भिन्नवीनकुचरमयस्य इत्येव सहाय्येणु रूपं तमा ॥’ इत्युदा-
हरण इत्यने १. ‘दीप्तिः कान्तेऽथ विस्तार इति म

‘तारुण्यस्य विलासः समधिकेलावप्यसंपदो हासः ।
घरणितलस्यामरणं युवजनमनसो वशीकरणम् ॥’

अथ माधुर्यम्—

सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता ।

यथा—

‘सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥’

अथ प्रगल्भता—

निःसाध्वसत्त्वं प्रागल्भ्यम्—

यथा—

‘समाश्लिष्टाः समाश्लेषैश्चुम्बिताश्चुम्बनैरपि ।
दद्याच्च दंसनैः कान्तं दासीकुर्वन्ति योषितः ॥’

अथौदार्यम्—

औदार्यं विनयः सदा ॥ ९७ ॥

यथा—

‘न ब्रूते परुषां गिरं, वितनुते न अयुगं भङ्गुरं,
नोत्तसं क्षिपति क्षितौ श्रवणतः सा मे स्फुटेऽप्यागसि ।

भोगः क्षयचन्दनादिजनितमुत्पानुभवः । आशब्देन अलंकारादिग्रहणम् ॥ तारु-
ण्यस्येति । अत्र तारुण्यविलासादीनामतिशयो लक्षणाप्रयोजनम् ॥ सरसिज-
मिति । शङ्खन्तलाया वल्कलधारणेऽपि शोभातिशयमनुभवतो दुष्यन्तस्य स्वयं
परमशोऽयम् । अनुविद्धं व्याप्तम् । लक्ष्मी शोभाम् ॥ समाश्लिष्टा इति । दन्ते-

१. समधिकेति । ‘मुक्ताफलेषु च्छायायास्तारुण्यमिवान्तरा । प्रतिभाति यद्गोपु तडा-
वण्यमितोच्चये ॥’ इति तल्लक्षणं शेषम् ॥

२. सरसिजमिति । यथा शैवल्लक्ष्मसंपर्कस्य माधुर्यविपटकाद्येऽपि कमलचन्दनसौर्ण-
स्यकिमाधुर्यस्यैवात्र वापि क्षितिलया वल्कलधारणेन शङ्खन्तलाया अपीति भावः ॥

३. स्फुट इति । अन्योपभोगरूपेऽपराधे व्यक्ते सत्यपीत्यर्थः ॥

१. ‘मनुष्यं माधुर्यम्’ वा. २. उक्तं च—‘अयुगेऽपि रम्यत्वं माधुर्यमिति गीयते’ इत्यधिकं
गणुच्छे. ३. ‘मनुष्योपभोगेऽपराधः साध्यः, तद्व्यापः प्रागल्भ्यम्’ इत्यधिकं गणुच्छे.
४. ‘तथा श्रीशिवेऽपि तथा गुण्यसि दृश्यते । अत्युपभोगमाधुर्यस्यैवात्रापि गता ३’ इत्युदाहरण-
म् गणुच्छे.

कान्ता गर्भगृहे गवाक्षविवरव्यापारिताक्ष्या बहिः

सख्या चक्रमभि प्रयच्छति परं पर्यश्रुणी लोचने ॥'

अथ धैर्यम्—

मुक्तात्मश्लाघना धैर्यं मनोवृत्तिरचञ्चला ।

यथा—

‘ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी,

दहतु मदनः, किंवा मृत्योः परेण विधास्यति ।

मम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया

कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम् ॥'

अथ लीला—

अङ्गैर्वैपैरलंकारैः प्रेमिभिर्वचनैरपि ॥ ९८ ॥

प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः ।

यथा—

मृणालव्यालवलयो वेणीबन्धकपर्दिनी ।

हरानुकारिणी पातु लीलया पार्वती जगत् ॥

नाथरादिखण्डनं दंशनम् ॥ उत्तंसं कर्णभूषणम् । गर्भगृहे वासगृहाभ्यन्तरे । गवाक्षविवरेण व्यापारितं संचारितमक्षि यथा तस्याः । अभिलक्ष्यीकृत्य प्रयच्छति अर्पयति । पर्यश्रुणी अश्रुव्याप्ते ॥ ज्वलत्विति । ज्वलतु संतापकः सन् दीप्यताम् । ‘परेण’ इत्यव्ययमधिकार्ये । ‘श्लाघ्य’ इति काकाक्षिगोलकन्यायेन उभयनान्वेति । यद्वा ‘अमलान्वया’ इति लिङ्गव्यत्ययेनान्वयः । न त्वेवायं जनः । स्थिर इति शेषः ॥ मृणालमेव व्यालः सर्पो बलयं यस्याः, वेणीबन्ध एव कपर्दी जटा-

१. गर्भेति । गर्भगृहे स्थिता सती बहिरवलोकनार्थं गवाक्षविवरेण वातायनपथेन व्यापारिते क्षिते अक्षिणी यथा तयाभूतावाः सख्या चक्रमभि आननं लक्ष्मीकृत्य परं केवलं परिगतार्थं अश्रुणि ययोस्तथाभूते लोचने प्रयच्छति योजयति । विषयान्तरावलोकनप्रवर्णेयं ममैवंविधामवस्था न शास्यतीति तयाचरति । अन्वया स्वजनसमक्षं दुःखोत्पीडस्य प्रतिरोद्धुमशक्यतया सत्कारणमिन्वचनं विजयव्यत्यासः स्यात् ॥

२. ममेति । मम ॥ दयितः प्रेयान् श्लाघ्यः, पिता च श्लाघ्यः, जननी च अमलान्वया

१. ‘वापलाविहता धैर्यं विद्वत्तिरविकारधना । वापलावपहना मनोवृत्तिरत्यगुणानास्याधिका धैर्यम् । तथा श्रीकृतम्—‘श्रीलानुलङ्घनं धैर्यं श्रीलतेऽत्र मनीषिणि ।’ इति श्रु. २. ‘लीलाविशानुकरणं वारिभगं स्थाय चेष्टितः ।’ इति श्रु. ३. ‘अनुकृते दुःखं चेष्टानुरागेण तत्तानुकृते विदुः । मुक्ताख्यं सपथो-
ऽपि वीथन्ते उत्तुहं यथा ॥’ इत्युदाहरणम्.

अथ विलासः—

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम् ॥ ९९ ॥

विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसंदर्शनादिना ।

यथा—

‘अत्रान्तरे किमपि वाग्विमवातिवृत्त-

वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः ।

तद्भूरिसात्त्विकविकारमपास्तघैर्य-

माचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥’

अथ विच्छित्तिः—

स्तोकाप्याकल्पपरचनां विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ।

यथा—

‘स्वच्छाम्भःस्वप्नविधौतमङ्गमोष्ठ-

स्वाम्बूलद्युतिविशदो विलासिनीनाम् ।

वासस्तु प्रतनु विविक्तमस्तितीया-

नाकल्पो यदि कुसुमेपुणा न शून्यः ॥’

शूदो यस्या अस्तीति ॥ अत्रान्तरे नावकसंदर्शनादिसमये । वाग्विमवातिवृत्तम-
तिश्रम्य स्थितं वैचित्र्यं गमनादिचातुरी यस्मात्तत् । ते प्रसिद्धा भूरिसात्त्विकवि-
कारा स्वप्नादयो यस्मात्तत् । आचार्यकमुपाध्यायकर्म । उपदेष्टा इत्यर्थः ॥ स्तोका
अल्पा आकल्पपरचना येपविन्यासः । प्रतनु अतिसूक्ष्मम् । विविक्तं विमलम् ॥

महाकुलोत्पत्ता, कुल स्वामिकुलममलिनं निष्कलम् । अय मलद्युजो जनः न त्वेव सिर,
जीवित, न न सिरम् । अचिरावस्थापिनः शरीरस्य कृते मातृपितृमर्तृकुलकलद्भनमति-
शरामनुचितमिति भावः ॥ - - -

१. इतीति । इत्येवस्व इयान् यत्तावानेव । विलासिनीनामाकल्पो येपव्यमस्तु ।
विमन्येरित्यर्थः । यदि स कुसुमेपुणा कालेन शून्यो न स्यात् । अन्यथा उद्दिष्टानामिव
कनकमूपणमपि भारायत धरेति भावः ॥

१. ‘तात्पर्येण विशेषणं विलासोऽङ्गनिर्वाहः ॥’ इति श्रुतिः २. ‘स्तोकाप्याप्येव विच्छित्ति-
परिणामः ॥’ इति ३. ३. ‘वर्चसिनी रोमकल्पस्थे योरोचकपेदनिष्कलपिरे ॥’ इत्युक्तः ‘करोनेऽपराणां
गणानामुत्पत्तिः कल्पः वचनरोहः ॥’ इति श्रुतिः

अथ विव्योकः—

विव्योकस्त्वतिगर्वेण वस्तुनीष्टेऽप्यनादरः ॥ १०० ॥

यथा—

‘यासां सत्यपि सद्गुणानुसरेणे दोषानुवृत्तिः परा,
या. प्राणान्वरमर्पयन्ति, न पुनः संपूर्णदृष्टिं प्रिये ।
अत्यन्ताभिमतेऽपि वस्तुनि विधिर्यासां निषेधात्मक-
‘स्तास्त्रैलोक्यविलक्षणप्रकृतयो वामाः प्रसीदन्तु ते ॥’

अथ किलकिञ्चितम्—

सितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधत्रमादीनाम् ।
सांकर्यं किलकिञ्चित्तमभीष्टतमसंगमादिजाद्वर्पात् ॥ १०१ ॥

यथा—

‘पाणिरोधमविरोधितवाञ्छं भर्त्सनाश्च मधुरस्मितगर्भाः ।
कामिनः स कुरुते करभोरुर्हारि शुष्करुदितं च सुखेऽपि ॥’

यासामिति । कचित्कामिनः प्रति सख्युराशीर्वचनमिदम् । सद्गुणानामनुसरेणे परै-
रुद्भावने दोषाणामनुवृत्तिः स्वयं पुनः पुनरुद्भावनम् ॥ सांकर्यं मेलेनम् ॥ पाणि-
शोधं वल्लक्षेपणादिप्रवृत्तनायकप्रतिबन्धम् । हारि मनोहरम् । कारणं विना रुदितं

1. प्राणानिति । मानमदमस्तत्वात्प्राणार्पणं तावत्सुकरम्, न पुनः संपूर्णदृष्ट्यर्पणम् ॥

2. वस्तुनीति । नीवीक्षत्तनादिरूपे ॥

3. वामा इति । वामा बोधित । इष्टेऽपि वस्तुनि अनिष्टेद्भावने विलक्षणप्रकृतित्वे
धीजम् ।

4. पाणीति । करभोरु स्त्री अविरोधितवाञ्छमनिवारितप्रियमनोरथ यथा तथा का-
मिनः पाणिरोध नीवीमोक्षणे व्यापृतस्य प्रियपाणेर्निवारणं कुरुते सः । तथा मधुर स्मित गर्भे
अन्तर्वर्ति यासु ता मन्दहासमिथा भर्त्सनास्तर्जनाद्य कुरुते सः । तथा सुखेऽपि अथरपीड-

१ गवानिमानादिष्टेर्धि विव्योकेऽनादराद्व्या । तथा वात्स्यायन — समित्यपरातिगर्वेण
यन्निग्रह्यावधीरणम् । ताडनं नावतर्जनं सखां काष्णसाथं बन्धनम् ॥ प्रियेऽप्यपतिं शिञ्जानन्पुत्रेणा
द्विजा हति । दन्तस्य डतप्रध्वारोपरबानेऽपि यस्मिन्तम् ॥ मयस्यामृतेराजस्य रागधौष्ठमचारके ।
विव्योकाख्यं स्मृतो ह्यत्र कामशास्त्रविचक्षणे ॥ अभिनवगुप्तैर्नृपपुत्रावपि गर्वादिनादरस्तत्त्वाः ।
स्वच्छन्द प्रियस्य सयम(न)ताडनमत्राभिधावि विव्योकः ॥ अवधीरणे यथा कालिदास — निर्वि-
भ्रुज्य दग्धनशब्दं ततो वाचि भर्तुरवधीरणायतः । तैलराजतयया समीपगामाकृत्यापि विनयामहेतुश्च ॥
इति ग २ ‘यासां— इति श्लोको नास्ति ग-पुच्छके ३ कोपायुहर्षनीत्यादेः स्रजः किञ्चिद्विहितम्’
इति ग ४. ‘रतिमीडापदे कथमपि समासाद्य समसं मया कथ्ये तस्याः कथितनरकपदार्थमधरे ।
वृत्तभ्रमहासौ मकटितविलसार्थरुदित-भक्तक्रोपोद्भावनं पुनरपि विदध्यामपि शुलभम् ॥ इति ग

अथ मोहायितम्—

तद्भावभाविते चित्ते बलमस्य कथादिषु ।

मोहायितमिति ब्राह्मः कर्णकण्डूयनादिकम् ॥ १०२ ॥

यथा—

‘सुभग त्वत्कथारम्भे कर्णकण्डूतिलालसा ।

उज्जृम्भवदनाम्भोजा भिनत्यज्ञानि साङ्गना ॥’

अथ कुट्टमितम्—

केशस्तनाधरादीनां ग्रहे हर्षेऽपि संभ्रमात् ।

आहुः कुट्टमितं नाम शिरःकरविधूननम् ॥ १०३ ॥

यथा—

‘पल्लवोपमितिसाम्यसपक्षं दृष्टवत्यवरबिम्बमभीष्टे ।

पर्यकूजि सरुजेव तरुण्यास्तारलोलबलयेन करेण ॥’

अथ चित्रमः—

त्वरया हर्षरागादेर्दयितागमनादिषु ।

छुत्कवदितम् । मुखेऽपि मुखसमयेऽपि ॥ तद्भावेन चान्तसद्भावेन भाविते ध्याते पिते सति । कथादिषु सारु ॥ ‘कर्णकण्डूयनादिभिः’ इति पाठेऽभेदे तृतीया । आदिना जृम्भाङ्गभङ्गादि ॥ कर्णकण्डूतिलालसा कर्णकण्डूयनतत्परा ॥ पल्लवोप-
मित्या यत्साम्यं तेन सपक्षं सखायम् । अभीष्टे नायके । पर्यकूजि महाशब्द-
कृत । शब्दोपयोगित्वं दर्शयति—तायेति । तारमतिशयं लोलं चपलं बल-
युक्तं यत्र तेन । सख्युद्दर्शने व्यथा भवतीति भावः ॥ त्वरयेति । हर्षादिजन्य-
नादौ मुखातिरेके सख्यपि हारि मनोहरं शुष्कवदितमनस्तत्वादनादं कृत्रिमरोदनं च वृत्ते-
सः । स्त्रीनामेव स्वभावो यदिष्टमप्यनिष्टतया निवारयन्त्यं यव स्रुतसुखमुपमुच्यत इत्यर्थः ॥

१ ‘तुत्या कथां विप्रजनस्य तु छविषी वा कर्णोदरविकृतचपलमुपजर्जनीकम् । यद्वाङ्मङ्गलमपि लुप्ति-
समजनानां मोहायितं तदुदितं सरसाद्यविद्धिः ॥ तया च मुक्तिः—कथायां छविषी कपि कर्णकण्डू-
विजृम्भणम् । जम्भस्य दिग्धनं कथां तद्वि मोहायितं मनम् ॥’ इति ग. २. ‘चित्तवर्जितपि एवे-
तत्पावेनेन चेति । मोहायितं कथं मुखेन्दुमन्त्रेण सा ॥’ इति ग. ३ भरतः—केशस्तनाधरा-
दिमहले तत्तद्वर्षाभ्रमोपेतम् । कुट्टमितं विशेषं मुखं च दुस्तोपचारैः ॥ इति ग. ४ गणेशके तु
‘पल्लवः’ इति श्लोकस्य रसार्थे दासीयवामि तस्य निर्देशं विप्रहर्षिणं मुखं धनं दासिनि देहि ममाम-
क्यम् ॥ इत्यादिपुट्टमित्यनुपमायाचमती भूयो नयानि पुट्टे रसमी रसनि ॥ इत्यादिमहलं इत्यर्थः,
तथा मोहजराजमु सरसोद्रीकान्धामरने विरहितमेव लक्षणमाह—केशस्तनाधरादीनां महदुत्प्रेक्ष-
यत्परा । मुखाविष्करणं तत्प्राप्तं कुट्टमितं मनम् ॥ यथा—ह्रीमदरवदनं परिरम्भे शङ्कानवदुःख-
वत्परा । अर्शिनोदकमननवचं योपिने मुकुटिगन्धमपाशितम् ॥ इति २. चित्रमन्तरया राजे भूत-
यदावितर्षकः । कथाहं हास्यविभक्तुः—कोकः जिनः च पुष्पावनादिद्वयम्भु तत्तत्तत्तं च सद्योऽ

अस्थाने विभ्रमादीनां विन्यासो विभ्रमो मतः ॥ १०४ ॥

यथा—

‘श्रुत्वायान्तं बहिः कान्तमसमाप्तविमूषया ।

मालेऽञ्जनं दशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः ॥

अथ ललितम्—

सुकुमारतयाङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत् ।

यथा—

‘गुह्यतरकलनूपुरानुनादं सललितनर्तितवामपादपद्मा ।

इतरदनतिलोलमादधाना पदमथ मन्मथमन्थरं जगाम ॥’

अथ मदः—

मदो विकारः सौभाग्ययौवनाद्यवलेपजः ॥ १०५ ॥

यथा—

‘मौ गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति

कान्तखहस्रलिखिता मम मञ्जरीति ।

त्वरेत्यर्थः । तत्र प्रथमेनादिपदेन उत्सवादेः, द्वितीयादिपदेन दयितामिसरणादेः, तृतीयेन लाक्षादेर्ग्रहणम् ॥ असमाप्तविमूषया कान्तया । विन्यासोऽप्रचण्डविक्षेपः ॥ गुह्यतरेति । प्रथमपाद- क्रियाविशेषणार्थकः । इतरत् दक्षिणम् । अन- तिलोलमनतिचञ्चलम् ॥ यौवनादीत्यादिपदेनालङ्कारादेर्ग्रहणम् ॥ मा गर्धेमिति । ‘मम कपोलतले’ इत्यन्वयः । ईदृशीना मञ्जरीणाम् । वैरी शत्रुरिव, तव तावत्कपो-

विजम्बनम् । आश्रित्य कान्तवचनं कपनं कवीनां विष्कारेष्विच्छतगतं सत्तु विभ्रमः स्यात् ।’ शिणि- रपि—‘साङ्गमज्ज विकारेण शकटाश्रित्येकमेव । केचनममनम्यानाद्वातुमूलमदर्शयैः । मेखलादिमक- टनैः क्षयनाभिमदन्तैः । अग्निरावमकटनैर्विभ्रमं परिशीलितम् ॥’ इति ग.

१ ग पुस्तके तु ‘सदृश-’ इति श्लेषश्च स्थाने ‘अ[द्वा] गते’ अग्निवि- पेक्षेणान्तिद्वितीयकालस्यचकि- तलोचनमानसमिः । अग्राहि [मण्डन] विवि- वैपरीतमूषावि-वासहृषितसखीजनमङ्गनाभिः ॥’ इति दृश्यते. २. ‘सुकुमाराङ्गविन्यासो मन्मथो व्यक्तः भवेत् ॥’ इति ग. ३. ‘सङ्क्ष- करकिसलकावर्तनेरात्र- पन्ती सा पश्यन्ती कलितकलित लोचनस्याप्येव । निवसन्ती चरणकमले खेदया हेरपातैर्नि- रगीत- प्रथमवपसा न-तैसा पङ्कजाद्यैः ॥’ वज्र, ‘संघा- पुरोपरिवरेऽपि शिरीषमृद्वी यत्वा नवात्रिपुत्राणि- पदानि कीर्ति । गन्तव्यमक्षि- किचदित्यसङ्कटूषाणां रामाशुष्क- कुतवती मन्मथकृतारम्भ ॥’ इत्युदाहरण- न्तरे ग-पुस्तके ३. ‘मधुपानमदमयस्कारुण्यतिशयोद्भव- । विकारो यौवने स्त्रीणां त- यदन्ति मद- न्याः ॥’ इति ग. ४. ‘आलाप- कितव्यमृदीकृतवरो दृष्टि- ग्रहणैस्तत्तद्वृत्त्यान्वरदीक्षित- चरणयोर्न्यास- [नद्वार] वेरेषु क्षणिकः स्पृहा मदविषयद्वैतवादाद्य- ते स्वस्थानेनैकिकाद्वैत्यमुपमायो मद- र्थेति ॥’ इत्युदाहरणान्तरं ग-पुस्तके.

अथ मौग्ध्यम्—

अज्ञानादिव या पृच्छा प्रतीतस्यापि वस्तुनः ।

वल्लभस्य पुरः प्रोक्तं मौग्ध्यं तत्तत्त्ववेदिभिः ॥ १०७ ॥

यथा—

‘के द्रुमास्ते क वा ग्रामे सन्ति केन प्ररोपिताः ।

नाथ मत्कङ्कणन्यस्तं येषां मुक्ताफलं फलम् ॥’

अथ विक्षेपः— चित्तं यिज्ञमः

भूपाणामर्धरचना मिथ्या विष्वगवेक्षणम् ।

रहस्याख्यानमीपथ विक्षेपो दयितान्तिके ॥ १०८ ॥

यथा—

‘धम्मिल्लमर्धमुक्तं कलयति तिलकं तथासकलम् ।

किचिद्वदति रहस्यं चकितं विष्वग्विलोके तन्वी ॥’

अथ कुतूहलम्—

रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यात्कुतूहलम् ।

यथा—

‘प्रसाधिकालम्बितममपादमाक्षिप्य काचिद्वरागमेव ।

उत्सृष्टलीलागतिरा गवाक्षादलक्तकाङ्क्षां पदवीं ततान ॥’

नव्यः ॥ मिथ्या निष्कारणम् । विष्वक् सर्वतः । रहस्याख्यानं गुह्यभाषणम् ॥

धम्मिल्लं बद्धकेयसमूहम् । असकलं खण्डितम् ॥ लोलता सत्व्यत्वम् ॥ प्रसाधि-
का मण्डनकर्त्री, तथा आलम्बितः धारितम् । द्वरागममशुष्कलाक्षारसम् । अलक्तकाङ्क्षा
लाक्षाचिह्नम् । पदवी पन्थानम् । अत्र हरदर्शनाय कस्याधिवागतिशयः कुतूहलम् ॥

१. इदं पद्यं कुमारसमवस्थे सप्तमसर्गेऽपि ॥

१. ‘मार्ग्ये एते वज्रोपद्वी इत्यादि’ इत्यादि । इत्युक्तिकस्यैव तन्मौग्ध्यं परिच्छेदितम् ॥ इति
ग. २. ग. पुस्तके तु ‘यदि वृत्तस्य मज्जयां सख्यं समिद्धिः सखः । मज्जया तत्कथं सौख्यं मज्जापि न
ददयते ॥’ ‘सर्वं हिमन्पदेकेऽपि विद्यते मृगजान्छनः । ध्वगादिबन्धो बाल्ये ज्यतीते मौग्ध्यमुच्यते ॥’
‘यतः प्रमुल्यहं सख्यः । गिरीणकुमुदैर्हता । ततः प्रमृदि मे दूला हृदि तन्मौग्ध्यमीरितम् ॥’ आया-
यस्तु—‘स्त्रीणां सान्नायमेव मौग्ध्यं मन्यते ।’ इति ३. ‘अन्यथा वैपश्चिन्मात्रे विकाराद्यो भवेद्विषयम् ।
तन्मात्रमन्ति विषेयं भीशाद्वयकपिलादयः ॥’ इति ग. ४. ‘वकारः काचिद्वरागमेव चन्द्रनाड्यै-
बलापः सान्नायपृष्ठः । मित्रं प्रति प्रेषितचित्तवृत्तिर्निमित्तमन्विने चपलः च हारम् ॥’ इति ग. ५. अत्रा-
गवाक्षा एव प्रियतमोपसर्पणं कुतूहलम् ॥ अथवा अरतः—‘कुतूहलं रम्यस्थले चापलं परिकीर्तितम् ।’
इति ग. ६. ग. पुस्तके तु ‘पापवत् इवान्नमोहितं पूजति मित्रे । पश्य कौतुकिनी जाया समीपमुप-
सर्पति ॥’ इत्युदाहरणम्.

अथ हसितम्—

हसितं तु वृथाहासो यौवनोद्भेदसंभवः ॥ १०९ ॥

यथा—

‘अकस्मादेव तन्वह्नी जहास यदियं पुनः ।

नूनं प्रसूनबाणोऽस्यां सारार्ज्यमधिपतिष्ठति ॥

अथ चकितम्—

कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकितं भयसंभ्रमः ।

यथा—

‘त्रस्यन्ती चलशफरीविघटितोरु-

र्वामोरुरतिशयमाप विभ्रमस्य ।

क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतो-

र्ललाभिः किमु सति कारणे तरुण्यः ॥’

अथ केलिः—

विहारे सह कान्तेन क्रीडितं केलिरुच्यते ॥ ११० ॥

यथा—

‘व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः ।

पयोधरेणोरसि काचिदुग्मनाः प्रियं अधानोन्नतपीवरस्तनी ॥’

यौवनोद्भेदो यौवनोत्पत्तिः ॥ अकस्मात्कारणं विना । सारार्ज्यं स्वर्गवदधिकारम् । अधितिष्ठति कुरुते ॥ कुतोऽपीति । अलक्षितकारणादित्यर्थः । भयसंभ्रमः भयेनातिशयस्यम् ॥ विभ्रमस्य भ्रमणविशेषस्य । क्षुभ्यन्ति भयव्याकुला भवन्ति । किमु सुतणमित्यर्थः ॥ विहारे इति । कान्तेन सह, क्रियमाणे विहारे सति यन्नायिकायाः क्रीडितं सा केलिरित्यर्थः ॥ व्यपोहितुं गिरयितुम् । अपारयन्तमशक्रुव-

१. किलेति । किलेत्तलीके । वस्तुतस्तदास्यस्पर्शलोभादपारयन्तमित्यर्थः ॥

१. ‘आरम्भेन तु हसितं यौवनादिविकारणम् ॥’ इति ग. २. ‘अधिगच्छति’ ग. ३. ‘वागेन सञ्जया यापि निजबह्ममन्त्रिणोः । संजयाद्विषयो बलवन्निर्गतं सूत्रवृत्त्यम् ॥’ इति ग. ४. ग-मुच्यते तु ‘तत्र’ पाठेन यथा—‘परितुष्टरम्भीनत्रिघटितोरुवा’ सरहनाद्याधिलोकादृष्टम् । अथवापु’ अम्पितपाणिपद्मा’ सखीजनस्यधि, विहोदनीयताम् ॥ सञ्जया यथा—‘अभिमुनि, पद्मा इते परस्मादप्यनमरता, अथनांशुकेकदेशे । अद्विगतमवसनोऽ, अथवापु’ अतिपुवतीरपि विसर्गं विनाप ॥ इत्युदाहरणे. ५. ‘यद्भवेन वदेयन्ते कान्तायाः श्लेषितेषु यः । पुष्पनाद्विहारीनां विशेषः केलिरुच्यते ॥’ इति ग. ६. ‘यदनगरहृतस्वोपांशु कान्ता अथवापु’ अतिपुवतीरपि विसर्गं विनाप ॥ अपदि य परिरेतायाद्विहारे पुष्पमेव सरहनाद्विनापार्तं वेदकं पुष्पनांशम् ॥’ इति ग.

अथ मुग्धाकन्ययोरनुरागेज्जितानि—

दृष्ट्वा दर्शयति व्रीडां संमुखं नैव पश्यति ।

प्रच्छन्नं वा भ्रमन्तं वातिक्रान्तं पश्यति प्रियम् ॥ १११ ॥

बहुधा पृच्छ्यमानापि मन्दमन्दमधोमुखी ।

सगद्गदस्वरं किञ्चित्प्रियं प्रायेण भाषते ॥ ११२ ॥

अन्यैः प्रवर्तितां शश्वत्सावधाना च तत्कथाम् ।

शृणोत्यन्यत्र दत्ताक्षी प्रिये बालानुरागिणी ॥ ११३ ॥

अथ सकलानामपि नायिकानामनुरागेज्जितानि—

चिराय सविधे स्थानं प्रियस्य बहु मन्यते ।

विलोचनपथं चास्य न गच्छत्यनलंकृता ॥ ११४ ॥

क्रापि कुन्तलसंन्यानसंयमव्यपदेशतः ।

बाहुमूलं स्तनौ नाभिपङ्कजं दर्शयेत्स्फुटम् ॥ ११५ ॥

आच्छादयति वागाधैः प्रियस्य परिचारकान् ।

विश्वसित्यस्य मित्रेषु बहु मानं करोति च ॥ ११६ ॥

सखीमध्ये गुणान्भूते स्वधनं प्रददाति च ।

सुप्ते स्वपिति दुःखेऽस्य दुःखं धत्ते सुखे सुखम् ॥ ११७ ॥

स्थिता दृष्टिपथे शश्वत्प्रिये पश्यति दूरतः ।

न्तम् ॥ अनुरागेज्जितानि अनुरागसूचकचेष्टितानि । प्रच्छन्नं भित्त्यादिभ्यवहितम् ।

अतिक्रान्तं दूरे गच्छन्तम् । तत्कथां प्रियकथाम् । कुन्तलेति । केशसमूह-
न्यनच्छलेनेत्यर्थः । आच्छादयति वशीकरोति । बाहू प्रियवचनम् । आय-

1. बहुपेति । कामसूत्रेऽप्युक्तम्—‘पृथा च किञ्चित्संक्षिप्तमव्यवहारमनवसितार्थं च
मन्दं मन्दमधोमुखी कथयति ।’ इति ॥

2. कुन्तलेति । कुन्तलः केशपाशः । संवीथवेऽनेनेति संन्यानम् । ‘भ्येभ्यु संवरणे’ ।
सुदृ । ‘संन्यानमुच्छायं च’ इत्यमरः । वयोर्वैः संयमो यथोचितन्याससम्पदेशद्वय-
मात्रादिति वास्तवार्थः ॥

3. आच्छादयतीति । कामसूत्रेऽप्युक्तम्—‘परिमनानवदभ्य वास्त्याथ स्त्रीया दर्श-
यति, तन्मित्रेषु विशिष्टि, स्वधनं वैवा बहु मन्यते करोति च, तत्परिचारकैः सह प्रीतिं
संदर्शयं पश्यति च करोति ।’ इत्यादि ॥

4. स्थितेति । कामसूत्रेऽप्युक्तम्—‘दूरे स्थिता, परवस्तु मान्निवि मन्यमाना परिजनं
समदनविचारमाभाषते ।’ इति ॥

आभाषते परिजनं संमुखं सरविक्रियम् ॥ ११८ ॥

यत्किंचिदपि संवीक्ष्य कुरुते हसितं मुधा ।

कैर्णकद्वयनं तद्वत्कवरीमोक्षसंयमौ ॥ ११९ ॥

जृम्भते स्फोटयत्यङ्गं बालमाश्लिष्य चुम्बति ।

भाले तथा वयस्याया रचयेत्तिलकक्रियाम् ॥ १२० ॥

अङ्गुष्ठाग्रेण लिखति सकटाक्षं निरीक्षते ।

दशति स्वाधरं चापि ब्रूते प्रियमधोमुखी ॥ १२१ ॥

न मुञ्चति च तं देशं नायको यत्र दृश्यते ।

आगच्छति गृहं तस्य कार्यव्याजेन केनचित् ॥ १२२ ॥

दत्तं किमपि कान्तेन धृत्वाङ्गे मृदुरीक्षते ।

नित्यं हृष्यति तद्योगे वियोगे मलिना कृशा ॥ १२३ ॥

सन्यते बहु तच्छीलं तत्प्रियं मन्यते प्रियम् ।

प्रार्थयत्यल्पमूल्यानि सुप्ता न परिवर्तते ॥ १२४ ॥

विकारान्तात्त्विकानस्य संमुखी नाधिगच्छति ।

भाषते सूनृतं स्निग्धमनुरक्ता नितम्बिनी ॥ १२५ ॥

एतेष्वधिकलज्जानि चेष्टितानि नवस्त्रियाः ।

मध्यबीडानि मध्यायाः संसमानप्रपाणि तु ॥ १२६ ॥

अन्यस्त्रियाः प्रगल्भायास्तथा स्युर्वारयोपितः ।

दिङ्मात्रं यथा—

‘अन्तिकगतमपि मामियमलोकयन्तीव हन्त दृष्ट्वापि ।

पदादक्षवत्तादिदानानां ग्रहणम् । अस्य प्रियस्य । संमुखमिति परिजनस्य विशेष-
णम् । तद्योगे प्रियसंगमे । तच्छीलं प्रियचरित्रम् । तत्प्रियं प्रियानीष्टं वस्तु ।
प्रार्थयतीति परमपदम्, आत्मनेपदस्य प्रायिकत्वात् । अधिगच्छति प्रकाशयति ।
सूनृतं प्रियसल्लवचनम् । स्निग्धां वयस्याम् । ‘स्निग्धम्’ इति पाठे जेह्वप्रकर्षं

१. यदिति । कामप्रेतेऽप्युक्तम्—‘यत्किंचिदपि विदसितं करोति ।’ इति ॥

२. चारमिति । कामप्रेतेऽप्युक्तम्—‘बाह्यसाहचर्यस्याङ्गिजनं चुम्बनं च करोति ।’
इति ॥

३. भाळ इति । कामप्रेतेऽप्युक्तम्—‘परिपातिकायाश्च त्रिदशं रचयेत् ।’ इति ॥

सरसनलक्षतलक्षितमाविष्कुरुते भुजामूलम् ॥'

तथा—

लेख्यप्रस्थापनैः स्निग्धैर्वाक्षितैर्मृदुमापितैः ॥ १२७ ॥

दृतीसंप्रेषणैर्नार्या भावाभिव्यक्तिरिष्यते ।

दृत्यश्च—

द्वैत्यः सखी नटी दासी घात्रेयी प्रतिवेशिनी ॥ १२८ ॥

बाला प्रव्रजिता कारुः शिल्पिन्याद्याः स्वयं तथा । -

कारु रजकीप्रभृतिः । शिल्पिनी चित्रकारादिस्त्री । आदिशब्दार्त्ता-
म्बूलिकगान्धिकस्त्रीप्रभृतयः ।

तत्र सखी यथा—‘श्वासान्मुञ्चति—’ इत्यादि (१३६ पृ.)

स्वयंदूती यथा मम—

‘पन्थिअ पिआसिओ विअ लच्छीअसि जासि ता किमण्णत्तो ।

ण मण वि वारओ इध अत्थि घरे घणरसं पिअन्ताणं ॥'

यथा स्यात्तथा भाषित इत्यर्थः ॥ सरसनरपक्षतेन धार्द्रनरपापातेन लक्षितं विहितम् ॥ लेख्यप्रस्थापनं यथा—‘विज्ञप्तिरेषा मम जीवबन्धो तत्रैव नेया दिवसा कियन्तः’ । सप्रत्ययोग्यस्थितिरेष देशः करा यदिन्दोरुपतापयन्ति ॥’ पन्थिभ इति । ‘पान्थ पिपासित इव लक्ष्यसे यासि तत्किमन्यत्र । न मनागपि धारक इहास्ति गेहे धनरस पिबताम् ॥’ इति संस्कृतम् । पिपासा जलनुष्णा । पक्षे—

१. प्रमजितेति । इह प्रमजिताशब्देन श्रमणाक्षपणारक्तपट्टिकादयस्तदिशेषा अपि
 ग्राह्याः । कारुस्तक्षादीनां योषित् । 'तथा च तन्नुवायश्च नापित्रो रजकक्षयाः । पञ्चमश्व-
 र्मेकारश्च कारश्च शिखिनो मत्वा ॥' इति ॥

॥ ताम्बूलिवेति । ताम्बूलं शिख्यमस्येति ताम्बूलिद । यत्तं गान्धिक । पञ्चदशीनां
शिखी हि प्रगल्भा निष्पाणा अप्रतिविद्यमनाश्च भवन्ति । यास्वत्यायनोऽप्याह—'विष-
वेष्टिका दात्री मिथुरी शिख्यकारिका । प्रविशत्यानु विभासं इतीकार्यं च विन्दति ॥'
गृह्णेति चेत् ॥

३. पन्थीति । गीतिरियम् । तदुक्तम्—'गायतितीत्युपायद्वयमात्रेण यदा भवति । मात्रावच्छिन्नी प्रोक्ता सा गीतिरिह वनिष्यतिना ॥' इति याणीभूषणव्याय ॥

१. गणुलदे ठ 'अथ सुवाच्ययो—' इत्यारम्भ—'सुवाच्यम्' इत्यन्तो दशो न दश्यते
२ 'तथा' गणुलदे गच्छति इ 'जिह्वा' ग इ 'वेद तथा संदेशवाचकै' ग. य. 'दूता वाचिषा-
प्रदो घावेरी प्रतिपद्यिनी' इति ग. ६ 'टिपिरी'— इत्यारम्भ 'इत्यदि' इत्यत्र पठो गणुलदे
गच्छति

एताश्च नायिकाविषये नायकानामपि दूत्यो भवन्ति ।

दूतीगुणानाह—

कलाकौशलमुत्साहो भक्तिश्चित्तज्ञता स्मृतिः ॥ १२९ ॥

माधुर्यं नर्मविज्ञानं वाग्मिता चेति तद्वृणाः ।

एता अपि यथौचित्यादुत्तमाधममध्यमाः ॥ १३० ॥

एता दूत्यः ।

अथ प्रतिनायकः—

धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः ।

यथा रामस्य रावणः ।

अयोद्धीपनविभावाः—

उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ॥ १३१ ॥

ते च—

अलम्बनस्य चेष्टाया देशकालादयस्तथा ।

संभोगेच्छा । घनरसं जलम्, पक्षे—संभोगमुत्सम् । पिबतामनुभवताम् । यद्वा घनो निविडो रसो रागो यत्र सोऽधरसम् ॥ एता अनन्तरोक्ताः सख्यादयः ॥ तद्वृणाः दूतीगुणाः ॥ व्यसनं द्विविधम्—कामजं कोपजं च । तद्योगाद् व्यसनान्याह मनु—
'कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः । विरुज्यतेऽप्यधर्माभ्यां क्रोधजेष्व्वात्मनैव तु ॥ मृगयाक्षो दिक्काशत्रः परिकादः खियो मदः । तौर्यत्रिकं दृष्ट्वा च कामतो दशको गणः ॥ पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यास्यार्थदूषणम् । वातदण्डजं च पाह्व्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥' (७. अ.) अक्षो घृतकोटा । तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यानि त्रीणीति दश । पैशुन्यं अविज्ञातपरदोषाविष्करणम् । साहसं साधोर्धन्यनादिना निग्रहः । द्रोहो जिघांसा । ईर्ष्या परगुणासहिष्णुता । असूया परगुणेषु दोषाविष्करणम् । अर्थदूषणं अर्थानामपहरणम्, देयानामदानं च ॥ उद्दीपयन्ति परिपोष-

१. एता इति । यात्स्यायनो दूतीकमांश्वप्याह—'विदेयं ग्राहयेत्पत्नी रमणीयानि वर्णयेत् । चित्रान्मुरतसंभोगानन्यास्तामपि दर्शयेत् ॥ नायकस्यानुरागं च पुनश्च रतिकी-
शलम् । प्रार्थनां चाभिकक्षीभिरवहणं च वर्णयेत् ॥' स्तम्भीयया चास्य प्रच्छन्नं संशोर्ध
भूतमभूतपूर्वं वा वर्णयेत् । अवहणं नायिकाविषयं निश्चयम् ॥

१. 'एताश्च' इति कश्चिद्वा नास्ति म-पुस्तके. २. 'दूती' इत्यारम्भ 'दूता' इत्यन्ता पाठो म-पुस्तके नास्ति. ३. 'ते चोक्तानन्यमन्त्रादयश्च' इत्युक्त्यादयः' । यथा—'विपद्वि' इत्यादि । इत्यधिकं म-पुस्तके. ४. 'आलम्बनस्य' इत्यादि—'अनुगाम' इत्यन्ता पाठो म-पुस्तके नास्ति.

चेष्टाया इत्याद्यशब्दाद्रूपभाषणादयः । कालादीत्यादिशब्दाच्चन्द्रवन्दनकोकिलालापप्रमरशंकारादयः ।

तत्र चन्द्रोदयो यथा मम—

‘करमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततमःपटलांशुके निवेश्य ।

विकसितकुमुदेक्षणं विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः ॥’

यो यस्य रसस्योद्दीपनभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते ।

अथानुभावाः—

उद्बुद्धं कारणैः सैः सैर्वहिर्भावं प्रकाशयन् ॥ १३२ ॥

लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ।

यः खलु लोके सीतादिचन्द्रादिभिः सैः सैरालम्बनोद्दीपनकारणैरामादेरन्तरुद्बुद्धं रत्यादिकं वहिः प्रकाशयन्कार्यमित्युच्यते, स काव्यनाट्ययोः पुनरनुभावः ।

कः पुनरसानित्याह—

उक्ताः स्त्रीणामलंकारा अङ्गजाश्च स्वभावजाः ॥ १३३ ॥

तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपि ।

तद्रूपा अनुभावस्वरूपाः । तत्र यो यस्य रसस्यानुभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते ।

तिशयं नयन्ति । आलम्बनस्य नायिकादेः । चेष्टा नेत्रविज्ञेपादिः ॥ करं किरणं पाणिं च । अमरेशदिशः प्राच्याः । उद्बुद्धमिति विवृणोति—यः सत्त्विति । वहिः प्रकाशयन् अनुभाषयन् ॥ अङ्गजा भावादयस्त्रयः । स्वभावजा स्त्रीरूपद्वयोऽष्टादश । शोभाकान्तादीनां रत्यादिप्रकाशकत्वामावाधानुभावरूपता । चेष्टा

१. करमिति । अयं सुधांशुः शशी (नायकश्च) गच्छति कथुनं तमःपटलं निगिरति-
तानमेव (तद्वत्) अंशुकं वसनं यस्य तथा मूले उदयमहीधरः उदयायत पद्म (तद्वत्)
स्तनः पयोधरस्तदग्रे करं किरणं (पाणिं च) निवेश्य । करेण स्तनाग्रवत्कम्पेति तावम् ।
अमरेशदिशः पूर्वाशावाः (नायिकायाश्च) विवृणोति मनुष्यानि कुमुदानि देववाण्डेव
(तद्वत्) ईक्षणे नयने यथा तथा मुखं प्राचीप्रारम्भमंशुणं (वदनं च) नुमन्ति । नुमन्ने
संन्यः यदनसंयोगविशेषेति ॥ अत्र वि-उपसर्गो मन्दमयोजनः ॥

१. ‘चेष्टा’ क-स. २. ‘इत्यादि’ क. ३. ‘आलम्ब’ इति क-पुलके वक्षि. ४. ‘अयं’ क. ५. ‘अय-
दयस्यनित्यैर्द्वन्द्वो विनाम्ये । क-पुलके अंशुकं शोऽनुभाव इति क-पुलके इति म. ६. ‘अयं कथु-
नं’ इत्यादि. ७. ‘अयं’ इत्यादि. ८. ‘अयं’ इति क-पुलके वक्षि. ९. ‘अयं’ इति क-पुलके वक्षि. १०. ‘तद्वत्’
इत्यादि. ‘वदनं’ इत्यादि. ११. ‘अयं’ इत्यादि. १२. ‘अयं’ इति क-पुलके वक्षि.

तत्र सात्त्विकः—

विकाराः सत्त्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ॥१३४॥

सत्त्वं नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कथनान्तरो धर्मः ।

सत्त्वमात्रोद्भवत्वात्ते भिन्ना अप्यनुमावतः ।

‘गोवलीवर्दन्यायेन’ इति शेषः ।

के त इत्याह—

स्तम्भः खेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ॥ १३५ ॥

वैवर्ण्यमश्नु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ।

तत्र

स्तम्भश्चेष्टाप्रतीयातो मयहर्षमयादिभिः ॥ १३६ ॥

वपुर्जलोद्गमः खेदो रतिधर्मश्रमादिभिः ।

हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया ॥ १३७ ॥

मदसंमदपीडाद्यैर्वैस्वर्यं गद्गदं विदुः ।

नायकस्य नेत्रविक्षेपादयः । पराः सात्त्विकविकारभिन्नाः ॥ सत्त्वमिति । स्वात्मनि एव विश्रामो यस्य स रसादिः, तस्य प्रकाश उद्बोधस्तत्त्वरी । प्रागुक्तमपि सत्त्व-
रक्षणं (७८ पृ०) शिष्याणां विविधव्युत्पत्त्यै प्रकारान्तरेण पुनरुक्तम् । ते सात्त्विका
विकाराः । भिन्ना अपीति । अपिना धमिन्ना इत्यस्य स्वभ । ननु मेदाभेदयोर्वि-
रोध इत्यत आह—गोवलीवर्देति । तथा चानुभावत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकमे-
दामात्रेण सहानुभावत्वसमानाधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकमेदस्य समावेशः ।
यथा वलीवर्दे गोत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकमेदाभावेन सह गोत्वसमानाधिकरणधेनु-
त्वादिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकमेदस्येति भावः । ‘विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका
व्यभिचारिणः ।’ इत्यादौ सात्त्विकभावस्य पृथगुपन्यासेनानुभावातिरिक्तवशाद्वाभिरा-
साद्यैर्निह पृथगुपादानम् ॥ प्रतीयातः प्रतिबन्धः । वपुषो जलोद्गमः । रोम्यो विक्रिया

१ ‘अथ’ क. २. ‘सत्त्वमात्रोद्भवा विकारा’ इति ग. ३. ‘अथ’ क. ४. ‘मयहर्षादुत्पत्ताः ।
यथा—‘अधोरादया वटाया व मेगले सन्तु जिह्वका । पुशानक्षत्र त्वेव यदागेलिखिता इव ।
खेदो यथा—वपुर्जलोद्गमः खेदो रतितापश्रमादिभिः’ । यथा—‘व्यस्तानां हृतपुष्पां स्तनान्तराधे
वनेषु वपुर्जलोद्गमेऽपि मौक्तिकाणि । कपेदे अमणिलोद्गमो विगृह्य रम्याणां विट्टिनरिषि शिव तनोनि ॥’
इति ग. ५. अथ रोमाञ्चः—‘रोमाञ्चः मोद्गमो रोम्यां रोमहर्षादिभिस्तनोनि । यथा—‘विष काल
अपराधं ... पुल्लोकराः । विषागद्विषागले गग्नि हर्षीपाकुल ॥’ । अत्राचार्याणामु—‘वपु-
षश्च रतिवर्गः श्रूषे इत्येतेषां वा । स्त्रीष्वभिवर्गमेवापि रोमाञ्च धर्मवर्गः ॥’ इति ग. ६. स्वर-
भङ्गो यथा—‘गद्गदो विलसत्त्व च नैलर्ष प्रसदादिभिः’ । यथा—उपमादिर्बोद्धव्यपुष्पतने अमणि
समाप्तमानकुटीरगद्गदिभिः । सप्तान्तुगद्गदिभिश्चापुष्पतानि चेतो हरन्ति बचनानि सरोहस्तथा ॥’
इति ग.

रागद्वेषश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः ॥ १३८ ॥

विषादमदरोपाद्यैर्वर्णान्यत्वं विवर्णता ।

अथु नेत्रोद्भवं वारि क्रोधदुःखप्रहर्षजम् ॥ १३९ ॥

प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः ।

येथा मम—

‘तेनुस्पर्शादस्या दरमुकुलिते हन्त नयने

उदञ्चद्रोमाञ्चं व्रजति जडतामङ्गमखिलम् ।

कपोलौ धर्माद्रौ ध्रुवमुपरताशेषविषयं

मनः सान्द्रानन्दं स्पृशति क्षटिति ब्रह्म परमम् ॥’

एवमन्यत् ।

उद्गमः । वैस्वर्यं स्वरविकारः । सुखदुःखाभ्यामिति । सुखेन दुःखेन वैस्वर्यः ॥ ब्रह्म परममिति । ब्रह्मनिविष्टचेतसो यथा चेष्टावाङ्मननिरासो भवति तथा नायिकानि-
विष्टचेतसोऽपीति भावः । अत्र स्वप्नस्वेदरोमान्प्रलयाः ॥ एवमन्यदिति । ‘बाले
नाथ विमुष्य मानिनि ह्यम्—’ (११३ पृ.) इत्यत्र स्वरमङ्गः । ‘मा गर्वमुद्गह—’ (११५ पृ.)

1. तन्विति । अस्याः तनुस्पर्शात् गात्रसंपर्कात् नयने अक्षिणी दरमुकुलिते किञ्चिन्मु-
कुलीभावमधिगते हन्त । अखिलं सकलमङ्गम् उदञ्चन्तः प्रादुर्भवन्तः रोमाञ्चा रोमविकारा
यस्मिन्तथाभूतं सत् जडतां जडत्वं व्रजति गच्छति । अत्र ‘नयने उदञ्चद्—’ इति
‘ईदूदेद्विवधनं प्रगृह्यम्’ इति सूत्रेण दिवचनस्य प्रगृह्यसंज्ञायां ‘भुतप्रगृह्या अचि नित्यम्’
इति, ‘सूत्रेण प्रकृतिभावे प्रगृह्यदेतुकानुशासनिको विशेषः स स्वसङ्कदेव दोषावहः ।
‘समुपद्रोमाञ्चम्’ इति पाठस्तु ज्यावान् । कपोलौ धर्माद्रौ स्वेदसलिलपिण्डलौ भवतः ।
उपरतो विरतः अशेषविषयः सकलबाह्येन्द्रियभ्यापारो यस्य तथाभूतं मनः क्षटिति
सान्द्रानन्दं निविष्टानन्दरूपं परमं सर्वोरुद्धं ब्रह्म स्पृशति साक्षात्करोति ध्रुवं नूनम् ।
प्रज्ञानन्दमनुभवतीति भावः ॥

१. ‘वेपथुर्धमा—रागरोषमहादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः । यथा—मा गर्वमुद्गह कपोलतले
चकालि—’ इत्यादि । रागाद्यन्ता—वारंवारं तिरयति दशोद्गमं बाष्पपूरकत्वं कपोपहितमङ्गमङ्गम-
भवेति गात्रम् । सद्यः स्निग्धत्वमविरतोत्कम्पलोलानुकीकः पाणिर्लेशविधिषु जितरा कम्पने किं करोमि ।
एवं रोषादिभिरुत्साहः ।’ इति ग. २. ग-पुस्तके तु ‘विवर्णता’ इत्यस्मादग्रे ‘परिमृदित—’ इति श्लोको
दृश्यते. ३. ग-पुस्तके तु ‘प्रहर्षजम्’ इत्यस्मादग्रे ‘यथा—यथायं गृह्या मेधागानुत्तरे तस्य भूभुजः ।
विरराम न रामस्य धाराचंचितिरुत्तमः ॥’ इति श्लोको वर्तते. ४. अन्वयो यथा—‘प्रत्ययो रागदु-
ःखादेरिन्द्रियात्मनो मयः ।’ यथा—‘रोमाद्रौ मणवत्पृथक्—’ इत्यादि ।’ इति ग. ५. ‘यथा—’ इत्यादिः
‘एवमन्यत्’ इत्यन्तः पाठो ग-पुस्तके नास्ति.

अथ व्यभिचारिणः—

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः ।

स्यायिन्युन्मग्ननिर्ममास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ॥ १४० ॥

स्थिरतया वर्तमाने हि सत्यादौ निर्वेदादयः प्रादुर्भावतिरोभावाम्भ्या-
मभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः कथ्यन्ते ।

के त इत्याह—

निर्वेदावेगदैन्यश्रममदजडता औग्र्यमोहौ विबोधः

स्वप्नापसारगर्वा मरणमलसतामर्पनिद्रावहित्याः ।

औत्सुक्योन्मादशङ्काः स्मृतिमतिसहिता व्याधिसत्रासलज्जा

हर्षास्त्रयाविषादाः सधृतिचपलता ग्लानिचिन्ताविवर्काः १४१

तत्र निर्वेदः—

तत्त्वज्ञानापदीर्घ्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।

दैन्यचिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत् ॥ १४२ ॥

तैत्त्वज्ञानान्निर्वेदो यथा—

‘मृत्कुम्भवालुकारन्ध्रपिधानरचनार्थिना ।

दक्षिणावर्तशङ्खोऽयं हन्त चूर्णाकृतो मया ॥’

इत्यत्र धेयधुः । ‘शोणं बीजम्—’ (९९ पृ.) इत्यत्र वैवर्ण्यमधु च ॥ विशेषादिति ।
विभावानुभावापेक्षया आभिमुख्येन रसानुगुण्येन रत्यादौ रसरूपतया संगच्छमानाः ।
उन्मत्ता मुहुदवत् झटिति प्रतीयमानत्वेन प्रादुर्भूताः । निर्ममा विलम्बप्रतीतिकार्येण
तिरोभूताः । अयस्त्रिंशदिति न्यूनसंख्याया व्यवच्छेदकम्, न त्वधिकसंख्याया । अत
एवोक्तम्—‘हासक्रोधादयः शङ्कारादौ व्यभिचारिणः’ इति । (७७ पृ.) एतदर्थमत्र
चकार उपन्यस्तः । तद्भिदा व्यभिचारिणोऽपि प्रकारः । चरणात् भेलनात् ॥
निर्वेदादीनां ज्ञानाय कार्यकारणमयनपुरःसरं तात्क्षणमाह—तत्त्वेति । तत्त्वज्ञान-
मिदं देहविषयादावनुपादेयत्वज्ञानमेव, न तु जीवात्मपरमात्मनोरभेदज्ञानम् । तस्मि-
न्सति मोक्ष एव न तु स्वावमाननम् । तत्कारणे वैराग्यादौ लक्षणा । प्रथमादिपदात्
पुराणप्रवणादीनां द्वितीयादिपदात् स्वस्य कुकर्माद्भावनादीनां ग्रहणम् ॥ मृदिति ।
चूर्णाकृतः चूर्णादयद्रव्यविशेषीकृतः । विरक्तस्य दक्षिणावर्तशङ्खचूर्णनकथनमसंगतमि-

I. निर्वेद इति । ‘चित्तस्य खेरो निर्वेदस्त्वज्ञानोदयादिभिः ।’ इति केचिद् ॥

१. ‘निर्वेदा(९)पञ्चवर्गप्रवृत्तयश्च रक्षादिस्त्वपि आदिर्वाङ्मनोनाकाशमभिमुख्येन चरणाद्
व्यभिचारिणः कथ्यन्ते’ इति म. २. ‘निर्वेदः’ इति का. ३. ‘तत्र’ इति च. ४. ‘तत्र’ इति च. ५. ‘तत्र’ इति च.

अथावेगः—

आवेगः संभ्रमस्तत्र हर्षजे पिण्डिताङ्गता ।

उत्पातजे स्रस्तताङ्गे, धूमाद्याकुलताग्निजे ॥ १४३ ॥

राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम् ।

गजादेः स्तम्भकम्पादि, पांखाद्याकुलतानिलात् ॥ १४४ ॥

इष्टाद्धर्षाः, शुचोऽनिष्टाज्ज्ञेयाश्चान्ये यथायथम् ।

तत्र शत्रुजो यथा—

‘अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ।

क्षत्रकोपदहनार्चिपं ततः संदधे दशमुदग्रतारकाम् ॥’

एवमन्यदूहम् ।

अथ दैन्यम्—

दौर्गत्याघैरनौजसं दैन्यं मलिनतादिकृत् ॥ १४५ ॥

त्युपमानल्पनयायं निदर्शनालङ्कार । तथा च मृत्कुम्भवालुकरन्ध्रपिधानवस्तुच्छ वैष-
मिकसुखम् तस्य रचना अनुकूलव्यापारः तदधिना तत्कामेन । परमपुरुषार्थसाधन-
तया दक्षिणावर्तशङ्खवदुपादेयो मनुष्यदेह चूर्णीकृतः । जरया जर्जरीकृत इत्यर्थः । यद्वा
रावणशक्त्या पतिते लक्ष्मणे श्रीरामस्य परिदेवनमिदम् । अयं लक्ष्मण एव दक्षिणाव-
र्तशङ्खः मया चूर्णीकृतो विनाशितः, चूर्णरूपद्रव्यविशेषीकृतश्च । कीदृशेन मया ।
रावणवधादिरेव मृत्कुम्भवालुकरन्ध्रपिधानं तद्वचनाक्रमेण । अतिशयोक्त्यलंकारोऽयं
रूपकोपपादकः । अत्र पक्षे आपञ्जन्यं निर्वेदं स्वावमाननं चेद्यम् । एवमन्यदपि ॥
तत्रावेगो पिण्डिताङ्गता सकुचितशरीरत्वम् । ‘पीडिताङ्गता’ इति पाठे सप्त एवार्थः ।
उत्पातजे दिव्यनाभसभूमिजरूपत्रिविधोत्पातजन्ये । राजविद्रवजादेरित्यादिना
शत्रुजादिग्रहणम् । नागादीत्यादिना अश्व्यादिपरिग्रहः । गजादेर्जायमाने आवेगे ।
एवमग्रेऽपि । नृपं दशरथम् । स भार्गवः । क्षेत्रेषु यः कोपः स एव दहनं तस्य
शिखाम् । ततः तस्मिन् । अत्रार्घ्यमर्घ्यमिति शुहुर्वदतो दशरथस्य भार्गवदर्शने
संभ्रमः । दौर्गत्यं दारिद्र्यम् । आदिना श्रमादेर्ग्रहणम् । अनौजस्यं निस्तेजस्त्वम् ।

१. आवेग इति । अनर्थातिशयजनिता चित्तस्य सभ्रमास्या वृत्तिरावेग इति ॥

२. दैन्यमिति । दुःखदारिद्र्यापराधादिजनितः स्वापकर्षमापणादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषो
दैन्यमिति । ‘चिन्तौत्सुक्यान्मनस्तापाहौर्मेत्याद्य विभावतः । अनुमावानु शिरसोऽप्या-
वृत्तेर्गोत्रगीरवादः । देहोपस्करणन्यागादेन्यं याव विभावयेत् ॥’ इति च ॥

१ ‘अथावेगः’ इति म. पुस्तके नास्ति २ ‘पिडिताङ्गता’ म. ३ ‘नागाभिवोजनम्’ क. ग.
४ इतोऽत्र ‘नष्ट वर्षवरे—’ इति श्लोको दृश्यते म. पुस्तके, ततश्च अत्र परिमुक्तवाच्यभवादेशा
संभ्रमः ।’ इति ५ ‘तत्र—’ इत्यादिः ‘—ऊहम्’ इत्यन्ता पाठो नास्ति म. पुस्तके ६ ‘निर्वेद-
इति पुस्तकान्तरे नास्ति.

यथा—

‘वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः, स्थूणावशेषं गृहं,
कालोऽभ्यर्णजलगमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो ।
यत्तात्संचिततैलविन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ॥’

अथ श्रमः—

खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः ।

यथा—

‘सैद्यः पुरीपरिर्सेरेऽपि शिरीषमृद्धो
सीता जवात्रिचतुराणि पदानि गत्वा ।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद्ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥’

अथ मदः—

संमोहानन्दसंभेदो मंदो मद्योपयोगजः ॥ १४६ ॥

स्थूणा त्वन्मः । अभ्यर्णजलगमो निकटस्थवर्षासमयः । तैलविन्दूनां घटिका
धुवभाजगम् ॥ सद्य इति । वारंवारं गन्तव्याभ्यपरिमाणजितासया सीतायाः
स्वल्पपथलघुनभ्रममवधार्य श्रीरामस्य रोदनम् ॥ संमोहानन्दयोः संभेदो मेलकः ।

१. वरसस्येति । वरसस्य पुत्रस्य ॥

२. निजवधूमिति । निजवधूं आत्ममुषाम् ॥

३. श्रम इति । बहुतराशरीरव्यापाराजग्मा निःश्वासाद्गन्तमन्देनिद्रादिकारणीभूतः खेद-
विशेषः श्रम इति । यदाहुः—‘अध्वगत्यायामसेवाभेदाभावेरनुभावकेः । गात्रसंवाहनेन-
स्पर्शकिंचिरद्भोदनेः ॥ निःश्वासंज्जोर्भूतमन्दैः पादांशेषः श्रमो मतः ॥’ इति । अथ य
सत्यपि बले जायते, शरीरव्यापारादेव च जायते न तु ग्लानिः । अतो ग्लानिः
श्रमस्य भेदः ॥

४. प्रथमेति । प्रथमावतारं पूर्वोक्तिपरम् ॥

५. मद इति । मद्याप्युपयोगजन्ता उत्पत्त्याख्यः जायतइतिवादिदेवुश्चित्तनिर्देशो

१. ‘श्रमः भेदादिधारकः रत्यागममादेव यः रोदः स श्रमः रोदमर्दकात्पुगावपदकाः ।’
इति य. २. ‘वधा’ इति ग-पुल्लके नास्ति. ३. ग-पुल्लके तु ‘वधः’ इति श्लोकस्य तु शब्देन ‘मद’ शिद्रु-
जलपुत्रां देवता समानमिदं सति मुनिभ्यः । समस्तमस्तुज्जोषावनीसदा वीरमानि दाम् ॥’ इति
दरबने. ४. ‘य’ य. ५. ‘होतव्यं’ मदः पानात्क-द्वयवर्णोऽस्ति । मद्यादिकारणे र-
त मरोद्भूतवधवर्णोऽस्ति यजानुवाच ॥’ इति य.

अमुना चोत्तमः शेते, मध्यो हसति गायति ।
अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति ॥ १४७ ॥

यथा—

‘प्रातिमं त्रिसरकेण गतानां वक्रवाक्यरचनारमणीयः ।
गूढसूचितरहस्यसहासः सुभ्रुवां प्रवृत्ते परिहासः ॥’

अथ जडता—

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।
अनिमिपनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र ॥ १४८ ॥

यथा मम कुबलयाश्चरिते प्राकृतकान्ये—

‘णवरिअ तं जुअजुअलं अण्णोण्णं णिहिदसजलमन्यरदिट्ठि ।

मध्यस्यासर्वस्य उपयोगाद् भक्षणाज्जातः । अमुना मयेन ॥ प्रातिमं प्राग-
रभ्यम् । त्रिसरकेण मयेन । गूढं सूचितं रहस्यं यत्र स चासौ हासयेति ॥ अप्र-
तिपत्तिः कर्तव्यानिश्चयः । तूष्णींभावो मौनम् । तत्र जडतायाम् ॥ णवरिअ

मद इति । तत्रोत्तमे पुरषे स्वापोऽनुभावः । मध्यमे हसितगाने । अधमे तु रोदनपरपो-
कत्वादि । अथ च मदस्त्रिविधः । तरुणमध्यमाधममेवाह । अव्यक्तसंगतवाक्यैः सुकुमा-
रस्त्वलक्षणा च योऽमिनीयते स आधः । मुजासेपस्त्वलितपूर्णितादिभिर्मध्यमः । गतिभ-
क्तमृतिनाशहिकाछर्पादिभिरधमः । प्रदीपे तु ‘उत्तमसत्त्वः प्रहसति गायति तद्वच्च मध्य-
मप्रकृतिः । परुषवचनाभिधायी शेते रोदित्वधमसत्त्वः ॥’ इति व्यत्यासोऽस्ति ॥

1. प्रातिभमिति । मदानुभाववर्णनमिदम् । त्रयाणां सरकाणां समाहारस्त्रिसरक
त्रिवारमधुपानम् । ‘सरक शीधुपाने स्वाच्छीधुपाने च शीधुनि ।’ इति विश्वः । तेन
त्रिसरकेण । ‘त्रिपान मदातिभूमिः’ इति पानप्रसिद्धिः । प्रतिभैव प्रातिभ प्रतिभाविशेषः ।
सत्प्रातिभं गतानां त्रिवारसुरापानोत्कटमद्रोदुग्धप्रागहस्यभाजां सुभ्रुवा वक्रवाक्यरचनारम-
णीयः वक्तोक्तिशोभनः । गूढानि पूर्वं लज्जया सन्वृताणि, सूचितानि सप्रति मदेन प्रका-
शितानि रहस्यानि ग्राम्यावयवचेष्टाप्रलपितानि वक्षिन् स गूढसूचितरहस्यः, स चासौ
हासश्चेति विशेषणसमासः । प्रवृत्ते प्रवृत्तः ॥

2. जडतेति । चिन्तोत्पण्ठाभयविरहेष्टानिष्टदर्शनश्रवणादिजन्यापुश्यकर्तव्यार्थमति-
संधानविकला विसृष्टिर्जडता । इयं च मोहात्पूर्वतः परतश्च जायते । यदाहुः—
‘कार्याविवेको जडता पदयतः शृण्वतोऽपि वा । तदिभावाः प्रियानिष्टदर्शनश्रवणे रुजा ॥
अनुभावास्त्वमी तूष्णींभावविसरणादयः । सा पूर्वं परतो वा स्वान्मोहादिति विदा
मतम् ॥’ इति ॥

॥. णवेति । स्कन्धकमिदम् । तदुच्यते—स्कन्धकमिति उत्कथितं यत्र चतुष्क-

आलेख्योपिअं विअ खणमेत्तं तत्थ संट्ठिअं मुअसण्णं ॥'

अथोग्रता—

शौर्यापराधादिभवं भवेच्चण्डस्वमुग्रता ।

तत्र खेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥ १४९ ॥

यथा—

‘प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै-

र्लेलितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत् ।

वपुषि यथाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः

पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैव भुजः ॥’

अथ मोहः—

मोहो विचिचत्ता भीतिदुःखावेमानुचिन्तनैः ।

मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥ १५० ॥

यथा—

‘तीव्राभिपङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।

इति । ‘केवलं तद्युष्मगलमन्योन्यं निहितसजलमन्धरदृष्टि । आलेख्यापितमिव क्षणमात्रं तत्र संस्थितं मुक्तसङ्गम् ॥’ इति संस्कृतम् । शबरिअशब्दः केवलार्थे देशी ॥ चण्डित्यमल्यन्तासहिष्णुत्वम् । प्रणयिनी या सखी तस्याः परिहासरसेनाधिगतैः प्रातैः । अकाण्डयमदण्ड इति । अकालयमदण्ड इत्यर्थः । अत्र मालती-शरीरे शस्त्रप्रहारं कुर्यतोऽघोरघण्टस्यापराधेन माधवस्य चण्डत्वमेतादृशोत्तया च्यम्यते ॥ विसृज्य निमीलनायं विचिचत्ता । मुपुक्षितारणायाह—भीतीति । भावेणः संग्रमः । अनुचिन्तनमत्यन्तचिन्ता । अदर्शनमज्ञानम् ॥ अभिपङ्गः

छगणाद्येनार्थं स्यात् । तत्सुखमग्रिमदलं भवति वनःपट्टिमात्रकक्षीरनिदम् ॥’ इति दामोदरमिश्राः ॥

१. उग्रतेति । अधिरोपापमानादिप्रमत्ता क्रियस्य करोमीत्याद्याकारा विचिचत्तिग्रता । यदाहुः—‘नृपापराधोऽसद्वेषकीर्तने चोरधारणम् । निमावाः स्युरयो बन्धो वपलावन-भारसने ॥ एते यवानुभावास्तदीयं निर्देयतात्मकम् ॥’

२. मोह इति । मयनियोगादिप्रयोगा नस्तुतत्त्वानवधारिणी विचिचत्तिमोहः । ‘अवसान्तररूपमिहा विचिचत्तिः’ इति सु नम्याः ॥

१. ‘अयोमता’ इति नास्ति म-पुल्लदे. २. इतोऽप्ये ‘जोषदिना वचनस्त्वगुपता । तत्र खेदशिर-स्येनापनुभावा भवन्ति ।’ इत्यभिज्ञं म-पुल्लके. ३. ‘देहेन्द्रियनित्यमन्धरात्मनापनुभावाः । योधा-दिना विरतिश्रेयो मोह इन्द्रियछान्नापनुभावश्च ॥’ इति म.

अज्ञातमर्तव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्वमूव ॥'

अथ विबोधः—

निद्रापगमहेतुभ्यो विबोधयेतनागमः ।

जृम्भाङ्गभङ्गनयनमीलनाङ्गावलोककृत् ॥ १५१ ॥

यथा—

‘चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां

चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः ।

अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणा-

मशिशिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ॥'

अथ स्वप्नः—

स्वप्नो निद्रासुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः ।

शोकः । वृत्तिं विषयसम्बन्धम् । संस्तम्भयता प्रतिबध्नता । एतेनाज्ञानकरत्वं मोहस्य सूचितम् । व्यसनं निषत् ॥ निद्रापगमहेतवो गीतवादिप्रादयः तेभ्यश्चे-
तनागमो ज्ञानलाभः । नयनमीलनं नेत्रप्रकाशः ॥ स्वरमं नायकनिद्रायाः
पश्चात् । पूर्वं नायकप्रबोधात्प्राक् । अशिशिलेन दृढनिक्षिप्तेन भुजेन यः कण्ठस्या-
श्लेषः तस्य भङ्गम् । ‘प्रशिशिल-’इति पाठे निद्रावशाद् भुजशैथिल्यं प्रियं प्रबुध्य

१. विबोध इति । निद्रानाशोत्तर जायमानो बोधो विबोधः । निद्रानाशश्च तत्पूर्ति-
स्वप्नान्तबलवच्छब्दस्पर्शादिभिर्जायत इति त एवान् विभावाः । अशिशिलमर्दनादयोऽनु-
भावाः । केचिद्विद्याध्वसजन्यमध्यमुमामनन्ति । तेषां मये ‘नष्टो मोहः स्मृतिर्लभ्या
स्वप्नप्रादान्मयाच्युत । स्थितोऽसि गतसदेहः करिष्ये वचनं तव ॥’ इति गीताश्लोक
उदाहार्यः ॥

२. चिररतिः । चरममपि शयित्वा पश्चात्सुप्तापि पूर्वमेव प्रबुद्धाः । ‘सुप्ते पश्चाच्च या
शेते पूर्वमेव प्रबुध्यते । नान्यं कामयते विचे सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥’ इति स्मरणादिनि
भावः । तथापि तरुण्योऽपरिचलितगात्रा अत्यन्दचक्राः सत्यः चिररतिपरिखेदेन
प्राप्तनिद्रासुखानां प्रियाणाम् । अशिशिलो ग्राहो यो भुजचक्रेण परस्परभुजचक्रेण आश्लेषः
तस्य भेदं विधेयं न कुर्वते किं त्वाश्लेषैव स्थिताः । अन्यथा, तन्निद्रामग्नः स्यात् । ‘शया-
नं न प्रबोधयेत्’ इति निषेधात्कन्दनमयादिति भावः । ईह ‘कण्ठाश्लेषभङ्गम्’ इति
टीकाकारसंमतः पाठः । स ॥ सांप्रतिकपुस्तकेषु न दृश्यते ॥

१. ‘विबोधः परिणामादेस्तत्र जृम्भाङ्गभङ्गे । आहारपरिणामादिशेतनाभावो विबोधो जृम्भाङ्ग-
सुभावकः ।’ इति ग. २. ‘चिररति-’ इति श्लोकस्य स्थाने ‘एकेन नेत्रमग्नं बलवन्करेण पार्श्वे
परं च कलपयन्वनीतमाङ्गे । निद्राविरागकमनोबुधसामुद्रकीर्णां पशु पादरजसा नन नन्दवाकः ॥’
इति दृश्यते म-मुद्राङ्गे.

कोपावेगभयंग्लानिसुखदुःखादिकारकः ॥ १५२ ॥

यथा—

‘मामाकाशप्रणिहितमुजं निर्दयाश्लेषहेतो-

ल्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेन ।

पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां

मुक्तास्थूलास्तरुकिंसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥’

अथापसारः—

मनःक्षेपस्त्वपसारो ग्रहाद्यावेशनादिजः ।

भूपातकम्पप्रखेदफेनलालादिकारकः ॥ १५३ ॥

‘आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्वुजाकारवृहचरङ्गम् ।

फेनायमानं पतिमापयानामस्रावपसारिणमाशशङ्के ॥’

अथ गर्वः—

गर्वो मदः प्रभावश्रीविद्यासत्कुलतादिजः ।

अैवज्ञासविलासाङ्गदर्शनाविनयादिकृत् ॥ १५४ ॥

तत्र शौर्यगर्वो यथा—

‘घृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः ।

यद्वा न सिद्धमलेण मम तत्केन साध्यताम् ॥’

भुजाक्षेपं कर्तुमर्हतीति । अस्य निद्रामग्नौ नोपित इति भावः ॥ मामिति । यक्षस्य मेघं प्रति प्रियायै वाचनिकार्पणमिदम् । मां यक्षम् । कथमपि महता कष्टेन । मुक्ता इव स्थूलाः ॥ मनःक्षेप इति । मनसो ग्राहीविशेषणनिवेशेन घूर्णनमित्यर्थः । ग्रहादीत्यादिना भूतादिपरिग्रहः । मध्यमादिपदेन घातुवैपम्यादिपरिग्रहः ॥ फेनायमानं फेनमुद्गमन्तम् । असी श्रीकृष्णः आसशङ्के शतवान् ॥ मदश्चित्तविकारविशेषः । राज्ञः कोशदण्डादिजन्यः प्रतापः प्रभावः । श्रीशि-

१. मामिति । मया कथमपि स्वप्नसंदर्शनेन लब्धायाः ते तव निर्दयाश्लेषहेतोः गाढा-
लिङ्गनापेम् आकाशप्रणिहितमुजं लब्धायास्तवाद् मां पश्यन्तीनां स्थलीदेवतानां वनदेवतानां

१. ‘मासपमपक्षोपादेरनुभाक्त्व कारणम्’ । निद्रामग्नौ निवस्यमानं राज्ञः । मासपमपक्षो-
देः । इति ग. २. ‘भूवद्यादि त्वमपि यक्षदे वयस्यस्य पुत्र मे-’ इत्युदाहरणान्नरं मनुष्ये-
३. ‘आनेयी महद्गुणैरप्येकानां एतौ युजे । सुपुत्रस्वनिभूतनकेनाज्ञात्पोषणादिदृष्टम् ॥’ इति ग.
४. ‘श्लेषः’ ख. ५. ‘आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्वुजाकारवृहचरङ्गम् । प्रभावादिप्रत्यये मदो मरः । आदि-
उद्गमनादिप्रतीकादि । त. ‘अविनयायनुभावेः’ इति ग. ६. ‘यथा’ क. ख. ७. ‘आसशङ्के
‘यस्यमप्यदृष्टम्’ इत्यविष्टं मनुष्ये.

अथ मरणम्—

शराद्यैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत् ।

यथा—

‘राममन्मथदारेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।

गन्धवद्गुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेश्वसति जगाम सा ॥’

अथालस्यम्—

आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यं जृम्भासितादिकृत् ॥ १५५ ॥

वर्णसंपत्तिः । अचक्षा परस्मिन् ॥ अन्यैर्मदुतायुषभिः ॥ रामेति । सा निशा-
चरी ताडका राक्षसी, सैव निशाचरी अभिसारिका नायिका । राम एव मन्मथः
तस्य दारेण हृदये वक्षसि मनसि च ताडिता सती जीवितेशो यम एव जीवितेशः
प्रियः तस्य वसति जगाम । कीदृशी गन्धवद्गुधिरमेव चन्दनं तेनोक्षिता लिप्ता ॥
‘जाड्यम्’ इत्यत्र कापि ‘जैड्यम्’ इति पाठः । स न सम्यक् अवगताप्यपतेः ।

मुक्तार्थुता अमुलेशा नयनोर्द्वन्द्वः तरुसिलयेषु बहुशः न खलु न पतन्ति । अपि
तु पतन्त्येव । एवंविधं मामवलोक्य वनदेवता अपि रुदन्तीति भावः ॥

१. शरेति । अत्र विशेषमाह रसगङ्गाधरकारः ‘रोगादिजन्या मूर्च्छाकरा मरणमा-
गवसा मरणम् । न चात्र प्राणवियोगात्मकं मुख्यं मरणमुच्यते प्रतीतम् । विचित्रता-
त्मकेषु भावेषु तस्याप्रसक्तेः । भावेषु च सर्वेषु कार्यसंबन्धितेषु शरीरप्राणयोगस्य हेतु-
त्वात् । उदाहरणम्—‘दयितस्य गुणाननुसरन्ती शयने संप्रति या विलोकितासीत् ।
अधुना खलु हन्त सा कृशाङ्गी गिरमङ्गीकुरुते न भावितपि ॥’ श्रिविशिष्टोऽत्र विभावः ।
‘वचनविरामोऽनुभावः । हन्तपदस्यात्रालन्तमुपकारकत्वाद्वाच्यम्यस्योऽप्ययं भावः
पदव्यङ्ग्यतामावहति । दयितस्य गुणाननुसरन्तीत्यनेन व्यङ्ग्यमानं चरमावस्थायामपि तस्या
दयितगुणविसरणं नाभूदिति विप्रलम्भस्य शोकस्य वा चरममभिष्यक्तस्य पोषकम् । अयं च
भावः स्वभ्यञ्जकभावोत्तरवर्तिना वाक्यान्तरेण सदभेदकेन नाविकादेः प्रत्युज्जीवनवर्णने
विप्रलम्भस्य, अन्यथा तु करुणस्य पोषक इति विवेकः । कवयः पुनरपि प्राधान्येन न
वर्णयन्ति । अमङ्गलप्रायश्चात् ॥’ इति । प्रदीपेऽप्युक्तम्—‘जीवसोन्ननारम्भो मरणं
परिकीर्तितम् । समोद्देन्द्रियसम्मानिगात्रविशेषणादिकृत् ॥’ इति ॥

२. आलस्यमिति । अवितृप्तिगमं व्याभिन्नमादिजन्या चेतसः क्रियानुमुत्पत्तलस्यम् ।
अत्र च नासामर्थ्यम् । नापि कार्याकार्यशून्यत्वम् । येन कार्याकरणरूपस्यानुभावस्य
तुल्यत्वेऽपि ग्लानेर्जडतायाश्चासौ भेदः ॥

१. ‘अथ मरणम्’ इति नास्ति ग पुस्तके २. ‘मरणं मुपलब्धत्वादनर्थत्वात् नोच्यते ।’ इति ग.
३. यथा—‘राम—’ इत्युदाहरणं नास्ति ग पुस्तके. ३. ‘जैड्य’ क.ग. ४. इतोऽपि ‘श्रमदिना
वज्रैश्च’ अस्ति पञ्चकोचः, तदाहस्यम् । जृम्भणरिचलाद्यनुभावेण ।’ इत्यधिकं ग पुस्तके.

यथा—

‘ने तथा भूषयत्यङ्गं न तथा भाषते सखीम् ।

जृम्भते मुहुरासीना बालां गर्भमरालसा ॥’

अथामर्षः—

निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।

नेत्रैरागशिरःकम्पभ्रूमङ्गोत्तर्जनादिकृत् ॥ १५६ ॥

यथा—

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।

न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥

अथ निद्रा—

चेतैःसंमीलनं निद्रा श्रमक्लममदादिजा ।

जुम्भाक्षिमीलनोच्छ्वासगात्रमङ्गादिकारणम् ॥ १५७ ॥

यथा—

‘सार्थकानर्थकपदं ब्रुवती मन्यराक्षरम् ।

निद्रार्धमीलिताक्षी सा लिखितेवास्ति मे हृदि ॥’

आसितमुपवेशनम् ॥ दोषोद्भावनं निन्दा । भर्त्सनमाक्षेपः । अपमानः परा-
भवः । आदिना वित्तादिग्रहणादेर्ग्रहणम् । अभिनिविष्टता निन्दादिकर्तुर्यातन-
निर्णयः । श्लोघस्तूकटपन्तिकीर्षा । इत्यनयोर्भेदः ॥ प्रायश्चित्तमिति । शोणा-
दीन्प्रति अर्जुनस्योत्किरियम् । व्यतिक्रमात् हननात् ॥ चेतसः संमीलनं मेध्या-
नादीप्रवेशेन निधत्तत्त्वम् ॥ सार्थकानि अनर्थकानि न पदानि यत्र तदथा
स्यात्तया मन्यराणि गम्भीराणि अनासत्तानि असंपूर्णानि वा अक्षराणि यत्र तदथा

१. अमर्ष इति । परवृत्तावशादिनानाधराभजन्यो ग्रीनवाक्पारुष्यादिकारणीभूतश्चित्त-
वृत्तिविशेषोऽमर्षः ॥

१. ‘न तथा’ इत्यस्य स्थाने ‘सुरेन्द्रमात्राभिनयसंगौरवात्’ इत्युदाहरणं ग-मुञ्जये. २. ‘अभि-
ष्टेय’ न. ३. ‘उपासप्रतिपत्तौ मनाधोपादिकारणः’ इति न. ४. ग-मुञ्जये ॥ ‘एषाया-
राजलक्षितपदमात्रवेधेः श्लेषेण वित्तनिश्चयेषु च न मद्वत् । अतएव पाठप्रवरूपपरिधानेऽप्यन्त्याया
भवन्यु नवि पीकडि चार्तपट्टाः’ इत्युदाहरणम् ५. ‘मनः’ न. ६. ‘विमताम्बममदिशि’ न.
७. ‘चेतामिहवित्तममूर्त्तवत्पुत्रावपः । विमताद्विभिन्नयो निर्दिष्टवदेवाश्चकानं निद्रा चेतसा-
द्यप्यनुभवहेतुः’ इति न. ८. ग-मुञ्जये तु ‘विभीषितादधिरुण्य निद्रा हरीःपि वामेन्द्रि-
ममुद्भवत् । अतएव संयोगे वदाम्यपीक्षितो रणव्यवस्था च मह्यमदीर्य’ इत्युदाहरणम्.

अथावहित्था—

भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरेवहित्था ।

व्यापारान्तरसत्तयन्यथावभाषणविलोकनादिकरी ॥ १५८ ॥

यथा—

‘एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।

लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥’

अथौत्सुक्यम्—

ईष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता ।

चित्ततापत्वरस्वेददीर्घनिःश्वासितादिकृत् ॥ १५९ ॥

यथा—‘यः कौमारहरः स एव हि वरः—’ इत्यादौ (१५ पृ०)

अत्र यत् काव्यप्रकाशकारेण रसस्य प्राधान्यमित्युक्तं तद्रसनधर्मयोगित्वाद्यभिचारिभावस्यापि रसशब्दवाच्यत्वेन गैतार्थं मन्तव्यम् ।

स्यात्तथा । लिखितेवेति धारावाहिकस्मरणस्कोरणाय । हर्षादेराकारस्य सूचकस्य सुखरागदेर्गुप्तिः स्वरणम् । सक्तिरासङ्गः । अन्यथेति । अप्रकान्तस्य भाषणं विलोकनं च । आदिना क्रियामात्रस्य ग्रहः ॥ देवर्षौ नारदे । पितुर्हिमालयस्य ॥ व्यभिचारिभावस्येति । तन्नानुभावादिकृतपरिपोषराहित्येन रते सपूर्णरसत्वं न सम्भवति । वर्णनीयत्वेन चमत्कारित्वेनौत्सुक्यस्यैव प्राधान्यमिति भावः ।

१. अवहित्थेति । ग्रीडादिभिर्निमित्तैर्हर्षाद्यनुभावानां गोपनाय जनितो भावविशेषोऽवहित्था । अवदि.स्तिरिवहित्था, ‘सुप्ति स्व.’ इत्यत्र ‘स्वः’ इति योगविभागात्कः । पृषोदरादिः । तदुक्तम्—‘अनुभावविधानार्थेऽवहित्थं भावं उच्यते । तदिदं भाव्यं भयग्रीडाभाष्येर्षोऽवहित्थगीरवैः ॥’ इति ॥

२. औत्सुक्यमिति । अनुनेवास्व लाभो ममास्तिवतीच्छा औत्सुक्यम् । इष्टविरहादिरत्र विभावः । स्वराचिन्तादयोऽनुभावः । यदाहुः—‘सजातमिष्टविरहादुदीतप्रियसस्मृते । निद्रया तन्द्रया यात्रगौरवेण च चिन्तया ॥ अनुभावितमाख्यातमौत्सुक्यभावकोविदे. ॥’ इति ॥

३. काव्यप्रकाशेति । प्रकृते कौमारविषयको वर आलम्बनम्, वैशद्यपाया उदीपनम्, सुरतन्यापारलीलाविधिः कार्यम्, उत्कण्ठादि सहकारि यथायथ घटमान, विम-

१. ‘औत्सुक्यं वाञ्छितार्थस्य लब्धे कालावहिष्णुता । उपान्येव्येव्यार्थैर्वचित्तापनुभाववद्गृहम् । इष्टार्थस्य प्राप्ते कालप्रतीक्षा, औत्सुक्यम् ।’ इति य २ ‘रसशब्देन’ क ३. ‘गैतार्थत्वं’ क ४ अतोऽमे ‘तथोक्तम्—रसभावो तदनुभावाभावस्य प्रथमोदयो । यधि’ शब्दलता भेति सर्वेऽपि रसनादवाः ४’ इत्यधिकं न पुनरे.

अथोन्मादः—

चित्तसंमोहं उन्मादः कामशोकमयादिभिः ।

अस्थानहासरुदितगीतप्रलपनादिकृत् ॥ १६० ॥

यथा मम—

‘आतद्धिरेफ भवता अमता समन्ता-

त्प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम् ।

(शंभारमनुभूय तानन्दम् ।)

‘मूढे किमोमिति सखे कथयाशु तन्मे

किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति च कीदृशीयम् ॥’

अत एव पाञ्चप्रकाशटीपाकारचण्डीदासेनोक्तम्—‘रतपदं चात्र संभोगव्यभि-
चार्यैरुक्त्यमाह ‘रन्वते आस्तावते’ इति व्युत्पत्त्या । न तु संभोगनामा रतः ।
स्वाधीनपतिवायाः प्रीडास्थानं प्रायुस्सुकताया वर्णनीयत्वात्’ इति । गतार्थं प्रस-
न्नपियम् ॥ चित्तस्य संमोहश्चेतनाचेतनारिविशेषज्ञानजननाशमत्यम् ॥ आतरिति ।
व्यवस्यति वर्तुमीदृते । अत्र वामेन भ्रमरः प्रत्युत्तराक्षम् इति विशेषनिर्धारणाक्ष-

कम्माख्यशृङ्गाररसं पठयति । न चात्र वरादिप्रथमान्तपदाक्षिसाक्षिक्रियाबलेन विप्रलम्भो
न संगच्छत इति प्रमितव्यम्, तस्य वैयधिकरणव्यलक्षणस्य वियोगाद्यन्तःकरणवृत्ति-
विशेषसत्त्वेनापि पठितत्वात् । अधिकरणं चापि देशकालानुरोधेन भिन्नम्, एवं च
नायिकायाः (शीलामट्टारिकायाः) स्वाधीनपतिकात्वेऽपि का हानिः । अथोदाहरणं
तु “आरमानमालोवय च शोभमानमादृशं विन्वे स्तिमितायवाक्षी । हरोपशाने रवित्ता
वमूढ, स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेपः ॥” इति ‘अनुपतिरपि तान्यशानि कृच्छादति-
नपदद्रिस्तुतासमागमोत्कः । कमपरमवशं न विप्रबुद्धं विमुमपि तं यदसी स्पृशन्ति भावाः”
इति वा आचार्यघनिकनिर्दिष्टं कुशारसंभवत्वं द्रष्टव्यम् ॥

१. उन्माद इति । विप्रलम्भमहापत्तिपरमानन्दादिजन्मान्यसिद्धन्यावभास उन्मादः ।
सुक्तिरजतादिज्ञानव्यावृत्तये जन्मान्तम् । उन्मादस्य व्यापावन्तर्भावे संभवत्यपि पृथगुपा-
दानं न्याय्यन्तरापेक्षया वैचित्र्यविशेषस्फोरणाय ॥

२. मूढे इति । ‘किं मूढे’ इति प्रश्ने ‘ओम्’ इत्युत्तरम् । ओमिति स्वीकारार्थ-
व्ययम् ॥

१. ‘अभिधाकारितोन्मादः’ सन्निपात्यहादिकि । तत्र प्रलापचापस्यवृत्तविकारणादयः ॥’ इति ग.
२. ‘मम’ इति नास्ति ग पुनश्चे. ३. ‘हं च मयच्छ मे कान्ता वतिव्याख्यास्त्वया हृत् । विभावितैर्देयेन
देयं यदभिपुन्यते ॥’ इति ग.

अथ शङ्का—

परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः शङ्कानर्थस्य तर्कणम् ।
वैवर्ण्यकम्पवैस्वर्यपार्श्वलोकास्यशोषकृत् ॥ १६१ ॥

यथा मम—

‘प्राणेशेन प्रहितनखरेष्वङ्गकेषु क्षपान्ते
जातातङ्का रचयति चिरं चन्दनालेपनानि ।
घृते लाक्षामसकृदधरे दत्तदन्तावधाते
क्षामाङ्गीयं चकितममितश्चक्षुषी विक्षिपन्ती ॥’

अथ स्मृतिः—

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नयनादिकृत् ।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते ॥ १६२ ॥

यथा मम—

‘मयि सकपटं किञ्चित्कापि प्रणीतविलोचने
किमपि नयनं प्राप्ते तिर्यग्विजृम्भिततारकम् ।
स्मितमुपगतामालीं दृष्ट्वा सलज्जमवाञ्छितं
कुवलयदृशः स्मेरं स्मेरं सरामि तदाननम् ॥’

मत्वम् ॥ तर्कणं संभावना ॥ प्रहितनखरेषु कृतनखाघातेषु । जात आतङ्कः
सह्याद्युपहासरूपा शङ्का यस्याः सा । अत्र सम्भोगविहगोपने एव विश्रान्तिरिति
शङ्काया एव प्राधान्यम् ॥ सदृशेति । चिन्ता भावनाख्यसंस्कारः । आपपदेन
संबन्धिज्ञानादेर्ग्रहणम् । अत्र सदृशज्ञानादेः संस्कारोद्बोधनद्वारा सस्कारस्य ॥ स्मृतिं
प्रति साक्षादेव कारणत्वमिति बोध्यम् ॥ मयीति । सकपटं यथा स्यात्तथा
कापि अजिज्ञासितपदार्थे किञ्चित्प्रणीतलोचने मयि तिर्यकुदितं यथा स्यात्तथा
विजृम्भिता व्यापारिताः प्रकाशिता वा तारका यस्य तादृशं नयनं प्राप्ते सति
स्मितमुपगतां सखीं दृष्ट्वा सलज्जं यथा स्यात्तथा अवाञ्छितमानसितं स्मेरं पुनः

१. शङ्केति । किमनिष्ट मम भविष्यतीत्याकाराधिकृतवृत्तिविशेषः शङ्का । इयं तु
अयाद्युत्पादनेन कम्पादिकारिणी, न तु चिन्ता ॥

१. ‘अनर्धमतिमा शङ्का परस्परौत्सुर्नपात् । विहाय हृतिभूवोदिभ्येक्षणाय लुक्प्रसिद्धी ॥ इति, ग.

२. ‘यथा मम’ इति स-पुलके नास्ति.

अथ मतिः—

नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः ।

सेस्ता धृतिसंतोषौ बहुमानश्च तद्भवाः ॥ १६३ ॥

यथा—

‘असंशयं क्षत्रपरिग्रहसमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।

सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

अथ व्याधिः—

व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छोत्कम्पनादिकृत् ।

तत्र दाहमयत्वे भूमीच्छादयः । शैत्यमयत्वे उत्कम्पनादयः । स्पष्ट-
मुदाहरणम् ।

अथ प्रासः—

निर्घातविद्युदुल्काद्यैस्त्रासः कम्पादिकारकः ॥ १६४ ॥

पुनः स्मितयुक्तं वदनं स्मयगीत्यर्थः ॥ नीतिमार्गो नीतिशालं तस्यानुद्यति-
रवगमः । आदिना अनुमानादेर्ग्रहणम् । निर्धारणं निधयः ॥ अस्मिन्शय-
मिति । शङ्कन्तलामालोक्य दुष्यन्तस्यानुमानमिदम् । क्षत्रपरिग्रहसमा क्षत्रियवि-
वाहोचिता । ‘इयम्’ इति शेषः । अस्यां शङ्कन्तत्ययाम् । समर्थयति—सता-
मिति । प्रमाणं निधययीजम् । अन्तःकरणस्य मनसः प्रवृत्तयः संकल्पादयः ॥
घाताद्यैरिति । आद्यपदेन पित्तकेष्मणोर्ग्रहणम् । भूमीच्छा भूमिपतनेच्छा ।
तत्र व्याधाद्युदाहरणं यथा सम—‘प्रियजनपरिपन्नाद्वेपमानां कृशाश्रून् विवृता-
नवनवणां खेदसंसिक्तग्रीन् । विपुलपुलकलेखामाकलय्य ज्वरातां कुमतिरमि-
तचिन्तासागरे निमग्नज ॥’ निर्घात इति । ‘यदान्तरिक्षे बलवान्माहतो मरुता-

१. मतिरिति । ज्ञासादिविचारजन्यमर्थनिर्धारण मतिरिति परमार्थः । तत्र निःशङ्क-
तदर्थानुष्ठानसंशयोच्छेदादयोऽनुभावाः ॥

२. व्याधिरिति । रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः । मात्रशैथिल्यश्वासादयो-
ऽप्यनुभावाः । वदाहुः—‘एकैकशो द्वन्द्वशो वा त्रयाणां वा प्रकोपशः । वातपित्तकफाना-
म्युष्माद्यो ये ज्वरादयः । इह सत्प्रभवो मावो व्याधिरित्यभिधीयते ॥’ इति ॥

३. प्रास इति । ग्रीवोरसस्त्वदर्शनरङ्गजुग्वणादिजन्मा चित्तवृत्तिविशेषत्वात् ।
अनुभावाश्वास्य रोमाञ्चकम्पस्तम्भप्रमादयः । अयं ययान्निषते । तदुक्तम्—‘पूर्वापर-
विचारोत्थं भय प्रासात्प्रभववेत् ॥’ इति ॥

१. ‘तयात्मनि’ इति कश्चित् पाठः २. ‘असङ्कल्पकलोरादियते’ इति वा ३. ‘गर्जितदेर्मेतःशो-
मदाशो...कम्पनादयः । मेधादिगर्जनाभनद्यो वैषम्यं नास्ति । अशोत्कम्पनास्ति ज्वराद्यनुभावाः’ इति ग.

यथा—

‘परिस्फुरन्मीनविघटितोरवः सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टयः ।

उपाययुः कम्पितपाणिपल्लवाः सखीजनस्यापि विलोकनीयताम् ॥’

अथ व्रीडा—

धैर्याभावो व्रीडा वदनानमनादिकृदुराचारात् ।

यथा—‘मयि सकपटं—’इत्यादि (१५७ पृ.) ।

अथ हर्षः—

हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनःप्रसादोऽश्रुगद्गदादिकरः ॥ १६५ ॥

इतः । पतत्यधः स निर्घातो जायते वायुसमवः ॥’ इत्युक्तलक्षणे निर्घातः । ‘बृह-
च्छिखा च सूक्ष्माया रक्तीलशिखोज्ज्वला । पौरुषी च प्रमाणेन उल्का नानाविधा
स्मृता ॥’ इत्युक्तलक्षणा चोल्का । आद्यपदेन भूकम्पादेर्ग्रहणम् । अत्र ‘मनःक्षोभः’
इति पूरणीयम् ॥ परिस्फुरादिति । जलविहारवर्णनमिदम् । अपिना नायकस्य

१. परीति । परितः स्फुरन्निर्वर्तमानैर्मानैर्विघटिता ऊरवो यासा ताः अत एव
प्रासविलोलदृष्टयः कम्पितपाणिपल्लवाश्च सुराङ्गनाः सखीजनस्यापि विलोकनीयतामुपाययुः ।
किमुक्त प्रियजनस्येति भावः ॥

२. व्रीडेति । स्त्रीणां पुरुषमुखावलोकनादेः पुंसां च प्रतिज्ञाप्रवृत्त्यादेरुत्पन्नो
वैयर्थ्यापोमुखत्वादिकारणीभूतश्चिच्छिन्नाविशेषो व्रीडा । केचित्तु—‘चेतोनिमीलन व्रीडा
व्यङ्गरागस्तवादिभिः ।’ इत्याहुः । व्यङ्गं वैकृतम् ॥

३. हर्ष इति । इष्टप्राप्त्यादिजन्मा सुखविशेषो हर्षः । तदुक्तं—‘देवमर्तुगुरुस्वामि-
प्रसादः प्रियसगमः । मनोरथादिरप्राप्यमनोहरपतागमः ॥ तथोत्पत्तिश्च पुत्रादेर्विभावो
यत्र जायते । नेत्रवक्त्रप्रसादश्च प्रियोक्तिः पुलकोद्गमः ॥ अश्रुस्तेदादयश्चानुभावा हर्ष
तमादिशेत् ॥’ इति ॥

१. ग-पुल्लवे तु ‘समुद्रिष्यन्मः पृथिवीमूर्ता वरम्—’ इति आद्यपद्यमुदाहृतम् । २. ‘पुराचारादिभिर्ग्रीडा
धाष्टर्भाभावज्ञानुत्पत्तेः । मौदितान्ताश्रुस्त्रीणावलेखनीलनादिभिः । सुराचारादिभिः प्रागल्भ्यप्रतिरोधो
लज्जा । मौनादिभिरनुगमैश्चानुत्पत्तेः ।’ इति ग. ३. ग-पुल्लवे तु ‘पटलपत्रे पत्नौ नमपितुः(१)मुचं जात-
विनया हृदातेषं शब्दस्त्वहंरति आगच्छि निभृतम् । न शक्नोत्यज्ञानानु सितमुत्तमपीदृशतनयना द्रिष्या
ताम्बलन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः ॥’ इत्युदाहरणम् । ४. ‘अलवादिभूतमेतत्प्रसादो हर्ष उच्यते ।
धीतापुगदद्वेदरोमाश्चैविरूप्यते ॥’ इति ग.

यथा—

‘समीक्ष्य पुत्रस्य चिरात्पिता मुखं निधानकुम्भस्य यथैव दुर्गतः ।
मुदा शरीरे प्रवभूव नात्मनः पयोधिरिन्दूदयमूर्च्छितो यथा ॥’

अथासूया—

असूयान्यगुणर्द्धानामौद्धत्यादसहिष्णुता ।

दोषोद्धोषभ्रूविभेदावज्ञाक्रोधेङ्गितादिकृत् ॥ १६६ ॥

यथा—

‘अथै तत्र पाण्डुतनयेन सदसि विहितं मधुद्विपः ।

मानमसहत न चेदिपतिः परवृद्धिमत्सरि मनो हि मानिनाम् ॥’

अथ विषादः—

उपायाभावजन्मा तु विषादः सत्त्वसंक्षयः ।

विलोकनीयतां रमणीयताम् ॥ घाष्ट्याभावः । प्रागल्भ्यराहित्यम् ॥ निधानकु-
म्भस्य निधिपूर्णकलशस्य । पिता दिदीपः शरीरे शरीरचेष्टायाम् । प्रवभूव समर्थो
वभूव । इन्दूदयेन मूर्च्छितः प्रवृद्धः । अतिवृद्धस्य समुद्रस्य स्तम्भितत्वं भवतीत्यभि-
प्रायेणैयमुपमा । अथवा यथा पयोधिरिन्दूदयेन तरलो भवति तथा पुत्रोत्पत्त्या
हर्षतरलो बभूवेत्युपमा ॥ क्रोधेङ्गितं मुखरागादि ॥ मानं पूजाम् । चेदिपतिः

१. समीक्ष्येति । ‘निवातपक्षस्त्रिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पित्तः सुताननम् ।
महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनाद्बुधः प्रहर्षः प्रवभूव नात्मनि ॥’ इति रघुवशब्देक पदार्थं
पाठांतरमभिज्ञा रूपान्तर नीतः क्षेपकत्वेनोपलम्बमानश्च ॥ तत्र ‘स समीक्ष्य पुत्रस्य’ इति
पाठो दृश्यते ॥

२. असूयेति । परोत्कर्षदर्शनादिजन्यः परमिन्दादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽसूया ।
इमामेवासहनादिशब्दैर्न्यवहरन्ति ॥

३. अथेति । अथ कृष्णपूजानन्तरं चेदिपतिः शिशुपालः तत्र सदसि सभायां पाण्डु-
स्तनेन शुचिष्ठिरेण विहितं मधुद्विपः कृष्णस्य मानं पूजा नासहत । ईर्ष्यामकरोदितर्षः ।
तमाहि मानिनामहंकारिणां मनः परवृद्धौ मत्सरि हि । परशुमद्रेषि खल्वितर्षः ॥

४. विषाद इति । इष्टासिद्धिराजशुभादपराधजन्योऽनुतापो विषादः । तत्र सस्कृतमु-
दाहरणम्—‘न्यर्थं यत्र हरीन्द्रसख्यमपि मे, वीर्यं हरीणा वृषा, प्रज्ञा जाम्बवतो न
यत्र, न गतिः पुत्रस्य वायोरपि । मार्गं यत्र न विश्वकर्मतनयः कर्तुं नलोऽपि क्षमः,
सौमित्रेरपि पद्मिणामविषयस्तत्र प्रिया कास्ति मे ॥’ इति ॥

१. ग-पुच्छे ॥ ‘युगान्तपाल’ इति माघपद्यमुदाहरणम् २. ‘परोत्कर्षाद्यमासूया गर्वदीर्घन्यमनुभा ॥’
इति ग. ३. ग-पुच्छे तु ‘मा गर्वमुद्ध’ इत्यादाहरणम् ४. च-पुच्छे तु विशाखल्यणाम्नाम् एतितर्षं
तमुदाहरणं च विषादश्चक्षणादभेदः, जिह्वादाहरणं चासूयादाहरणार्थे.

निःश्वासोच्छ्वासहृत्पापसहायान्वेषणादिकृत् ॥ १६७ ॥

यथा मम—

‘एसा कुडिलघणेन चिउरकडप्पेण तुह णिवद्धा वेणी ।

मह सहि दारइ डंसइ आअसजइव्व कालउरइव्व हिअअं ॥’

अथ धृतिः—

ज्ञानामीष्टागमाद्यैस्तु संपूर्णस्पृहता धृतिः ।

सौहित्यवचनोल्लाससहासप्रतिभादिकृत् ॥ १६८ ॥

यथा मम—

‘कृत्वा दीननिपीडनां निजजने बद्धा वचोविग्रहं

नैवालोच्य गरीयसीरपि चिरादामुष्मिकीर्यातनाः ।

द्रव्यौघाः परिसंचिताः खलु मया यस्याः कृते सांप्रतं

नीवाराजलिनापि केवलमहो सेयं कृतार्था तनुः ॥’

अथ चपलता—

मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः ।

शिष्टपालः । सत्त्वसंक्षयो बलहानि ॥ एसा इति । ‘एसा कुडिलघणेन चिकुर-
कलापेन तव निबद्धा वेणी । मम सखि ! दारयति दशलायसयटिरिव कालोर्गीव
हृदयम् ॥’ इति संस्कृतम् । स्पृहायाः समाप्तिरेव संपूर्णत्वम् ॥ यद्धा कृत्वा । आ-

१. धृतिरिति । लोभशोकभयादिजनितोपप्लवनिवारणकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो धृतिः ॥

२. कृत्वेति । निजपूर्वावस्था निन्दितः कलत्रविश्रान्तवतः कथनमेतत् । दीनानां
दुर्गतिना निपीडनामुत्कोचादिना निष्पीडनं कृत्वा, निजजने बान्धवादिवर्गे वचोविग्रह
बाधलहं बद्धा, चिरात् चिरकालिनीः गरीयसीरपि तुषीः आमुष्मिकीः पारलौकिकीरपि
यावता मानाविधनरक्षभोगान् नैवालोच्य, अपर्वालोच्यैवेत्यर्थः । यस्याः कृते निमित्तम्,
उपमोगार्थमित्यर्थः । मया द्रव्यौघा विस्तारायः परिसंचिताः इतस्ततः परिभ्रम्य
शकत्रीकृताः खलु, सेयं मामकीना तनुः सांप्रतं तत्त्वज्ञानदशायां केवलं नीवाराजलिना
अजलिपरिमिततृणधान्येनापि कृतार्था कृतकृत्या । अहो आश्चर्यम् ॥

३. चापल्यमिति । अमर्षादिजन्यभावपारुष्यादिकारणीभूता चित्तवृत्तिश्चापल्यम् ।
यदाहुः—‘अमर्षप्रातिकृत्येर्ष्यारागद्वेषाश्च यत्सरः । इति यत्र विधावाः खलुमावस्तु
भर्त्सनम् ॥’ भावपारुष्यं प्रहारश्च ताडनं वधवन्धने । तच्चापल्यमनात्वेभ्यः कार्यकारित्व-
मिष्यते ॥ इति ॥

१. ग-पुच्छे तु ‘कार कार तिष्ठति’-इत्युदाहरणम्. २. ‘संज्ञोच्चापानवयवत्वादेर्धृतिरप्यपभोगकृत्’
इत्यर्थमेव ग-पुच्छे.

तत्र भर्त्सनपारुण्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥ १६९ ॥

यथा—

‘अन्यासु तावदुपगर्दसहासु मृङ्ग
लोले विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमौलिकायाः ॥’

अथ ग्लानिः—

रैत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिसंभवा ।
ग्लानिर्निष्प्राणताकम्पकौशल्यानुत्साहतादिकृत् ॥ १७० ॥

यथा—

‘किसेलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनं
हृदयकुसुमशोपी दारुणो दीर्घशोकः ।
ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्याः शरीरं
शरदिज इव धर्मः केतकीर्षपत्रम् ॥’

अथ चिन्ता—

ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासत्वापकृत् ।

मुष्मिणीः परलोकमवाः । नीवारस्तुणधान्यम्, श्रुते निमित्तम् । सांप्रतं वार्धके । अत्र
तरवहानेन निःस्पृहत्वम् ॥ अन्यास्यति । मधुपानकलीनधारणप्रहारादिरुपगर्दः ।
पक्षे संभोगकालीनधुम्वनान्निहनादिः । लोले वत्पुष्पम् । मुग्धां बोमलां गुरतमूढां
च । रजः परागः आर्तवं च । अनाले मकरन्दाभावदत्तायां बाल्ये च । अत्रोप-
सोपति बाल्यया अस्यैव परपवचनेन प्रतीयते ॥ निष्प्राणता अतानर्प्यम् ॥
बन्धनात् उत्पत्तिस्थानात् । निष्प्राणत्वानीजस्यसर्वसंशयाणां बलहानिरूपत्येऽपि

१. नयेति । सप्तलायाः ‘सप्तला नवमालिका’ इत्यमरः । ‘नवमालिकायाः’ इति
पाठे तु मुग्धेसादिनैव नवत्वलाभे पुनर्गमिकायां नवत्वविशेषणं व्यथेत् । नवा स्तुला
माला अस्याः, कष्टः इति भातुजिदीक्षिताः ॥

२. चिन्तेति । इष्टाप्ताप्तमिष्टप्राप्त्यादिजनिता ध्यानापरवर्थाया वैदर्भ्यभूतेऽनाथो-
मुत्तवादिहेतुविषयवृत्तिविशेषचिन्ता । यदाहुः—‘विधाया नव दारिम्यैवर्दभ्रंशनं तथा ।

१. ‘वैदर्भ्यविशेषितस्यमुक्तेरवप्रत्यये ।’ इति ग. २. ‘नवमालिकायाः’ इति ड. ३. ‘रसप्राप्त-
सुगुह्यमिष्टमिष्टप्राप्त्या अनाथ । अनुप्राप्त्युत्तरेत्यनेनार्थेऽपि ता ॥’ ग. ४. ‘दार्भ्यं’ घ.
५. ‘दुर्जनवचनप्राप्त्या अपवर्धेनुरिभ्या एव नव इति’ नवीनोत्तरकृतम् । विभक्तिविशेषना-
मपिनः हेतुना नवत्वविशेषीत्येवोक्तं बाल्यमूढादिवत् ॥ इति ग.

यथा मम—

‘कमलेण विअसिण्ण संजोएन्ती विरोहिणं ससिबिम्बं ।

करअलपल्लवमुही किं चिन्तसि सुमुहि अन्तराहिअहिअआ ॥’

(अथ तर्कः)

तर्को विचारः संदेहाद्भूशिरोहुलिनर्तकः ॥ १७१ ॥

यथा—‘किं रुद्धः प्रियया—’ इत्यादि (१२४ पृ.) ।

एते^१ च त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिभेदा इति यदुक्तं तदुपलक्षण-
मित्याह—

रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः ।

तथाहि—शृङ्गारेऽनुच्छिद्यमानतयावस्थानाद् रतिरेव स्यायिशब्द-

विभिन्नकारणत्वेन ग्लानिर्देन्यविपादाना भेदः । कमलेनेति । ‘कमलेन विकसि-
तेन संजोयन्ती विरोधिणं शशिबिम्बम् । करतलपर्यस्तमुखी किं चिन्तयसि सुमुखि
अन्तराहितहृदया ॥’ इति संस्कृतम् ॥ अनियते स्वावस्थितनियमरहिते । अनुच्छि-
द्यमानतया अवश्यंस्थावित्वेन । उत्पद्यमानः विशेषानुकूल्येन शृङ्गाररूपतया

इष्टार्थप्राप्तिः शयच्छासोच्छासावधोमुखम् ॥ संतापः स्मरणं चैव कार्यं वैशानुपस्कृतिः
अधृतिश्चानुभावाः स्युः सा चिन्ता परकीरिता । वितर्कोऽस्याः क्षणे पूर्वं पाश्चात्ते वीप-
ज्यायते ॥’ इति ॥

१. तर्क इति । संदेहाद्यनन्तर जायमान ऊहो वितर्कः ॥

२. एते चेति । ननु कथमेवा भावानां सख्यानिवमः, मात्सर्योद्दिगदम्भेभ्योविवेक-
निर्णयद्वैभ्यक्षुमाकुतुकोत्कण्ठाविनयसंशयसाध्यादीनामपि तत्र तत्र लक्ष्येषु दर्शनात् इति
चेत्, न उक्तेष्वेवैषामन्तर्भावेण सख्यान्तरानुपपत्तेः । असुखात् मात्सर्यस्य, त्रासाद्-
द्वेगस्य, अवदिधातो दम्भस्य, अमर्षादीभ्यांयाः, मतेविवेकनिर्णययोः, देन्यात्वेभ्यस्य,
धृतेः क्षमायाः, औत्सुक्यात्कुतुकोत्कण्ठयोः, लज्जातो विनयस्य, तर्कात्संशयस्य, चापलाद्
धाट्यस्य च वक्षुतः सङ्गमे भेदेऽपि नान्तरीयकतया तदनतिरिक्तसौख्यवसायात् ।
मुनिवचनानुपालनस्य संगमे उच्छृङ्खलताया अनौचितात् । एषु संचारिभावेषु मध्ये
केचन केषांचन विभावा अनुभावाश्च भवन्ति । तथाहि—ईर्ष्याया निवेदं प्रति विभा-
वत्वम्, अस्यां प्रति चानुभावत्वम् । विन्ताया निद्रां प्रति विभावत्वम्, औत्सुक्य प्रति
चानुभावत्वम् । एवमग्रेऽप्युक्तम् ॥

१. ‘मम’ इति नास्ति ग-पुच्छके. २. ग-पुच्छके तु ‘केदोऽप्युक्तामपि तन्ममवसादवन्ती विश्वं निराकरण-
मेव तिरोदधाना । निद्रा विनापि नश्ये विनिमीलवन्ती विन्ता पदं वृत्तवती हृदये ततोऽस्याः ॥’ इत्युदा-
हरणम्. ३. ‘एते च—’ इत्यादि—‘आवितलुङिणिः ॥’ इत्यस्यो ग्रन्थो ग-पुच्छके च दृश्यते.

वाच्या । हांसः पुनरुत्पद्यमानो व्यभिचार्येव । व्यभिचारिलक्षणयो-
गात् । तदुक्तम्—

‘रसावस्यः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते ।’ इति ।

तत्कस्य स्थायिनः कस्मिन्नसे संचारित्वमित्याह—

शृङ्गारवीरयोर्हासो वीरे क्रोधस्तथा मतः ॥ १७२ ॥

शान्ते जुगुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः ।

इत्याद्यन्यत्समुन्नेयं तथा भावितबुद्धिभिः ॥ १७३ ॥

अथ स्थायिभावः—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधानुमक्षमाः ।

— आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः ॥ १७४ ॥

यदुक्तम्—

‘सकसूत्रवृत्त्या भावानामन्येषामनुगामकः ।

न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुष्यते परम् ॥’ इति ।

रतौ सगच्छमानः ॥ परमिति । अवश्यमित्यर्थः ॥ अक्षमा इति । ‘भावाः’
इति शेषः । कन्दो मूलम् ॥ सकसूत्रवृत्त्या सकसूत्रन्यायेन । अनुगामकः व्याप्य-

१. स्थायीति । अन्तःकरणवृत्तिस्वरूपस्य रत्यादेराद्युपनिमित्तत्वेऽपि संस्कारात्मना
चिरकालमवसायित्वापावदसंप्रतीतीकालमनुसंधानाच्च स्थायित्वम् । तदुक्तम्—‘विरुद्धै-
रविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः । आत्मभावं नयत्यन्यन्तं स्थायी लक्षणाकारः ॥
धिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते सवध्यन्तेऽनुबन्धिभिः । रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रतिष्ठाः स्थायि-
नोऽत्र ते ॥’ चिरमिति व्यभिचारिवारणाच्च । अनुबन्धिभिर्विभावारिभिः । तथा—
‘सजातीयविजातीयैरतिरक्तवर्तिमान् । यावद्रसं वर्तमानः स्थायिभाव उदाहृतः ॥’ इति ॥
नाट्यशास्त्रेऽप्युक्तम्—‘यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः । एवं हि सर्व-
भावानां भावः स्थायी महानिह ॥’ इति । तत्राप्यं निष्कर्षः—‘यथा समानलक्षणः
समानाङ्गप्रत्यङ्गाः कुरुनिपाकर्म्मक्षिरुपविचक्षणत्वादाजत्वमाप्तवन्ति तथैव चान्येऽप्युत्प-
क्षेपाभेवानुचरन् भवन्ति, तथा विभावानुभावम्यभिचारिणः स्थायिभावानुपाधिता
भवन्ति । तत्र नष्टावयत्वात्सामिभूताः स्थायिनो भावाः । तस्यानीवपुरुषगुणभूता अन्ये
भावास्तान्युपलपाद्यन्ते परिजनभूता व्यभिचारिणो भावाः । यथा राजा बहुजन-
रिषातोऽपि स पय नाम लभते नान्यः शुभदानपि पुरश्चरतया विभावानुभावम्यभिचारि-
रिष्कृतः स्थायिभावो रसतां लभते’ इति ॥

तद्भेदानाह—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।

जुगुप्सा विषयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ॥ १७५ ॥

तत्र

रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम् ।

यागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते ॥ १७६ ॥

इष्टनाशादिभिश्चेतोवैकृत्यं शोकशब्दभाक् ।

प्रतिकूलेषु तैर्दृश्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते ॥ १७७ ॥

कार्यारम्भेषु संरम्भः स्येयानुत्साह उच्यते ।

रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैकृत्यदं भयम् ॥ १७८ ॥

त्वेन संबन्धी । तैर्भावैः पुष्यते रसरूपतां नीत्वा प्रवृद्धः क्रियते ॥ तद्भेदान् स्थायिभावान् । अष्टौ भावाः स्थायिभावाः शमोऽपि च । स्थायिभाव इत्यर्थः ॥ रतिरिति । मनसोऽनुकूले प्रिये वस्तुनि प्रवणायितम् । प्रेमाद्रं मनो रतिरित्यर्थः । तच्चोक्तदावेश एव पर्यवस्यति । स चानुराग एव सोऽपि प्रकृते सुरतेच्छारूप एव । केचित्तु—“स चानुराग एव सोऽपीष्टसाधनसाज्ञानधारारूपः, अभिलाषहेतुत्वेनोक्तत्वात्” इत्याहुः । तत्र । सुरतेच्छाया आलम्बनप्रत्यभिचार्यं प्रति हेतुत्वसंभवेन लक्षणाया अयोगात् । चेतोविकास उपहसनीत्वेन ज्ञानमुखविकासरूपहासहेतुः । चेतोवैकृत्यं दुःखम् । तैर्दृश्यस्य अपचिकीर्षाया अवबोध उत्कटत्वम् । कार्यारम्भेषु संनिष्ठकार्येषु संरम्भ उत्कट आवेशः । केचित्तु—“संरम्भः सहर्षप्रवृत्तिः” इत्याहुः । तत्र । आवेशप्रवृत्तिरूपस्यारम्भस्य प्रवृत्त्यसंभवात्, वीररसे उत्कटावेशस्यैव स्थायित्वेनास्वाद्यमानत्वान्न । रौद्रशक्त्येति । शास्त्रवादेरनिष्टदर्श-

१. रतिरिति । रत्नादीना विशदतर लक्षणमिहितं रसगङ्गाधरे—‘स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमात्म्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः । गुरुदेवतापुत्रापालम्बनस्तु व्यभिचारी । वागङ्गादिविकारदर्शनजन्मा विकासारूपो हासः । पुत्रादिवियोगमरणादिजन्मा वैकृत्यात्म्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः । गुरुवन्धुवधादिपरमापराधजन्मा प्रबलनास्त्यः क्रोधः । अयं च परविनाशादिहेतुः । भुद्रापराधजन्मा तु परवचनानासंभाषणादिहेतुः । अयमेवामर्षारूपो व्यभिचारीति विवेकः । परपराक्रमदानादिरमृतिजन्मा औग्रत्यात्म्य उत्साहः । स्वात्रदर्शनादिजन्मा परमानर्षविषयको वैकृत्यात्म्यः स भयम् । परमानर्षविषयकत्वामात्रे तु स एव त्रासो व्यभिचारी । अपरे तु—औत्पातिकप्रभवत्वात्, स्वापराधोत्थ भवमिति भेदमाहुः । कदर्यवस्तुविलोकनजन्मा विचित्रित्वात्म्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा । अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा आश्चर्यात्म्यो विस्मयः ॥

१. ‘वैकृत्या’ घ. २. ‘प्रातिगृह्यमाणमिहितविशेषः क्रोध उच्यते ।’ इति ग. १. ‘अवधनात्मिका कर्तुं त्साहोऽप्यवसायिता । अतिदृष्टं भीतिरतिदृष्टं दर्शनादिभिः ।’ इति घ.

• दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विसयोद्भवा ।

विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ॥ १७९ ॥

विस्फारथेतसो यस्तु स विसय उदाहृतः ।

शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ॥ १८० ॥

नसामध्येन जनितं यथेतसो वैकृत्यमस्थिरत्वं जनयति तस्मान्निष्ठतर्कणम् । भयमित्यर्थः । केचित्तु—“वैकृत्यं मनसो भयम्” इति पठित्वा रौद्रः क्रुद्धः तस्य क्रोधरूपया शक्त्या वैकृत्यमिदं भाविदुःखे द्वेयः । तस्य च परक्रोधजन्यत्वम्, तज्जन्यमुत्पत्तिविशयत्वात् । न तु तज्जन्यं दुःखमेव वैकृत्यम्, तदनुत्पत्तिदशायामपि भीत्युपलम्भात् । एवं च मनःशोभरूपाप्राप्ताख्यमभिचारिमावादस्य भेदः” इति व्याकुर्वन्ति । तत्र । व्याघ्रादीनां क्रोधानामेऽपि तेभ्यो भयोत्पत्तिसंभवात् । मनःशोभरूपप्राप्ताख्यमभिचारिमावस्य भयंकरप्राप्ताख्यानितजननरामर्थ्यजन्यत्वेनैव भेदसंभवात् । लोकसीमातिवर्तिषु लोकव्यवहारातिक्रान्तेषु । विस्फारो विस्तारः । स च दृष्टेः तुभ्योऽसंभवित्वज्ञानेन हेत्वनुसंधानेन मनोभ्यापाररूपः । निरीहावस्थायां निःस्पृ-

१. शम इति । शमो निरीहावस्थायामित्यादेरवमाशयः—शान्तो नाम नवमो रसोऽनुभवसिद्धतया दुरपलभः । नास्य साधी निर्वेदो भवितुमर्हति । विषयेष्वलं प्रत्यक्षरूपत्वात्, आत्मावहेहनरूपत्वाद्वा । शान्तेश्च निखिलविषयपरिहारजनितारममाश्रयविश्रामानन्दप्रादुर्भावमयत्वानुभवात् । तदुक्तम्—“यच्च काममुत्तं लोके यच्च शिष्यं महत्सुखम् । तृष्णाक्षयमुत्तमेतं नार्हतः षोडशी कलाम् ॥” इति । अत एव ‘सर्ववृत्तिविरामोऽस्य साधी’ इति परास्तम् । अभावस्य स्थायित्वायोगात् । तस्मान्छमोऽस्य साधी । निर्वेदादयस्तु न्यभिचारिणः । स च शम उत्तलक्षणः । यत्नेन ‘निर्वेदस्याविभाषोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।’ इति वदन्तः काव्यप्रकाशकाराः प्रत्युक्ता इति । तत्र पेशकम् । विषयेष्वलंप्रत्ययरूपस्य आत्मावहेहनरूपस्य वा निर्वेदस्य शोकवत्समाभेयत्वात् । वस्तुतस्तु रत्यादिकमुपजीम्य हर्षादेरिव तत्त्वज्ञानोत्पन्नं निर्वेदमुपजीम्य शमादेः प्रवृत्तिर्जायते । स एव साधी नतु शमः । न ‘क्वचिच्छमः’ इत्याधिकारिकवचनविरोध इति वाच्यम् । शम्यते यस्मादिति व्युत्पत्त्या तस्य निर्वेदपरत्वात् । तृष्णायाः क्षयो यस्मादिति व्युत्पत्त्या तृष्णाक्षयोऽपि निर्वेद एव । अत एव ‘एकोनपञ्चाशद्भावाः’ (ना. शा. ७ अ.) इति मुनिवचनं संगच्छते । अष्टौ सायिनः, अष्टौ सात्विकाः, त्रयस्त्रिंशद्ब्रह्मभिचारिण इति संकलनेन एकोनपञ्चाशत्त्वम् । शमस्यापि यावत्त्वेन स्वीकारे तु पञ्चाशत्त्वापत्तिः । अन्यत्रापि निर्वेदस्य शान्ते स्थायित्वमाप्नातम् । तदुक्तम्—“रतिः शोकश्च निर्वेदकोभोत्सादाश्च विसयः । हासो भयं जुगुप्सा च स्वाभिभाषाः क्रमादमी ॥” इति प्रवक्ष्योन्मीलितमतयो रसगङ्गाधरकारादयश्च । ध्वन्यालोकलोचने गाचार्याभिनवगुप्तपादा अपि ‘एकाग्रमत्ये निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान्’ इत्यादिध्वनिकारिकानृत्तिव्याख्यानानुसारे ‘नतु

येषा मालतीमाधवे रतिः । लटकमेल्के हासः । राम्रयणे शोकः । महामारते शमः । एवमन्यत्रापि । एते क्षेत्रान्तरा उत्पद्यमानैस्तैर्विरुद्धैरविरुद्धैश्च भावैरनुच्छिन्नाः प्रत्युत परिपुष्टा एव सह-दयानुभवसिद्धाः ।

किं च ।

नानाभिनयसंबन्धान्भावयन्ति रसान्यतः ।

हृदयायां स्वस्य जीवस्य आत्मनि परमात्मरूपे विधामोऽवस्थानम् । तन्नन्यमि-
त्यर्थः । 'शान्तरसस्य निर्वेदः स्थायी' इति कान्यप्रकाशकृत् । तत्र । निर्वेदस्य व्यभि-
चारिरूपत्वेन स्थायित्वायोगात् । 'अविरुद्धाः' इति कारिकां विवृणोति—एते
हीति । रसादयो हीत्यर्थः । एषु रसेषु । भावानां विशेषलक्षणान्युक्त्वा सामा-
न्यलक्षणमाह—किं चेति । येष्वेष्टादिभिर्नायकसदृशीकरणमभिनयः तत्संबन्धान्
तत्त्वज्ञान् । अभिनयेति काव्यमात्रपरम् । सात्त्विका इति अनुभावमात्रोप-

भारत्येव ज्ञान्तो रसः, तस्य तु स्वाप्येव नोपदिष्टो मुनिना—' इति पूर्वपक्षीकृत्य
विचारं कुर्वाणाः पर्यवसाने —आधिकारिकत्वेन तु ज्ञान्तो रसो निबद्धस्य इति
चन्द्रिका (ध्वन्यालोकव्याख्या) कारः । तच्चेष्टासाभिर्न पर्यालोचितम्, प्रसङ्गान्त-
रात् । मोक्षफलत्वेन चार्थं परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः । स, चायम-
स्मदुपाध्यायमदृतीतेन काव्यकौतुके, अस्माभिश्च तदिवरणे बहुतरङ्गतनिर्णयः पूर्वपक्ष
सिद्धान्त इत्यलं बहुना" इत्युपसमहारः । अन्येस्त्वेवं स्पष्टमेवोक्तम्—'द्वैतप्रबोधोदासी-
न्यमतिमुख्यैः सुपोषितः । विभावयैस्तु निर्वेदस्वायी ज्ञान्तो रसः स्मृतः ॥' इति ।
अत्र द्वैतमालम्बनम्, प्रबोधो जलसाक्षात्कारवरीपनम्, औदासीन्यमनुभावः, मतिभ्य-
भिचारीत्यादि द्रष्टव्यम् । एवं रसतरङ्गिण्यादावपि निरूपितम् । अत्र चैषा व्यव-
स्थितिः—सर्वज्ञानजन्यो निर्वेदः स्थायी, आपदीर्घ्यादिजन्यो व्यभिचारीति । उक्तं
व्याभियुक्तैः—'स्थायी स्वाद् विषयेभ्येव तत्त्वज्ञानाद्भवेद्यदि । इष्टानिष्टविभोगातिवृत्तस्तु
व्यभिचार्यसौ ॥' इति । अत्रेदं स्पष्टतरमुदाहरणम्—'कदाप्यहहृदयस्य भूस्त्रिभुवनव-
स्तुनः । अखण्डानन्दसिन्धोर्मे करणीयं किमीदितम् ॥' इति । एतेन जीवात्मपरमात्मनोर-
भेदज्ञानस्य द्वैध्यादिवर्णनं कुशलाशावलम्बनायितं जलमीमांसाशास्त्रविरुद्धमिति स्पष्टम् ॥

१. लटकेति । लटकानां दुर्जनानां मेल्को यसिन् महसने इति लटकमेल्कम् ।
रघुवंशादिबद्ध व्यधिकरणो बहुमीदिः । न च लटकान् मेल्कयतीत्येव कुतो न व्युत्पादनीयं
सह्यैकशरणा नैयाकरणा इति पर्यञ्चादिज्ञापनात् । श्रीहर्षेणाप्युपाश्लेभि 'मङ्गं प्रमुखा-
करणस्य दर्पं पदप्रयोगावन्ति लोक एषः । ज्ञानो यदस्मास्ति ज्ञात्री ततोऽयमेवं मृगोऽ-
स्मास्ति मृगीति, नोक्तः ॥' (नै. २२ स. ८४ को.)

तसाद्भावा अमी प्रोक्ताः स्थायिसंचारिसात्त्विकाः ॥१८१॥

येदुक्तम्—

‘सुखदुःखादिभिर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्’

अथ रसस्य भेदानाह—

शृङ्गारहास्यकृष्णरौद्रवीरभयानकाः ।

धीमत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः ॥ १८२ ॥

लक्षणम् । बहुवचनाद्विभावपरिग्रहः । सुखदुःखादिभिरिति । सुखं शमः । दुःखं शोकः । आदिना रसादिपरिग्रहः । सुखादिभिः स्थायिभावैस्तद्भावनं रसत्व-
प्रापणं यस्मात्स भाव इत्यर्थः । अष्टाविति नाव्याभिप्रायेण । शान्तस्य नाट्ये ताद-

१. रसा इति । शृङ्गारादयः शान्तान्ता नव रसा इत्यर्थः । यत्तु केचित्—‘शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भावः । अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते ॥’ इति व्यवस्थापयन्ति, तच्चापरे न क्षमन्ते । तथाहि—नटे शमाभावादिति हेतुरसगतः । तत्र रसाभिव्यक्तेरस्वीकारात् । सामाजिकानां शमवत्त्वेन तत्र रसोद्बोधे बाधकाभावात् । न च नटस्य शमाभावात्तदभिनयप्रकाशकत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम् । तस्य भयक्रोधादेरप्य-
भावेन तदभिनयप्रकाशकतायाः अभ्यसगतापत्तेः । यदि च नटस्य क्रोधादेरप्यभावेन वास्तवतत्कार्याणां वषवन्धादीनामुत्पत्त्यसम्भवेऽपि कृत्रिमतत्कार्याणां शिक्षाभ्यासादिन उत्पत्तौ नास्ति बाधकमिति निरीक्ष्यते तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम् । अथ नाट्ये गीतवाद्यादीनां विरोधिना सत्त्वात् सामाजिकेष्वपि विषयवैमुरयात्मनः शान्तस्य कथमुद्रेक इति चेत्, नाट्ये शान्तरसमभ्युपगच्छन्निः कृत्वलात्तद्गीतवाद्यादेस्तस्मिन्विरोधितायाः अवस्थापनात् । विषयन्निष्ठासामान्यस्य तत्र विरोधित्वस्वीकारे तदीयालम्बनस्य संसारनित्यत्वस्य तदु-
दीपनस्य पुराणप्रवणतत्सद्गुण्यवनतीर्णालोकनादेरपि विषयत्वेन विरोधित्वापत्तेः । अत एव चरमाध्याये संगीतरत्नाकरे—‘अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिद्वचूदन् । तदच्चार यत् । केचित्त्र रस स्वदते नटः ॥’ इत्यादिना नाट्येऽपि शान्तो रसोऽस्तीति व्यवस्थापितम् । यैरपि नाट्ये शान्तो रसो नास्तीत्यभ्युपगम्यते तैरपि बाधकाभावात्तद्भा-
वारत्तादिप्रवन्धानां शान्तरसप्रधानतायाः अखिललोकानुभवसिद्धत्वाच्च कान्ये सोऽवश्य स्वीकार्यः । अत एव ‘अष्टौ नाट्ये रसा रम्याः’ इत्युपक्रम्य ‘शान्तोऽपि नवमो रसः’ इति राजानकमम्मटाचार्या अप्सुपसमहासुः । यत्नेन प्रकृतग्रन्थमन्यथा योजयतां विवृति-
कृतानुक्तिर्न पेश्यते द्रष्टव्यमिति नयनेः सुधीभिर्विचारणीयम् ॥

तत्र शृङ्गारः

शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।

उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते ॥ १८३ ॥

परोढां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम् ।

आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ॥ १८४ ॥

चन्द्रचन्दनरोलम्बरुताद्युद्दीपनं मतम् ।

अविक्षेपकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः ॥ १८५ ॥

त्यक्तवौश्यमरणालस्यजुगुप्सान्यभिचारिणः ।

स्यायिभावो रतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः ॥

यथा—‘शून्यं वासगृहम्—’ इत्यादि (२३ पृ.) । अत्रोक्तस्वरूपः पतिः, उक्तस्वरूपा च बाला आलम्बनविभावौ । शून्यं वासगृहमुद्दीपनविभावः । जुम्बनमनुभावः । लज्जाहासौ व्यभिचारिणौ । एतैरभिव्यक्तः सहृदयविषयो रतिभावः शृङ्गाररसरूपतां भजते ।

तद्भेदावाह—

विप्रलम्भोऽथ संभोग इत्येव द्विविधो मतः ॥ १८६ ॥

अपुष्टिविरहात् । तदुक्तम्—‘अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः’ इति ॥ शृङ्गमिति । मन्मथस्य संभोगेच्छया उद्भेद उद्बोधः । तदागमनहेतुकः मन्मथोद्भेदप्राप्तिजन्यः । वीतरागाणां रसानुपत्तेः । उत्तमप्रकृतिर्नायको यत्र सः । प्रायः इत्यनेन शृङ्गाराभासादावधमप्रकृतित्वं सूचितम् । एवं च शृङ्गमृच्छति कारणत्वेन प्राप्नोतीति शृङ्गारपदव्युत्पत्तिरवधेया । अथवा शृङ्गेण अर्धते सामाजिकैः प्राप्यतेऽसाविति कर्मप्युत्पन्नेन अणा तत्पदं सिद्धम् । अत्र शृङ्गारे परोढाननुरागिवेश्यावर्जनम् । तद्विषयरसस्य शृङ्गाराभासत्वादिति भावः । रोलम्बो अमरः । आदिना वेशकात्यादि-

१. शृङ्गार इति । शृणाति चरमदशाप्राप्तेन दिनसि कायुकानिति शृङ्गं मन्मथोद्भेदः ‘शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः’ इत्यादि ‘उद्बोध’ इत्यन्तं पाठः पुस्तकान्तरे नास्ति. २. ‘उद्भेदः’ इति पुस्तकान्तरे नास्ति. ३. ‘अथवा—’ इत्यादि—‘सिद्धम्’ इत्यन्तं पाठः पुस्तकान्तरे नास्ति. ४. ‘रतिः’ इति पुस्तकान्तरे नास्ति. ५. ‘संभोगो विप्रलम्भश्च । रतेः संयोगकालावच्छि-

॥ त्रिप्रेति । शृङ्गारो द्विविधः—‘संभोगो विप्रलम्भश्च । रतेः संयोगकालावच्छि-

१. ‘च’ क.ग. २. ‘मन्मथस्य—’ इत्यादि—‘उद्बोध’ इत्यन्तं पाठः पुस्तकान्तरे नास्ति. ३. ‘उद्भेदः’ इति पुस्तकान्तरे नास्ति. ४. ‘अथवा—’ इत्यादि—‘सिद्धम्’ इत्यन्तं पाठः पुस्तकान्तरे नास्ति.

तत्र

यत्र तु रतिः प्रकृष्टा अभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ ।

अभीष्टं नायकं नायिकां वा ।

सं च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात् ॥१८७॥

तत्र

श्रवणादर्शनाद्यापि मिथः संरुढरागयोः ।

ग्रहणम् ॥ तद्भेदौ शृङ्गारभेदौ ॥ तत्र तयोर्मध्ये । विप्रलम्भमाह—यत्र त्विति । तुशब्दार्थः । तत्र रसे प्रकृष्टा प्रकरणादिना प्रधानत्वं प्राप्ता रतिरस्ति । नायिका नायिको वा अभीष्टं नायकं नायिकां वा नोपैति नोपभुङ्क्ते असौ विप्रलम्भ इत्यर्थः । तथा उपभोगाभावसंवलितप्रकृष्टरतिविषयो रसो विप्रलम्भ इत्यर्थः । करुणादौ शोकोद्दीपनतया रतिसत्त्वेन तत्रातिव्याप्तिवारणाय प्रकृष्टेति । संभोगेऽतिव्याप्तिवारणाय उपभोगाभावेति । विप्रलम्भसमानविषयके ज्ञानान्तरे संस्कारे वा अतिव्याप्तिवारणाय रस इति । अन्ये तु—‘यत्र दुःखसंवलितत्वाद्गतिर्न प्रकृष्टा अभीष्टमुपैति विषयीकरोति स विप्रलम्भः’ इति व्याकुर्वन्ति । तत्र । करुणेऽतिव्याप्तेः । यदि च ‘यत्र’ इत्यस्य ‘शृङ्गारे इति व्याकरणात्करुणे नातिव्याप्तिरित्युच्यते तदा अभीष्टमुपैति’ इत्यस्यानर्थक्यम् । अभीष्टविषयरसेरेव शृङ्गारत्वेन परिणामात् । अपरे तु—‘नायिकादिभिरभीष्टं नोपैति न संगच्छते । तथा चाभीष्टविच्छेदसंवलितारतिर्यत्र स विप्रलम्भः’ इत्याहुः । तत्र । प्रणयमानादावभीष्टविच्छेदाभावेनाव्याप्तेः । केचित्तु—“संयोगः सुखसंभिधो विप्रलम्भस्तु दुःखयुक्तः । रतिसंयोगः प्रकर्षः स्यादाधिकास्तुखदुःखयोः ॥” इति दर्शनाद् दुःखसंवलितरतिस्थायिभावको रसो विप्रलम्भः” इत्याहुः । तत्र । प्रणयमाने दुःखायोगादव्याप्तेः ॥ स च विप्रलम्भः चतुर्धा इतीदमुपलक्षणम् । विरहोऽपि वेदितव्यः । स च गुर्वादिरतन्त्रत्वात् । संगमप्रतिशेधो यथा—‘किं रुद्धः प्रियया—’ (१२४ पृ.) इत्यादि । अन्यथा

ब्रह्मे प्रथमः । विवोगकालवच्छिन्नत्वे द्वितीयः । संयोगश्च न दंष्टयोः सामानाधिकरण्यात् । प्रकृष्टरूपशयनेऽपीप्सोदिसङ्गावे विप्रलम्भस्यैव वर्णनात् । एवं विवोगोऽपि न वैयधिकरण्यम् । दोषस्योक्तत्वात् । तस्माद्विभो संयोगविवोगात्वावन्तःकरणवृत्तिविशेषौ । यत्संयुक्तो विमुक्तश्चासीति घीः । तत्राद्यो यथा—‘शयिता सविषेऽप्यनीश्वरा सफलिकर्तुमशो मनोरथान् । दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलनप्रयत्ना निरीक्षते ॥’ इति । द्वितीयो यथा—‘वाचो भाङ्गलिकीः प्रयाणसमये जल्पलनत्वं जने केलीमन्दिरमारुताय-नमुखे विन्यस्तवक्राम्बुजा । निःश्वासग्लपिताधरोपरिपट्टाभ्यार्दवशोऽहं बाला लोलवि-लोचना शिव शिव प्राणेशमालोकते ॥’ इति विशेषो रसगङ्गाधरे ॥

१. ‘तत्र’ इति नास्ति म. पुस्तके. २. ‘तत्रापि विप्रलम्भो नूनोरन्धोन्वरकरोर्विरहः’ इति ग.
३. ‘अभीष्टम्’ इति नास्ति ग-पुस्तके. ४. ‘स तु’ ग.

दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते ॥ १८८ ॥

श्रवणं तु भवेत्तत्र दूतयन्दिसखीमुखात् ।

इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम् ॥ १८९ ॥

अभिलापयिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च ।

उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशाश्च कामदशाः १९०

अभिलापः स्पृहा चिन्ता प्राप्स्युपायादिचिन्तनम् ।

उन्मादश्चापरिच्छेदश्चेतनाचेतनेष्वपि ॥ १९१ ॥

अलक्ष्यवाक्प्रलापः स्याच्चेतसो भ्रमणाद्भ्रमम् ।

व्याधिस्तु दीर्घनिःश्वासपाण्डुताकृशतादयः ॥ १९२ ॥

जडता हीनचेष्टत्वमङ्गानां मनसस्तथा ।

शेषं स्पष्टम् ।

क्रमेणोदाहरणानि—

प्रेमाद्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-

स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि ।

तस्य निरुक्तप्रकारचतुष्टयानन्तर्भावाल्लक्ष्यत्वाभावेन तत्र सामान्यलक्षणस्यातिव्याप्ति-
प्रसङ्गात् । तत्र पूर्वरागादिषु । मिथ इति । अन्योन्यमित्यर्थः । दशाविशेषोऽ-
वस्थामेदः । अप्राप्तौ परस्परसंगमे । यन्दिनः स्तुतिपाठकाः । दशाविशेषा-
नाह—अभिलाप इति । दश प्रकाराः । अत्र पूर्वरागे । कामकृता रतिजन्य-
दशाः कामदशाः । स्पृहा अभीष्टप्राप्तीच्छा । अपरिच्छेदो विशेषनिर्धारणा-
भावः । अलक्ष्यवाक् निर्निपयं वचः । शेषं स्पृहादिकम् ॥ प्रेमाद्रा इति ।
प्रेम्णा आर्द्रा निविडसंपृक्ताः । प्रेमाभिव्यञ्जिका इति यावत् । प्रणयं द्रष्टुः केहं
स्पृशन्ति जनयन्ति । परिचयानुसृष्टुर्मुहुर्दर्शनात् । उद्गाढ उत्कटो यो रागः सुर-
तेच्छा तस्योदयो साम्यस्ताः । मुग्धदृशो मालव्याः । चेष्टा नेत्रविशेषादिरूपाः

१. स्मृतीत्यादि । 'द्वेषो यवान्यकार्येषु तदेकार्थं च मानसम् । व्यासमेनोरथेश्चापि
चेष्टास्ताः स्मृतिरुच्यते ॥', 'सौन्दर्यदक्षिणालोपेर्नारत्य-यस्तत्समो युवा । इति वाणी भवे-
द्यत्र तदुक्त गुणकीर्तनम् ॥', यस्मिन्नन्यमनस्यं वा न च हर्षाय यावते । प्रदेवः प्राणि-
तन्त्र्येऽपि स उद्वेगोऽभिधीयते ॥', 'श्वासमरोदनोत्कम्पवसुधोलेखनैरपि । व्यापारो जायते
यत्र स उन्मादो निरूप्यते ॥'

१. 'स कीर्तितः' ग. २. 'अथ' नास्ति क पुस्तके. ३. 'अभिलाप—' इत्यादि—'स्पष्टम्' ।
इत्यन्तः पाठो ॥ पुस्तके नास्ति.

यास्तन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापारोधी क्षणा-

दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥'.

अत्र मालतीसाक्षाद्दर्शनप्ररूढरागस्य माधवस्याभिलाषः ।

‘कथमीक्षे कुरङ्गाक्षीं साक्षालक्ष्मीं मनोभुवः ।

इति चिन्ताकुलः कान्तो निद्रां नैति निशीथिनीम् ॥’

अत्र, कस्याश्चिन्तायिकाया इन्द्रजालदर्शनप्ररूढरागस्य नायकस्य

चिन्ता । इदं मम । ‘मयि सकपटम्—’ इत्यादौ (१५७ पृ.) नायकस्य

स्मृतिः । ‘नेत्रे खञ्जनगञ्जने—’ इत्यादौ (११० पृ.) गुणकथनम् ।

‘श्वासान्मुञ्चति’ इत्यादौ (१३६ पृ.) उद्वेगः ।

‘त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत ।

फ नीलकण्ठ व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ॥’

अत्र प्रलापः ।

‘आतद्विरेफ—’ इत्यादौ (१५६ पृ.) उन्मादः ।

‘पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवाल्म्यं च वपुः ।

आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः ॥’

अत्र व्याधिः ।

‘मिसिणीअलसअणीए निहिअं सव्वं सुणिचलं अहं ।

दीहो णीसासहरो एसो साहेइ जीअइति परं ॥’

क्रियाः । बाह्यकरणव्यापारोधी बाह्येन्द्रियसंबन्धप्रतिषन्धकः । आशंसापरिकल्पितासु संकल्पविषयीभूतासु । अन्तःकरणस्य लयो निबिडाभिनिवेशो भवतीत्यन्वयः ॥

निशीथिनीम्, इत्यविच्छेदे द्वितीया ॥ इन्द्रजालेति । इन्द्रजालस्य कुहकस्य

श्रीदा ॥ ‘मयि सकपटम्—’ इति स्मृतिसंचारिभावोदाहरणम् । ‘नेत्रे खञ्जनगञ्जने—’

इति प्ररूढयावनाया मध्यमनायिकाया उदाहरणम् ॥ त्रिभागशेषासु तृतीयभा-

गावशिष्टासु । अलक्ष्यवाक् अविषयवचः । असत्यं मिथ्या शिवस्य कण्ठेऽर्पितं

बाहुबन्धनं यया । यद्वा असत्यस्य अलीकदृष्टस्य शिवस्य कण्ठेऽर्पितं बाहुबन्धनं यया ॥

‘आतद्विरेफ—’ इत्युन्मादसंचारिभावोदाहरणम् ॥ क्षामं कृशम् । सरसं सानुर-

गम् । तव माललाः ॥ क्षेत्रियेति । एतच्छरीराचिकित्सेत्यर्थः । हृदन्तः हृदय-

मध्ये ॥ मिसिणीति । ‘मिसिनीदलअयनीजे निहितं सर्वं सुनिधलमज्ञम् । सीधो

निःश्वासर एय साधयति जीवतीति परम् ॥’ इति संस्कृतम् ॥ रसस्य स्तेर्विच्छेद-

- १. ‘इदं मम—’ इत्यादि ‘जडता । इदं मम ।’ इत्यन्तः पाठो गणपुष्पके नास्ति. २. ‘एव’ इति पुस्तकान्तरे.

अत्र जडता । इदं भ्रम ।

रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते ॥ १९३ ॥

जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसाकाङ्क्षितं तथा ।

वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरतः ॥ १९४ ॥

तत्रायं यथा—

‘शेफालिकां विदलितामवलोक्य तन्यी

प्राणान्कथंचिदपि धारयितुं प्रभूता ।

आकर्ष्य सप्रति रुतं चरणायुधानां

किं वा भविष्यति न वेभि तपस्विनी सा ॥’

• द्वितीयं यथा—

‘शैलम्बाः परिपूरयन्तु हरितो झकारकोलाहलै-

र्मन्दमन्दमुपेतु चन्दनवनीजातो नमस्वानपि ।

माद्यन्तः कलयन्तु चूतशिखरे केलीपिकाः पञ्चमं

प्राणाः सत्वरमश्मसारकठिना गच्छन्तु गच्छन्त्वमी ॥’

ममैतौ ।

तृतीयं यथा—कादम्बर्या महाश्वेतापुण्डरीकवृत्तान्ते । एष च
प्रकारः करुणविप्रलम्भविषय इति वक्ष्यामः ।

हेतुत्वाद् विनाशहेतुत्वात् । रत्याश्रयस्य मरणाद्रतेर्नाश इति मरणरूपानुभावेन रते-
र्मिलनाभावादसत्त्व नोपपद्यत इति भावः । तन्मरणम् । मरणात्पर जीवनं प्रत्युज्जीव-
नम् । प्रभूता समर्था । संप्रति रात्रिशेषयामार्धे । चरणायुधानां कुङ्कुदानाम् ।
किं कीदृशवस्था । तपस्विनी ब्रह्मचारिणी । मैथुनरहितत्वात् । अथवा तुच्छा ।
अर्धरात्रौ शेफालिका विकसति, तदानीमेव त्वामप्राप्य कथंचित्प्राणान्धारयति,
रात्रिशेषयामार्धे कुङ्कुदा नदन्ति, इदानीमपि त्वामप्राप्य सा मृतप्रायेति भावः ॥
द्वितीयं चेतसा काङ्क्षितं मरणम् । नमस्वान् वायु । पञ्चमं स्वरविशेषम् ।
अश्मसारकठिनाः लोहकठिनाः ॥ तृतीयं प्रत्युजीवनं सन्निकृष्टमरणं । एष

१. चन्दनेति । दाक्षिणालो वायुरित्यर्थः ॥

१. ‘प्रति’ ग. २. ‘पञ्चयन्तु’ ग ३. ‘एष च—’ इत्यादि—‘इदमर्थं भवति ।’ इत्यन्तः पष्ठे
ग पुस्तके न दृश्यते.

केचित्तु—

‘नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः ।

निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिरूपानाशः ॥

उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदग्ना दशैव स्युः ॥’ इत्याहुः ।

तत्र च—

आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः ।

इङ्गितान्युक्तानि । यथा रत्नावल्यां सागरिकावत्सराजयोः । आदौ पुरुषानुरागे संभवत्यप्येवमधिकं हृदयंगमं भवति ।

नीली कुसुम्भं मञ्जिष्ठा पूर्वरागोऽपि च त्रिधा ॥ १९५ ॥

तत्र

न चातिशोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम् ।

तन्नीलीरागमाख्यातं यथा श्रीरामसीतयोः ॥ १९६ ॥

कुसुम्भरागं तत्प्राहुर्यदपैति च शोभते ।

मञ्जिष्ठारागमाहुस्तद् यन्नापैत्यतिशोभते ॥ १९७ ॥

अथ मानः—

मानः क्रोधः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः ।

च तृतीयः ॥ नयनप्रीतिर्दर्शनेच्छा । चित्तासङ्गः मनसः संगतिः नायकप्राप्तीच्छा । संकल्पः प्राप्त्युपायादिविन्ता ॥ तत्र च पूर्वरागे च । तदिङ्गितैः स्त्रीचैष्ट्याविशेषः । इङ्गितान्युक्तानीति । अमिलापादिरूपाणीत्यर्थः । एषं प्रथमं स्त्रिया रागवर्णने मनोहरम् । ‘एवमधिकहृदयंगमता भवति’ इति पाठः । एषं प्रथमं स्त्रिया रागवर्णने । कुसुम्भरागमञ्जिष्ठारागयोर्लक्ष्यं दर्शयितव्यमवश्यं यदि धाम्यम् ॥ मानमाह—अथेति । स तु मानस्तु । द्वयोः स्त्रीपुंसयोः ॥ प्रमोदे

१. केचिदिति । यात्सायनादयः ।

२. नयनेति । नायिकाप्रवलोकयतः संयोगेच्छालक्षणात्कामादनन्तरं दृशी लिङ्गे जायेते । ततो विषयप्राप्तौ चित्तासङ्गस्तत्र चित्तसासक्तिः । तस्मिन्संके संकल्पः कथं प्राप्स्यामि प्राप्य चैवमनुष्ठातव्यमिति । ततः संकल्पयतो निद्राच्छेदः । निद्रामलभ-मानस्य तनुता शरीरकाश्यम् । ततो विषयेभ्यो निवृत्तिः । सर्वथा तद्गतचित्तत्वादप्यविषयाञ्चलञ्चलनञ्चालप्रसूयाद्योपपाति । तेभ्यश्च व्यावर्तमानस्य त्रपानाशो लज्जा-प्रणाशनम् । गुरुभ्योऽपि निर्लज्जत्वाच्च विभेति । विप्रणष्टलज्जस्य निर्भयस्य चोन्मादः । ततो मूर्च्छा भवत्यस्वास्थ्यसंश्लिषा । ततो मृतिः प्राणत्यागः ॥

३. कुसुम्भेति । अयेदानीं बहुप्रदम्पत्योः । मञ्जिष्ठा श्रीकृष्णराधिकयोः ॥

द्वयोः प्रणयमानः स्यात्प्रमोदे सुमहत्यपि ॥ १९८ ॥

प्रेम्णः कुटिलगामित्वात्कोपो यः कारणं विना ।

द्वयोरिति नायकस्य नायिकायाश्च उभयोश्च प्रणयमानो वर्णनीयः ।
उदाहरणम् । तत्र नायकस्य यथा—

‘अलिअपसुत्तअणिमिलिअच्छ देसु सुहअ मज्झ ओआसं ।

गण्डपरिउम्भणापुलइअङ्ग ण पुणो चिराइस्सं ॥’

नायिकाया यथा कुमारसंभवे संध्यावर्णनावसरे ।

उभयोर्यथा—

‘पणअकुविआणं दोण्ह वि अलिअसुत्ताणं माणहल्लानं ।

णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णअण्णाणं को महो ॥’

अनुनयपर्यन्तासहत्वे त्वस्य न विप्रलम्भभेदता, किंतु संभोगसंचा-
र्याख्यभावत्वम् ।

यथा—

‘भूमङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सौत्कण्ठमुद्वीक्षते

रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते ।

प्रेम्णि । ननु प्रमोदे सति कोप एव न भवति, कथं तत्र मानलक्षणसंगतिरित्यत
आह—प्रेम्ण इति । कुटिलगामित्वात् कुटिलनायकादिवृत्तित्वात् । कारणमप-
राधादि । कुटिलस्य विनापि कारणं तत्संभावनया कोपो भवतीति भावः । यद्वा
कुटिलगामित्वाद् दुरवगमस्यभावत्वात् ॥ अलिअ इति । ‘अलीकप्रसुतकनिमी-
यिताश्च देहि सुभग मग्नमवकाशम् । गण्डपरिउम्भनपुलकिताङ्ग न पुनश्चिरयि-
ष्यामि ॥’ इति संस्कृतम् । मम विलम्बे तव कोपो जात इति सूच्यते । पुनरेवं
विलम्बं न करिष्यामीति भावः । अग्रालीकस्यैव नायकस्य कोटित्वम् ॥ पणअ-
कुवि इति । ‘प्रणयनुपितयोर्द्वयोरप्यलीकनुपययोर्मनविग्रहयोः (यतोः) । निश्चलनिरु-
द्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः को मग्नः ॥’ इति संस्कृतम् । यद्वो मानमग्नमवकाशः ।
प्रियवचनादिरूपमानमज्ञानवृद्ध्यापारोऽनुनयः तत्पर्यन्तामहत्ये । तं विनैव
भङ्गुरत्वे चेत्यर्थः । अस्य प्रणयमानस्य । ईर्ष्या अग्रास्या, तस्या एव ध्वमिवा-
स्तित्वेन गणितत्वात् ॥ भूमङ्ग इति । मानोपदेही सखी प्रति नायिकाया उक्ति-

१. ‘प्रमोदे’ क. ख. ‘उदा-’ इत्यदि. ‘-भावनम्.’ इत्यन्तः पाठः क. ख. ग. पु. ल. से. न. वि.
२. ‘भूमङ्गे-’ इति श्लोका क. ख. पु. ल. से. न. वि.

कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू रोमाञ्चमालम्बते
दृष्टे 'निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने ॥'

यथा वा—

'एकस्मिञ्शयने पराङ्मुखतया 'वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽन्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम् ।
दंपत्योः स्ननकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीमवचक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहः ॥'
पत्युर्न्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते ॥ १९९ ॥
ईर्ष्या मानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिद्विधा ।
उत्स्रमायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनसंभवा ॥ २०० ॥

तत्र दृष्टे यथा—

'विनयति सुदृशो दृशोः परागं
प्रणयिनि कौसुममननानिलेन ।
तदहितयुवतेरभीक्ष्णमक्ष्णो-
र्द्वयमपि रोपरजोभिरापुपूरे ॥'

रियम् । दर्शाननं तुच्छमुखम् । 'अधिरम्' इत्युत्तरत्रापि स्थानद्वयेऽनुपगम्यते ।
अत्र दर्शनादीनामनुभावानां बलवत्त्वेन तैः परिपुष्टा रतिः संभोगत्थमेवावलम्बते ।
भूमन्नादिभिर्व्यज्यमानाया ईर्ष्यायास्तत्साधनत्वमेवेति भावः ॥ स्त्रीणामिति ।
प्रणयमानवलायकस्यायं न भवतीति भावः । सुरतभ्रमवशादुत्फटनिद्राप्रतिवृत्त्य-
प्रायितम् । भोगाङ्कः संभोगचिह्नम् । गोत्रस्य नाभ्रः स्खलनम्, अतस्मिन्नु-
च्चारणम् । एतत्संभवा तत्परामर्शजन्या ॥ विनयति निरस्यति सति । 'परागः
कौसुमे रेणौ छानीयादौ रजस्यपि' इति शासनाच्च कौसुममिति पौनरुक्त्यम् ।
तस्या अहितयुवतेः प्रतिपक्षनायिकायाः । रोपरजोभिर्नायवापराधजन्यक्रोधप्रभव-

१. निर्वहणमिति । निर्वहणं निर्वाहः । मानावलम्बनमिति यावत् ॥

२. वीतोत्तरमिति । वीत विगतमुत्तरमुक्तिप्रत्युक्तिरूपं यस्यैकैर्गणि तथैवा स्यात्तथा
ताम्यतोः क्लिश्यतोः ॥

३. अपाङ्गेति । अपाङ्गवलनाग्रयनान्तवालनात् ॥

४. सहासेति । सहास यथात्रया रभतेन वेगेन व्यासक्तो भुजबन्धनेन दृढ लघः
कण्ठग्रहो यस्मिन्सः ॥

५. आननानिलेनेति । निजमुखपूत्कारेण ॥

संभोगचिहेनानुमिते यथा—

‘नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन

स्वगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।

प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्प-

न्नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥’

एवमन्यदपि ।

साम भेदोऽथ दानं च नत्युपेक्षे रसान्तरम् ।

तद्भङ्गाय पतिः कुर्यात्पङ्केपायानिति क्रमात् ॥ २०१ ॥

तत्र प्रियवचः साम, भेदस्तत्संख्युपार्जनम् ।

दानं व्याजेन भूपादेः पादयोः पतनं नतिः ॥ २०२ ॥

सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् ।

रमसग्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥ २०३ ॥

यथा—‘नो चाटुश्रवणं कृतम्—’ इत्यादि (१२२ पृ.) । अत्र सामादयः पञ्च सूचिताः । रसान्तरमूखम् ।

अथ प्रवासः—

प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याञ्छापाच्च संभ्रमात् ।

परमैः ॥ नयनयेति । नायकं प्रति मानिन्या उत्क्रियम् । स्वगयसि आच्छा-
दयसि । परिमलो विमर्दलप्रकुङ्कुमादिस्तस्य गन्धः । केन उपायेन । वरीतुं गोप-
यितुम् ॥ प्रसङ्गान्मानभङ्गोपायानाह—सामेति । तद्भङ्गाय मानभङ्गाय ।
तस्या मानिन्याः सख्या उपार्जनं प्रसादनम् । अचधीरणमवहवा त्यागः ।
रमसः संभ्रमः । यतो रमसादे. कोपभ्रंसस्तद्रसान्तरमित्यर्थः । रसान्तरोदाहरणं
यथा—‘कथं’ ‘ममोरसि कृतपञ्चनिखन- शिलीमुखोऽपतदिति जलरति प्रिये ।
विहृत्य किं किमिति सजल्पया तया ससाध्वसं कुपितममोषि वान्तदा ॥’ अत्र
वान्तवक्षति शरपतनशङ्कया मानभङ्गः ॥ प्रवासमाह—प्रचास इति । भिन्नदेशित्वं
भिन्नदेशगृह्णित्वम् । अत्रापि यत्रैत्यनुपज्यते । यत्र लीपुंगयोर्भिन्नदेशित्वं तत्तदनु-
भावजनकत्वेन स्थायते प्रवास इत्यर्थः । अस्य कारणान्याह—कार्यादिति ।

१. उपायानिति । अत्र विशेषः शृङ्गारतल्ले—‘कपोतरं वतीवास इत्युपायाः
प्रसादने । आधास्यो पने कार्या विदग्धै. पक्षिणः वक्षि ॥’ इति ॥

१. ‘विदेन’ इति क पुच्छे नास्ति. २. ‘रममभय’ क. ‘हेवम्’ इत्यपि ग. गुप्तक.
३. ‘सरगुप्तवन्’ क. ‘वक्तुतयवन्’ ग. ४. ‘तुष्टम्’ ग. ५. ‘विमर्दजम्’ क. ग. ६. ‘विम-
र्दमिति एवमपि’ इति शृङ्गारतल्लेककथा पाठः.

तत्राङ्गचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः ॥ २०४ ॥

निःश्वासोच्छ्वासरुदितभूमिपातादि जायते ।

किं च ।

अङ्गेष्वासौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशतारुचिः ॥ २०५ ॥

अधृतिः स्यादनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्च्छनाः ।

मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश सरदशा इह ॥ २०६ ॥

असौष्ठवं मलापत्तिस्तापस्तु विरहज्वरः ।

अरुचिर्वस्तुवैराग्यं सर्वत्रारागिताधृतिः ॥ २०७ ॥

अनालम्बनता चापि शून्यता मनसः स्मृता ।

तन्मयं तत्प्रकाशो हि बाह्याभ्यन्तरतस्तथा ।

शेषं स्पष्टम् ।

एकदेशतो यथा मम तातपादानाम्—

‘चिन्ताभिः स्तिमितं मनः, करतले लीना कपोलस्थली,

प्रत्यूपक्ष्णदेशपाण्डु वदनं, श्वासैकस्त्रिभ्योऽधरः ।

अम्मःशीकरपद्मिनीकिसलयैर्नापैति तापः शमं,

कोऽस्याः प्रार्थितदुर्लभोऽस्ति सहते दीनां दशमीदृशीम् ॥’

भावी भवन्भूत इति त्रिधा स्यात्तत्र कार्यजः ॥ २०८ ॥

कार्यस्य बुद्धिपूर्वकत्वाच्चैविध्यम् ।

अस्यानुमायानाह—तत्रेति । प्रवास इत्यर्थः । अङ्गमालिन्यादिकं नायिकायाः ।

मतान्तरमाह—किं चेति । दशेक्षत्र एकादशेति विधेयम् । एवं च ‘ज्ञेया’ इत्यत्र

‘एका’ इति पाठः कल्पनीयः । इह प्रवासे । मलापत्तिर्मलसंबन्धः । शून्यता

विषयाप्राहित्वम् । तत्प्रकाशः तस्य नायकस्यालीकदर्शनम् । बाह्याभ्यन्तरत-

इति बहिरिन्द्रियप्राप्त्ये मनोप्राप्त्ये चेत्यर्थः ॥ चिन्ताभिरिति । विरहिणीसख्याः

कंचित्प्रसूफिरियम् । स्तिमितं जलीकृतम् । विषयान्तरसंचाराश्रममिति यावत् ।

एतेनालम्बनता सूचिता । श्वासैकस्त्रिभ्यः । न ॥ अन्तदशनक्षतेन । प्रार्थितः सन्

दुर्लभः । यो दीनां दैन्यव्याजिकां दशां सहत इत्यर्थः । बुद्धिपूर्वकत्वात्स्वेच्छया

१. प्रत्यूपेति । प्रत्यूपे प्रभाते यः क्षणदेशश्चन्द्रमास्तद्वत्पाण्डु । निप्रबलित्यर्थः ॥

२. अम्म इति । अम्मःशीकरैश्चन्दनोदककणिकाभिः, पद्मिनीकिसलयैः पायोजिनी-
नवरत्नैश्च । यदा अम्मसां शीकरा येषु सादृशैः पद्मिनीकिसलयैः । सप्तश्रोतितत्वादित्यर्थः ।

१. ग-पुस्तके तु ‘अश्रोतवत्’ इत्यादि । ‘-श्रीतीम्’ इत्यन्तः पाठो नास्ति. २. ‘कार्यस्य’
इति परिक्रिया नास्ति ग-पुस्तके.

तत्र भावी यथा मम—

‘यमः सुन्दरि, याहि पान्थ, दयिते शोकं वृथा मा कृथाः,
शोकस्ते गमने कुतो मम, ततो वाप्यं कथं मुञ्चसि ।
शीघ्रं न व्रजसीति, मां गमयितुं कस्मादियं ते त्वरा,
भूयानस्य सह त्वया जिगमिषोर्जीवस्य मे संभ्रमः ॥’

भवन्वया—

‘प्रस्थानं बल्यैः कृतं, प्रियसखैरसैरजस्रं गतं,
धृत्या न क्षणमासितं, व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित ! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥’

विधीयमानत्वात् । एवं च भिन्नदेशगमनस्य संभावनायां भावित्वम् । निश्चये
वर्तमानत्वम् । निष्पत्तौ भूतत्वम् । अन्ययोस्तु संभावनानिश्चयासंभवादेकविधत्व-
मेव ॥ याम इति । वर्तमानसामीप्ये लट् । गमनसंभावनामात्रेण तत्र यत्
‘पान्थ’ इति संबोधनं तत्सखिन्त्यन्तस्य प्रेमाभावसूचनाय । तदवगल्य श्रुतिलेख
‘दयिते’ इत्यनेन संबोधनम् । ततः शोकभावादिति हेतोर्बाष्पं मुखामीत्यर्थः ।
जीवस्य प्राणानाम् संभ्रमस्त्वेव । अत्र कान्तासंमत्तिसापेक्षतया गमनस्य संभावना-
मात्रम् ॥ प्रस्थानमिति । कान्तप्रवासं निश्चितं स्वजीवितं प्रति नायिकाया
उपरिचरम् । नो जीवितं, प्रियतमप्रवासे सति त्वया अवश्यं गन्तव्यम् । तथा च
प्रियतमे यातुं निश्चितचेतसि सति त्वया च बलयादिप्रियसुहृत्सार्थः किं कथं
त्यज्यते । तेनैव साकं गम्यतामित्यर्थः । प्रियसुहृद्भिः सह गमने कष्टातिशयो न
भविष्यतीति । जीवितसत्त्वं एव बलयादिधारणं कियत इति बलमाधीना जीवित-
प्रियसुहृत्त्वम् । प्रस्थानमाह—प्रस्थानमिति । यात्रेत्यर्थः । बहुदिनव्यापकत-
द्भावेन काश्चिन् बल्यग्रंथः । अथैरधुभिरजस्रं निरवच्छिन्नं गतं गन्तुमारब्धम् ॥
एष पुनः प्रियसखत्त्वोपपादनमत्यन्तप्रियत्वसूचनाय । तथेदं शब्दे अधुपातेनैव
जीवितघन्यो भवतीति स्वरसाकारित्वात् । अन्ये तु—‘अधुनीवितयोरैकहृदयगा-
मिवावस्थान्तप्रियत्वम्’ इत्याहुः । तेषामयमाशयः—नाडीविशेषेण हृत्कोपादधुनि-
र्गमो भवतीति, न चैवं धृतेरपि प्रियसखत्वापत्तिरिति वाच्यम्, धृतेरत्यधर्मत्वेन
मनोधर्मत्वेन वा हृदयवृत्तित्वायोगात् । नासितं गतं पुरे गन्तुमित्यनेन चित्तस्य
पुरःसरत्वमेवोपपादितम् । ननु विभिन्नकालीनं गमनम् । तेन समं प्रस्थिता इति
नानुपपन्नम् । यद्वा प्रियजीवन एव बलया धार्यन्त इति बलपानां धृतेः प्रीति-
जनकत्वापत्तस्य तावदवगल्यप्रियस्य सुहृत्त्वम् । अस्यानां तु मानमहृदयप्रकृत्या

१. ग पुरुषे तु ‘काम’ इति श्लोके नास्ति, तत्तत्काले ‘प्रस्थानं बल्यैः’ इति श्लोके कर्तुं
२. ‘बली’ द्वेवशेषका [बल्यपान] कष्टघोरत्वयोः । बलीयैः बलघोरशक्तौ न बलत्वे एव । अत्र म-

भूतो यथा—‘चिन्तामिः स्तिमितम्—’ इत्यादि (१७८ पृ.)
 शापाद्यथा—‘तां जानीयाः—’ इत्यादि (१२३ पृ.) ‘संभ्रमो दिव्य-
 मानुषनिर्घातोत्पातादिजः । यथा—विक्रमोर्वश्यामुर्वशीपुरुषरवसोः ।

अत्र पूर्वरागोक्तानाममिलापादीनामत्रोक्तानां चाङ्गासौष्ठवादीनामपि
 दशानामुभयेषामप्युभयत्र संभवेऽपि चिरंस्तनप्रसिद्ध्या विविच्य प्रति-
 पादनम् ।

अथ करुणविप्रलम्भः—

यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनरुलभ्ये ।

विमनायते यदैकस्तदा मवेत्करुणविप्रलम्भाख्यः ॥२०९॥

यथा कादम्बर्या पुण्डरीकमहाध्वेतावृत्तान्ते ।

पुनरुलभ्ये शरीरान्तरेण वा लभ्ये तु करुणाख्य एव रसः ।

अलम्भतस्यित्वमित्यत्र पृथक् प्रियसखित्वोपादानम् । प्रियतमगमने गन्तुमारम्भा
 वलयादयः सख्योचितं कर्म कुर्वन्ति । त्वमपि प्रियस्य सुहृद्भवसीति तवापि गमनं
 न्याप्यमित्याह—गन्तव्ये सतीति । अत्रेयमुक्तिरनुभावः । अश्रुपातहृत्तापव्यङ्ग्यो
 विवाधो व्यभिचारिभावः । प्रियतम आलम्बनम् । नायिकाया रतिज्ञे सामाजिके
 रसोत्पत्तिः ॥ तां जानीया इति । प्रोषितमेतृषाया नायिकाया उदाहरणमिदम् ॥
 दिव्यो मिसुदुल्कादिः । मानुषो गर्वलोकगमो भूकम्पादिः । निर्घात इति
 नामसोपलक्षणम् । उत्पातोऽनिष्टसूचको देवकृतः प्रकृतिविपर्ययः । आदिना
 उन्मादादिपरिग्रहः । उर्वशीपुरुषरवसोरिति । उर्वशी हि पुरा मित्रावरुणशा-
 पान्मनुष्यलीकं प्राप्य पुरुषरवमो गृहे ‘यदि भवन्तं श्रुतसमयातिरिक्तमये नम्रं
 पश्यामि तदा त्वामहं त्यज्यामि, मम मेपद्वयं भवता रक्षणीयम्’ इति नियमं कृत्वा
 स्थिता । तदनन्तरं देवैरन्धतमसे मेघद्वयमपहतम् । तच्छ्रुत्वा पुरुषाः ससन्नयेन
 पद्ममपरिपार्थिवं सन्नपानिर्भेषापहर्तुः पश्चादावितः । एतस्मिन्नन्तरे विद्युद्भिन्नं
 नम्रमवलोकयोर्वशी स्वयं गतेति ग्रन्थस्य बर्तुल्यर्थः । अत्र देवकृतमेपापहरणरूप-
 दिव्योत्पातेन पुरुषरवसः संभ्रमः, तेनोर्वशा मिश्रदेशवृत्तित्वम् ॥ उभयत्र पूर्वरागे
 प्रयासे च ॥ करुणविप्रलम्भमाह—यूनोरिति । विमनायते शोकप्याकुलचित्ततया
 विलम्पं पुरते । पुनरुलभ्य इति । रतेर्नाशाद् उत्कटसौकस्यभाषणं करुणाख्यो

१. संभ्रम इत्यादिकविकायां कारिकाप्रसंगेन कार्यः ।

१. य पुरुषे तु ‘दिं गतेन यदि वा न जीवति प्राणिनि मिवतमा तस्यपि हिम् । रसुर्ग-
 वरमेवमाजिह्वा न प्रयासि पथिहः समन्दिरम् ॥’ इत्यादाहरणम्. २. ‘संभ्रमः—’ इत्यादि. ‘जनोः’
 इत्यत्र पाठो नास्ति मनुष्ये. ३. ‘अत्र—’ इत्यादि कश्चिन्मनुष्ये ‘अपराधे १६ ॥ २०१ ॥’
 इति श्रीधरमेव वदते. ४. ‘मिवतमा’ इति कश्चिन्मनुष्येवोक्तिः.

किंचानाकाशसरस्वतीभाषानन्तरमेव शृङ्गारः, संगमप्रत्याशया रतेरु-
द्भवात् । प्रथमं तु करुण एव, इत्यभियुक्ता मन्यन्ते । यच्चात्र 'संगम-
प्रत्याशानन्तरमपि भवतो विप्रलम्भशृङ्गारस्य प्रवासाख्यो भेद एव' इति
केचिदाहुः, तदन्त्ये 'मरणरूपविशेषसंभवाच्चद्विजमेव' इति मन्यन्ते ।
अथ संभोगः—

दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ ।

यत्रानुरक्तावन्योन्यं संभोगोऽयमुदाहृतः ॥ २१० ॥

आदिशब्दादन्योन्याधरपानचुम्बनादयः । यथा—'शून्यं वासगृ-
हम्—' (२३ पृ.) इत्यादौ ।

संख्यातुमशक्यतया चुम्बनपरिरम्भणादिवहुभेदात् ।

अयमेक एव धीरैः कथितः संभोगशृङ्गारः ॥ २११ ॥

तत्र स्यादुपप्लवं चन्द्रादित्यौ तथोदयास्तमयः ।

जलकेलिवनविहारप्रभातमधुपानयामिनीप्रभृतिः ॥ २१२ ॥

अनुलेपनभूपाद्या वाच्यं शुचि मेध्यमन्यच्च ।

रसः, न पुनर्विप्रलम्भ इति भावः । अत्र विशेषमाह—किं चेति । निषेवेते
कृतः । एकतरस्यानुरागाभावे शृङ्गाराभास इति तद्वारणाय—अन्योन्यमिति ॥
शून्यमिति । व्याख्यातमेतत्प्राक् (२३ पृ.) एक एकप्रहरः । संभोगोद्दीपनवि-
भावानाह—तत्रेति । संभोग इत्यर्थः । स्याद् उपयुक्तं भवति । वाच्यं संभो-
गोद्दीपनतया वर्णनीयम् । शुचि मेध्यमत्यन्तं निर्मलम् । अन्यदुर्म्यादि । संख्यातुं

१. अत्रेति । अत्र कादम्बर्या चन्द्रपीठं प्रति स्वप्रेषतः पुण्डरीकस्वेतिवृत्त वर्णयन्त्या
महाश्वेताया वाचदेविकल्पः । स्त्रीपुंसयोर्वियोगे जीवित्वज्ञानदशायां वैकुण्ठपोषिताया
रतेरेव प्राधान्याद्विप्रलम्भः । वैकुण्ठं तु संचारिमात्रम् । शून्यत्वज्ञानदशायां तु रतिरोषि-
तस्य वैकुण्ठस्यैव प्राधान्यमिति करुण एव । यदा तु सत्यपि गृहस्वस्थाने देवताप्रसादादिना
पुनरुद्दीपनद्वारेण कथञ्चित्स्यात्तदालम्बनस्यालन्तिकनिरासाभावाधिपदास इव विप्रलम्भ
स्य । न स करुण इति नम्याः ॥

२. केचिदिति । 'कादम्बर्या तु प्रथमं करुणः, आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवाम-
शृङ्गार पदेति' इत्याचार्यघनिकः ॥

३. विलासिनाविति । विलासिनी च विलासी च विलासिनाविलेकपदेवः ॥

१. 'आकाश' म. २. 'कादम्बर्या' क. ३. 'अपि कथने कथ' ४. 'त संभोगे मुदा-
स्वित' म. ५. 'अत्रेति' इत्यादि कश्चिन्न पक्षि मनुजके. ६. 'वैकुण्ठ' विहारपुत्रसंज्ञक
रिपुमत्तमाकाश इति वा.

तथा च भरतः—‘यत्किञ्चिद्लोके शुचि मेघ्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं
वा तत्सर्वं शृङ्गारेणोपमीयते (उपयुज्यते च)’ इति ।

किं च-।

कथितश्चतुर्विधोऽसावानन्तर्यातु पूर्वरागादेः ॥ २१३ ॥
यदुक्तम्—

‘न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते ।

कपायिते हि वस्त्रादौ मूयान्रागो विवर्धते ॥’ इति ।

तत्र पूर्वरागानन्तरं संभोगो यथा कुमारसंभवे पार्वतीपरमेश्वरयोः ।
प्रवासानन्तरं संभोगो यथा मम तातपादानाम्—

‘क्षेमं ते ननु पक्ष्मलाक्षि!—किसवं खेमं महत्तं दिदं,

एतादृक्कृतता कुतः—तुह पुणो पुहं सरीरं जदो ।

केनाह पृथुलः प्रिये!—पणइणीदेहस्स समेलणात्,

त्वत्तः सुभ्रु! न कापि मे—जइ इदं खेमं कुदो पुच्छसि ॥’

एवमन्यत्राप्यूहम् ।

शक्या ये संभोगमेवास्मान्नाह—किं चेति । एतदभेदादिमतापेक्षया पक्षान्तर-
सूचनम् । आदिना मानप्रवासकरूपविप्रलम्भानां ग्रहणम् ॥ अश्नुते प्राप्नोति ।
एतेन पूर्वरागादिकं विनापि संभोगः सम्भवतीति सूचितम् । तथा च प्रकृष्टप्रकृष्ट-
भेदेन संभोगो द्विविधः । विप्रलम्भानन्तरं संभोगः प्रकृष्टः । स च विप्रलम्भस्तु
भेदेन चतुर्विधः । तद्विपरीतोऽपकृष्ट इति फलितम् ॥ क्षेमं ते इति । सत्कृतेन
नायकस्य प्रथमं, प्राकृतेन नायिकाया उत्तरम् । कृषाक क्षेमं ममाज्ञं ददम् । अति-
शयित कृशं यन्ममाज्ञं तदेव क्षेममित्यर्थः । तव पुन पुष्टं सरीरं यत् । प्रणयि-
नीदेहस्य समेलनात् । यदीदं क्षेमं कुत पृच्छसि ॥ अपरो यथा मम—‘पादप्र-
णतमालोक्य कान्तमेकान्तकातरम् । मुग्धन्ती’ चाप्यसतानं मुमुक्षी तेन चुम्बिता ॥,
‘कान्ते घोरकृतान्तवज्रपुङ्गवस्त्वं पुण्यपुञ्जेन मे मुक्ता वृन्त तदर्जनधमभरं प्रत्यक्षः’

१ सुभ्रु इति । ‘सुभ्रु’ इति रुस्तान्तोऽपि । ‘प्रमाद एवायमिति यद्वयः’ इति वी-
मुपां दीक्षितवाक्यदर्शननाम् । अतएव ‘हा पितः ! कासि हे सुभ्रु !’ इत्यत्र राममद्रस्या-
नवसादसनाय कविना तथा प्रयुक्त इति सूचितम् ॥

१. म. पुच्छति तु ‘कपिना—’ इत्यदौ ‘जडम् ।’ इत्यन्तस्य सम्भवे । यानि ‘यस्येक एवायमुक्त-
स्यपि तत्र विप्रलम्भानन्तराच्चतुर्विधः । पूर्वरागानुसरणभेदेन वक्षः—‘वागीपीडनविधेरनन्तरं शैटरा-
ज्जुतिर्गुरो इति । माययाप्यवतिप्रहारभूत्वामयोदमनोहरं रूपम् । मानानन्तरसंभोगो यथा—‘वद-
देभ्यरपदवे एव’ इति इत्यामयापुम्बनी मा मा मुञ्च श्येति कोरवचनैरानर्तितप्रसङ्गा । कीत्यादिभिर-
भोजना वरवचं यैशुम्भिका मानिनी स्मृतं तैरपूगं समाव नचिनो मूढेः सुरेः छाया ॥’ प्रकाशानन्तरसंभोगो
यथा—‘प्रवचन-’-----‘स्वरितमहा’-----‘पञ्चरन्धो । इति वदति मनोवचनानिभूता विरक्तम-
वागवचनम् । गुणाधी ॥ कदणानन्तरसंभोगो यथा कदणरादम्बकम् । उक्तं च वागवचनेन—‘नरो दध-
इरोरेति संभोगोऽनन्तरं हि ॥ । इति वीजने चन्द्रा परिपुनो यमेतिव ॥ इति पाठान्तरमुपमावर्ते-’

अथ हास्यः—

विकृताकारवाग्बेपचेष्टादेः कुहकाद्भवेत् ।

हास्यो हासस्याभिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः ॥ २१४ ॥

विकृताकारवाक्केष्टं यमालोक्य हसेज्जनः ।

तमत्रालम्बनं प्राहुस्तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ॥ २१५ ॥

अनुभावोऽक्षिसंकोचवदनस्मेरतादयः ।

निद्रालस्यावहित्याद्या अत्र स्पुर्न्यभिचारिणः ॥ २१६ ॥

ज्येष्ठानां स्मितहसिते मध्यानां विहसितावहसिते च ।

नीचानामपहसितं तथातिहसितं तदर्थं पद्मेदः ॥ २१७ ॥

ईपद्विकासिनयनं स्मितं स्यात्स्पन्दिताधरम् ।

मालिङ्ग्य माम् । इत्याकर्ण्य निमीलितार्धनयनं स्मेरं 'क्षनैरानतं सोल्लास वदनाम्बुजं मृगदृशः स्मेरं पुबुम्बे प्रियः ॥' हास्यरसमाह—विकृतेति । विकृता आकारा-
दयो यस्य तस्मात्कुहकात् नर्तकात् । एतदुपलक्षणम् । विकृताकारादिविषयक-
ध्वज्याकाव्यादपि । 'कुर्तुकात्' इति पाठे विकृताकारादिजन्यात्कीदृकादित्यर्थः ।
अत्र हास्यरसे । तच्चेष्टा विकृताकारादिपुरुषचेष्टा । हास्यरसस्याभिभावस्य
हासस्य भेदानाह—ज्येष्ठानामिति । उत्तमानामित्यर्थः । तदिति । हासभे-
दादित्यर्थः । एष हास्यरसः । स्मितादीनां लक्षणमाह—ईपदिति । तत्र हासेषु

१. हास्य इति । हासस्याभिभावको विकृतकुदालम्बनको वैकृताद्युद्दीपितो गलकुडा-
णनुभावितः अमादिसंचारिणो हास्य इति निर्गलितार्थः । अत्राहुः—'आरमस्यः परस-
स्यश्वेतस्य भेदद्वयं मतम् । आरमस्यो द्रष्टुरूपज्ञो विभावेक्षणमात्रतः ॥ इत्यन्तमपर दृष्टा
विभावश्चोपजायते । योऽसौ हास्यरसलब्धैः परसः परिकीर्तितः ॥ उत्तमाना मध्य-
माना नीचानामप्यसौ भवेत् । 'यवस्य' कथितस्तस्य पद्मेदा. सन्ति चापरे ॥ स्मितं च
हसितं शोकमुद्यमे पुरुषे पुषे. । भवेदिहसितं चोपहसितं मध्यमे नरे ॥ नीचेऽपहसितं
धातिहसितं परिकीर्तितम् । ईषत्पुलकपोलाम्बा कटाक्षैरप्यनुस्वयैः ॥ अहदपदशब्दो
हासो मधुरः स्मितमुच्यते । वक्रनेत्रकपोलैश्चेदुत्फुल्लरूपलक्षितः ॥ किञ्चिदक्षितदन्तश्च
तदा हसितमिष्यते । सशब्द मधुर कालगत वदनरागवत् ॥ आकुञ्चिताक्षि मन्दं च विदु-
विहसितं बुधा. । निकुञ्चिताक्षीर्यश्च जिह्वदृष्टिविलोकनः ॥ उत्फुल्लनगसिको हासो
नाम्नोपहसितं मतम् । अस्मान्नजः सानुदृष्टिराकम्पस्कन्धमूर्धनः । शार्ङ्गदेवेन गदितो
हासोऽपहसिताद्वयः ॥ रथूलकर्णकटुध्वानो बाष्पपूरप्लुतेक्षण. । करोपगूढपार्श्वं हासो-
ऽतिहसितं मतम् ॥' इति ॥

किंचिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः ॥ २१८ ॥
 मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरःकम्पमवहसितम् ।
 अपहसितं सासाक्षं विक्षिप्ताङ्गं [च]भवत्यतिहसितम् ॥ २१९ ॥
 यथा—

‘गुरोर्गिरः पञ्च दिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च ।

अमी समाधाय च तर्कवादान्तमागताः कुकुटमिश्रपादाः ॥’

अस्य लटकभेलकप्रभृतिषु परिपोषो द्रष्टव्यः ।

अत्र च—

यस्य हासः स चेत्कापि साक्षान्नैव निवध्यते ।

तथाप्येष विभावादिसामर्थ्यादुपलभ्यते ॥ २२० ॥

अभेदेन विभावादिसाधारण्यात्प्रतीयते ।

सामाजिकैस्ततो हास्यरसोऽयमनुभूयते ॥ २२१ ॥

एवमन्येष्वपि रसेषु बोद्धव्यम् ।

अथ करुणः—

इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणारूपो रसो भवेत् ।

धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवतः ॥ २२२ ॥

शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम् ।

तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः ॥ २२३ ॥

मध्ये ॥ गुरोः प्रभाकरस्य ॥ ननु रसे नायकस्याभेदः सामाजिके भासते स चात्र
 श्लोकेन निवृत्तं कथं तस्याभेदारोपो जायतामित्यत आह—अत्र चेति । चकारा-
 दन्यत्र ॥ अयं नायकः । विभावादेः सामर्थ्यात् अन्यथानुपपत्तिज्ञानात् । ततः
 किमित्यत आह—अभेदेनेति । सपरमाधारणत्वेनेत्यर्थः । साधारण्यात्
 साधारणीकरणव्यापारात् । ततः साधारण्यज्ञानात् ॥ करुणरसमाह—इष्टेति ।

१. गुरोरिति । गुरोर्भेदप्रभाकरस्य गुरोर्भीमासाक्षात्तरूपा इत्यर्थः । ‘भीमावपादे-
 विदिते निरूपे निरूपिता नूतनवृत्तिरेषा । अङ्गं गवा पूर्वमहो पवित्रं न वा कथं रास-
 मधर्मेपस्याः ॥’ इत्युदाहरणान्तरम् ॥

२. करणेति । शोकरसाविभावको नृवायालम्बनकछद्गुणावुदीपितो रोदनापनुभा-
 वितो दैन्यादिसंनारितः करुण इति ॥

१. ‘यथा मन’ च. २. ‘अस्य’ इत्यादि कश्चिद्वा मनुष्ये कश्चिद्वा ३. ‘रसम्’ इति
 कश्चिद्वा मनुष्ये. ४. ‘शोकरसो कपोतवर्णोऽयम्’ च. ५. ‘अपीष्टं ननु यत्र तत्र’
 वाक्यम् न मनः । तदीयप्रयोगोपास्योद्दीपनरूपिणः ॥ इति ग.

अनुभावा दैवनिन्दाभूपातकन्दितादयः ।

वैवर्ण्योच्छ्वासनिःश्वासस्तम्भप्रलपनानि च ॥ २२४ ॥

निर्वेदमोहापसारव्याधिग्लानिस्मृतिश्रमाः ।

विपादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥ २२५ ॥

शौच्यं विनष्टबन्धुप्रभृति ।

येथा मम राघवविलैसे—

‘विपिने क जटानिवन्धनं तव चेदं क मनोहरं वपुः ।

अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्तनम् ॥’

अत्र हि रामवनवासजनितशोकार्तस्य दशरथस्य दैवनिन्दा । एवं बन्धुवियोगविभवनाशादावप्युदाहार्यम् । परिपोषस्तु महाभारते स्त्रीप-
वर्णि द्रष्टव्यः ।

अस्य करुणविप्रलम्भाद्भेदमाह—

शोकस्यायितया भिक्षो विप्रलम्भादयं रसः ।

विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनःसंभोगहेतुकः ॥ २२६ ॥

इष्टनाशश्च पुत्रादेर्विच्छेदो मरणं च वित्तादेर्नाशश्च ॥ अनयोर्जडाधारणध्रीरामश-
रीरयोः घटना योजना । खड्गेन शिरीषकर्तनमिवेत्यर्थः । अत्र प्रकरणादशरथो
नायको लभ्यत इति । विवृणोति—अत्रेति । अनुचितचरणमेव दैवस्य निन्दा
सैवानुभावः । बन्धुवियोगो बन्धुमरणम् । तत्र यथा—‘गृहिणी सचिवः सखी
मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ । करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं
न मे हृतम् ॥’ अत्रेन्दुमतीमरणजनितशोकार्तस्याजस्य मृत्युनिन्दा । वित्तनाशो
यथा—‘प्रातर्भवामि वसुधाधिपचक्रवर्ती सोऽहं ब्रजामि विपिने जटिलस्वपत्नी ।
यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति यत्नेतसा न गणितं तदिहाम्युपैति ॥’ अत्र नष्ट-
राज्यस्य रामस्य परिदेवनम् ॥ स्थायीभाव इति शेषः । पुनः संभोगो हेतुर्ज्ञापनो

१. यथेति । यथा वा मम—‘भाराबन्धममी पतन्ति सततं दृग्भ्यां पयोनिन्दवो
ज्वालाहीनमिवान्तरं स्पृष्टति हा गात्रं मुहुः सीदति । जायन्ते पुरतस्तमांसि विपना
वैकस्यमालम्बते दिव्यासान्क मनोऽसि शीघ्रमहहा प्रत्युत्तर दीवताम् ॥’ इति ॥

१. ‘अनुभावोऽहं...’—लम्बनादयः । विपादस्तानिनिर्वेदमोहाद्या व्यभिचारिणः । इति
पाठान्तरं म-पुस्तके २. ‘शौच्यं’ इत्यादि ‘-द्रष्टव्य’ । इत्यन्तस्य पाठस्य स्थाने म-पुस्तके ‘नव-
पञ्चवक्त्रोऽसि ते मुहुः दूरेत यद्वज्रमापेतम् । तदिह विवक्षितं कथं यद्व वामोदः । वित्ताधिरोहणम् ॥’
इत्येव दृश्यते. ३. ‘विलैसे’ च.

अथ रौद्रः—

रौद्रः क्रोधस्याधिभावो रक्तो रुद्राधिदेवतः ।
 ओलम्बनमरिस्तत्र तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ॥ २२७ ॥
 मुष्टिप्रहारपातनविकृतच्छेदावदारणैश्चैव ।
 संग्रामसंभ्रमाद्यैरस्योद्दीप्तिर्भवेत्प्रौढा ॥ २२८ ॥
 भूविभङ्गौष्ठनिर्दशबाहुस्फोटनतर्जनाः ।
 आत्मावदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च ॥ २२९ ॥
 उग्रतावेगरोमाञ्चस्वेदवेपथवो मदः ।
 अनुभावास्तथाक्षेपकूरसंदर्शनादयः ॥ २३० ॥
 मोहामर्षादयस्तत्र भावाः स्युर्व्यभिचारिणः ।

यथा—

‘कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
 मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुषैः ।
 नरकरिपुणा सार्धं तेषां समीपकिरीटिना-
 मयमहमसृङ्खोदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥’

यस्य सः ॥ रौद्ररसमाह—रौद्र इति । तच्चेष्टा रिपुचेष्टा । तां विशिष्याह—
 मुष्टीति । विकृतं विरुद्धाचरणम् । छेदः राजादिना । अवदारणं शूलादिना ।
 अस्य रौद्रस्य । ‘अवदानं कर्मवृत्तम्’ इत्यमरः ॥ कृतमिति । द्रोणशिरद्वेदेन
 क्रुद्धस्याश्वत्थाम्नोऽर्जुनप्रति संवोष्योक्तिरियम् । इदं मरिचशिरद्वेदरूपं गुरुपातकं
 सत्कारणं कर्म यैश्चतायुधैर्मर्यादाशून्यैरत एव मनुजपशुभिर्भवद्भिः कृतमनुमतं
 दृष्टं वा, नरकरिपुणा कृष्णेन सार्धं समीपकिरीटिनिहितानां तेषां मेदोमांसैरयमहं
 दिशां दिग्विस्थितभूतानां बलिं करोमीत्यर्थः । अयमेतत्क्षणवर्त्येव । भद्राश्वत्थाम्नः
 क्रोधस्यार्जुनादिरसंभ्रमजम् । तद्वर्षमनुदीपनम् । दृष्टमनुमतम् । ५. अनु

१. रौद्र इति । क्रोधस्याधिभावो दिग्दालम्बनकस्तदपकारापुरीषिणो विकल्पनाच-
 नुभाभिणो गवोदिसंचारिणो रौद्र इति ॥

२. कृतमिति । इह रौद्रसम्बन्धनशुभा वृत्तिर्नोस्ति, अतः ‘नवोच्छ्रितिवयोवनपुनर-
 दरावंगवन्वरे मदीयगुरुकार्मुकं गलिगताष्वसं वृधति । अथ पशु निर्दयं दलितदृष्टमृध-
 दलरजलमुधिरपसरौ मम परमथो भैरवः ॥’ इत्युदाहार्यम् । एषा च राममद्रं प्री-
 परानुरामस्योक्तिः । अत्र महोरुता वृत्ती रौद्रस्य परमोज्ज्वलिता परिपुण्यति ॥

३. ‘अच्छावन विरोधी स्यात्’ इ. ४. ‘हन्तिच्येवराक्षसपराजयानुभावनम् । मोहामर्षादयामुपा-
 देगदिष्वाविचरिणम्’ इ. इति ग.

अस्य युद्धवीराद्वेदमाह—

रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः ॥ २३१ ॥

अथ वीरः—

उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्याग्निभावकः ।

महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः ॥ २३२ ॥

आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः ।

विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योदीपनरूपिणः ।

अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः ॥ २३३ ॥

संचारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाश्वाः ।

सं च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात् ॥ २३४ ॥

सं च वीरो दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीरो दयावीरश्चेति चतुर्विधः ।

तत्र दानवीरो यथा परशुरामः—

रौद्रयुद्धवीरयो रिपुरालम्बन विभाव इत्यनयोरभेद एवापतित इति तयोर्भेदं दर्शयितुमाह—अस्येति । रौद्रस्येत्यर्थः । रक्तास्यनेत्रताव्यङ्ग्य क्रोध एव भेदः । तथा चोभयत्र रिपुरालम्बनत्वेऽपि क्रोधाविर्भावे रौद्र, उत्साहाविर्भावे वीर इत्यनयोर्भेद इति भावः ॥ वीररत्नमाह—उत्तमप्रकृतिरिति । उत्तमा धीरोदात्तरूपा प्रकृतिर्नामको यत्रेत्यर्थः । यद्वा उत्तमा चमत्कारातिशयाधायकतया रसान्तरादुत्तमप्रकृति स्वभावो यस्येत्यर्थः । विजेतव्यादिचेष्टाद्येत्यादिना दाने सत्त्वाध्यवसायादेर्धर्मे धर्मशास्त्राध्ययनादेर्दयाया दीनस्य कातरोक्त्यादेर्ग्रहणम् । सहायः सहकारी । सं च युद्धे सैन्य दाने वित्त धर्मे द्रव्यमन्त्रादि दयाया त्यागादि । रोमाश्वास्य संचारिभावत्वाभावात्तजनकहर्षे लक्षणा । सं चेति । वीरश्चेत्यर्थः । दानादायु-

१. सं चेति । सं च चतुर्धेति प्रायोवादः । 'राज्यं च-' (५० १८९) इत्यत्रैव 'ते प्रकाम विद्वत्ता मा भूत्सत्यस्य विद्वत्' इत्युत्तरार्थग्यत्वासेन शोकान्तरतानयने सत्यवीरस्यापि समवादः । न च सत्यस्यापि धर्मान्तर्भावान्न धर्मवीरस्यैव तद्वीरस्याप्यन्तर्भाव इति वक्तुं युज्यते । दानदययोरपि धर्मान्तर्भावतया तद्वीरयोरपि धर्मवीरत्वमप्यगमनानौचित्यात् । एव पाण्डित्यवीरबलवीरादयोऽपि संभवन्ति । तत्राहो यथा—'अपि वक्ति गिरापति स्वयं यदि तासामधिदेवतापि वा । अयमसि पुरो हयाननसरणोल्लङ्घितवाद्यायान्मुधि ॥' अत्र ग्रीष्मत्याचालम्बन समादशेनोद्दिष्टो निखिलविद्रुचिरस्कारानुभावितो गर्वेण संचारिणा परिपोषितो वक्तुरुत्साहः प्रतीयते ॥

२. दानवीर इति । अत्रेदमुदाहरणम्—'नियदिदमधिकं मे यद्विजायार्थयित्रे कव-

१ 'आलम्बन-' इत्यादि- 'रोगाया' इत्यन्तस्य पाठस्य स्थाने 'मतिनेतृत्वं तुल्यलम्बनोदीपना विवतः । चातुर्धर्मात्रणधैर्यमसादाययुगायम् ॥ क्रोधाभिमानहाउग्रमुखत्वमिचारिपरिपुष्टः ।' इति पाठो न पुस्तके २ 'स-' इत्यादि 'राज्य' इत्यन्तः पाठो नास्ति न पुस्तके.

‘त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः’ इति ।

अत्र परशुरामस्य त्यागे उत्साहः स्यादिति भावः, संप्रदानभूतब्राह्मणै-
राळम्यनविभावैः सत्त्वाध्यवसायादिभिश्चोद्दीपनविभावैर्विभावितः, सर्व-
स्वत्यागादिभिरनुभावैरनुभावितो, हर्षघृत्यादिभिः संचारिभिः पुष्टिं नीतो
दानवीरतां भजते ।

उत्साहसंभवादिति भावः । ‘त्याग इति । सप्तभिः समुद्रैर्मुद्रिता वेष्टिता या मही
तस्या निर्व्याजं निरुपाधि यद्दानं तदेवावधिर्यस्य सः । सत्त्वस्य गुणविशेषस्य

चमरमणीयं कुण्डले चापंयामि । अकरुणमवकृत्य द्राकृपाणेन नियंत्रहलकधिरभार मौलि-
भावेदयामि ॥’ इति । यथा दिजवेपाय शक्यं कवचकुण्डलशान्तेष्वस्य कर्णस्य तद्दान-
विसितान्त्वम्याग्राशुक्तिः । अत्र याचमानं आळम्बनम् । तदुदीरिता स्तुतिरुद्दीपिका ।
कवचादिवितरणं तत्र लघुत्वमुच्चादिकं चानुभावः । मे इत्यर्थांतरसंक्रमितवाच्यध्वन्यु-
त्थापितो गर्वः स्वकीयलोकोत्तरपितृजन्यत्वादिरहितश्च संचारिणौ । वृत्तिरप्यत्र तत्तदर्थ-
नुरूपोद्गमविरामशालितया सहृदयैकचमरकारिणी । तथाहि—उत्साहोपपन्नं कवचकुण्ड-
लापणदोर्लघुत्वनिरूपण विधातुं पूर्वापेक्षं तदनुकूलशिविलब्धवारिमहा । उत्तरापेक्षं तु मी-
लितः प्राग्वक्तृगतमर्वात्साहपरिपोषणायोक्तता ततः परं ब्राह्मणे सनिवसत्वं प्रकाशयितुं
तन्मूलीभूतं गर्वराहित्यं ध्वनयितुं पुनः शिथिलेन । अतएव ‘आवेदयामि’ इत्युक्तम् ।
न ह्यु दद्यामि वितरामीति वा । इदं तु नोदाहरणीयम्—‘यत्सोदामदिपालिशार्थविलत-
ज्ञानप्रवाहमयामाकर्ण्यनिमग्नलगतविषद्वन्द्वीन्द्रबुन्दावनात् । ईष्यान्तिभरपुष्टरोमनिक-
रव्यावशगदूधःस्रवणीयूपप्रकरैः सुप्रेन्द्रसुरभिः प्रावृष्टपयोदायवे ॥’ अत्रेन्द्रसभामध्यगत-
सुकलनिरीक्षकालम्बनः, अवनिमग्नलगतविषद्वन्द्वीन्द्रबदनयिनिर्गतदानदानवर्गनोदीपिनः,
उधःप्रस्तुतपीयूषप्रकरैरनुभावितः, अक्षुणादिसंचारिभिः परिपोषितोऽपि कामगवीगत
उत्साहो राजस्तुतिगुणीभूत इति न रसध्वन्येव हेतुः । अतएवेदमपि नोदाहरणम्—
‘साग्निद्वीपकुलाचला वसुमतीमाक्रम्य सप्तान्तरां सर्वां यामपि ससितेन हरिणा मन्दं
समालोचिनः । प्रादुर्भूतपरमभोदविदलद्रोमाग्निमस्त्युष्णं ध्यानप्रीकृतकंधरोऽमुखावरो भोलि
पुरो न्यस्तवान् ॥’ इदं तु भगवद्भक्त्यालम्बनः, तत्कृतकमन्दमिरीक्षणीयोरुदीपितः, रोमा-
घादिभिरनुभावितः, हर्षादिभिः पोषितः, उत्साहो व्यव्यमानोऽपि गुणः । प्राग्वक्तृगत-
स्त्वैव प्रकृते राजगणस्यापि तस्य राजस्तुत्युत्कर्षकत्वात् । एतेन ‘त्यागः सप्तसमुद्र-’
इति प्रकृतोदाहरणं न रमणीयम् । तस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन रसध्वनिप्रसङ्गेऽनुदाहरणीय-
त्वात् । ‘उपठिर्जमदप्रियः स भगवान्देवः पिताकी शुंखीर्वं तत्र न मद्रिरामनुपमं
म्ययं हि तत्त्वर्नेभिः । त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः सत्यमदानोन्निपे-
भंगवतः मि मि न लोचोत्तरम् ॥’ इति तु पूर्णः श्लोकः ॥

धर्मवीरो यथा युधिष्ठिरः—

‘राज्यं च वसु देहश्च भार्या आतृसुताश्च ये ।

यच्च लोके ममायत्तं तद् धर्माय सदोद्यतम् ॥’

युद्धवीरो यथा श्रीरामचन्द्रः—

‘भो लङ्केश्वर ! दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते

कोऽयं ते मतिविभ्रमः सर नयं नाद्यापि किञ्चिद्गतम् ।

नैवं चेत्स्वरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजा पङ्किलः

पद्मी नैप सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धवन्धूकृतः ॥’

दयावीरो यथा जीमूतवाहनः—

‘शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।

तुष्टिं न पश्यामि तवापि तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ! ॥’

एष्वपि विमावादयः पूर्वोदाहरणवद्व्याः ।

अथ भयानकः—

‘भयानको भयस्यायिभावो भूतोधिदैवतः ।

स्त्रीनीचप्रकृतिः कुण्णो मतस्तत्त्वविशारदैः ॥ २३५ ॥

अध्यवसाय उद्वेक । आदिना प्ररोचनादेर्महणम् ॥ राज्यं चेति । उद्यतमुपयुक्तम् । अत्र युधिष्ठिरस्य वैदिककर्मण्युत्साह एतादृशोक्त्यानुभावेनास्त्रायमानः सामाजिकानां रसतामापद्यते ॥ भो इति । रावणं प्रति श्रीरामस्योक्तिरियम् । नयं नीतिम् । पतं नष्टम् । एवं जनकजादानम् । पद्मी शरः । आत्मनोऽसह्यं पद्मिण्यारोपितम्, रिपुहन्ते तस्य प्रधानोपायत्वसूचनाय । ज्याबन्धवन्धूकृतः शुष्ययोजितः । अत्र श्रीरामस्य युद्धोत्साह एतादृशोक्त्यानुभावेनास्त्रायमानः सामाजिकानां रसतामापद्यते ॥ शिरामुखैरिति । नादीच्छेदैरित्यर्थः । मम जीमूतपाहनस्य । गरुत्मन्निति श्येनरूपधारिणः शकस्य संबोधनम् । अत्र जीमूतपाहनस्य कपोतरूपधारिधर्मात्मकपरदुःखप्रहरणोत्साहः । स्वदेहमांसत्यागानुभावेनास्त्रायमानः सामाजिकानां रसतामापद्यते ॥ भयानकरसमाह—भयानक इति । स्त्रीनीचप्रकृतिरिति । स्त्रीनीचनायक इत्यर्थः । ‘बाल्मीनीनीचनायक’ इति द्रुपदो-

१. भयानक इति । भयस्यायिभावो विकट्यापाद्यन्वनकस्तद्विकटकर्मायुरीतिप्रः पश्यापनापनुभावितो जडतादिसंचारितो भयानक इति ॥

२. भूतेति । ‘कामदेवो भयानक’ इति भरतोरन्या ‘कामाधिदैवतः’ इति पाठः ।

३. स्त्रेति । शृङ्गारशैलककर्तृ रद्रमदस्य कथनारित्यर्थः ॥

१. ‘सु-’ इति सञ्ज्ञितं नास्ति अनुशङ्के. २. ‘कामाधि-’ क-स्य च. ३. ‘भूतान्योऽप्यनुप-’ इति ॥ ४. ‘भयान-’ इत्यादि ‘सूचनाय’ इत्यत्र पुल्लिङ्गो नास्ति.

यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बनं मतम् ।

चेष्टा घोरतरास्तस्य भवेदुद्दीपनं पुनः ॥ २३६ ॥

अनुभावोऽत्र वैवर्ण्यगद्गदस्वरभाषणम् ।

प्रलयस्वेदरोमाञ्चकम्पदिकप्रेक्षणादयः ॥ २३७ ॥

जुगुप्सावेगसंमोहसंत्रासग्लानिदीनताः ।

। शङ्कापसारसंभ्रान्तिमृत्यवाद्या व्यभिचारिणः ॥ २३८ ॥

यथा—‘नष्टं वर्षवरैः—’ इत्यादि (१०३ पृ.) ।

अथ बीभत्सः—

जुगुप्सास्याधिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः ।

नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृतः ॥ २३९ ॥

दुर्गन्धमांसरुधिरमेदांश्चालम्बनं मतम् ।

तत्रैव कृमिपाताद्यमुद्दीपनमुदाहृतम् ॥ २४० ॥

‘निष्ठीवनास्यवलननेत्रसंकोचनादयः ।

अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ॥ २४१ ॥

मोहोऽपसार आवेगो व्याधिश्च मरणादयः ।

यथा—

‘उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोभभूयांसि मांसा-

न्यंसस्फिष्टपृष्ठपिण्डाद्यवयवमुलभान्युग्रपृतीनि जग्ध्वा ।

केर्बालनायकत्वमपि बोध्यम् । तस्यालम्बनस्य । संभ्रान्तिरन्नाद ॥ नष्ट-
मिति । अत्र वर्षवरदीना बीचाना वानरवेपेणान्त पुरप्रविष्ट विदूषकमालोक्य
जायमानं भयं नाशायनुभावेनास्त्रायमान सामाजिकाना रसतामापद्यते । द्वीना-
यको यथा—‘इदं मपोन कुलिशं धारासनिहितावनम् । स्मरणं यस्य दैत्यव्राग-
र्भपाताय कल्पते ॥’ बालनायको यथा—‘घोरमम्भोधरध्वान निशम्य प्रजवा-
लका । मातुरद्वे निलीयन्ते सकम्पविहृतस्तरा ॥’ बीभत्सरसमाह—जुगुप्सेति ।
निष्ठीवनं धूत्प्रक्षेप । आस्यवलनं मुरासवरणम् ॥ उत्कृत्योत्कृत्येति । स्मरणे

I. बीभत्स इति । जुगुप्सास्याधिभावको विष्मृतायालम्बनरो दुर्गन्धापुदीपितो
निर्धवनाद्यनुभावितो ग्लान्यादिसंचारितो बीभत्स इति ॥

१ ग-पुच्छे ॥ ‘वक्ष्यन्—’ इत्यादेः ‘—व्यभिचारिणः’ इत्यस्य स्वभावे—‘व्याघ्राद्यालम्बनरसोऽप्युद्दी-
पितो मतः । कम्पप्रसदोभाधमीत्याद्युभायकम् ॥ अत्रतादीनताकाशमोहादिव्यभिचारिणः’ इति
पटः, २ ग-पुच्छे ॥ ‘घीरावहानिरामन्—’ इति शालुस्तत्राद्यमुदाहृतम्, ३ ‘निष्ठे ॥ क-प-
४. ‘कृमिपाताद्यमुद्दीपनमुदाहृतम्’ ॥ ५. ‘निष्ठीवनास्य—’ इत्यादेः ‘मरणादयः’ इत्यस्य
रसने ‘निष्ठेपुष्पज्ज्वालेन मोहाय व्यभिचारिणः’ इति पाठो ग-पुच्छे

आतः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्गः करङ्गा-
दङ्गस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमति ॥^१

अथाहुतः—

अहुतो विसयस्याधिभावो गन्धर्वदैवतः ॥ २४२ ॥

पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम् ।

गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः ॥ २४३ ॥

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चगद्गदस्वरसंभ्रमाः ।

तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ॥ २४४ ॥

वितर्कावेगसंभ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः ।

यथा—

‘दोर्दण्डाश्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावमङ्गोद्यत-

ष्टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।

शयं भुज्जानं प्रेतं हृष्टा माधवस्योक्तिरियम् । अयं प्रेतरङ्गः प्रेतदरिद्रः अङ्गस्यात् क्रोड-
स्थात् करङ्गात् शृतकारीयत् अस्थिसंस्थं स्थपुटगतं ग्रन्थिसंस्थमपि क्रव्यं मांसम्,
अव्यग्रमव्याकुलं यथा स्नातया अतीत्यन्वयः । क्रमेण भक्षणादव्यग्रता । भक्षण-
क्रममाह—उत्कलेति । प्रथमं वृत्तिं चर्म उत्कल्योत्कल्य पुनः पुनश्छित्त्वा अतीत्य-
नेनान्वयः । अधानन्तरम् । पृथूच्छोथेन महोत्फुल्लतया भूयांसि बहुलानि । अंसः
स्कन्धः । सिक् नितम्बः । आदिना ऊरुपरिग्रहः । अंताद्यवयवेषु सुलभानि उग्र-
पूतीनि उत्कटदुर्गन्धीनि जग्ध्वा भुक्त्वित्यन्वयः । स्थपुटगतस्यार्क्यणादार्तत्वं
तदावर्पणार्थं च दशनप्रच्छदनम् । कश्चिदाच्छिद्य नेप्यतीति भयापर्यस्तनेग्रन्थम् ।
‘करङ्गोऽस्थिशेषं शिरः स्थपुटो विन्दगमीरभागः’ इति चण्डीदासः । अत्र माध-
वस्य जुगुप्सा शवप्रेताभ्यामालम्बनाभ्यां पूतिगन्धाद्युद्दीपनेन तादृश्या आक्षे-
पलभ्येन निष्पीडनादिना चानुभावेन तथैव मोहादिव्यभिचारिणा च संवर्तितो
भीमस्तो रसः ॥ अहुतरसमाह—अहुत इति । लोकातिगं लोकातिवर्ति ॥
दोर्दण्डेति । दीर्घकालव्यापकेन हरधनुष्टम्भेण विसितस्य लम्बनस्योक्तिरियम् ।
दोर्दण्डाभ्यामधित आकुञ्चितो यच्चन्द्रशेखरस्य हरस्य धनुर्दण्डस्तस्यायमहाय उद्यत
उद्गतः । आर्यस्य शौर्यस्य बालचरितानां प्रस्तावनायां गाने डिण्डिमो पाद्यभेदः ।

१. अहुत इति । विसयस्याधिभावो विसयवनककर्मकशालम्बनयो विसय-
वर्मादरीरितप्रकृताद्यनुभाविनो हर्षादिर्मचारिणोऽमुत इति ॥

२. गन्धर्वेति । नात्यशक्तेषु ‘अहुतो गन्धर्वदैवतः’ इति इत्यये ॥

३. करङ्ग इति । ‘करङ्गमस्तके’ इति मेदिनी । ‘करङ्गः प्रेतरङ्गीरम्’ इति केचित् ॥

१. ‘तमेव च गुणोक्तं शरीरधनुर्दीपनम् । रोमचण्डगुणोऽयं कश्चदिव्यभिचारिणः’ इति ता.

द्राक्पर्यस्तकपालसंपुटमिलद्ब्रह्माण्डमाण्डोदर-

आम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥'

अथ शान्तः—

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः ॥ २४५ ॥

कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः ।

अनित्यत्वादिनाशेषवस्तुनिःसारता तु या ॥ २४६ ॥

परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते ।

पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः ॥ २४७ ॥

महापुरुषसद्भावास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।

रोमाञ्चाद्याश्चानुभावास्तथा स्फुर्यन्मिचारिणः ॥ २४८ ॥

निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः ।

यथा—

‘रथ्यान्तश्चरतस्तथा धृतजरत्कन्यालवस्याध्वगैः

सत्रासं च सकौतुकं च सदयं दृष्टस्य तैर्नागरैः ।

निर्व्याजीकृतचित्सुधारसमुदा निद्रायमाणस्य मे

निःशङ्कः करटः कदा करपुटीमिक्षां विलुण्ठिष्यति ॥’

पर्यस्त उरिक्षत कपालसंपुट पियानपात्राद्वरप्रह्माण्डोपरिभागे तेन द्राक् अटिति मिलरसगच्छमान ब्रह्माण्ड एव भाण्ड इत्यस्याली तस्योदरे आम्यन् अतएवं पिण्डितो बहुलीकृतचण्डिमा महत्त्वं यस्य । अद्यापि इदानीमपि । शरावाच्छमस्य स्थालीमध्ये जायमान शब्दो बहुलो भवतीत्यभिप्रायेणेदम् । अत्र लक्ष्मणस्य विस्मयो धनुश्चक्रालम्बनेन तस्यातिदीर्घत्वगुणोद्दीपनेन एतादृशतया अनुभावेनैव व्यक्त आश्चर्यरसतामापयते ॥ शान्तरसमाह—शान्त इति । अत्र निर्वेद-स्थायिभाव । एतत्पक्षे अवमाननीयत्वमेवालम्बनम् । निर्वेदस्य व्यभिचारित्वेन स्थायित्वायोगात्, शमस्य स्थायित्वेनानुमूयमानत्वाच्च अन्यश्रुता तदुपेक्षितम् । रोमाञ्चाद्या इत्याद्यपदेन दयादीनामपि ग्रहणम् ॥ रथ्यान्तरिति । कस्यचिद्वा तनिर्वेदस्योक्तिरियम् । रथ्या गृहसमीपदेश, तन्मध्ये चरतो निद्रार्थे प्रमगः । अध्वगैर्नागरैश्च भीम-गवेपदसंज्ञेन प्राप्त, अनुपादेयकन्यावधारणेन कौतुह्यम्, दीनत्वेन दया । निर्व्याजीकृत क्रमादिनाशेन निष्प्रतिबन्धकीकृतो यधिसुपाया शनागृतस्य रस आस्तादस्तस्य मुदा तत्त्वग्यानन्देन निद्रायमाणस्य मुदितनेत्रस्य ।

1. उपेक्षितमिति । अत्र ब्रह्मण्य तत्र ‘शमो निरीतावन्नापाय’ इत्यत्र मित्रम् (१६९ पृ.) ॥

पुष्टिस्तु महाभारतादौ द्रष्टव्या ।

निरहंकाररूपत्वाद्यावीरादिरेष नो ॥ २४९ ॥

दयावीरादौ हि नागानन्दादौ जीमूतवाहनादेरन्तरा मलयवत्याद्य-
नुरागादेरन्ते 'च विद्याधरचक्रवर्तित्वार्चासिर्दर्शनादहंकारोपशमो न
दृश्यते । शान्तस्तु सर्वाकारेणाहंकारप्रशमैकरूपत्वान्न तत्रान्तर्भावम-
र्हति । ततश्च नागानन्दादेः शान्तरसप्रधानत्वमपास्तम् । ननु—

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेपरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु सैमप्रमाणः ॥'

इत्येवंरूपस्य शान्तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपपतिलक्षणायां प्रादु-
र्भावाच्च संचार्यादीनामभावात्कथं रसत्वमित्युच्यते—

युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः ।

रसतामेति तदसिन्संचार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा २५०

'निर्बीजीकृत—' इति पाठेऽपि बीजं वासना तच्छून्यीकृतत्वार्थः । करटः काकः ॥
ननु शान्ते दयाद्यतिशयसंभवेन दयावीरादिरेवायमित्यत आह—निरहंकाररू-
पत्वादिति । आदिना धर्मवीरदेवताविषयवृत्तिप्रवृत्तीनां ग्रहणम् । एष शान्त-
रसः । तथा चाहंकारसंबलितो दयादिरेव दयावीरादिर्षट्कं । तदितरः शान्तरस
इति विशेषः । ततश्चेदृशविशेषावधारणाच्च । नागानन्दे दयावीरादिप्रधाने ग्रन्थ-
विशेषे ॥ न यत्रेति । द्वेषो रिपूणामपचिकीर्षा । रागः सुहृदामुपचिकीर्षा । इच्छा
वैषयिकसुखतदुपायेच्छा । भावेषु पैदायेषु लोष्टर्कयनादिविमावादिषु सप्त रोग-
द्वेपराहित्येन सममविषमं प्रमाणं प्रतीतिर्वेन । 'शमप्रधानः' इति पाठस्तु न मनो-
रमः, अर्यासंगतेः । तादृशदशायाम् व्यभिचारिभावादीनामसमवाद् । शम एव
स्थायितया प्रधानं यत्र सः । आत्मस्वरूपपतिलक्षणायां परमात्मस्वरूपत्वप्राप्ति-
रूपायाम् ॥ युक्तवियुक्तेति । विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य साक्षात्कर्तव्ये वस्तुनि मनो
निधाय वर्तमानदिन्यासंतानवान् युक्तः । यस्य योगजधर्मतद्गृह्यतेन मनसा जिज्ञा-
सितवस्तुसाक्षात्कारो जायते । यद्य भूतेन्द्रियजयी अणिमायाः क्षमजिदीर्घश्रव-
णायांवेन्द्रियसिद्धीरासादितवान् रामाध्यन्वितो वियुक्तः । यस्य च योगजधर्म-

१. स पूयेति । तादृशशम एव स्वादिभावो रसता उच्यते इत्यर्थः ।

१. 'पुष्टि—' इति पक्षेऽपि नाति क-पुष्टिके. २. 'मस दयावीरादौ' संचार्यादेरन्ते' इत्यपि क-पुष्टिके. ३. 'नागानन्दादौ' इति नाति क-पुष्टिके. ४. 'निरहंकारो' क. प. ५. 'आदि-
नुरागादौ' नाति क-पुष्टिके. ६. 'लोक्यते' ग. ७. 'तत्र च वनविद्युद्वर्ति' ग. ८. 'नन्दे'
क. प. ९. 'शमप्रधानः' क. ल. १०. 'पदायेषु' नाति पुष्टिके. ११. 'लोष्टर्कयनादि'
नाति पुष्टिके. १२. 'राम—' इत्यपि 'असंनय' इत्यतः शब्दो नाति पुष्टिके.

साहि = १७

यश्चासिन्सुखभावोऽप्युक्तस्तस्य वैषयिकसुखपरंत्वात् विरोधः ।
उक्तं हि—

‘यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥’

‘सर्वाकारमहंकाररहितत्वं व्रजन्ति चेत् ।

अत्रान्तर्भावमर्हन्ति दयावीरादयस्तथा ॥’

। आदिशब्दाद्धर्मवीरर्दानवीरदेवताविषयरेति प्रमृतर्यः ।

तत्र देवताविषया रतिर्यथा—

‘कदा वाराणस्यामिह सुरघुनीरोषसि वस-

न्वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम् ।

अये गौरीनाथ ! त्रिपुरहर ! शंभो ! त्रिनयन !

प्रसीदेति क्रोशन्निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ॥’

अथ मुनीन्द्रसंमतो वत्सलः—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।

स्थायी वत्सलतास्त्रेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥ २५१ ॥

सहकृतानि बाह्येन्द्रियाणि स्वे स्वे विषये महत्त्वसन्निकर्षादिसहकारिनिरपेक्षानि पतुन्तं
न एव सुखविषयकः । तद्देशायामित्यर्थः । अस्मिन्शान्तरसे ॥ नन्वत्र शमरूपमुप
सत्त्वेन न सुखमित्यसंगतमत आह—यथेति । तृष्णाक्षयमुदास्य शममुदास्य
एते कामसुखदिन्यसुखे ॥ सर्वाकारं सर्वप्रग्ररम् । एतेनाहंकारप्रामाण्यामानः प्रती
यते । (संवेति । सर्वं देहेन्द्रियादि आकार आश्रयो यस्य तत्तथा । अहंकारोऽ
भिमानः, तद्गृहीतव्यं तद्भावं व्रजन्ति । दयावीरादिनायका इति शेषः । यदि
दयावीरादिनायका देहेन्द्रियादिविषयकानिमानशून्या भवन्ति, तदा दयावीरादयो
रसा शान्तरसप्रसङ्गा भवन्तीति तदर्थः । अभिमानस्य देहेन्द्रिययोरहमित्यारोपः ।
देहादिसंयन्धिनि पुत्रादौ मनेत्यारोपः ।) अत्र शान्तरसे ॥ तत्रेति । शान्तर
शान्तरभूतेषु दयावीरादिषु मध्ये । शान्तरगम्यन्तर्गतदेवताविषयपरतिरित्यर्थः
कदेति । यस्यचिच्छेद्यस्योक्तिरियम् । अत्र कौपीनपरिधानेच्छया अहंकारनिवृत्तिः,
प्रतीयते ॥ केषाभिन्मतं वत्सलरसमाह—स्फुटमिति । तत्स्फुटमित्यर्थः । विदुः

१. 'दि' वत्सलमवयवार्थं शुद्धमिति' इति ग. २. तथा 'कोट्य' ग. ३. 'इति' इत्यधिक त.
पुनरे. ४. 'दायवीर' इति काचित् म-पुच्छे. ५. 'रतिनायका' ग. ६. 'निरहंकारपर्यंतीतो' व
अमरप्रति, इत्यदि म-पुच्छे. ७. 'देवा' शिवपरिवन्दका' ग. ८. 'तत्र रसपी' म-पुच्छे. इति
९. 'वर्णे' इत्यप्यत्र 'अभेदात्परोक्ष' इत्यत्रां तां पुनश्चोक्तेरिति मतिः, कोट्यवयव इव प्रतिपत्ति

उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः ।

आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्शशिरश्रुम्बनमीक्षणम् ॥ २५२ ॥

पुलकानन्दवाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ।

संचारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयो मताः ॥ २५३ ॥

पद्मगर्भच्छविर्वर्णो दैवतं लोकमातरः ।

यथा—

यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम् ।

अमूच नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुमुदं तेन ततानं सोऽर्भकः ॥

एतेषां च रसानां परस्परविरोधमाह—

आद्यः करुणवीभत्सरौद्रवीरभयानकैः ॥ २५४ ॥

रिति । केचित् इति शेषः । अन्ये पुनरस्य भावकान्यत्वमेवेच्छन्ति । तत्र । चम-
त्कारातिशययोगेन रसत्वस्यैव युक्तत्वात् । वरसलता प्रेम, वरसहितः स्रोतो रतिः ।
सा च लालनपालनादीच्छा । पुत्रादीत्यादिना आश्रादिग्रहणम् । आश्रालम्बनो यथा—
'देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च गान्धवाः । तं तु देशं न पर्यामि यत्र आता
सहोदरः ॥' इति । अत्र श्रीरामस्य आतृप्तेहस्ताहशोक्त्या अनुभावेनाज्ञायमानो
रसतामेति । केचित्तु 'सहोदरः इति सहः संग्रामसहः, अदरो निर्भयं' इति व्या-
कुर्वन्ति, तन्मते तदुभयमुद्दीपनमिभावः ॥ यदाहेति । पितुर्दिलीपस्य । स रघुः ।
अत्र दिलीपनेहस्य रघुरालम्बनम् । पादत्रयोक्ता तच्चेष्टा उद्दीपनम् । अन्येषामाक्षेपा-
क्षमः । अत्र रसानां तत्तद्वर्णकथनं तत्तदेवताभिप्रायेण ॥ आद्य इति । आद्यार

१. अन्ये इति । काव्यप्रकाशानुयायिनः । तेषामवयवभिप्रायः—'यदाह धात्र्या-'
इत्यादिषु वात्सल्यलक्षणा रतिरेव जायते । न तेन वरसलो रसोऽङ्गीकरणीयः । भावदे-
नैव गतार्थत्वात् । यदि स च रसत्वव्यपदेशमर्हति तदा भगवदालम्बनो रोगाद्याद्यनु-
भाविता इर्ष्यादिसंचारितो भागवतादिश्रवणसमये भगवद्भक्तैः रक्तमनुभूयमानो भक्ति-
रसः कुतो न स्यात् । भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चान्न स्वाभिभावः । उक्तं च शास्त्रिण्य-
मुनिना—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इति । न चायं ज्ञानेऽन्तर्भवति । अनुरागस्य वैरा-
ग्यविरुद्धत्वात् । नन्वसावपि रसत्वव्यपदेशं लभतां का द्युतिरिति चेत् । न । अन्यदेवो-
पपत्तौ मुनिशासनातिक्रमेण रसानां नवत्वाधिककल्पने मानामावादिति संक्षेपः ॥

१. 'तच्चेष्टोद्दीपनं' प्रोक्तमनुभावात्तथा पुनः । अनुभावात्तरोमाङ्गश्रुम्बनाङ्गिदयादयः । अतुल्यपु-
त्रिदोषात् कथितानि चमत्कारिणः । इति शेषोपमलस्य देवं लोकमातरः' इति यः । २. क-पुल्लो-
पु 'यदाह—' इत्यादि शब्द 'यदेहि वत्स रघुनन्दन पूज्यं पुत्रं यि मूर्धनि पितं च परिचये स्तम् ।
आरोह वा इदि रिक्तनिशुन्रहमि कथेऽमश चरणपुच्छरक्तद्वं ते ॥ इति श्लोको दत्तमे । ३. 'तेषां
च' इत्यादि 'उन्माद' इत्यादि पाठो न-पुच्छके नास्ति ।

भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोधमाक् ।

करुणो हास्यशृङ्गाररसाभ्यामपि तादृशः ॥ २५५ ॥

रौद्रस्तु हास्यशृङ्गारभयानकरसैरपि ।

भयानकेन शान्तेन तथा वीररसः स्मृतः ॥ २५६ ॥

शृङ्गारवीररौद्राख्यहास्यशान्तैर्भयानकः ।

शान्तस्तु वीरशृङ्गाररौद्रहास्यभयानकैः ॥ २५७ ॥

शृङ्गारेण तु बीभत्स इत्याख्याता विरोधिता ।

आद्यः शृङ्गारः । एषां च समावेशप्रकारा वक्ष्यन्ते ।

कुतोऽपि कारणात्कापि स्थिरतामुपयन्नपि ॥ २५८ ॥

उन्मादादिर्न तु स्थायी न पात्रे स्थैर्यमेति यत् ।

यथा-विक्रमोर्वश्यां चतुर्थेऽङ्के पुरुरवस उन्मादः ।

रंसभाषौ तदाभासौ भावस्य प्रश्नमोदयौ ॥ २५९ ॥

संधिः श्वलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः ।

रसनघर्मयोगित्वाद्भावोद्विष्वपि रसत्वमुपचारादित्यभिप्रायः ।

इत्यर्थः । विरोधमाक् इत्यग्रेणान्वयः । शोकशुगुप्ताभयसत्त्वेन रतेरसंभवादिति भावः । एवमग्रेऽपि । तादृश इति विरोधमाक् । स्थानत्रये 'विरोधमाक्' इत्यनेनान्वयः ॥ ननु शृङ्गारादावुन्मादादेरपि संभवात्कथं रत्यादिस्थायिभावत्वं नियतमित्यत आह—कुतोऽपीति । कापि तद्रसविशेषे । पात्रे तद्रसात्वावच्छिन्ने ॥ इदानीं रसपदस्य मुख्यलाक्षणिकार्यमेदशापनार्यमाह—रसभावादिति । रसनानादानन्दसंवलितज्ञानसंयन्धात् रसा रसपदप्रतिपाद्याः । उपचारादिति । रत्या-

१. भावादिविति । आदिपदेन भावादयः सप्त निर्दिष्टा एव शृङ्गान्ते, रसानुबन्धतया तत्रैवोपचाराद्यपस्यौचित्यात्, रसत इति दक्षितव्युत्पत्तिर्योगस्यापि तत्रैव तात्पर्यम् । एवं चादिपदार्थेन वा निरूपितव्युत्पत्तिबलेन भाव्यभेदनिरूपणावसरे वस्तुवर्तमानयो न शृङ्गान्त इति सूत्रमेक्षिकया निरीक्षितव्यम् । न स्यादप्येवम्, यदि 'विभावानुभावम्यनिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' (न. श. ६ अ.) इति रसशब्दो योगल्लो न भवेत् । अत एव रसनघर्मयोगमात्रेण यत्र कापि कविकर्मणि यथाकथंचित्परम्परया रसपदो निरस्तो रसगङ्गाधरकाशदिभिरित्युक्तं प्राक् (२१ पृ.) । यद्यु धर्मदत्तेन 'रसो मारक्षमाकारः—' इत्यादि प्रत्ययादि (७८ पृ.) कविराजैर्निरूप्यस्वाति तदपि वस्तुवस्तुकाररसादिष्वनिलक्षणे विद्यामयत्किं निश्चिन्त्यात् । तत्रापि यमकनिवृत्तमभाव इति चेत्, रसादपि तमेति किं भद्राकनिसंप्रदायाकुलीकरणेनेति ॥

भावादय उच्यन्ते—

संचारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः ॥ २६० ॥

उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ।

‘न’ भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।

परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः ॥'

इत्युक्तदिशा परमालोचनया परमविश्रान्तिस्थानेन रसेन सहैव

दिस्थायिभावानामिभावेन मुख्यलक्षणायोगादिति भावः । न चान्न देवादिविषय-
रतिसत्त्वात्कथं स्थायिभावाभाव इति वाच्यम् । कान्तादिविषयरतरेव स्यायित्वोप-
पादनात् ॥ संचारिण इति । यथा विभावादिरभिव्यक्तौ रत्यादिशिक्षिदानन्दचम-
त्काररूपत्वेन परिणतो रसतामापद्यते, तथा स्वकार्यकारणाभ्यामभिव्यक्तौ देवादि-
विषयरत्यादिशिक्षिदानन्दरूपतां प्राप्तो भावत्वं प्राप्नोति । चमत्कारसत्त्वासत्त्वाभ्यामन-
योर्भेद इति भावः ॥ संचारिभावानां प्रधानत्वमुपपादयति—न भावहीन इति ।

1. न भावेति । भावहीनो भावासंख्यितो रसो नास्ति । न भवतीत्यर्थः । यतो भावेभ्य ष्व स्यान्भाव्यशुण्भोगेन रसा निष्पद्यन्ते । तथा रसवर्जितो भावोऽपि नास्ति । तदुक्तम्—‘योऽर्थो हृदयसत्त्वादी तस्य भावो रसोद्भवः । शरीर व्याप्यते तेन शुष्कफाण- निवाणिना ॥’ इति ॥

[illegible]

वर्तमाना अपि राजानुगतविवाहप्रवृत्तमृत्यवदापाततो यत्र प्राधान्येना-
मिव्यक्ता व्यभिचारिणो देवगुनिगुरुनृपादिविषया च रतिरुद्धमात्रा
विभावादिभिरपरिपुष्टतया रसरूपतामनापद्यमानाश्च स्थायिनो भावा
भावशब्दवाच्याः । तत्र व्यभिचारी यथा—‘एवंवादिनि देवर्षौ—’
इत्यादि (१५५ पृ.) । अत्रावहित्या ।

देवविषया रतिर्यथा मुकुन्दमालायाम्—

‘दिवि वा सुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक ! प्रकामम् ।
अवधीरितशारदारबिन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ॥’

मुनिविषया रतिर्यथा—

‘विलोकनेनैव तवामुना मुने ! कृतः कृतार्थोऽसि निर्वर्हितांहसा ।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ॥’

राजविषया रतिर्यथा मम—

‘त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलीपटलपङ्किलम् ।
न घटे शिरसा गङ्गां भूरिभारभिया हरः ॥’

एवमन्यत् ।

मयंवादिनीति । देवर्षौ नारदे । अत्र शिवप्रसङ्गात्तद्वर्षसूचकस्य सुखरगादेर्ल-
ज्या नोपनमवहित्या । सा चाधोमुपत्यव्यङ्ग्यलज्जया धारणेन स्त्रीलाकमलपद्म-
गणरूपव्यापारान्तरसङ्गेन च क्षणिति प्रतीयत इति तस्याः प्रधानत्वम् । विभावा-
धीनामत्यन्ततिरस्कृतत्वेन शृङ्गारस्याप्रधानत्वम् ॥ दिवि घेति । हे नरकान्तक !
श्रीकृष्ण । मरणेऽपीत्यपिना इदानीम् । अत्र बहुः श्रीकृष्णमस्तीच्छा रतिः ॥
विलोकनेनेति । नारदं प्रति श्रीकृष्णस्योक्तिरियम् । निर्वर्हितांहसा विनाशितपा-
पेन ॥ त्वद्वाजीति । राजानं प्रति कस्यचिदुक्तिरियम् ॥ गुदविषया रतिर्यथा—
‘असाङ्गोऽग्रमहत्तरः क्रतुमुजामयायमाचो रविर्यज्यानो वयमय ते भगवती भूरस्य
राजन्यती । अय खं बहु मन्यते सहचरैरसागिरासण्डलो येनैतावदरुन्धतीपतिरपि
स्नेनानुपह्लावि नः ॥’ अत्र दशरथस्य वसिष्ठे शुरो रतिः ॥ पित्रोरपि गुदत्वात्तद्विषया
रतिर्यथा—‘जीवत्यु तातपादेषु नये दारपरिग्रहे । मातृभिधिन्यमानानां ते हि
नो दिव्या गताः ॥’ अत्र श्रीरामस्य पित्रो रतिः ॥ नृपाधीत्यादिपदेन मित्रादेर्मह-
णम् । सत्र मया—‘अय राज्यं मया प्राप्तमय पाती हतो मया । हरीणामय
पूरयोऽस्मि यद्भवान्मित्रतां गतः ॥’ अत्र सुधीयस्य धीरामे मित्रे रतिः । ‘आदि-
पदात्पुत्रादेरपि ग्रहणम्’ इत्यन्ये । तत्र । तद्विषयस्त्वत्वेर्वत्सलरसात्वेनेह ग्रन्थहता

उद्बुद्धमात्रस्थायिभावो यथा—

‘हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।

उमामुखे विम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥’

अत्र पार्वतीविषया भगवतो रतिः ।

ननूक्तं प्रपाणकरसवद्विभावादीनामेकोऽत्रामासो रस इति (८८५०)

तत्र संचारिणः पार्थक्यभावात्कथं प्राधान्येनाभिव्यक्तिरित्युच्यते—

यथा मरिचखण्डादेरेकीभावे प्रपाणके ॥ २६१ ॥

उद्रेकः कस्यचित्कापि तथा संचारिणो रसे ।

अथ रसाभासभावाभासौ—

अनौचित्यप्रवृत्तत्वं आभासो रसभावयोः ॥ २६२ ॥

अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिप्रणीतलक्षणानां सामग्रीरहितत्वे एकदेशयोगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम् । तच्च बालव्युत्पत्तये एकदेशतो दृश्यते—

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरूपत्नीगतायां च ।

बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ॥ २६३ ॥

दर्शितत्वात् ॥ हरस्त्विति । परिहृतेति हृतेत्यर्थः । अत्रेति । उमामुखावलोकनरूपानुभावमात्रेण व्यक्ता रतिरुद्दीपनविभावादिकृतपरिपोषादित्येन रसतां नापद्यत इति भावव्यपदेश एवाप्तोचित इति भावः ॥ अनौचित्येति । रसभावयोरनौचित्येन प्रवृत्तत्वे वर्तमानत्वे सति रसाभासो भावाभासश्चेत्यर्थः ॥ अत्र रसानानौचित्यमाह—अनौचित्यमिति । अनौचित्यपदमित्यर्थः । सामग्रीरहितत्वे त्रिभावादि-रूपयावत्कारणासत्त्वे । एकदेशयोगित्वं यद्विचित्रध्वनिसंबन्धः, तदुपलक्षणपरं तद्विधेयतासम्बन्धम् । तच्च अनौचित्यं च उपनायकेति । शृङ्गारे ‘दक्षिणायाश्च नायकाः’ इत्युक्तम् (१६९ पृ.) नायकलक्षणे (९७ पृ.) ‘कुन्तीनः’ इत्यनेन सत्कुलजातत्वम् । ‘शीलवान्’ इत्यनेन सद्भुतत्वं च नायकस्य लभ्यते । ‘नायकस्यामान्यगुणैर्भवति यथा-संभवैर्युक्ता’ (१०७ पृ.) इत्यनेन नायिकयाश्च सद्भुतत्वं न भवतीति तद्विषयशृङ्गारस्य तथोक्तनायकाभावादिकदेशयोगित्वम् । निषिद्धयोषित उक्ताः शृङ्गारतिलके—‘संबन्धिभिर्द्विजराजहीनवर्णाभिमानां प्रमदा न गम्याः । व्यस्यस्वस्था प्रमजिता विभिन्नमन्त्राद्य धर्मार्थमनोभवतैः ॥’ इति । एवं योषितामपि संबन्ध्यादयः पुरुषा निषिद्धाः । एवं च मुनिगुरूपत्नीगतायां चेति चकारेण संबन्ध्यादिपश्यो बोध्याः । उपनायकसंस्थायामित्यत्र संबन्ध्यादन्यतम उपनायको बोध्यः । अन्यथा ‘बहुनायकविषयायाम्’ इति ‘प्रतिनायकनिष्ठत्वे’ इत्यनयोपपादानं व्यर्थं स्यात् । बहुनाय-

प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते ।

शृङ्गारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगतकोपे ॥ २६४ ॥

शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये ।

ब्रह्मवधाद्युत्साहेऽधमपात्रगते तथा वीरे ॥ २६५ ॥

उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र ।

तत्र रतेरुपनायकनिष्ठत्वे यथा मम—

‘स्वामी मुग्धतरो वनं घनमिदं बालाहमेकाकिनी

क्षोणीमावृणुते तमालमलिनच्छाया तमःसंततिः ।

तन्मे सुन्दर ! मुञ्च कृष्ण ! सहसा वर्त्मनि गोप्या गिरः

श्रुत्वा तां परिरम्य मन्मथकलासक्तो हरिः पातु वः ॥’

केति । संबन्धादिभिर्वा अपि बहुनायका निषिद्धा इति भावः । अनुभयनिष्ठा-
यामिति । ‘विभिन्नमप्राध’ इत्यनेनान्यतरस्यां मतौ निषिद्धतापिति भावः ।
नायकस्य प्रतिपक्षः प्रतिनायकः । अस्य संबन्धादिभिस्तत्वेनानिषिद्धेऽपि भर्तुर-
नभिमतारणेनासद्भुतत्वं नायिकाया इति भावः । अधमपात्रेति । असत्कुलजा-
तनायक इत्यर्थः । तिर्यगादीति । तिर्यगादीनां नायकलक्षणाभावादिति भावः ।
रौद्र इत्यादौ ‘अनौचित्यम्’ इत्यन्वेति । ‘क्रोधात्मको भवेद्रौद्रः प्रतिशूरैरमर्षितः ।
रुद्धप्रायो भवेदत्र नायकोऽत्युग्रविग्रहः ॥’ इत्यनेन रौद्रे प्रतिशूरजनितक्रोधः । न
तु गुर्वादिरहितक्रोधो नायक इति भावः । हीननिष्ठे यणादिहीनविषये । ‘गतेच्छो
नायकस्तत्र तमोरुगपरिक्षयात्’ इत्युक्तनायकवैपरीत्यादनौचित्यमिति भावः ॥ ब्रह्म-
वधादीति । ब्रह्मवधादीनां वेदविरुद्धानामाचरणतया नायकत्वं न संभवतीत्यर्थः ।
अधमपात्रगत इति । ‘उत्साहात्मा भवेद्भीरो दयादागादिपूर्वकः । त्रिविधो नाय-
कस्तत्र जायते सत्यसंयुतः ॥ गाम्भीर्योदार्यशौरीर्यधैर्यवीर्योदिरूपितः । आवर्जितजनो
यथ विरुद्धप्रौढविक्रमः ॥’ इत्युक्तगुणहीननायकगत इत्यर्थः । उत्तमेति । ‘वाल-
क्षीनीचनायकः’ इत्यनेन बाल्यदिनायकत्वमेव भयानकस्योचितम् । एवमन्यत्रेति ।
अदेवदूतपात्रगते करणे, तत्त्वज्ञानपात्रगते धीमत्से, विशेषदर्शितपात्रगते आचार्ये,
अपभ्रयालम्बने घत्सवेऽनौचित्यं बोध्यमित्यर्थः ॥ स्वामीति । मुग्धतरोऽतिगूढः
मिलम्बे प्रहाणदिकं करोति, तथा बाल्यन्तसुरतानमिहः । घनमित्यनेन भयदत्तम्,
निविटतया जनदर्शनाभावेन सुरतयोग्यस्थानत्वं च सूचितम् । एकाकिनीत्या-
दिना गमने भयम्, स्वच्छन्दं रम्येति च सूचितम् । सुन्दरेति । पथिपरित्या-

बहुनायकनिष्ठत्वे यथा—

‘कान्तास्त एव भुवनत्रितयेऽपि मन्ये
येषां कृते सुतनु ! पाण्डुरयं कपोलः ।’

अनुभयनिष्ठत्वे यथा—मालतीमाधवे नन्दनस्य मालत्याम् ।

‘पश्चादुभयनिष्ठत्वेऽपि प्रथममेकनिष्ठत्वे रतेरामासत्वम्’ इति श्रीम-
ल्लोचनकाराः ।

तत्रोदाहरणं यथा—रत्नावल्यां सागरिकाया अन्योन्यसंदर्शनात्मा-
श्वत्सराजे रतिः ।

प्रतिनायकनिष्ठत्वे यथा—हयग्रीववधे हयग्रीवस्य जलक्रीडावर्णने ।

अधमपात्रगतत्वे यथा—

‘जघनस्थलनद्धपत्रवल्ली गिरिमल्लीकुसुमानि कापि भिल्ली ।

अवचित्य गिरौ पुरो निषण्णा स्वकचानुत्कचयांचकार भर्त्रा ॥’

तिर्यगादिगतत्वे यथा—

‘मल्लीमतल्लीषु वनान्तरेषु बह्व्यन्तरे बल्लभमाह्वयन्ती ।

चञ्चद्विपल्लीकलनादभङ्गीसंगीतमङ्गीकुरुते स भृङ्गी ॥’

आदिशब्दात्तापसादयः ।

गाय स्तवः, शय च स्वप्रियत्वं सूचितम् । अत्र श्रीकृष्णस्य संबन्धिधरत्वेन गोप्यास्तद-
नुरागोऽनुचित इति भावः ॥ ‘स्वामी निःश्वसितेऽप्यसूयति—’ इत्यादि (११६ पृ.)
परनायिकोदाहरणं तु न शृङ्गारभासः । तथात्वे शृङ्गारे परनायिकोदाहरणमनर्थकं
स्यादिति ध्येयम् ॥ जघनेति । गिरिमल्लीकुसुमानि कुटजपुष्पाणि । उत्कचयांचकार
यन्धयामास ॥ मल्लीति । मल्लीभिः प्रसृतेषु वनान्तरेषु वनमध्येषु । यत्तयन्तरे स्वा-
धिष्ठितलताभिधलतायां वर्तमानम् । सुरतार्यमाह्वयन्ती । चयत् प्रसादयन्निरवच्छिन्नं
विपल्लीकलनादभङ्ग्या वीणासूक्ष्ममधुरनादसादृश्येन विशिष्टं यत्संगीतं तदङ्गीकुरुते स
स्वरोदीपनोपकरणं कुरुते स । आदिशब्दात् ‘तिर्यगादिगतत्वे’ इत्यत्रादिपदात् ॥

१. पाण्डुरिति । इह कपोलपाण्डुमवर्णनेनानुरागो दर्शितः । स च बहुनायकनिष्ठ-
यत्त्वादनुचितः ॥

२. हयग्रीवेति । हयग्रीवास्यो बैलो निष्पन्ना इति कथाभिते काश्मीरकर्म-
मेष्टपणीते महाकाव्ये ॥

३. मल्लीति । वनान्तरेषु मल्लीमतल्लीषु । प्रसृतमल्लोपलस्यैः । (वर्तमाना) भृङ्गी
बह्व्यन्तरे (वर्तमानं) बल्लभं भृङ्गमाह्वयन्ती सतीति योजना रमणीया ॥

रौद्राभासो यथा—

‘रक्तोत्फुल्लविशाललोलनयनः कम्पोचराज्ञो मुहु-
 र्मुक्त्वा कर्णमपेतभीर्घृतघनुर्वाणो हरेः पश्यतः ।
 आध्मातः कटुकोक्तिभिः स्वमसकृद्वोर्विक्रमं कीर्तय-
 त्संसारस्फोटपटुर्युधिष्ठिरमसौ हन्तुं प्रविष्टोऽर्जुनः ॥’

भयानकाभासो यथा—

‘अशक्नुवन्सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम् ।
 प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय विभ्यद्विषानि कौशिकः ॥’
 स्त्रीनीचविषयमेव हि भयं रसप्रकृतिः । एवमन्यत्र ।

भावाभासो लज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात् ॥ २६६ ॥

स्पष्टम् ।

भावस्य शान्ताबुदये संधिमिश्रितयोः क्रमात् ।

भावस्य शान्तिरुदयः संधिः शबलता मता ॥ २६७ ॥

रक्तोत्फुल्लेति । कर्णं सूतपुनं प्रतिशरम् । ‘हरेः’ इत्यनादरे पशु । पश्यन्तं
 कृष्णमनादित्येत्यर्थः । आध्मातो दग्धः । ‘कटुकोक्तिभिः’ इत्यत्र ‘वनलैः’ इति
 रूपकं व्यक्तम् । स्वं स्वकीयं स्कन्धस्य करेणापातोऽस्यस्फोटस्तत्र पटुः । तन्का-
 रित्वर्थः । अत्र ज्येष्ठभ्रातरि गुरौ क्रोधोऽनुचितः ॥ अशक्नुवन्निति । यस्य राव-
 णस्य । कौशिक इन्द्रः वेचकश्च । अत्रानौचित्यं दर्शयति—स्त्रीति ।
 भावाभास इति । प्रथमाविषयेन चिन्ताधीनां द्वितीयादिष्वेनानुपगमिण्यादीनां
 ग्रहणम् । यथा—‘सीतामुधाकरमुखी तरण्यताशी सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्र-

1. भावस्येति । भावस्य शान्तिनांशः । ॥ चौरपक्षिकालावच्छिन्न एव । उदय
 इत्यपि । इतिरन्योन्यान्निभूतयोर्न्योन्याभिभावनयोग्ययोः सामानाधिकरण्यम्, तत्र
 भवदेशवृत्तित्वमिद्विद्वैककालवृत्तित्वरूपम् । शबलता बाध्यबाधकभावापधानामुदासीनानां
 वा भावानां व्यामिश्रणम् । एकचमत्कृतिजनकज्ञानगोचरत्वमिति यावत् । इति रसग-
 ज्ञाधरकृतः ॥

2. राकेति । सीतामुदिश्य रावणस्तोक्तिः सा सीता ‘अस्ति’ इति शेषः । तत्र तस्मात्
 अनुपेक्षणीये गुणत्वात् किं करोमि तन्नामाय निमाचरामि । तथा सह मैत्री शिष्या
 तत्राह—निश्चे कथमिति । अत्र सीताविषये मैत्री कथं वेनोपायेन निश्चे करोमि । मैत्री-
 करने न कथितुपाय इत्यर्थः । एवं सति तथा मम स्वीकृतिर्नमायमीति बुद्धिविषयीकार-
 तस्य व्यतिरेके संकल्पे अभ्युपायो हेतुः क इव । अत्र दशरथः सीतापनायात् । इदं रिता-
 दस्यमिषाभिभावसानुपपन्नादिकाविषयतया आभासत्वमिति भावाभासोदाहरणम् ॥

तृतीयः परिच्छेदः ।

क्रमेण यथा—

‘सुतनु ! जहिहि कोपं पश्य पादानतं मां’

न खलु तव कदाचित्कोप एवंविधोऽभूत् ।

इति निगदति नाथे 'तिर्यगामीलिताक्ष्या

नयनजलमनस्यं मुक्तमुक्तं न किञ्चित् ॥'

अत्र वाष्पमोचनेनेर्ष्याख्यसंचारिभावस्य शमः ।

‘चरणपतनप्रत्याख्यानात्प्रसादपराङ्मुखे

निर्मृतकितवाचारेत्युक्त्वा रुपा परुपीकृते ।

प्रजति रमणे निःश्वस्योच्चैः स्तनस्थितहस्तया

नयनसलिलच्छन्ना दृष्टिः सखीपुं निवेशिता ॥'

माह्वी । तर्हि करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवा-
भ्युपायः ॥' अत्र नायिकाया स्वीकारोपायचिन्तयानुरागाभावो व्यज्यते । अत्र
चिन्ता अनुचिता । एवं नृपादिविपरतेः शान्तवादिविपरत्वेऽप्यनौचित्यम् ॥ भाव-
शान्त्यादिमाह—भाषस्येति । एतत्सप्तम्यन्तपदेनान्वेति । भावस्य व्यभिचारिणः ।
शान्त्यादावासाधे सति भावशान्त्यादिनामवाध्यात्मा भवतीत्यर्थः । शान्तिर्विद-
द्धसामग्रीबलप्रशमावस्था । उदयः स्वसामग्रीमाहात्म्येनोद्गमावस्था । संचिह्न-
भयसामग्रीयोगेन परस्परविमर्दः । स च परस्परविमर्दयोरेकनाशो चान्योत्पत्तिरित्ये-
वंरूपः । केचित्तु—'विरुद्धयोरेकस्मिन्नेकदैवावच्छेदकभेदेन स्थितिः सधिः' इत्याहुः ।
तत्र । वक्ष्यमाणोदाहरणसंगतिप्रसङ्गात्तत्रावच्छेदकानुपपत्तेः । अनुपस्थितस्यापि
लक्षणादेरवच्छेदकत्वं कल्प्यमिति चेत्, एकदेत्यसंगते । मिश्रितं मिश्रणं, तत्र
पूर्वपूर्वस्य बाध्यत्वेन उत्तरोत्तरस्य बाधकत्वेनैकत्र काव्ये निबन्धनम् । बाध्यत्वं च
विरोधिसामग्रीसंगितपरिपुष्टिकत्वम् । बाधकत्वं च विरोधिः । अस्मिन्मते दन्त्यवान्
सयलशब्दः । फलपरिपुष्टिप्रतिबन्धकत्वम् । भावशान्तावेकस्यैव नाशः । उदये
'एकस्यैकोत्पत्तिः । सधौ द्वयोरेव मुहुर्विनाशोत्पत्ती । शबलताया बहूनां विनाशो-
त्पत्ती । इति विशेषः । केचित्तु—'भावानामुत्तरोत्तरबलवत्त्वं शबलता, बलवत्-
त्वमूहो वा' इत्याहुः । तत्र । वक्ष्यमाणोदाहरणे हि द्वयोर्द्वयोर्भावयोरुत्तरस्यैव बल-
वत्त्वं न यावतामुत्तरेषाम् ॥ भावशान्तिमुदाहरति—सुतन्विति । अनल्पं बहु-
तरम् । 'प्रशम इति व्यज्यते' इति शेषः । अत्र पादपतनरूपप्रसादसामग्र्या ईर्ष्यायाः
प्रशमः स्वदते ॥ भावोदयमाह—चरणपतनेति । चरणपतनस्य प्रत्याख्यानाच्च-
रणक्षेपादिना निराकरणात् । पराश्रुखे प्रसादरूपफलविमुखे । पक्षीकृते केदहीने
कृते । स्तनस्थितहस्तयेति स्तनमध्ये हस्तनिवेशनेन हृदय मा स्फुटेति हृदया-

1. तिर्यङ्गिति । तिर्यङ्क यथा स्यात्तथा आमीलिते अक्षिणी यथा तथाभूतया ॥

2. निमृतेति । निमृत्तकृत्वाचर सहसानुपलक्षितविद्याचरणेति तदर्थः ॥

अत्र विपादस्योदयः ।

‘नयनयुगासेचनकं मानसवृत्त्यापि दुष्प्रापम् ।

रूपमिदं मदिराक्ष्या मदयति हृदयं दुनोति च मे ॥’

अत्र हर्षविपादयोः संधिः ।

‘काकार्यं, शशलक्ष्मणः क च कुलं, मूयोऽपि दृश्येत सा,

दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो, कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।

किं वक्ष्यन्त्यपकरुमपाः कृतधियः, स्वमेऽपि सा दुर्लभा

चेतः स्वास्थ्यमुपैहि, कः खलु शुभा मन्योऽधरं धास्यति ॥’

श्रास इति भावः । अत्र नायकप्रत्याख्यानरूपसामग्र्या विपादः खंदते ॥ भाव-
संधिमाह—नयनेति । नयनयुगस्यासेचनकमतिवृत्तिजनकम् । ‘तदासेचनकं वृत्ते-
र्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनात्’ इत्यमरः । मदिरः खजनः । मदयति आनन्दयति ।
दुनोति संतापयति । अत्रैकस्यैव कामिनीरूपस्यात्युत्कृष्टत्वेन आनन्दस्योपभोगाप्रयो-
जकत्वेन विपादस्य जनकत्वम् । अत्युत्कृष्टत्वज्ञानकाले आनन्द उपभोगाप्रयोज-
कत्वज्ञानकाले विपादः । विरुद्धयोरपि तयोरेकस्मिन्समावेशः काललाघवेन संसर्ग-
प्रतिभासः ॥ भावशबलतामाह—काकार्यमिति । उर्वशीविरहात्क्षमरणमुपक्रम्य
पश्चाद्विवर्तमानस्य पुरुषवत् उक्तिरियम् । अकार्यं स्त्रिया सह मरणम् । शशलक्ष्म-
णश्चन्द्रस्य । सा उर्वशी । मे मम श्रुतमधीतम् । मुखमिति तस्या इति शेषः । धास्यति
पास्यति । कुलमित्यन्तेन चन्द्रकुले श्रीविरहादात्महननमकार्यमित्येवंरूपविचाररूपौ

१. काकार्यमिति । इह यद्वयेन सहानवसानमतिपादनेनास्त्यन्तानौचित्यं प्रकाश्यते ॥

२. अपीति । अपिना संभावनोरकटता चोत्पद्यते ॥

३. मे इति । आकरे ‘नः’ इत्येव पाठो दृश्यते, स एव व्यापान् । बहुवचनेन
स्त्वोत्पत्तिमाह ॥

४. कृतधिय इति । कृते सदाचारे भववा कृते महात्मनिराचरिते पुण्यकर्मणि
धीर्धेयं ते ॥

५. मदिर इति । मदिरा दृष्टिविशेष इत्युच्यते । तदुक्तं रसगीतकलिकायाम्—
‘श्रीघनेन परित्यक्तं सेरापादमनोहरा । वेपमानान्तरा दृष्टिर्नदिरा परिकीरिता ॥’ इति ।
हरविजयटीकायां । काव्यप्रकाशपूर्विकृद्भिरलकराजानकैरप्युक्तम्—‘आपूर्णेमानमध्या-
या क्षमा पात्रिततारका । इष्टिर्विकसितापाङ्गा मदिरा तरुणे मदे ॥’ इति । मदिरा
अग्निनी यस्यास्तस्या इत्येवं व्याख्येयम् । एतेन ‘मदिराणि मदाननापितम्’ इति
रघुवंशधोरन्याख्याने माघतन्वेति मदिरा लोकप्रसिद्धा । तथापि ‘नाथो मदिरलो-
चनाः’ इत्यादिप्रयोगदर्शनान्माघत्वाभ्यामिति मदिरा अग्निनी यस्या इति मग्निनाथो-
क्तिरपि न दृष्टा । मदिरः खजन इति स्त्रीकारेऽपि मदिरस्यैव अग्निनी यस्या इत्यर्थो
न युक्तः, किन्तु मदिरवत् इति । यद्यपि नाग्निनि लक्षणा शङ्क्या । ‘नेत्रे खजनगजने’
इत्यादिप्रयोगमदिरा इति ॥

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यघृतिचिन्तानां शबलता ॥

(अत्र मूलकारिकाः=(२६७ ।) पूर्वाभिः सह (२९० ।) उदाहर-
णश्लोकाः=(१४३ ।) पूर्वैः सह (१५८ ।)

इति साहित्यदर्पणे रसादिनिरूपणो नाम तृतीयः परिच्छेदः ।

वितर्कः । सेल्यन्तेनौत्सुक्यम् । श्रुतमित्यन्तेन सर्वथा तदनुरागो दोषावैवेत्यर्थनि-
र्धारणरूपा मतिः । मुखमित्यन्तेन मुखस्य कमनीयत्वस्मरणम् । कृतधिय इत्यन्तेन
शङ्का । दुर्लभमित्यन्तेन स्वानौजस्यरूपं दैन्यम् । उपेहीत्यन्तेन घृतिः । घास्यतीत्यन्तेन
चिन्ता व्यग्रता । अत्र द्वयोर्द्वयोर्भावस्य पूर्वस्य प्रशमाज्ञस्य बाध्यत्वम् । उत्तरस्य
विप्रलम्भाज्ञस्य बाधरत्वम् । चिन्तायां विधान्तेस्तदज्ञस्य विप्रलम्भशङ्कारस्य,
शान्तापेक्षया परिपोषः तस्याप्यन्तरान्तरा प्रशमोदयादेकान्तमभिलाषस्य नास्त्वा-
द्यत्वमिति खण्डरसत्वमित्यवधेयम् । उभयाज्ञस्य भावसमूहस्य बाध्यबाधकभावो
मुख्यत्वेनास्वाद्यत इति भावशबलताया एव प्रधानत्वमिति ॥

इति श्रीरामचरणतर्कवागीशभट्टाचार्यविरचितायां साहित्यदर्पणविरचितौ

तृतीयः प्रकाशः ।



वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यङ्ग्यार्थे ध्वन्यतेऽसिन्निति व्युत्पत्त्या
ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम् ।

भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाभिधामूलौ ।

अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च ॥ २. ॥ ६

तत्राविवक्षितवाच्यो नाम लक्षणामूलो ध्वनिः । लक्षणामूलत्वादे-
वात्र वाच्यमविवक्षितं बाधितस्वरूपम् । विवक्षितान्यपरवाच्यस्य-
भिधामूलः । अत एवात्र वाच्यं विवक्षितम् । अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम् ।

अत्र हि वाच्योऽर्थः स्वरूपं प्रकाशयन्नेव व्यङ्ग्यार्थस्य प्रका-
शकः । यथा—प्रदीपो घटस्य । अभिधामूलस्य बहुविषयतया पश्चा-
न्निर्देशः ।

इति व्युत्पत्तिमेवाह ध्वनिपदार्थभेदो बोध्यः । काव्यात्मभूतस्य ध्वनेर्भेदेनैव ध्वनि-
काव्यप्रभेदानाह—मेदाविति । इह यद्यपि वस्त्वलंकारध्वनीनां काव्यात्मत्वं नास्ती-
कृतं तथापि रसादिप्रकर्षकत्वेनैव तेषां काव्यात्मत्वमित्यभिप्रायेण तत्साधारणं ध्वनि-
प्रभेदनिरूपणं प्रकमत इति भावः । लक्षणाभिधामूलाविति । लक्षणामूलोऽभि-
धामूलश्चेत्यर्थः । तयोः परिचायकावाह—अविवक्षितेति । 'आद्यः' इति शेषः ।
अन्योऽभिधामूलः । अभिधामूल इति ध्वनिरित्यनुपजयते । अत एव अभिधामूल-
त्वादेव । वाच्यार्थस्य व्यङ्ग्यपरत्वमुपपादयति—अत्र हीति । वाच्यार्थस्य स्तोप-
स्थितिद्वारा शाब्दबोधं प्रति कारणत्वमित्यभिप्रायेणेदम् । पश्चान्निर्देश इति ।
तथा च लक्षणामूलध्वनेरल्पविषयत्वात्सूचीकटाहन्यायेन प्रथमं निर्देश इति भावः ।

समुदायरूपैः क्षणिकैः पदैः स्फोटरूपो निलः शब्दो व्यज्यते, तेन चाभिध्यक्तेनार्थः
प्रतीयत इति तादृशस्य प्रधानीभूतस्फोटम्यञ्जकस्य वर्णसमुदायरूपस्य पदादिशब्दस्य
ध्वनिरिति संज्ञेति वैयाकरणानां सिद्धान्तसरणिः । तत्तत्स्वन्मतानुसारिभिरन्यैः प्रधानी-
भूतव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वसाधर्म्योद्गुणीभूतवाच्यं यद्यङ्ग्यं तद्व्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलरूपस्यो-
त्पत्तिसाधकस्य ध्वनिरिति संज्ञा विहिता । तदुक्तं ध्वनिकारीः—'शब्दार्थः शब्दो वा तमर्थ-
मुपसर्जनीकृतस्वार्थो । व्यङ्ग्यः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिमिः कथितः ॥' इति ॥

१. अविवक्षितेति । अविवक्षितमनुपयुक्तमन्वयायोग्यं वा वाच्यं वाच्योऽर्थो
यस्मिन् सः ॥

२. विवक्षितेति । विवक्षितं वाच्यतावच्छेदकरूपेणान्वयबोधविषयः । अन्यपरं व्यङ्ग्यो-
पसर्जनीभूतं च वाच्यं वाच्योऽर्थो यत्र तादृशः ॥

अविवक्षितवाच्यस्य भेदावाह—

अर्थान्तरं संक्रमिते वाच्येऽत्यन्तं तिरस्कृते ।

अविवक्षितवाच्योऽपि ध्वनिर्द्विविध्यमृच्छति ॥ ३ ॥

अविवक्षितवाच्यो नाम ध्वनिर्अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृत-
वाच्यश्चेति द्विविधः । यत्र स्वयमनुपयुज्यमानो मुख्योऽर्थः स्वविशेषरू-
पेऽर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्य स्वविशेषरूपार्थान्तरसंक्रमित-
त्वादर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वम् ।

यथा—

‘कदली कदली, करमः करमः, करिराजकरः करिराजकरः ।

भुवनत्रितयेऽपि विभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः ॥’

अत्र द्वितीयकदल्यादिशब्दाः पौनरुक्त्यभिया सामान्यकदल्यादिरूपे
मुख्यार्थे बाधिता जाड्यादिगुणविशिष्टकदल्यादिरूपमर्थं बोधयन्ति ।
जाड्याद्यतिशयश्च व्यङ्ग्यः ।

अविवक्षितवाच्यस्येति ध्वनेरिति शेषः । तत्रेति । ‘प्रकृतान्वये’ इति शेषः । स्वयं
मुख्यतावच्छेदकरूपेण स्वविशेषरूपे स्वकीयमुख्यतावच्छेदकव्याप्यधर्मे परिणमति
विशेष्यतया भासते । अर्थान्तरे संक्रमितत्वाद् विशेष्यतया भासमानत्वात् । एतेन
सुर्यार्थस्य मुख्यतावच्छेदकरूपेण प्रकृतान्वयानुपयोगित्वं बाधस्तस्यैव विशेषणान्तर-
रूपेण बोध इतीममुपादानलक्षणेति सूचितम् । कदलीति । ‘मणिवन्धादाकृतिर्घृ-
करस्य करमो बहिः’ इत्यमरः । चमूरुर्मृगविशेषः । जाड्यादिति । जाड्यं शैत्यम् ।
यद्यपि शैत्यं पयस्येव तथापि तस्य परम्परया कदलीवृत्तिवन्मवगन्तव्यम् । आदिना
ह्रस्वत्वकर्कशात्वयोर्ग्रहणम् । नच शैत्यादीनामन्यत्रापि सत्त्वारम्भं कदलीत्यादिव्या-
प्यत्वमिति वाच्यम् । शैत्यादिविशेषस्यैवात्र विवक्षितत्वात् । जाड्याद्यतिशय-
श्चेति । व्यङ्ग्यो लक्षणप्रयोजनबोधविषयः सर्वत्रैव मुख्यार्थस्याभेदः संवन्धः ।
एवं च कदल्यतिशीला करमोऽतिह्रस्वः करिराजस्रोऽतिर्कश इति हेतोश्चमूरु-
दृश इदमीदृशमूरुयुगं भुवनत्रितयेऽपि तुल्यं सादृश्यं न विभर्तीत्यर्थः । यत्र तु कद-
ल्यादौ सादृश्यं समाप्यते तदतिशैत्यादिनापटुत्वमिति सतरो भुवनत्रितये तुला
नास्तीति भावः । अत्र च्यतिरेकालंकारो व्यङ्ग्यः । यत्र पुनरिति शब्द इति शेषः ।

1. अर्थान्तरेति । अर्थान्तरे उपयोगिनि तद्व्यतावच्छेदके संक्रमितमात्रवत्त्वेन परिणतं
वाच्यं यत्र सादृश्यः ॥

2. अत्यन्तेति । अत्यन्ततिरस्कृतं न केनापि रूपेणान्वयप्रतिष्ठं वाच्यं यत्र सादृश्यः ॥

यत्र पुनः स्वार्थं सर्वथा परित्यजन्नर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्या-
र्थस्यात्यन्ततिरस्कृतत्वादत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम् ।

यथा—

निःश्वासान्ध इवादर्थश्चन्द्रमा न प्रकाशते ।

अत्रान्धशब्दो मुख्यार्थे बाधितेऽप्रकाशरूपमर्थं बोधयति । अप्रका-
शातिशयश्च व्यङ्ग्यः । अन्वत्वाप्रकाशत्वयोः सामान्यविशेषभावाभावा-
न्नार्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वम् ।

यथा—

भम धम्मिअ वीसत्थो, सो सुणओ अज्झ मारिओ देण ।

गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दूरिअसीहेण ॥

सर्वथेति । मुख्यतावच्छेदकस्यैव त्यागो ननु मुख्यस्य, अत्र तूभयोरिति भावः ।
अर्थान्तरे मुख्यार्थेभिरेव परिणमति व्यक्त्या वर्तते । अत्यन्ततिरस्कृतत्वात्
सर्वथा बाध्यत्वात् ॥ निःश्वासान्ध इति । निःश्वासेनान्धोऽप्रकाश आदर्शो दर्पण
इवेत्यर्थः । मुख्यार्थे दृष्टिहीनरूपे प्रकाशश्चाकचक्यं तदहितः । अत्र चाक्षुषज्ञानाजनक-
त्वरूपैकधर्मवस्त्वं मुख्यलक्ष्ययोः संबन्धः । सामान्यविशेषभावाभावादिति ।
मुख्यार्थतावच्छेदकलक्ष्यतावच्छेदकयोः सामान्यविशेषभाव एवार्थान्तरसंक्रमितवा-
च्यत्वं भवति । यथा—‘त्वामस्मि वच्मि—’ इत्यादौ । नच ‘यस्य मित्राणि मित्राणि शत्र-
वः शत्रवस्तथा । अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति ॥’ इत्यादौ काव्यप्रका-
शकारदत्तोदाहरणे मित्रत्वादीनां मुख्यतावच्छेदकानां लक्ष्यतावच्छेदकैराश्वस्तस्त्वनि-
यन्त्रणीयत्वेनैव पात्रत्वैः सह सामान्यविशेषभावाभावात्समुच्चानियम इति वाच्यम् ।
आश्वस्तत्वादिविशेषस्यैवान् विवक्षितत्वात् । ननु ‘भम धम्मिअ—’ इत्यादौ विपरी-
तलक्षणासत्त्वेनात्यन्ततिरस्कृतत्वाच्चनेरिदमुदाहरणं भवितुमर्हतीति विप्रतिपद्यमानं
प्रत्याह—भम धम्मिअ इति । ‘भम धार्मिक विश्वस्तः स धाय मारितस्तेन ।

1. निःश्वासेति । हेमन्तवर्णने पञ्चवत्या रामस्योक्तिरियम् । एतत्पूर्वार्धस्तु—‘रवि-
संक्रान्तसामान्यस्तुपारावृतमण्डलः ।’ इति ॥

2. अत्र दारुणतरानितरान् दशमशृवीन् प्रसिद्धतयापारगप्राप्तं यदेतत् करिकलभकु-
म्भनिर्भेदेकहेवाकिनः केशरिणः । गौलेयकवधामिधानमौचित्यकनिकेतनस्य नवेस्तत्र चिर-
चिन्तयन्तोऽप्यभिप्रायं न विधः । नहि दृष्टवया यत्किञ्चनकारिणोऽप्यस्यापि स्वजाति-
समुचित चरितमपहायाप्रसिद्धमेव किमपि रसभङ्गवीरवः कवयो वर्णयितुमाद्रियन्ते,
किमुत जगदिदितव्यापारस्य केशरिणः । अनौचित्यनिबन्धो हि पर रसभङ्गकारणं कवयो
वदन्ति । तस्मात् ‘दरिअरिक्खेण’ इत्यत्र पाठः श्रेष्ठः । इत्याचार्यमहिममदः ।

अत्र 'अम धार्मिक—' इत्यतो अमणस्य विधिः प्रकृतेऽनुपयुज्यमानतया अमणनिषेधे पर्यवस्यतीति विपरीतलक्षणाशङ्का न कार्या । यत्र खलु विधिनिषेधावुत्पत्त्यमानावेव निषेधविधयोः पर्यवस्यतस्तत्रैव तदवसरः । यत्र पुनः प्रकरणादिपर्यालोचनेन विधिनिषेधयोर्निषेधविधी अवगम्येते तत्र ध्वनित्वमेव ।

तदुक्तम्—

'कचिद्वाध्यतया स्यातिः कचित्स्त्रातस्य बाधनम् ।

पूर्वेन लक्षणैव स्यादुत्तराभिधैव तु ॥'

अत्राद्ये मुख्यार्थस्यार्थान्तरे संक्रमणं प्रवेशः, न तु तिरोभावः । अत एवात्राजहत्सार्था लक्षणा । द्वितीये तु सार्थस्यात्यन्तं तिरस्कृत-त्वाजहत्सार्था ।

विशिक्षिताभिधेयोऽपि द्विभेदः प्रथमं मतः ।

असंलक्ष्यक्रमो यत्र व्यङ्ग्यो लक्ष्यक्रमस्तथा ॥ ४ ॥

विशिक्षितान्यपरवाच्योऽपि ध्वनिरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यश्चेति द्विविधः ।

गोदावरीरुच्छजुञ्जवाहिना दप्तसिंहेन ॥' इति संस्कृतम् । आश्रमस्नायाः बुलढाया गोदानरीडुञ्जरूपे सन्नेतम्याने प्रत्यहं पुण्याचयेन कृतसन्नेतमर्गं सन्नेतितुङ्गुरोप-द्रवेणान्यनिवृत्त धार्मिकं प्रति तस्या एव दिनान्तरे उत्तरियम् । गोदा गोदावरी । यो दिनान्तरे त्वामुद्वेजयति स आ गोदावरीतीरनिजुञ्जवाहिना दप्तसिंहेन मारित इत्यन्वयः । प्रकृते तात्पर्यविषयीभूतसंरविहारे । उत्पत्त्यमानौ उत्पत्त्यमाना-मन्वयबोधौ । अन्वयबोधोदात्तप्रागित्यर्थः । तदवसरो विपरीतलक्षणावसरः । एवं चान्न लक्षणाभूलघ्वनेरवसरो नास्तीत्यर्थः । ध्वनित्वमभिधामूलध्वनित्यम् ॥ वाध्य-तया विपरीतार्थपर्यवसन्नतया स्यादतिरन्वयबोधः । स्यात्तस्यान्वयबोधविष-यीभूतस्य बाधनं बाधोदयाद्विपरीतार्थपर्यवसानम् । लक्षणा लक्षणाभूलो ध्वनिः । अभिधा अभिधामूलो ध्वनिः । अत्र लक्षणाभूलध्वनौ । आद्येऽर्थान्तरसंक्रमितवा-च्ये । द्वितीयेऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्ये अजहत्सार्था लक्षणेऽनुपपद्यते ॥ प्रथममिति । पद्यादस्यापरे भेदा वक्ष्य्या इति भावः । यत्र ध्वनौ । लक्ष्यक्रम इति । प्याय

१. असंलक्ष्येति । सम्यक् न लक्ष्यितुं शक्यः क्रमः । योर्वाच्यं यस्य तादृशो व्यङ्ग्यो भवति । २. प्रकृते प्रकरणे इति । प्रकृतेषु विभावानुभावनविचारिषु सङ्गदपधुरीणेन

१. 'कमलद्वय' ग. २. 'लक्ष्यक्रम' परं ग. ३. 'गुण' इति 'विधि' इति 'द' 'द्वि' इति 'द' इति 'द' इति

तत्राद्यो रसभावादिरैक एवात्र गण्यते ।

एकोऽपि भेदोऽनन्तत्वात्संख्येयस्तस्य नैव यत् ॥ ५ ॥

उक्तस्वरूपो भावादिरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः । अत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिर्वि-
भावादिप्रतीतिकारणकत्वात्क्रमोऽवश्यमस्ति किंतुत्पलपत्रशतव्यतिभेदव-
ह्याघवान्न संलक्ष्यते । एषु रसादिषु च एकस्यापि भेदस्यानन्तत्वात्सं-
ख्यातुमशक्यत्वादसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिर्नाम काव्यमेकभेदमेवोक्तम् ।
तथाहि—एकस्यैव शृङ्गारस्यैकोऽपि संमोगरूपो भेदः परस्परालिङ्गना-
धरपानचुम्बनादिभेदात्प्रत्येकं च विभावादिवैचित्र्यात्संख्यातुमशक्यः,
का गणना सर्वेषाम् ।

शब्दार्थोभयशक्तयुक्ते व्यङ्ग्येऽनुस्वानसंनिभे ।

ध्वनिर्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्त्रिविधः कथितो बुधैः ॥ ६ ॥

इत्यन्वयः ॥ आद्योऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः । आदिना रसभासादिग्रहणम् । एकप्रना-
रत्वे हेतुमाह—एकोऽपीति । अनन्तत्वादतिबहुलत्वात् संख्येयः संख्यातुं शक्यः ।
तस्य रसभावादेर्मेलनेन भेदनं ध्यतिभेदः । लाघवाच्छीघ्रोत्पन्नत्वात् 'स'
इति शेषः । एषु च रसभावादिषु च । अनन्तत्वादिति । संख्यातुमशक्यत्वा-
दित्यत्र हेतुः । उक्तमर्थं विशेषाख्यानेन ब्रूयति—तथाहीति । विभावादीनां
वैचित्र्याद् वैलक्षण्याच्चेत्यन्वयः ॥ लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिमाह—शब्देति । शब्दस्या-
र्थस्य तदुभयस्य च शक्तेरुत्तिष्ठति आविर्भवति यत्तस्मिन् । अनुस्वानः प्रति-

मभावा सुहृन्मैत्रेय कालेन प्रवीयत इति हेतुहेतुमतोः यौर्वापयैरुपस्थासंलक्षणादसंलक्ष्यक्रमो
व्यपदिश्यते । यत्र तु विचारवेष प्रकरणम्, उभेवा वा विभावादयस्तत्र सामग्रीविल-
म्बाधीन चमत्कृतेर्मान्धर्वमिति संलक्ष्यक्रमोऽप्येव भवति ॥

१. शब्देति । ननु शब्दशक्त्या यनार्थान्तर प्रकाशते स यदि ध्वनेः प्रवारस्तर्हि
क्षेपस्य विषय एवापहनः स्यादित्यत्राह ध्वनिकारः—'आक्षिप्त एवालंकारः शब्दशक्त्या
प्रकाशते । यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो ॥ सः ॥' यस्मादलंकारो न वस्तुमात्रं
यस्मिन्काव्ये प्रकाशते स एव शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिः । वस्तुदये च शब्दशक्त्या प्रकाशयमाने
क्षेपः । यथा—'येन ध्वस्तमनोगमनेन—'(४८९ पृ.) इत्यादौ । नन्वलंकारान्तरप्रतिभायामपि
क्षेपव्यपदेशो भवतीति दर्शित मट्टोद्भटेन तत्पुनरपि शब्दशक्तिमूले ध्वनिनिरवकाश
इत्याशङ्क्य 'आक्षिप्तः' इत्युक्तम् । शब्दशक्त्या साक्षादलंकारान्तरप्रतिभा यथा—'तस्या
विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणी । जनयामासतुः कस्य विम्वयं न पयोधरो ॥' अत्र

कमलक्षयत्वादेवानुरणनरूपो यो व्यङ्ग्यस्तस्य शब्दशक्त्युद्भवत्वेन,
अर्धशक्त्युद्भवत्वेन शब्दार्थशक्त्युद्भवत्वेन च त्रैविध्यात्संलक्ष्यकमव्यङ्ग्य-
नाम्नो ध्वनेः काव्यस्यापि त्रैविध्यम् ।

तत्र—

वस्त्वलंकाररूपत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।

ध्वनिः । तस्य रात्रि जननीभूतशब्दोत्तरजायमानत्वरूपकमो लक्ष्यते तत्सन्निभे
तत्तुल्ये व्यङ्ग्ये सतीत्यर्थः । क्रमस्य व्यङ्ग्यप्रतीतिपूर्वापर्यस्य लक्ष्यत्वात् स्फुट-
प्रतीयमानत्वात् । अनुरणनरूपः प्रतिध्वनितुल्यः । वस्त्वलंकाररूपत्वा-

शृङ्गारव्यभिचारी निस्संवाह्यो भावः साक्षाद्विरोधालंकारश्च प्रतिभासत इति विरोधच्छा-
यानुमाहिणः शेषस्यायं विषयः । न त्वनुष्ठानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः । यत्र तु सामर्थ्याद्विशि-
तसदलंकारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्वं एव ध्वनेर्विषयः । यथा हर्षचरिते—‘कदाचि-
त्कुसुमममपयुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः संपुष्टमलिकाशवलादृहासो महाकालः’
अथ ऋतुवर्णनप्रस्तावनिधित्वा अभिधाशक्तयः । अतएव ‘अवयवप्रतिष्ठेः समुदायप्रति-
ष्ठिर्वलीयसी’ इति न्यायमपाकुर्वन्तो महाकालप्रमुक्तयः शब्दा एकमेवार्धमभिधाय कृ-
द्व्याः । तदनन्तरमर्थावगतिः शब्दशक्तिमूलाद् ध्वननव्यापारादेव । तत्र केचिन्मन्यन्ते-
यन एतेषां शब्दानां पूर्वमर्थान्तरेऽभिधान्तरं कृष्टं तत्तत्साधिविषयान्तरे कृष्टतदभिधाशक्ते-
रेव प्रतिपत्तिर्निधित्वाभिधाशक्तिरेव्य एतेभ्यः प्रतिपत्तिर्ध्वननव्यापारादेवेति शब्दशक्ति-
मूर्त्तत्वं व्यापारमत्त्वं चेत्यदिहकम् । अन्ये तु—सामिधेयं द्वितीयाभिधेयं ग्रीष्मस्य
नीपणदेवताविशेषसादृश्यात्मकं सहकारित्वेन यतोऽवलम्बते सतो ध्वननव्यापाररूपोऽभवति
इति । एते तु—शब्दहेतवे तावदेवे सति शब्दार्थहेतवेऽपि शक्तिहेताच्छब्दहेतु इति दर्शने
द्वितीयः शब्दस्त्वानीयते । स च कदाचिदभिधाव्यापाराद् यथोभयोत्तरदानाय श्रेतो
भावति—अहनुसानां याता इति प्रशोत्तपदी । या तत्र शब्दान्तरवलादपि तदर्थान्तरं
प्रतिपन्नं प्रतीयमानमूलत्वात्प्रतीयमानमेव युज्यते । इतरे तु—संपुष्टमलिका एव ध्व-
नादृहासोऽप्येति व्याख्यानाश्रयणे तदर्थसामर्थ्यं तेन द्वितीयाभिधेयं प्रतिप्रयुज्यते । तत्रार्थ-
द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत एव न ध्वन्यते । तदनन्तरं तु तस्य द्वितीयाभिधेयं प्रतिपन्नस्य प्रथमायेन
प्रादरगिनेन साकं या रूपना तावद्भालेव न चान्यतः शब्दादिति सा ध्वननव्यापारात् ।
तत्राभिधाशक्तेः कस्याधिदध्यनादहनीयत्वात् । तस्यां च द्वितीया शब्दशक्तिर्नृणम् । तया
विना तस्या रूपनाया अनुष्ठानात् । अथ एवालंकारध्वनिरयमिति युज्यम् । इत्यारित्येष्टु
शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्यश्रवणनिक्षेपान्तरे तावत्सामर्थ्याभिधादित्वं मा प्रका-
हीरित्यनादरनिष्प्राकट्यनिर्धार्योरूपनानोपमेवभावः कृत्यदिङ्मयः सामर्थ्यादित्यादिशो-
भेन न शब्दोपाकृत इति मित्र एव हेतुदनुष्ठानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्विषय इत्याहुः ॥

अलंकारशब्दस्य पृथगुपादानादनलंकारं वस्तुमात्रं गृह्यते । तत्र वस्तुरूपशब्दशक्त्युद्भवो व्यङ्ग्यो यथा—

पन्थिअ ! ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।

उण्णअ पओहरं पेक्खिउण जइ वससि ता वससु ॥

अत्र सत्थरादिशब्दशक्त्या यद्युपभोगक्षमोऽसि तदास्थेति वस्तु व्यज्यते ।

अलंकाररूपो यथा—‘दुर्गालङ्घितविग्रहः—’ इत्यादौ (६२ पृ.) ।

अत्र प्राकरणिक्सोमानाममहादेवीवल्लभभानुदेवनामनृपतेर्वर्णने द्विती-

दिति । ‘व्यङ्ग्यस्य’ इति शेषः । अनलंकारमिति । अलंकारशब्दोऽत्र धर्म-
परः । तेन न विद्यते अलंकारो यत्रेति बहुव्रीहिः । तत्पुरुषसमासे क्लीबत्वं न
स्यात् । ‘शेषतत्पुरुषद्वन्द्वान्वयस्यपदलिङ्गकौ’ इत्यनुशासनेन पुंस्त्वप्रसक्तैः ॥
पन्थिअ इति । ‘पथिक नात्र सत्तरमंस्ति मनावप्रस्तरस्थले ग्रामे । उच्चतपयो-
धर प्रेक्ष्य यदि वससि तद्वस ॥’ इति संस्कृतम् । निवासार्थं पथिकं प्रति स्वयं वृत्त्या
उक्तिरियम् । सत्तरं शयनीयकटः मनागल्पमपि तज्जास्ति । प्रस्तर एव वयं
स्वपिम् इति दर्शयति—प्रस्तरस्थल इति । पयोधरे मेघम् । ततश्च निवासोपयुक्तं
शयनीयकटादिकमत्र नास्त्येव । मेघप्रतिरुद्धगतिकृतया यदि वससि तद्वसेत्यापा-
ततः प्रतीयते । तस्य व्यङ्ग्यमाह—अत्रेति । सत्थरापीलादिना परथरत्थलप-
ओहरशब्दयोर्ग्रहणम् । परदारगमननिषेधकशास्त्रार्थकं सत्थरपदं प्राकृतलिङ्गम् ।
प्रस्तरे स्त्रीजनं संभोगार्थं गृह्णातीत्येवमर्थकं प्रस्तरस्थलपदं संस्कृतलिङ्गम् । स्वनार्थक-
मपि पओहरपदमुभयोः लिङ्गम् । एषां शक्त्या सामर्थ्येन परम्परयापि । शब्दशक्त्यु-
द्भवो यथा—‘शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति, कुप्यसि नरेन्द्र यस्य त्वम् । यत्र प्रची-
दसि पुन, स भात्युदारोऽनुदारश्च ॥’ शनिर्महोऽशनिर्वैजं च तमुच्चैर्निहन्ति । अनु-
दारोऽनुमतदारः । तत्राशनिशब्दशक्त्या शनिविरुद्धे व्यभिक्ते तद्वारा विरुद्धापि त्वद-
नुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति वस्तु व्यज्यते । उत्तरार्थे ॥ विरोधाभास एव । यद्वा
सोऽनुदारोऽपि त्वदनुवृत्त्या उदारो भवतीत्यर्थः ॥ अलंकाररूप इति । ‘शब्दश-

१. अत्रेति । प्रस्तराणां तत्त्वेनाध्यवसितानां मूर्च्छाणां स्थले तन्मयेऽत्र ग्रामे सत्थरं शास्त्रं
कामशास्त्रमित्यर्थः । यद्वा सत्थरं शास्त्रं मनाह् किञ्चिदपि नास्ति, किं पुनः सादितम् ।
तस्मादिद्वितामिश्रविरहादि-शङ्कमुत्रतमनुपयुक्तं पयोधरं स्नानं वादृशोदीपकं मेघं च प्रेक्ष्य
यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्थेति । प्रस्तरस्थल इत्यनेन शब्दापेक्षापि नास्तीति ध्वन्यते ।
अत्र शब्दशक्तिमूलत्वं परिदृश्यतद्वद्वानार्थशब्दप्रयोगादवसेयमिति व्यङ्ग्यार्थः ॥

१. ‘अलंकार-’ इत्यादि- ‘उपचर्यते’ इत्यन्तः पाठो न पुस्तके नास्ति. २. ‘समाप्तः’ इति पुस्तका-
न्तरे. ३. ‘तत्पुरुषे’ इति पुस्तकान्तरे.

यार्थसूचितमप्राकरणिकस्य पार्वतीवल्लभस्य वर्णनमसंबद्धं मां प्रसा-
ह्नीदिति श्वरभानुदेवयोरुपमानोपमेयभावः कल्प्यते । तदत्र 'उमावल्लभ
उमावल्लभ इव' इत्युपमालंकारो व्यङ्ग्यः ।

यथा वा—

अमितः समितः प्रासैरुत्कर्षैर्हर्षदे ! प्रभो ! ।

अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥

अत्रामित इत्यादावपिशब्दाभावाद्विरोधाभासो व्यङ्ग्यः । व्यङ्ग्य-
स्यालंकार्यत्वेऽपि ब्राह्मणश्रमणन्यायादलंकारत्वमुपचर्यते ।

वस्तु बालंकृतिर्वापि द्विधार्थः संभवी स्वतः ॥ ७ ॥

कवेः प्रौढोक्तिसिद्धो वा तन्निबद्धस्य वेति पद ।

उत्पुद्गवो व्यङ्ग्यः' इत्यनुपज्यते । मा प्रसाह्नीदिति । प्रसक्तं मा भूदित्यर्थः ॥
शब्दशक्तिमूलमलंकारान्तरमाह—यथा वेति । अमित इति । हे प्रभो, त्वम-
सतामहितः । समिद्युद्धं ततः प्रासैरुत्कर्षैरमितोऽपयान्तः । साधुयशोभिः सहितः ।
व्यङ्ग्यमाह—अमित इति । अमितो मितश्चन्यः समितो मितयुज्यतेति विरोधः ।
विरोधाभासस्य वाच्यत्वे पदयोः समानविभक्तिकत्वंमपिशब्दसत्त्वं चापेक्षितं तद-
भावादेवात्र व्यङ्ग्यत्वमित्याह—अपिशब्दाभावादिति । एतदुपलक्षणम् । उमा-
नविभक्तिकत्वाभावाच्चैवपि दृष्टव्यम् । ननु रसस्य प्रकर्षतयोपमादेर्यदा गौणत्वं तदे-
बालंकारत्वं वक्ष्यते । व्यङ्ग्यात्वेनास्त्यतया मुख्यत्वात्कथगलंकारत्वमित्याह—व्यङ्ग्य-
स्यालंकार्यत्वेऽपीति । अनयः संन्यासी तस्य तद्वशायां ब्राह्मणत्वभावेऽपि यथा
दशान्तरीयं ब्राह्मणत्वमादाय तथा व्यपदेशस्वभावापि वाच्यतादृशीयमलंकारत्वमा-
दाय तथा व्यपदेश इति भावः । अर्थसत्तुत्पुद्गवं व्यङ्ग्यमाह—वस्तु इति । द्वि-
धोऽर्थः पुनरेविधेन पदप्रकारो भवतीत्याह—संभवीति । स्वतः संभवोऽलम्बयः ।
तल्लिप्यस्य कविवर्णितस्य वस्तुः । 'प्रौढोक्तिसिद्धः' इत्यनुपज्यते । पदं पदप्रकारः ।

१. हर्षदेति । शत्रुभिर्बोर्हर्षं पति ददाति चेति हर्षद, शत्रुवर्षकण्टक निहर्ष-
दायकेत्यर्थः । अत्र पदाम्बेऽपि विरोधः । अमितः परिमाणवर्जितः, अथ च समितः परि-
माणसहितः । यद्वा अमितः मितं मानं तद्वदितः, अथ च मानसहितः । अदितः दित-
रहितः, अथ च सदितः दितसदित इति ॥

२. संभवीति । य औचित्येन कदिरपि संभाष्यमानसद्भाषः, न केवलं पण्डितिवरे-
नैवामिनिष्पन्नतरीरः ॥

३. प्रौढोक्तीति । प्रौढोक्तीति, कदिरसत्रपि वक्तुमविभागात्वेन तथा कदिरतः ।

१. 'विरोधः' इति पुनश्चोदने कदिरः ।

द्विस्तैर्व्यज्यमानस्तु वस्त्वलंकाररूपकः ॥ ८ ॥

प्रथमशक्त्युद्भवो व्यक्तो याति द्वादशभेदताम् ।

स्वतःसंभवी, औचित्याद्वाहिरपि संभाव्यमानः । प्रौढोक्त्या सिद्धः,
न त्वौचित्येन ।

तत्र क्रमेण यथा—

दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि ! क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि

प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पासति ।

एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं

नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्नन्थयः ॥

अत्र स्वतःसंभविना वस्तुना तत्प्रतिपादिकाया भाविपरपुरुषोपभोगज-
नखक्षतादिगोपनरूपं वस्तुमात्रं व्यज्यते ।

स्वतःसंभविपदार्थं व्याचष्टे—स्वत इति । औचित्याद् याथाध्याद् वाहिरपि
तादृशशब्दातिरिक्तप्रमाणेनापि । संभाव्यमानः प्रतीयमानः । रूपकालंकारे हृष्यरूप-
कयोरेभेदस्मालीक्यतेपि तयोः सादृश्यस्यापि स्मरप्रसिद्धत्वे स्वतःसंभविरवम् । अत-
एव “अधरोन्मलानकमलदलम्” इति रूपकं स्वतःसंभवितया काव्यप्रकाशे उक्तम् ।
धमिले नवमौलिकसमुदय इति सादृशाप्रसिद्ध्या प्रौढोक्तिसिद्धं रूपमुदाहरिष्यति ।
प्रौढोक्त्या वर्णनमात्रेण सिद्धौ निष्पन्नत्वप्रतीयमानः । अत्र स्वतःसंभविपदस्तु व्यङ्ग्य-
वस्त्वाद्—दृष्टिमिति । वस्त्राधिकुलशया उक्तिरियम् । इह अस्मद्गृहेऽपीत्य-
पेरन्वयः । खगृहे चेति तदर्थः । कौपीः कूपभवाः । अत उक्तकारणात् । नीरन्ध्रा
निरवगृह्याः । यना इत्यर्थः । तनुं मम शरीरमालिखन्तु खण्डयन्तु । जरठः
ऋतिनः छेदोऽप्रभागे येषांते । नलग्न प्रन्थयः पर्वाणि ॥ व्यङ्ग्यमाह—अने-
नेति । वाक्यार्थेनेत्यर्थः । तत्प्रतिपादिकायास्तस्य वाक्यार्थस्य वक्ष्याः । अर्थं

‘अत्यन्तासत्यपि सर्वे ज्ञानं शब्दः करोति हि’ इति न्यायादिति भावः । अयमर्थः—व्यङ्ग्य-
कोऽर्थकित्वविधः । स्वतःसंभवी, कविप्रौढोक्तिसिद्धः, कविनिबद्धनायकादिवक्तृप्रौढोक्तिसि-
द्धश्च । ॥ त्रिविधोऽपि वस्तुमानमलकृतिर्वेति षड्विधः । षण्णा व्यङ्ग्यमपि प्रत्येकं वस्तु वा
अलंकृतिर्वेति द्वादश भेदाः ॥

१. पितेति । अस्य शिशोः पिता । मत्सगातीत्यर्थः ॥

२. स्रोत इति । तमालाकुलं तमालवनवेष्टितं स्रोतः स्वतोऽम्बुसरणम् । परोन कूप-
सलिलापेक्षया स्रोतःसलिलस्योत्कृष्टता प्रतिपाद्यते ॥

१. ग. पुस्तके तु ‘स्वत संभवी’ इत्यादिः ‘—न तु रूपमादीनामित्यलंकृतेरेव मुख्यत्वम्’ इत्यन्तो
अर्थो न दृश्यते. २. ‘प्रतिपादिकाया’ क. पुस्तके नास्ति.

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां स्वेरपि ।

तस्मामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विपेहिरे ॥

अत्र स्वतःसंभविना वस्तुना रवितेजसो रघुप्रतापोऽधिक इति व्यतिरेकालंकारो व्यज्यते ।

आपतन्तममुं दूरादूरीकृतपराक्रमः ।

घलोऽवलोकयामास मातङ्गमिव केसरी ॥

अत्रोपमालंकारेण स्वतःसंभविना व्यञ्जकार्थेन बलदेवः क्षणेनैव येषुदारिणः क्षयं करिष्यतीति वस्तु व्यज्यते ।

गाढकान्तदशनक्षतव्यथासंकटादरिवधूजनस्य यः ।

ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन्पुष्पि रुषा निजाधरम् ॥

अत्र स्वतःसंभविना विरोधालंकारेणाधरो निर्दष्टः शत्रवो व्यापादिताश्चेति समुच्चयालंकारो व्यज्यते ।

वाक्यार्थो लोकप्रसिद्ध एव ॥ स्वतःसंभविवस्तुन्यङ्गबालंकारमाह—विशीति । मन्दायते मृदूभवति । एवकारोऽप्यर्थः । उपमानादुपमेयस्याधिन्यं न्यूनत्वं वा व्यतिरेकस्य व्यङ्ग्यत्वम् । प्रकृतोपयोगिप्रकर्षनिकर्षयोरन्यतरस्य बोधामिप्रायेण प्रयुक्तधर्मस्य तत्प्रकारत्वासंभवेन तद्वोधानुपपत्त्या निरुक्तधर्मव्यङ्ग्यकारणमुखेन तद्वोधोपपत्तौ भवति । दिशीत्यादौ रवितेजसो मार्दवयुक्तो यो निकर्षस्तस्यासत्त्वत्वेन प्रयुक्तरघुप्रतापगतप्रकर्षनिरूपकत्वाभावात्प्रकृतानुपयोगितया मार्दवव्यङ्ग्यसत्त्वत्वेन प्रकृतोपयोगिनिकर्षप्रत्यामनाद् व्यतिरेकस्य व्यङ्ग्यत्वम् ॥ स्वतःसंभव्यलंकारव्यङ्ग्यं वस्तुमाह—आपतन्तमिति । अभिमुत्तमायान्तमित्यर्थः । अमुं येषुदारिणम् । ऊरीकृतपराक्रमः स्त्रीकृतविक्रमः । कृतयुद्धप्रतिज्ञ इति बाबव । घलो बलदेवः । निपुलविक्रमत्वेन बलस्य केसरिसादृश्यं मदान्धत्वेन येषुदारिणो मातङ्गसादृश्यं श्लोकप्रसिद्धमेव ॥ स्वतःसंभव्यलंकारव्यङ्ग्यमलंकारमाह—गाढेति । गाढशान्तदशनक्षतजन्यव्यथैव संकटो विपत् तस्माद् । ओष्ठा एव विद्रुमस्य प्रवालस्य दलानि गगजानि । प्रोथेन निजाधरं निर्दश्य निहते शत्रौ तद्वधूनां कान्तकर्तव्यो रतिरालीनोऽधरदंशो निवर्तत इत्यर्थः । अधरस्य निर्दशनेन व्याध्या उत्पत्तिरेव न ॥ मोचनमित्यापाततो विरोधः । आश्रयभेदे त्वविरोध एव । व्यापादिता मारिताः । 'धुनोति चासि तनुते च कीर्तिम्' इत्यादावेनाधिकरणे चैव दृश्यत इति वक्ष्यमाणवदत्र धर्मकारणकालनियमविपर्ययरूपातिशयोक्तिमूलं क्रियायोगपरं समुच्चयः ।

१. येषुदारिण इति । येषुदारिणस्य चोपाधुरागणयः ॥

१. 'व्यङ्ग्य' इति वाच्यं क पुल्ले.

‘सज्जेहि’ सुरभिमासो ण दौव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे ।

अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणङ्गस्स सरे ॥’

अत्र वसन्तः शरकारः, कामो धन्वी, युवतयो लक्ष्यम्, पुष्पाणि शरा इति कविप्रौढोक्तिसिद्धं वस्तु प्रकाशीभवन्मदनविजृम्भणरूपं वस्तु व्यनक्ति ।

‘रजनीपु विमलमानोः करजालेन प्रकाशितं वीर ।’

धवलयति मुवनमण्डलमखिलं तव कीर्तिसंततिः सततम् ॥’

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना कीर्तिसंततेश्चन्द्रकरजालादधिक-
कालप्रकाशकत्वेन व्यतिरेकालंकारो व्यङ्ग्यः ।

‘दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः ।

मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुविन्दवः ॥’

निर्दशन्निति वर्तमाननिर्देशात्कालीनमोचनेन तदेतुश्चात्रव्यापादनस्यापि तत्कालीनत्वलाभः । कार्यकारणयोः शत्रुव्यापादनाधरदर्शनयोः समकालत्वं तु बाधित-
मप्याहार्यप्रतीतिविषय एव शीघ्रप्रकारिताव्यञ्जनमित्यवधेयम् । अत्र समुच्चयार्थक-
वकाराद्यभावेन शत्रुव्यापादनकियया व्यङ्ग्यत्वेन समुच्चयस्य व्यङ्ग्यत्वम् ॥ कविप्रौढो-
क्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यं वस्त्वाह—‘सज्जेहीति । ‘सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति
युवतिजनलक्ष्यमुज्जान् । अभिनवसहकारमुखाधवपल्लवपत्रलाननङ्गस्य शरान् ॥’ इति
संस्कृतम् । सुरभिमासधैरः । अभिनवो नवशुक्लितः सहकारोऽतिसौरभाप्रो
मुत्तमादिर्येषां तान् । नवपल्लव एव पत्रं पञ्चस्तलान्ति शृङ्गन्ति तान् ॥ प्रकाशीभयस्तु
सिद्धवद्भासमानम् । विजृम्भणं विशेषेण वर्धनम् । अत्र वसन्तादीनां शरकारत्वादि-
क्रमलीकम् ॥ कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यमलंकारमाह—‘रजनीप्यति । विमल-
मानोः शुभ्रकिरणस्य चन्द्रस्येत्यर्थः । सततं रात्रिदिवम् । अत्र यशसा निखिलभव-
नधवलीकरणमलीकमपि कविप्रौढोक्तिसिद्धम् । अखिलमित्यनेनाधिकदेशप्रकाशत्वं च
बोध्यम् । रात्रिदिवप्रकाशस्यापि रात्रिप्रकाशकत्वमस्तीति तस्य निकर्षकारणत्वात्संभवा-
त्सङ्गत्वेन रात्रिमानप्रकाशकत्वेन निरर्पप्रलायनाद् व्यतिरेकस्य व्यङ्ग्यत्वम् ॥ कविप्रौ-
ढोक्तिसिद्धालंकारव्यङ्ग्यं वस्त्वाह—‘दशाननेति । यस्मिन् क्षणे श्रीरामः पृथिव्या-
मवतीर्णस्तत्क्षणं व्याप्येत्यर्थः । पर्यस्ताः पतिताः । प्रकृतानां मणीनां प्रतिपेधेना-

१. सज्जेहीति । अत्र वसन्तोऽप्येवमोऽनङ्गस्य सखा सज्जयति न केवलं तावदर्पयती-
त्येवंविधया समर्पयितव्यवस्त्ववर्णकुशलयोग्या सहकारोऽत्रेदानीं वसन्तदशा यव उक्ता
अतो ध्वन्यमानं मन्मथोन्माद्यसारम्भ क्रमेण गाढगाढीभव्यन्तं व्यनक्ति । अन्यथा
वसन्ते सपञ्चसहकारोऽयम् इति वस्तुमार्थं न व्यञ्जकं स्यात् ॥

१. ‘इ’ क-प. २. ‘आपणे इ’ क-प. ३. ‘इहे’ क-प. ४. ‘दाउ’ इति मालि क-मुल्ले.
५. ‘रात्रिदिव-’ इत्यदि ‘व्यङ्ग्यत्वम्’ इत्यन्ते पाठः पुस्तकान्तरे नास्ति.

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेनापहृत्यलंकारेण भविष्यद्वाहसश्रीविनाशरूपं
वस्तु व्यज्यते ।

‘धम्मिहे नवमल्लिकासमुदयो हस्ते सिताम्भोरुहं

हारः कण्ठतटे पयोधरयुगे श्रीखण्डलेपो घनः ।

एकोऽपि त्रिकलिङ्गमूमितिलक ! त्वत्कीर्तिराशिर्ययौ

नानामण्डनतां पुरंदरपुरीवामभ्रुवां विग्रहे ॥’

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेन रूपकालंकारेण भूमिष्ठोऽपि स्वर्गस्थाना-
मुपकारं करोपीति विभावनालंकारो व्यज्यते ।

‘शिखरिणि क जु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।

सुमुखि ! येन तवाधरपाटलं दैशति विम्बफलं शुक्रशावकः ॥’

अत्रानेन कविनिबद्धस्य कस्यचित्कामिनः प्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना
तवाधरः पुण्यातिशयलभ्य इति वस्तु प्रतीयते ।

‘सुभगे कोटिसंख्यत्वमुपेत्य मदनाशुभैः ।

वसन्ते पञ्चता त्यक्ता पञ्चतासीद्वियोगिनाम् ॥’

प्रकृतानामश्रुविन्दूनां स्थापनमपहुतिः । अत्र राशराधियोऽश्रुविन्दूनामलीकृत्येन
कविप्रौढोक्तिमात्रविदित्वम् ॥ कविप्रौढोक्तिविदालंकारस्यात्यमलंकारमाह—धम्मिह
इति । ‘धम्मिहः संयताः कथाः’ इत्यमरः । समुदयः रागदः । श्रीखण्डलेपधन्-
नप्रलेपः । विग्रहे देहे । अत्र कीर्तिराशेर्भावस्वरूपसादृश्यप्रतिद्वेपि कविप्रतिमा-
नाप्रतिद्वेपिमिति तन्मूलरूपरूपापि तथात्वमिति भावः । स्वर्गस्थानामुपकारे स्वर्ग-
स्थितिरेव कारणं तां विनापि भवतीति विभावना । उपकारश्च यत्तादिसारेण ॥ कविनि-
बद्धप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यग्रं यस्मादह—शिखरिणीति । अधरवत्पाटलं रत्नं शुक्रशाव-
कस्य तपधारणं प्रौढोक्तिमात्रविदम् । यत्तादरेनोत्कृष्टं वस्तु पुण्यं विना न लभ्यते
तस्य शुभरागेव पुण्यकृतिशयलभ्यत्वमिति भावः ॥ कविनिबद्धपञ्चतुल्यमलंकार-
माह—सुभगे इति । पञ्चता पञ्चसंख्योपयोगित्वं नरणं च ॥ कविनिबद्धप्रौढो-

१. प्रियेति । तेल्लदेउभूषणम् ॥

२. दुरातीति । दुरति आरादपते । अत्रवर्षितप्रमत्ततया न शीदरिकापारं
गुहं । अत्र पु रमघोऽत्र वप्रातिवदेव रमहताप्यस्य तपःप्रभावादेवेति । शुक्रशावक इति
नारदवाहुतिवाहनाभोति कर्म तस्य दरेन सहृदयाः ॥

१. ‘रतेन’ क. २. ‘अत्र कविनिबद्धमलंकारमाह’ इति पुनरुक्तये नञ्.

अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन कामशराणां कोटिसंख्यत्व-
प्राप्त्या निखिलवियोगिमरणेन वस्तुना शराणां पञ्चता शरान्विमुच्य
वियोगिनः श्रितेवेत्युत्प्रेक्षालंकारो व्यज्यते ।

‘मल्लिकामुकुले चण्डि माति गुञ्जन्मधुवतः ।

प्रयाणे पञ्चबाणस्य शङ्खमापूरयन्निव ॥’

अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेनोत्प्रेक्षालंकारेण कामस्यायमु-
न्मादकः कालः प्राप्तस्तत्कथं मानिनि मानं न मुञ्चसीति वस्तु
व्यज्यते ।

‘महिलासहस्रभरिणं तुह हिअए सुहअ सा अमान्ती ।

अणुदिणमणणकम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएह ॥’

अत्रामान्तीति ‘कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन काव्यलिङ्गालं-
कारेण तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तत इति विशेषोक्त्यलंकारो
व्यज्यते ।

न खलु कवेः कविनिबद्धस्यैव रागाद्याविष्टता अतः कविनिबद्ध-
वक्तृप्रौढोक्तिः कविप्रौढोक्तेरधिकं सहृदयचमत्कारकारिणीति पृथक्प-

क्तिसिद्धालंकारव्यङ्ग्यं वस्तुवाह—मल्लिकेति । चण्डि अत्यन्तकोपने । कामस्येति
सहाय इति शेषः । उन्मादकः श्रोपितपीडातिशयजनकश्च । ‘मानस्य’ इति पाठे
यथाश्रुत एवार्थः । उत्प्रेक्षणीयस्य कामप्रयाणकालीनशङ्खापूरणस्यासंभवित्वात्प्रौढो-
क्तिसिद्धत्वम् ॥ कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्धालंकारव्यङ्ग्यमलंकारमाह—महिलेति ।
‘महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुमग सा अमान्ती । अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तन्वपि
तनयति ॥’ इति संस्कृतम् । नायकं प्रति सख्या उक्तिरियम् । अमान्ती मानमेव
काशमप्राप्नुवती । दिवसे प्राप्य तनयति कृशीकरोति । ‘हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्य-
लिङ्गं निगद्यते’ इति काव्यलिङ्गलक्षणम् । अत्र पदार्थतया हेतुर्निर्दिष्ट इत्याहुः—
अत्रामान्तीति । मनभोऽणुत्वादनुपलभ्यत्वाच्च तत्र मानमेव न संभवति कुतस्तत्राभ
इति भावः । तनुतनूकरणरूपधारणस्य सत्त्वेऽपि त्वद्वृत्तित्वरूपफलं नास्तीति
विशेषोक्तिः । ननु कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्धस्य कविप्रौढोक्तिसिद्धत्वमस्त्येवेति कथं तस्य
पृथगुपादानमित्यत आह—न खल्विति । रागादीत्यादिना उत्साहादिपरिग्रहः ।
प्रौढोक्त्या हि वक्तुं रागाद्याविष्टचित्तत्वं प्रतीयते । तत्र कव्यपेक्षया कविनिबद्धस्य
वक्तुरधिकरागाद्याविष्टचित्तत्वमिति तद्व्यञ्जिकायाः प्रौढोक्तेरधिकवचमत्कारकारित्वमिति

१. ‘काम’ इति नास्ति कपुलके. २. ‘वस्तुना’ इति कश्च पुलकयोगोर्नास्ति. ३. कपुलके ‘इव’
नास्ति. ४. ‘मानिनि’ इति नास्ति कपुलके

तिपादिता । एषु चालंकृतिव्यञ्जनस्थले रूपणोत्प्रेक्षणव्यतिरेचनादि-
मात्रस्य प्राधान्यं सहृदयसंवेद्यम्, न तु रूप्यादीनामित्यलंकृतेरेव
मुख्यत्वम् ।

एकः शब्दार्थशक्त्युत्थे—

उभयशक्त्युद्भवे व्यङ्ग्ये एको ध्वनेर्भेदः ।

यथा—

‘हिममुक्तचन्द्ररुचिरः सपद्मको

मदयन्दिजाञ्जनितमीनकेतनः ।

अभवत्प्रसादितसुरो महोत्सवः

प्रमदाजनस्य स चिराय माधवः ॥’

भावः । ननु मनालंकारस्य व्यञ्जकत्वमुक्तं तत्रालंकारस्य वस्तुनोऽपि व्यञ्जकत्वमस्त्ये-
वेति कथमलंकारस्य पृथगुपादानमत आह—एषु चेति । प्रागुक्तद्वयदशसु भेदेषु
मध्ये इत्यर्थः । अलंकृतिव्यञ्जनस्थले अलंकारव्यञ्जनस्थले । रूप्यादीनामित्या-
दिना उत्प्रेक्षणीयव्यतिरेचनीयादीनां ग्रहणम् । मुख्यत्वमिति । अतएव तेनैव
व्यवहार इत्यर्थः ॥ हिममुक्तेति । हिममुक्तो निमलो यच्चन्द्रः स इव रुचिरोऽभि-
रूपणीयः । वसन्तपक्षे—हिममुक्तेन चन्द्रेण रुचिरो दीप्यमानः । पद्मा लक्ष्मीरु-
त्सहितः । पक्षे—पद्मयुक्तः । द्विजान् विप्रान्, कौशिल्यं च । जनितप्रपुत्रः ।
पक्षे—जनितसुरताभिलाषः । प्रसादिताः प्रसन्नचित्तीकृताः सुरा देवा येन । पक्षे—
प्रसादिता विमलीकृता सुरा मयं येन । माधवः श्रीकृष्णः यतन्तश्च । अत्रोभयश-
क्तिव्यङ्ग्यस्य वसन्तस्योपमा उभयशक्तिव्यङ्ग्या । तथाहि—प्रमदाजनस्य महोत्सा-

१. शब्दार्थेति । यपि शब्दशक्तिमूलकत्वमर्थशक्तिमूलकत्वं चैतदुभयमपि सकलव्य-
ञ्जयसाधारणम्, शब्दार्थभेदोत्पत्तिर्भावात् निना व्यङ्ग्यस्यैवानुपलब्धत्वात्, तथापि परिशुत्सदृशि-
ष्णूनां शब्दानां प्राचुर्ये तत्रप्रयुक्तप्राधान्यात्तत्त्वात् अप्यर्थशक्तिरप्राधान्याच्च व्यङ्ग्यस्य शब्द-
शक्तिमूलकत्वेनैव व्यपदेशः । परिशुत्सदृशिष्णूनां तु प्राचुर्येऽर्थशक्तिरेव प्राधान्यात्तत्त्वात्
अपि शब्दशक्तिः संप्रधानातुगुण्यार्थतया अतप्रामादिवत्प्रधानेनैव व्यपदेशः । यत्र तु काम्ये
परिशुत्सि सहमानानामसहमानानां च शब्दानां नैकजातीयप्राचुर्यम्, अपि तु साम्य-
मेव, सत्र शब्दाभ्योमयशक्तिमूलकस्य व्यङ्ग्यस्य स्थितिरिति श्रुत्यो ध्वनिः । न चायमव्य-
तरशक्तिमूलकउदेव व्यपदेशं शक्यः । निमित्तमकामावात् ॥

२. एतोऽपे क पुनरे ‘शब्दार्थस्य यथा—विशेषव्युत्पन्नत्वम्’ इत्यादि । व्यङ्ग्यार्थस्य यथा—
‘उभयविशेषविशेषम्’ इति । अत्रोऽपि स्वार्थव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यपदेशः । यतमेतद्विशेषव्यपदेश-
व्यपदेशम् । इत्यदि । वाङ्मयः २. ‘उभय-’ इत्यादि । ‘विदुः’ इत्यादि । एतो क पुनरे मदि ।

अत्र माधवः कृष्णो माधवो वसन्त इवेत्युपमालंकारो व्यङ्ग्यः ।
एवं च व्यङ्ग्यभेदादेव व्यङ्ग्यकानां काव्यानां भेदः ✓

तदष्टादशधा ध्वनिः ॥ ९ ॥

अविवक्षितवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेति द्वि-
विधः । विवक्षितान्यपरवाच्यस्तु असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेनैकः । संलक्ष्य-
क्रमव्यङ्ग्यत्वेन च शब्दार्थोभयशक्तिमूलतया पञ्चदशेत्यष्टादशभेदो
ध्वनिः । एषु च—

वाक्ये शब्दार्थशक्त्युत्थस्तदन्ये पदवाक्ययोः

तत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः पदगतो यथा—

‘धन्यः स एव तरुणो नयने तस्यैव नयने च ।

युवजनमोहनविद्या भवितेयं यस्य संमुखे सुमुखी ॥’

वजनं वसन्तस्यैव सामर्थ्यमित्यर्थप्रतिस्थानसङ्गृह्यतेन माधवपदेन वसन्त एव
व्यज्यते न त्वर्थान्तरम् । तस्य तत्र सामर्थ्याभावात् । न चान्न शब्दार्थोभयश्लेष-
सत्त्वेनोभयशक्तिव्यङ्ग्योपमेति वाच्यम् । तथा सति ‘दुर्गालङ्कित-’ (६२ पृ०)
इत्याद्याभयश्लेषसत्त्वेनोभयशक्तिव्यङ्ग्यत्वं स्यात् । गृहीतगारिमेत्यर्थश्लेषस्यापि तत्र
सत्त्वात् । ननु भेदेषु व्यङ्ग्यस्यैव भेदो दर्शितः । तच्च प्रवृत्तानुपयुक्तमत आह—
एवं चेति । तदिति । उक्तक्रमादित्यर्थः ॥ अष्टादशतमुपपादयति—अविव-
क्षितेति ॥ वाक्ये वाक्य एव । तदन्ये उभयशक्त्युत्थादन्ये ॥ धन्य इति ।

१. उपमेति । अत्रोपमालंकारश्चन्द्रपद्यादिशब्दानां परिहृत्यसहिष्णुतया हिममुक्तादि-
कानां तत्सहिष्णुतया उभयस्यापि प्राधान्येन व्यञ्जकत्वादुभयशक्तिमूलकः । यथा वा
मम—‘राजकोटिमनोहारी वृषस्थितिपरायण’ । स हि सेन्यो महादेवो विक्रान्तसर्व-
मङ्गल ॥’ इत्युदाहार्यम् ॥

२. पञ्चदशेति । वस्तुवर्णकारूपत्वाच्छब्दशक्तिमूलो द्विविधः, अर्थशक्तिमूलो
द्वादशविधः, शब्दार्थोभयशक्तिमूल एकः, इति पञ्चदशभेदाः अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यादि-
भेदत्रयेण सहाष्टादशेति ॥

३. तदन्ये इति । अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यादयः सप्तदशभेदाः पदे वाक्ये च भवन्ती-
त्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम्—यत्रैकस्यैव पदस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यशार्थोपस्थितवानुपगम्य परेषा
षु सहाकारिमात्रं तत्रैव पदगतत्वम् । नात्रापदानां तयारूपत्वे तु वाक्यगतत्वमिति ॥

१ ‘अवि-’ इत्यादि ‘एषु च इत्यन्तः पाठो ग पुस्तके नास्ति. २. ‘व्यङ्ग्यपरायत्वेन’ इति
य पुस्तके पाठः. ३. ‘तत्र-’ इत्यन्तः ‘त्रयश्लेषेति मतः—इति परिश्रमः साध्याख्याभागे नास्ति
ग-पुस्तके ४ ‘यदर्थे’ यस्य प्रसिद्धिरत्रैव तदर्थस्य सामर्थ्यम् । यदनेन काव्यप्रकाशः’ इति
पुस्तकान्तरेऽपि पाठः

अत्र द्वितीयनयनशब्दो भाग्यवत्तादिगुणविशिष्टनयनपरः ।

वाक्यगतो यथा—

‘त्वामस्मि वच्मि’ विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।

आत्मीयां मतिर्मास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥’

अत्र प्रतिपाद्यस्य संशुस्तीनत्वादेव लब्धे प्रतिपाद्यत्वे त्वामिति पुनर्वचनमन्यव्यावृत्तिविशिष्टं त्वदर्थं लक्षयति । एवं वच्मीत्यनेनैव कर्तरि लब्धेऽस्मीति पुनर्वचनम् । तथा विदुषां समवाय इत्यनेनैव वक्तुः प्रतिपादने सिद्धे पुनर्वच्मीति वचनमुपदिशामीति वचनविशेषरूपमर्थं लक्षयति । एतानि च स्वातिशयं व्यञ्जयन्ति । एतेन मम वचनं तदात्यन्तं हितं तदवश्यमेव कर्तव्यमित्यभिप्रायः । तदेवमयं वाक्यगतोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः पदगतो यथा—‘निःश्वासान्धः—’ इत्यादि (२०९ पृ.) । वाक्यगतो यथा—‘उपकृतं बहु तत्र—’ इत्यादि (४४ पृ.) । अन्येषां वाक्यगतत्वे उदाहृतम् ।

युवजनमोहनविद्या । मिथेन युवजनमोहिनीत्यर्थः । यद्यपि ‘कदली कदली—’ (२०८ पृ.) इत्यादौ पदगतोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यपरिहृत एव तथाप्युदाहरणान्तरदर्शनमेतद्व्यतिरेकप्रतिपत्त्ये ॥ त्वामस्मीति । अस्मि अहम् । समवायः संधः । आत्मीयां आत्मनो हिताम् । तत्तस्मात् । लक्षणापीजमन्ववाहुपपत्त्योगित्वं प्रदर्शय लक्ष्यार्थं व्यङ्ग्यार्थं च दर्शयति—अप्रेति । अस्मीति । पुनर्वचनमिति । ‘हितकारिमदर्थं लक्षयति’ इति शेषः । सर्वत्र मुख्यार्थस्याभेदः संपन्धः । एतानि अन्यव्यावृत्तिविशिष्टत्वादिवस्तूनि । स्वातिशयमिति । त्वत्पदार्थस्य वादजल्पादिक्षमत्वम् । मत्पदार्थस्यात्यन्तहितैषिण्यम् । उपदेशस्यानुपेक्षणीयत्वमतिशयः । प्रत्येकपदव्यङ्ग्यत्वं प्रदर्श्य वाक्यव्यङ्ग्यं दर्शयति—एतेनेति । उक्तवाक्येनेत्यर्थः । ‘अभिप्रायः प्रतीयते’ इति शेषः । उपकृतमिति । व्याख्यातमिदं ग्राह्यम् । अत्र लक्षणिकपदानामेकवाक्यस्यत्वाद्वाक्यत्वेनैव व्यञ्जकत्वम् । यद्यप्युपकृतादिलाक्षणिकपदानां प्रत्येकवाक्यस्यत्वं तथापि महावाक्यगतत्वेनैकवाक्यस्यत्वं येयम् । अन्येषामनसंलक्ष्यक्रमव्याख्यारीनाम् । उदाहृतमिति । निरुक्तरतामुदा-

१. ‘यमुदाह’ प. २. ‘आदाह’ प. ३. ‘अन्ववाहुपपत्तिविशिष्ट मर्थं तदवति’ इति घट्टक-
उचिक्तम्. ४. ‘यमुदाह’ प. ५. ‘अप्रेति’ प. ६. ‘अभिप्राय’ प. ‘उपकृतम्’ प. ७. ‘अभि-
प्रेति’ प. ८. ‘एते’ प.

पदगतत्वं यथा—

‘लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः ।

तदा सुधास्यन्दममूदधुना तु ज्वरो महान् ॥’

अत्र लावण्यादीनां तादृगनुभवैकगोचरताव्यञ्जकानां तदादिशब्दानामेव प्राधान्यम्, अन्येषां तु तदुपकारित्वमेवेति तन्मूलक एव ध्वनिव्यपदेशः ।

हरणमेव तदुदाहरणमित्यर्थः ॥ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यं पदप्रकाशयमाह—लावण्यमिति । कस्यचिद्विप्रलम्भवर्णनमिदम् । सर्वावयवगतो विदग्धनयनोत्सवहेतुः कोऽन्यतिशयो लावण्यम् । प्रत्येकमवयवानां संस्थानसौभाग्यं कान्तिरिति चण्डीदासः । रूपं सौन्दर्यम् । तदा नायिकासंनिधानसमये । सुधास्यन्दं मुपातिशयजनकम् । अधुना नायिकाविच्छेददशायां ज्वरः संतापजनकः । विभावादिव्यङ्ग्ये रसे तदादिपदानां व्यञ्जकत्वमुपपादयति—अत्रेति । अनुभवैकगोचरताव्यञ्जकानामनिर्वचनीयत्वव्यञ्जकानामत्युत्कृष्टविप्रलम्भव्यञ्जने प्राधान्यम् । अन्येषां विभावादीनां लावण्यादीनां वा तदुपकारित्वं तदादिपदसहकारित्वमिति हेतोस्तन्मूलक एकपदमूलक एव । न तु वाक्यमूलकः । ‘प्रधाने हि व्यपदेशा भवन्ति’ इति न्यायादित्यर्थः । अत्यन्तसंतोषसंपादकवस्तुसरणाद् विरहिणां दुःखातिशयो भवतीति विप्रलम्भातिशयो व्यज्यत इत्येतत्पदगतासंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनेरुदाहरणमुपपन्नम् । ननु तदादिपदानामनुभवगोचरेऽभिधैव कथं व्यज्यतेति चेत् । न । अनुभवैकगोचरतेत्यनेनानिर्वचनीयत्वस्य विवक्षणात् । अत एव चण्डीदासः—‘अनुभवैकगोचरास्तत्कालचमत्कारिणो निर्वक्तुमशक्याः सर्वस्वव्ययप्राणपणादिभिरपि प्रार्थनीयाः’ इति ध्याचकार । नन्वितरसाविष्यं विना पदस्य व्यञ्जकत्वं तावन्न संभषति

1. तन्मूलक इति । काव्यानां शरीरिणामिव संज्ञानविशेषावच्छिन्नसंमुदायसाध्यापि ज्ञातृवप्रतीतिरन्वयव्यतिरेकाभ्यां भागेषु कल्प्यत इति पदानामपि व्यञ्जकत्वमुखेन, ‘व्यवसितो ध्वनिव्यवहार इति व्यक्तं ध्वन्यालोके । प्रदीपकृताप्युक्तम्—मनु पदस्य व्यञ्जकत्वे किमायातम् । वाक्यरूपस्य काव्यस्य ध्वनित्वम् । कथं वा पदमात्रस्य व्यञ्जकत्वे वाक्यस्यैव समस्तस्य चास्तेति चेत्, उच्यते—पदप्रकाशयत्वं न पदमात्रस्य व्यञ्जकतया, किं तु तस्य प्राधान्येन । अविवक्षितवाच्ये पदमात्रस्य व्यञ्जकत्वेऽपि यदावयववर्ति-
‘शब्दस्वार्थस्य वा कस्याप्यतिशयितार्थव्यञ्जकत्वं तदावयवस्यैव ध्वनित्वमित्युपगमात् कश्चिदोपः । एकदेशस्येतेन तादृशपदेन समस्तमेव वाक्यं चारणामुपगच्छतीति कामिनीवैकाग्रवशेन भूषणेन ॥

तदुक्तं ध्वनिकृता—

‘एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी ।

पदद्योत्येन सुकवैर्ध्वनिना भाति भारती ॥’

एवं भावादिष्वप्युक्तम् ।

‘भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः ।

कस्य नानन्दनिस्यन्दं विदधाति सदागमः ॥’

अत्र सदागमशब्दः संनिहितमुपनायकं प्रति सच्छास्त्रार्थमभिधाय सतः पुरुषस्यागम इति वस्तु व्यनक्ति । ननु सदागमः सदागम इवेति न कथमुपगाध्वनिः । सदागमशब्दयोरुपमानोपमेयभावाविवक्षणात् ।

तत्र प्राधान्याप्राधान्यविवेचनमकिंचित्करम् । तथा सति सर्वत्र वाक्यस्यैव व्यञ्जकत्वमुपपन्नं पदगतध्वनिप्रभेदाद्वाकारस्तु प्राचीनमतानुसारेणैवेत्यभिप्रायेण प्राचीनमतमुपन्यस्यति—तदुक्तमिति । एकावयवेति । नासिकास्वगजमुखादिनेत्यर्थः । पदद्योत्येन पदव्यङ्ग्येन ध्वनिना अर्थेन ॥ भावादिष्वपीति । पदप्रकाश्यभावादिव्यपीत्यर्थः । तेषामप्यसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनित्वेनोदाहर्तुमुचितत्वात् । शब्दशक्तिमूलं पदप्रकाश्यं वस्त्वाह—भुक्तीति । जनान्तरसंनिधायुपनायके उपस्थिते पुराणाद्यागमप्रशंसाव्याजेन हर्षं सूचयन्त्या नायिकाया उक्तिरियम् । सदागमः सच्छास्त्रं पुराणादिकं वस्थानन्दनिस्यन्दं न विदधाति, अपि न सत्यस्यैव । कीदृशः । भुक्तिमुक्तयोः स्वर्गोपवर्गयोः कर्ता । एकान्तसमादेशनं तत्त्वोपदेश. तत्परः तत्परी । ध्वन्यर्थस्तु—सत्पुरुषस्य भवाद्दशस्यागमनं कस्य भद्रिधजनस्य आनन्दनिस्यन्दं न विदधाति । कीदृशः । भुक्तिमुक्तयोः सुरतोपभोगगृहकर्मत्यागयोः कर्ता । एकान्तसमादेशनस्य बहुलीतोपदेशस्य कारकः । ईदृशार्थस्य वाच्यध्वन्यवयवेऽपि तत्र सदागमपदस्य प्रधानत्वादन्येषां सहकारितापदव्यङ्ग्यव्यपदेश इत्याह—अत्रेति । संनिहितं जनान्तरसंनिधायुपस्थितं सच्छास्त्रार्थमभिधाय अभिधया षोडशित्वा । सदागमशब्दयोरिति । सदागम इति शब्दः प्रतिपादयो ययोस्तयोः ।

१. ष्टेति । ध्वनिग्रन्थे नु ‘निश्चितिगोविनेनेन’ इति शब्दे दृश्यते ॥

२. भारतीति । श्रौतग्रन्थावयवव्यङ्ग्या स्फोटरूपा भारतीत्यर्थः । ददन्तर्गतेन पदेन दोषोऽस्ति। सति दोषव्यासत्तया व्यनक्ते तस्यैव ध्वनित्वमिति फलिगार्यः ॥

३. आनन्देति । आनन्दनिस्यन्दं प्रमोदप्रसवणम् । इह ‘अनुविषयमितिभ्यः सन्दर्भे-रपानिषु,’ इति सूत्रेण रेकत्वव्यत्ययविधानात्पठे सदागमः ॥

रहस्यस्य संगोपनार्थमेव हि द्वर्थपदप्रतिपादनम् । प्रकरणादिपर्यालोचनेन च सच्छास्त्राभिधानस्यासंबन्धत्वात् ।

‘अनन्यसाधारणधीर्घृताखिलवसुंधरः ।

राजते कोऽपि जगति स राजा पुरुषोत्तमः ॥’

अत्र पुरुषोत्तमः पुरुषोत्तम इवेत्युपमाध्वनिः । अनयोः शब्दशक्ति-
मूलौ संलक्ष्यक्रमभेदौ ।

‘सायं ज्ञानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं

यातोऽस्ताचलमौलिभम्बरमणिर्विसन्धमत्रागतिः ।

सच्छास्त्रसत्पुरुषायमनयोरित्यर्थः । अविवक्षणे हेतुमाह—रहस्येति । उपनायका-
शुरागस्य गोपनार्थमेव । न तूपमानोपमेयभावबोधनार्थम् । हि यस्माद् द्वर्थश-
ब्दानां प्रतिपादनं प्रयोगः । ननु ‘तदर्थं कृतमेतदर्थं भवति’ इति न्यायादुपमानो-
पमेयत्वबोधकः कथं न स्यादित्यत आह—प्रकरणादीति । आदिना वयोवस्था-
दिसंग्रहः । सच्छास्त्राभिधानस्यासंबन्धाद्येत्यन्वयः । असंबन्धत्वात्प्रकृतानुपयो-
गित्वात् । तथा च यत्र वाच्यार्थः प्रकृतोपयुक्तो व्यङ्ग्यार्थस्तत्र संबन्धस्तत्रैवागत्या
तयोपमानोपमेयभावः कल्प्यते । अत्र तु व्यङ्ग्यार्थस्यैव प्रकृतोपयोगित्वं वाच्या-
र्थस्य तदङ्गत्वमिति न तदवसर इति भावः ॥ शब्दशक्तिमूलं पदप्रकाशमलंकार-
माह—अनन्येति । अनन्यसाधारणा अनन्यतुल्या धीर्यस्य सः । घृता पालिता धा-
रिता च वसुंधरा येन । पुरुषोत्तम इव विष्णुरिव । नन्वन पूर्वार्धेऽपि श्लेषसंभवेन
‘दुर्गालङ्घितविग्रह—’ (६९ पृ०) इतिवद्वाक्यव्यङ्ग्यमेवोपमानोपमेयत्वमिति चेत्,
तत्त्वम् । अनेकार्थस्य पुरुषोत्तमपदस्य सार्थकत्वाय एकार्थकानामप्यनन्येतिपदानां
द्वर्थकत्वं कल्प्यत इति पुरुषोत्तमपदस्यैव प्रधानत्वम् । ‘दुर्गालङ्घित—’ इत्यादौ तु
यहूनामेव पदानां स्वभावत एवानेकार्थत्वमिति ततोऽस्य भेदः । ननु संज्ञायामेव
समासशासनात्कथं पुरुषोत्तमपदस्यानेकार्थत्वम्, न च रासमीशमासस्यैव संज्ञायां
विधानात्पट्टीसमासेन पुष्टपश्रेष्ठवाचकत्वमिति वाच्यम् । निर्धारणे विदितायाः पदरा-
समासनिषेधात् । उच्यते—पुरुषोत्तमयति संसर्गेण उत्कृष्टं करोतीति व्युत्पादा
तस्य पुष्टपश्रेष्ठवाचकत्वात् ॥ सत.संमधियस्तुव्यङ्ग्यं यस्तु पदप्रकाशयमाह—साय-
मिति । उपनायकेन पय्युग्मुष्ठां आतापतां सखीमुपहृन्त्याः सख्या उपशिरियम् ।
उपासितं कृतम् । ज्ञानमलयजलेपयोः धनप्रतिबन्धश्च दक्षितम् । सायंपदस्य
त्रिमुहूर्तरूपवादादपरात्वे तत्रातपसंभावनायां तां वारयति—यात इति । अग्न्यर-
मणिः रत्नैः । विसन्धं स्वच्छन्दं यथा स्नातयात्रागतिः । एतेन भयार्हात्वाद्वा धनो

१. समासेति । ‘संज्ञायाम्’ इति शास्त्रादित्यर्थः । संज्ञा हि समुदायोपाधिः । तेन
निलसमास एवायम् । न हि वाक्येन संज्ञा गम्यत इति प्रकृतपदवाचकत्वात् नृतिशयः ॥

२. समासेति । ‘न निर्धारणे’ इति खेन समासप्रतिषेधादित्यर्थः ॥

१. ‘पुष्टपश्रेष्ठ’ घ. २. ‘योऽपि’ ‘श्लेष’ इत्येवम् क-मुच्छेदे.

आश्चर्यं तव सौकुमार्यमभितः क्लान्तासि येनाधुना
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥'

अत्र स्वतःसंभविना वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया स्नातासीति वस्तु
व्यज्यते । तच्चाधुना क्लान्तासि, न तु पूर्वं कदाचिदपि तवैवंविधः
क्लमो दृष्ट इति बोधयतोऽधुनापदस्यैवेतरपदार्थोत्कर्षादधुनापदस्यैव पदा-
न्तरापेक्षया वैशिष्ट्यम् ।

तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशोपपातका ।

तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ।

नास्तीति दर्शितम् । 'विलम्बमन्दा' इत्यपि क्वचित्पाठः । आश्चर्यमदृष्टपूर्वम्, येन
सौकुमार्येण अभितो बहिरन्तश्च क्लान्तासि । क्लमज्ञापकमाह—नेत्रद्वन्द्वमिति ।
अमीलनव्यतिकरं मीलनसंपर्करहितम् । आसितुं स्यातुम् । अत्रेति । वस्तुना
वाक्यार्थेन । ननु तादृशार्थस्य वाक्यार्थव्यङ्ग्यत्वे वाक्यगतध्वनिरेवायं न तु पदगत
इत्यत आह—तद्येति । तादृशव्यङ्ग्यं चेत्यर्थः तद्यङ्ग्यमधुनापदस्यैवेत्यन्वयः ।
अत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह—अधुना क्लान्तासीत्यादिवोधयत इति । तथा च तादृ-
शकृतस्य सौकुमार्यप्रयुक्तत्वे दिनान्तरेऽप्येवं स्यादतोऽधुनापदादाधुनिक्लमहेतु-
त्वाभ इति भावः । ननु तथाप्यधुनापदस्यैवेति नियमः कथमुत्पद्यते । स्रं स्वमर्थं
बोधयतां पदान्तराणामपि व्यञ्जनायामुपकारसंभवादित्यत आह—इतरेति । अधु-
नापदस्येतरपदार्थानामुत्कर्षाधानात्तस्यैव पदार्थान्तरापेक्षया वैशिष्ट्यं प्राधान्यम् ।
अधुनापदार्थप्राधान्येन तावद्वाक्यार्थेन तादृशपदार्थान्तराणामपि परपुरुषपरिचयव्य-
ञ्जकत्वम् । तथाहि—सायमित्यादि । अधुनापदार्थप्रतिसंधानेन सायंतनज्ञानस्य
निमित्तान्तरानुसंधानप्रतिबन्धादविलम्बितमेव परपुरुषपरिचयं प्रत्याययति । एवं
मलयजेनेत्यादि परपुरुषसंभोगचिद्वगोपनम्, यात इति परपुरुषसंभोगप्रतिबन्धक-
प्रकाशाभावम् । विलम्बमित्यादि तद्देशे तत्कालिकनायकत्वाभावमधुनापदार्थप्र-
तिसंधानेनैव प्रत्याययति । अत्रोपहास एव महावाक्यव्यङ्ग्यः । इदं च व्यङ्ग्यं
तत्प्रकर्षकमित्यवधेयम् ॥ स्वतःसंभविवस्तुव्यङ्ग्यमलंकारं पदप्रकाशमाह—तद-
प्राप्तीति । श्रीकृष्णप्राप्तीत्यर्थः । तच्चिन्तेति । श्रीकृष्णचिन्तेत्यर्थः । जगतः

१. अमीलनेति । न रिच्छते मीलनस्य मुद्रणस्य व्यतिवृत्तः । पीनः पुन्येन प्रशुचिः
संस्पर्शो वा वासिल्लयामृतम् ॥

२. अत्रेति । इह शब्दानां परिशुद्धिस्तद्विस्तृतादर्थव्यञ्जितमवनेयम् । एवमप्रिभो-
दादरपेक्षि ॥

३. तदिति । तस्य अमात्या विदोमेन यन्महादुःखं तेन विरीनानि नष्टानि अदेषानि
पातयामि यस्याः सा । तथा, तस्य चिन्तया व्यानेन दो विपुले महानाहार आनन्दलेन
धीनः पुण्यवयः सुश्रुतसूरो यस्याः सा । भिन्नं वच्छृणुषः प्राप्नोत्कर्मनं यस्याः सा,
तस्या भावच्छाया दया । प्राप्नोत्कर्मनं विनेत्यर्थः । 'न तस्य प्राप्य जगामन्दीय समर-
दीयः' इति कुतः ॥

चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परं ब्रह्मस्वरूपिणम् ।

निरुच्छासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका ॥' (युग्मकम्)

अत्राशेषचयपदप्रभावाद्नेकजन्मसहस्रमोग्यदुष्कृतसुकृतफलराशितादा-
त्म्याध्यवसिततया भगवद्विरहदुःखचिन्ताहादयोः प्रत्यायनमित्यतिशयोक्ति-
द्वयप्रतीतिरशेषचयपदद्वयद्योत्या । अत्र च व्यञ्जकस्य कविप्रौढोक्तिमन्त-
रेणापि संभवात्स्वतःसंभविता ।

सूतिर्जन्म यस्मात्तं परं सर्वोत्कृष्टं ब्रह्मस्वरूपिणं श्रीकृष्णं निरुच्छासतया निरुद्ध-
प्राणतया अन्या या गुरुजनोपरोधेन श्रीकृष्णसमीपं गन्तुमशक्ता सा श्रीकृष्ण-
वियोगेन मुक्तिं गता । सुकेत्यर्थः । समस्तपापपुण्यक्षयादेव मुक्तिरित्युपपादयति—
तदप्राप्तीति । तदप्राप्तिजन्येत्यर्थः । तच्चिन्तेति । तच्चिन्ताजन्येत्यर्थः । भोगेन हि
पापपुण्यक्षयो भवति । तद्वाभावाह—महादुःखेति, विपुलहादेति च तयोरुपभो-
गेनेति बोध्यम् । पापपुण्ययोः सामत्स्यलाभश्च अशेषचयपदाभ्याम् । अशेषचय-
पदयोः प्रभावात्सामर्थ्यात् । कारणसामत्स्येन फलसामत्स्यप्रतीतिरुचितैवेति भावः ।
हेतुरयं तादात्म्याध्यवसाये । दुष्कृतसुकृतफलराशिर्दुःखाहादप्रचयः । तादात्म्या-
ध्यवसितयोरभेदाशेषविषययोः प्रत्यायनं प्रकरणवैशिष्ट्येन प्रतिपादनम् । अति-
शयोक्तीति । 'विषयनिगरणेन निषयितावात्म्यारोपोऽतिशयोक्तिः' इति तादृश-
णम् । यथा—'कथमुपरि कलापिनः कल्पः—'इत्यादि । अत्र प्रकरणवैशिष्ट्याद्विषयस्य
केशपाशस्य लाम इति विषयनिगरणम् । अशेषचयपदद्वयद्योत्या अशेषचय-
पदव्यञ्जनाजन्वा । अयं भावः—प्रकृतेऽभिधेयबोधनान्तरे मुरादुःखभोगविशेषेण
कथं यावत्पुण्यपापक्षय इत्यनुपपत्तिं प्रतिसंदधतो व्यञ्जनया यावत्सुरादुःखभोगज-
न्याशेषपुण्यपापक्षयवतीति प्रतीतिर्जायते । अत्राशेषचयपदाभ्यां विषयिणः मुरादुः-
खराशौर्वाच्यबद्धव्यञ्जनया सदिति प्रतीतिः, प्रकरणवैशिष्ट्येन प्रकृतयोर्भगवद्विरहदुः-
खचिन्ताहादयोः प्रतीतिरित्यतिशयोक्तिद्वयस्य व्यङ्ग्यत्वम् । न चाप्यसतायमात्रेण
कथमनुपपत्तिनिरास इति वाच्यम् । एककार्यकारित्वरूपतादृश्यपर्यवसानेन तन्निरा-
सात् । तथा च भवचिन्ताविरहाभ्यां तथा मुरादुःखे जनिते यदुपभोगेन यावत्सु-
रादुःखभोगनाशयोः मुरादुःखप्रत्युपपन्नयोर्नाशो जनितः । एतत्सूचनाय महत्त्वं
विपुलत्वं च दुःखाहादयोर्विशेषणमुपन्यस्यम् । केचित्तु—'मुक्तपुण्ययोगित्वेन प्रकृतस्य
गमस्तपापफलरुशोः पापविशेषकतेनाप्रकृतेन भगवद्विरहमहादुःखेन, मुक्तपुण्ययोगि-
त्येन प्रकृतस्य गमस्तपापफलरुशोः पुण्यविशेषकतेनाप्रकृतेन तच्चिन्ताविपुलशुभेन
साहाभेदप्रतीतिरतिशयोक्तिः । निगीर्णं प्रकृते शब्दोपातेनाप्रकृतेन साहाभेदप्रतीतिर-
तिशयोक्तिरिति तादृशणत्वं' इत्याहुः । तत्र । विषयिणि प्रतिदधनेत्यपि विषये प्रती-
तिरेवातिशयोक्तिः कल्पम्, न ॥ विषये प्रतिदध्य विषयिणि प्रतीतिः । एवं स्थिता-
यनितयोर्विद्वयस्य निष्कलतावात्ताद विषये प्रतिदध्य यावत्पुण्यपापनाशद्वयस्य
विषयिणि प्रतीतेरसंभवेनाभिप्रेतानुपपत्तिनिरागम्यायोगाद्विषयिणः शब्दोपातत्वेन

‘पश्यन्त्यसंख्यपथगां त्वद्दानजलवाहिनीम् ।

देव ! त्रिपथगात्मानं गोपयत्युग्रमूर्धनि ॥’

‘कथमुपरि कल्पिनः कल्प-’ इति तद्वाच्योपपत्तावतिशयोक्तिद्वयस्य व्यङ्ग्यत्वमिति योगाच्च । नचाशेषचयपदप्रभावेण विषयस्य व्यङ्ग्यत्वेनैव तस्य व्यङ्ग्यत्वमिति वाच्यम् । तथा सति ‘कथमुपरि-’ इत्यादौ प्रकरणवैशिष्ट्येन विषयस्य व्यङ्ग्यतया-तिशयोक्तिर्व्यङ्ग्यत्वापातात् । व्यञ्जकस्य वाक्यार्थस्य ॥ स्वतःसंभव्यलंकारव्यङ्ग्य-वस्तुपदप्रकाशं वस्तु यथा—‘क्षणदासावक्षणदा वनमवनं व्यसनमव्यसनम् । धत वीर ! तव द्विपतां पराश्रुहे त्वयि पराश्रुखं सर्वम् ॥’ क्षणदा रात्रिः । अक्षणदा अनुरसवकरी । व्यसनं दुःखम् । अवीनां मेपाणामिव असनमितस्वतो भ्रमणं च । पराश्रुहे विपरीते । पराश्रुखं विपरीतम् । अत्र शब्दशक्तिमूलविरो-धिनिर्वाह्येन चतुर्थपदगतेनार्थान्तरन्यासेन विधिरपि त्वामनुवर्तत इति सर्वपदशोखं वस्तु स्वतःसंभव्यलंकारव्यङ्ग्योऽलंकारः । पदशोखो यथा—‘तैव पल्लधरस्तन्वि म्लानपद्मदलं प्रगे । इति श्रुत्वा नववधूः करोति मुखमानतम् ॥’ अत्र रूपकालं-कारेण त्वयास्यात्यन्तशुभ्यनं कृतं येन म्लानत्वमिति काव्यलिङ्गाजंकारो म्लानादिपद-शोखः । कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यं वस्तुपदप्रकाशं यथा—‘चन्द्रधवलाम्बु रात्रिषु धनुषि कुसुमं समास्फल्य । एकच्छत्रमनङ्गत्विभुवनराज्यं करोत्यनिशम् ॥’ अत्रा-नङ्गस्य चापास्फालनपूर्वकत्रिभुवनाधिकारकरणस्यालीकृत्वात्कविप्रौढोक्तिसिद्धेन तेन वस्तुना तेषां कामिनामसौ राजा तेषां न कोऽपि तदादेशपराश्रुख इति जाप्रद्वि-रूपभोगपरैः केवलं तैर्निश्चातिषाकृत इति त्रिभुवनराज्यपदशोखं वस्तु व्यज्यते । कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्योऽलंकारः पदप्रकाशो यथा—‘निशितशरधियार्पयत्-नङ्गो दृशि सुदृशः खवलं वयस्तराले । दिशि निपतति यत्र सा च तत्र व्यतिकरमेत्य समुन्मिपन्त्यवस्थाः ॥’ अवस्थाः प्रागुक्ता विरहकालीना दश कामदशाः । (१७४ पृ.) अत्र क्रमिकाणां युगपदुन्मेषणरूपं वस्तु वाक्यार्थः स्वतोऽसंभवेत्वा-त्कविप्रौढोक्तिसिद्धत्वेन व्यतिकरपदशोखो विरोधो व्यज्यते । कविप्रौढोक्तिसिद्धालं-कारव्यङ्ग्यं वस्तु पदप्रकाशं यथा—‘संतापभावा हृदयेन हारो निवार्यमाणोऽपि सुहृर्मृगाक्षाः । वशोजमारस्य वयस्यभावाद्भिषुद्धजातिर्न चलत्यमुष्मात् ॥’ मिषुद्ध जातिर्विशुद्धमुक्ताजातिघटितः । अत्र विशुद्धजातित्वहेत्वलंकारेणानवरतकम्पमान एवास्व इति न चलतीति पदव्यङ्ग्यं वस्तुनपगमनहेतुत्वस्यावास्तव्येनारोप्यमाण-त्वात्कविप्रौढोक्तिसिद्धत्वम् ॥ कविप्रौढोक्तिसिद्धालंकारव्यङ्ग्यमलंकारं पदप्रकाश-

१. उमेति । उग्रमूर्धनि शिबिररिति । अत्रोग्रपदेन मूर्धोऽतिशयवितगोपनसमर्थदेशखं पोसते ॥

२. तपेति । ‘ब्रह्म बलहस्त गोसन्नि-’ इति प्रकाशोदाहृतसर्वविपुलादारणाय ॥

३. चन्द्रेति । ‘राशु चन्द्रपल्लवा-’ इति प्रकाशोदाहृतसर्वविपुलादारणाय ॥

४. संतापेति । ‘मारिचन्तो मि कणो-’ इति प्रकाशोदाहृतगीतेरुदाय ॥

इदं मम । अत्र पश्यन्तीति कविप्रौढोक्तिसिद्धेन काव्यलिङ्गालंकारेण न केऽप्यन्ये दातारस्त्व सद्यः इति व्यतिरेकालंकारोऽसंख्यपद-
द्योत्यः । एवमन्येष्वप्यर्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमभेदेपूदाहार्यम् ।

तदेवं ध्वनेः पूर्वोक्तिष्वैष्टादशसु भेदेषु मध्ये शब्दार्थशक्त्युत्थो
व्यङ्ग्यो वाक्यमात्रे भवनेकः । अन्ये पुनः सप्तदश वाक्ये पदे चेति
चतुस्त्रिंशदिति पञ्चात्रिंशद्भेदाः ।

प्रबन्धेऽपि यतो धीरैरर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः ॥ १० ॥

प्रबन्धे महावाक्ये । अनन्तरोक्तद्वादशभेदोऽर्थशक्त्युत्थः ।

माह—पश्यन्तीति । अत्र दानजलस्य नदीरूपत्वं स्वतोऽसंभवि कविप्रौढोक्त्या
सिद्धम् । अत्रोपेक्षापि व्यक्ता । एवमन्येष्वपि । कविप्रौढोक्तिसिद्धवत्स्व-
लंकारव्यङ्ग्येषु मयोदाहृतं कविनिबद्धकृप्रौढोक्तिसिद्धवत्स्वलंकारव्यङ्ग्येषु चतुर्षु
भेदेषु । यथा मम—‘सुतरामक्षमस्त्र पद्मभिः पुष्पपत्रिभिः । युवत्यामोघया
शक्त्या जगद्विध्वयति मन्मथः ॥’ अत्र नायिकरूपशक्त्या मन्मथस्य जगद्विध्वन-
संभवि कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्धं वस्तु तेन नायिकायाः सर्वमनोहरस्वरूपं वस्तु
जगत्पदद्योत्यं प्रकाशयते । ‘यो प्रजलतितरं राहायतां हन्त विश्वविजये मनोभुवः ।
तं निशम्य मधुरं पिकस्वरं कः प्रयाति पृतिमानतानने ॥’ अत्र पिकस्वरराहायस्मास्य
विश्वजयो वस्तु कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्धं तेन मानभङ्गकारणे पिकस्वरे रास्यपि मानो
न भङ्ग इति विशेषोक्तिरलंकार आनत इतिपदद्योत्यो व्यज्यते । ‘सुतस्यामीररचा-
रुक्ते कर्णे निबद्धं नवकर्णिकारम् । तदेव शयं मदनस्य जैत्रं जगन्नयं तेन जितं
भवत्वा ॥’ अत्र नायिकाकर्णार्पितं नवकर्णिकारमेव मदनशस्त्रमिति रूपकं कविनिब-
द्धप्रौढोक्तिसिद्धं कर्णिकारेण तव मुगस्य तादृशी शोभा जाता यया वीतरागा अपि
स्मरपराधीना भवन्तीति वस्तु जगन्नयपदप्रसाधं व्यज्यति । ‘यद्यश्नन् इवाभाति
राजंस्ते दानसंभवम् । दैन्यं न हन्यते हन्त तेन दृष्टिरोपि मे ॥’ अत्र यशसः
शुक्रत्वासंभवात्तेन चन्द्रोपमानमप्यसंभवि कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्धं तेन दैन्यमेव
तम इति रूपकं दृष्टिपदद्योत्यं व्यज्यते । स्वतःसंभविवस्तुव्याप्यवस्तुप्रबन्धप्रचार-
द-

१. पञ्चत्रिंशदिति । शब्दशक्तिमूले द्विविधः, अर्थशक्तिमूले द्वारद्विविधः, कवि-
प्रौढोक्त्या द्विविधः, अलंकारव्यङ्ग्यपद इति सप्तदशानां वाक्यपदगतत्वेन द्वैविधे
चतुस्त्रिंशत्, एकाधेशशक्तिमूलकरूपेण इति पञ्चविंशत् ॥

२. प्रबन्ध इति । प्रबन्धस्य संपादितानां वाक्यसमुदायः । स च ध्वन्यरूपपदप्रबन्ध-
प्रसरणरूपधेनि ॥

१. ‘१२ मम’ इति क पुस्तके न लि. २. क पुस्तके ‘इति’ न लि. ३. ‘भरतस्य भेदे’ क.
४. क पुस्तके प्रबन्धस्य वाक्य समुदाये तु ‘प्रबन्धे’ इति लिखितं अत्रानुपपत्त्या वाच्यं.
साहि. २०

यथा महाभारते गृध्रगोमायुसंवादे—

‘अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्गृध्रगोमायुसंकुले ।

कङ्कालब्रह्मे घोरे सर्वप्राणिभयंकरे ॥

न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥’

इति दिवौ प्रभवतो गृध्रस्य श्मशाने मृतं बालमुपादाय तिष्ठतां तं परित्यज्य गमनमिष्टम् ।

‘आदित्योऽयं स्थितो मूढाः ! ज्ञेहं कुरुत सांप्रतम् ।

बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥

अमुं कनकवर्णामं बालमप्राप्तयौवनम् ।

गृध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥’

इति निशि समर्थस्य गोमायोर्विवसे परित्यागोऽनमिलपित इति वाक्यसमूहेन द्योत्यते । अत्र स्वतःसंभवी व्यञ्जकः । एवमन्येऽप्येकादशभेदेऽपूडाहार्यम् एवं वाच्यार्थव्यञ्जकत्वे उदाहृतम् ।

लक्ष्यार्थस्य यथा—‘निःशेषच्युतचन्दनम्—’ इत्यादि (६४ पृ.) । व्यङ्ग्यार्थस्य यथा—‘उज्ज्वल—’ इत्यादि (६७ पृ.) । अनयोः स्वतःसंभविनोर्लक्ष्यव्यङ्ग्यार्थौ व्यञ्जकौ । एवमन्येऽप्येकादशभेदेऽपूडाहार्यम् ।

माह—अलं स्थित्वेति । श्मशाने मृतबालकं त्यजतस्तद्वन्धून्प्रति गृध्रस्य वचनमिदम् । न श्वेयमित्यर्थः । शरीरस्य कङ्कालस्तेन ब्रह्मे व्याप्ते । फालधर्ममृत्युम् । दिवा प्रभवतो दिने मरणसमस्य । गमनमिष्टमिति । वाक्यसमूहेन द्योत्यते इत्येवमन्यवयवः । गोमायूक्तप्रबन्धस्य तादृशव्याख्यानमाह—आदित्योऽयमिति । आदित्यसत्त्वाद् युष्माकं रात्रिचरतोऽपि मीतिर्नास्तीति सूचितम् । ज्ञेह-धारणं स्थितिरेव । अयं संध्यासमयासन्नो मुहूर्तो दारुणतया बहुविघ्नः संभाषितभूतापावेशः । तदवगमान्मुहूर्तान्तरे जीवनस्य संभावना दर्शिता । तत्संभावनायां हेतुमाह—अमुमिति । कनकवर्णामत्ये रूपविपर्ययाभावाजीवनसंभावना । मूढाः । ‘बाला’ इति पाठे शिशुपुत्रस्य इत्यर्थः । समर्थस्य मरणसमस्य । स्वतःसंभवीति । वाक्यार्थ इति शेषः । एवं निरुक्त्यनिसमूहः । लक्ष्यार्थस्येति । ‘व्यञ्जकत्वे’ इति शेषः । एवमनेऽपि । एवमन्येऽप्यिति । एकादशत्वं लक्ष्यव्य-

पदांशवर्णरचनाप्रबन्धेष्वस्फुटक्रमः ।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिस्तत्र पदांशप्रकृतिप्रत्ययोपसर्गनिपातादिभेदादनेकविधः । यथा—

‘चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं

रहस्याख्यायीव खनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।

करं व्याधुन्वन्त्याः पिबसि रतिसर्वस्वमघरं

ययं तत्त्वान्वेषाम्भुकर ! हतास्त्वं खलु कृती ॥’

अत्र ‘हताः’ इति न पुनः ‘दुःखं प्राप्तवन्तः’ इति हन्प्रकृतेः ।

‘मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिपेधाक्षरविक्रवाभिरामम् ।

मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥’

अत्र ‘तु’ इति निपातस्यानुतापव्यञ्जकत्वम् ।

ज्ञपयोः प्रलेकापेक्षया । उभयापेक्षया तु द्वार्विंशताविति द्रष्टव्यम् । ‘अस्फुट-
क्रमः’ इत्यस्य विवरणम् ‘असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः’ इति । चलापाङ्गामिति ।
भ्रमरं प्रति दुष्यन्तस्योक्तिरियम् । वेपथुमतीमतिचपलाम् । करं व्याधुन्वन्त्याः
शकुन्तलायाः । भ्रमरनिराकरणाय करव्याधूननम् । रतेः सुरवेच्छायाः सर्वस्वं प्रधा-
नकारणम् । यद्वा रती सर्वस्वमिवादरणीयम् । यद्वा रतेः कामपण्याः सर्वस्वं युव-
जये परमसहायम् । ययं तदृष्टिस्पृशदिवर्धिताः । तत्त्वान्वेषात् तत्त्वपरीक्षातः ।
हता हतप्रायाः । अतिपीडिता इत्यर्थः । कृती धन्यः । यद्वा तत्त्वान्वेषात् तत्त्व-
मार्कर्तृत्वस्यान्वेषात् मुहुर्विसंवादीच्छातो ययं हता इत्यर्थः । अत्र विप्रलम्भोत्कर्षो
दुःखातिशयेन व्यज्यते । दुःखातिशयश्च हता इत्यनेन व्यज्यते । अत्रेति । ‘हताः’
इति प्रयुक्तम्, न तु ‘दुःखं प्राप्तवन्तः’ इति प्रयुक्तम् । तथात्वे प्रकृतोपयुक्तस्य
दुःखातिशयस्य प्रतीतिर्न स्यात् । हन्प्रकृतेरिति । व्यञ्जकत्वमिति शेषः ॥ मुहु-

१. चलेति । दे मधुकर, ययमेवंविधाभिलाषचाद्रुमवण्य अपि तत्त्वान्वेषणादस्त्रुष्टे-
ऽन्विष्यमाने हता आयासमात्रपात्रीभूता जाताः । त्वं सन्ति निपातेनायत्तसिद्धं त्वैव
चरितार्थत्वमिति । तथाहि—कथमेतदीयकटाक्षगोचरा भूयास, कथमेपासदमिमायव्य-
ज्यं रदोदकतप्तप्राप्तं, कथं हठादनिच्छन्त्या अपि पशुमुन्नेन विधेयाप्रेति यदस्माकं
मनोराज्यपदवीमधिष्ठेत् तत्तवायत्तसिद्धम् । भ्रमरो हि नीलोत्पलधिया तदाद्युकातरां दृष्टिं
पुनः पुनः स्पृशति । श्रवणावकाशपर्यन्तत्वाच्च नेत्रयोस्तुल्यशृङ्गानपगमाच्चैव ध्वन-
नास्ते । सहजसौकुमार्यत्रासकतरायाश्च रतिनिधानमूर्तं विकसितारविन्दामोदमधुरमपर
पिबतीति । अत्र ॥ भ्रमरस्वभावोक्तिरङ्कारो रसानुगुणः ॥

१. ‘असंलक्ष्य-’ इत्यादि- ‘एवमन्वय-’ इत्यन्तः पाठो ग-पुलके नास्ति. २. ‘उपयुक्ते तु ‘पदांश-’
इत्यत्र ‘पदांशक-’ इति पाठो भवत्यत्र तदर्थं ययं स्वीकृत्य ‘पदांशवर्ण-’ इति शारिकापानुसारात्वेन
भवति.

‘न्यङ्कारो ह्ययमेव मे यदस्यः—’ इत्यादौ (७ पृ.) ‘अस्यः’ इति बहुवचनस्य, ‘तापसः’ इत्येकवचनस्य, ‘अत्रैव’ इति सर्वनाम्नः, ‘निहन्ति’ इति ‘जीवति’ इति च तिङः, ‘अहो’ इत्यव्ययस्य, ‘ग्रामटिका’ इति करूपतद्धितस्य, ‘विलुण्ठन’ इति व्युपसर्गस्य, ‘भुजैः’ इति बहुवचनस्य व्यञ्जकत्वम् ।

‘आहारे विरतिः, समस्तविषयग्रामे निवृत्तिः परा,

नासाग्रे नयनं, तदेतदपरं यच्चैकतानं मनः ।

मौनं चेद, मिदं च शून्यमधुना यद्विश्वमाभाति ते,

तद्भूयाः सखि ! योगिनी किमसि, भोः ! किंवा वियोगिन्यसि ॥’

रिति । गौतम्या शकुन्तलायां नीतायां दुष्यन्तस्यानुतापवर्णनमिदम् । प्रतिषेधाक्षरेण मैवं कुर्विति प्रतिषेधवचसां विद्भवं व्याकुलमतएवाभिरामम् । तादृशप्रतिषेधस्य विधिपर्यवसन्नतया तत्प्रयोगेण सुप्तस्य रमणीयत्वमिति भावः । अंसे स्कन्धे विवर्तयितुं परितृप्त्य स्यातुं शीलमस्य । कथमपि चक्षुः परागापसारणच्छलेन उन्नमितमकुलिभ्यागूर्ध्वोत्थल्य धृतम् ॥ न्यङ्कार इति । व्याख्यातमिदं प्राक् (७ पृ.) बहुवचनस्यैवादिपद्यन्तानां व्यञ्जकत्वमित्यत्रेतेनान्वयः । अरीणां प्रतीकाराक्षमत्वं तापसादेरेकत्वख्यापनेन । नैपत्यापसनिमग्ने सार्वरक्षा भवति सोऽपि सर्वप्राणैः कर्तुमशक्य इति । इदं पदेन रिपुनिग्रहे दुरगमनादिव्यापारो नास्ति तथापि स कर्तुं न शक्यत इति । अपकारस्य वर्तमानत्वख्यापनेन विलम्बासाहिष्णौ रिपुनिग्रहे नास्माकमुद्यमः । तथेति जीवनस्य वर्तमानत्वख्यापनेन प्रागेव मरणमुचितं येनैतादृशः परामर्शो मा भूदिति । जीवनस्य साधर्म्यत्वख्यापनं मानिनां तादृशपरामर्शे जीवनमत्यन्तमनुचितमिति । स्वर्गस्य धुद्रत्वख्यापनेन यस्य स्वर्गविलुण्ठनेनापि श्लाघा नास्ति स तावदेकतापसेन पराभूयते अहो दुर्दैवविलसितमेतदिति । स्वर्गलुण्ठनस्य विशिष्टत्वख्यापनेन स्वःपतेरत्यन्ततिरस्कारिणो रावणस्य एकतापसेन परामर्शो दुर्दैवेनोपपद्यत इति । भुजानां बहुत्वख्यापनेन रिपुनिग्रहे रावणस्याधिकसाधनसम्पत्तेः स कर्तुं न शक्यत इति व्यज्यते । यद्यप्येते सलक्ष्यक्रमव्यञ्जकानां वस्तुध्वनय एवं तथाप्येतेऽसलक्ष्यक्रमव्यञ्जकस्य निर्वेदाख्यभावस्य परिपोषसा इति तेनैव व्यपदेश इति भावः ॥ आहार इति । विरहिणीमुपहसन्त्याः सख्या उक्तिरियम् । विरती रागाभावः । एकतानमनन्यदिति । योगिन्या विश्वं शून्यमसद्भूतं प्रतिभाति । वियोगिन्याश्च सदपि विश्वं प्रकृतानुपयोगित्वेनासदिव प्रतिभाति । विशेषणस्येत्यनन्तरं तदेतदिति बुद्धिस्थपरामर्शिनः सर्वनाम्नः अपरमिति विशेष-

१. ग्रामटिकेति । अल्पग्रामवाचको हि ग्रामटीशब्दः, गौडनामाया ‘गावटी’ इति ख्यातः । ततः ‘वशाते’ इति ‘कुतिसते’ इति वा कप्रत्यये ‘केडणः’ इति छत्वे निष्पन्नो ग्रामटिकाशब्दः । अत्यन्तधुद्रग्राम इति तदर्थः । नागोजिमहास्तु—“तद्विताः” इति बहुवचनबोध्यटिकाप्रत्ययः” इत्याहुः । मूलग्रन्थस्तु ध्वन्यालोकलोचनादिदर्शनेन कप्रत्ययानुप्रादक एव । तेन ‘टिकारूपतद्धितस्य’ इति पाठोऽनाकर इति ।

अत्र तु 'आहारे' इति विषयसप्तम्याः, 'समस्त' इति 'परा' इति च विशेषणस्य, 'मौनं चेदम्' इति प्रत्ययपरामर्शिनः सर्वनाम्नः, 'आभाति' इत्युपसर्गस्य, 'सखि' इति प्रणयस्मारणस्य, 'असि भोः' इति सोत्प्रासस्य, 'किंवा' इत्युत्तरपक्षदार्ढ्यसूचकस्य वाशब्दस्य, 'असि' इति वर्तमानोपदेशस्य तत्तद्विषयव्यञ्जकत्वं सहृदयसंवेद्यम् ।

वर्णरचनयोरुदाहरिष्यते । प्रबन्धे यथा—महाभारते शान्तः । रामायणे करुणः । मालतीमाधवरत्नावल्यादौ शृङ्गारः । एवमन्यत्र ।

तदेवमेकपञ्चाशद्भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः ॥ ११ ॥

पणस्येत्यवगन्तव्यम् । प्रतीयत इति प्रत्ययः प्रतीतिविषयः, तत्परामर्शिनस्तद्वाचकस्य । क्वचिच्च 'प्रत्यक्षपरामर्षिणः' इत्यपि पाठः । प्रणयस्मारणस्य प्रेमसूचकस्य । सोत्प्रासस्य उपहाससूचकस्य । उत्तरपक्षस्य वियोगिनीति पक्षस्य दार्ढ्यं प्रामाण्यं तत्सूचकस्य वर्तमानोपदेशस्य वर्तमानकालप्रयोगस्य । तत्तद्वि-
दिति । सहृदयनिर्वचनीयेत्यर्थः । तथाहि—आहार इति विषयसप्तम्या आहार-
विषयकरागाभाव एव । न तु योगिनीवदनिष्टसाधनताज्ञानाद्योगप्रतिकूलाहापक्षि-
वृत्तिः । तदुक्तम्—'नात्यश्रतस्तु योगोऽस्ति न वैकान्तमनश्रतः' इति । एवं च योगिन्याः प्राणधारणार्थमाहारोऽस्त्येव । तव तु सोऽपि नास्तीति भावः । एवं योगिन्या योगसाधने यदृच्छोपपत्ते च विषये प्रवृत्तिरस्ति । तव तु सर्वदैव विषया-
क्षिप्रवृत्तिरिति । समस्तैत्यादि विशेषणद्वयं व्यञ्जयति—योगिन्या ध्यानसमय एव नासाप्रे नयनं चित्तैकाग्रत्वं च । तव तु सर्वदैव तदुभयमिति । तदेतदपरमिति व्यञ्जयति—योगिनी मौनसमये इतितादिना अर्थं बोधयति, तव तु तदपि नास्तीतीदंपदेन व्यञ्जयते । योगिन्यास्तत्त्वेन विश्वमसत्स्फुरति, तव तु तत्त्वं विनैवेतीदंपदयोलम् । योगिन्या जगति शून्यत्वस्फुरणं ब्रह्मस्फूर्तिसंवलितम्, तव ॥ न तथेत्याहुपसर्गो योतयति । योगिन्या शगिणि जने प्रणयो नास्ति, तव 'तु सोऽस्तीति सखीत्यनेन व्यञ्जयते । त्वं योगिन्येव, न तु वियोगि-
नीति किंवाशब्देन शोध्यते ॥ वर्णरचनयोरिति । वर्णो माधुर्यादिगुणव्यञ्जकः । रचना पदविन्यासविशेषः । सापि माधुर्यादिव्यञ्जिका । उदाहरिष्यत इति । गुणपरिच्छेदे इति शेषः । एवमन्यत्रेति । 'भाषे शिशुपालदूतोऽसौ संधौ वाच्ये वस्तुनात्ररूपो विग्रहः शब्दशक्तिमूलः प्रबन्धव्यङ्ग्यो दृश्यते' इति चण्डीदासः ॥ तदेवमिति । पूर्वं पञ्चत्रिंशद्भेदा उक्ताः । अर्थशक्तिमूलध्वनेः प्रबन्धप्रकाश्यत्वेन

१. सोत्प्रासस्य उपहासस्येत्यर्थः ॥

२. एकपञ्चाशदिति । अत्र ध्वनेर्लक्षणाभिप्रायमूलत्वेनाविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपर-
वाच्याख्यौ प्रथमं द्वौ भेदौ अविवक्षितवाच्यस्थायान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्यतया

१. 'विषय' इति नास्ति क. २. 'विशेषणद्वयस्य' च.

संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।

वेदखामिशराः (५३०४) शुद्धैरिषुवाणामिसायकाः (५३५५) ॥१२॥

दायानुरोधेनैकपद्याशत्त्वमेव दर्शितम् । संकरेणेति । अलंकारपरिच्छेदे वक्ष्यमाणरीत्या त्रिरूपेणेत्यर्थः । यथा—‘अज्ञाद्वित्वेऽलंकृतीनां तद्वदैक्यप्रयस्थितौ । संदिग्धत्वे च भवति संकरस्त्रिविधः पुनः ॥’ इत्यलंकारसंकरस्य त्रैविध्यमुक्तं तदनुसारेण संकरत्रैविध्यं बोध्यम् । अत्र ‘एकाग्रयस्थितौ’ इत्यस्य एकव्यञ्जकानुप्रवेश इत्यर्थः । संदिग्धत्वे ‘अयं ध्वनिः स ध्वनिर्वा’ इति संशयेऽज्ञाद्विभावापन्नोऽनेकव्यञ्जकानुप्रविष्टः । असंदिग्धो ध्वनिसमुदायः संसृष्टिः । अनेकध्वनिषु यदुक्तं तदेवाह—‘वेदेति । वेदाध्वत्वारः, खं शून्यम्, अमयस्त्रयः, शराः पञ्च । सजातीयानेकसंख्याप्रस्तावे ‘अद्भुतां वामतो गतिः’ इत्यादिविदां नियमेन चतुरस्रशतप्रत्याधिकपञ्चसहस्राणीत्यर्थः । मनु कथमेतदेकपद्याशतध्वतुर्गुणेन चतुरधिकशतद्वयमेव भवतीति चेत्, न । यतः प्रथमस्य सजातीयैर्नैकेन विजातीयैः पद्याशता च संसृष्टावेकपद्याशत्त्वम् । एवं द्वितीयस्य सजातीयैर्नैकेन विजातीयैरनपद्याशता च संसृष्टौ पद्याशत्त्वम् । तृतीयस्य सजातीयैर्नैकेन विजातीयैरष्टचत्वारिंशता च संसृष्टावूनपद्याशत्त्वं भवति । चतुर्थस्य सजातीयैर्नैकेन विजातीयैः सप्तचत्वारिंशता च संसृष्टावष्टचत्वारिंशत्त्वम् । एवमन्येपामेकैकहासेन सप्तचत्वारिंशदादिकम् । चरमस्य सजातीयैर्नैकेन संसृष्टावेकविपयत्वमेवेति मिलित्वा पङ्क्तिशालाधिकत्रयोदशशतत्वं ध्वनिसंसृष्टेः । एवं क्रमेण अष्टसप्तत्युत्तरनवशताधिकत्रिसहस्रत्वं त्रिविधध्वनिसंकरस्य । मिलित्वा ‘वेदखामि-’ इत्यादिसंख्याया उपपत्तिः । न चैकपद्या-

कारध्वनिः, (११) प्रबन्धगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलंकारेणालंकारध्वनिः, (३२) प्रबन्धगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलंकारेण वस्तुध्वनिः, (११) पदगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनिः, (१४) पदगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुनालंकारध्वनिः, (३५) पदगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलंकारेणालंकारध्वनिः, (३६) पदगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलंकारेण वस्तुध्वनिः, (३७) वाक्यगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनिः, (३८) वाक्यगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुनालंकारध्वनिः, (३९) वाक्यगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलंकारेणालंकारध्वनिः, (४०) वाक्यगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलंकारेण वस्तुध्वनिः, (४१) प्रबन्धगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनिः, (४२) प्रबन्धगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुनालंकारध्वनिः, (४३) प्रबन्धगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलंकारेणालंकारध्वनिः, (४४) प्रबन्धगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलंकारेण वस्तुध्वनिः, (४५) प्रबन्धगतासलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो रसादिध्वनिः, (४६) वाक्यगतासलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो रसादिध्वनिः, (४७) पदगतासलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो रसादिध्वनिः, (४८) पदैकदेशगतासलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो रसादिध्वनिः, (४९) रचनागतासलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो रभादिध्वनिः, (५०) वर्णगतासलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो रसादिध्वनिः, (५१) वाक्यगद्योमयशक्तिमूलो ध्वनिरिति ॥

शुद्धैः शुद्धभेदैरेकपञ्चाशता योजनेत्यर्थः ।

दिङ्मात्रं तूदाह्रियते—

‘अत्युन्नतस्तनयुगा तरलायताक्षी

द्वारि स्थिता तदुपयानमहोत्सवाय ।

सा पूर्णकुम्भनवनीरजतोरणस्त-

वसंभारमङ्गलभयलकृतं विधत्ते ॥’

अत्र स्तनावेव पूर्णकुम्भौ, दृष्टय एव नवनीरजसज इति रूपकध्व-
निरसध्वन्योरेकाश्रयानुप्रवेशः संकरः ।

शतस्तावता गुणने एकधिकपङ्क्तिशतशती संसृष्टौ, तथैव तन्निगुणसंकरयोजने
‘वेदखाग्निविद्यच्छन्द्राः’ इति काव्यप्रकाशोक्तसंख्या भवति कथं ‘वेदखामि-
इत्यादिसंख्येति वाच्यम् । संसृष्टिसंकरयोः पूर्वपूर्वसंसर्गस्रोतरोत्तरगणनायाम-
प्रवेशात्तावत्संख्यत्वात्तुपपत्तेः । अत एव काव्यप्रकाशटीकाकारचण्डीदासेन
‘संसृष्टौ संकरयोजने च सिन्धुगगनशिखिशिराः, शुद्धयोगे शरवाणामिवाणाः’ इत्यु-
क्तम् । शुद्धैरिति । संसृष्टिसंकररहितैर्योगे इत्यर्थः । इषवः पञ्च, वाणाः पञ्च,
अप्रयत्नयः, सायकाः पञ्च । पञ्चपञ्चाशदुत्तरश्चतस्र्याधिकपञ्चसहस्राणीत्यर्थः ।
अत्युन्नतेति । प्रवासादागतं नायकं श्रुत्वा वासगृहद्वारि स्थिताया नायिकाया

१. संसृष्टावित्यादि । वस्तुतस्तु प्रकाशकारमतमेव ज्यायः । तथाहि—एकपञ्चा-
शतो भेदानामेकपञ्चाशता भेदयोजनमिति तावता तावद्गुणनेनैकोत्तरपङ्क्तिशतशतं (२६०१)
भवति । संयोजनं च संसृष्ट्यादिकञ्च प्रकारैरिति ‘तावता चतुर्भिर्गुणने वेदखाग्निविद्य-
च्छन्द्राः’ (१०४०४) इति संख्या सपद्यते । नन्वसर्वेकपञ्चाशद्भेदेभ्योक्ततराणां पञ्चाशता
योजनम्, खलु तु स्वेन कथं योजनमिति चेत्, न, व्यक्तिभेदमादाय विजातीयवस्तुजा-
तीयेनापि संकरादिति राजानकमम्मटाशयः । अत एव यथा कविकर्मणो अशीतिभेदां
लक्षणात्तदाहतापि तात्पर्यगत्या सङ्ख्याः पञ्चम्—‘एकोऽपि भेदोऽनन्तत्वाद् असंख्येय इति
त्वितिः ।’ इति भवत्कारिकाभङ्गवापि (२२१) प्रकाशोक्ता भेदसंख्या कथमिह न
समावर्तीयेत्यलं पर्यनुयोगेन । वस्तु चण्डीदासादिभिः ‘सिन्धुगगनशिखिशिराः—’
(५३०४) इत्यादि सिद्धान्तितं तत्र भूम.—अनुभवसिद्धौ तावत्पुण्ड्रकादौदुरसेष्विव
एषनिध्वनि इत्येतादिसंख्यानतिशयो । तथा चार्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ध्वनादिशय-
स्तत्रालन्ततिरङ्गताच्चेन तयोजनम् । यत्र तु तदैपरीत्य, सत्रात्यन्ततिरङ्गतावाच्यस्येत-
रेण योजनमिति स्वपदेशः । ‘प्राधान्येन व्यपदेशा यवन्ति’ इति न्यायात् । पञ्चदेव प्राधा-
न्यमादाय गणना सौम्री । नन्वेव यत्रोभयोरुत्पत्त्येव चाकृतं तत्र भेदान्तरं स्यादिति ।
मैवम् । अपकर्षामावस्यातिशयपदेन विवक्षितत्वात्तत्रोभयभेदस्वरस्वीकारादिति प्रदीपादी

१ ग-पुस्तके तु ‘दिङ्मात्रं’ इत्यादि—‘संसृष्टिः’ इत्यन्तः पाठो भवति. २. व-पुस्तके तु ‘तोरण-’
इत्यादि—‘नवनीरजसज’ इत्यन्ता पाठस्तुष्टिक.

‘धिन्वन्त्यमूनि मदमूर्च्छदलिध्वनीनि
धूर्ताध्वनीनहृदयानि मधोर्दिनानि
निस्तन्द्रचन्द्रवदनावदनारविन्द-
सौरभ्यसौहृदसगर्वसमीरणानि ॥’

अत्र निस्तन्द्रेत्यादिलक्षणामूलध्वनीनां संसृष्टिः ।

वर्णनमिदम् । तस्य नायकस्य उपयानमुपगमः । स्तृप्तप्रवेश इति यावत् । तत्का-
लीनमहोत्सवाय । संभारः संघटनमेव भङ्गलम् । प्रवासादागतस्य शृङ्गप्रवेशसमये
पूर्णकुम्भस्थाप्रनादिभङ्गलं कियत इति लोकाचारः । अत्र स्तनकटाशयोर्यथासंभवं
पूर्णकुम्भत्वेन, नवनीरजस्रक्त्वेन च रूपकत्वम् । तयोरेव नायकरतेरहीपकतया
शृङ्गारश्च व्यङ्ग्य इत्येवं व्यञ्जकानुप्रवेशः ॥ धिन्वन्तीति । ग्रीणयन्तीत्यर्थः ।
अमूनि अनुभूयमानमहोत्सवानि । मदेन संमूर्च्छन्तो वर्धमाना अलिध्वनयो यत्र ।
मधोर्वसन्तस्य । निस्तन्द्रोऽतिप्रकाशमानश्चन्द्र इव वदनं यस्यास्तस्या वदनसौर-
भ्यस्य सौहृदेन सादृश्येन सगर्वा उत्कृष्टाः समीरणा यत्र तादृशानि । लक्षणामूल-
ध्वनीनामत्यन्ततिरस्कृतवाच्यानाम् । तथाहि—निस्तन्द्रपदेन तन्द्रारहित उच्यते ।
चन्द्रे तत्कथनस्यानुपयोगितया प्रकाशमाने लक्षणा । प्रकाशातिशयबोधः प्रयोज-
नम् । एवं प्रेमवाचकस्य सौहृदपदस्य सादृश्ये लक्षणा । सादृश्यातिशयबोधः
प्रयोजनम् । गर्वस्याचेतने वायावसंभवात्सगर्वपदस्योत्कृष्टे लक्षणा । सादृश्यातिश-
यबोधः प्रयोजनम् । एषु वाच्यार्थस्यार्थान्तरसंक्रमितत्वाभावादत्यन्ततिरस्कृतवा-
च्यत्वम् । अनोक्तप्रतिषिद्धसंस्मृतसंभवाद् ध्वनीनां संसृष्टिरेव ॥ ध्वनिं निरूप्य गुणी-

व्यक्तम् ॥ अथ ग्रन्थकारमते ॥ विवृष्टिकारश्चेत्या प्राह निर्दिष्टध्वनिसंस्थानमेवं कियते—

समादीयेनैकेन—विजावीधेः—भेदाः ।

$$१+५०=५१$$

$$१+४९=५०$$

$$१+४८=४९$$

$$१+४७=४८$$

एवमेकैकहासेन ५१ तमे स्थाने शून्यम्

$$१+०=१$$

यथोक्त्यासे योगः=११२६ ध्वनिसंसृष्टयः ।

ध्वनिसंसृष्टयत्रिगुणाः=१९७८ ध्वनिसंकराः ।

ध्वनिसंसृष्टिसंकरयोगः=५१०४

शुद्धध्वनिभेदाः= ५१

सर्वयोगः=५१५५

१. अध्वनीन इति । अध्वनीनः पाठः ॥

अथ गुणीभूतव्यङ्ग्यम्—

अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये ।

अपरं काव्यम् । अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्येन च संभवति ।

तत्र स्यादितराङ्गं कांक्षाक्षितं च वाच्यसिद्धेर्ङ्गम् ॥ १३ ॥

संदिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमंगूढम् ।

व्यङ्ग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अष्टौ ॥ १४ ॥

भूतव्यङ्ग्यं निरूपयति—अथेति । अपरं ध्वनिभिन्नम् । तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये इतरस्य रसादेर्वा वाक्यार्थस्य वा अङ्गम् । रसादि अनुरणनरूपं वा व्यङ्ग्यमित्यन्वयः । एवमन्यत्रापि । कांक्षाक्षितं काकुवशात् क्षटिति वाच्यवत्प्रतीयमानम् । वाच्यस्यान्वयबोधमीजं वाच्यसिद्धेर्ङ्गम्, आपाततः प्रतीतस्य वाच्यस्य प्रतिसंधानानुपपत्तिनिरासकम् । अस्फुटं सहृदयैरपि क्षटित्यप्रतीयमानम् । अगूढं स्फुटम्, तथा वाच्यायमानम् । असुन्दरं चमत्काराप्रत्यासन्नम् । एवं निरूपय-

१. गुणीभूतेति । वाच्यापेक्षया अचमत्कारित्वेनेह व्यङ्ग्यस्य गुणीभावः । ध्वनिवारेण्यभिहितम्—‘प्रकारोऽस्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दुश्शब्दे । यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारत्वं स्यात्प्रवर्षवत् ॥’ इति । ‘प्रतीयमानं पुनरन्वयदेव वस्तुवस्ति बाणीषु महाकवीनाम् । यत्तत्प्रसिद्धान्यवातिरिक्तं विभाति छावण्यनिवादानाम् ॥’ इत्युक्तकुरो व्यङ्ग्याभेदः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्याह्वतम् । तस्यैव गुणीभावेन वाच्यापेक्षारतवप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम्नापरः काव्यभेद इति उदाहरणः ॥

२. कांक्षेति । कांक्षा क्षटेनोपस्थापितमिति वा ॥

३. संदिग्धेति । संदिग्धं वाच्यकृतं व्यङ्ग्यकृतं वेत्यनिश्चितं प्राधान्यं यस्य यत्र वा तद् । यत्र संदिग्धं चमत्कृतिजनने वाच्यव्यङ्ग्ययोः संशयास्पदं प्राधान्यं यत्र तद् ॥

४. मुल्येति । तुल्यं वाच्यसमानं प्राधान्यं यत्र तद् । चमत्कारोत्पादने वाच्यव्यङ्ग्ययोरपि क्षमत्वेन तुल्यत्वमवधेयम् ॥

५. अगूढमिति । अगूढं चासहृदयैरपि वेद्यम् । तादृशं वाच्यायमानतया न तथा चमत्करोति यथा कामिनीकुचकलशब्दद्वयम् । तदुक्तम्—‘नान्नीयमोभर इवातितरा प्रकाशो नो गुर्वरीक्षण इवातितरा निगूढः । अयो गिरामभिहितः सिद्धिद्वय कश्चिराभा-ग्यमेति भरद्वाजपुत्रोवाचः ॥’ इति । एवं च कामिनीकुचकलशब्दावेन सहृदयेकवेद्यमेव व्यङ्ग्यं ध्वनित्वमुपयाति । सहृदयैरपि दुःखसंवेद्यमसहृदयैरपि वेद्यं वेद्युमयमपि गुणीभूतव्यङ्ग्यमेवेति बोध्यम् । एकमन्येनपि भेदेचनुभव एव साक्षीति प्रदीपादौ व्यक्तम् ॥

चर्तदनं
दिव्यङ्गवम् ।

इतरस्य रसादेरङ्गं रसात्

यथा—

सिनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।

‘अयं स जघनस्पर्शी नीवीविसंसनः करः ॥’

नाभ्यरुः करुणस्याङ्गम् ।

अत्र शृङ्गार मानोज्ञतां प्रणयिनीमनुनेतुकाम-

स्वत्सैन्यसागररवोद्गतकर्णतापः ।

हा हा कथं नु भवतो रिपुराजधानी-

प्रासादसंततिषु तिष्ठति कामिलोकः ॥’

अथमेवेन तस्य शुणीभूतव्यङ्ग्यस्य रसाङ्गं रसरूपव्यङ्ग्यम् । उदाहरति—अय-
मिति । भूरिभ्रवसः समरपतितं हस्तं विलोक्य तत्पत्न्या रोदनमिदम् । अयमी-
दृगवस्थः स तत्तत्कर्मणि सुहृन्नुभूतः । तत्तत्कर्माह—रसनेति । रसनां मम
धुद्रघण्टिकामुत्कर्षयितुं मार्जनादिना उत्कृष्टोक्तुमाकष्टं वा शीलमस्य सः । नीच्या
वज्रवन्धस्य विसंसनो मोक्षणकरः । अत्रालम्बनविच्छेदेन रतेरसाश्रयतया
स्मर्यमाणानां तदज्ञानां शोकोद्दीपकत्वात्करुणानुकूलतेति शृङ्गारस्य करुणाङ्गत्वम् ।
अत एव प्राकरणिकत्वेन प्रधानस्य करुणस्य व्यञ्जकं वाक्यार्थमपेक्ष्य तदानीमप्राप्त-
रसभावस्य शृङ्गारस्य न्यूनत्वमचमत्कारित्वम् । ननु तदानीं शृङ्गारस्य रसत्वाप्राप्त्या
‘कथमस्य रसाङ्गरसोदाहरणत्वं संगच्छतामिति चेत्, न । तदानीं शृङ्गाररसस्य
पूर्णरसत्वाभावेऽपि खण्डरसत्वस्य सत्त्वात् । तच्च दोषपरिच्छेदे निर्णयते । शृङ्गा-
रस्य करुणविरुद्धत्वेऽपि स्मृतिविषयत्वेन गुणत्वमेव, न तु दोषत्वम् ॥ भावाङ्गं
रसव्यङ्ग्यमुदाहरति—मानोज्ञतामिति । एतः स्तुतिरियम् । मानोज्ञतामुज्जतमा-

१. प्रासादेति । प्रासादधारम्भरीषु ॥

१. ग-पुस्तके तु ‘इतरस्य-’ इत्यादे- ‘मार्गो व्यनेर्मत ॥’ इत्यन्तस्य ग्रन्थस्य स्थाने “वपुर्धीं तु ‘मम
वेन्मिभ-’ इत्यादावुदाहरणे विधिरूपादभिधेयार्थाभिधेयस्योऽर्थो दृश्यते । ‘उपकृतं वपु तत्र-’
इत्यापि विधिरूपं पञ्चमस्य निधेयरूपायै तात्पर्यम् । तत्कथं पूर्वपदभिधायामुत्तरपदं लक्षणागुलत्व-
मिति । उच्यते—‘मम वे ममभ-’ इत्यत्र सुखायै वीक्षत एव ग्रीष्मोष्णमासाद्य निधेयार्थं व्यञ्जयति ।
‘उपकृतम्-’ इत्यत्र ॥ सुखार्थस्य कथितत्वेन प्रतीतिर्लक्ष्यार्थस्यैव विधिरूपमनया व्यञ्जकत्वम् ।
तथा चोक्तम्—‘कविद्वैतपद्धत्या कथयति-’ (इत्यादि) व्यञ्जिकत्वम् । यद्यप्यर्थसाम्येन कवि-
प्रौढोक्तोक्तव्य कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिरन्वर्थवति तथापि तदपेक्षया तस्या कविकवचमत्कारितया विविध्य
प्रतिपादनम् । ननु वाक्यगता एव ध्वनयश्चमत्कारमावहन्ति कथं तेषां पदविगतत्वेन भेदक-
त्वं । सत्यम् । पदपदद्वयशोभावनकत्वेन तेषां चमत्कारमस्मिन्नम् । पदांशस्तु—‘मदृति-’ प्रत्ययः
प्रातिपदिकं सर्वनामं च । पुरुषव्यस्य- पूर्वनिपातलक्षितं तथा ॥ चमत्काराधिकरणं विशेषोक्तविभक्तयः ।
उपसर्गो निपातश्च संबन्धो वचनं तथा ॥ अन्वयीभावकाण्यसा- पदार्था परिवर्तिता । तथा चोक्तम्—
‘एकवाक्यवसंस्थेन-’ (इत्यादि) इति पाठो दृश्यते ।

अथ गुणीभूतव्यङ्ग्यम्—

अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये ।

अपरं काव्यम् । अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्येन च संभवति ।

तत्र स्यादित्तराजं कांक्षाक्षिप्तं च वाच्यसिद्धेर्द्वयम् ॥ १३ ॥

संदिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगूढम् ।

व्यङ्ग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अथौ ॥ १४ ॥

भूतव्यङ्ग्यं निरूपयति—अथेति । अपरं ध्वनिभिन्नम् । तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये इतरस्य रसादेर्वा वाक्यार्थस्य वा अङ्गम् । रसादि अनुरणनरूपं वा व्यङ्ग्यमित्यन्वयः । एवमन्यत्रापि । कांक्षाक्षिप्तं साङ्गवशात् झटिति वाच्यवरप्रतीयमानम् । वाच्यस्यान्वयबोधबीजं वाच्यसिद्धेर्द्वयम्, आपत्ततः प्रतीतस्य वाच्यस्य प्रतिसंधानानुपपत्तिनिरासकम् । अस्फुटं सहृदयैरपि झटित्वप्रतीयमानम् । अगूढं स्फुटम्, तथा वाच्यायमानम् । असुन्दरं चमत्कारप्रत्यासन्नम् । एवं निरुक्तव्यं

१. गुणीभूतेति । वाच्यापेक्षया अचमत्कारित्वेनेह व्यङ्ग्यस्य गुणीभावः । ध्वनिकारेणाप्यभिहितम्—‘प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते । यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारत्वं स्यात्प्रवर्धय ॥’ इति । ‘प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्तुवस्ति कामीषु महाकवीनाम् । यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनाम् ॥’ इत्युक्तरूपे व्यङ्ग्याभौ यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्याग्रातम् । तस्यैव गुणीभावेन वाच्यार्चचारत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम्नापरः सान्वयभेद इति उदाहरणम् ॥

२. काञ्चेति । वाका इडेनोपस्थापितमिति वा ॥

३. संदिग्धेति । उदिग्ध वाच्यद्वयं व्यङ्ग्यकृतं नैवनिमित्तं प्राधान्यं यस्य यत्र वा तत् । यदा संदिग्धं चमत्कृतिजनने वाच्यव्यङ्ग्ययोः सहायारसं प्राधान्यं यत्र तत् ॥

४. मुरयेति । तुल्य वाच्यसमानं प्राधान्यं यत्र तत् । चमत्कारोत्पादने वाच्यव्यङ्ग्ययोरपि क्षमत्वेन तुल्यत्वमवधेयम् ॥

५. अगूढमिति । अगूढं साहृदयैरपि वेद्यम् । तादृशं वाच्यायमानतया च तथा चमत्करोति यथा कामिनीकुचकण्ठसदृशम् । तदुक्तम्—‘नाम्नीपवोपर इवातिचरा प्रिकाशो नो गुणैरीक्ष्य इवातिचरा निगूढः । अयो गिरामभिहितः सिद्धिप्रसन्न इक्षितमाभ्यान्वमेति मरहट्टवपुक्चाम् ॥’ इति । एवं च कामिनीकुचकण्ठसदृशत्वादेन सद्दयेकत्वादेव व्यङ्ग्यं ध्वनित्वमुपयाति । सहृदयैरपि दुःखसंवेद्यमसहृदयैरपि वेद्यं वेद्युमयमपि गुणैर्भूतव्यङ्ग्यमेवेति शोध्यम् । एवमन्येष्वपि भेदेचनुमय एव साक्षीति प्रदीपादां व्यक्तम् ॥

वर्तमान

दिव्यज्ञानम् ।

इतरस्य रसादेरङ्गं रसात्

यथा—

सिनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।

‘अयं स न जघनस्पृशी नीवीविसंसनः करः ॥’

नाभ्युद्धः करुणस्याङ्गम् ।

अत्र शृङ्गार ‘मानोजतां प्रणयिनीमनुनेतुकाम-

स्त्वत्सैन्यसागररवोद्गतकर्णवापः ।

हा हा कथं नु भवतो रिपुराजवानी-

प्रासादसंततिपु तिष्ठति कामिलोकः ॥’

अत्रमेवेन तस्य शुष्णभूतव्यङ्ग्यस्य रसाङ्गं स्वरूपव्यङ्ग्यम् । उदाहरति—अय-
मिति । भूरिभ्रष्ट समरपतितं हस्तं विलोभय तत्पक्ष्या रोदनमिदम् । अयमो-
दयनस्थ स तत्तत्कर्मणि सुहृदुभूतः । तत्तत्तर्माद—रसनेति । रसना मम
क्षुद्रघण्टिकामुत्कर्षयितुं मार्जनादिना उच्छ्वेदोपतुंभावङ्गं वा नीलमस्य स । नीम्या
वृक्षवृक्षस्य विलसतो मोक्षणकर । अत्रालम्बनविच्छेदेन रसैरसाधयतया
स्मर्यमाणानां तदज्ञाना शोकोदीपवत्वात्करुणानुकूलतेति शृङ्गारस्य करुणाङ्गत्वम् ।
अत एव प्राकरणिक्त्वेन प्रधानस्य करणस्य व्यञ्जक चाक्यार्थमपेक्ष्य तदानीमप्राप्त-
रभावात् शृङ्गारस्य व्यूनत्वमवसत्कारित्वम् । ननु तदानीं शृङ्गारस्य रसत्वाप्राप्त्या
‘कथमस्य रसात्तरसोदाहरणत्वं समच्छतामिति चेत्, न । तदानीं शृङ्गाररसस्य
पूर्णे रसत्वान्नवेऽपि खण्डरसत्वस्य सत्त्वात् । तस्य दोषपरिच्छेदे विरोधते । शृङ्गार-
स्य करणविस्मृत्येऽपि स्मृतिविषयत्वेन गुणत्वमेव, न तु दोषत्वम् ॥ भावाङ्गं
रसव्यञ्जकमुदाहरति—मानोजतामिति । राह स्तुतिरियम् । मानोजतामुत्तमा-

1. प्रासादेति । प्रासादपारम्पर्यम् ॥

१. मनुजलो मु ‘इतरस्य’ इत्यादे- ‘अयं अनेमेत । इत्यनेन म’ यस्य स्थाने ‘अनुदी’ मु ‘अय-
मिति’ इत्यादादुदाहरणे विधिक्यादिक्रियेभ्यश्च क्रियेयक्येभ्यो ऽङ्गम्यते । ‘उपहृतं मनु तप-’
इत्यादि विधिरूप पदुदस्य निषेधक्यादेः तत्पर्यम् । तत्कथं पूर्व-विधायक्येभ्यस्तुतरं कथमप्युत्त-
मिति । उच्यते—‘नम च भ्रात्र’ इत्यत्र उच्यते कथि एव निष्ठा त्रयसाध निषेधो ऽप्यङ्गयति ।
‘उपहृतम्’ इत्यत्र तु सुखमार्थस्य अभितानेन अतिरिक्तव्यस्तैव विधाप्रियमर्थाय व्यञ्जकत्वम् ।
तथा चोक्तम्—‘विद्विष्यतया कथयति’ (इत्यादि) व्यञ्जितेऽर्थः । ‘कथ’ पर्यभाषणमुक्तं कवि
श्रीश्रीशिवेन वशिष्ठवद्वत्कृष्णोक्तैरुक्तं नवति तथापि तदपेक्षया तस्या अधिकव्यञ्जकारित्वम् विविक्त
मतिरादनम् । ननु कथवत्ता एव व्यञ्जकव्यञ्जकारिभावोऽस्ति कथ तेषां पदादिगतत्वं मेदय-
नम् । सत्यम् । पदपदयोः शोभाजनकत्वेन तेषां चमत्कारमिवम् । पदा शब्द—अकृति मत्स्य
प्रतिपदिक सर्वनामम् । पुष्पफलकं पुष्पनिपातकहितं तस्य । वर्गमूर्तयः स्य विरोधो विनियोगः ।
उपयमो विनायक्य कथो वचनं तस्य । नवविनायक्यता पदार्था परिचीर्णम् । तथा चोक्तम्—
‘यथावचनवचनम्’ (इत्यादि) इति पद्ये दत्तते

कृता लङ्कामर्तुर्वदनपरिपाटीपुष्टना

मयासं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥'

अत्र रामत्वं प्राप्तमित्यवचनेऽपि शब्दशक्तेरेव रामत्वमवगम्यते ।
चनेन तु सादृश्यहेतुकतादात्म्यारोपणमाविष्कुर्वता तद्गोपनमुपाकृतम् ।
न वाच्यं सादृश्यं वाक्यार्थान्वयोपपादकतयाज्ञतां नीतम् ।

पूणा मरीचिक, कनके मृगतृष्णारोपणं च दुष्प्रापजलार्थिनो मृगतृष्णायास्मिन्
दुष्प्रापकनकार्थिनः कनकेऽपि प्रवृत्तेस्तद्वत्प्रवृत्तिविषयत्वरूपसाधर्म्यात्' इत्याहुः ।
तत्र । स्वरूपसत्तः कनकस्य युज्यन्धीकरणासंभवात्प्राप्तीच्छयां लक्षणावश्यमाप्ती-
प्रयां । एवं च तत्र निरुक्तसाधर्म्यासंभवाद्दुष्प्रापसंगतेः । 'मृगः पशौ क्रुरते च
रिनक्षत्रभेदयोः' । अन्वेषणे च यात्रायाम्' इति मेदिनी । रामेण प्रतिपदं पदे
दि 'देहि' इति वचः उदधु यथा स्वात्तया प्रलपितम् मया तु व निधितं
देहि' इति वचः प्रतिपदं प्रतिस्थानं प्रलपितम् । रामेण लङ्कामर्तु रावणस्य वदनानां
रिपाव्यां पङ्क्तौ द्रुपदना कृता । मया तु भर्तुर्वदनस्वामिनो वदनस्य परिपाटीपु-
स्तोपसूक्तमभिरुप कापि घटना परिचयोऽलमत्यर्थं कृता । कुशलं दारिद्र्यापनायकं
तु यस्य तत्ता मया नाधिगता । रामेण तु कुशलवो सुतो यस्याः सा सीता प्राप्तै-
ति तु शाब्दलभ्योऽर्थः । अस्योपमाश्रयित्वं वाच्यत्वात्कार्थान्वयमुपपादयति—
मनेति । शब्दशक्तेरेव स्वरूपशब्दसामर्थ्यादेव, रामत्वं रामसादृश्यम् ।
चनेन मयासं रामत्वमिति वाक्येन, आविष्कुर्वता व्यञ्जयता तद्गोपनं साद-
रस्य गूढत्वमुपाकृतं खण्डितम् । एतेनाधिकचमत्कारित्वाभावेनास्योपमाश्रयित्वं
रितम् । तेन सादृश्यस्य गोपनापाकरणेन वाच्यं वाच्यवृत्तमिति प्रतीयमानं
न्यायार्थस्य रामसादृश्यप्राप्तेरन्वयोपपादकतया अन्वयप्रतियोगित्वेनाव्ययस्य
वर्षोदकतया । तत्रापाततः प्रतीतस्यार्थस्यानुपपत्तिर्व्यङ्ग्यं निरस्यति स वाच्यति-
पन्नस्य विषयः । यत्र त्वापाततः प्रतीतस्य बाधनेन तत्स्थाने आत्मानमर्पयित्वा
अन्यं निर्वाहयति सोऽस्य विषयः, इत्यनयोर्भेदः । अत्र 'उपमानोपमेयभावो
यज्ञयो वाच्याज्ञतां नीतः' इति काव्यप्रकाशशक्तिं केचिदेवं विवृण्वन्ति—उप-
मानोपमेयभाव उपमा रामत्वप्राप्तिव्यङ्ग्ये, वाच्यस्य कुशलवसुताप्राप्त्या प्राप्ततत्त्वा-
द्रामाश्रयतिरेकरूपस्याज्ञतां प्रकपेकता नीतः' इति । तत्र । अङ्गतामुपपाद-
तामित्यस्यैव वक्तुं युक्तत्वात् । उपमानव्यञ्जनाभावे व्यतिरेकप्रतीत्यनुपपत्तेरुपपत्त्य-
शयाभायकस्यैव प्रकपेत्वंसंभवात् ॥ अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य वाच्यस्याज्ञत्वं

१. 'मया' इत्यधिकं क तुलके. २. 'अपातकुशलवसुतास्य उपमेयस्य दारिद्र्यस्य प्राप्तिकुशलव-
ताकादामादविषयस्य च न प्रतिपाद्यव्यतिरेकात्कारणवृत्तात्' इति काचित्का पाठः. ३. 'उपपन्न-'
ति तुलकाश्वरे.

काकाक्षितं यथा—

‘ममामि कौरवशतं समरे न कोपा-

दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।

संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरु

संधिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥’

अत्र ममाम्येवेत्यादि व्यक्तं वाच्यस्य निषेधस्य सहभावेनै-
स्थितम् ।

‘दीपयन्नोदसीरन्ध्रमेध ज्वलति सर्वतः ।

प्रतापस्तव राजेन्द्र ! वैरिवंशदवानलः ॥’

अत्रान्वयस्य वेणुत्वारोपणरूपो व्यक्तव्यः प्रतापस्य दवानलत्वारो-
पसिद्धम् ।

यथा—‘आगत्य संप्रति वियोगविसेष्टुलाहोमम्मोजिनीं कचिदपि क्षपितत्रियामः
एतां प्रमादयति पश्य ननैः प्रमाते तन्वज्जि । पादपतनेन सहस्ररदिमः ॥’ अत्र
नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो रविकमलिनीवृत्तान्ताध्यातोपेण स्थितः ।
ममामितीति । सहदेवं प्रति संधिहरणासहिष्णोर्भोमस्योक्तिरियम् । सर्वत्र सामीप्ये-
लेद । उरस्तो वक्षःस्थलत् । सुयोधनेति दुर्योधनस्यैव नामान्तरम् । नृपति-
रुधिष्ठिरः । भवतामिति ‘अभिमतम्’ इति शेषः । यद्वा, भवतां नृपतिरित्यनेन
स्वामीशानाचरणाल्पनृपतित्वाभावसूचनम् । पणेन कुशास्यत्यादिप्राप्तपत्रकप्रापण-
रूपेण । ममाम्येवेति प्रबलरपरिपन्थिसंधिप्रसङ्गसमुज्ज्वलमानसंरम्भमिदं
लक्ष्मणतालसंयोगकृतेन शिरश्चालनगद्गोलनेन नमो दक्षित्ययोगव्यवच्छेदो व्यज्यते
स एवकारेण दर्शितः । सहभावेनेति । वाच्यप्रतीतिसमकालमेव धीमभावग-
दसाकृद्गुणतया कापुरवेण व्यक्तप्रतीति वाच्यमाभासमात्रं व्यग्रयमेन हृदयिषाट्प्यमाणं
वाच्यममानम् । अतः एकाग्र ‘मुख्यार्थवाधायनुसरणविलम्ब्यागहत्याश्रया’ इति
प्राचीनाः । ‘मुख्यार्थवाधो दक्षित्यर्थपर्यवसानाय प्रतीयते’ इति नवीनाः । वाच्य-
संप्रतीतिसमये व्यग्रवासा अर्थवेधनासामर्थ्यमेव प्राचीनमन्तव्यरसः । केचित्तु—
‘न मधिप्यामीत्यादिरित्या अपरनन्तर्यं आक्षिप्यते । तथा च ननन्दयेनैराकार्य-
पर्यवस्यति’ इत्याहुः । तत्र । वाच्यार्थस्यैव व्यजनयोरस्थितेरसंभवात्, वाच्यम्या-
चोर्गुणपदुपस्थित्ययोगाच्च ॥ वाच्यसिद्धांतं व्यग्रयमुदाहरति—दीपयन्निति
प्रकाशयमित्यर्थः । रोदस्योर्दावापुत्रियो रन्ध्रमवकाशं ज्वलति दीप्यते
अप्रेति । अन्वयस्य कुतस्य प्रायमिदबोधे दवानलस्य दशगोत्रसंबन्धासंभवे-
पलम्भादप्राप्तमदहः, ततः प्रतापस्य दवानलस्योपपत्त्या व्यक्तं कुतस्य वेणुत्वारो-

‘हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यः—’ इत्यादौ (१९९ पृ.) विलोचन-
॥ पारचुम्बनाभिलाषयोः प्राधान्ये संदेहः ।

‘ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।

जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥’

अत्र परशुरामो रक्षःकुलक्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च
। प्राधान्यम् ।

प्रमत्तसद्वतः श्रोतुर्वैरिकुलघेनुदवानल इति द्वितीयबोधः । आरोप्यमाणस्य
गोर्दवानलसंघन्धित्वमक्षतमित्यनुपपत्तिनिरोधेन दवानलस्वारोपणस्याङ्गं व्यङ्ग्य-
पकं प्रतापस्य दाहकत्वेन कविपरम्परासिद्धपिशङ्गत्वेन च दवानलसादृश्यं प्रसिद्ध-
ति तद्रूपकं वैरिकुलस्य घेनुस्वारोपणकारणमिति श्लिष्टनियन्धनं परम्परितरूपकमि-
म् । क्वचिच्च प्रकरणादिनियमाभावेन रूप्यरूपकयोर्मयोरेव श्लिष्टशब्दवाच्यत्वम् ।
या—‘विद्वन्मानसराजहंस—’ इत्यादि । प्रकृते तु नियन्त्रणवशाद्रूपकस्य व्यङ्ग्यत्व-
वैल्यवधेयम् ॥ संदिग्धप्राधान्यं व्यङ्ग्यमुदाहरति—हरस्त्विति । आनालिकव-
न्ते पार्वतीमालोकमानस्य हरस्य धैर्यविपर्ययवर्णनमिदम् । परिवृत्तधैर्यो
पृथ्वीति । लोचनेनेति । मुखमाने लोचनव्यापारेण चुम्बनाभिलाषः संभाव्यते ।
च द्वयोरेव शृङ्गारव्यञ्जकतया प्राधान्यमिति तुल्यप्राधान्यमेवेदमिति वाच्यम् ।
भयोः प्राधान्यसंदेहे तस्यानवकाशात् । प्राधान्यसंदेहश्च दर्शनं रतेरनुभावहपतया
शृङ्गारस्य व्यञ्जने प्रधानमुत चुम्बनाभिलाषव्यञ्जकत्वेनाङ्गमिति । एवं चुम्बनाभि-
लाषः संभाव्यमानत्वेनाप्रधानमुतास्वाद्यत्वेन शृङ्गारव्यञ्जकतया प्रधानमित्याहारको-
षः । प्राधान्यस्य निश्चयाभावादेव वाच्यादनुत्तमत्वं व्यङ्ग्यस्य ॥ तुल्यप्राधान्य-
रत्नमाह—ब्राह्मणेति । दिग्बिजये भार्गवजिगीषुं दशग्रीवं प्रति तन्मन्त्रिण-
किरियम् । अतिक्रमः पराभवः । भवतामेव भूतये, न तु स्वार्थं प्रवीमि ।
अत्र चेति चकारस्यान्वयः । उभयोरेकशिध्यत्वेन सतीर्भ्यतया मित्रत्व तस्याति-
मो न केवलं ब्राह्मणातिक्रमो मित्रातिक्रमश्च । अन्ययातिक्रमे दुर्मनायते इति भवि-
ष्यत्समीप्ये लट् । तस्यातिक्रमप्रवृत्तावतिक्रमो न सेत्स्यति तस्य दौर्मनस्यमेव भवि-
ष्यति । यथा कार्त्तवीर्येण तद्दौर्मनस्यमाचर्य सत्रियकुलं नाशितं तथा भवतापि रक्ष-
त्वं नाशयितव्यमिति भावः । जामदग्न्यदौर्मनस्यव्यङ्ग्यो रक्ष कुलक्षयः, मित्रब्राह्म-
णातिक्रमत्यागजन्या विभूतिर्वाच्या, ताभ्यां जामदग्न्यातिक्रमो न कर्तव्य इत्यर्थनि-
ष्पन्नरूपमतिर्व्यज्यत इत्युभयोः समं प्राधान्यम् । अत एव वाच्यादनुत्तमत्वमस्य ।
चित्तु—‘वाच्यस्य मित्रब्राह्मणदौर्मनस्यस्य समं प्राधान्यमिति त्रासरूपव्यभिचारि-
व्यञ्जने द्वयोः साम्याच्छापपापोत्पादकत्वेन हि वाच्यात्रासो व्यङ्ग्यात्तु साक्षात्
स्याहुः । तत्र । दुर्ज्ञेयस्य पापसंभावनया त्रासासंभवाद्ब्राह्मणदौर्मनस्यजन्यशाप-
संभावनया त्राससंभवेऽपि वाच्यस्य व्यङ्ग्यापेक्षया व्यवहितत्वात्तुल्यप्राधान्यासंभ-

‘संधौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः ।

अल्लवदीननृपतौ न संधिर्न च विग्रहः ॥’

अत्राल्लवदीनाख्ये नृपतौ दानसामादिमन्तरेण नान्यः प्रश्नोप
इति व्यङ्ग्यं व्युत्पन्नानामपि झटित्यस्फुटम् ।

‘अनेन लोकगुरुणा सतां धर्मोपदेशिना ।

अहं व्रतवती खैरमुक्तेन किमतः परम् ॥’

अत्र प्रतीयमानोऽपि शाक्यमुनेस्तिर्यग्योपिति बलात्कारोपभोग
स्फुटतया वाच्यायमान इत्यगूढम् ।

‘वाणीरकुडङ्गुडीणसउणिकोलाहणं सुणन्तीए ।

घरकम्मवाचडाए बहुए सीअन्ति अज्जाइं ॥’

वाच ॥ अस्फुटं व्यङ्ग्यमाह—संधाविति । विग्रहे युद्धे । अन्यः संधिविग्रह
वा । अत्र दानादिकमेवोचितमित्यर्थनिर्धारणरूपमतेर्व्यभिचारिभावस्य संधिविग्रह
निष्ठसाधनत्वरूपवाच्यं व्यङ्ग्यनिरपेक्षमेव व्यञ्जकं वाच्यसंधिविग्रहाभावसापेक्षमि
वाच्यादनुत्तमत्वमस्य ॥ अगूढव्यङ्ग्यमाह—अनेनेति । शाक्यमुनेस्तिर्यग्योपिद्वल
त्कारोपभोगमसहमानायास्तत्पठ्या उक्तिरियम् । व्रतं गृहस्थधर्मानुष्ठानम्, तद्वती
उक्तेनेति । अतः परं न वक्तव्यमित्यर्थः । लोकगुरोः सद्धर्मोपदेशकस्यास
दुष्कर्माचरणमनुचितमेव । मम तु व्रताचरणसहायस्य तादृशस्य कथनमपि नोचि
तमिति भावः । आक्षेपालंकारमहिम्ना व्यङ्ग्यरूपो विशेषो झटित्येव प्रतीयत इति
वाच्यायमानत्वमस्य । व्यङ्ग्यनिरपेक्ष एव वाच्य आक्षेपालंकार ईर्ष्यासंचारिभाव
ज्ञापकः प्रतिनायिकायास्तिर्यकत्वेन व्यङ्ग्यस्य तदुपभोगस्य मेर्षोत्कर्षाद्यकत्व
मिति व्यङ्ग्यादनुत्तमत्वमस्य ॥ अमुन्दरं व्यङ्ग्यमाह—वाणीरेति । ‘वाणीर
कुडङ्गुडीणसउणिकोलाहणं सुणन्तीए । गृहकर्मव्यापृताया वच्चाः सीदन्त्यज्ञानि ॥’
इति संस्कृतम् । चण्डीदासस्तु—‘कुडङ्गो लतागृहम् । यावदा व्याकुता’ इति
व्याचकार । सीदन्ति गृहकर्मज्ञाणि भवन्तीति लक्षणात् इति शेषः । गृहकर्मव्या
पृताया इति तु तात्पर्यमाहकम् । व्यङ्ग्याद् व्यङ्ग्यमनपेक्षेत्यर्थः । वाच्यादेराज्ञ
वसादाद् हर्षवैगर्हसंघलितानुरागोद्रेककृतमदनपरवशताप्रतीतिः । व्यङ्ग्यस्तु (नु) तस्य
प्रायम् । एतच्च समिपये वाच्यजिह्वादिस्वाभावदस्वरूपं द्रष्टव्यम् । तेषु व्यङ्ग्य
स्यापि चारुवचनमात्र इति चण्डीदासः । तदस्य च व्यनहितोपभ्रान्तमेनोदासी
नपदाभासमानम् । तथाहि—शत्रुनिघ्नोलाहलध्रुवणेनोपनायनस्य लतागृहप्रवेश
शुभानम्, ततो हर्षवैगौ, ताभ्यामनुरागोद्रेकः, ततो मदनपरवशताप्रतीतिः
एवं च व्यङ्ग्यस्य चतस्रस्तत्प्राप्तावभावमेवामुन्दरवमिति फलितम् । केचित्तु “रग”

अत्र दत्तसंकेतः कश्चिन्नतागृहं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् 'सीदन्त्य-
नि' इति वाच्यस्य चमत्कारः सहृदयसंवेद्य इत्यसुन्दरम् ।

किंच । यो दीपकतुल्ययोगितादिपूमाद्यलंकारो व्यङ्ग्यः स गुणी-
भूतव्यङ्ग्य एव । वाच्यस्य दीपकादिमुखेनैव चमत्कारविधायित्वात् ।
दुक्तं ध्वनिकृता—

‘अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।

तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥’

विधोऽधजनेन वाच्यसापेक्षत्वमेवामुन्दरत्वम्’ इति व्यङ्ग्यादिति । इत्यादिव्यङ्ग्या-
दित्यर्थः । तथा च वधूश्च न तत्र गतेत्येतत्पर्यन्तादित्यर्थः । वध्वा अगमनमेव न
केवलं तदीयविप्रलम्भेव्यङ्ग्यकम् । किंतु स्रक्निकोलाहलश्रवणेन सीदन्त्या वध्वा
अगमनमिति वाच्याङ्गावसादसहकारेणैव रसव्यङ्ग्यनाया वाच्यमुखनिरीक्षकत्वात्तद-
पेक्षया न्यूनचमत्कारी” इति वदन्ति । तत्र । अङ्गावसादव्यङ्ग्यविषादसहकृतस्यैव
वध्वगमनस्य विप्रलम्भव्यङ्ग्यजनसंभवेन वाच्याङ्गावसादमुखनिरीक्षणयोगात्तदानींतन-
गमनाभावसत्त्वेऽपि गमनसंभावनया विप्रलम्भासंभवात् । न च गृहकर्मव्याघृताया
इत्यनेन गमनाभावनिश्चयेन गमनसंभावनैव नास्तीति वाच्यम् । गृहकर्मन्ति.पाति-
जलाहरणादिच्छलेनापि तत्संभवात्, रतेरुपनायकविपर्यवेन विप्रलम्भाभासस्यैव
बहुमुचितत्वाच्च ॥ विषयविशेषे केपाचिदुनिभ्रमं निरस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं व्यव-
स्थापयति—किंचेति । दीपकादिमुखेनैवेत्येवकारेण व्यङ्ग्योपमादिव्यवच्छेदः ।
अलंकारान्तरस्येति । अलंकारान्तरस्य प्रतीतावपि यत्र वाच्यस्य तत्परत्वं
व्यङ्ग्यालंकारान्तरतात्पर्यकत्वं न भासते । असौ न ध्वनेर्मार्गो विषय इत्यर्थः ।

१. अलंकारेति । अलंकारान्तरस्य रूपकादेरलंकारप्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य
व्यङ्ग्यप्रतिपादनौमुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः । तथा च दीपकादाव-
लंकारे उपमाया गम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारुत्वस्याव्यवस्थानाच्च ध्वनिर्व्यपदेशः । यथा
मम—‘रजनी हिमरुकिरगैर्वसिनी नलिनैस्तरङ्गिणी सलिलैः । बली कुसुमस्तवकैः काव्य-
कथा भूष्यते सुजनैः ॥’ इत्यादिपूमागर्भत्वेऽपि वाच्यालंकारमुखेनैव चारुत्वं व्यवसिष्टते,
न व्यङ्ग्यालंकारतात्पर्येण । अतस्तत्र वाच्यालंकारमुखेनैव काव्यव्यपदेशो न्याय्यः । एवं
समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्निसंकरालंकारादपि श्रेयम् । समा-
सोक्ती तावत् ‘उषोदराणेन विलोहलारुं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् । यथा समस्तं
तिमिरांशुकं तथा पुरोऽपि रामाद्रलितं न लुशितम् ॥’ इत्यादौ व्यङ्ग्येनानुगर्भं वाच्यमेव
प्राधान्येन प्रतीयते । समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोनिशाशशिनेरेव वाच्यार्थत्वात् ।
एवमग्रेऽप्यनुसंधेयम् । तथा चोक्तम्—‘व्यङ्ग्यस्य यत्रप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकारव्यवस्थाः स्फुट्यः ॥ व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि
वा । न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥’ इति ॥

यत्र तु—

‘यत्रोन्मदानां प्रमदानानामभ्रलिहः शोणमणीमयूखः ।

संध्याभ्रमं प्राप्नुवतामकाण्डेऽप्यनङ्गनेपथ्यविधिं विधत्ते ॥’

इत्यादौ रसादीनां नगरीवृत्तान्तादिवस्तुमात्रेऽङ्गत्वम्, तत्र तेषाम-
‘तात्पर्यविषयत्वेऽपि तैरेव शुणीभूतैः काव्यव्यवहारः । तदुक्तमस-
त्सगोत्रकविपण्डितमुख्यश्रीचण्डीदासपादैः—‘वाक्यार्थस्याखण्डबुद्धिवेद्य-
तया तन्मयीभावेनास्वाददशाया गुणप्रधानभावावभासस्तावन्नानुभूयते,
कालान्तरे तु प्रकरणादिपर्यालोचनया भवन्नप्यसौ न काव्यव्यपदेशं
व्याहन्तुमीश’, तस्यास्वादमात्रायत्तत्वात्’ इति ।

केचिच्चित्राख्य तृतीय काव्यभेदमिच्छन्ति । तदाहुः—

‘शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ।’

दीति । रसादौ यत्तात्पर्यं तस्य पर्यालोचनया अनुसंधानेन ॥ नन्वेव यत्र
रसादीनामन्यतमतात्पर्यविषयत्वेन प्रधानत्व तत्रैव काव्यव्यवहार इति फलितम् ।
एव च ध्वनित्वासकीर्णं शुणीभूतव्यङ्ग्यं कापि नास्तीति कुतस्त्वस्य काव्यविभाजक-
त्वमत आह—यत्र त्विति । यत्र नगर्यां शोणमणी पद्मराग अनङ्गनेपथ्य-
विधिं सुरतोपयुक्तेपरचनां विधत्ते संपादयति ॥ तेषां रसादीनामतात्पर्यविषय-
त्वेऽपि तात्पर्यविषयत्वेनाप्रधानत्वेऽपि तैरेव रसादिभिरेव काव्यव्यवहार इति । तथा
च यत्रोभयसंकरस्तत्र व्यवहारसदेहे तथा निरूपितम् । यत्र त्वभयसकरो नास्ति तत्र
रसादीनामन्यतमस्य सवन्धमात्रेणैव काव्यव्यवहारः, न तु प्रधानत्वेऽपीति भावः ।
चान्यार्थस्य पदार्थसमूहस्य । अखण्डबुद्धिवैद्यतया एकबुद्धिप्राप्ततया ।
नन्वनेकपदार्थानां कथमेकबुद्धिप्राप्तत्वनियम इत्यत आह—तन्मयीभावेनेति ।
अखण्डबुद्धिस्वरूपीभावेन । कालान्तरे आस्वादविनाशदशायाम् । अस्ती शुण-
प्रधानभावावभासः । तस्य काव्यव्यपदेशस्य । तथा श्लोकस्थले वाक्यस्य रसादि-
तात्पर्यकत्वाभावेऽपि प्रासङ्गिकरसादिव्यञ्जकत्वेनापि काव्यत्वमक्षतमेवेति भावः ॥
काव्यप्रकाशादिकारमत दूषयति—केचिदिति । व्यङ्ग्याभावात् इति । ‘विष-

१. शोणेति । अत्र शास्त्रसिद्धयपि कतुरेकवचन क्रियम्यरुचिर्विव सहृदयहृदयेष्वङ्क-
रयतीति त एवात्र प्रमाणम् । एव चात्र ‘शोणमणिप्रकाश’ इति पठनीयम् । अथवा
‘यत्रोन्मदानां प्रमदानानामभ्रलिहः विदुषवेदमभासः । संध्याभ्रमं प्राप्नुवतामकाले-

१ म. पुलक तु तदुक्तम्—इत्यादौ—पादैः इत्यन्तस्य स्थाने ‘यत्र केचिन्नाहुः’ इति पाठो वर्तते
न अत्रोऽपि ‘तदतीव हृदयगमम् । तथापि कथा सर्वेषां रसानां चमकारस्येनाहुनानतिरहोऽपि मुनि-
धनानुतोषेन बहुभेदः तथा कान्तस्यपि ध्वनिशुनीभूतव्यङ्ग्यत्वं त्रिधा व्यपदेशः ‘माधोवानाम्’
इत्यधिक म. पुलक ३ अत्रि इत्यधिक म. पुलके ४ काव्य इति नास्ति म. पुलके. ५. ‘तथाहि’
न ६ इत्येव तेषां रसादीनाम् इत्यधिक पुलक २ये

या सिद्धं रसादितात्पर्यरहितमुल्लेखादि । अथ किमिदं चित्रं नाम, यत्र न व्यङ्ग्यार्थसं-
 लक्षः । तत्र, यत्र वस्तु अलंकारान्तरं वा व्यङ्ग्यं नास्ति ॥ नाम चित्रस्य कल्प्यतां
 वेपथुः । अत्र ॥ रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न संभवत्येव । यस्मादवस्तुसंरूप-
 शिता काव्यस्य नोपपद्यते । वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिदस्य चाद्वैतं प्रतिप-
 द्यते । विभावत्वेन चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः । न च तदस्ति वस्तु किञ्चित् चित्रं चित्तवृत्ति-
 विशेषमुपजनयति, तदनुत्पादने वा कविविषयत्वेन तस्य न स्यात् । कविविषयश्च चित्रतया
 कश्चिन्निरूप्यते । अत्रोच्यते—सत्यम् । न तादृशकाव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामविम-
 तेपत्तिः । किं तु यदा रसमावादिबिबक्षाद्यन्त्यः कविः शब्दालंकारमर्थालंकारं बोधनिव-
 र्ताति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यताार्थस्य परिकल्प्यते । विवक्षोपाकृत एव हि काव्ये
 शब्दानामर्थः । बाध्यसामर्थ्यवशेन च कविबिबक्षाविरहेऽपि तपाविषये विषये रसादिप्रती-
 तेर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्था-
 प्यते । तद्विदमुच्यते—‘रसमावादिबिबक्ष्याविरहे’ सति । अलंकारनिबन्धो यः स
 चित्रविषयो मतः ॥ रसादिषु विवक्षा तु स्वाप्तात्पर्यवती यदा । तदा नास्त्येव तत्कार्यं
 व्यवनेयं न गोचरः ॥’ इति । एतेन तृतीयकाव्यभेदं मत्वाचक्ष्णाणस्य ग्रन्थकृतो मतं न
 सहृदयद्वयमपिरोहति । इत्थं च ‘अव्यङ्ग्यम्’ इत्यत्र तात्पर्यविषयीभूतव्यङ्ग्यविकल्पमेवा-
 व्यङ्ग्यपदेनाभिप्रेतम् । अत्र पक्षे ‘अज्ञातगुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्यं तु मध्यमम्’ इति
 मध्यमकाव्यलक्षणे व्यङ्ग्यपदं विवक्षितव्यङ्ग्यपरम् । यदा अव्यङ्ग्यम् अस्फुटतरातिरिक्तप-
 ङ्ग्यपरितम् । तादृशं चास्फुटतरव्यङ्ग्यसङ्गावे व्यङ्ग्यमात्रमात्रे वा । ईषत्त्वस्य नञर्थ-
 त्वाद् अव्यङ्ग्यमस्फुटतरव्यङ्ग्यमिति कतिपये । वस्तुतस्तत्रार्थेचित्रशब्दचित्रयोरविशेषेणा-
 धमत्वं वक्तुमशुक्तम् । तारतम्यस्य स्फुटमुपलब्धेः । को योवं सहृदयः सन् ‘वितर्कितं
 मानदमात्ममन्दिराङ्गवत्पुष्पं यदृच्छ्यापि यत् । ससंभवेन्द्रदुतपतिवर्गं निमीलित-
 क्षीवं भियानरावती ॥’ इति, ‘स चित्रमूलः क्षतयेन रेणुस्योपरिष्टारपवनावधूतः ।
 अङ्गारक्षेपस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे ॥’ इत्यादिभिरर्थेचित्रकाव्यैः ‘स्वच्छ-
 न्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छाशेतराङ्गच्छदामूर्च्छामोहमहर्षिर्ष्वेदितक्षानादिकाद्याप यः ।
 मिन्पादुषदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रुमद्रोहोद्रेकमहोर्मिगेदुरमश मन्दकिनी मन्दताम् ॥’
 इत्यादीनां पामरधायानामविशेषं भूयात् । सत्यपि तारतम्ये यथेकभेदत्वं कस्यहि
 ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यययोरीषदन्तरितयोर्निमित्तभेदत्वे दुष्प्रमद इति रसगङ्गाधरकाराः । तत्रा-
 परे तु—‘अव्यङ्ग्यं स्फुटप्रतीयमानार्थरहितं तु अव्यङ्ग्यं चरमम् । तृतीयकाव्यमित्यर्थः ।
 चरमत्वं च ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यपापेक्षया कानिष्ठम् । न रसमतमेव । तस्य चित्रा-
 स्यतृतीयकाव्यावान्तरभेदे विवक्षितत्वात् । तच्चित्रमित्यध्याहार्यम् । चित्रं च गुणा-
 लंकारयोगि । तत्र शब्दचित्रं वाच्यचित्रमित्यवान्तरभेदेन द्विविधम् । अत्र कल्पे ध्वनि-
 ग्रन्थोऽप्यनुक्त एव । ‘तत्तुल्यमेवार्थचित्रं मन्तव्यम्’ इत्याचार्याभिनवगुप्तोक्तिरपि शोदि-
 तादपरा । तत्र शब्दचित्रस्य वाच्यचित्रापेक्षयापट्टरसादधमत्वं’ इत्याहुः । एतेन
 काव्यस्य चागुविषयमतिरोदितमेव । तपादि—यत्र शब्दार्थो गुणीभावितरामानी कमध्यर्थ-
 मभिप्रेत्यहस्तदुष्प्रमम् । ‘मिःशेषस्तुतचन्दनम्’ इत्यादि । इदमेव रसगङ्गाधरे उच्यतेचम-

मिति व्यपदिश्यते । तत्र 'शयिता सनिधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान् । दयिता
 दयिताननान्मुञ्चं दत्मीलत्रयना निरीक्षते ॥' इत्येवोदाहरणम् । यत्तिह 'अहो पूर्णं
 सरो यत्र हुञ्जतः खान्ति मानवाः' इति दर्शनेन सहृदयहृदयैक्यमुग्धमुग्धभावसंज्ञा-
 संमुग्धधिया प्रसन्नानीश्वरावाक्षिप्तविधवाशोकलनमूलकः काव्यत्वाभाव इति, तदतीव
 मन्दम् । यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारजनक तन्मध्यमम् । 'राघवविरहज्वालासंता-
 पितसद्यशैलशिखरेषु । शिशिरे सुखं शयानाः कथमः कुप्यन्ति पवनतनयाय ॥' इति,
 पथे जानकीकुशलावेदनेन राघवः शिशिरीकृत इति व्यङ्ग्यमाकस्मिककमिकर्तृकपवनतनय-
 विषयककोपोपपादकतया शुणीभूतमपि दुर्दैववशतो दास्यमनुभवद्राजकलत्रनिव कामपि
 कमनीयतामावहति । इदमुत्तमम् । यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कार-
 स्तद्वाच्यचित्रम् । 'विनिर्गतम्-' इत्यादि । इहामरावतीति स्त्रीप्रत्ययकृतकामिनीत्वाध्यव-
 सानमूलोपेक्षा वाच्यैव चमत्कारविभ्रमगूढिभिः । चीररसचमत्कारोऽंशतया वर्तमानोऽ-
 न्युत्प्रेक्षाचमत्कृतिकोऽनिलीनो नागरेत्रनाविकाकल्पितकाश्मीरद्रवाङ्गरागनिवीणो निजा-
 जगौरिमेव प्रतीयते । इदं मध्यमम् । यत्रार्थचमत्कारोपरकृतः शब्दचमत्कारः प्रधानं
 तच्छब्दचित्रम् । 'स्वच्छन्द-' इत्यादि । अत्र शब्दचमत्कारावलीढोऽर्थचमत्कारः क्षारा-
 कूपारपूरपतितगङ्गाप्रवाहमधुरिमेव न विभाव्यते । इदमधममिति दिक् ॥



३८.

✓ 'तात्पर्याव्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः ।

यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥' इति,

तयोरुपरि 'शब्दबुद्धिकर्मणां निरस्य व्यापाराभावः' इति वादिभिरेव
पातनीयो दण्डः ।

एवं च किमिति लक्षणाप्युपास्या । दीर्घदीर्घतराभिधाय्यापारेणापि

वाच्यार्थं बोधयित्वा व्यङ्ग्यार्थमपि बोधयतीति भावः । तात्पर्येति । तात्पर्यमे-
दाभावात् शब्दादेर्व्यञ्जकत्वस्य व्यञ्जनसामर्थ्यस्य न ध्वनिर्न व्यञ्जना नाम । एवं च
तात्पर्यमेव व्यङ्ग्यबोधकम् । नन्विदं ससर्गमात्रयोर्वच कथं व्यङ्ग्यं बोधयत्वित्यत
आह—याद्यदिति । तात्पर्यं हि ससर्गव्यङ्ग्ययोर्बोधकत्वात् तुलाधृतं न ससर्ग-
मात्रबोधकत्वेन नियन्त्रितमित्यर्थः । नन्वयं व्यायोऽप्रामाणिक एवेत्यतः आह—

नय वाच्यं निषेधमुपसर्पेति ॥ प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूर्णाण्यदि । नञ्निवक्षित-
प्रतिरेनिभान्तिर्नवा वधम् ॥ मौल्येयस्य वाक्यस्य निवह्यापरतत्ता । वनभिप्रेततात्पर्य-
मत काव्यस्य शुभ्यते ॥' इति । अग्रे न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्ज-
कभावः । किं तर्हि, भाव्यभावकसंबन्धः । वाच्यं हि भावकम्, भाव्या रसा-
दयः । ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्य विभावादिसत्ता काव्येन भाव्यन्ते ।
न चाप्यन शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसंबन्धाभावात् वाच्यशब्देऽपि तथा
भाव्यमिति वाच्यम् । भावनाक्रियादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वात् न किंच, सा चाप्यन तथा-
स्त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथावगमात् । तदुक्तम्—'भावाभिनयसंबन्धान् भावयन्ति
'रसानिमान् । यसात्तस्मादग्रे भावा निवेदा नाव्यबोक्तृभिः ॥' इति । कथं पुनरुदी-
र्यमव्यञ्ज्य' एवेभ्यः स्वाध्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत्, लोके तथाविधेष्वुक्तरीपुसादिषु
रत्नादिनाभूतपेक्षादिप्रतिपादयशब्दश्रवणात् अभिनेयानिनागारेन शङ्खगिनी रत्नादि-
प्रतीतिः ॥

१. शब्देति । वाचकस्य लक्षणिकस्य वाशब्दस्य अभिपया रक्षणया वा सङ्ख्येय-
शब्दबोधकत्वात् पुनरभिपद्यता रक्षणया वार्थान्तरव्यवहारे सामर्थ्याभावादित्यर्थः ॥

२. किमिति । यदि भवन्मते तादृशाभिधाय्यापारेणैव व्यङ्ग्यार्थोऽवबुध्यते, तर्हि
किमर्थं रक्षणं स्वीक्रियते । लक्ष्यार्थस्यापि भवत्कल्पिताभिधाय्यापारेणैव बोधात् । एवं च
किमर्थं गीर्णान्दर्शने भगवता जेभिनिता 'स्तुतिर्हि ज्ञानव्यवहारणस्यानसमाह्वानां समवाये
पारदोर्भवमर्थमिप्रकर्षात् ३।३।७' इति सूत्रेण श्रुत्यादिषु पूर्वपूर्वपक्षीयस्य निर्णयादि ।
स्तुतिस्तत् इव हि तादिसत्तेऽपि शब्दश्रवणानन्तरं प्रतीयमानानावर्णानां दीर्घदीर्घतराभिधा-
य्यापारेणैव प्रतीक्षां सिद्धातीनां दोषस्य बीजाभावात् । निरपेक्षो रवः श्रुतिः । अर्थरिशोप-
काशनसामर्थ्यं छिद्रम् । पररपराकाङ्क्षावशात्कथिदेकस्मिन्ने वर्षवसिष्ठानि पदानि

योजनानुपलब्धेर्निरतिशयसुखास्वाद एव कार्यत्वेनावधार्यते । 'यत्पर-
शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायात्' इति ।

तत्र प्रष्टव्यम्—किमिदं तत्परत्वं नाम, तदर्थत्वं वा, तात्पर्य-
वृत्त्या तद्बोधकत्वं वा । आद्ये न विवादः । व्यङ्ग्यत्वेऽपि तदर्थतानपा-
यात् । द्वितीये तु—केयं तात्पर्याख्या वृत्तिः । अग्निहितान्वयवादिभि-
रङ्गीकृता, तदन्या वा । आद्ये दत्तमेवोत्तरम् । द्वितीये तु—नाम-
मात्रे विवादः । तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः ।

नन्यस्तु युगपदेव तात्पर्यशक्त्या विभावादिसंसर्गस्य रसादेव प्रका-
शनम्—इति चेत् । न । तयोर्हेतुफलमायाङ्गीकारात् । यदाह मुनिः—
'विभायानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति । सहभावे च
कुतः सन्ध्येतरविषाणयोरिव कार्यकारणभावः । वीर्वापर्यविपर्ययात् ।

रपि न प्रवीयेतेत्यत आह—यत्पर इति । यद्बोधेच्छया उच्यते इत्यर्थः ।
शब्दार्थः शब्दप्रतिपाद्यः । एतेन इतरबाधबलात्तात्पर्येण रसादिप्रतिपादकत्वसि-
द्धिर्दक्षिता । एवं न 'काव्यं कार्यतत्परम्, उपादेयवाक्यत्वात्' इत्यनुमानमवग-
न्तव्यम् । अत्र काव्यत्वापच्छेदेन साध्यसिद्धिरिमिता, येन काव्यत्वसामानाधिकर-
ण्येन कार्यान्तरप्रतिपादकत्वसिद्धौ न सिद्धसाधनम् । एतन्मतं दूषयति—तत्रेति ।
व्यङ्ग्यत्वत्वेऽपीति । व्यञ्जनावादिमते सिद्धसाधनमिति भावः । द्वितीये त्विति ।
अत्राभिधेया 'यैवं कुरु' इत्यादिवाक्ये जडाहरणार्थं 'घटमानय' इत्यादौ च
कार्यमतिपादके व्यभिचारोऽपि दोषो द्रष्टव्यः । दत्तमेवेति । संसर्गबोधे परि-
क्षीणत्वात्कार्यबोधनश्रमत्वं तात्पर्यस्येत्युत्तरम् । तन्मतेऽपि । रसादीनां तात्पर्य-
प्राप्ताववादिमतेऽपि । ननु विभावादिसंसर्गबोध-रसादिबोधयोः क्रमिकत्वाङ्गीकार
एव दूषणमुक्तम्, यौगपायाङ्गीकारे तु नास्त्यवसर इत्यभिप्रायेणाह—नन्य-
स्त्विति । तयोर्विभावादिसंसर्गबोधरसादियोगयोः । संयोगात्संसर्गबोधात् ।
ननु सद्योत्पन्नयोरपि तयोः कार्यकारणभाव आस्तामित्यत आह—सहभावे
चेति । युगपदुत्पत्तिस्वीकारे चेत्तर्थाः । सन्ध्येतरविषाणयोर्वामदक्षिणशृङ्गयोः ।

१. यदिति । यदर्थं यस्य शब्दस्य तात्पर्यं स एव शब्दार्थ इति सीमासंकनिवमात् ।

२. वदिति । अग्निहितान्वयवादिमतेऽपि रसबोधस्वानुपलब्धनीयत्वात् तात्पर्यस्य
पदार्थान्वयबोधने परीक्षीणत्वात् तुरीयवृत्तिसिद्धिः शिरस्तापततीति स्पष्टतरम् ॥

३. विभावेति । तत्तन्मतानुसारेण ग्राह्याख्यातव्याप्यस्य मरतकृतं व्याख्यानं प्रद-
हयते—'विभाव इति कस्मादुच्यते । विभावो विज्ञानार्थः । निभाव्यन्तेऽनेन वागदस-

‘गङ्गायां घोषः’ इत्यादौ सटाद्यर्थमात्रबोधविरताया लक्षणायाश्च
कुतः शीतल्यपावनत्वादिव्यङ्ग्यबोधकता । तेन तुरीया घृतिरुपास्यै-
वेति निर्विवादमेतत् ।

किंच—

‘बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।

आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः ॥ २ ॥

वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोर्हि पदतदर्थमात्रज्ञाननिपुणैर्वैय्याकरणैरपि सह-

इदानीं लक्षणाया व्यङ्ग्यबोधाक्षमत्वं दर्शयति—गङ्गायामिति । तेनाभिधात्रीनां
व्यङ्ग्यबोधनाक्षमत्वेन ॥ वाच्यव्यङ्ग्ययोर्भेदमुपपाद्य तेनैवाभिधातो व्यञ्जनाया भेद-
मुपपादयति—किंचेति । ‘आश्रयविषयादीनाम्’ इत्यनन्तरं चकारो द्रष्टव्यः ।
बोद्धृभेदमुपपादयति—वाच्यार्थेति । पदेति तदर्थेति पदाभिधेयेत्यर्थः । मात्र-
पदेन व्यङ्ग्यपव्यवच्छेदः । वैयाकरणैरपीत्यादिना सहृदयपरिग्रहः । सहृदयैरेवेत्येवका-

एवाभिनया इत्यतो विभावः । विभावितं विधातमिति नार्थान्तरम् । अत्र श्लोकः—‘बह-
वोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः । अनेन यस्मात्तेनार्थं विभाव इति संशितः ॥’
अथानुभाव इति कस्मादुच्यते । यदयमनुभावयति वागङ्गसत्त्वकृतमभिनयम्, अत्र
श्लोकः—‘वागङ्गसत्त्वाभिनयैर्यस्मादर्थोऽनुभाव्यते । वागङ्गोपाङ्गसमुत्तसवनुभाव इति
स्मृतः ॥’ व्यभिचारिण इति कस्मादुच्यते—‘वि’ ‘अभि’ इत्येतावुपसर्गौ । चरति-
र्भाटुः । विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरति नयन्तीति व्यभिचारिणः । कथं नयन्ति ।
उच्यते—यथा सूर्य इदं नक्षत्रमनुवासर नयतीति । नच तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा
नीयते । किंतु लोकप्रसिद्धमेतत् । इति भरतः । तेः सयोगासवन्यात् । अत्र ‘संयो-
गात्’ इति पञ्चम्या विभावादीनां हेतुत्वमुक्तम् । व्यञ्जकत्वं च तदर्थः । इत्याचार्याभि-
नयगुप्तपादाश्रयाभिनः । इह इष्टान्तमपि भरत एवाह—यथाहि गुहादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जने-
‘रोषमिन्द्रि- वाहवाद्यो रसा निवर्तन्ते तथा नामाभावोपगता अपि साधिनो मावा
रसत्वमाप्नुवन्तीति ॥

१. अभिधेयत इति । अभिधेयतो वाच्यार्थः । किंचित् ‘अभिधेयते’ इति
पाठः । तत्र ‘वाच्यात्’ इत्यनुपपत्त्ये ॥

२. वैयाकरणैरिति । ध्वनिपारेणाप्युक्तम्—‘शब्दार्थज्ञानज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स ॥ काव्यार्थतत्त्वज्ञेयैव केवलम् ॥’ इति । यदि च वाच्यरूप एवासाधनः स्यात्त-
र्हि वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात् । अथ वाच्यवाचकलक्षणां मात्रकृतश्र-
माणा काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुक्तानां स्वरश्चत्वादिलक्षणमिव प्रतीतानां गन्धर्वलक्षणवि-
दामगोचर एवासाधनः इति व्याख्यातं च ॥

दयैरेव च संवेद्यतया बोद्धमेदः । 'भम धम्मिअ' (२०९ पृ.)
 इत्यादौ कचिद्वाच्ये विधिरूपे निषेधरूपतया, कचित् 'निःशेषव्युत-
 चन्दनम्' इत्यादौ निषेधरूपे विधिरूपतया च स्वरूपभेदः । 'गतोऽ-
 स्तमर्कः' इत्यादौ च वाच्योऽर्थ एक एव प्रतीयते । व्यङ्ग्यस्तु तद्वो-
 द्धादिभेदात् कचित् 'कान्तमभिसर' इति 'भावो 'निरुध्यन्ताम्' इति
 'नायकस्यायमोगमनावसरः' इति 'संतापोऽधुना नास्ति' इत्यादिरूपे-
 णानेकं इति संख्याभेदः । वाच्यार्थः शब्दोच्चारणमात्रेण वेद्यः । एष
 तु तथाविधप्रतिभानैर्मल्यादिनेति निमित्तभेदः । प्रतीतिमात्रकरणाच्च-
 मत्कारकरणाच्च कार्यभेदः । केवलरूपतया चमत्कारितया च प्रतीति-

रेण वैयाकरणव्यवच्छेदः । स्वरूपभेदमुपपादयति—भम धम्मिअ इत्यादि ।
 विधिरूपे वाच्ये सतीत्यन्वयः । निषेधरूपतयेति । व्यङ्ग्यस्येत्यादि । निषेध-
 रूप इति । वाच्ये इत्यन्वयः । स्वरूपभेद इति । वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोरिति
 पूर्वोक्तान्वयः । एवमग्रेऽपि । 'निःशेष' इत्यत्र लक्षणावादिमतेनेदमुदाहरणमुक्तम् ।
 संख्याभेदमुपपादयति—गतोऽस्तमिति । बोद्धा प्रतिपाद्यः । आदिना प्रकर-
 णादीना ग्रहणम् भेदाद्वैलक्षण्यात् । निमित्तभेदमुपपादयति—वाच्यार्थ इति ।
 मात्रपदेन प्रतिभानैर्मत्यादिव्यवच्छेदः । शब्दोच्चारणं शब्दज्ञानम्, वाच्यार्थ-
 बोधे तस्यैव निमित्तत्वात् । एष तु व्यङ्ग्यार्थस्तु । प्रतिभेति । गूढार्थग्रहणश-
 क्तिश्च प्रतिभा, तस्या नैर्मत्यं तादृशग्रहणप्रतिबन्धकीभूतदुरदृष्टासंसर्गः । आदिना
 यथादिपैरिच्छज्ञानादिपरिग्रहः । कार्यभेदमुपपादयति—प्रतीतीति । मात्रपदेन
 चमत्कारव्यवच्छेदः । वाच्यस्य प्रतीतिमात्रकरणात् । व्यङ्ग्यस्य तु शुद्धसबलितप्रतीते
 चमत्कारस्य न करणात्तयोः कार्यभेदः । प्रतीतिभेदमुपपादयति—केवलेति ।
 वाच्यप्रतीतेः सुखचमत्कारहीनतया, व्यङ्ग्यप्रतीतेस्तदुभयवत्तया भेदः । कालमे-

१. कचिदिति । कचिद्वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो व्यङ्ग्यः । यथा भम—'वाहि भमे-
 वैकस्या मवन्तु निःशासरोदितव्यानि । मा भूवन्द्धतमनसस्तवापि तस्या वियोगेन ॥'
 इत्यत्र न विध्यभावरूपो निषेधो नापि विध्यन्तरम् । कचिद्वाच्ये निषेधरूपेऽनुभयरूपः ।
 यथा भम—'अथि वदनेन्दुविकाशपशमिततिमिरोल्करे निवर्तस्व । प्रत्युद्भवसि परासामप्य-
 भिसार इताशे निम् ॥' प्रियतममभिसरन्ती काचिन्नायिका प्रति तद्गृहाभिमुखमावच्छतः
 प्रियतमस्योक्तिरिय प्रत्यभिज्ञानच्छेदेन । अतएवात्मप्रत्यभिज्ञापनार्थं इताशे इति नर्मवच-
 नम् । परासामप्यभिसार प्रत्युद्भवसि, तवाभिगतसिद्धिर्भविष्यतीति का प्रत्याशा । ततश्च
 नदीयं वा गृहमायाहि त्वदीयं वायामीति तात्पर्यादनुभयरूपो व्यङ्ग्य इति प्राचामाशयः ॥

२. अनेक इति । प्रपञ्चस्तु प्राक् ॥ (५७ पृ.)

भेदः । पूर्वपश्चाद्भावेन च कालभेदः । शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशत-
दर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन चाश्रयभेदः ।

‘कस्स व ण होइ रोसो दट्ठण पिआएँ सब्बणं अहरं ।

संभमरपडमग्घाइणि वारिअवामे सहसुं एहिं ॥’

इति सखीतत्कान्तविषयत्वेन विषयभेदः । तस्मान्नामिधेय एव
व्यङ्ग्यः ।

दमुपपादयति—पूर्वेति । वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोः प्रतीतिपौर्वापर्येण कालभेदः ।
आश्रयभेदमुपपादयति—शब्देति । वाच्यस्य शब्दाश्रयत्वेन शब्दमात्रसंबन्धि-
त्वेन व्यङ्ग्यस्य शब्दादिसंबन्धित्वेन तयोराश्रयभेदः । तदेकदेशेति । शब्दे-
कदेशेत्यर्थः । स च प्रकृतिप्रत्ययोपसर्गादिरूपः । तदर्थेति । शब्दार्थेत्यर्थः ।
विषयभेदमुपपादयति—कस्स वेति । ‘कस्य वा न भवति रोपः पश्यतः
प्रियायाः सन्नमनधरम् । सन्नमरपद्माप्राप्तिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥’ इति
संस्कृतम् । उपनायकदृष्टाधरां पत्नीं तर्जयन्तं कान्तं प्रतारयन्त्याः सख्या उक्ति-
रियम् । सन्नमरेति । सन्नमरपद्माप्राप्ते निवारितापि तरुकारिणी, तत्संबो-
धने । तथा सहस्र पत्युस्तर्जनां भ्रमरदंशनजन्यमणवेदनां च । अत्र वाच्या-
र्थबोधे सखी उद्देश्या, भ्रमरेणास्या अधरो दृष्टो न पुनः पुनस्तरेणेति
व्यङ्ग्यार्थबोधे कान्त उद्देश्य इति विषयभेदः । सख्या कान्तेन बोधयबोधः
संभवतीति न बोद्धुभेदः । उपसंहरति—तस्मादिति । नैव व्यङ्ग्य इत्य-
न्वयः ॥ व्यङ्ग्यान्तरयोधे यथा तपास्तु रसादिवोधस्तु व्यञ्जनादृश्यदीनारमन्तरेण

१. कस्स वेति । कस्य वेति अनीश्वालोरपि । सन्नमरपद्माप्राप्तिनि । शीलं हि कथं
चिदपि वारयितुं न शक्यम् । सहस्वेदानीम् । उपालम्भपरम्पराभिधेयः । अप्राप्यं कावः—
काचिदविनीता कुनश्चित्पण्डिताधरा तत्सविधसंविधाने यतरे समनवलोकायमानयेव
कथाचिद्विदग्धसख्या तदाच्यतापरिहारायैवमुच्यते । सहस्वेदानीमिति वाच्यमभिनयवती-
विषयम् । भर्तृविषयं तु अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्ग्यम् । तस्यां च प्रियतमेन
गाढमुपालभ्यमानायां तमलीकवाङ्मिप्रातिनेदिमकलोकविषयं चाविनयच्छादनेन प्रत्या-
यनं व्यङ्ग्यम् । तत्सपक्ष्यां च तदुपालम्भतदभिनयदृष्टायां सौभाग्यातिशयस्यापनं
प्रियाया इति शब्दबलादिति सप्तविधस्य व्यङ्ग्यम् । सन्तसीमध्ये श्वत्सुनीकृतालीति लाप-
यमात्मनि प्रीतिं न युक्तम्, प्रत्युतायं बहुमानः, सहस्र शोमस्वेदानीमिति सखीविषयं
सौभाग्यप्रख्यापनव्यङ्ग्यम् । अथैवं तव प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवृत्तमेतत् रक्षिता. पुनः
प्रहृष्टरदनदर्शनविधिर्न विधेय इति तच्चौर्यकामुकविषयसंबोधनं व्यङ्ग्यम् । इत्थं मयैव
पुनरुक्तिरिति स्वैदग्धस्यापनं तत्सविदग्धलोकविषयं व्यङ्ग्यमिति लोचनकाराः ॥

किंच ।

प्रागसत्त्वाद्रसादेर्नो बोधिके लक्षणाभिधे ।

किंच मुख्यार्थवाधस्य विरहादपि लक्षणा ॥ ३ ॥

‘न बोधिका’ इति शेषः । नहि कोऽपि रसनात्मकव्यापाराद्विन्नो रसादिपदप्रतिपाद्यः पदार्थः प्रमाणसिद्धोऽस्ति । यमिमे लक्षणाभिधे बोधयेताम् ।

किंच । यत्र ‘गङ्गायां घोषः’ इत्यादावुपात्तशब्दार्थानां बुभूपन्नेवान्वयोऽनुपपत्त्या बाध्यते तत्रैव हि लक्षणायाः प्रवेशः ।

यदुक्तं न्यायकुसुमाञ्जलबुदयनाचार्यैः—

‘श्रुतान्वयादनाकाङ्क्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति ।

पदार्थान्वयवैधुर्यात्तदाक्षितेन संगतिः ॥’

नै पुनः ‘शून्यं वासगृहम्—’ इत्यादौ (२३ पृ.) मुख्यार्थ-वाधः । यदि च ‘गङ्गायां घोषः’ इत्यादौ प्रयोजनं लक्ष्यं स्यात्,

सर्वथा न समवतीत्यभिप्रायेणाह—प्रागसत्त्वादिति । बोधात्पूर्वं प्रमाणान्तरसिद्धत्वादित्यर्थः । प्रमाणान्तरसिद्धमेव वस्तु लक्षणाभिधे बोधयत इति नियमाभिप्रायेणेदम् । रसादिपदं तु व्यञ्जनासिद्ध रसादिमभिधया बोधयतीति न दोषः । लक्षणाया रसादिबोधे सामान्यन्तरमाह—किंचेति । पूर्वार्थं विवृणोति—नहीति । द्वितीयार्थं विवृणोति—किंचेति । उपात्तशब्दार्थानां वाच्यार्थानां बुभूपन्नं भवन् । अन्वयोऽन्वयबोधः । अनुपपत्तिप्रहेण बाध्यते प्रतिबध्यते । श्रुतान्वयादिति । वाच्यार्थान्वयबोधजननादित्यर्थः । अन्यदर्शान्तरमिच्छति आकाङ्क्षति । पदार्थान्वयवैधुर्यात् मुख्यार्थान्वयानुपपत्तिप्रहात् । तदाक्षितेन मुख्यार्थसम्बन्धितया गृहीतेन । संगतिरन्वयबोधः । प्रकृते मुख्यार्थवाधाभावं दर्शयति—न पुनरिति । व्यङ्ग्यस्य लक्षणाबोध्यत्वाद्गोकारे अनवस्थादोषमाह—यदि चेति । प्रयोजनं

१. यदि चेति । अत्रेदं तत्त्वम्—यथा गङ्गाशब्दस्य प्रवाहो मुख्यार्थः, तत्र च वायुः, वीरे च तत्संबन्धः, वीरस्य च लक्षणगोपस्यापन्नम्, मुरवशब्देन अतिपादमित्तगद्यकस्य पावनत्वादेः प्रदीतिश्च प्रयोजनम्, इति गङ्गाशब्देन वीर लक्ष्यते । एवं यदि वीरमपि गङ्गाशब्दस्य मुख्यं स्यात्, तत्र बोधाधिकरणत्वात्सम्बन्धरूपे वाधः स्यात्, प्रयोजनस्य न गङ्गादिगतपावनरवादिविशेषस्य वीरेण साक्षात्संबन्धः स्यात्, लक्षणाया प्रयोजनप्रतिपादनस्य च प्रयोजनान्तरं सम्भवेत्, तर्हि गङ्गाशब्दः प्रयोजनं लक्ष्येत् । न चैतत्किमप्यस्ति ।

१. ‘तथा’ क. घ. २. ‘यदि—’ इत्यदि ‘—प्रवेशः’ इत्यर्थं न-बुद्धके नास्ति. ३. ‘न—’ इत्यादि—‘वाक्य’ इत्यन्तं न-बुद्धके नास्ति. ४. व्यापारः कार्यः ॥ इति मुद्रितपुस्तकेऽपि पाठः.

तीरस्य मुख्यार्थत्वं बाधितत्वं च स्यात्, तस्यापि च लक्ष्यतया प्रयोजनान्तरं तस्यापि प्रयोजनान्तरमित्यनवस्थापातः ।

न चापि प्रयोजनविशिष्ट एव तीरे लक्षणा । विषयप्रयोजनयोर्युगपत्प्रतीत्यनभ्युपगमात् । नीलादिसवेदनानन्तरमेव हि ज्ञातताया अनुव्यवसायस्य वा संभवः ।

क्षीतत्वपावनत्वाद्यतिशयः । लक्ष्यं लक्षणाबोध्यम् । 'तदा' इति शेषः । बाधितत्वं चेति । चकारेण पावनत्वाद्यतिशयेन लक्षणीयेन संबन्धश्चेत्यपि बोध्यम् । न च तीरे पावनत्वाद्यतिशयस्य संबन्धसत्त्वेन कथं तदापत्तिरिति वाच्यम् । तीरे त्वाहार्यप्रतीतिविषयस्य प्रवाहरूपितपावनत्वाद्यतिशयस्य संबन्धाभावात्, परस्परसंबन्धस्याव्यावर्तकत्वेन लक्षणाहेतुत्वाभावात्, तदादिनिष्ठपावनत्वादेस्तु गङ्गापदेनानुपस्थितेरकिञ्चित्स्वरत्वात् । तस्यापि लक्ष्यमाणप्रयोजनस्यापि । 'लक्ष्यतया' इति विशेषणे तृतीया । लक्ष्यं प्रयोजनान्तरं कल्प्यं स्यादित्यर्थः । 'एयमप्रेऽपि । अनवस्थायाः प्रवृत्ताप्रतिपत्तिरुत्वं दूषकतापीजम् । विशिष्टलक्षणावादिनां भूतं दूषयति—न चापीति । प्रयोजनेन पावनत्वाद्यतिशयेन विशिष्टे । तथा च 'अतिपावने तीरे घोषः' इति लक्षणाजन्यो बोधः । तस्य च 'गङ्गातटे घोषः' इत्यभिधाजन्यबोधोदाधिरार्थप्रतीतिः फलम् । एवं च फलफलिनोरभेद एव पर्यवसत्तः । इममेव दोषमाह—विषयेति । विषयः कारणीभूतज्ञानविषयः । प्रयोजनं फलीभूतज्ञानविषयः । युगपत्प्रतीत्यनभ्युपगमादिति । एतदभ्युपगमे फलफलिनोरभेदापत्तिरिति भावः । फलफलिनोर्भेदमेव दर्शयति—नीलादीति ।

यदि चेह तीरगतपावनत्वादिरूपे प्रयोजनेऽपि लक्ष्ये लक्ष्ययोग्यतपावनत्वादिरूपं प्रयोजनान्तरमूरीक्रियेत, तदा प्रयोजनपारम्पर्यां रश्मिणास्वीकारे प्रयोजनान्तेपणस्यापयैकसानेन, प्रवृत्तस्य पावनत्वादेस्तीरादेर्वा बोधाभावकृदनवस्था स्यादिति भावः ॥

१. प्रयोजनेति । प्रयोजनं फलम् । प्रयोजनीभूतज्ञानविषयेण पावनत्वादिना विशिष्टे एव गङ्गातीरे लक्षणा । तथा च कारणत्वेन तीरत्वज्ञानविषयात् कार्यत्वेन पावनत्वज्ञानप्रयोजनस्याभेदे जन्मजनकभावानुपपत्तिः । नेतृपुत्रवै । अत्र एवोक्तम्—'प्रयोजनेन सदितं रश्मीयं न तुभ्यते । ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहरम् ॥' इति ॥

२. नीलेति । मृदुनये नीलज्ञानानन्तरं ज्ञातो नील इति प्रत्ययाद्यज्ञानेन नीले प्रकटनापरपर्याया ज्ञातना जायते । अलिङ्गने ज्ञानमतीन्द्रियम्, तज्जन्वा ज्ञातना प्रत्यक्षा, तथा च ज्ञानमनुनीयते । इयं ज्ञातना नीलविज्ञेयप्रकटीकृतप्रकारकज्ञानजन्वा नीलवृत्ति-नीलप्रकारकज्ञानज्ञातना या बहुविधैः प्रकटीकृता ज्ञातना सा, तद्विज्ञेयकृतप्रकारकज्ञानमाध्या । यथा पीठे पीठत्वप्रकटीकृता ज्ञानज्ञाननिष्ठिः ॥

३. अन्विष्टि । संविष्टप्रापयैवेत्यर्थः ॥

‘नानुमानं रसादीनां व्यङ्ग्यानां बोधनक्षमम् ।’

आभासत्वेन हेतूनां स्मृतिर्न च रसादिधीः ॥ ४ ॥

व्यक्तिविवेककारेण हि—“यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भवितुमर्हति । विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतिः साधनमिष्यते” ते हि रसादीनां भावानां कारणकार्य-सहकारिभूतास्ताननुमापयन्त एव रसादीनिष्पादयन्ति, त एव प्रती-

संवेदनं प्रत्यक्षम्, ज्ञातत्वा प्रकटता, इति । भट्टमते—नीलादौ ज्ञाते हि ज्ञान-
त्वरूप एको धर्म उत्पद्यते । अनुव्यवसाय इति । नैयायिकमते—नीलादि-
ज्ञाने जाते ‘नीलमहं जानामि’ इति ज्ञानप्रत्यक्षरूपोऽनुव्यवसायो जायत इत्यादौ
फलफलिनोर्भेद एव दृश्यते । भवन्मते तयोरभेदापत्तिः । एतदुपलक्षणम् । गङ्गा-
पदाप्रतीचमानस्य पावनत्वादेस्तीरे पैक्षिध्वासुभयोऽपि द्रष्टव्यः । यदि पुनर्पूरतीरा-
पेक्षया समीपतीरे पावनत्वाद्यतिशयः संभवति स एव गङ्गापदेन प्रलाप्यत इति
संभाव्यते तदा नयं दोषः । अत एव ‘तीरस्य मुख्याथत्वं बाधितत्वं च स्यात्’
इत्यत्र भन्मठता ‘पावनत्वाद्यतिशयेन तक्षणीयेन च वन्मथ’ इत्यापत्तिः फलव्यम-
यातोऽपि नोक्ता । तयोः सयन्धमत्त्वेनापत्त्यनोपात् ॥ नाट्ये रामत्वेनाह्वयज्ञा-
नविषये नट्टे, फाल्मे तु राम एव विभावादिनी रत्नायनुमानं तत्तत्परशुमानोद्बोधि-
तया सामानिकानां वासनारूपप्रलाप्यत्या साक्षात्ततो रामादिरत्नाधी रस इति
धीशङ्कुमतानुयायिनां व्यक्तिविवेकधरादीनां मतं दूषयति—नानुमानमिति ।
अनुमानं व्याप्तिवक्ष्यमन्ताज्ञानम् । आभासत्वेन व्यभिचारिदोषप्रत्ययेन ।
रसादिदुःखेः संस्कारजन्यज्ञानत्वेन स्मृतित्वं साधवतां मतं दूषयति—स्मृति-
रिति । अत्रापि शत्रुपदेतोरन्वयः । तन्मां वृषयितुं परिच्छेदोति—व्यक्तिवि-
वेककारेण हीति । ‘यदुष्म’ इत्यप्रेणान्वितम् । यार्पाति । अनुमाने एव
अनुमितयोः । एवधारेण षण्णुमतव्यशनाजन्यबोधव्यवच्छेदः । अत्र धारणाद—
विभावानुभावेति । दिश्यो हेतुः । ननु विभावादिप्रतीतिव्याप्तिर्न ताभावात्तथं
तवन्परस्यादिप्रतीतेरनुमितित्वम्, अतो विभावादीनां व्याप्यतामुपपादयति—ते
इति । विभावादौ हीत्यर्थः । धूमादिधारणमाद्वेषनादि कदा धूमादिप्याप्यम्,
पक्षपादिधर्म धूमादि यदगादिप्याप्यम्, तथा रत्नादेः धारणं विभावा, धर्म-
शुभावध रत्नादिप्याप्य इति भव । तान्तरादीर अनुनापयन्ता इति । रत्निन-
यच्छाप्तिवक्ष्यमन्ताज्ञानेन बोधयन्ता इत्यर्थः । रसादि प्रति विभावादीनां धारण-

यमाना आस्वादपदवीं गताः सन्तो रसा उच्यन्त इति, अवश्यंभावी तत्प्रतीतिक्रमः केवलमाशुभावितयासौ न लक्ष्यते, यतोऽयमद्याप्यभिव्यक्तिः इति यदुक्तम्, तत्र प्रष्टव्यम्—किं शब्दाभिनयसमर्पित-विभावादिप्रत्ययानुमितरामादिगतरागादिज्ञानमेव रसत्वेनाभिमतं भवतः, तद्भावनया भावकैर्भाव्यमानः स्वप्रकाशनन्दो वा । आद्ये न विवादः । किंतु 'रामादिगतरागदिज्ञानं रससंज्ञया नोच्यतेऽस्माभिः' इत्येव विशेषः । द्वितीयस्तु व्याप्तिग्रहणामावाद्धेतोराभासतयासिद्ध एव । यच्चोक्तं तेनैव—'यत्र यत्रैवंविधानां विभावानुभावसात्त्विकसंचारिणामभिधानमभिनयो वा तत्र तत्र शृङ्गारादिरसाविर्भावः' इति सुग्रहैव व्याप्तिः पक्षघर्मेता च ।

त्वमुपपादयति—त एवेति । विभावादय एवेत्यर्थः । आस्वादपदवीं प्रत्यक्षविषयताम् । तथा च यो यथाम्लयोगेन दधित्वं प्राप्नुवद्भ्रः कारणमुच्यते तथा विभावादयोऽप्यनुमीयमानरसादियोगेन रसादिरूपतां प्राप्नुवन्तो रसादेः कारणमुच्यन्त इति भावः । नन्वेतादृशकारणभावस्वीकारे रसादेरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वं फयमुपपन्नमत आह—अवश्यंभावीति । तासां विभावादिप्रतीतिव्याप्तिपक्षधर्मेताग्रहरसाद्यनुमित्यास्वादरूपाणां प्रतीतीनां क्रमः पौर्वापर्यम् । आशुभावितया शीघ्रोत्पन्नतया । असौ क्रमः । तथा चासां शतपत्रव्यतिरेकवत्क्रमसत्त्वेऽपि सूक्ष्मकालतया स न लक्ष्यत इति भावः । ननु भवतामिदमधिकं कल्पनमत आह—यत इति । अयमीदृशः, अद्यापि रसादेर्व्यङ्ग्यत्वस्वीकारेऽपि, अभिव्यक्तिर्व्यञ्जनाजन्यबोधः । यथा भवतां प्रथमं विभावानुपस्थितिः, ततो रसादिव्यञ्जनम्, ततः साधारण्याभिमानः, ततो रसाद्युत्पत्तिः, इति क्रमसत्त्वेऽप्याशुभावितया रसादेरसंलक्ष्यक्रमत्वमुपपन्नं तथास्माक्रमपीति भावः । शब्दाभिनयेति । इदमध्यव्ययकमव्यङ्ग्याभिप्रायेण । समर्पितेति । जनितेत्यर्थः । भवतस्तव । तद्भावनया विभावादिवोधेन । भावकैः सामाजिकैः । भाव्यमान आस्वाद्यमानः स्वेन आत्मना प्रकाशो यस्य सः । 'रसत्वेनाभिमतः' इति लिङ्गव्यत्ययेनान्वयः । असिद्धो नानुमितिविषयः । श्रोत्रियजरन्मीमांसकदीनां विभावादिप्रत्ययसत्त्वेऽपि स्वप्रकाशनन्दानुत्पत्तिदर्शनादर्थं हेतुर्व्यभिचारीति व्याप्तिग्र-

१. व्याप्तिरिति । यत्र यत्र भूमस्तत्र तत्र वदिति साहचर्यनियमः । साध्याभाववदवृत्तित्वमित्यर्थः ॥

२. एवेति । न्यायस्य (भूमादेः) पर्वतादिशक्तिम् ॥

१. 'अभिव्यक्तिः' ख. 'अभिव्यक्तिः' घ. २. 'हानं' इत्यदि—'यस्य'—'दि' इत्यन्ता पाठः क-पुस्तके इति. ३. 'बोधः' इत्यधिकं पाठो मुद्रिते.

तथा—

‘यार्थान्तराभिव्यक्तौ वः सामग्रीष्टा निबन्धनम् ।

सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन संगता ॥’ इति ।

इदमपि नो न विरुद्धम् । नह्येवंविधा प्रतीतिरासाधत्वेनास्माकम-
भिमतता किं तु—स्वप्रकाशमौत्रविश्रान्तः सान्द्रानन्दनिर्भरः । तेनात्र
सिपाद्ययिपितादर्थान्तरस्य साधनाद्वेतोरामासता ।

यच्च ‘भैम धम्मिअ—’ इत्यादौ (२०९ पृ.) प्रतीयमानं वस्तु,

ह्यभावात्तस्यानुमानं न संभवतीति भावः । इदानीं विभावनादिव्यापारभागित्वेन
हेतुं विशेष्य व्यभिचारं वारयित्वा व्याप्तिग्रहमुपपादयंतस्तस्यैव मतं दूषयति—
यच्चेति । एवंविधाना विभावादिव्यापारभागिनामभिधानं स्वशब्देनोप-
स्थापनम्, अभिनयो नटचेष्टादिभिरुपस्थापनम् । रसाविर्भावो रसाद्युत्पत्तिः ।
सुप्रहवेति । विभावनादिव्यापारभागिविभावाद्युपस्थानं रसाद्याविर्भावव्याप्यमिति
व्याप्तिग्रहः । श्रोत्रियादीनां तु विभावादेरेवोपस्थितिः, न ॥ विभावनादिव्यापा-
रभागिनः, तत्र तादृशव्यापारास्वीकारादिति न व्यभिचारः । पक्षधर्मता पक्षसत्त्वं
सुप्रहवेत्यन्वयः । ‘अहं रामाद्याविर्भावव्याप्यतादृशविभावाद्युपस्थानवान्’ इति सामा-
जिकानां व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताग्रह इत्यवधेयम् । अर्थान्तराभिव्यक्तौ वाच्या-
दिनयमिपार्थस्य व्यञ्जनया बोधे । यः व्यञ्जनादृष्टिं स्वीकुर्वतां युष्माकं सामग्री-
शब्दबोधारिरूपः स्वरूपसमूहः निबन्धनं प्रधानम् । अनुमितिपक्षे अनु-
मितिवादमते तिष्ठतां नोऽस्माकं गमकत्वेन रसाद्यनुमापकत्वेन । दूषयति—
इदमपीति । नो व्यञ्जनावादिनामस्माकम् । न विरुद्धमिति । अस्माभिरपि
तादृशानुमानं स्वीकृत एवेति भावः । ननु किमधिकं भवान्प्रवीक्षीत्यत आह—
नहीति । न त्वित्यर्थः । स्वस्वरूपेण प्रकाशमात्रेणैव विभ्रान्तो विपयीकृतः ।
सान्द्रस्य निरन्तरस्य आनन्दस्य निर्भरोऽतिशयः । आसाधत्वेनास्माकमभिमत
इत्यर्थः । तेन तादृशानुमितेरसादत्वास्वीकारेण । सिपाद्ययिपितात् साधयि-
मुमिष्टात् अर्थात् स्वप्रकाशानन्दरूपात् अर्थान्तरस्य भिन्नार्थस्य रसाद्याविर्भावस्य
साधनादनुमापनात् । आमासता दुष्टता । इदानीं वस्तुत्वंरारयोरप्यनुमानेनेव
बोधो न तु तदर्थमपि व्यञ्जनादृष्टिः स्वीकरोति व्यक्तिविवेकरारस्यैव मतान्तरं
दूषयितुमुत्पापयति—यच्चेत्यादिपर्यवस्यतीत्यन्तेन । प्रतीयमानं व्यञ्जनानं वस्तु

१. अत्रायमाचार्यमहिममट्टविमर्शः—‘अत्र वेनचित् शुद्धतिवा दूता सह विश-
म्भसंभोगमुखास्वादलालसया निबन्धने वने निविष्टमुमुमापोदमुदितमपुङ्गुति कृतसंके-
तया प्रयाचित् तुमुमावचिचीपया भ्रमतो धार्मिकस्य मनोऽपपरिपन्थितदेशासादनं

१. ‘निबन्धनी’ क. २. ‘इति’ कश्चित् क-मुसुके. ३. ‘भाव’ इति क-मुसुके नास्ति.
४. ‘एषादिपदस्य’ इत्यत्रिक मुसुकादन्ते.

‘जलकेलितरलकरतलमुक्तपुनःपिहितराधिकावदनः ।

जगदवतु कौकयूनोर्विघटनसंघटनकौतुकी कृष्णः ॥’

अभ्रमणरूपमनुमेयमेवेत्यपेक्षान्वयः ॥ जलकेलीति । राधिकावदने मुक्ते सति तत्र विभ्रमिव मन्यमानया जानानयापि केसरिकिशोरकस्य शौर्यातिरेकं कुकुरमारणमात्र-
प्राप्तोपन्यासेनास्य प्रियमावेदयितुकामया विदग्धयापि मुग्धयेव विधिमुखेन भ्रमणस्य
प्रतिषेधो विहितः । अत्र हि द्वावर्थौ बाध्यप्रतीतमानौ विधिनियेधात्मकौ क्रमेण प्रतीतिपद-
मवतरतः, तयोर्धूमाभ्योरिव साध्यसाधनभावेनावस्थानात् । तत्राद्यस्यावदविवेकसिद्धः स्पष्ट
एव भ्रमणविधिलक्षणस्य साध्यस्य तत्परिपन्थिकूरुकुरमारणात्मनः साधनस्य बोधयोर-
न्युपादानात् । द्वितीयस्तत्र एव हेतोः पर्यालोचितनिर्णयस्य विवेकिनः प्रतिपत्तुः प्रयो-
जकरूपनिरूपणे सामर्थ्यात् प्रतीतिमवतरति । तत्र सामर्थ्यमृतेऽपि कौलेयके कूरतरस्य
सत्त्वान्तरस्य तत्र सद्भावावेदनं नाम, नापरम् । तदेव च साधनम् । तयोश्च साध्यसा-
धनयोरविनाभावनियमो विरोधमूलः । स चानयोर्लोकप्रमाणसिद्ध इत्युक्तम् । ननु
यद्यतो वाक्यादर्थद्वयावगमस्तत्कथमुत्तरस्त्रिष्वेव नियमेन विधान्तिर्न पूर्वस्मिन्नुभयत्रापि वा,
तयोः प्राकरणित्वेन विशेषामावात् ॥ उच्यते । न तावदत्र बाध्यानुमेययोरर्थयोः
समुच्चयेनावगतिरुपपद्यते भ्रम मा च भ्रमीरिति, विधिनियेधयोरेकाग्रत्वविरोधात् । नापि
विकल्पेन भ्रम वा मा वा भ्रमीरिति, वचनोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात् । नाप्यज्ञाप्तिभावेन,
विधिनियेधयोः साक्षात्तदसंभवात् । केवलं योऽसौ भ्रमणविधौ हेतुभावेन वृत्तपञ्चाननव्या-
पारस्तत्रोपात्तः स एव विदुष्यमानः परम्परया धार्मिकस्य तत्रिष्वेधे पर्यवस्यति तयोर्बा-
ध्यबाधकभावेनावस्थानात् । यो ह्यनुमत्तः कुकुरमारणसद्भावमवात् परिहृतभ्रमणस्तत्रैव
वृत्तसिद्धसद्भावावगच्छामासि सविभ्रमं अमेदित्यनुमेयार्थविधान्तिनियमहेतुबाध्यबाधक-
भावोऽस्त्येवात्र विशेषः । अत्रार्थं चैतदभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा शुक्तिकारणतत्प्रतीत्योरपि
क्रमभाविन्योरेतत्पर्यनुयोगप्रसङ्गः केन वार्यते । तस्माद् बाध्यबाधकभावावसायकत्वं यवा-
भौत्तरार्थविधान्तिनियम इति सिद्धम् । तत्र ‘मम धम्मिण बीसदो’ इति वाक्यार्थरूपो
भ्रमणविधिर्वाच्यः, तस्य ‘सो गुणो अज्ज भारिओ देण’ इत्यादिना कूरुकुरमारणं
वृत्तसिद्धविहितं वाक्यार्थरूपमेवाथो हेतुः । तत्प्रतिषेधस्तनुमेय एव न बाध्यः तस्योक्त-
न्येनाशेषात् । तत्र ‘गोलाणर्कच्छकुट्टकुट्टवासिणा’ इति गोदावरीकच्छकुट्टारस्य धर्मत्व-
निर्देशः । ‘दरिअसीहेण’ इति श्रमणकारणामिधानद्वारेणोपात्तस्य वृत्तसिद्धसद्भावस्य
हेतुभावः । ‘कुट्टवासिणा’ इति तद्विशेषणेन तस्य धर्मिणि सद्भावोपादानम् । तस्यास्य
हेतोः साध्यस्य च निर्भवभ्रमणविधिलक्षणस्य सदानवस्थानलक्षणो विरोधः प्रसिद्ध एवे-
त्येकस्य सद्भावावेदनेनापरस्य स्वभावविरुद्धोपलब्ध्या प्रतिषेधे विहायमाने सति समन्ती-
धिकयोभयार्थप्रतीतिरेवात्र न समस्तीति तद्विधान्तिपर्यनुयोगो निरवकाश एव । तेनानु-
मेय एव भ्रमणस्य निषेधो न व्यङ्ग्य इत्यवश्यं यथा नात्र शीतरपञ्चोऽप्रेरिततः शीतरप-
ञ्चस्य । यदि वा प्रेरणवर्ता मनुष्यिरनर्पेत्तदयामावनिश्चयेन व्याप्ता, तद्विरुद्धाधानर्पेत्त-
दयोऽस्तादिष्विहावसाग्निवर्षपर्यालोचनयावसीयत इति व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या यथा नात्र
शुभारपञ्चोऽप्रेरितस्तत्प्राप्तस्य ॥

इत्यादौ च रूपकालंकारादयोऽनुमेया एव । तथाहि—“अनुमानं नाम पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टालिङ्गालिङ्गिनो - ज्ञानम् । ततश्च वाच्यादसंबद्धोऽर्थस्तावन्न प्रतीयते । अन्यथातिप्रसङ्गः स्यात् । इति बोध्यबोधकयोरर्थयोः कश्चित्संबन्धोऽस्त्येव । ततश्च बोधकोऽर्थो लिङ्गम्, बोध्यश्च लिङ्गी, बोधकस्य चार्थस्य पक्षसत्त्वं निबद्धमेव । सपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वे अनिवद्धे अपि सामर्थ्यादेवसेये । तस्मादत्र यद्वा-
“च्यार्थालिङ्गरूपालिङ्गिनो व्यङ्ग्यार्थस्यावगमस्तदनुमान एव पर्यवस्यति”^१
इति । तत्र । तथा ह्यत्र “भम घम्मिअ-” इत्यादौ गृहे श्वनिवृत्त्या विहितं भ्रमणं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति” इति

चन्द्रबुद्ध्या रात्रिज्ञानेन विषटनम्, पिहिते सति चन्द्रानुपलब्ध्या रात्र्यभावज्ञानेन तयोर्घटनम् । तयोर्भ्रान्त्या सुहुर्वियोगसंयोगदर्शनेन कौतुकमिति भावः । रात्रि-
कार्त्तवदने चन्द्रत्वारोपणेन रूपकालंकारः । अनुमेया एव, न तु व्यङ्ग्याः । अनु-
मानत्वमुपपादयति—तथाहीति । संबन्धसाध्यकः, सिधाधिमिपाविरहविशिष्ट-
सिद्धभावनान् वा पक्षः । निश्चितसाध्यवान् सपक्षः । साध्याभावनान् विपक्षः ।
तस्यावृत्तत्वं तदवृत्तित्वम् । इयं व्याप्तिः लिङ्गात्साधनात् । लिङ्गि साध्यम् । वाच्या-
त्तावव्यङ्ग्यं प्रतीयत इति वाच्यार्थस्य लिङ्गत्वमभिप्रेत्य तत्र पक्षसत्त्वादित्रयमुपपा-
दयति—ततश्चेति । अन्यथा असंबद्धप्रतीतिस्वीकारेऽतिप्रसङ्गः स्यात् । ‘भम
घम्मिअ-’ इत्यादौ भ्रमणाभावस्येव घटाभावादेरपि बोधः स्यात् । कश्चित्सं-
बन्ध इव प्रकृते वैपरीत्यरूपः संबन्धः, स एव व्यापकताघटक इति भावः ।
ततश्च संबन्धस्यावश्यं सत्त्वाच्च पक्षसत्त्वादिज्ञानस्यैवोपयोगित्वात् । तदुपपादयति—
पक्षसत्त्वमिति । निबद्धं शब्देनोपस्थितम् । सामर्थ्यात्संस्कारवत्त्वात् । अद्य-
सेये प्रसूतव्ये । महावाक्यार्थं निरूपयति—तस्मादिति । दूषयति—तच्चेति ।
गृहे गृहसमीपे चत्वरदी श्वनिवृत्त्या कुकुरमरणप्रदर्शनेन विहितं विधिविषयः
‘अभ्रमणमनुमापयति’ इत्यनेनान्वितम् । अत्र श्वनिवृत्तिविधीयमानगृहसमीपभ्रमणं

१. अनुमापयतीति । ‘गोदावरीतीरं नीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्त्वात्, यत्रैवं तत्रैवम्,
यदा गृहम्’ इति भ्रमणामावानुमितिः ॥

२. पक्ष इति । यथा धूमवत्त्वे हेतोर्पर्वतः ॥

३. सपक्ष इति । यथा तस्मिन्नेव हेतोर्गोदानसम् ॥

४. विपक्ष इति । यथा पूर्वोक्त एव हेतोर्गोदानसम् ॥

१. ‘वाच्यादर्पणेन व्यङ्ग्यार्थो न प्रतीयते । तस्मात्संस्कारवत्त्वात् । ततश्च व्यङ्ग्यपक्षसत्त्वज्ञानेन संब-
न्धेन भ्रमणीति व्याप्तत्वेन निश्चितपक्षमिति त्वेन निरूपयति लिङ्गालिङ्गिनो ज्ञानमनुमानं यदाप्ये पर्यवस्यति’
ग. २. ‘अनुमेये’ क. ३. ‘तत्र’ इति नास्ति म. मुद्रणे.

यद्वक्तव्यं तत्रानैकान्तिको हेतुः । मीरोरपि गुरोः प्रमोवा निदेशेन प्रियानुरागेण वा गमनस्य संभवात् । पुंश्चल्या वचनं प्रामाणिकं न वेति संदिग्धासिद्धश्च ।

‘जलकेलि-’ इत्यत्र ‘य आत्मदर्शनादर्शनाभ्यां चक्रवाकविघटनसंघटनकारी स चन्द्र एव’ इत्यनुमितिरेवेयमिति न वाच्यम् । उच्चासकादावनैकान्तिकत्वात् । ‘एवंविधोऽर्थ एवंविधार्थबोधक एवंविधार्थत्वात्, यन्नेवं तन्नैवम्’ इत्यनुमानेऽप्यामाससमानयोगक्षेमो हेतुः । ‘एवंविधार्थत्वात्’ इति हेतुना एवंविधानिष्टसाधनस्याप्युपपत्तेः ।

लिङ्गम्, तच्च मीरुत्वपर्यवसन्नम् । सिंहवद्गोदावरीतीरभ्रमणं साध्यम् । धार्मिकः पक्षः । सामाजिकोऽनुमाता । अनैकान्तिको व्यभिचारी । मीरोरपीति । अनेन निरुक्तलिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणम् । गमनस्य संभवादिति साध्याभावप्रदर्शनम्-संदिग्धसिद्धम् । हेतोर्दोषान्तरमाह—पुंश्चल्या इति । कुलटाया इत्यर्थः । प्रामाणिकं प्रमाजनकम् । तथा च वचनमिदं किं धार्मिकस्य भयोत्पादकं किंवा कुङ्कुरस्पर्शराङ्गासंकुचितभ्रमणस्य तस्य स्वच्छन्दभ्रमणविधायकमिति सामाजिकानां संदिग्धास्मीरुत्वसंदेह इति संदिग्धासिद्धो हेतुरिति भावः ॥ अलंकारानुमानं दूषयति—जलकेलीति । उच्चासको भयदः । आदिना रात्रिसाधर्म्यान्तरस्यापि ग्रहणम् । तादात्म्यसंबन्धेन साध्यस्य चन्द्रस्य घटने बाधाद्वाधोऽपि हेतुदोषोऽत्र द्रष्टव्यः । व्यभिचारभयेन पक्षमात्रवृत्तिहेतुकवस्त्वलंकारानुमानमाह—एवमिति । एवंविधार्थबोधक इति । अत्र पक्षीभूतवाक्यार्थेन बोधयितुं योग्या ये येऽर्थास्त एव सौव्यकोटिनिविष्टेन एवंविध इत्यनेन धर्तव्याः । अन्यथा बहुरभिप्रेतस्यैवार्थविशेषस्य ग्राह्यत्वे ‘गतोऽस्तमर्कः’ इत्यादी बहुरभिप्रेतार्थमवबोधयित्वार्थान्तरबोधके व्यभिचारापातः । हेतोः पक्षमात्रवृत्तित्वेनान्वयदृष्टान्तासंभवादभ्ययव्याप्तिप्रहो न संभवतीति व्याप्तिप्रहाय व्यतिरेकोदाहरणमाह—यन्नैवमिति । यदेवंविधार्थबोधकत्वाभावावसरेवंविधार्थत्वाभाववदित्यर्थः । ‘देवदत्तो भवतीति वाक्यार्थवत्’ इति दृष्टान्तोऽत्र द्रष्टव्यः । आमाससमानयोगक्षेमो दुष्टहेतुसमानकार्यकारी ।

१. अनैकान्तिक इति । एकस्य साध्यस्य तदभावस्य च योऽन्तःसहचारोऽव्यभिचारितसहचारः स चात्र व्याप्तिग्राहकः । तथा चैकमात्रव्याप्तिग्राहकसहचारपानैकान्तिकसद्व्योऽनैकान्तिकः । व्यभिचारी हेतुरित्यर्थः ॥

१. ‘भ्रमणस्य संभवात्’ क. २. ‘यु-’ इत्यादि ‘—असिद्धश्च’ इत्यन्तं ग-पुस्तके नास्ति. ३. ग-पुस्तके ‘अनु’ इत्यादि. ‘वाच्यम्’ इ. इत्यन्तस्य स्थाने ‘तदवत्’ इति पाठः. ४. ‘व्यङ्ग्यत्वेनाभि-मता’ इति पुस्तकान्तरे. ५. विधिवतासंबन्धेन साध्या’ इति पुस्तकान्तरे. ६. अभ्यय इति पुस्तकान्तरे नास्ति. ७. ‘साध्यत्वे’ इति पुस्तकान्तरे.

तथा 'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यसद्गृहे—' इत्यादौ (२१५) पृ. १ नलग्नन्थीनां तनूल्लिखनम्, एकाकितया च स्रोतोगमनम्, तस्याः परकामुकोपभोगस्य लिङ्गिनो लिङ्गमित्युच्यते । तच्चान्नैवामिहितेन स्वकान्त-
शेहेनापि संभवतीत्यनैकान्तिको हेतुः ।

यच्च 'निःशेषच्युतचन्दनम्—' इत्यादौ (६४ पृ.) दूत्यास्तत्कामुकोप-
भोगोऽनुमीयते तर्किक प्रतिपाद्यतया दूत्या, तत्कालसंनिहितैर्वान्यैः,
तत्काव्यार्थभावनया वा सहृदयैः । आद्ययोर्न विवादः । तृतीये तु तथा-

तदेवोपपादयति—एवमिति । अनिष्टो वक्तुरनभिमतः । तथा च यथा दुष्टहेतु-
प्रयोगेण वादिभिजयो भवति तयार्योन्तरसाधकहेतुप्रयोगेणापीत्याभासतुल्ययोगक्षे-
प्तत्वमिति भावः । अत्रापि व्यभिचारमाह—तथेति । एकाकितया चेति च-
कारो वार्यः । स्रोतोगमनं चेत्यर्थः । लिङ्गं तादात्म्येन साधनम् । तत्प्राप्तुमर्थद्व-
यम् । अत्रैव 'दृष्टि—' इत्यादिश्लोक एव । अभिहितेन द्वितीयपादप्रतिपादितेन ।
तथा च यत्र श्लेष्टस्य किं दुष्करमिति जानतां सर्वेषामेव श्रोतॄणां तादृशबोधो न
जायते तत्रैव व्यभिचार इति भावः । यदि तु कालान्तरे तादृशवाक्यप्रयोगेण यस्य
कस्यापि श्रोतुस्तादृशार्थबोधाद्व्यभिचारो न भवतीति विभाव्यते, तदात्र 'एतद्वा-
क्यप्रतिपाद्यं तादृशार्थद्वयं परकामुकोपभोगप्रतिपाद्यं तादृशार्थत्वात्' इत्यनुमाने
बाधहेतुदोषो द्रष्टव्यः । यथा—'गन्धप्रागभावकालीनो घटो गन्धवान्' इत्यादौ
तत्कालीनसाध्याभावमादाय बाधः तथात्रापि व्यक्तिविशेषे कालविशेषे वा । एवं
विधार्थबोधकत्वरूपसाध्याभावमादाय बोध्यः । तत्कामुकेति । नायिकाकामु-
केत्यर्थः । अनुमीयत इति । चन्दनच्यवनादिरत्र हेतुः । तत्कालसंनिहितै-
स्तादृशकथनसमये नायिकासंनिधानवृत्तिभिः । काव्यार्थभावनयेति विशेषणे

१. यथेति । अयमेवाशयः प्रदीपादौ भद्रयम्भरेण निर्दिष्टः—प्रकृते यानि चन्दन-
च्यवनादीनि संभोगव्यञ्जकतयोपात्तानि न तानि तद्व्याप्यानि । कारणान्तत्वादपि संभवात् ।
अतएवात्र खानकार्यत्वेन प्रतिपादितानि । अतोऽनेकान्तिकात्कथमनुमितिः स्यात् । ननु
व्यक्तिरपि कथं तैरिति चेत्, अथमपदसाहित्यादिति ब्रूमः । अस्माकमपि रास्तादिलेनानै-
कान्तिकत्वव्यतिरेक इति चेत्, अवेदप्येवं यद्यथमर्लं प्रमाणादवधारितं भवेत् । नत्वे-
वमस्ति । व्यक्तिरपि कथं तादृशाद्भवेदिति चेत्, भो देवनाग्रिष, व्यक्तौ न व्याप्तेर्नापि
पञ्चधर्मताया निर्धारणमङ्गम् । किंतु संभावितादप्येवंविधादेवंविधोऽर्थः प्रतीयत इति तूर्णं
तिष्ठेति ॥

१. 'दृष्टि—' इत्यादि 'यच्च' इत्यन्तं ग-गुल्लके नास्ति. २. 'यानि चन्दनच्यवनादीनि समवत्वे-
नोपात्तानि तानि कारणान्तत्वादपि भवन्ति । यथा खानकार्यत्वेनोपयोगिकानि । अतो नोपभोग एव प्रति-
बद्धानीत्यनैकान्तिकाणि ।' अ. ३. 'यथा—' इत्यादि '—बोध्यः ।' इत्यन्तं पाठः पुस्तकान्तरे नास्ति.

विधाभिप्रायविरहस्थले व्यभिचारः । ननु वक्राद्यवस्थासहकृतत्वेन विशेष्यो हेतुरिति न वाच्यम् । एवंविधंव्याप्त्यनुसंधानस्याभावात् ।

किंचैवंविधानां काव्यानां कविप्रतिमामात्रजन्मनां प्रामाण्याभाव-
श्यकत्वेन संदिग्धासिद्धत्वं हेतोः । व्यक्तिवादिना चाधमपदसहाया-
नामेवैषां पदार्थानां व्यञ्जकत्वमुक्तम् । तेन च तत्कान्तस्याधमत्वं
प्रामाणिकं न वेति कथमनुमानम् ।

एतेनार्थापत्तिवैधत्त्वमपि व्यङ्ग्यानामपास्तम् । अर्थापत्तेरपि पूर्वसिद्ध-
व्याप्तीच्छामुपजीव्यैव प्रवृत्तेः । यथा—‘यो जीवति स कुत्राप्यवतिष्ठते,
जीवति चात्र गोष्ठ्यामविद्यमानश्चैत्रः’ इत्यादि ।

किंच । बलविक्रयादौ तर्जनीतोलनेन दशसंख्यादिवत्सूचनबुद्धिवे-

त्तृतीया । न विद्या इति । चन्दनच्यवनादीनां ज्ञानादिनापि संभवाद । संभोग-
व्यभिचारित्वेऽपि तेषां दृष्टीतत्कारणसंनिहितयोः प्रत्यक्षतो वैलक्षण्यसहस्रप्रहसंभ-
वेन व्यभिचारज्ञानानुदयाद् व्याप्तिग्रहः संभवतीति भावः । ननु सामाजिकानामपि
निःशेषादिपदभिप्रायेणैव वैलक्षण्यग्रहो भविष्यतीत्यत आह—तथाविधेति ।
निःशेषादिपदानां संभोगजन्यत्वबोधाभिप्रायविरहस्थल इत्यर्थः । यन्नापीत्यतहु-
णसंविज्ञानबहुमोहिणा प्रतिपाद्यदृष्टीपरिग्रहः । अवस्था कामुकत्वादिवैशिष्ट्यम् ।
एवंविधेति । प्रतिपाद्यावस्थासहकृतत्वस्य शब्देनानुपस्थानात्प्रमाणान्तरस्य वासं-
भवादनुपस्थितिरिति कथं तदन्तर्भावेन व्याप्तिग्रह इति भावः । एतेन हेतोर-
भासत्वेन । नन्वर्थापत्तेर्व्याप्तिग्रहादिनिरपेक्षत्वेन हेतोरभासत्वमकिंचित्करमित्यत
आह—अर्थापत्तेरपीति । व्याप्तीच्छां व्याप्तिग्रहम् । अर्थापत्तिमाह—यथेति ।
‘चैत्र एतद्गोष्ठीभिन्नस्थानेऽवतिष्ठते’ इत्यर्थापत्तिजन्यज्ञानम् । अत्र जीवित्वस्य मत्किं-
चिदधिकरणावस्थानव्याप्यत्वज्ञानमपेक्षणीयमिति व्याप्तिग्रहप्रदर्शनपुरःसरमर्थापत्ति-
प्रदर्शनमिदम् । ‘जीवति च’ इत्यादिकमर्थापत्तिदर्शनम् । तर्जनीतोलनेन तर्ज-
न्युत्क्षेपदर्शनेन । ‘सूच्यतेऽनेन’ इति सूचनं हस्तचेष्टादिरूपः संकेतस्तद्बुद्धिवैधः

१. व्यक्तिवादिनेति । व्यक्तिवादिना व्यञ्जनान्वयवस्थापकेनालंकारिकेनेत्यर्थः ॥

२. एवमिति । चन्दनच्यवनादीनाम् ॥

३. अर्थापत्तीति । अर्थापत्तिर्हि जैमिनिशासने प्रमाणत्वेन स्वीक्रियते । सा द्विविधा-
दृष्टा, श्रुता च । तत्र दृष्टा—एकस्मिन्पक्षे आत्मभावो गृहीतश्चेदन्वसिद्धिप्यात्मभावो
गृह्यत एव । श्रुता—यथा दिवा देवदत्तो न गुड्डे, अथ च पीनो दृश्यते । अतोऽवगम्यते
रात्रौ गुड्ड इति ।

द्योऽप्ययं न भवति । सूचनबुद्धेरपि संकेतादिलौकिकप्रमाणसापेक्षत्वे-
नानुमानप्रकारताङ्गीकारात् ।

यच्च 'संस्कारजन्यत्वादसादिवुद्धिः स्मृतिः' इति केचित् । तत्रापि
प्रत्यभिज्ञायामनैकान्तिकतया हेतोरामासता ।

'दुर्गालङ्घित—' इत्यादौ (६२ पृ.) च द्वितीयार्थो नास्त्येव—इति
यदुक्तं महिमभट्टेन तदनुभवसिद्धिमपलपतो गजनिमीलिकैव ।

तदेवमनुभवसिद्धस्य तत्तद्रसादिलक्षणार्थस्याशक्यापलापतया तत्त-
च्छब्दाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायितया चानुमानादिप्रमाणावेद्यतया चा-

तद्वुद्धिजन्यबोधविषयः । अयं व्यङ्ग्यपदार्थः । संकेतादीत्यादिपदेन संकेतग्रहवे-
दानां ग्रहणम् । लौकिकप्रमाणसापेक्षत्वेन सहचारग्रहजन्यत्वेन । अनुमा-
नप्रकारताङ्गीकारात् व्याप्तिज्ञानविशेषत्वस्वीकारात् । ग्रहन्ते बहुशक्तिवैचित्र्यविशेषः
संकेतः । तद्वोचरव्यङ्ग्यार्थव्याप्तिग्रहेणैव व्यङ्ग्यग्रहः, न तु तदर्थं व्यञ्जना स्वीकार्या ।
एवं च सति यत्र बहुशक्तिवैचित्र्यविशेषतत्त्वेऽपि सर्वेषामेव श्रोतृणामनभिहतया न
व्यङ्ग्यार्थबोधस्तत्रैव व्यभिचार इति, तदपि न सम्पन्नमिति भावः । 'स्मृतिर्न च' इति
कारिकायां विवृणोति—यच्चेति । संस्कारजन्यत्वात् संस्कारजन्यज्ञानत्वात् ।
अन्यथा संस्कारार्थं वादौ तज्जन्यत्वस्य सत्त्वाद् व्यभिचारस्यात्यन्तस्फुटत्वापत्तेः । प्रत्य-
भिज्ञायां सोऽयमित्याकरचक्षाने अनैकान्तिकतया साध्यं विना विद्यमानतया
हेतोः संस्कारजन्यज्ञानत्वस्य आमासता व्यभिचारिता । एतच्च साधनं रसप्रती-
तिकारणीभूतवासनायाः संस्कारविशेषत्ववादिमते । अतिरिक्तत्वादिति मते तु हेतोः
पक्षादुक्तिव्येन स्वरूपासिद्धिरपि दोषः न तु व्यभिचारमात्रम् । ये तु प्रत्यभिज्ञा-
याः स्मृतित्वापत्तिभयेन स्मृतिजन्यत्वमेव मन्यन्ते, न तु संस्कारजन्यत्वम् । तन्मते
व्यभिचारो न भवतीत्यवधेयम् । अभिधामूलव्यञ्जनामनङ्गीकुर्वतो मतं दूषयति—
दुर्गेत्यादि । द्वितीयार्थोऽप्राकरणीकार्यबोधः । गजनिमीलिका इस्तिन इव
मूर्खत्वम् । उपसंहरति—तदेवमिति । तत्तद्रसादिलक्षणार्थस्य तत्तद्रसादिलख-
णार्थस्य । 'विलक्षणार्थस्य' इति पाठे तत्तद्रसादिरूपस्य । वाच्यादिविलक्षणस्येत्यर्थः ।

१. तत्तदिति । इहान्वयव्यतिरेकहृद्यन्तेन कश्चिदेव शब्दस्तादृशार्थस्यापनेऽलंङ्गमंग
इति दर्शितम् । तदुक्तं ध्वनिकारैः—'सोऽप्येवमस्ति सामर्थ्यबोधी शब्दश्च कश्चन । यत्रतः
प्रत्यभिज्ञेयी तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥' इति 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकाम्यामेव ॥ सुप्रयुक्ताम्यां
'महाकवित्वलाभो महाकवीनाम्, न वाच्यवाचकरचनमात्रेण' इति व्याख्यातं च ॥

इत्याचार्यश्रीतरयूपसादयुत-दुर्गाप्रसादविरचितायां छायायां पूर्वभागः ॥

मिधादिवृत्तित्रयाबोध्यतया च तुरीया वृत्तिरूपास्येवेति सिद्धम् । इयं च व्याख्याद्यनुसंधानं विनापि भवतीत्यखिलं निर्मलम् ।

तत्किनामिकेयं वृत्तिरित्युच्यते—

सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः ।

रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः ॥ ५ ॥

एतच्च विविच्योक्तं रसनिरूपणप्रस्ताव इति सर्वमवदातम् ॥

इति साहित्यदर्पणे व्यञ्जनाव्यापारनिरूपणो नाम पञ्चमः परिच्छेदः ।

(अत्र मूलकारिकाः=५ पूर्वाभिः सह ३०९ उदाहरणश्लोकौ २ =पूर्वैः

सह २०७ ।)

अनुमानादीत्यादिपदेन अर्थापत्त्यादेर्महणम् । अभिधादीत्यादिपदेन लक्षणातात्पर्योर्महणम् ॥ ननु रसादिग्रहार्थं रसनाख्यावृत्तिः स्वीकृता कथं तदर्थं व्यञ्जनावृत्तिः स्वीक्रियत इत्यत आह—रसव्यक्ताविति । रसप्रतीतावित्यर्थः । वृत्तिं व्यापारम् । परे नैयायिकाः न त्वालंकारिकाः । तेषामयमाशयः—‘वस्तुलंकारग्रहार्थं व्यञ्जनावृत्तिरवश्यं स्वीकार्या, तथैव रसादेरपि ग्रहोऽस्तु । तदर्थंमतिरिक्तरसनाख्यवृत्तिस्वीकारेणालम्’ इति । न च व्यञ्जनाजन्यबोधस्यास्मादरूपत्वं नास्ति, रसनाख्यव्यापारजन्यबोधस्य तु तदक्षतमिति वाच्यम् । एतादृशनियमस्य आपथनिर्णयत्वात् । एतद्रसनाख्यवृत्तिस्वरूपम् । अवदातमविरुद्धम् ॥

इति श्रीरामचरणतर्कवागीशमहाचार्यविरचितायां साहित्यदर्पणविवृती

पञ्चमः प्रश्नः ।



पष्ठः परिच्छेदः ।

एवं ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन काव्यस्य भेदद्वयमुक्त्वा पुनर्दृश्य-
श्रव्यत्वेन भेदद्वयमाह—

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम् ।

दृश्यं तत्राभिनेयं—

तस्य रूपकसंज्ञाहेतुमाह—

तद्रूपारोपात्तु रूपकम् ॥ १ ॥

तदृश्यं काव्यं नटे रामादिस्वरूपारोपाद्रूपकमित्युच्यते ।

कोऽसावभिनय इत्याह—

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः ।

आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा ॥ २ ॥

नटैरङ्गादिभि रामयुधिष्ठिरादीनामवस्थानुकरणमभिनयः ।

अभिनेयं नाट्याद्यभिनीयमानं नायकादिचरितम् । एतच्च 'शब्दबोध्यो व्यनक्त्य-
र्थ—इत्युक्तदिशा (६९ पृ.) शब्दोपस्थाप्यमेव । न त्वेवंविधं विभावदिवद्रसाभि-
व्यञ्जकमपि तत्काव्यम्, काव्यरक्षणायोगात् । यद्वा अभिनेयमनास्तीति मतवर्धीय-
(अन्) प्रसयेन अभिनेयपदमभिनेयोपस्थापकम् । अनर्पणवादि रूपकम्, रक्षाव-
ल्याद्युपरूपकं च ॥ अद्यस्या साधर्म्यम्, अनुकारः सदृशीकरणम् । सः अभि-
नयः । अङ्गेन निष्पद्य आङ्गिकः । एवमग्रेऽपि । वेपरचनादिनिष्पाद्य आहार्यः ।

विद्वत्तिथिर्तिः ।

शुद्धोऽपि संक्रान्तमलेवमस्य व्याख्यापि नाख्याति समस्ततरवम् ।

इति कुमच्छेदकृते कृतेर्ध्वं छायात्पकायापि मुदं विदध्यात् ॥

१. तदिति । 'यथा मुखादौ पद्मादेरारीपो रूपक मतम् । तथैव नायकारोपो नटे
रूपकमुच्यते ॥' इति भावः ॥

२. अभीति । अयमेवार्थो भन्दारमरन्दे भद्रान्तरेण प्रतिपादितः—'उत्पादयन्स-
दृश्ये रसज्ञानं निरन्तरम् । अनुकूलैलितो योऽय्योऽभिनयः सोऽभिधीयते ॥' इति ॥ नाट्य-
शास्त्रे भरतोऽप्याह—'विभावयति यस्याश्च नानार्थानिह प्रयोगतः । शास्त्राज्ञोपाज्ञसंयु-
क्तस्तसादभिनयः स्मृतः ॥' इति ॥

३. आङ्गिक इति । नाट्यशास्त्रे तु—'त्रिविधस्तत्वाङ्गिको धैर्यः शरीरो मुखजस्तथा ।
तथा चेष्टाकृतश्चैव शास्त्राज्ञोपाज्ञसंयुतः ॥' इत्यनेनाङ्गिकाभिनयस्य त्रिविध्यमुदीरितम् ।

१. 'वाङ्मनादिभि' ख-मं. २. पुनरावृत्तरे तु 'अभि' इत्यादि. 'उपरूपकं च' इत्यन्तं पाठो
नास्ति, किंतु 'अभिनेयमभिनय' इत्येव दृश्यते.

रूपकस्य भेदानाह—

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः ।

ईहामृगाङ्गवीथ्यः ग्रहसनमिति रूपकाणि दश ॥ ३ ॥

किंच ।

नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सदृकं नाट्यरासकम् ।

प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा ॥ ४ ॥

संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका ।

दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च ॥ ५ ॥

अष्टादश ग्राहुरूपरूपकाणि मनीषिणः ।

विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम् ॥ ६ ॥

सर्वेषां प्रकरणादिरूपकाणां नाटिकाद्युपरूपकाणां च ।

तत्र—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसंधिसमन्वितम् । ✓

विलासज्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ॥ ७ ॥

सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।

पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः ॥ ८ ॥

प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धौरोदाचः प्रतापवान् ।

दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥ ९ ॥

सार्विकः स्वम्भवेदादिरूपः । अङ्गादिभिर्नानाविभिः ॥ नाटकमिति । अङ्क उत्पद्यङ्कः ॥ नाटकलक्षणमाह—तत्रेति । वृत्तं वृत्तान्तः । विलासेति । 'धीरा दृष्टिर्गतिश्चिना विलासे सस्मितं वच' इत्युक्तलक्षणो नायकस्य गुणविशेषो विलासः (१०६ पृ.) । क्रस्त्रिरभ्युदयः । आदिना धैर्यगाम्भीर्यादिग्रहणम् । तत्र नाटके अङ्काः

आङ्गिकोऽभिनयः शास्त्रेति कथ्यते । शिरोहस्तोरःपार्श्वकटीपादलक्षणानि षडङ्गानि । नेत्रभू-
नासिकाधरकपोलचिबुकरूपाणि षडङ्गानि । अङ्गेन अङ्गचालनेन निर्वृत्त आङ्गिकः । एवं
वाचिकः । निमुक्तादां ठक् त्वनाकरः ॥

१. सुखदुःखेति । सुखदुःखाम्ना समुद्भूतिः संभवो यस्य तत् सुखदुःखसमुद्भूतिः ।
वदुक्तं भातृगुणाचार्यैः—'सुखदुःखोत्पत्तिकृतम्' इति ॥ ✓

एक एव भवेदङ्गी शङ्कारो वीर एव वा ।

अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ॥ १० ॥

चैत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।

गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥ ११ ॥

ख्यातं रामायणादिप्रसिद्धं वृत्तम् । यथा—रामचरितादि । संघयो
वक्ष्यन्ते । नानाविभूतिभिर्भुक्तमिति महासहायम् । सुखदुःखसमुद्भूतत्वं
रामयुधिष्ठिरादिवृत्तान्तेष्वभिव्यक्तम् । राजर्षयो दुष्पन्तादयः । दिव्याः
श्रीकृष्णादयः । दिव्यादिव्यः, यो दिव्योऽप्यात्मनि नराभिमानी ।
यथा—श्रीरामचन्द्रः । 'गोपुच्छाग्रसमाग्रमिति क्रमेणाङ्गाः सूक्ष्माः

परीच्छेदरूपाः । अङ्गी प्रधानम् । निर्वहणे उपसंहारस्यचरमसंभौ । अद्भुत आश्च-
र्यरसः । कार्यं नायककर्मणि व्यापृताः सध्यापाराः । बन्धनं गुम्फनम् । तस्य
नाटकस्य । रामचरितादीत्यादिना प्रसन्नराघवानर्घराघवादीनां ग्रहणम् । म-
हासहायमिति । नानाविधा विभूतिर्नायकाद्यभ्युदयो येभ्यस्ते 'महान्तः सहाया
यत्र' इति व्युत्पत्त्यभिप्रायेण । अदिव्यनायका दुष्पन्तादयः । नराभिमानी नर-
मेदमहमात् । ईश्वरे नरस्य बाधापादराग्रहो भ्रम एव वाच्यः । स चेध्वरे न संभ-
वतीति । तस्य नरचरिताचरणं तु लोकशिक्षार्थं माययैव, न तु नरराभिमानात् ।
तदुक्तं पाप्मे—'मायामानुषचारित्रो महादेवादिपूजितः' इति । श्रीभागवते
च—'भ्रात्रा बने कृपणवस्त्रिप्रयया वियुक्तः स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रययन्श्चकार' इति ।

१. एक इति । एकपर्यायानां एक एव रसोऽङ्गित्वेन निवेशयितव्य इत्यर्थः । शङ्कारो
वीरो वेति कथनं तु समुच्चितरसवचकम् । तेनोत्तररामचरिवे करणस्य, प्रयोधच-
न्दोदये शान्तस्य आङ्गित्वमव्याहृतम् । अत एवोक्तं ध्वनिकृता—'प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां
नानारसनिबन्धने । एवो रसोऽङ्गीकर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ॥' इति ॥

२. निर्वहण इति । निर्वहनसंभावद्वुत्तरसत्तावश्यकत्वमुक्तं नाट्यशास्त्रे—'सर्वेषां
काव्यानां नानारसभावयुक्त्युक्तानाम् । निर्वहणे कर्तव्यो नित्यं हि रसोद्भव-
स्तज्जैः ॥' इति ॥

३. चत्वार इति । इह कार्यपुरुषाश्चत्वारः पञ्च वेति वदुष्यन्, तत्प्रायेणियमाभि-
प्रायेणैव । तथा पाष्टादशाध्याये मुनिराह—'न महाजनपरिवारे कर्तव्यं नाटकं प्रक-
रणं वा । वेनात्र कार्यपुरुषाश्चत्वारः पञ्च वा ते स्युः ॥' इति ॥

४. गोपुच्छेति । 'कार्यं गोपुच्छाग्रं कर्तव्यं वग्धमासाय' इति भरतवाक्ये व्याच-
ष्टाणानां मतभेदं दर्शयति—गोपुच्छेत्यादिना ॥

कर्तव्याः' इति केचित् । अन्ये त्वाहुः—'यथा गोपुच्छे केचिद्वाला
ह्रस्वाः केचिदीर्घास्तथेह कानिचित्कार्याणि सुसंघौ समाप्तानि कानि-
चित्प्रतिमुखे । एवमन्येष्वपि कानिचित्कानिचित् इति ।

प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः ।

भवेद्गूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः ॥ १२ ॥

विच्छिन्नावान्तरैकार्थः किञ्चित्संलग्नबिन्दुकः ।

युक्तो न बहुभिः कार्यैर्वीजसंहतिमान्न च ॥ १३ ॥

नानाविधानसंयुक्तो नातिप्रचुरपद्यवान् ।

आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः ॥ १४ ॥

नानेकदिननिर्वर्त्यकथया संप्रयोजितः ।

आसन्ननायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा ॥ १५ ॥

दूराहानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविषयः ।

विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यु रत्नं तथा ॥ १६ ॥

दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद्वीडाकरं च यत् ।

शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम् ॥ १७ ॥

तथा सति दिव्यादिव्यपदार्थ एवं वाच्यः—मानुष्यां देवेनोत्पादितो दिव्यादिव्यो
यथा शुचिष्ठिरादिः । एवं च श्रीरामचन्द्रोऽपि दिव्यनायक एव । अन्येषु
गर्भविमर्शनिर्वहणेषु ॥ अङ्गलक्षणमाह—प्रत्यक्षेति । प्रत्यक्षवद्भासमानं नेतुर्ना-
यकस्य चरित्रं यत्र । चूर्णकं गद्यप्रमेदः । अद्यान्तरं महावाक्यार्थैरुद्देशः । प्रथ-
मार्थप्रकृतिर्यौजम्, निर्वहणाख्यसंघिः संहतिः, तथोर्नाडे विधानम् । किंतु
अर्थोपक्षेपकैः । अत एव 'वीजार्यख्यापकं च 'तत्' इत्यङ्गुलक्षणं वक्ष्यते ।
विधानं विहितं कर्म । आवश्यकानामिति । एषां विरोधो नाडे वर्णनीय

१. अगूढेति । अगूढः शब्दश्रवणमात्रेणैव श्रुतिरिति प्रतीयमानः शब्दार्थो यत्र
तादृशः । गूढत्वे नोपमान्वयेणाशु सामाजिकानां हृदयावर्जनायोगादनुपादेयता स्यात् ॥

२. क्षुद्रेति । क्षुद्रं स्वल्पम् ॥

३. नातीति । पठेन गद्यपद्यानां तारतम्येन निवेशो विधेय इति सूचितम् । तथा
चाष्टादशाध्याये महर्षिणा प्रतिपादितम्—'वहुचूर्णपादवृत्तं जनयति खेदं प्रयोगस्य'
इति ॥

४. नानेकेति । लघुकथाविहित इत्यर्थः ॥

५. शापोत्सर्गादिति । उत्सर्गो मलत्यागः ॥

स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो नातिविस्तरः ।

देवीपरिजनादीनाममात्यवणिजामपि ॥ १८ ॥

प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तो भावसोद्भवैः ।

अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोक्ते इति कीर्तितः ॥ १९ ॥

विन्दादयो वक्ष्यन्ते । आवश्यकं संख्यावन्दनादि ।

अङ्कप्रस्तावाङ्कमाह—

अङ्कोदरप्रविष्टो यो रङ्गद्वारामुखादिमान् ।

अङ्कोऽपरः स गर्भाङ्कः सचीजः फलवानपि ॥ २० ॥

यथा बालरामायणे—रावणं प्रति कोहलः ।

‘श्रवणैः पेयमनेकैर्दृश्यं दीर्घैश्च लोचनैर्बहुभिः ।

भयदर्थमिव निबद्धं नाख्यं सीतास्वयंवरणम् ॥’

इत्यादिना विरचितः सीतास्वयंवरो नाम गर्भाङ्कः ।

तत्र पूर्वं पूर्वरङ्गः सभापूजा ततः परम् ।

कथनं कविसंज्ञादेर्नाटकस्याप्येवमुक्तम् ॥ २१ ॥

तत्रेति नाटके ।

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविमोपशान्तये । ✓

इति भावः । पात्रैः सहायैः । एभिर्दूतद्वानादिभिः । देवी राजपत्नी । परि-
जनास्तरपरिचाखाः राजकुमारादयो वा । अन्ते समाप्तौ निष्क्रान्तानि रङ्गा-
भिर्गतानि निष्क्रान्तानि पात्राणि नायकतत्त्वदायादयो यस्य सः । सन्धारक्रियमाणं
नतलं रङ्गद्वारम् । आमुखं प्रस्थावना । आदिना सभापूजावित्तहादीनां प्रह-
णम् । फलं नयकनिष्पाद्यप्रधानप्रयोजनम् ॥ भयदर्थमिति । भयते प्रयोज-
नमित्यर्थः । इवोपेक्षायां । भवतो बहूनि भ्रूणानि लोचनानि च सन्ति, भय-
तीव तद्गृहं श्रोतुं च योग्यमित्यर्थः ॥ नाटकरचनापरिपाटीमाह—तत्रेति । पूर्वं
प्रथमम् । समाजिकसमूहः समा, तस्याः पूजा प्रशंसा । ततः पूर्वस्ताव । संज्ञा-
देरित्यादिपदेन गोत्रमात्मापितृणां प्रहणम् । नाटकस्यापीत्यनेन सञ्ज्ञाकथनमित्यने-
नान्वितम् । नाट्यवस्तुनि तव्यं वस्तु वर्णनीयपदार्थः । रङ्गं दृश्यस्थानम्, तत्र

१. अङ्क इति । अङ्कप्रस्ताव निरुद्धिच्छ नाट्यशास्त्रे—‘अङ्क इति स्तुतिशब्दो भारेश
रश्मि रोहपत्यर्थम् । नानाविधानयुक्तो यस्मात्समाद्भवेदङ्कः ॥’ इति ॥

२. सचीज इति । चीजं बह्यमाणलक्ष्यम् ॥

कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥ २२ ॥

प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि ।

तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥ २३ ॥

जायमाना ये विघ्ना नटादिदुरदृष्टजन्योपद्रवास्तदुपशान्तये । कुशीलवाः सूत्र-

३. कोहल इति । कोहलो नाट्यवेदवक्ता । 'कोहलो वाद्यमेदे स्यान्नाट्यशास्त्रप्रवर्कर' इति मेदिनीकारः ।

१. पूर्व्वेति । पूर्वं रज्यसेऽसिन्निति पूर्व्वरङ्गः नाट्यशास्त्र । तत्सं कर्माणि पूर्व्वरङ्गशब्देन व्यपदिश्यते । अतः पूर्व्वरङ्गो नाम रङ्गविम्वशामको नान्दीपाठगीतवादित्रादिनानाविधाङ्गविशेषो नाट्यादौ कर्तव्यः कर्मविशेषः । भावप्रकाशिकायामप्युक्तम्—'समापतिः समा सभ्या गायका वादका अपि । नटी नटश्च मोदन्ते यवान्योन्यानुरजनात् ॥' अतो रङ्ग इति शेषः पूर्व्वरङ्ग प्रकल्पते । तस्मादयं पूर्व्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते ॥' इति ॥

२. अस्येति । अस्य पूर्व्वरङ्गस्य प्रत्याहारादिकानि द्वाविंशलङ्गानि । तानि 'नाट्यशास्त्रस्य पञ्चमाध्याये द्रष्टव्यानि ॥

३. नान्दीति । नान्दीपदभ्युत्पत्तिरुक्ता नाट्यप्रदीपे—'नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गाः कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्तः । यस्मादलं सज्जनसिन्धुर्हंसी तस्मादियं सा कथितेह नान्दी ॥' इति । तत्र भरतः प्रथमाध्याये—'पूर्वं कृत्वा मया नान्दी आशीर्षचनसंयुता । अष्टाङ्गपदसंयुक्ता मञ्चस्था वेदसंमता ॥' इति । पञ्चमाध्याये च—'सूत्रधारः पठेन्नान्दी मध्यम स्वरमाभितः । नान्दी पदैर्द्रादशमिरष्टाभिर्वाप्यलंकृताम् ॥' इति च । श्लोकोऽयमभिनवगुप्तपादाचार्यैर्भरतटीकायामभिनवभारत्या व्याख्यातः—'अनेन व्यस्ततालानुगता त्रिपदा पदपदा द्वादशपदेति चतुरस्रतालानुगता चतुष्पदा अष्टपदा षोडशपदेति पृथक्त्रिभिर्न । नातः परमपि भूयस्त्वादावृतेति । पदानि श्लोकावयवभूतानि विद्वद्भ्यानि सुवन्तानि वा श्लोकतुर्याशरूपाणि वा, अवान्तरूपाणि वा' इति व्याख्याय पुनरुक्तम्—'आचार्यस्वरसास्वबान्तरवाक्येष्वेव पदत्वम्' इति । एतदेवाभिप्रेत्य नाट्यप्रदीपे—'श्लोकापादः पदं केचित्सुप्तिङन्तमथापरे । परेऽवान्तरवाक्यैकस्वरूपं पदमूचिरे ॥' इति प्रतिपादितम् । तथा च पञ्चमाध्याये महर्षिणा—'नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो, दिज्जातिभ्यस्ततो नमः । जितं सोमेन वै राधा, शिवं गोमात्राण्यथ च ॥ अद्भ्योत्तर तथैवास्तु, इता मस्यदिपस्तथा । प्रशास्त्रिमा महाराजः पृथिवीं च ससागराम् ॥ राज्यं प्रवर्धतां चैव, रक्षस्याशा समृध्यतु । त्रेधाकर्तुर्मैदान्धर्मो भवतु ब्रह्मापितः ॥ काव्यकर्तुर्वैद्यश्चापि धर्मश्चापि प्रवर्धताम् । इज्यया चानया नित्यं प्रीयन्तां देवता इति ॥' इत्यवान्तरवाक्यरूपा द्वादशपदा नान्दी प्रदर्शिता । श्लोकतुर्याशः पदमिति मतेऽष्टपदेयम् । तत्र टीकाकारैरष्टपदोदाहृता यथा विलक्षकुरूपती—'आनन्दं विदधातु पद्मवसतिः शंभुः शिवं यच्छतु, मीनायः त्रियमावजोतु, तनुतां सीतापतिर्वाञ्छितम् । हेरम्बः कुरुगमयिषमनपं, नागस्य विभोवतां, म्यासोक्तं तदुदेयस्तु ; भरतो नाट्येऽस्तु नः कौतुकी ॥' इति । श्लोकतुर्व्वभागः पदमिति मते चतुष्पदेयं साहि- २४

तस्याः स्वरूपमाह—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्यात्प्रयुज्यते ।

देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥ २४ ॥

मङ्गल्यशङ्खचन्द्राजकोकैरवशंसिनी ।

पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥ २५ ॥

अष्टपदा यथा अनर्घराघवे—‘निष्प्रत्यूहम्’ इत्यादि । द्वादशपदा यथा मम तातपादानां पुष्पमालायाम्—

धारप्रधाना नदाः । अस्य पूर्वेरज्ञस्य ॥ तस्या नान्याः । आशीरिति । स्तुति-
शृण्णकीर्तनम् । प्रयुज्यते कियते । ‘स्तुतिः’ इत्यत्र ‘नित्यम्’ इति पाठे ‘स्तुतिः’
इत्यप्याहार्यम् । नृपादीनामित्यादिना शुर्वादपरिग्रहः । नान्दीपदेन आशीर्मङ्गल्यं वस्तु
बोध्यते । तदन्यतरयोगादेवादीनां स्तुतिरपि नान्दीति भावः । आशीर्वचनयुक्ता,
मङ्गल्यशङ्खादिशंसिनी वा । शङ्खेत्यादिमालाद्युपलक्षणम् । तेन ‘मध्याह्नार्कमरीचि-
कास्त्रिव पय पूरो यदज्ञानतः—’ इत्यादौ सप्तशब्दप्रयोगेण नान्दीत्वमक्षतम् । पदैः
शुपन्ततिङ्स्तान्यतरैः । द्वितीयपदशब्देन श्लोकचतुर्थभाग उच्यते । अत एवोभयत्र
पदशब्दोपन्यासः । केचित्तु रत्नावल्यादौ श्लोकत्रयेण नान्दीदर्शनात्प्रथमपदस्य

नान्दी । किंच ‘यस्यां धीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुनः । छेदेण वा समासोत्तया
नान्दी एवप्रवर्त्तते तु सा ॥’ इति नाट्यदर्पणे तस्या विशेषसंज्ञाभिहित्वा, तत्र ‘या
सृष्टिः—’ इति प्रथमुदाहार्यम् । इयं च चतुरस्रतालानुसारिणी नाट्यशालाकारभरत-
तट्टीयानकाराभिनवगुप्तपादाचार्यसंमतावान्तरवाक्यरूपाष्टपदा नान्दीति सर्वतत्प्रत्यक्षप्र-
राघवनृपादाः । अपि च ‘नीली शुद्धेति भेदेन सा नान्दी दिविषा भवेत् । उपादानं
वर्णनं वा भवेद्यदेन्दुसंशयोः । सा नीली स्वात्तदन्त्या तु शुद्धेति परिगोयते ॥’ इति
सङ्गदः काव्येन्दुमकाशे । तत्र पुष्पवदुपादानेन ‘या सृष्टिः—’ इति नीली । तद्वर्ण-
नेन ‘निष्प्रत्यूहमुपासहे—’ इति नीली । ‘वेदान्तेषु यमादुरेकपुरुषं—’ इति शुद्धा ॥

१. पदैरिति । अत्र विशेषो मन्दारमरन्दे—अष्टभिर्दशभिः भेदा यथा द्वादशभिः
पदैः । अष्टादशपदैर्वापि द्वाविंशत्या पदैर्वृत्ता ॥’ इति संक्षेपः ॥

२. निष्प्रत्यूहमिति । “निष्प्रत्यूहमुपासहे भगवतः श्रीमोदकीलम्भनः कोकरीति-
चक्षोरपाणपटुभोतिष्मदी लोचने । याम्यामर्धविबोधमुष्मपुर्धीरर्पनिद्रायितो नानी-
पत्तलपुण्डरीकनुकुलः कम्बोः सपत्नीकृतः ॥’ अपि च । ‘विरमति महाकले नानी-
भेकनिषेतनखिमुनपुःसिल्ली यस्य प्रतिशुण्मात्मभूः । किमपिहरणा मीढकस्य
स्यवन्धितिरित्यसाधुदरमविग्रहं तस्य जगन्निषये नमः ॥’ इति शार्दूलनिष्ठीहितहरिणी-
छन्दोभ्यामष्टपदा नान्दी संपठते । पदं श्लोकचरणोऽपीति व्याख्यानात् ।

शिरसि घृतसुरापणे सरारा-

वरुणमुखेन्दुरुचिर्गिरीन्द्रपुत्री ।

अथ चरणयुगानते स्वकान्ते

सितसरसा भवतोऽस्तु भूतिहेतुः ॥

एवमन्यत्र ।

एतज्जान्दीति कस्यचिन्मतानुसारेणोक्तम् । वस्तुतस्तु 'पूर्वरङ्गस्य रङ्गद्वाराभिधानमङ्गम्' इत्यन्ये ।

यदुक्तम्—

'यस्मादभिनयो ह्यत्र प्राथम्यादवतार्यते ।

रङ्गद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकम् ॥' इति ।

उक्तप्रकारायाश्च नान्धा रङ्गद्वारात्प्रथमं नटैरेव कर्तव्यतया न महर्षिणा निर्देशः कृतः ।

श्लोकचतुर्थभागपरत्वं वदन्ति । तत्र । 'इदं गुरुभ्यः पूर्वभ्यो नमोवाकं प्रशासहे । विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम् ॥' इत्यादेरुत्तररामचरितादीं प्रणीतायां द्वादशपदायां नान्धा असप्रहापते । एव चाष्टाभिरिति तदधिकोपलक्षणत्वेन श्लोकत्रयेणापि नान्दी सगच्छते । अत एव ब्रह्मनाटके व्यधिके श्लोकैर्नान्दी कृता । नन्वभिज्ञानशाकुन्तले 'वा सृष्टिं ह्यष्टु—' इत्यादौ द्वादशाधिकपदघटितैकश्लोकप्रणीतायां नान्धा कथं संग्रह इति चेत्, तस्या 'कालिदासादिमहाकविप्रबन्धेषु च' इत्यनेन ग्रन्थकृतेन नान्दीत्वाभावस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥ एतत् सूत्रधारदिक्रियमाणं मङ्गलम् । 'कस्यचित्' इत्यनेनास्वरसं सूचितः । स हि तस्य किं नामेत्यत आह—वस्तुतस्तिवति । रङ्गद्वाराभिधानं रङ्गद्वारनामकम् । 'अन्ये' इति बहुसमतत्वेनान्न स्वस्यापि स्वरसं सूचितः । अत्र मुनेरपि स्वरसमाह—यदुक्तमिति । अत्र सूत्रधारक्रियमाणे मङ्गले प्राथम्यात् आरम्भविधाय अवतार्यते क्रियते । रङ्गस्य रङ्गक्रियमाणाभिनयस्य द्वारमारम्भः । तस्य नान्दीत्वे मुनेरस्वरसमाह—उक्तप्रकारायाश्चेति । चशब्दो हेतोः । महर्षिणा भरतेन । निर्देशो नियमः । तथा च रङ्गद्वारात्पूर्वमेव नान्दी, सा निर्विघ्नं ग्रन्थसमाप्तये

१ प्रथममिति । 'जादौ शुक्लावकृष्टा च रङ्गद्वारं तथैव च' इत्यादिना महर्षिणा पूर्वरङ्गाद्भूतं रङ्गद्वारात्पूर्वमेव नाचा 'उद्देशो विहितः ।

कालिदासादिमहाकविप्रबन्धेषु च—

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी-

यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ।

अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते

स स्थाणुः स्तिरमक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥

एवमादिषु नान्दीलक्षणायोगात् । उक्तं च—‘रङ्गद्वारमारभ्य कविः कुर्यात्—’ इत्यादि । अत एव प्राक्तनपुस्तकेषु ‘नान्द्यन्ते सूत्रधारः’ इत्यनन्तरमेव ‘वेदान्तेषु—’ इत्यादि श्लोके(लि)खनं दृश्यते । यच्च पश्चात् ‘नान्द्यन्ते सूत्रधारः’ इति ले(लि)खनं तस्यायमभिप्रायः— नान्द्यन्ते सूत्रधार इदं प्रयोजितवान्, इतः प्रभृति मया नाटकमुपादीयत इति कवेरभिप्रायः सूचित इति ।

✓ पूर्वैरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निवर्तते ।

प्रविश्य स्थापकस्तद्वत्काव्यमास्थापयेत्ततः ॥ २६ ॥

कविनापि कियत् इति भावः । अव्याप्तिमप्याह—कालिदासादिमहाकविप्रबन्धेषु चेति । नान्दीलक्षणायोगाच्चेति चकारस्थान्वयः । वेदान्तेष्विति । एकपुरुषमर्द्धद्वितीयं ब्रह्म । रोदसी द्यावापृथिव्यो । अनन्यविषयस्तन्मात्रप्रतिपादकः । यथार्थाक्षरो योगार्थः । अन्तर्मेवसि नियमिताः प्राणाः प्राणायामः । आदिना ध्यानधारणादेर्ग्रहणम् । मृग्यते ज्ञायते । नान्दीलक्षणायोगादिति । अष्टपदत्वद्वादशपदत्वान्यतराभावादित्यर्थः । तथा च ‘वेदान्तेषु—’ इत्यादि रङ्गद्वारमेव, न नान्दीति । तत्र नान्दीलक्षणागमने दोषो नास्तीति भावः । ननु नान्द्याः कविकरणपक्षे नटकमत्वाभावात्कथं नाटकारम्भत्वमत आह—उक्तं चेति । ‘महर्षिणा’ इति पूर्वोक्तान्वयः । एतदनुकूलमाह—अत एवेति । तथा च यत्र नान्द्यस्ति, रङ्गद्वारं नास्ति, तत्र तन्त्रेणैव रङ्गद्वारम् । यत्र रङ्गद्वारमेवास्ति, न नान्दी, तत्र सा फलवत्यनुमेया ॥ यत्र त्वारम्भे बहवः श्लोकास्तत्र श्लोकद्वयं नान्दी । उपरे रङ्गद्वारमित्यवधेयम् । नान्द्यनन्तरं कर्तव्यमाह—पूर्वैरङ्गमिति । काव्यं

१. सूत्रेति । सूत्रं प्रयोगानुष्ठानं धारयतीति सूत्रधारः । तदुक्तम्—‘नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते । सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रपाठे निगद्यते ॥ एतत्तदुक्तमुक्तं मातृगुप्ताकार्यैः—‘सुपुरात्रोषनिष्णातोऽनेकभूषासमावृतः । नानाभाषयत्तत्त्वतो नीतिशास्त्रार्थ-व्यवस्थितः ॥ नानागतिप्रचारद्वो रसमावविशारदः । नाट्यप्रयोगनिपुणो नानादिस्वकला-

दिव्यमर्त्यं स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः ।

सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥२७॥

काव्यार्थस्य स्थापनात्स्थापकः । तद्वदिति सूत्रधारसदृशगुणा-
कारः । इदानीं पूर्वरङ्गस्य सम्यक्प्रयोगाभावादेक एव सूत्रधारः सर्वं
प्रयोजयतीति व्यवहारः । स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा, मर्त्यं
मर्त्यो भूत्वा, मिश्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत् । वस्तु
इतिवृत्तम् । यथोदात्तराघवे—

रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालमिवाज्ञां गुरो-

स्तद्वत्तया भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम् ।

तौ सुग्रीवविभीषणांबुगतौ नीतौ परामुलति

प्रोत्सिक्ता दशकंघरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विपः ॥

बीजं यथा रत्नावल्याम्—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधोर्दिशोऽप्यन्तात् ।

आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥

अत्र हि समुद्रे प्रवहणभङ्गममोत्थिताया रत्नावल्या अनुकूल-
दैवलालितो वत्सराजगृहप्रवेशो यौगंधरायणव्यापारमारभ्य रत्नावली-
ज्ञातौ बीजम् ।

काव्यार्थम् । आस्थापयेत् सभापूजादिपुरःसरे सूचयेत् । मिश्रं दिव्यादिव्यम् ।
तयोर्दिव्यादिव्ययोः ॥ वस्तुनः प्रथमोद्दिष्टत्वेन प्राधान्यात्तदेवादाय विवृणोति—
दिव्यं वस्त्विति ॥ राम इति ॥ गुरोः पितुः । तद्वत्तया रामभक्त्या ।
प्रोत्सिक्ता उद्विक्तदर्पाः । ध्वस्ता विनाशिताः । उत्तरवाक्यद्वये रामेणेति कर्तृ-

नितः ॥ हृन्दोविधानतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविचक्षणः । तच्छ्रीतानुगलयकलातालावधारणः ॥
अवधाय प्रयोक्तुं च योक्तृणामुपदेशकः । एवं गुणगणोपेतः सूत्रधारोऽभिधीयते ॥ इति ॥

२. योगार्थ इति । तथा च ईशितु शीलमस्येति 'ईश्वरः' इति योगलभ्योऽर्थः
शिवे एव घटते, नान्यत्र ॥

१. 'य' क-पुस्तके नास्ति. २. 'परा' सप्तमं सप्तम. ३. 'दुर्वृत्ता' क; 'प्रोत्सिक्ता' सप्तम.

४. 'समलक्षित' क. ५. 'वदित' य.

मुखं श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेषः । यथा —

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः

प्राप्तः अरत्समय एष विंशुद्धकान्तिः ।

उत्स्राय गाढतमसं घनकालमुग्रं

रामो दशास्थमिव संभृतबन्धुजीवः ॥

प्रात्रं यथा शैकुन्तले—

तैवासि गीतरागेण हारिणा प्रसमं हृतः ।

एष राजेव दुप्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥

रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।

रूपकस्य कवेराख्यां गोत्राद्यपि स कीर्तयेत् ॥ २८ ॥

पदमयम् ॥ श्लेषादिनेत्यादिपदेन समासोत्पन्नप्रस्तुतप्रशंसादेर्महणम् ॥ आसा-
दितेति । चन्द्रहासश्चन्द्रप्रकाशः, उद्गच्छ । कान्तिर्नवनाविज्योतिः, शोभा च ।
उत्स्राय हत्वा । तमो ध्यान्तम्, अज्ञानं च । घनकालं वर्षासमयम् । संभृतः
पुष्पपूर्णा बन्धुजीवा बन्धूका यत्र । पक्षे—संभृतो बन्धुषु समस्तदृष्टतवानरेषु
जीवो येन । अत्र नायकनामसूचनात्प्रात्रसूचनमपि संभवति । अस्य पानार्सकी-
र्णोदाहरणं यथानर्घराद्यर्थे—‘यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यगोऽपि सहायताम् ।
अपन्यानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुच्यति ॥’ अत्र पालयणां रामसाहाय्यम्,
निमीयणेन रावणस्यागद्य श्लेपेण सूचितः ॥ सारङ्गेण हरिणेन ॥ रङ्गं राजस्यता-
माजिह्वामूढम् । प्रसाद्य शीघ्रयित्वा । श्लोकेरिति बहुवचनमनिवर्तितमाचार्यं वा,

१. विंशुद्धेति । ‘विंशुद्धकान्तः’ इति पाठो रमणीयः । तथाहि—विंशुद्धो निर्मलः
कान्त उदकान्तो यत्र तादृक् । हरिर् अमरत्सोदयेन जलाशयाः प्रसाधन्त इति भावः ।
रामपक्षे—वदिप्रदेशेन विंशुद्धा कान्ता जानसी यत्नेति ॥

२. उग्रमिति । रावणपक्षे—उग्रः शिब उपास्यत्वेन दस्यास्तीति उग्रः । मत्स्यधीरो
ऽयम् । तन् ॥

३. तयास्तीति । असीत्यहमर्थकमप्ययम् ॥

४. रङ्गमिति । भवमेवायं मङ्गलान्तरेण भावप्रकाशिकायां प्रतिपादते—‘इत्थं
रङ्गविधानस्य संख्यादिमितिदये । गोत्रं नाम च कबीदारूपाबाधनं समाश्रयम् ॥
बाग्याद्यप्यः प्रथमं कलाविधिरन्तरम् । बाग्याद्या न हृदयन्ते ध्येयताः कर्त-
व्ये ॥ बाग्याद्याप्यु कवेर्नीत्याप्येवमज्ञानम् । साभिषेकमन्त्रेण स दिवा हरि-
पदे ॥ अगस्त्यं ॥ शङ्खोवादिस्त्रीदरीतिप्रकाशनम् । अभिषेकमन्त्रं कल्याण्यनासा प्रका-
शनम् ॥’ इति ॥

श्रुतं च कंचित्प्रायेण भारतीं वृत्तिमाश्रितः ।

स स्थापकः । प्रायेणेति कचिद्विद्वत्तोरकीर्तनमपि । यथा—रत्नावल्याम् ।

भारतीवृत्तिस्तु—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ॥ २९ ॥

संस्कृतबहलो वाक्प्रधानो व्यापारो भारती ।

तस्याः प्ररोचना वीथी तथा प्रहसनामुखे ।

अङ्गान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना ॥ ३० ॥

प्रस्तुताभिनयेषु प्रशंसातः श्रोतॄणां प्रवृत्त्युन्मुखीकरणं प्ररोचना ।

यथा रत्नावल्याम्—

श्रीहर्षो निपुणः कविः, परिषदध्येया गुणग्राहिणी,

लोके हारि च वत्सरजचरितं, नाट्ये च दक्षा वयम् ।

वस्त्वैकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं, किं पुन-

र्मङ्गान्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥

वीथीप्रहसने वक्ष्येते ।

नटी विदूषको वापि पारिपार्थक एव वा ।

तेन गद्यस्यापि लाभः । रूपकस्य नाट्यदेः ॥ प्रसङ्गाद्भारतीवृत्तिमाह—भार-
तीति ॥ तस्या भारत्याः । अभिनयदर्शनादौ प्रवृत्त्युन्मुखीकरणं प्रवृत्त्यौपयिके-
च्छाजननम् ॥ श्रीहर्ष इति । हारि मनोहरम् । पदं कारणम् ॥ आमुल-

१. भारतीति । ऋग्वेदोत्पन्नाया भारतीशब्देः स्वरूपं किञ्चित्परिष्कृत्योक्तं नाट्य-
शास्त्रे—‘या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या कीर्तिता संस्कृतवाक्ययुक्ता । स्वनामधेयै-
र्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु बुद्धिः ॥’ इति ॥

२. प्रशंसात इति । प्रशंसाया देविध्यमाश्रितं सुधाकरे—‘प्रशंसा तु दिवा देवा
चेतनाचेतनाश्रया । चेतनास्तु कथानाथकविचम्पनटाः स्मृताः । अचेतनो देशकाली
कालो मधुशरन्मुखः ॥’ इति ॥

३. नटीति । नट इत्युचितम् । ‘तस्मात्किञ्चिद्नो नटः’ इति वृत्तिदर्शनात् ।
मन्दारमरन्दे तु नट्या अपि ग्रहणम् । तथा च तदावयम्—‘नटी विदूषको वापि
नटो वा पारिपार्थकः ।’ इति । एव च नट इति पाठे नटी, नटीति पाठे नट इति
स्वरसाहम्यते । ‘नटी’ श्लोकशेषपाठस्तु निर्मूलः । तथा व्युत्क्रमेऽपि सप्तधारसप्त-
मिणी न लभ्यत इति महद्देशम्यम् ॥

सूत्रधारैर्ण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥ ३१ ॥

चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।

आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ॥ ३२ ॥

सूत्रधारसदृशत्वात्स्वापकोऽपि सूत्रधार उच्यते । तस्यानुचरः
पारिपार्श्वकः । तस्मात्किञ्चिदूनो नटः ।

उद्धात्य(त)कः कथोद्धातः प्रयोगातिशयस्तथा ।

प्रवर्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः ॥ ३३ ॥

तत्र—

पदानि त्वगतार्थानि तदर्थगतये नराः ।

योजयन्ति पदैरन्यैः स उद्धात्य(त)क उच्यते ॥ ३४ ॥

यथा मुद्राराक्षसे सूत्रधारः—

“कूरुग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसंपूर्णमण्डलमिदानीम् ।

माह—नटीति । विदूषक उल्लक्षणकः । संलापं सम्परमापणम् । स्वकार्योत्थै-
रिति । स्वकार्यं पात्रप्रवेशस्तदुपयुक्तेरित्यर्थः । प्रस्तुताक्षेपिभिः प्रस्तुतसूचकैः ॥
आमुखमेदानीह—उद्धात्यक इति ॥ पदानीति । अप्रसिद्धतया अगतोऽप्र-
तीतोऽभिप्रेतार्थो येभ्यस्तानि । तदर्थगतये अभिप्रेतार्थबोधाय । योजयन्ति
अभिप्रेतार्थं संक्रमयन्ति । अन्यैरभिप्रेतार्थमात्रप्रतिपादकैः ॥ कूरोऽनिष्टफल-

१. प्रस्तावनेति । सुधाकरे सदृष्टान्तमुक्तम्—‘विवेचयेव संकल्पो मुखतां
प्रतिपद्यते । प्रधानस्य प्रबन्धस्य तथा प्रस्तावना मता ॥’ इति ॥

२. उद्धात्यक इति । दशरूपके तु—‘गूढार्थपदपर्यावमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ।
यत्रान्योन्यं समालापो द्वेभोद्धात्यं तदुच्यते ॥’ इति उल्लक्षणमुक्तम् । गूढार्थं यदं तत्पर्या-
यबोलेवं माला, प्रश्नोत्तर चेत्येवं वा माला । द्वयोरेकप्रत्युक्तौ तद् द्विविधमुद्धात्यकम् ।
तत्रायं विक्रान्तोर्वक्ष्यां यथा—‘विदूषकः—भो वयस्स, को पत्तो कामो जेष तुमं
पि दूमिजसे । सो किं पुरितो आतु इत्थिअचि । राजा—सखे, मनोजातिरनाधीना
सुखेयेव प्रवर्तते । खेहस्य ललतो मार्गः काम इत्यभिधीयते ॥ विदूषकः—एवं पि
न जाणे । राजा—यवस्य, इच्छाप्रभवः सः । विदूषकः—किं जो जं इच्छदि
सो ॥ कामेदिचि । राजा—अय किम् । विदूषकः—अ जाणिदं जइ अइं सूअ-
रसालाप मोअणं इच्छामि ।’ द्वितीयं यथा पाण्डवानन्दे—‘का खाद्या गुणिनां क्षमा,
परिभवः को यः स्वकुल्यैः कृतः, किं दुःखं परसंशयो, जगति कः श्लाघ्यो य आश्री-
यते । को मृत्युर्म्यसन्नं, शुचं जहति के येनिर्विण्णः शत्रवः, केविहावमिदं विराटनगरे
चन्द्रप्रसितेः पाण्डवैः ॥’

३. शूरेति । सकेतुः सभातः कूरुग्रहो राहुः इदानीमसंपूर्णमण्डलम् अपरिपूर्ण-

अभिभवितुमिच्छति बलात्—'

इत्यनन्तरम्—'(नेपथ्ये ।) आः, क एष मयि जीवति चन्द्रगुप्तमभि-
भवितुमिच्छति ।', इति ।

अत्रान्यार्थवन्त्यपि पदानि हृदयस्थार्थागत्या अर्थान्तरे संक्रम्य
पात्रप्रवेशः ।

सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा ।

भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत्कथोद्धातः स उच्यते ॥ ३५ ॥

वाक्यं यथा रत्नावल्याम्—'द्वीपादन्यस्मादपि—'इत्यादि (२८१५.)
सूत्रधारेण पठिते—'(नेपथ्ये ।) एवमेतत् । कः संदेहः । द्वीपादन्यस्मा-
दपि—'इत्यादि पठित्वा यौगंधरायणस्य प्रवेशः ।

वाक्यार्थो यथा वेण्याम्—

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां

नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।

दायी । स प्रसिद्धः । अत्र चन्द्रपदस्य चन्द्रगुप्तपदयोगेन क्रूरप्रहादिपदानामभिप्रे-
तार्थप्रत्ययो भवति । तथाहि—क्रूरो ग्रह आशयो यस्य सः । चन्द्रं चन्द्रगुप्तम् ।
(अ)संपूर्णं मण्डलं राज्यचक्रं यस्य । अर्थवन्त्यपि अभिप्रेतार्थप्रतीतियोग्या-
न्यपि । हृदयस्थार्थागत्या अभिप्रेतार्थाप्रत्ययेन उपलक्षितानि । समादाय
कथयित्वा । अस्य सूत्रधारवाक्यस्य ॥ निर्वाणेति । अरीणां दुर्योधनादीनाम् ।

विश्वं चन्द्र बलात् हठात् अभिभवितुमाक्रमितुमिच्छति प्रवर्णीभवति । किटार्थस्तु—
सकेतुः मलयकेतुना सह । क्रूरे कर्मणि कृद्व्यवहारे ग्रह आसक्तो यस्य तादृशः ।
अमाल्यराक्षस इत्यर्थः । इदानीमसंपूर्णमण्डलमखिरराज्याभिविक्ततया, अम्माइताज्ञाभावेन
अस्वाधीनप्रकृतिमण्डलं चन्द्र चन्द्रगुप्त बलात् बल सामर्थ्यं मित्रादिसैन्य वा आश्रित्य
अभिभवितु पराभवितुमिच्छति । 'बलात्' इति स्व्यञ्जोपे पञ्चमी । यत्नेन चन्द्रगुप्तं
प्रति समलयेकैतोरमाल्यराक्षसाद्भयभाशङ्कमानस्य चाणक्यस्य प्रवेशः । तुरीयपादस्तु
'रक्षणेन तु बुधयोगः' बुधेन सह चन्द्रस्य योगः यत्नं चन्द्र रक्षति ग्रहाद्वारयति ।
तथा चोक्तं गर्गैः—'पञ्चग्रहसमायोग इष्टा सौम्यविवर्जितम् । ग्रहणं तु वदेत्त्र
सबुध न ग्रह वदेत् ॥' इति । वस्तुतस्तु गणितगोलविरुद्धत्वाच्चिन्त्यमेतत् । किटार्थस्तु—
बुधश्चाणक्यः, तद्योगः क्रियाकौशल्येन चन्द्रगुप्तं रक्षतीति तदर्थः ॥

१. कथोद्धात इति । काव्येन्दुप्रकाशे तु—'हृदिसानामर्थवतां पदानामन्य-
थाकृतेः । यः पात्रस्य प्रवेशः स्यात्तु कथोद्धात इष्यते ॥' इति समाश्रितम् । तत्र

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च

स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥

इति सूत्रधारेण पठितस्य वाक्यस्यार्थं गृहीत्वा—‘(नेपथ्ये ।) आः कुरुरात्मन्, वृथा मङ्गलपाठक, कथं ‘स्वस्था भवन्तु’ मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ।’ ततः सूत्रधारनिष्क्रान्तौ भीमसेनेस्य प्रवेशः ।

यदि प्रयोग एकस्मिन्प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते ।

तेन पात्रप्रवेशश्चेत्प्रयोगातिशयस्तदा ॥ ३६ ॥

यथा कुन्दमालायाम्—‘(नेपथ्ये ।) इत इतोऽवतरत्वार्या । सूत्रधारः—कोऽयं खल्वार्याह्वानेन साहायकमपि मे संपादयति । (विलोक्य ।) कष्टमतिकरुणं वर्तते ।

लङ्केश्वरस्य भवने सुचिरं स्थितेति

रामेण लोकपरिवादमयाकुलेन ।

निर्वासितां जनपदादपि गर्भगुर्वी

सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम् ॥

अत्र नृत्यप्रयोगार्थं स्वभार्याह्वानमिच्छतां सूत्रधारेण ‘सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम्’ इति सीतालक्ष्मणयोः प्रवेशं सूचयित्वा निष्क्रान्तेन स्वप्रयोगमतिशयान एव प्रयोगः प्रयोजितः ।

प्रशमात् शान्त्यवलम्भात् । रक्तेन अनुरागेण प्रसाधिता वशीकृता भूर्यस्ते । क्षतविग्रहा भ्रमकलहाः । कुरुराजसुता धार्तराष्ट्राः । द्वितीयार्थस्तु—अरीणां प्रशमात् मरणात् । रक्तैः रुधिरैः प्रसाधिता मण्डिता भूर्यैः । क्षतविग्रहा विक्षतशरीराः । स्वस्थाः पारलौकिकसुखेन तृप्ताः । अत्र सूत्रधारवाक्यस्य कुरुराजसुतपदार्थमादाय पात्रस्य भीमस्य प्रवेशः । आर्याह्वानेन सूत्रधारभार्याह्वानेन ॥

पदमङ्गरूपमवमङ्गरूपमिति द्विविधमन्ययाकरणम् । जाघस्य ‘क्षीपादन्यसात्—’ इत्युदाहरणम् ; द्वितीयस्य तु ‘निर्वाणवैरिदहनाः—’ इति ॥

१. स्वस्था इति । स्वस्थाः स्वगंस्था इति पद्ये ‘खड्गे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः’ इति वाक्यिकेन विसर्गलोपे न वैकल्प्यम् ॥

२. प्रयोगेति । दशरूपकादौ तु—‘एवोऽयमित्युपदेपात्पञ्चभारप्रयोगतः । पात्रप्रवेशो यत्रैव प्रयोगातिशयो मतः ॥’ इत्युक्तम् । ‘एष राजैव दुष्यन्त’ इत्युदाहृतं च ॥

कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत् ।

तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवर्तकम् ॥ ३७ ॥

यथा—‘आसादितप्रकट—’ इत्यादि (२८२ पृ.) । (‘ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो रामः ।’)

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्रप्रसाध्यते ।

प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाङ्गावलगितं बुधैः ॥ ३८ ॥

यथा शाकुन्तले—सूत्रधारो नटीं प्रति । ‘तवासि गीतरागेण—’ (२८२ पृ.) इत्यादि । ततो राज्ञः प्रवेशः ।

योज्यान्यत्र यथालाभं वीध्यङ्गानीतराण्यपि ।

अत्र आमुखे । उद्धृत्य(त)कावलगितयोरितराणि वीध्यङ्गानि वक्ष्यमाणानि ।

नखकुङ्कुस्तु—

नेपथ्योक्तं श्रुतं यत्र त्वाकाशवचनं तथा ॥ ३९ ॥

प्रवृत्तं वर्तमानम् । तदाश्रयः प्रवृत्तमलवर्णनासूचितः । यथानिर्दिष्टः प्रकटनिर्मलचन्द्रहासधरः ॥ एकत्रेति । प्रयोग इत्यनेनान्वितम् । समावेशात्साह-
स्योद्भावनात् । कार्यं पात्रप्रवेशरूपम् । प्रसाध्यते सूच्यते ॥ यथालाभं यथा-
संभवम् । पद्यस्यैव वीध्यङ्गानि । उद्धृत्यावलगितयोरेव इतराणि । एषामुद्धा-

१. अवलगितमिति । दशरूपके तु—‘यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्रप्रसाध्यते । प्रस्तुतेऽन्यत्र वान्यत्सात्तथावलगितं द्विधा ॥’ इत्युक्तम् । तत्राद्यं यथोत्तरचरिते समुत्प-
न्नवनविहारगर्भदोहदायाः सीताया दोहदकार्ये अनुप्रविश्य जनापवादादरण्ये त्यागः ।
द्वितीयं यथा छलितरामे—‘रामः—छद्मण, तातविश्रुतामयोध्या विमानसो नाहं प्रवेष्टुं
शक्नेमि । तदवतीर्य गच्छामि । कोऽपि सिंहासनस्थाधःस्थितः पादुकयोः पुरः । जटा-
वानक्षमाला च चामरी च विराजते ॥’ इति भरतदर्शनकार्येतिदिः । मन्दरमरन्देऽ-
प्युक्तम्—‘अन्वकार्पमिषादन्वकार्पस्य करणं तथा । द्विधावलगितं त्वन्वकार्पाद्यं स्थाव-
साधनम् ॥’ इति । काव्येन्दुप्रकाशे तु—‘यः पात्रस्य प्रवेशस्तद्वलितं चान्यवर्णनात्’
इति विशेषोऽभिहितः । अन्यपदावैवर्णनेन पात्रप्रवेशो वलितमिति तदर्थः । प्रवृत्तकालवर्ण-
नानुरूपपात्रप्रवेशलक्षणत्ववर्तकतो यत्किञ्चिद्वर्णनात्पात्रप्रवेशरूपवलितस्य भेदः स्पष्ट एव ॥

२. नेपथ्येति । नेपथ्यं जवनिका तत्रोक्तम् । ‘नेपथ्यं स्वाञ्जवनिका रङ्गभूमिः
प्रसाधनम्’ इत्यजयः ॥

समाश्रित्यापि कर्तव्यमामुखं नाटकादिषु ।
 एषामामुखभेदानामेकं कंचित्प्रयोजयेत् ॥ ४० ॥
 तेनार्थमथ पात्रं वा समाक्षिप्यैव सूत्रधृक् ।
 प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रयोजयेत् ॥ ४१ ॥

वस्तुत्वितिवृत्तम् ।

इदं पुनर्वस्तु बुधैर्द्विविधं परिकल्प्यते ।
 आधिकारिकमेकं स्वात्प्रासङ्गिकमथापरम् ॥ ४२ ॥
 अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
 तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते ॥ ४३ ॥

फले प्रधानफले । यथा बालरामायणे रामचरितम् ।
 अस्योपकरणार्थं तु प्रासङ्गिकमितिष्यते ।

अस्याधिकारिकेतिवृत्तस्य उपकरणनिमित्तं , यच्चरितं तत्प्रासङ्गिकम् । यथा सुग्रीवादिचरितम् ।

पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि ॥ ४४ ॥
 इह नाट्ये ।

यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।
 आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥ ४५ ॥

तद्वेदानाह—

सहसैवार्थसंपत्तिर्गुणवत्युपचारतः ।
 पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम् ॥ ४६ ॥

त्यकादीनाम् । तेन प्रयुक्तामुखभेदेन । अर्थं वस्तु । समाक्षिप्य सूचयित्वा ।
 ततः सूत्रधारमनानन्तरम् ॥ अधिकारिज्ञानं तावदाधिकारिकज्ञानजनकम् । तत्रा-
 धिवारज्ञानाधीनमित्यधिकारं निरूपयति—अधिकार इति । तत्प्रभुः फल-
 स्वाम्यवान् । तस्याधिकारिणः ॥ प्रसङ्गेन निर्वृत्त प्रासङ्गिकम् ॥ पताकास्थान-
 नाह—अर्थे प्रयोजने । तल्लिङ्गस्वत्सधर्मा । प्रयुज्यते कियते । आगन्तुकेन
 अनभिसहितेन । भावेन पदार्थेन ॥ सहसा अतर्कितकारणेन । अर्थसंपत्तिः

१. प्रासङ्गिकमिति । अनुपपन्नम् ॥

१. 'तस्य' च.

यथा रत्नावल्याम्—‘वासवदत्तेयम्’ इति राजा यदा तत्कण्ठपाशं मोचयति तदा तदुक्त्या ‘सागरिकेयम्’ इति प्रत्यभिज्ञाय ‘कथम् । प्रिया मे सागरिका ।

‘अलमलमतिमात्रं साहसेनामुना ते,
त्वरितमयि । विमुञ्च त्वं लतापाशमेतम् ।

चलितमपि निरोद्धुं जीवितं जीवितेशे !

क्षणमिह मम कण्ठे बाहुपाशं निधेहि ॥’

इति फलरूपार्थसंपत्तिः पूर्वापेक्षयोपचारातिशयाद्गुणवस्युत्कृष्टा ।

वचः सातिशयं श्लिष्टं नानाबन्धसमाश्रयम् ।

पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥ ४७ ॥

यथा वेण्याम्—

(रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च

स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः समृत्याः ॥)

अत्र रक्तादीनां रुधिरशरीरार्थहेतुकस्लेषवशेन बीजार्थप्रतिपादनाभेदे-
मङ्गलप्रतिपत्तौ सत्यां द्वितीयं पताकास्थानम् ।

प्रयोजनान्तरापत्तिः । उपचारतः प्रीत्यनुकूलव्यापारात् ॥ वासवदत्तेयमि-
तीति । वासवदत्तारूपधारिणी सागरिका संकेतं प्राप्ता, वासवदत्तया तद्विज्ञात-
मिति सागरिका वासवदत्तापरिभवभवेन गळे पाशं दत्त्वा तत्रैव मर्तुमारब्धा,
इति राज्ञः सागरिकायां वासवदत्ताभ्रमः । तदुक्त्या सागरिकोक्त्या । अत्र वास-
वदत्ताया अनुनयपूर्वकं सुरतं राज्ञोऽभिप्रेतम् । तदन्यस्याः सागरिकाया अनुनय-
पूर्वकसुरतस्यानुष्ठानम् । वासवदत्ता रथेति विद्वलचित्तेन राज्ञा सागरिकाप्राप्तिरूपं
कारणं तत्सर्कितं फलं सागरिकासुरतम् । पूर्वापेक्षया पूर्वसुरतस्वरूपापेक्षया ॥
नानाबन्धो विविधविशेषणसंबन्धः, तत्समाश्रयं तद्विषयकम् ॥ रक्तेति ।
सूत्रधारवचनमिदं रोषाद्रीमेनानूक्तम् । अत्र सामान्यलक्षणं संगमयति—अत्रेति ।
रक्तादीनां रक्तादिपदानाम् । आदिना प्रसाधितविग्रहपदयोर्ग्रहणम् । रुधिर-

१. साहसेनेति । साहसेन प्राणत्यागरूपेणेत्यर्थः ॥

२. लतापाशमिति । प्राणत्यागार्थं गृहीतमेतं पुरोवर्तिनं लतापाशम् ॥

३. चलितमपीति । गन्तुं प्रवृत्तमपि ॥

४. जीवितेशे इति । ‘जीवितेशे’ इत्यामन्प्रणम् । प्राणत्यामिनीति तदर्थः ॥

१. ‘उत्कृष्टा’ क. २. ‘मङ्गलप्रतिपत्तौ’ क.

अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत् ।

श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते ॥ ४८ ॥

लीनमव्यक्तार्थम्, श्लिष्टेन संबन्धयोग्येनाभिप्रायान्तरप्रयुक्तेन प्रत्युत्तरोपेतम्, सविनयं विशेषनिश्चयप्राप्त्या सहितं संपाद्यते यत्तत्तृतीयं पताकास्थानम् ।

यथा वेण्यां द्वितीयेऽङ्के—‘कञ्चुकी—देव, भग्नम् । राजा—केन । कञ्चुकी—भीमेन । राजा—कस्य । कञ्चुकी—भवतः । राजा—आः, किं प्रलपसि । कञ्चुकी—(समयम् ।) देव, ननु ब्रवीमि । भग्नं भीमेन भवतः । राजा—धिगू वृद्धापसद, कोऽयमद्य ते व्यामोहः—कञ्चुकी— देव, न व्यामोहः । सत्यमेव ।

‘भग्नं भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम् ।

पतितं किङ्किणीकाणबद्धारुन्दमिव क्षितौ ॥

अत्र दुर्योधनोरुमङ्गरूपप्रस्तुतसंक्रान्तमर्थोपक्षेपणम् ।

द्वयर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः ।

प्रधानार्थान्तराक्षेपी पताकास्थानकं परम् ॥ ४९ ॥

शरीरेति । अनयोर्मध्ये गण्डनमिति बोध्यम् । भीमनोषोपचितो बुधिष्ठिरोरसाहो घीजम्, तस्यार्थं प्रयोजनं क्षत्रमारणम् । प्रधानफलमिति यावत् । तस्य प्रतिपादनात्सूचकात् । नेष्टमङ्गलप्रतिपत्तौ नायकमङ्गलानुष्ठाने । तथा च प्रतिनायकमङ्गले चिन्तिते अप्रतिपत्तिषहितेन प्रधानफलसूचनेन नायकमङ्गलानुष्ठानमिति द्वितीयं पताकास्थानकमिदमिति भावः । अर्थोपक्षेपकमिति । वक्ष्यमाण-सिक्कम्भकान्यतममित्यर्थः । संबन्धयोग्येन प्रस्तुतान्ययोपयुक्तेन । अशिप्रायान्तरप्रयुक्तेन अप्रस्तुतबोधाभिप्रायेण प्रयुक्तेन ॥ भग्नमिति वर्नादीनामव्यक्तत्वम् । भीमेनेति । भवत इति च प्रस्तुते ऊष्टमङ्गेऽप्यन्वययोग्यम् । मरुतेत्यादि विशेषनिश्चयः । अत्र रथकेतनमङ्गलनिवेदनमभिमतम्, ऊष्टमङ्गलनिवेदनमुपपन्नम् । एतदेवोपपादयति—दुर्योधनेति । संक्रान्तं पर्यवसन्नम् ॥ सुश्लिष्टः सुसूचकः । काव्ययोजितः, न तु सामान्यन्तरतया काव्यप्रयोगा

१. किङ्किणीति । किङ्किणी शुद्रघण्टिका तस्याः कोणेन बद्धो ज्वित आकन्द-कन्दन येन तद्विव ॥

यथा रत्नावल्याम्—

‘उद्दामोत्कलिकाविषाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणाः—

दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।

अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं

पश्यन्कोपविषाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥’

अत्र भाव्यर्थः सूचितः । एतानि चत्वारि पताकास्थानानि कचिन्म-
ङ्गलार्थं कचिदमङ्गलार्थं सर्वसंधिषु भवन्ति । काव्यकर्तुरिच्छावशाद्भूयो-
भूयोऽपि भवन्ति । यत्पुनः केनचिदुक्तम्—‘मुखसंधिमारभ्य संधिचतुष्टये
क्रमेण भवन्ति’ इति, तदन्ये न मन्यन्ते । एषामत्यन्तमुपादेयानामनिय-
मेन सर्वत्रापि सर्वेषामपि भवितुं युक्तत्वात् ।

यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा ।

विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥ ५० ॥

अनुचितमिति वृत्तं यथा—रामस्य च्छद्मना बालिवधः । तच्चोदात्तरां-

योग्यः । प्रधानं फलमेव अर्थान्तरं तदाक्षेपी तत्सूचकः ॥ उद्दामेति । उत्क-
टाभिरुद्गताभिः कलिकाभिर्विषाण्डुररुचम् । पक्षे—उत्कटोत्कण्ठया विषाण्डुररुचम् ।
‘उत्कण्ठोत्कलिके समे’, इत्यमरः । प्रारब्धजृम्भां प्राप्तप्रायप्रकाशाम् । पक्षे—
विरहक्षीणतया लब्धजृम्भां । आयासमितस्ततो विक्षेपः, खेदं च । श्वस-
नस्य वायोः, निश्वातस्य च । उद्गमैरविरलैः, घनैर्वा । आतन्वतीं कुर्वतीम्, सूच-
यन्तीं च । भदनेन वृक्षविशेषेण, कामेन च सहिताम् । देव्या दासवद-
त्तायाः । यथा विरहक्लिष्टसागरिकादर्शनेन तस्यां क्रोधस्तथोद्यान(लता)दर्शनकृत-
कालविलम्बेनापीति भावः । अत्र भावी विरहक्लिष्टसागरिकासगमः प्रधानमर्थः
सूचितः । द्वितीये श्लेषवशेनैव प्रधानार्थसूचनम् । अत्र तु न तथेति मेदः । अत्र
सागरिकाप्रसादे चिन्तिते देव्याः प्रसादोऽनुष्ठेयप्राय इति सामान्यलक्षणगमनम् ॥
अन्यथा उचितं यथा भवति तथा पुराणादिविरुद्धमपि स्वेच्छया कल्पयेत् ।

१. अन्यथा वेति । अत एव ध्वन्यालोके—‘अपारे कान्यसंसारे कविरेव प्रजा-
पतिः । यथासौ रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥ शृङ्गारी चेतकविः कान्ये जातं रसमयं
जगत् । स एव चैतरागश्रेष्ठीरस सर्वमेव तत् ॥ भावानचेतनानपि चेतनवचेतनानचेत-
नवत् । व्यवहारयति यथेष्टं शुकविः कान्ये स्वतन्त्रतया ॥’ इत्यादि राज्ञानकानन्दवर्ध-
नाचार्यैः प्रतिपादितम् ॥

धवे नोक्तमेव । 'वीरचरिते तु वाली रामवधार्थमागतो रामेण' इत
इत्यन्यथा कृतः ।

अङ्केष्वदर्शनीया या वक्तव्यैव च संमता ।

या च स्याद्वर्षपर्यन्तं कथा दिनद्वयादिजा ॥ ५१ ॥

अन्या च विस्तरा सूच्या सार्थोपक्षेपकैर्बुधैः ।

अङ्केषु अदर्शनीया कथा युद्धादिकथा ।

वर्षादूर्ध्वं तु यद्वस्तु तत्स्याद्वर्षादधोभवम् ॥ ५२ ॥

उक्तं हि मुनिना—

'अङ्कच्छेदे कार्ये मासकृतं वर्षसंचितं वापि ।

तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित् ॥'

एवं च चतुर्दशवर्षव्यापित्यपि रामवनवासे ये ये विराधवधादयः
कथांशास्ते ते वर्षवर्षावयवदिनयुग्मादीनामेकतमेन सूचनीया न विरुद्धाः ।

दिनावसाने कार्यं यदिने नैवोपपद्यते ।

अर्थोपक्षेपकैर्वाच्यमङ्कच्छेदं विधाय तत् ॥ ५३ ॥

के तेऽर्थोपक्षेपका इत्याह—

अर्थोपक्षेपकाः पञ्च विष्कम्भकप्रवेशकौ ।

चूलिकाङ्कावतारोऽथ स्यादङ्कमुखमित्यपि ॥ ५४ ॥

अदर्शनीया निपिद्धा । वक्तव्यैव ध्वन्यं वक्तव्या । अनावश्यकत्वेन संमता
वस्तुरमीद्या च । दिनद्वयादिजा दिनद्वयादिनिर्वर्त्ता 'नानेकदिननिर्वर्त्यकथया
संप्रमोजितः' इत्यनेन (२७५ पृ.) तस्य अङ्के निपिद्धत्वेऽपि 'वर्षपर्यन्तम्' इति
नियमार्थं धृष्टगुपादानम् । अन्या एकदिननिर्वर्त्ता । विस्तरा अतिबहुला ।
तस्या अपि 'नातिविस्तरः' इत्यनेनाङ्के निपिद्धत्वात् । अर्थोपक्षेपकैर्वैयर्थ्या-
विष्कम्भकादिभिः । वर्षादूर्ध्वं वर्षातिरिक्तकालनिर्वर्त्तं यद्वस्तु तद्वर्षादधोभवं
वर्षाभ्यन्तरनिर्वर्त्तं यथा स्यात्तथा कल्पयेदित्यर्थः ॥ अङ्कच्छेदे विष्कम्भकादौ ।
एवं च वर्षादूर्ध्वमिति प्रतिप्रसवाभिधाने च । दिनावसान इति । एकदिन-
निर्वर्त्तमपि यदिनावसानकार्यं समग्रदिननिर्वर्त्तं तदपि विष्कम्भकादिभिर्वाच्य-

१. सेति । सा सर्वा सूच्या सूचनीया ।

१. 'सुमीववीरचरिते तु' घ. २. 'विस्तरा' क ख-घ. ३. 'इत्यङ्कच्छेदमाह' घ. ४. 'यद्'-
इत्यादि-निर्वर्त्तं' इत्यन्तं पुलकान्तरे नास्ति. ५. 'विष्कम्भादिकथयम्' पुलकान्तरे.

वृत्तवर्तिप्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः । ✓

संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥ ५५ ॥

मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः ।

शुद्धः स्यात्स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥ ५६ ॥

तत्र शुद्धो यथा—मालतीमाधवे श्मशाने कपालकुण्डला । संकीर्णो
यथा—रामाभिनन्दे क्षणककापालिकौ ।

अथ प्रवेशकः—

प्रवेशकोऽनुदात्तोत्तया नीचपात्रप्रयोजितः ।

अङ्कद्वयान्तविन्नेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥ ५७ ॥

अङ्कद्वयस्यान्तरिति प्रथमाङ्केऽस्य प्रतिषेधः । यथा—वेण्यामश्वत्था-
माङ्के राक्षसमिथुनम् ।

अथ चूलिका—

अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका ।

यथा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ—(नेपथ्ये) । ओ ओ वैमानिकाः,

मित्यर्थः ॥ वृत्तानामतीतानां वर्तिप्यमाणानामागमिनाम् । कथांशानामवा-
न्तर्यानां निदर्शको ज्ञापकः रूपकांशविशेषः । मध्येन मध्यमेन । कपालकु-
ण्डलादिविलक्षणपात्रदर्शनेनैतत्प्रयुक्तविष्कम्भकवैलक्षण्यदर्शनं भवतीति भावः ।
अनुदात्तोत्तया नीचोत्तया नीचेनैव नीचाभ्यां वा पात्राभ्यां प्रयोजितः । एवं
कारणसंकीर्णविष्कम्भकस्युदासः । शेषं 'वृत्तवर्तिप्यमाण-' इत्यादिविशेषणं विष्क-
म्भकवदत्र होयम् । प्रथमाङ्के, कर्तव्ये प्रथमाङ्कादावित्यर्थः । अस्य प्रवेशकस्य ।
अत्रापि पात्रवैलक्षण्यदर्शनेन विष्कम्भकस्य वैलक्षण्यं दर्शितम् ॥ जवनिका नटानां

१. मध्येनेति । नास्त्युच्चनीचं पार्श्वं मध्यमित्युच्यते ॥

२. गीचेति । अयमत्र निष्कर्षः—शुद्धसंकीर्णभेदेन द्विविधो विष्कम्भकः । तत्रैक-
द्विमध्यमपात्रप्रयुक्तः संस्कृतात्मकः शुद्धः, मध्यमनीचपात्रप्रयुक्तः संस्कृतप्राकृतात्मकः
संकीर्ण इति ॥

३. चूलिकेति । अत्र विशेषः कान्येन्दुप्रकाशे—'अनिर्गताप्रविष्टश्च नेपथ्यान्तर्गतै-
स्तथा । प्रयोजिता मध्यपात्रैः सूचिका चूलिका भवेत् ॥ कर्तव्याचेतराद्देव स्यादादौ मध्य
एव वा । सा खण्डाखण्डभेदेन द्विविधा परिकीर्तिषा ॥ आपान्तः स्याद्विदीया तु
सप्रवेशविनिर्गमा ॥' इत्यां प्रवेशविनिर्गमौ प्रत्यक्षसिद्धौ साङ्ख्यद्विभूता द्वितीया चूलिका ॥

१. 'च' इत्यधिकं च पुलके. २. इतोऽग्रे 'पात्रैः सूचिता', अथाङ्कान्तरम्' इत्यधिकं च-पुलके.

३. 'पात्र' इति नास्ति पुष्पाक्षन्ते.

प्रवर्तन्तां रत्नमङ्गलानि ।' इत्यादि । 'रामेण परशुरामो जितः ।' इति नेपथ्ये पात्रैः सूचितम् ।

अथाङ्कावतारः—

। अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः ॥ ५८ ॥

यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः ।

यथा अभिज्ञाने पञ्चमाङ्के पात्रैः सूचितः पष्ठाङ्कस्तदङ्कस्याङ्गविशेष इवावतीर्णः ।

अथाङ्कमुखम्—

यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नङ्कानां सूचनाखिला ॥ ५९ ॥

तदङ्कमुखमित्याहुर्धीजार्थख्यापकं च तत् ।

यथा—मालतीमाधवे प्रथमाङ्कादौ कामन्दक्यबलोकिते मूरिवसु-
प्रभृतीनां भाविभूमिकानां परिक्षिप्तकथाप्रबन्धस्य च प्रसङ्गात्संनिवेशं
सूचितवत्यौ ।

अङ्कान्तपात्रैर्वाङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ॥ ६० ॥

अङ्कान्तपात्रैरङ्कान्ते प्रविष्टैः पात्रैः । यथा वीरचरिते द्वितीया-
ङ्कान्ते—(प्रविश्य ।) सुमन्त्रः—भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ भवतः
सभार्गवानाह्वयतः । इतरे—क भगवन्तौ । सुमन्त्रः—महाराजदशर-
थस्यान्तिके । इतरे—तत्तत्रैव गच्छावः' इत्यङ्कपरिसमाप्तौ । (ततः
प्रविशन्नुपनिष्टा वसिष्ठविश्वामित्रपरशुरामाः ।)' इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन
सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथाविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यम्,

वैपस्थानम् । अङ्कानामङ्गनिबन्धनीयवस्तूनां यत्केवलं धीजार्थस्य ख्यापनं सूचनं
तदप्यङ्कमुखम् । भूमिका वैपरचना । परिक्षिप्तेति आकाङ्क्षेत्यर्थः ॥ प्रकाशान्तरे-
णाङ्कमुखमाह—अङ्कान्तेति । छिन्नाङ्कस्य भिन्नाङ्कस्य विप्लवकस्य । प्रथमा-

१. अङ्कावतार इति । मुनिनाप्येवोपनिष्ठाध्याये उक्तम्—'अङ्कान्तरेऽपवाङ्के निपतति
यस्मिन्प्रयोगमात्राय । धीजार्थं वृत्तिवृत्तो वेयो अङ्कावतारोऽसौ ॥' इति ॥

२. अङ्केति । मुनिरप्याह—'विच्छिद्युत्तमङ्कस्य छिया वा पुरुषेण वा । यदुपविश्यते
पूर्वं तदङ्कमुखमुच्यते ॥' इति ॥

इति । एतच्च धनिकमर्तानुसारेणोक्तम् । अन्ये तु—‘अङ्गावतरणेनैवेदं गतार्थम्’ इत्याहुः ।

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तु विस्तरम् ।

यदा संदर्शयेच्छेषमामुखानन्तरं तदा ॥ ६१ ॥

कार्यो विष्कम्भको नाढ्य आमुखाक्षिप्तपात्रकः ।

यथा—रत्नावल्यां यौगंधरायणप्रयोजितः ।

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥ ६२ ॥

आदावेव तदाङ्गे स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ।

यथा—शाकुन्तले ।

विष्कम्भकाद्यैरपि नो वधो वाच्योऽधिकारिणः ॥ ६३ ॥

अन्योन्येन तिरोधानं न कुर्याद्रसवस्तुनोः ।

रसः शृङ्गारादिः । यदुक्तं धनिकेन—

‘न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ।

रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलंकारलक्षणैः ॥’ इति ।

धीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ॥ ६४ ॥

अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि ।

अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतवः ।

तत्र बीजम्—

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ॥ ६५ ॥

ज्ञादापि कर्तव्यतामाह—अपेक्षितमिति । आकृष्टितमित्यर्थः । परित्यज्य विच्छिद्य । शेषं सरसं वस्तु । आमुखानन्तरं प्रस्तावनानन्तरमेव । आमुखाक्षेपसंश्रयः आमुखाक्षितः । विष्कम्भकाद्यैरपीत्यर्थः । अधिकारिणः प्रधानफलप्रभो ॥ वस्त्वलंकारलक्षणैः वस्त्वलंकारस्वरूपे ॥ यदुधा विसर्पति

१. विष्कम्भकाद्यैरिति । यदुक्तं महर्षिणाष्टादशाध्याये—‘अद्वे प्रवेशके वा प्रकरमाश्रित्य नाटके वाति । न वधः कर्तव्यः स्थापयन् स नायकः क्वात्र ॥ अवतरणेनैव कार्यं संश्रयो प्रहमेव वा नित्यम् । यदुभिः कार्यभिशेके, प्रवेशके एवादेश्यते ॥’ इति ॥

फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते ।

यथा—रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुर्देवानुकूल्यलालितो यौगंधरायणव्यापारः । यथा वा—वेण्यां द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीम-
सेनक्रोधोपचितो युधिष्ठिरोत्साहः ।

अंवान्तरार्थविच्छेदे विन्दुरच्छेदकारणम् ॥ ६६ ॥

यथा—रत्नावल्यामनङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सति 'उद-
यनस्येन्दोरिवोद्दीक्षते' इति सागरिका श्रुत्वा '(सहर्षम् ।) कथं एसो सो
उदअणणरिन्दो' इत्यादिरवान्तरार्थहेतुः ।

व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते ।

सहकारियोगेनोपचितं सद्भिविधावान्तरकार्याणि जनयति । फलस्य प्रधानफलस्य ।
प्रथमः प्रधानम् ॥ देवानुकूल्यलालितो देवानुगुण्योपचितः ॥ द्रौपदीकेश-
संयमनं प्रधानफलम् । शत्रुवधादीन्यवान्तरफलाणि ॥ उद्भेदकारणमनन्तरोत्थाप-
नहेतुः ॥ कथमित्यादि । 'कथमेव स उदयननरेन्द्रः' इति संस्कृतम् ॥ व्यापि
निर्वहणपर्यन्तं स्थायि, पञ्चान्तरनिष्पाद्यं प्रधानफलसाधनं प्रासङ्गिकम् । वृत्तं

१. बीजमिति । अत्र विशेषो भातृगुणाचार्यैरभिहितः—'फले यस्य हि संहारः फल-
बीजं तु तद्भवेत् । वस्तुबीजं कपा देया अर्धबीजं तु नायकः ॥' इति । पूर्वमणोदिष्टः
पश्चाद् बहुधा विस्तारशाली कार्यफलवो हेतुविशेषो बीजवद् बीजमित्युच्यते ॥

२. अयेति । अवान्तरकथाविच्छेदे तत्संधानकारी विन्दुः । उद्भेदकारणमिति जले
तेजविन्दुवत्प्रसारित्वाद् विन्दुरिति व्यपदिश्यते ॥

३. उदयनस्येति । 'अस्तापास्तसमस्तभाति नभसः पारं प्रपाते रत्नावास्वावीं समये
समं नृपजनः सार्यवने संपतन् । संप्रत्येव सरोरुहमुत्तिमुपः पार्श्वस्रवासेवितुं प्रीत्युत्कर्ष-
कृतो दृष्टामुदयनस्येन्दोरिवोद्दीक्षते ॥' इति तु समस्तम् ॥

४. व्यापीति । यदुक्तं अरटेन—'यदुक्तं हि परार्थे स्यात्प्रधानस्वीकारकम् । प्रधा-
नपत्र कल्प्येत सा पताकेति कीर्तिता ॥' इति ॥

१. 'पञ्चान्तर' इत्यादि—'मोक्षादिप्राप्तादि' इत्यन्तस्य स्थाने 'वृत्तं भरितं फलान्तरम् । पता-
केति केचित्किञ्चित् दूषयति—पताकानायकस्येति । फलान्तरं मृत्तमप्येतानुपकारि 'न पताका'
इत्यन्वयः । तत्र हेतुमाह—यर्थे इति । निर्वाहः समाप्तिः । तस्य फलान्तरस्य पताका निर्वहणपर्यन्त-
मिति । इदं तु गर्भादौ नायकस्य फलान्तरे प्रासङ्गिकत्वेनैव लक्षणात्पताकापदमयोग्यत्वेऽपि तस्य
ध्यायकत्वाभावेन पताकासम्बन्धव्यतिरिक्तं तस्य लक्ष्यत्वमङ्गीकरोति पताका नायकस्येति । लक्ष्यत्वा-
दीकारे त्यज्यति दर्शयति—यर्थे इति । निर्वाहः समाप्तिः । तस्य पञ्चान्तरस्य प्रधानम् इति मास्य
पताकात्वमिति भावः । यत् तत्र मुने पताकापदमयोग्यत्वेव पताका । सत्यम् । यच्च आधनिको
न मुख्य इत्याह—यथेति । नायकफलं नायकस्य प्रासङ्गिकं फलान्तरं यत् साधनिकी पताका ।

यथा—रामचरिते सुग्रीवादेः वेण्यां गीमादेः शाकुन्तले विदूष-
कस्य चरितम् ।

पताकानायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ॥ ६७ ॥

गर्भे संधौ विमर्शे वा निर्वाहस्तस्य जायते ।

यथा—सुग्रीवादेः राज्यप्राप्त्यादि । यत्तु मुनिनोक्तम्—

‘ओ गर्मादा विमर्शाद्वा पताका विनिवर्तते ।’ इति ।

तत्र ‘पताकेति । पताका नायकफलं निर्वहणपर्यन्तमपि पताकायाः
प्रवृत्तिदर्शनात्’ इति व्याख्यातमभिनवगुप्तपादैः ।

प्रासङ्गिकं प्रदेशस्य चरितं प्रकरी मता ॥ ६८ ॥

यथा—कुलपत्यङ्के रावणजटायुसंवादः ।

प्रकरीनायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ।

अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्नियन्धनः ॥ ६९ ॥

कर्म । ध्यापीत्यस्य व्यावृत्तिमाह—पताकेति । पताकाया नायकस्य स्वामिनः
स्वकीयं स्वमात्रोपकारि यत्फलान्तरं ‘न पताका-’ इत्यनुपपत्तेर्गान्धवः । अस्य
व्यापकत्वाभावमुपपादयति—गर्भे इति । ‘संधौ’ इति काकाशिन्यायेन उभयप्रा-
न्वेति । निर्वाहः समाप्तिः । तस्य फलान्तरस्य ॥ फलान्तरे मुनेः पताकापद-
प्रयोगस्याभिनवगुप्तपादाचार्यव्याख्यानेन गौणत्वमुपपाद्य स्वोक्तविरोधं परिहर्तु-
माह—यत्स्थितिः । तत्र मुनिवचने । पताका पताकापदम् । गौण्या वृत्त्या नायक-
फलं पताकानायकस्य फलान्तरम् । गौणत्वे हेतुमाह—निर्वहणेति ॥ प्रकरीमाह-
प्रासङ्गिकमिति । प्रदेशस्यमेकदेश इति । प्रासङ्गिकपदव्यावृत्तिमाह—प्रकरीति ।
प्रकरीनायकस्य प्रकरीस्वामिनः । स्वकीयं फलान्तरं प्रकृतानुपयोगि । ‘न प्रकरी’
इत्यनुपपत्तेर्गान्धवः । यथा जटायोर्मोक्षादिप्राप्त्यादि । कार्यमाह—अपेक्षितमिति ।
आकाङ्क्षितम् । न तु प्रासङ्गिकमित्यर्थः । आरम्भ उपाये प्रथमप्रवृत्तिः । यन्निय-

१. आ गर्भादिति । यदुत्तरार्थं तु ‘कसापसाजिबन्धोऽस्याः परार्थः परिकीर्त्यते ॥’
इति ॥

२. प्रकरीति । भावप्रकाशिकायां तु विशेषः—‘शोभायै वैदिकादीनां यथा पुण्या-
क्षतादयः । अश्रुवर्णनादिरसु प्रसङ्गे प्रकरी भवेत् ॥’ इति । यथा शाकुन्तले षष्ठाङ्के—
‘ततः प्रविशति चूताङ्कुरमवलोकयन्ती चेटी । अपरा च वृष्टतल्लस्याः ।’ इत्यादिना
‘नेपथ्ये’ इत्यन्वेन ॥

तत्र हेतुः—निर्वहणेति । प्रदेशस्यमेकदेश इति । सुग्रीवरामकथाप्लव्यौ प्रासङ्गिकप्रदेशस्ये नायकपला-
न्तरे प्रकरीयवहुरावाकाशतयातिव्याप्तिरिति प्रकरीत्वस्ये तद्वदेति निवेदयति व्यासिमुद्रति—‘प्रकरीति’
इति पाठभेदः पुलस्त्यनन्दे.

समाप्तं तु यत्सिद्धौ तत्कार्यमिति संमतम् ।

यथा—रामचरिते रावणवधः ।

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ॥ ७० ॥

आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ।

तत्र—

भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये ॥ ७१ ॥

यथा—रत्नावल्यां रत्नावल्यन्तःपुरनिवेशार्थं यौगंधरायणसौत्सुक्यम् ।

एवं नायकनायिकादीनामप्यौत्सुक्यमाकरेषु बोद्धव्यम् ।

प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ।

यथा रत्नावल्याम्—‘तह वि ण अत्थि अण्णो दंसण उवाओ ति जया तथा आलिहिअ जयासमीहिदं करइस्सम् ।’ इत्यादिना प्रतिपादितो रत्नावल्याध्वित्रलेखनादिवत्सराजसंगमोपायः । यथा च—रामचरिते समुद्रबन्धनादिः ।

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभवः ॥ ७२ ॥

यथा—रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेपपरिवर्तनाभिसरणादेः संगमोपायाद्वासवदत्तालक्षणापायशङ्कया चानिर्धारितैकान्तसंगमरूपफलप्राप्तिप्रत्याशा । एवमन्यत्र ।

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता ।

अपायाभावाभिर्धारितैकान्तफलप्राप्तिः ।

यथा रत्नावल्याम्—‘राजा—देवीप्रसादनं त्यक्त्वा नान्यमत्रोपायं

न्यूनः गृहच्छाप्रयोज्य* । समाप्तं सामग्रीसमवधानम् ॥ अवस्था अत्रानि ॥ औत्सुक्यमुत्कटरागः । ‘नायकश्च नायिकादयश्च’ इति विग्रहः । अतो नैकशेषः ॥ तह वीति । ‘तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा तथा आलिख्य यथासमीहितं करिष्यामि ।’ इति संस्कृतम् ॥ उपायश्च अपायास्य प्रतिबन्धकस्य शङ्का च

१. प्रयत्न इति । यदुक्त नाट्यशास्त्रे—‘अपद्यतः फलप्राप्तिं यो व्यापारः फलं प्रति । पर औत्सुक्यगमनं प्रयत्नः परिकीर्तितः ॥’ इति ॥

२. ‘त्य’ इति कपुलके नास्ति. ३. ‘शङ्क’ इत्यधिक कपुलके.

पश्यामि ।' इति देवीलक्षणापाठस्य प्रसादनेन निवारणानियतफलप्राप्तिः सूचिता ।

सावस्या फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोदयः ॥ ७३ ॥

यथा—रत्नावल्यां रत्नावलीलामध्वकवर्तित्वलक्षणफलान्तरलामसंहितः । एवमन्यत्र ।

यथासंख्यमवस्थाभिराभिर्योगात्तु पञ्चभिः ।

पञ्चधैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः, पञ्च संध्यः ॥ ७४ ॥

तल्लक्षणमाह—

अन्तरैकार्थसंबन्धः संधिरेकान्वये सति ।

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसंबन्धः संधिः ।

तद्भेदानाह—

मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहतिः ॥ ७५ ॥

इति पञ्चास्य भेदाः स्युः क्रमाल्लक्षणमुच्यते ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा ॥ ७६ ॥

प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम् ।

यथा—रत्नावल्यां प्रथमेऽङ्के ।

फलप्रधानोपायस्य मुखसंधिनिवेशिनः ॥ ७७ ॥

लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत् ।

ताभ्याम् । प्राप्ते, फलप्राप्ते, संभवे, समाधत्ता । संशय इति यावत् ॥ साव-
स्थेति । समप्रस्थानेव फलस्य य उदयः सा फलयोगः फलगतौ नामावस्था ।
अन्यत्र वीरचरितादौ सीतालामादिसंहितो रावणवधादिः ॥ सधियाह—यथासं-
ख्यमिति । आभिरनन्तरोक्ताभिः ॥ अस्य संधेः । क्रमादुद्देशकमात् ॥ अर्थो
वस्तु, रसः शक्तादिः, तयोः संभवो व्यञ्जनं यत्र । लक्ष्यालक्ष्य इव किञ्चिद्व्य

१. अन्तरेति । मन्दारमरन्देऽप्युक्तम्—'मुख्यप्रयोजनवशात्तयाद्वातः समन्वये ।
अवान्तरार्थसंबन्धः संधिः संधानरूपतः ॥' इति ॥

यथा—रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनु-
रागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षितस्य सुसंगता-विदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया
किञ्चिद्व्यस्य वासवदत्तया चित्रफलकवृत्तान्तेन किञ्चिदुन्नीयमानसोद्देश-
रूप उद्भेदः ।

फलग्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ॥ ७८ ॥

गर्भो यत्र समुद्भेदो हासान्वेषणवान्मुहुः ।

फलस्य गर्भकिरणार्द्धमः । यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के—‘सुसं-
गता—सहि, अदक्खिणा दाणिं सि तुमं जा एवं भट्ठिणा हत्थेण
गहिदा वि कोवं ण मुच्चसि ।’ इत्यादौ समुद्भेदः । पुनर्वासवदत्ताप्रवेशे
हासः । तृतीयेऽङ्के—‘सद्गतान्वेषणाय गतः कथं चिरयति वसन्तकः ।’
इत्यन्वेषणम् । ‘विदूषकः—ही ही मोः, कोसम्बीरज्जलमेणावि ण
चादिसो पिअवअस्सस्स परितोसो जादिसो मम सआसादो पियवअणं
सुणिअ भविस्सदि ।’ इत्यादावुद्भेदः । पुनरपि वासवदत्ताप्रत्यभिज्ञानाद्
हासः । सागरिकायाः संकेतस्थानगमनेऽन्वेषणम् । पुनर्लतापाशकरणे
उद्भेदः । अथ विमर्शः—

यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ॥ ७९ ॥

शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः ।

यथा शाकुन्तले चतुर्थाङ्कादौ—‘अनसूया—पिअंवदे, जह वि

इत्यर्थः । उद्भेद उद्देशः, अनुपायरूपबीजस्य ॥ सुसंगता सागरिकाया वयस्या ॥
प्रागुद्भिन्नस्य प्रतिमुखोद्दिष्टस्य । हासस्तिरोभावः ॥ सहीति । ‘सखि, अदक्षि-
णेदानीमसि त्वं या एवं भर्त्रा हस्तेन गृहीतापि कोपं न मुच्यसि ।’ इति संस्कृतम् ।
ही हीति । ‘कोशाम्बीरज्जलमेणापि न तादृशः प्रियवयस्यस्य (हृदय) परितोषो
यादृशो मम सकारादयः प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यति ।’ इति संस्कृतम् ॥ शापाद्यै-
रित्याद्यपदेन भयादिग्रहणम् । सान्तरायो विघ्नान्निष्ठः । भयेन सान्तरायो यथा—
रत्नावल्यां सागरिकसंगमोपायः, वत्सराजानुरागो वासवदत्ताभयालिङ्गितः ॥ पि-
अंवदे इति । ‘प्रियंवदे, यद्यपि गान्धर्वेण विवाहेन निर्वृत्तकल्याणा प्रियसखी

1. फलेति । नाट्यशालेऽपि—‘उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव वा । पुनश्चान्वे-
रणं यत्र स गर्भ इति संज्ञितः ॥’ इति ॥

2. यथेति । नाट्यशालेऽपि—‘गर्भोऽभिन्नबीजायो विलोमनङ्कतोऽपि वा । कोप-
व्यसनयो वापि स विमर्श इति स्मृतः ॥’ इति ॥

गन्धर्वेण विवाहेण निवृत्तकलाणां पित्रसंही सउन्तला अणुरुवमत्तु-
भाईणी संवुत्तेति निवृत्तं मे हिमम्, तह वि एत्तिअं चिन्तणिज्जम् ।
इत्यत आरभ्य सप्तमाहोपक्षिप्ताच्छकुन्तलाप्रत्यभिज्ञानात्प्रागर्थसंचयः
शकुन्तलाविसरणरूपविभालिङ्गितः ।

अथ निर्वहणम्—

वीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णो यथायथम् ॥ ८० ॥

एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।

यथा वेण्याम्—‘कञ्चुकी—(उपचल । सहयम् ।) महाराज, वर्धसे ।
अयं खलु भीमसेनो दुर्योधनक्षतजारुणीकृतसर्वशरीरो दुर्लक्ष्यव्यक्तिः ।
इत्यादिना द्रौपदीकेशसंयमनादिमुखसंध्यादिबीजानां निजनिजस्थानोप-
क्षिप्तानामेकार्थयोजनम् ।

यथा वा—शकुन्तले सप्तमाहे शकुन्तलामिज्ञानादुत्तरोऽर्थराशिः ।
एवामज्ञान्याह—

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोमनम् ॥ ८१ ॥

युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभाषना ।

उद्भेदः करणं भेद एतान्यङ्गानि वै मुखे ॥ ८२ ॥

यथोद्देशं लक्षणमाह—

काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरूपक्षेप इति स्मृतः ।

काव्यार्थ इतिवृत्तलक्षणप्रस्तुताभिधेयः ।

शकुन्तला अणुरुवमत्तुभाणिनी संवुत्तेति निर्वृत्तं मे हृदयम्, तथाप्येतावच्चिन्तनीयम् ।
इति संस्कृतम् ॥ मुख्यादीनां प्रतिमुख-गर्भ-विमर्शानां ग्रहणम् । मुख्यादयोऽर्था
इतिवृत्तमाणाः । विप्रकीर्णा उपक्षिप्ताः । यथायथं स्वस्थाने । एकार्थमेक-
प्रयोजनम् । उपनीयन्ते युज्यन्ते । ‘एकार्थम्’ इति पाठे ‘एकवाक्यत्वार्थमुपनी-
यन्ते । प्रतिपाद्यन्त इत्यर्थः ॥ मुखसंध्यादयश्च बीजं चेति विप्रदः ॥ एषां मुख-
ादीनाम् । द्वादशमुखसंध्याज्ञान्याह—उपक्षेप इति । समुत्पत्तिः संक्षेपेण उपक्षे-

१. बीजेति । मुधाकरोऽप्युक्तम्—‘मुखसंध्यादयो यत्र विप्रकीर्णा बीजसंयुताः ।

महाप्रयोजनं भवति तन्निर्वहणमुच्यते ॥’ इति ॥

१. ‘शकुन्तलाप्रत्यभिज्ञानात्’ इति च पुस्तके नास्ति.

यथा वैष्णवम्—‘भीमः—

लाक्षागृहानल-विपात्र-समाप्रवेशैः

प्राणेषु चित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।

आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशा-

‘स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥’

समुत्पन्नार्थवाहुल्यं ज्ञेयः परिकरः पुनः ॥ ८३ ॥

यथा तत्रैव—

‘प्रवृद्धं यद्वैरं मम खलु शिशोरेव कुरुमि-

न तत्रार्यो हेतुर्न भवति किरीटी न च युवाम् ।

जरासंधस्योरःस्थलमिव विरूढं पुनरपि,

क्रुधा भीमः संधिं विघटयति यूयं घटयत ॥’

तन्निष्पत्तिः परिन्यासः—

यथा तत्रैव—

‘चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-

संचूर्णितोरुमुगलस्य सुयोधनस्य ।

स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-

रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि ! भीमः ॥’

पणम् । क्वचित् ‘समुत्पत्तिः’ इति पाठः ॥ लाक्षेत्यादि । अत्र वैरप्रकाशनेना-
त्मसंभावनया च वैरोद्धरप्रकारसेतिवृत्तस्य सूचनम् ॥ याहुल्यमविशयेन सूचनम् ॥
मम भीमस्य क्रुधा । शिशुत्वेनात्मनिर्देशः । आर्यो युधिष्ठिरः । युवां नकुलसह-
देवौ । विरूढं निश्चितं विशालं च । अत्र संधिविघटनेन वैरोद्धरणप्रकारस्याधिकसू-
चनम् । अस्याधिकसूचितस्य निष्पत्तिर्निश्चयापत्तिः ॥ स्त्यानेति । स्त्यानेन समूहेन
अवनद्धं संबद्धं यद् घनं निविद्धं शोणितं तेन शोणः पाणिर्यस्य सः । उत्तंसयि-

१. लाक्षेति । लाक्षया निर्मितं गृहं लाक्षागृहं तत्र दक्षोऽनलो वह्निः । विषेण
निश्चितमन्तम् । चूतक्रीडार्थं समायां प्रवेशः । एतेः ॥

२. जरेति । जन्मकाले मगधराजस्य शरीरं दिखन्धमासीत्, तत्पुनर्जराभिमिकया
राक्षसा योजितम्, तस्याजरासंघ इति नाम जातम् ॥

३. स्त्यानेति । स्त्यानं क्षिप्नम् । ‘स्त्याने क्षिप्ते प्रतिपाने घनत्वालस्यवोरपि’ इति
भेदिनी । अवनद्धं लब्धं यद् घनं साम्नां शोणितं रुक्तेन शोणं रक्तवर्णं पाणी यस्य सः ॥

अत्रोपक्षेपो नामैतिवृत्तक्षणस्य काव्याभिधेयस्य संक्षेपेणोपक्षेपण-
मात्रम् । परिकरस्तस्यैव बहुलीकरणम् । परिन्यासस्ततोऽपि निश्चयाप-
त्तिरूपतया परितो हृदये न्यसनम् । इत्येषां भेदः । एतानि चाज्ञानि
उक्तेनैव पौर्वापर्येण भवन्ति । अज्ञान्तराणि त्वन्यथापि ।

गुणारूढानं विलोभनम् ।

यथा तत्रैव—‘द्रौपदी—णाघ, किं दुःकरं तष्ट परिकुविदेण’ ।
यथा वा मम चन्द्रकलायां चन्द्रकलार्पणे—‘सेयम्, तारुण्यस्य वि-
लासः—’ इत्यादि (१३० पृ.) । यत्तु शाकुन्तलादिषु ‘ग्रीवामङ्गामि-
रामं—’ इत्यादि मृगादिगुणवर्णनं तद्वीजार्थसंयन्त्राभावाच्च संध्यङ्गम् ।
एवमज्ञान्तराणामप्युक्तम् ।

संप्रधारणमर्थानां युक्तिः—

यथा—वेण्यां सहदेवो भीमं प्रति—‘आर्य, किं महाराजसदेशो-
ऽयमव्युत्पन्न एवार्थेण गृहीतः ।’ इत्यतः प्रभृति यावद्भीमवचनम् ।

‘युष्मान्हेपयति क्रोधास्त्रोके शत्रुकुलक्षयः ।

न लज्जयति दाराणां सभायां केशकर्पणम् ॥’ इति ।

प्राप्तिः सुरागमः ॥ ८४ ॥

यथा तत्रैव—‘ममामि कौस्वशतं समरे न कोपात्—’ इत्यादि
(२४२ पृ.) । ‘द्रौपदी—(श्रुत्वा । सहर्षम् ।) णाघ, अस्सुदपुन्रं
कलु एवं वञ्चणम् । ता पुनो पुनो भण ।’

प्यति विभूषयिष्यति । अत्रालान्तस्त्वितस्य निधयोपादानम् ॥ उपक्षेपादीनां प्रया-
णा भेदं स्पष्टयति—अत्रेत्यादिना । किमिति । ‘किं दुःकरं त्वया परिकुपितेन ।’
इति संस्कृतम् ॥ हा (विलासः प्रमादः । वीजार्थस्य कार्यस्य । एवमज्ञान-
तराणामिति । वीजार्थसंयन्त्रेऽङ्गत्वम् । नान्येतरार्थः ॥ युक्तिः कर्तव्यत्वनिर्णयः ।
अव्युत्पन्नोऽविचार्यः ॥ हेपयति लज्जयति । णाघेति । ‘णाघ, अश्रुतपूर्वं खल्विदं

१. ग्रीवेति । ‘ग्रीवामङ्गामिरामं मुहुरनुपतति स्तब्धेन वददृष्टिः पश्चात्तेन प्रविष्टः
शरपतनमयाद्भुतसा पूर्वकायम् । दर्भैरधोवरीदैः श्रमनिवृत्तमुखभ्रंशभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रभुतत्वाद्वियति बहुतर स्तोकमुर्ध्वा प्रयाति ॥’ इति तु संग्रहम् ॥

२. प्राप्तिरिति । नाट्यशास्त्रेऽप्युक्तम्—‘मुखार्थस्वाभिगमन प्राप्तिरित्यभिधीयते ॥’
इति ॥

बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते ।

यथा तत्रैव—‘(नेपथ्ये ।) भो भो विराट्द्रुपदप्रभृतयः, श्रूयताम्—

यत्सत्यवतगङ्गाभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं

यद्विस्तर्तुमपीहितं शमयता शान्तिं कुलस्येच्छता ।

तद्द्रुतारणिसंभृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः

क्रोधज्योतिरिदं महत्कुर्वन्ने यौधिष्ठिरं नृग्भते ॥’

अत्र ‘स्वस्या भवन्तु मयि जीवति—’ इत्यादि(२८६ पृ.) बी-
जस्य प्रधाननायकमिमतत्त्वेन सम्यगाहितत्वात्समाधानम् ।

सुखदुःखकृतो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम् ॥ ८५ ॥

यथा बालचरिते—

‘उत्साहातिशयं वत्स ! तव बाल्यं च पश्यतः ।

मम हर्षविषादाभ्यामाक्रान्तं युगपन्ननः ॥’

यथा वा मम प्रभावत्याम्—‘नयनयुगासेचनकम्—’ इत्यादि
(२०४ पृ.) ।

कुतूहलोत्तरा वाचः प्रोक्ता तु परिभावना ।

यथा—वेण्यां द्रौपदी युद्धं स्यान्न वेति संशयानां तूर्यशब्दानन्तरम्
‘णाथ, किं दाणिं एसो पलजजलहरत्थणिदमत्थरो खणे खणे समरदु-
न्दुभी ताडीभदि ।’

बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः—

यथा तत्रैव—‘द्रौपदी—णाथ, पुणो वि तण् समासासइदव्वा ।

वचनम् । तत्पुनः पुनर्भण ।’ इति संस्कृतम् । आगमनं प्रधाननायकमिमतत्त्वेन
ज्ञानम् ॥ द्यूतमशक्नीदेवारणिर्निर्मन्यनकाष्ठं तेन संभृतमुत्पादितम् ॥ उत्साहाति-
शयमिति । श्रीरामं प्रति मार्गवसोक्तिरियम् । बाल्यमविचारितं कर्म हरकामुक्-
मन्नरूपम् । यद्वा बाल्यं बालकत्वम् । बालकेन सह समरः कर्तव्य इति दुःखम् ।
अत्र मार्गवस्य श्रीरामपराभवोद्यमरूपोऽर्थः सुखदुःखाभ्यां विहितः ॥ कुतूहलो-
त्तराः कौतुकबहुलाः ॥ णाथ किमिति । ‘नाथ, किमिदानीमेव प्रलयजलधर-
स्वनितमन्यरः क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताव्यते ।’ इति संस्कृतम् ॥ प्ररोहो भव-

१. महदिति । नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैर्महदिति शेषेना ॥

१. ‘कुले’ ख ग, ‘पले’ घ.

भीमः—

भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम् ।

अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥१॥

करणं पुनः ॥ ८६ ॥

प्रकृतार्थसमारम्भः—

यथा तत्रैव—‘देवि, गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय ।’ इति ।

भेदः ‘संहतभेदनम् ।

यथा तत्रैव—‘अत एवाद्यप्रभृति भिन्नोऽहं भवद्भ्यः ।’ ‘केचित्तु भेदः प्रोत्साहना’ इति वदन्ति ।

अथ प्रतिमुखाङ्गानि—

विलासः परिसर्पश्च विधुतं तपनं तथा ॥ ८७ ॥

नर्म नर्मद्युतिश्चैव तथा प्रगमनं पुनः ।

विरोधश्च प्रतिमुखे तथा स्यात्पर्षुपासनम् ॥ ८८ ॥

पुष्पं वज्रमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।

तत्र—

समीहा रतिभोगार्था विलास इति कथ्यते ॥ ८९ ॥

रतिलक्षणस्य भावस्य यो हेतुभूतो भोगो विषयः प्रमदा पुरुषो वा तदर्थं समीहा विलासः । यथा शाकुन्तले—

प्रायस्त्वनोद्गायनम् ॥ जाधेति । ‘नाथ, पुनरपि त्वया समाश्वासयितव्या ।’ इति संस्कृतम् ॥ विधुरिताननं नतमुखम् ॥ प्रकृतार्थस्य सम्यगारम्भः ॥ संहतानामविरुद्धकर्मत्वेन मिलितानां भेदनं संघाताच्चात्मनम् ॥ त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गान्वाह—‘विलास इति । तदर्थं त्र्युपगोपार्श्व । सन्निहिता स्मृता ।’ तस्याः प्रियायाः भावः सुरतचेष्टा च दर्शनं च ते आयासयति वाञ्छति रतिं प्रीतिम् ।

१. भेद इति । ऋषिणाप्युक्तम्—‘संघातभेदनाथो यः स भेद इति कीर्तितः ॥’ इति ॥

२. केचिदिति । दशरूपककारादयः ॥

१. ‘संहति’ क-ख-ग-घ. २. ‘विधुतं’ क. ३. ‘तपनम्’ क-ख-ग. ४. ‘प्रगमनम्’ इति नाट्यशास्त्र-दशरूपकस्थः पाठः. ५. ‘निरोधः’ इति नाट्यशास्त्र दशरूपकस्थः पाठः.

‘कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनायासि ।

अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिगुणयप्रार्थना कुरुते ॥’

इष्टनष्टानुसरणं परिसर्पश्च कथ्यते ।

यथा शाकुन्तले—‘राजा—भवितव्यमत्र तया । तथा हि ।

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात् ।

द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥’

कृतस्यानुनयस्यादौ विधुतं त्वपरिग्रहः ॥ ९० ॥

यथा तत्रैव—‘अलं घो अन्तेऽरनिरहपञ्जुस्सुएण राएसिणा उवरु-
द्धेण । केचित्तु ‘विधुतं स्यादरतिः’ इति वदन्ति ।

उपायादर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत् ।


अकृतार्थे अकृतार्थे । उभयोः प्रियाभावदर्शनयोः प्रार्थना कामना ॥ इष्टस्य
अमीष्टस्य नष्टस्य अदृष्टस्य अनुसरणमन्वेपणम् ॥ अचगाढा अतिनिम्ना । पद-
पङ्क्तिः पदचिह्नश्रेणी ॥ अलं घो इति । ‘अलं बोऽन्तःपुरविरहपर्युत्सुकेन राज-

१. अकृतेति । मनसिजेऽकृतार्थेऽभ्युभयप्रार्थना स्वस्वामिलाभो रतिं रागं यतः कुरुते
प्रीतिमुत्पादयति । अहं तत्र गमिष्यामि, तामेवं वक्ष्य इत्यारम्भामिलापः । एवं मां प्रति
तस्या अप्यभिलाषो मनसिजेऽकृतार्थे संभवति ॥

२. अभ्युन्नतेति । पुरस्तात्पादाग्रभागेऽभ्युन्नता । उन्नतत्वं च पश्चाद्भागापेक्षया ।
पश्चात्पार्श्वदेशे ॥

३. केचिदिति । दशरूपककारादयः । काव्येन्दुप्रकाशकारा अपि ‘इष्टमवाप्तिरन्ति-
सारतिविधुतमुच्यते ।’ इति तद्वचनं वदन्ति । ‘श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः ! साग्रे-
नपीकूपैकैर्मन्त्रं तन्ममथ मयुष्य हरत भेतोपलनां भिवम् । चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः
कृत्वा शिलापट्टके येन द्रष्टुमर्ह क्षमे दक्ष दिशस्तद्वक्त्रमुद्राङ्किताः ॥’ इत्युदाहरन्ति च ॥

४. तापनमिति । दशरूपके तु तापनस्थले शमो निर्दिष्टः । तथा च तद्वाक्यम्—
‘तच्छमः शमः’ इति । तच्छब्देन पूर्वनिर्दिष्टा अरतिगुणैरेतस्या उपशमः शम इति तदर्थः ।
यथा रत्नावल्याम्—‘राजा—वयस, अनया लिखितोऽहमिति यत्सत्यम्, आत्मन्यपि मे
बहुमानः । तत्कथं न पश्यामि ।’ इति प्रक्रमे ‘सागरिका—(आत्मगतम् ।) दिग्भ्रम, सम-
रसस । मणोरहो वि दे पत्तिअ मूर्धि न गदो ।’ इति किञ्चिदरत्युपशमाच्छम इति उदा-
हरणम् । काव्येन्दुप्रकाशेऽपि ‘शमोऽरतिशमो शेषः’ इति तथैव लक्षणम् । शाकुन्तले—
‘शाकुन्तलावामनुरक्तस्य रात्रो माक्षणकन्यात्वेनारतो पुनः ‘असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा—’
इत्यादिनारतेरपशमाच्छमः’ इत्युदाहरणमात्रे शब्दः । मन्दारमरन्देऽन्येवमेव तद-
क्षणं निहितम् ॥

यथा रत्नावल्याम्—‘सागरिका—

दुल्लहजणाणुरागो लज्जा गुरुई परवसो अप्पा ।

पियसहि विसमं पेम्मं भरणं सरणं णवरि एक्कम् ॥’

परिहासवचो नर्म—

यथा रत्नावल्याम्—‘सुसंगता—सहि, जस्स किदे तुमं आअदा सो अअ दे पुरदो चिट्ठदि । सागरिका—(साभ्यसयम् ।) कस्स किदे अहं आअदा । ‘सुसंगता—अलं अण्णसंकिदेण । णं चित्तफलअस्स ।’

द्युतिस्तु परिहासजा ॥ ९१ ॥

नर्मद्युतिः—

यथा तत्रैव—‘सुसंगता—सहि, अदक्खिणा दाणिं सि तुमं जा एधं भट्ठिणा हत्थावलम्बिदावि कोवं ण मुञ्चसि । सागरिका—(सञ्जुभक्तमीपदिहस्य ।) सुसंगदे, दाणिं वि कीलितं न विरमसि । केचित्तु—‘दोषस्याच्छादनं हास्यं नर्मद्युतिः’ इति वदन्ति ।

प्रगमनं वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम् ।

पिंणा उपरुद्धेन ।’ इति संस्कृतम् । सख्या कृतस्य राजावस्थानानुनयस्य राज्ञा अप-
रिग्रहः ॥ अरतिरवशा ॥ दुल्लहेति । ‘दुर्लभजनानुरागो लज्जा शुर्वो परवश
आत्मा । प्रियसखि विपमं प्रेम भरणं शरणं केवलमेकम् ॥’ इति संस्कृतम् । णवरि-
अ-शब्दः केवलार्थो देशी । सहीति । ‘सखि, यस्य कृते त्वमागता सोऽयं ते
पुरतस्तिष्ठति ।’ इति संस्कृतम् । ‘कस्य कृते अहमागता ।’ इति संस्कृतम् । ‘अल-
मन्यशङ्कितेन । ननु चित्तफलकस्य । इति संस्कृतम् ॥ ‘सखि, अदक्षिणेदानीमस्मि
त्वं या एवं भर्ता हस्तावलम्बितापि कोपं न मुञ्चसि ।’ इति संस्कृतम् । ‘सुसंगते,
इदानीमपि कीलितं न विरमसि ।’ इति संस्कृतम् ॥ उत्तरमुत्कृष्टतरमुत्तरं यस्य

१. परीति । नाट्यशास्त्रेऽप्युक्तम्—‘कीदृशं विहितं अत्र हास्यं नर्मेति तत्परि-
ग्रहः ।’ इति ॥

२. दोषेति । तथा च भरतः—‘दोषप्रच्छादनार्थं तु नर्मद्युतिरिति स्मृतम् ।’ इति ।
काव्येन्दुप्रकाशकारोऽपि ‘नर्मद्युतिः कोपशुतिः’ इति उल्लक्षणं चकार ॥

३. प्रगमनमिति । मन्दारमरन्देऽप्युक्तम्—‘तस्यानुरागमीनस्य चोत्तरोत्तरमापणैः ।
प्रकाशनं प्रगमनमिति नाट्यविदो विदुः ॥’ इति ॥

यथा विक्रमोर्वश्याम्—“उर्वशी—जम्बु जम्बु महाराजो ।
राजा—मया नाम जितं यस्य त्वया जय उदीर्यते ।” इत्यादि ।

विरोधो व्यसनप्राप्तिः—

यथा चण्डकौशिके—‘राजा—नूनमसमीक्ष्यकारिणा मया अन्धे-
नेव स्फुरच्छिखाकलापो ज्वलनः पञ्चां समाक्रान्तः ।’

कृतस्यानुनयः पुनः ॥ ९२ ॥

स्यात्पर्युपासनं—

यथा राजावल्ल्याम्—‘विदूषकः—भो, मा कुप्य । एसा हि कद-
लीघरन्तरं गदा ।’ इत्यादि ।

पुष्पं विशेषवचनं मतम् ।

यथा तत्रैव—‘(राजा हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति ।) विदूषकः—भो
वयस्स, एसा अपुषा सिरी तए समासादिदा । राजा—वयस्य, सत्यम् ।
श्रीरेषा, पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः ।

कुतोऽन्यथा सवत्येव खेदच्छामृतद्रवः ॥’

प्रत्यक्षनिष्ठुरं वज्रम्—

यथा तत्रैव—‘राजा—कथमिहस्योऽहं त्वया ज्ञातः । सुसं-
गता—ण केवलं तुमं समं चित्तफलएण । ता जाय गदुअ देवीए
णिवेदइस्सम् ।’

उपन्यासः प्रसादनम् ॥ ९३ ॥

तत् ॥ ‘जयतु जयतु महाराजः ।’ इति संस्कृतम् ॥ व्यसनस्य विषयः प्राप्तिः ॥
‘भोः, मा कुप्य । एसा हि कदलीघरन्तरं गता ।’ इति संस्कृतम् ॥ एसा साग-
रिका ॥ विशेषस्य प्रकर्षस्य वचनम् ॥ ‘भो वयस्य, एसा अपूर्वा श्रीस्त्वया समा-
सादिता ।’ इति संस्कृतम् ॥ प्रत्यक्षं साक्षात्निष्ठुरं परपवचनम् । वज्रवदुःखद-
त्वाद्वज्रम् ॥ ‘न केवलं त्वं समं चित्तफलकेन । तद्यावद्गत्वा देव्यै निवेदयिष्यामि’
इति संस्कृतम् ॥ ‘भर्तः, अलं शङ्कया । मयापि भर्त्याः प्रसादेन क्रीडितमेव एतैः ।

1. कृतस्येति । नाट्यशास्त्रे—‘कृतस्यानुनयो वस्तु भवेत्तत्पर्युपासनम् ।’ इति ॥

2. विशेषेति । रागजनकमित्यर्थः ॥

3. प्रत्यक्षेति । नाट्यशास्त्रे मर्षविणाप्नुक्तम्—‘विरहवचनप्रापं वज्रमित्यभि-
धीयते ।’ इति ॥

यथा तत्रैव—‘सुसंगता—मद्वृण, अलं सङ्काए । मए वि भट्टि-
णीए पसादेण कीलिदं ज्वेव एदिहिं । ता किं कण्णाभरणेण । अदो
वि मे गरुअरो पसादो एसो, जं तुए अहं एत्थ आलिहिदत्ति कुविदा
मे पिअसही साअरिआ । एसा ज्वेव पसादीअदु ।’ केचित्तु—‘उपप-
त्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासः स कीर्तितः ।’ इति वदन्ति । उदाहरन्ति
च, तत्रैव—‘अदिमुहरा वल्लु सा गळ्मदासी’ इति ।

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते ।

यथा महावीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

‘परिपदियमृपीणामेप वीरो युंथाजि-

त्सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादैश्च वृद्धः ।

अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः

प्रभुरपि जनकानामङ्ग भो याचकस्ते ॥’

इत्यत्र ऋषिक्षत्रादीनां वर्णानां मेलनम् ।

अभिनवगुप्तपादास्तु—‘वर्णशब्देन पात्राण्युपलक्ष्यन्ते । संहारो-
मेलनम्’ इति व्याचक्षते । उदाहरन्ति च रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के—
‘अदो वि मे अजं गुरुअरो पसादो—’ इत्यादेरारभ्य ‘णं हत्थे गेण्हिअ
पसादेहि णम् । राजा—कासौ कासौ ।’ इत्यादि ।

तर्हि कर्णाभरणेन अतोऽपि मे शुस्तरः प्रसाद एषः, यस्त्वया अहमत्र-आलि-
खितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका । एषेव प्रसाद्यताम् ।’ इति संस्कृतम् ॥
उपपत्तिर्द्वयः, तया कृतः ॥ ‘अतिमुखरा खल्वेपा(सा) गर्भदासी ।’ इति संस्कृतम् ।
दासीगर्भजाता दासी गर्भदासी ॥ अतश्चतारो वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्, तस्योपगमनं मेलनम् ॥
‘अतोऽपि मे अयं शुस्तरः प्रसादः ।’ इति संस्कृतम् । ‘ननु हस्ते गृहीत्वा प्रसादय
एनाम् ।’ इति संस्कृतम् । अत्र राज-विदूषक-सागरिक-सुसंगता-पात्राणां मेलनम् ॥

1. उपेति । नाट्यशास्त्रे त्विदमेवोपन्यासलक्षणमुपलभ्यते ॥

2. ऋपीणामिति । ऋषिर्देव पश्यतीति ऋषिः । मलयकानां ज्ञानार्थकत्वाद् धातु-
नामनेकार्थकत्वाद्देव ऋषेर्दर्शने वृत्तिः । यास्कोऽपि ऋषिशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं वेदसद्विधि-
दर्शनमेव निर्णीतवान् । दर्शनं च प्रत्यक्षीकरणं न चाक्षुषज्ञानमिति ॥

3. युधाजिदिति । युधाजिर्देवैर्योगात्ता ॥

4. लोमपादेति । लोमपादोऽङ्गदेहाधिपतिः ॥

अथ गर्भाङ्गानि—

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ॥ ९४ ॥

संग्रहथानुमानं च प्रार्थना क्षितिरेव च ।

त्रो(तो)टकाधिवलोद्देगा गर्मे स्युर्विद्रवस्तथा ॥ ९५ ॥

तत्र व्याजाश्रयं वाक्यमभूताहरणं मतम् ।

यथा अश्वत्थामाङ्गे—

‘अश्वत्थामा हत इति पृथासूनुना स्पष्टमुक्त्वा

स्वैरे शेषे’ गज इति पुनर्व्याहृतं सत्यवाचा ।

तच्छ्रुत्वास्तौ दयिततनयः प्रत्ययात्तस्य राज्ञः

हस्ताण्याजौ नयनसलिलं चापि तुल्यं मुमोच ॥’

तत्त्वार्थकथनं मार्गः—

यथा चण्डकौशिके—‘राजा—भगवन्,

गृह्यतामर्जितमिदं भार्यातनयविक्रयात् ।

शेषस्यार्थे करिष्यामि चण्डालेऽप्यात्मविक्रयम् ॥’

रूपं वाक्यं वितर्कवत् ॥ ९६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—‘राजा—

मनः प्रकृत्यैव चलं दुर्लक्ष्यं च तथापि मे ।

कामेनैतत्कथं विद्धं समं सर्वैः शिलीमुखैः ॥’

उदाहरणमुत्कर्षयुक्तं वचनमुच्यते ।

अत्र नयोदशगर्भाङ्गान्याह—अभूताहरणमिति । व्याजाश्रयं छलसपद्धम् ॥

१. पृथासूनुनेति । पृथासूनुना युधिष्ठिरेण ॥

२. शेषे इति । शेषे वाक्यसमाप्ती ॥

३. अस्त्यविति । अस्तौ द्रोणः ॥

४. गृह्यतामिति । कौशिक प्रति राज्ञो हरिश्चन्द्रस्योक्तिरेषा ॥

५. रूपमिति । नाट्यशास्त्रेऽप्युक्तम्—‘चित्रार्थसमवायो यत्तद्रूपमिति कीर्तितम् ।’ इति ॥

१. ‘लो-क’ इति नाट्यशास्त्रादियु पठ्यते. २. ‘अन’ घ. ३. ‘विल’ घ. ४. उत्तरार्धे नाट्य-प-पुस्तके

यथा अंश्वत्थामाङ्गे—

‘यो यः शस्त्रं विभर्ति स्वमुजगुरुमदः पाण्डवीनां वमूनां,
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी, चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥’
भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रमः स्यात्—

यथा शाकुन्तले—‘राजा—स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा
प्रियामवलोकयामि । तथाहि ।

ऊन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।

पुलकाञ्चितेन कथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥’

संग्रहः पुनः ॥ ९७ ॥

सामदानार्थसंपन्नः—

यथा रत्नावल्याम्—‘राजा—साधु वयस्य, इदं ते पारितोषिकम् ।
(इति कटकं ददाति ।)’

लिङ्गाद्बोऽनुमानता ।

तत्त्वार्थकथनं यथार्थकथनम् ॥ गर्भशय्या जरायुः । जगतामन्तकस्य यमस्य ॥
‘निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया’ इत्युक्तलक्षणस्य भावस्य (१२८ पृ.)
तत्त्वोपलब्धिर्यापाध्यानुभवः ॥ पदानि व्यवसितानि । अत्र यद्यपि ‘भूनेन्द्रादिवि-
कारैस्तु संगोनेच्छाप्रकाशकः । भाव एवात्पसंलक्ष्यविकारो हाव इष्यते ॥’ इत्युक्त-
लक्षणो हाव एव, तथापि विशेषतया तत्र स्थितिरिति नानुपपत्तिः ॥ सामेति ।
प्रियवचनं साम, तेन दानेन चार्थस्य संपत्तिरित्यर्थः ॥ इदमिति । अत्र सामदानाभ्यां
वृत्तपरितोषद्वारा सामरिकसंपन्नतादिरूपायैवंपादनम् ॥ लिङ्गाद् व्याप्तिपक्षधर्मेता-
भ्यां साधनज्ञानात् । ऊहो व्यापकतानुभवः । ‘अनुमानता’ इति तात्प्रत्ययः स्वार्थे ॥

१. प्रतीप इति । मयि रणे चरति सति यो यः प्रतीपः प्रतीकृते भवेदित्यर्थः ॥

२. उन्नमितेति । यवैरा भून्तोन्नमिता तद्विस्तृतकपोलस्यैव पुलकाञ्चितत्वमित्येकवच-
नम् । मयीति स्वस्वाधिकरणत्वेन धन्यतां शुभगमन्यतां च ध्वनयति । रणेः पठ्यवस्थानु-
रागः । उक्तं च सुधाकरे—‘अङ्कुरवृक्षवकटिकाप्रयुतपरिमोगभागियं क्रमशः । प्रेमा मानः
प्रणयः शेषो रागोऽनुराग इत्युक्तेः ॥’ इति ॥

३. लिङ्गादिति । नाट्यशालेऽप्युक्तम्—‘रूपानुरूपगमनमनुमानमिति रश्मिम् ।’
इति ॥ अत्र ‘अनुमा मता’ इति पाठः सुगमः ॥

यथा जानकीराघवे नाटके—‘रामः—

लीलागतैरपि तरङ्गयतो धरित्री-

मालोकनैर्नमयतो जगतां शिरांसि ।

तस्यानुमापयति काञ्चनकान्तिगौर-

कायस्य सूर्यतनयत्वमघृध्यतां च ॥’

रतिहर्षोत्सवानां तु प्रार्थनं प्रार्थना भवेत् ॥ ९८ ॥

यथा रत्नावल्याम्—‘प्रिये सागरिके,

क्षीतांशुमुख, मुत्पले तव दृशौ, पद्मानुकारौ करौ,

रम्भास्तम्भनिगं तथोरुपुगलं, बाहू मृणालोपमौ ।

इत्याहादकराखिलाङ्गि । रभसालिःशङ्खमालिङ्ग्य मा-

मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येखेहि निर्वापय ॥’

इदं च प्रार्थनाख्यमङ्गम् । यन्मते निर्वहणे भूतावसरत्वात्प्रशस्ति-
नामाङ्गं नास्ति तन्मतानुसारेणोक्तम् । अन्यथा पञ्चपष्टिसंख्यत्वप्रसङ्गात् ।

रहस्यार्थस्य तूद्देशः क्षिप्तिः स्यात्—

यथाश्वत्थामाङ्गे—

‘एकस्यैव विषाकोऽयं दारुणो भुवि वर्तते ।

केशग्रहे द्वितीयेऽसिन्नूनं निःशेषिताः प्रजाः ॥’

त्रो(ती)टकं पुनः ।

संरब्धवाक्—

तरङ्गयतः कम्पयतः । तस्य लक्ष्मणस्य (!) । अनुमात(प)यति अनुमानविषयीक-
रोति । -शत्रु लीलागमनप्रयुक्तपृथ्वीकम्पनादिकं साधनम् ॥ प्रार्थनं गिक्षा ॥
पद्मानुकारौ पद्मपुष्पौ ॥ भूतावसरत्वात् प्रार्थनायां प्राप्तविषयत्वात् । अन्यथा
निर्वहणे प्रशस्तिसत्त्वे पञ्चपष्टिसंख्यत्वे को दोष इति चेत्, संप्रदायविरोध इति ॥
एकस्य द्वौपदीकेशग्रहस्य । द्वितीये द्रोणसंबन्धिनि ॥ संरब्धस्य दष्टस्य वाक् ॥

१. तरङ्गयत इति । तरङ्गयत इति पञ्चम्यन्तं पदम् । यत्र नमयत इत्यपि ॥

२. इतीति । चन्द्रादिसाष्टश्वेन अङ्गानां मदनानलतापनिर्वापणक्षमत्वं दाशितम् ॥

३. संरब्धेति । उक्तं च नाट्यशास्त्रे—‘सुरम्भवचनप्राप्य लोटकम्’ इति ॥

४. संप्रदायेति । संप्रदायस्तु ‘अनुःपष्टिर्बुधैर्येनान्येतान्यङ्गानि संधिषु’ इति महर्षिणा
निदिष्टः ॥

यथा चण्डकौशिके—‘कौशिकः—आ, पुनः कथमद्यापि नु
संभूता स्वर्णदक्षिणा ।’

अधिवलमभिसंधिच्छलेन यः ॥ ९९ ॥

यथा रत्नावल्याम्—‘काञ्चनमाला—भट्टिणि, इयं सा चित्तसा-
लिआ । वसन्तभस्स सण्णं करोमि ।’ इत्यादि ।

नृपादिजनिता भीतिरुद्वेगः परिकीर्तितः ।

यथा वेण्याम्—

‘प्राप्तावेकरथारूढौ पृच्छन्तौ त्वामितस्ततः ।

स कर्णारिः स च क्रूरो वृककर्मा वृकोदरः ॥’

शङ्काभयत्रासकृतः संभ्रमो विद्रवो मतः ॥ १०० ॥

‘कालान्तककरालस्य कौधोज्झ्वलं दशाननम् ।

विलोक्य वानरानीके सभ्रमः कोऽप्यजायत ॥’

अथ विमर्शाज्ञानि—

अपवादोऽथ संफेटी व्यवसायो द्रवो बुद्धिः ।

शक्तिः प्रसङ्गः खेदश्च प्रतिषेधो विरोधनम् ॥ १०१ ॥

प्ररोचना विमर्शे स्यादादानं छादनं तथा ।

दोषप्रख्यापवादः स्यात्—

यथा वेण्याम्—‘युधिष्ठिरः—पञ्चालक, कचिदासादिता तस्य

अभिषेधिरभिप्रायानुसंधानम् ॥ भट्टिणीति । ‘मर्षि, इयं सा चित्रशक्तिः ।
वसन्तभस्स सण्णं करोमि ।’ इति संस्तुतम् । आदिपदेन ‘किं पद्मस्य द्रविं न
हन्ति—’ इत्यादिश्लेषपर्यन्तस्य परिग्रहः । अत्र काञ्चनमाला वासवदत्ता वेपथारिण्यो
मुसगता सागरिकयोश्छलेन काञ्चनमाला वासवदत्ताभ्यां राज विद्रुपकयोरभिप्रायशा-
नम् ॥ कर्णारिः भर्जुनः । वृकस्य व्याघ्रविशेषस्येव कर्म यस्य स । अत्र दुर्वो-
धनस्य गीमाउोचिता गीतिः । शङ्का अतिशयं । आसौ भयानकव्यापारः ।
संभ्रमस्तथा ॥ अथ त्रयोदशविमर्शाज्ञान्यह—अपवाद इति । तस्य दुर्वो-
ध-

1. अधिवलमिति । अत्र विशेष —‘द्वेष्टव्यवस्थायां नृपा अपि नृप इति । वेद-
स्यावधामात्र वेपिधाधिवलं बहु ॥’ इति ॥

2. नृपादीति । आदिपदेन अपिधोर्योर्महत्तमम् ॥

3. त्वामिति । त्वं दुर्वोधनम् ॥

4. दोषेति । दोषप्रख्यापवादोऽप्यप्यनम् ॥

साहि- १७

दुरात्मनः कौरव्यापसदस्य पदवी । पाञ्चालकः—न केवलं पदवी,
स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्शपातकमघानहेतुरुपलब्धः ।

संफेटो रोपभाषणम् ॥ १०२ ॥

यथा तत्रैव—‘राजा—अरे रे मरुत्तनय, वृद्धस्य राज्ञः पुंस्तो
निन्दितमप्यात्मकर्म क्षाघसे । शृणु रे,

कृष्ण केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम मुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी ।
तस्मिन्वैरानुबन्धे वद किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिभारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥

भीमः—(सक्रोधम् ।) आः पाप । राजा—आः पाप ।’ इत्यादि ।

व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसंभवः ।

यथा तत्रैव—‘भीमः—

निहताशेषकौरव्यः क्षीवो दुःशासनासृजा ।

भङ्गा दुर्योधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसानतः ॥’

द्रव्यो गुरुव्यतिक्रान्तिः शोकावेगादिसंभवा ॥ १०३ ॥

यथा तत्रैव—‘युधिष्ठिरः—भगवन् कृष्णाम्रज सुमद्रात्रातः,

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता, क्षत्रियाणां न धर्मो,

रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन ।

नस्य पदवी उपलब्धा । मरुत्तनय भीम । वृद्धस्य राज्ञो धृतराष्ट्रस्य ॥ प्रतिज्ञा
कार्यस्य निर्देशः, हेतुः साधननिर्देशः, तयोः संभवो मेलनम् । भङ्गाः भजनकर्ता ।
अत्र दुर्योधनोऽहमज्ञानं कार्यं भीमार्थं साधनम् ॥ गुरोः पूज्यस्य व्यतिक्रान्तिराद-
रुह्वनम् ॥ ज्ञातिप्रीतिरिति । बलदेवयुधिष्ठिरयोश्चन्द्रवंशमवतत्वाज्ज्ञातित्वम् । धर्मो
न गणित इत्यपेक्षान्वयः । युद्धे प्रणयिनि पक्षपातो नास्तीति क्षत्रियाणां धर्मः ।

१. रोपेति । रोपग्रथितवाक्यमित्यर्थः ॥

२. तवेति । तव भीमस्य । तव च पशोरर्जुनस्य । तस्य राज्ञो युधिष्ठिरस्य । तयोर्न-
कुलसद्वदेवयोः ॥

३. वीर्येति । वीर्यस्यातिभार उद्रेक एव द्रविणे वसु तेन गुरुर्महान्मदो यस्य तादृशम् ।
पराक्रमातिशयशालिनमिति यावत् ॥

४. क्षीव इति । क्षीवत्वसंपादनेन असृजो यधुत्वारोपणं व्यङ्ग्यम् ॥

तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः

कोऽयं पन्था यदसि विमुखो मन्दभाग्ये मयि त्वम् ॥'

तर्जनोद्वेजने प्रोक्ता द्युतिः—

यथा तत्रैव दुर्योधनं प्रति भीमेनोक्तम्—

'जन्मेन्दोर्विमले कुले व्यपदिशस्यचापि घत्से गदां,

मां दुःशासनकोष्णशोणितमधुक्षीवं रिपुं मन्यसे ।

दर्पान्धो मधुकैटभद्विवि हरावप्युद्धतं चेष्टसे,

त्रासान्मे नृपशो विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे ॥'

शक्तिः पुनर्भवेत् ।

विरोधस्य प्रशमनं—

यथा तत्रैव—

'कुर्वन्त्वासा हतानां रणशिरसि जना बहिसादेहभारा-

नश्रून्मिश्रं कथंचिद्दत्तु जलममी बान्धवा बान्धवेभ्यः ।

मार्गन्तां ज्ञातिदेहान्हृतनरगहने खण्डितान्गृध्रकैङ्के-

रस्तं भाखान्मयातः सह रिपुभिरयं सद्दियन्तां बलानि ॥'

प्रसङ्गो गुरुकीर्तनम् ॥ १०४ ॥

यथा मृच्छकटिकायाम्—'चाण्डालः—एसो क्खु सागलदत्तस्स'

रूढं प्रतिदम् । अनुजस्य कृष्णस्य । शिष्ययोर्भीमदुर्योधनयोः । अस्ति भवति ।

अत्र शौकाविष्टचित्तेन शुधिष्ठिरस्यादरलङ्घनम् ॥ तर्जनं भर्त्सनम् । उद्वेजनं भयो-

त्पादनम् ॥ व्यपदिशसि अयुक्तं ख्यापयसि । अत्र भर्त्सनम् । उद्वेजनं यथा—'भो

लङ्केश्वर ! धीमताम्—' इत्यादि ॥ आसा बान्धवा । गुरोः पित्रादेः कीर्तनम् ॥ 'एष

१. दुःशासनेति । २. शासनस्य कोष्णमभिनवत्वात्कृष्ण शोणितमेव मधु मप तेन क्षीय मत्तम् ॥

३. हराविति । कृष्णे ॥

४. शक्तिरिति । विरोधप्रशम. शक्तिरित्यर्थः ॥

५. मार्गन्तामिति । चौरादिकस्य 'मार्गं बन्धने' इति धातोर्लोपि रूपम् ॥

६. हतेति । म्यापादितमनुप्यारण्ये इत्यर्थः ॥

७. कर्त्तैरिति । बन्धु नाम लोहपृष्ठापरपर्यायः पश्चिमिद्वेषः ॥

८. प्रसङ्ग इति । नाट्यशास्त्रे तु 'प्रसङ्गश्चैव विषयो वाक्येतामर्षयोत्रिनेः' इत्युक्तम् ॥

सुखो अज्जविस्सदत्तस्स णत्तिओ चालुदत्तो वावादितुं वज्जद्वारं णिज्ज-
इ । एदेण किल गणिआ वसन्तसेणा सुअण्णलोहेण वावादिदेत्ति ।

चारुदत्तः—

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्रासितं य-

त्सदसि निविडचैत्यत्रक्षयोपैः पुरस्तात् ।

मम निषण्णदशायां वर्तमानस्य पापै-

स्तदसदृशमनुपैर्धुव्यते घोषणायाम् ॥'

इत्यनेन चारुदत्तवंधाभ्युदयानुकूलप्रसङ्गाद्गुरुकीर्तनमिति प्रसङ्गः ।

मनश्चेष्टासमुत्पन्नः श्रमः खेद इति स्मृतः ।

मनःसमुत्पन्नो यथा मालतीमाघवे—

‘दलति हृदयं गौढोद्वेगो, द्विधा न तु मिथते

वहति विकलः कायो मोहं, न मुञ्चति चेतनाम् ।

ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः, करोति न भस्मसा-

त्पहरति विधिर्मर्मच्छेदी, न कृन्तति जीवितम् ॥’

एवं चेष्टासमुत्पन्नोऽपि ।

ईप्सितार्थप्रेतीघातः प्रतिषेध इतीर्यते ॥ १०५ ॥

यथा मम प्रभावत्यां विदूषकं प्रति प्रयुक्तः—‘सखे, कथमिह त्वमे-
काकी वर्तसे । क नु पुनः प्रियसखीजनानुगम्यमाना प्रियतमा
मे प्रभावती । विदूषकः—असुरवहणा आआरिअ कहिं वि णीदा ।

प्रयुक्तः—(धीर्षं निःश्वस्य ।)

सखे सागरदत्तस्य सुत आर्यविश्वदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापादयितुं धन्यस्थानं गीयते ।
एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादितेति ।’ इति संस्कृतम् ॥
निविडं सामाजिकैर्व्याप्तं चैत्यमायतनं येषां तैर्गणधोषैर्वेदपाठकैः । असदृशेति ।
अयोग्येत्यर्थः । घोषणायामपवादवाच्यध्वनौ ॥ मनसा चेष्टया च समुत्पन्नः ॥
दलति स्फुटति । ‘असुरपतिना आकार्यं कुत्रापि नीता ।’ इति संस्कृतम् । आकार्यं

१. ज्वलयतीति । ज्वलयति जलीययति ॥

२. प्रतीघात इति । ‘प्रतीघातः’ इत्यत्र ‘उपसर्गस्य धन्यमनुष्ये बहुलम्’ इति सूत्रेण
यमन्ते घातशब्दे परे प्रतेदीपैः ।

हा पूर्णचन्द्रमुखि ! मत्तचकोरनेत्रे !

मामानताङ्गि ! परिहाय कुतो गतासि ।

गच्छ त्वमद्य ननु जीवित ! तूर्णमेव

दैवं कदर्थनपरं कृतकृत्यमस्तु ॥'

कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम् ।

यथा वेण्याम्—'युधिष्ठिरः—

तीर्णे भीष्ममहोदधौ, कथमपि द्रोणानले 'निर्वृते-

कैर्णाशीचिषभोगिनि प्रशमिते, शक्ये च याते दिवम् ।

भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्गावशेषे जये

सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥'

प्ररोचना तु विज्ञेया संहारार्थप्रदर्शिनी ॥ १०६ ॥

यथा वेण्याम्—'पाञ्चालकः—अहं देवेन चक्रपाणिना सहितः ।

(इत्युपक्रम्य ।) कृतं संदेहेन ।

'पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्यागिषेकाय ते,

'कृष्णात्यन्तचिरोज्जिते तु कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।

रामे शातकुठारभास्वरकरे क्षत्रहुमोच्छेदिनि,

क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतर्त्याजौ कुतः संशयः ॥'

आहूय । 'हृतिराकाराणाङ्गानम्' इत्यमरः । कार्यात्ययस्य उपगमनं ज्ञापनम् ॥
संहारार्थस्य उपसृष्टियमाणप्रयोजनस्य प्रदर्शिनी प्रतिपादिका प्रोत्साहना । प्ररो-

१. निर्वृत इति । निर्वृते निर्माणतां प्राप्ते इत्यर्थः ॥

२. कर्णेति । कर्णे रावेव एव, आशिषि दद्यात्वा विषमस्य सादृश्ये भोगी मुञ्जगस्त-
सिन् । 'आशीस्तात्तुगता दद्यात्वा विद्यो न जीवति' इति । पृषोदरादित्वादीपञ्चलोपी ।
केचित्त्रैकारान्तमाशीशब्दमाहुः । 'आशीभिः प्लक्ष्मिभ्यः' इति, 'राजदेश्वरः' ।

३. कृष्णेति । कृष्णा ह्युपदात्तना ॥

४. क्षणमिति । अधिवासनमाल्यग्रजनरूपमुत्सवमित्यर्थः ॥

५. शातेति । शात. शाणादिना वीक्षणीकृतो य. कुठार. परशुत्वेन भास्वरो देदीप्य-
मानः करो यस्य सादृश्ये ॥

६. परिपततीति । परिपतति साटोप भ्रमति । सम्यन्तमेतत् ॥

१. 'सहितः' इति क ख पु लफरोर्नासि. २. 'भास्वर' क.

कार्यसंग्रह आदानं—

यथा वेण्याम्—‘भो भोः समन्तपञ्चकसंचारिणः,

नाहं रक्षो, न भूतो, रिपुरुधिरजलाह्लादिताङ्गः प्रकामं

निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञानिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि ।

भो भो राजन्यवीराः ! समरक्षिस्त्रिष्वामुक्तशेषाः, कृतं व-

स्त्रासेनानेन, लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत् ॥’

अत्र समस्तरिपुवधकार्यस्य संगृहीतत्वादावानम् ।

तदाहुश्छादनं पुनः ।

कार्यार्थमपमानादेः सहनं खलु यद्भवेत् ॥ १०७ ॥

यथा तत्रैव—‘अर्जुनः—आर्य,

अप्रियाणि करोत्येव वाचा शक्तो न कर्मणा ।

हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ॥’

अथ निर्वहणाङ्गानि—

संधिविबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ।

कृतिः प्रसाद-आनन्दः समयोऽप्युपगूहनम् ॥ १०८ ॥

भाषणं पूर्ववाक्यं च काव्यसंहार एव च ।

प्रशस्तिरिति संहारे ज्ञेयान्यङ्गानि नामतः ॥ १०९ ॥

तत्र—

धीजोषगमनं संधिर्—

यथा वेण्याम्—‘भीमः—भवति यज्ञवेदिसंभवे, सरति भवती

यन्मयोक्तम्—‘चञ्चद्भुज—’ इत्यादि (३०२ पृ.) ।

अनेन मुखे क्षिप्तबीजस्य पुनरुपगमनमिति संधिः ।

विबोधः कार्यमार्गणम् ।

अनेत्यर्थः ॥ कृतं व्यर्थम् । क्षणमुत्सवम् ॥ यद् यस्मात् प्रसादः ॥ एष
दुर्योधनः ॥ अथ चर्द्धसत्रकारणि निर्वहणाङ्गान्याह—संधिरिति । धीजोष-

१. कार्येति । महर्षिणाप्युक्तम्—‘वीरकार्योपगमनमादानमिति सशितम् ।’ इति ॥

२. भवतीति । भवतीत्यामृष्टम् ॥

३. विबोध इति । नाट्यशास्त्रेऽप्युक्तम्—‘कार्यसाम्प्रदेशं युक्त्या विबोध इति कीर्तितः ।’ इति ॥

यथा तत्रैव—‘मीमः—मुञ्चतु मामार्यः क्षणमेकम् । युधिष्ठिरः—
किमपरमवशिष्टम् । मीमः—सुमहदवशिष्टम् । समाप(संयम)यामि
तावदनेन सुयोधनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनावकृष्टं
केशहस्तम् । युधिष्ठिरः—गच्छतु भवान्, अनुभवतु तपस्विनी वेणी-
संहारम् ।’ इति ।

अनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणाद्विबोधः ।

उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रथनं—

यथा तत्रैव—‘मीमः—पाञ्चालि, न खलु मयि जीवति संहर्तव्या
दुःशासनबिल्ललिता वेणिरात्मपाणिभ्याम् । तिष्ठ, स्वयमेवाहं संहारामि ।’
इति ।

अनेन कार्यस्योपक्षेपाद्व्यथनम् ।

निर्णयः पुनः ॥ ११० ॥

अनुभूतार्थकथनं—

यथा तत्रैव—‘मीमः—देव अजातशत्रो, अद्यापि दुर्योधनहतकः ।
मया हि तस्य दुरात्मनः

भूमौ क्षिप्तं शरीरं, निहितमिदमसूक्ष्मचन्दनाभं निजाङ्गे,
लक्ष्मीरार्ये निषिक्त्वा चतुरुदधिपयः सीमया सार्षमुर्व्या ।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमनुजा दग्धमेतद्रणामौ,
नामैकं यद्गवीषि क्षितिप ! तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥’

वदन्ति परिभाषणम् ।

परिवादकृतं वाक्यं—

यथा शाकुन्तले—‘राजा—आर्ये, अथ सा तत्रभवती किमा-
गमनमुद्गावणम् । मुखे मुखसंधौ ॥ केशहस्तं केशसमूहम् ॥ मया हीति ।

१. केशहस्तमिति । केशहस्तं केशपाशम् । ‘पाशः पशुश्च इत्येव कलापार्थः
कचात्परे ।’ इत्यमरः ॥

२. वेणीति । वेणीसंयमनम् ॥

३. निहितमिति । निहितमर्पितम् ॥

४. चन्दनाभमिति । चन्दनाभं रत्नप्रभम् ॥

रूपस्य राजपेः पत्नी । तावसी—को तस्स घर्मेदारपरिह्राणो णामं
गेण्हिस्सदि ।'

लब्धार्थशमनं कृतिः ॥ १११ ॥

यथा वेण्याम्—'कृष्णः—एते भगवन्तो व्यासवाल्मीकिप्रभृत-
योऽभिपेकं धारयन्तस्तिष्ठन्ति ।' इति ।

अनेन प्राप्तराज्याभिपेकमङ्गलेः स्थिरीकरणं कृतिः ।

शुश्रूपादिः प्रसादः स्याद्—

यथा तत्रैव भीमेन द्रौपद्याः केशसंयमनम् ।

आनन्दो वाञ्छितागमः ।

यथा तत्रैव—'द्रौपदी—विभुमरिदं एवं वावारं णाघस्स प्रसादेण
पुणो वि सिक्खिस्सम् ।'

समयो दुःखनिर्याणं—

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—(रत्नावलीमालिङ्ग्य ।) समस्सस
बहिणीए, समस्सस ।'

तद्भवेदुपगृहनम् ॥ ११२ ॥

यत्स्यादद्भुतसंप्राप्तिः—

यथा तम प्रभावत्यां नारददर्शनात्प्रद्युम्न ऊर्ध्वमवलोक्य—

'दधद्विद्युद्वेत्तामिव कुसुममाला परिमल-

भ्रमद्भृङ्गश्रेणीध्वनिभिस्त्वगीतां तत इतः ।

दिगन्तं ज्योतिर्भिस्तुहिनकरगौरैर्धवलय-

जितः कैलासाद्रिः पतति वियतः किं पुनरिदम् ॥'

सामदानादि भाषणम् ।

तस्य धार्तराष्ट्रस्य ॥ 'कस्तस्य घर्मेदारपरिलागिनो नाम प्रहीष्यति ।' इति सस्कृ-
तम् ॥ लब्धैरर्थैः शमनं शोकादिनाशनम् । स्थिरीकरणं शोकादिरुतास्थैर्या-
दिनाशनम् । 'विस्मृतमेनं व्यापारं नायस्य प्रसादेन पुनरपि शिक्षिष्ये ।' इति

1. शुश्रूपादिरिति । तदुक्त भरतेन—'शुश्रूषाद्युपसंपन्ना प्रसादः प्रीतिरुच्यते ।' इति ॥

2. दुःखेति । दुःखस्य निर्याणमप्ययम् ॥

3. सामेति । यदपि भाष्यमुक्तम्—'सामदानादिसपन्न भाषण समुदाहृतम् ।' इति ॥

यथा 'चण्डकौशिके—'धर्मः—तदेहि धर्मलोकमधितिष्ठ' ।

पूर्ववाक्यं तु विज्ञेयं यथोक्तार्थोपदर्शनम् ॥ ११३ ॥

यथा वेण्याम्—'भीमः—बुद्धिमतिके, क सा भानुमती । परि-
भवतु संपति पाण्डवदारान् ।'

वरप्रदानसंप्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते ।

यथा सर्वत्र—'कि ते भूयः प्रियमुपकरोमि ।' इति ।

नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते ॥ ११४ ॥

यथा श्रभावत्याम्—

'राजानः सुतनिर्विशेषमधुना पश्यन्तु नित्यं प्रजा

जीयासुः सदसद्विवेकपटवः सन्तो गुणप्राहिणः ।

सस्यस्वर्णसमृद्धयः समधिकाः सन्तु क्षमामण्डले

भूयादव्यभिचारिणी त्रिजगतो भक्तिश्च नारायणे ॥'

अत्र चोपसंहारमशस्त्योरन्त एकेन क्रमेणैव स्थितिः । 'इह च
मुखसंघौ उपक्षेपपरिकरपरिन्यासयुक्त्युद्देशसमाधानानां, प्रतिमुखे च
परिसर्पणप्रगमनवज्रोपन्यासपुष्पाणां, गर्भेऽमृताहरणमार्गत्रो (तो) टका-
धियलक्षेपाणां, विमर्शेऽपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानां प्राधान्यम् ।
अन्येषां च यथासंभवं स्थितिः ।' इति केचित् ।

चतुःपटिविधं ह्येतदङ्गं प्रोक्तं मनीषिभिः ।

संस्कृतम् । एतं व्यापारं केशसयमनरूपम् ॥ 'समाश्रयितु मग्निनी समाश्रयितु ।'
इति संस्कृतम् ॥ तदेहीति प्रियवाक्यं धर्मलोकस्य दानं च ॥ बुद्धिमतीत्यादि
दुर्बोधनपठ्योक्तं भीमेनोपदर्शितम् ॥ सर्वत्र नाटकादौ ॥ नृपदेशादीत्यादिना
विद्वद्भाषणादीनां ग्रहणम् । शान्तिरनिष्टनिवारणमिष्टप्राप्तिश्च ॥ इह चेति ।

१. सस्येति । सस्यानां स्वर्णानां च समृद्धयः संपदः ॥

२. अव्यभिचारिणीति । अव्यभिचारिणी निश्चला ॥

३. चतुरिति । द्वादश मुखाङ्गानि, त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि, तावन्ति गर्भाङ्गानि,
तावन्ति विमर्शाङ्गानि, तावन्त्येव निर्वहणाङ्गानि, संकलनया चतुःपटिरिति निर्वहणाङ्ग-
भूतप्रशस्तिप्रत्यारयानवादिनः । येषां मते प्रशस्तिसद्भावस्तत्र गर्भाङ्गभूतायाः मार्पेनाया
अस्तीकारः । एवं पञ्चदशेति चतुःपटिसंख्याकाव्यङ्ग्यानि ॥

कुर्यादनियते तस्य संधावपि निवेशनम् ॥ ११५ ॥

रसानुगुणतां वीक्ष्य रसस्यैव हि मुख्यता ।

यथा वेणीसंहारे तृतीयाङ्के दुर्योधनकर्णयोर्महत्संप्रधारणम् । एवमे-
न्यत्रापि । यत्तु रुद्रटादिभिः 'नियम एव' इत्युक्तं तल्लक्ष्यविरुद्धम् ।

इष्टार्थरचनाश्रयलाभो वृत्तान्तविस्तरः ॥ ११६ ॥

रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गोप्यानां गोपनं तथा ।

प्रकाशनं प्रकाश्यानामङ्गानां पक्षिर्धं फलम् ॥ ११७ ॥

अङ्गहीनो नरो यद्वन्नैवारम्भक्षमो भवेत् ।

अङ्गहीनं तथा काव्यं न प्रयोगाय युज्यते ॥ ११८ ॥

संपादयेतां संध्यङ्गं नायकप्रतिनायकौ ।

तदभावे पताकाद्यास्तदभावे तथेतरत् ॥ ११९ ॥

प्रायेण प्रधानपुरुषप्रयोज्यानि संध्यङ्गानि भवन्ति । किंतूपेक्षेपादित्रयं
बीजस्याल्पमात्रसमुद्दिष्टत्वादप्रधानपुरुषप्रयोजितमेव साधु ।

रसव्यक्तिमपेक्ष्यैषामङ्गानां संनिवेशनम् ।

न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया ॥ १२० ॥

तथा च यद्वेण्यां दुर्योधनस्य भानुमत्या सह विप्रलम्भो दर्शितः,
तत्तादृशेऽवसरेऽत्यन्तमनुचितम् ।

निर्वहणे चेत्यर्थः । तयोः काव्यसंहारप्रधास्त्योः । 'प्राधान्यम्' इत्यप्रेषणान्वयः । एव-
मपेक्षि । प्राधान्यरूपापनं तत्तदज्ञानामावश्यकस्थित्यर्थम् ॥ अनियत इति ।
अन्यसंध्यङ्गस्य प्रकृतरसानुकूलस्यान्यसंधावपि निवेशनम् । तत्र हेतुः—रसस्यै-
वेति ॥ संप्रधारणं युक्तिः । सौ च मुखसंध्यङ्गम् । अन्यत्रापि तद्वर्णितमिति
भावः । नियम इति । तत्संध्यङ्गस्य तत्संधावेव निवेश इत्येवंरूपः । लक्ष्यविरुद्धं
महाकविप्रयोगविरुद्धम् ॥ अङ्गानां फलमाह— इष्टार्थेति । रागप्राप्तिरनुगुणलाभः ।
प्रयोगस्य प्रेक्षकस्य । अङ्गप्रशंसामाह—अङ्गहीनमिति । काव्यं रूपकम् ।
प्रयोगाय प्रेक्षकानुरागाय । तदभावे संध्यङ्गभावे । पताकाद्या अर्थप्रकृतीः
'संपादयेताम्' इत्यन्वयः । आद्यपदेन प्रकरीकार्ययोर्ग्रहणम् । इतरङ्गीजम् ।
प्रायेणेत्यस्य व्यावृत्तिमाह—किंत्विति । आदिपदेन परिकरपरिन्वयासयोर्ग्रहणम् ॥

१. रसेति । २. अनिकृताप्नुक्तम्—'श्रुतिसंख्यङ्गवदत्र रसादिन्यदपेक्षया । न तु केव-
लया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया ॥' इति ॥

२. अवसर इति । अवसरे सामान्यलक्षणे ॥

१ 'अपेक्ष' ख. २ 'प्रवेपाद्यङ्गव' क. ३ 'सौ च' इति मुद्रापत्रो नास्ति.

अविरुद्धं तु यद्वृत्तं रसादिव्यक्तयेऽधिकम् ।

तदप्यन्यथयेद्वीमान्न वदेद्वा कदाचन ॥ १२१ ॥

अनयोरुदाहरणं सत्पवन्धेष्वमिव्यक्तमेव ।

अथ वृत्तयः—

शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः ।

रसे रौद्रे च वीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥ १२२ ॥

चतस्रो वृत्तयो हेताः सर्वनाय्यस्य मातृकाः ।

स्युर्नायकादिव्यापारविशेषा नाटकादिषु ॥ १२३ ॥

तत्र कैशिकी—

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता ।

कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता ॥ १२४ ॥

नर्म च नर्मस्फूर्जो नर्मस्फोटोऽथ नर्मगर्मश्च ।

चत्वार्यङ्गान्यस्या—

तत्र—

वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म ॥ १२५ ॥

इष्टजनावर्जनकृत्तच्चापि त्रिविधं मतम् ।

अधिकमनुपयोगि । रसोपयोगि यथा स्यात्तथा वर्णयेत् ॥ अनयोरन्यथाकरणा-
करणयोः ॥ नाटकवृत्तीराह—अथेति । वर्तते रसोऽनयेति वृत्तिर्नायकादिचेष्टा ।
शृङ्गार इति । शृङ्गारप्रतिपादिका वृत्तिः कैशिकी । एवमन्यत्रापि । सर्वत्रेति 'रसे'
इत्यनुपपद्यते । मातृका मातृवदुपगीभ्याः । तासां सामान्यस्वरूपमाह—स्युरिति ।
आदिना नायिकादीनां ग्रहणम् । नाटकादिवित्यादिपदेन प्रकरणभागादीनां ग्रह-
णम् । तत्र प्रसिद्धा इत्यर्थः ॥ तासां विशेषलक्षणान्याह—तत्रेति । शृङ्गणेन
मनोरमेण नेपथ्यमिश्रेणेन नायकादिभूषणविशेषेण चित्रा शोभातिशयशालिनी ।
पुष्कला संपूर्णेत्यर्थः । कामोपभोगः चन्द्रारसस्य प्रभवा उपचारा अङ्गानि
यस्याः सा उपचारोऽनुष्ठानं वा अङ्गानि नेदाः ॥ अस्याः कैशिक्याः ॥ वैद-
ग्ध्येन क्रीडितम् । इष्टजनस्य सामाजिकदेवार्जनेनकृत् श्रीतिशररुम् । तच्च

१. कैशिकीति । एषा सामोदोत्तरा । तदुक्तं भरतेन—'करोदोद्गारती वृत्तिर्द-
जुरेतात्तु सारवती । कैशिकी सामोदोत्तरा देवा चापर्वती तथा ॥' इति ॥ 'कैशिकी'
इति पञ्चदशस्वरपदितो बहुशेषकम्पमानोऽपि बाठः ग्रामादिकः ॥

विहितं शुद्धहास्येन सशृङ्गारभयेन च ॥ १२६ ॥

तत्र केवलहास्येन विहितं यथा रत्नावल्याम्—‘वासवदत्ता—
(फलकमुद्दिश्य सहासम् ।) एसा वि अवरा तव समीवे जघालिहिदा एदं
किं अज्जवसन्तस्स विण्णाणम् ।

सशृङ्गारहास्येन यथा आकुन्तले—राजानं प्रति ‘शकुन्तला—
असतुष्टो उण किं करिस्सदि । राजा—इदम् । (इति व्यवहित । शकु-
न्तलावकं दौकते)’

समयहास्येन यथा रत्नावल्याम्—आलेख्यदर्शनावसरे ‘सुसंगता-
जाणिदो ‘मए एसो वुत्तन्तो समं चित्तफलपण । ता देवीए गदुअ
निवेदइस्सम् ।’

एतद्वाक्यसबन्धि नमोदाहृतम् । एवं वेषचेष्टासंबन्ध्यपि ।

नर्मस्फूर्जः सुरारम्भो भयान्तो नवसंगमः ।

यथा मालविकायाम्—सकेतनायकमभिसृतायां ‘नायकः—

विसृज सुन्दरि ! संगमसाध्वस

ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।

परिरुहाण गते सहकारतां

त्वमेतिमुक्तलनाचरित मयि ॥

नर्म च । सशृङ्गारभयेनेत्यस्य हास्येनेति समासविशेषादन्वयः ॥ एषाप्यपरा तव
समीपे यथालिखिता इदं विमर्शवसन्तकस्य विज्ञानम् ।’ इति सस्कृतम् ॥ ‘अस-
तुष्ट पुन किं करिष्मति ।’ इति सस्कृतम् । असतुष्टो मधुकर इति पूर्वोक्तेनान्वयः ।
इदमिति कमलमिति । व्यवसितः कृतनिश्चयः । दौकते प्रविशति । ‘व्यवसितम्’
इति पाठे निश्चितमित्यर्थः ॥ ‘ज्ञातो मया एष वृत्तान्तः समं चित्तफलकेन । तद् देव्यै
गत्वा निवेदयिष्यामि ॥’ इति सस्कृतम् ॥ वेषसबन्धिसंभयहास्यकृत् नर्मः यथा
रत्नावल्याम्—‘सुसंगता—(दृष्ट्वा विदस्य ।) अइ कादरे, मा भाभाहि । ण होइ
‘एसो धम्मरो । अज्जवसन्ताओ यस्स एसो ।’ ‘अयि कादरे, मा विभीहि । न भवत्तेप
धानर । आर्यवसन्तकं रत्नवेप ।’ इति सस्कृतम् ॥ नर्मस्फूर्ज इति । सुरारम्भो

१ नर्मति । मुनिनाप्युक्त विशाध्याये—‘नवसंगमसंभोगो रतिसमुदयवेषवाक्य-
संयुक्तः । त्रैयो नर्मस्फूर्जो शवमानमयात्मकश्चैव ॥’ इति ॥

२. सहकारतामिति । सहकारतामतिशोरमरसालताम् ॥

३. अतिमुक्तेति । शोक्यान्मुक्तामतिशयात्ताडितमुक्ता, सा चासीत् कदा स्वातिमुच्यता
वासन्ती तस्याश्चरितं वेष्टनरूपम् । स्वच्छं द माग्नालिङ्गेति परमार्थः ॥

मालविका—‘भट्टा, देवीद मएण अप्पणो वि पिअं कउं ण पारेमि ।’ इत्यादि ।

अथ नर्मस्फोटः—

—नर्मस्फोटो भावलेखैः सूचिताल्परसो मतः ॥ १२७ ॥

यथा मालतीमाधवे—

‘गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं

श्वसितमधिकं किं न्वेतत्स्यात्किमन्यदितोऽथवा ।

अमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं

ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम् ॥’

अलसगमनादिभिर्भावलेखैर्माधवस्य मालत्यामनुरागः स्तोकः प्रकाशितः ।

‘नर्मगर्भो व्यवहृतिर्नेतुः प्रच्छन्नवर्तिनः ।

यथा तत्रैव सखीरूपधारिणा माधवेन मालत्या मरणव्यवसायवारणम् ।

अथ सात्वती—

सात्वती बहुला सत्त्वशैर्यित्यागदयार्जवैः ॥ १२८ ॥

यस्य । भयमन्तो यस्य ॥ ‘भर्तः, देव्या भवेनात्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि ।’ इति संस्कृतम् ॥ भावलेखेरीयप्रकाशितैर्भावैः । अल्पं सूचितः सूचिताल्पः रसः शृङ्गारो यत्र स व्यापारो नर्मस्फोट इत्यर्थः । गमनमिति । माधवस्य पूर्वरागविप्रलम्भवर्णनमिदम् । विकारि चित्तविकारकारि । ललितमधुरा अतिरमणीया । ‘ललितमधुरा’ इत्यपि पाठः । भावाः सुरतचेष्टाः ॥ नेतुर्नायकस्य ॥ बहुला ।

I. नर्मेति । मुनिनाप्युक्तम्—‘विविधानां भावानां लवेर्लवेर्भूषितो बहुविधैः । असमप्राक्षिप्तसो नर्मस्फोटस्तु विधेयः ॥’ इति ॥

2. शून्येति । शून्यदृष्टिलक्षणमुक्तं महर्षिणाष्टमाध्याये—‘समत्तारा समपुरां निष्कम्पा शून्यदर्शना । बाह्याभेदादिषु मध्या शून्या दृष्टिः प्रसीतिता ॥’ इति ॥

3. किं न्विति । पतति नु स्यात्, एतदलसगमनत्वादिकं रोगकृतं कामकृतं वेति वितर्कः । अथवा इतः कामादिकमन्यत् । नान्यदित्यर्थः ॥

4. नर्मगर्भ इति । एतदुत्तमृषिणा विद्याध्याये—‘विज्ञानरूपसंभावनादिभिर्नायको ज्ञेयश्च । प्रच्छन्नैर्व्येवहरते कार्यवशान्नर्मगर्भोऽस्ती ॥’ इति ॥

5. सात्वतीति । एषा परिश्रुत्योक्त्या नाट्यशास्त्रे—‘या सत्त्वजेनेह शुभेन युजा

सहर्षा क्षुद्रशङ्करा विशोका साङ्गता तथा ।

उत्थापकोऽथ सांघात्यः संलापः परिवर्तकः ॥ १२९ ॥

विशेषा इति चत्वारः साच्चत्याः परिकीर्तिताः ।

उत्तेजनकरी शत्रोर्वागुत्थापक उच्यते ॥ १३० ॥

यथा महावीरचरिते—

‘आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा

वैतृष्ण्यं तु कुतोऽद्य संप्रति मम त्वदर्शने चक्षुषः ।

यन्माङ्गल्यसुखस्य नास्ति विषयः किं वा बहुव्याहृतै-

रस्मिन्विस्मृतजामदग्न्यविजये बाहौ धनुर्जम्भताम् ॥’

मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः सांघात्यः संघभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायानां चाणक्येन स्वबुद्ध्या भेदनम् । अर्थशक्त्यापि तत्रैव । दैवशक्त्या यथा रामायणे रावणाद्विभीषणस्य भेदः ।

संलापः स्याद्गभीरोक्तिर्नानाभावसमाश्रया ॥ १३१ ॥

यथा वीरचरिते—‘रामः—अयं स यः किल सपरिवारकार्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सरसहस्रान्तेवासिने तुभ्यं

‘वृत्ति’ इति शेषः । उत्तेजनमुत्साहातिशयजनकम् । शत्रोः प्रतिनायकस्य । वागित्यन्वयः ॥ आनन्दाय चेति । बालिनं प्रति श्रीरामस्योक्तिरियमेव । मन्त्रो मन्त्रणा, अर्थो धनम्, दैवमदृष्टम्, संघभेदनं सहायानां भेदः ॥ रामायणे रामचन्द्रवर्णनानाटकादी ॥ आवर्जितेन प्रीणितेन । अत्र देवविषयरतिमतिवीर-

न्यायेन वृत्तेन समन्विता च । इष्टोक्तया सहस्रशोकभावा सा सारस्वती नाम मनेषु वृत्तिः ॥ वागद्व्यभिज्ञप्रवृत्ती सख्योत्थानवचनप्रकरणेषु । सूक्ष्माधिकारयुक्ता विधेया सारस्वती वृत्तिः ॥ वीरकृतपौरुषा निरस्तशङ्कारक्षणनिर्वेदा । उद्धतपुरुषप्राया परस्परार्थवर्णकृता च ॥’ इति ॥

१. उत्तेजनेति । एतदेव विशिष्यान्नात महर्षिणा—‘महमनुत्थास्यामि त्वं तावदर्शनात्मनः शक्तिम् । इति सधर्षसमाश्रयमुत्थितमुत्थापको ज्ञेयः ॥’ इति ॥

२. मन्त्रेति । वक्तुं च मुनिना—‘मन्त्रार्थवान्वययुक्ता दैववशादात्मशेषयोगादा । संघातभेदननस्तज्ज्ञैः सांघात्यदो ज्ञेयः ॥’ इति ॥

३. बालिनमिति । श्रीराम प्रति बालिनं उद्गिरियमित्युचितम् ॥

प्रसादीकृतः परशुः । परशुरामः—राम दशरथे, स एवायमार्य-
पादानां प्रियः परशुः ।' इत्यादिः ।

प्रारब्धादन्यकार्याणां का(क)रणं परिवर्तकः ।

यथा वेण्याम्—'भीमः—सहदेव, गच्छ त्वं गुरुमनुवर्तस्व ।
अहमप्यस्त्रागारं प्रविश्यायुधसहायो भवामीति यावत् । अथवा आम-
न्त्रयितव्यैव मया पाञ्चाली ।' इति ।

अथारभटी—

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥ १३२ ॥

संयुक्ता वधवन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता ।

वस्तुत्थापनसंफेदौ संक्षिप्तिरवपातनम् ॥ १३३ ॥

इति भेदास्तु चत्वार आरभट्याः प्रकीर्तिताः ।

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तुत्थापनमुच्यते ॥ १३४ ॥

यथोदात्तराधवे—

'जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरघातैर्वियद्यापिभि-

र्भास्वन्तः सकला रघेरपि कराः कस्मादकस्मादमी ।

एते चोपकचन्धकण्ठरुधिरैराध्मायमानोदरा

मुञ्चन्त्याननकंदरानलमुचस्तीव्राव्रवान्फेरवाः ॥' इत्यादि ।

संफेदस्तु समाधातः क्रुद्धसत्वरयोर्द्वयोः ।

यथा मालत्यां माधवाघोरघण्टयोः ।

रसानां समाश्रयत्वम् ॥ शुद्धं शुषिष्टिरम् ॥ उद्धृता । 'श्रुतिः' इति शेषः ।
मायादीत्यादिना इन्द्रजालमहणम् ॥ जीयन्ते परिभूयन्ते । आध्मायमानोदरा
इषट्पदमानजठराः । पीयमानरुधिराणां मुपानलेनोष्णत्वावठरदाहः । फेरवाः
शृगालाः । अत्र मायोत्थापितं वस्तु ॥ इन्द्रजालोत्थापितं वस्तु यथा—'एष ब्रह्मा

१. प्रारब्धादिनि । उक्तं च भरतेन—'उत्पन्नसमारब्धानां नुत्पन्नस्य सोऽपेक्षो-
पपादः । अन्यानयोऽप्यत्र स पाति परिवर्तको वेद्यः ॥' इति ॥

२. मायेति । 'असतो जयिनो माया सद्रूपोद्भासना तथा । इन्द्रजालः शिशुपेस्य
मप्रचूर्णीपथादिभिः । अदन्तमकारोऽप्यमन्धयाट्टोऽरुच्यते ॥' इत्युक्ते मायेन्द्रजाले ।
आरभटीलक्षणं भट्टक्रेणाप्युक्तम्—'या चित्रमुदभ्रमदस्त्रपाणमायेन्द्रजालाट्टिलिङ्गिताम् ।
भोजसिद्धिशरत्त्वभासा देवा बुधैः सारभटीनि श्रुतिः ॥' इति ॥

'संक्षिप्ता वस्तुरचना शिल्पैस्तिरथापि वा ॥ १३५ ॥

संक्षिप्तिः स्यान्निरुद्धौ च नेतुर्नेत्रन्तरग्रहः ।

यथोदयनचरिते कलिज्जैहस्तिप्रयोगः । द्वितीयं यथा वालिनिवृत्त्या

सरोजे, रजनिरुक्लशेखरः शंखरोऽयं, दोग्धैर्दलान्तकोऽगौ सधनुरसिगदाचरुचि-
हैक्षतुर्भिः । एषोऽप्यैरावतस्यस्त्रिदशपतिरमी देवि ! देवास्तथान्ये, नृसन्ति व्योम्नि
चैताश्चलचरणनूपुरा दिव्यनार्यः ॥' इन्द्रजालोत्थापितवस्तुकवयनमात्रमेवेदं नार-
मटीभेदः रौद्रवीभस्तान्यतरसूचकत्वाभावात् ॥ इतरथा शिल्पेतरणे । नेत्रन्तरत्वं

१. इतरथेति । इतरथा यथा विद्वत्शालभञ्जिकायां शालभञ्जिकादौ प्रतिफलनम् ॥

२. निवृत्ताविति । एकराजनिवृत्तावन्यराजस्वापनं संक्षिप्तिरिति ।

३. कलिजेति । काष्ठपटिनहस्तिप्रयोगः ॥ अत्र कथासरित्सागरीयकथामुरालभक्तस्य
अनुपेक्षरङ्गता एते श्लोका द्रष्टव्याः—“अत्रातरे स वसेशप्रदूतीतत्तदमरीच । गत्वा
प्रतिवचश्चण्डमहासेनाय भूयते ॥ सोऽपि चण्डमहातेनस्तच्छ्रुत्वा व्यचिन्तयत् । स
तानविद् नागाति मानी वल्लेश्वरो नृपम् ॥ कन्या दि तत्र न प्रेम्णा भवेदेवं दि लाप-
वम् ॥ तस्माद्भूय तपुवला नृपमानायवाभ्यहम् ॥ इति सचिन्त्य संमदय स राजा
मपिभिः सह । अकारपरम्पसदृश महान् यत्रवस्तिनम् ॥ तं चान्तर्वीरपुत्रपैः कृत्वा
छत्रैरधिष्ठितम् । विन्ध्यादभ्या स निदधे राजा यत्रमवं गवम् ॥ तत्र तं चारपुत्रपाः
पश्यन्ति स्म विदूरतः । गजवन्धरासत्तवत्सराजोपजीविनः ॥ तेच स्वरितमागल वरत्त-
रालं व्यजिह्वयन् । देव ! वृष्टो गजोऽस्माभिरैको निन्ध्यवने भ्रमन् ॥ अलिश्रियति भूलोके
नैव योऽन्यत्र दृश्यते । वप्सीषा व्याप्तगगनो विन्ध्याद्रिरिव जङ्गमः ॥ ततश्चारवचः कृत्वा
वत्सराजो जहर्ष सः । तेभ्यः सुवर्णलक्षं च प्रददौ पारितोषिकम् ॥ स चैवनेन्द्रं प्राप्स्यामि
प्रतिमह नडागिरेः । ततश्चण्डमहातेनो वदो भवति मे पुत्रम् ॥ ततो वासवदर्पा तां स
स्वयं मे प्रयच्छति । इति सचिन्तयन् सोऽथ राजा तामनयतिशम् ॥ प्रातश्च मन्त्रिवचनं
न्यक्त्वा गजवृण्णया । पुरस्कृत्यैव ताश्चारान् वयो विन्ध्यादधीं प्रति ॥ प्रस्थानलभ्यस्य
फलं वन्ध्यालभं सवन्धनम् । यदुत्तुर्गणकास्तस्य तत्त नैव व्यचारयत् । प्राप्य विन्ध्या-
दधीं तस्य गजस्य श्लोमशङ्कया । वत्सराजः स तेभ्यानि दूरादेव न्यधारयत् ॥ चारमा-
त्रसदायस्तु बीणां घोषवतीं दधत् । निजव्यसनविस्तीर्णां तां विदेश महादधीम् ॥
निन्ध्यस्य दक्षिणे पार्श्वे दूराचारैः प्रदर्शितम् । गजं सलगजामास त ददर्श स भूपतिः ॥
एकाकी वादयन् बीणां चिन्तयन् वन्धनानि सः । मधुरध्वनि गार्व्यश्च शनैरुपजगाम
तम् ॥ गान्धर्वदत्तचित्तत्वात्संध्याध्वान्तवशाच्च सः । न त वनगज राजा मायांगजमल-
क्षयत् ॥ सोऽपि हस्ती समुत्कीर्णतालो गीतरसादिव । उपेलोपेल निचलन् दूरमाकृष्टवा-
नृपम् ॥ ततोऽवस्थाच्च निर्गल तस्माच्चमयाद्गवात् । वल्लेश्वर त सनद्धाः पुरुषाः पर्यवार-
यन् ॥” इति ।

सुग्रीवः । यथा वा परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्त्या शान्तत्वापादनम्—
'पुण्या ब्राह्मणजातिः—' इति ।

प्रवेशत्रासनिष्क्रान्तिहर्षविद्रवसंभवम् ॥ १३६ ॥

अवपातनमित्युक्तं—

यथा कृत्यरावणे पष्ठेऽङ्के—('प्रविश्य खड्गहस्तः पुरुषः ।)' इत्यतः प्रभृति
निष्क्रमणपर्यन्तम् ।

पूर्वमुक्तैव भारती ।

अथ नाट्योक्तयः—

अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम् ॥ १३७ ॥

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्तद्भवेदपवारितम् ।

रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्त्य प्रकाश्यते ॥ १३८ ॥

त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।

अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम् ॥ १३९ ॥

किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते ।

श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ १४० ॥

यः कश्चिदर्थो यस्माद्गोपनीयस्तस्यान्तरत ऊर्ध्वसर्गाङ्गुलिनामिताना-
मिकं त्रिपताकलक्षणं करं कृत्वान्येन सह यन्मिथ्यते तज्जनान्तिकम् ।
परावृत्त्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितम् । शेषं स्पष्टम् ।

व्यक्तिभेदाद्धर्मभेदाच्च भवति । धर्मभेदाद्भेदप्रन्तरत्वमाह—यथा परशुरामस्येत्यादि ॥
चिद्रूपः पलायनम् । प्रवेशादिसंभवं वस्तु अवपातनमित्यर्थः ॥ पूर्वं स्थापकवर्त-
व्यरथनावसारे ॥ अश्राव्यं परस्य श्रवणायोग्यम् । परावृत्त्य स्थानान्तरं गत्वा ।
अन्तरा कथां कथामध्ये । अन्योन्यस्य यदामन्त्रणं गुप्यभाषणम् । जनान्ते
जनसमीपे । किं ब्रवीषीत्युक्त्वा । पात्रं श्रोतुनटम् । श्रुत्वा भवणाभिनयं कृत्वा ॥

१. स्वगतमिति । इहात्मशची स्वगतः ॥

२. त्रिपतायेति । मुनेरपि नवमास्याये चतुःषष्टिद्वयप्रविषादनावसारे—'प्रसा-
दिताः समाः सर्वा यस्याहुस्त्यो भवन्ति हि । मुनिश्च तथाहुः स पताक इति रमृतः ॥'
रायुक्त्वा 'पताये' ॥ यदा वक्रानामिका रश्मिर्भवेत् । त्रिपताकः स भिद्यः' इत्यनेन

दत्तां सिद्धां च सेनां च वेश्यानां नाम दर्शयेत् ।

दत्तप्रायाणि वणिजां चेटचेटयोस्तथा पुनः ॥ १४१ ॥

वसन्तादिषु वर्ण्यस्य वस्तुनो नाम यद्भवेत् ।

वेश्या यथा वसन्तसेनादिः । वणिग्विष्णुदत्तादिः । चेटः कल-
हंसादिः । चेटी मन्दारिकादिः ।

नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम् ॥ १४२ ॥

यथा रामाभ्युदयादिः ।

नायिकानायकाख्यानात्संज्ञा प्रकरणादिषु ।

यथा मालतीमाधवादिः ।

नाटिकासङ्घकादीनां नायिकाभिर्विशेषणम् ॥ १४३ ॥

यथा रत्नावली-कर्पूरमञ्जर्यादिः ।

प्रायेण प्यन्तकः साधिर्गमेः स्थाने प्रयुज्यते ।

यथा शाकुन्तले-ऋषी 'गच्छावः' इत्यर्थे 'साधयावस्तावत्' ।

दत्तामित्यादि नाम्नधरमाधलम् । तेन दत्तान्तादिनाम् । दत्तप्रायाणि दत्तान्त-
बहुलानि । वसन्तादिषु वर्ण्यस्य कलहंसादेर्यत्नात् तच्चेटस्य चेट्याश्च स्यादित्यर्थः ।
एकशेषाभावविध्यः । गर्भितो गर्भसंभिना सूचितो योऽर्थः प्रयोजनं तत्प्रकाशक-
मित्यर्थः । नायिकया सहितो नायको नायिकानायकः । अन्यथैक- (शेष) प्रस-
ङ्गात् । प्रकरणादिष्वित्यादिपदेन भाषादिपरिग्रहः । एतद्व्यायिकं तेन सौगन्धिका-
द्वरणादिसंज्ञापि ॥ प्रायेणेति । 'सुहं चिट्टव अजउत्तो । अहं यमिस्सम् ।' इत्यु-

त्रिपताकलक्षणं दर्शितवान् । संगीतरत्नाकरेऽपि पताकलक्षणमभिधाय । 'स एव त्रिपताकः
स्वादक्रियानामिकाहुलिः' इति त्रिपताकलक्षणमभिहितम् । मन्दारमरन्दे तु किञ्चिद्विशेषः—
'सर्वनीमूलसंलग्नकुञ्जिताकुण्डकः करः । गण्डयः संहताकारप्रसारिततलाहुलिः ॥ पताकः
स्वादय यदि वक्रितानामिकाहुलिः । स एव शोत्रगच्छाहि त्रिपताक इतीर्यते ॥' इति ॥

१. दत्तामित्यादि । अत्र विशेषः—'ब्रह्मसूत्रस्य नामानि शोत्रकर्मातुरूपतः । कान्ये
कार्याणि कविभिः शर्मवर्मेकृतानि च ॥ दत्तप्रायाणि नामानि वणिजां तु प्रयोजयेत् ।
श्रीयोदात्तानि नामानि तथा शरेषु योजयेत् ॥ विजयाशानि नामानि राजस्त्रोणां च
कारयेत् । दत्ता मित्राय सेनेति वेश्यानामानि कारयेत् ॥ नानाकुसुमनामानः प्रेम्णाः
'कार्यास्तु नाटके' । मञ्जुलार्थानि नामानि चेत्यनाममि कारयेत् ॥' इति ॥

राजा स्वामीति देवेति मृत्यैर्भट्टेति चाधमैः ॥ १४४ ॥
 राजर्षिर्भिर्यस्येति तथा विदूषकेण च ।
 राजन्नित्यृषिभिर्वाच्यः सौऽपत्यप्रत्ययेन च ॥ १४५ ॥
 स्वेच्छया नामभिर्विप्रैर्विप्र आर्येति चेतैः ।
 वयस्येत्यथवा नाम्ना वाच्यो राज्ञा विदूषकः ॥ १४६ ॥
 वाच्यौ नटीसूत्रधाराचार्यनाम्ना परस्परम् ।
 सूत्रधारं वदेद्भाव इति वै पारिषार्थिकः ॥ १४७ ॥
 सूत्रधारो मारिपेति हण्डे इत्यधमैः समाः ।
 वयस्येत्युत्तमैर्हो मध्यैरार्येति चाग्रजः ॥ १४८ ॥
 भगवन्निति वक्तव्याः सर्वैर्देवर्षिलिङ्गिनः ।
 वदेद्ब्राह्मीं च चेटीं च भवतीति विदूषकः ॥ १४९ ॥
 आपुष्मन्नथिनं सूतो वृद्धं तातेति चेतैः ।
 वत्सपुत्रकतातेति नाम्ना गोत्रेण वा सुतः ॥ १५० ॥
 शिष्योऽनुजश्च वक्तव्योऽमात्य आर्येति चाधमैः ।
 विप्रैरयममात्येति सचिवेति च भण्यते ॥ १५१ ॥

स्थाय गच्छतीति रत्नावल्यां गमेः प्रयोगोऽपि । राजा वाच्यः—इत्यन्वयः । स राजा ।
 अपत्यप्रत्ययेन च । अपत्यप्रत्ययान्तपदेन चेत्यर्थः । यथा—दाशरथे, पौरव,
 पाण्डव इत्यादि । एतच्च पुत्रादिसंबन्धिपदोपलक्षणम् । तेन रघुनन्दन इत्यादिनापि ।
 स्वेच्छयेति । अपत्यप्रत्ययेन नामभिर्वा विप्रैर्विप्रो वाच्यः । इतरैः क्षत्रियादिभिः
 रार्येति विप्रो वाच्य इत्यर्थः । तेनानर्घराघवादौ विश्वामित्रेति कौशिकेति कुशिकन-
 न्दनेत्यादिना दातानन्देन विश्वामित्र उक्तः । आर्यनाम्ना आर्यशब्देन नास्त्रयोग्यत्वा-
 दार्यान्न्देनाह्वानम् । तं पारिषार्थिकम् । समा आत्मवृत्त्याः । उत्तमैः समा वयस्येति
 वाच्यौ । मध्यमैर्हो इति समा वाच्याः । सर्वैरार्यैर्यमजो वाच्यः । इतरो युवा बालश्च ।

१. राजेति । अत्र विशेषः—‘राजपठ्यस्तु संभाष्याः सर्वाः परिजनेन तु । भट्टिनी
 स्वाग्निनी देवी इत्येवं नाटके मुपेः ॥ देवीति मदिषी वाच्या राजा परिजनेन तु । भोगिन्य
 इति शेषस्तु स्वाग्निन्य इति वा पुनः ॥’ इति ॥

२. हण्डे इति । हण्डे इत्यामन्त्रणोत्तरकमन्थवन् ॥

३. भगवन्निति । उक्तं च मुनी-क्षेत्रेण सप्तदशाध्याये—‘देवानामपि ये देवा महा-
 त्मानो महर्षयः । भगवन्निति ते वाच्याः वाक्तेषां शोभितस्तथा ॥ देवाश्च ऋत्विजश्च
 नानाधनधराश्च ये । भगवन्निति ते वाच्याः पुरुर्यः स्त्रीभिरेव च ॥’ इति ॥

साधो इति तपस्वी च प्रशान्तश्चोच्यते बुधैः ।
 स्वगृहीताभिधः पूज्यः शिष्यार्घ्यविनिगद्यते ॥ १५२ ॥
 उपाध्यायेति चाचार्यो महाराजेति भूपतिः ।
 स्वामीति, युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः ॥ १५३ ॥
 भद्रसौम्यमुखेत्येवमधमैस्तु कुमारकः ।
 वाच्या प्रकृतिर्भी राज्ञः कुमारी भर्तृदारिका ॥ १५४ ॥
 पतिर्यथा तथा वाच्या ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः ।
 हंलेति सदशी, प्रेप्या हंजे वेश्याञ्जुका तथा ॥ १५५ ॥
 कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या च जरती जनैः ।
 आमन्त्रणैश्च पापण्डा वाच्याः स्वसमयागतैः ॥ १५६ ॥
 शकादयश्च संभाष्या भद्रदत्तादिनामभिः ।
 यस्य यत्कर्म शिल्पं वा विद्या वा जातिरेव वा ॥ १५७ ॥

गोत्रेण अपत्यप्रत्यमान्तेन । अयममालः । प्रशान्तो वीतरागः । पूज्यो जनः
 शिष्यार्घ्यः स्वगृहीताभिधो विनिगद्यते इत्यन्वयः । स्वगृहीता स्वेच्छया प्रयुक्ता
 अभिधा पूज्यत्वं प्रकाशकनाम भगवन्निति महाभागेत्यादि वा यस्य सः । महाराजेति
 स्वामीति वा भूपतिर्विनिगद्यते इत्यन्वयः । युवराजः कुमारो भर्तृदारको वा वाच्याः ।
 कुमारको युवराजः । पतिर्यथेति । उत्तमेनोत्तमा स्त्री यस्येति, मध्येन मध्यमा
 ईहो इति, अधमेन अधमा हण्डे इति वाच्येत्यर्थः । सदशी आत्मतुल्या । कुट्टि-
 नी तथा अञ्जुका वाच्या । अनुगतैः सेवकैः पूज्या भव्येति वाच्या । जरती वृद्धा
 जनैरभ्येति वाच्या । आमन्त्रणैः संबोधनपदैः, स्वसमयागतैः स्वसंकेतप्राप्तिः कापा-
 लिकेत्यादिभिः । शकादयोऽन्तःपुरतहायाः प्राशुकाः । कर्म मालाकरणानि । शिल्पं

१. स्वगृहीतेति । स्वगृहीताभिध इति पाठस्तु साधीयान् ॥

२. हंलेति हंजे इति च । हंजे हंजे उभे अव्यये ॥

३. अञ्जुकेति । अकारद्वयघटितमध्योऽञ्जुकाशब्दः । नाट्यशास्त्रे तु—‘अञ्जुकेति
 भवेद्वाच्या वेश्या परिवर्जनेन तु । वा त्वत्र वृद्धा सा त्वम्भा भाष्या परिवर्जनेन ॥’
 इत्युक्तम् ॥

४. कुट्टिनीति । परनारीं पुंसां संयोजयित्री संमत्यपरपर्याया योषिद्व ॥

५. पापण्डेति । पापं सनोति ददातीति पापण्डः । अमन्त्राद्वः । प्रयोदरादिः । कव-
 गंद्रिदीपमध्यस्तु शं खण्डयन्ति । ‘खडि मेदने’ । अच् । उक्तं च—‘पापनाच प्रदी-
 धमैः पाशन्देन निगद्यते । तं खण्डयन्ति ते यसात्पापण्डास्त्येन हेतुना ॥’ इति ॥

६. शकादय इति । शक इति तु तत्र न दृश्यते (१०३ पृ.) ॥

तेनैव नाम्ना वाच्योऽसौ ज्ञेयाश्चान्ये यथोचितम् ।

अथ भाषाविभागः—

पुरुषाणामनीचानां संस्कृतं स्यात्कृतात्मनाम् ॥ १५८ ॥
 सौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योपिताम् ।
 आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्रीं प्रयोजयेत् ॥ १५९ ॥
 अथोक्ता मागधी भाषा राजान्तःपुरचारिणाम् ।
 चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठानां चार्धमागधी ॥ १६० ॥
 प्राच्या चिदूपकादीनां, धूर्तानां स्यादवन्तिजा ।
 योधनागरिकादीनां दाक्षिणात्या हि दीव्यताम् ॥ १६१ ॥
 शैवराणां शकादीनां शाबरीं संप्रयोजयेत् ।
 बाहीकभापोदीच्यानां द्राविडी द्रविडादिषु ॥ १६२ ॥
 आभीरेषु तथाभीरी चाण्डाली पुंक्षसादिषु ।
 आभीरी शाबरी चापि काष्ठपात्रोपजीविषु ॥ १६३ ॥
 तथैवाङ्गारकारादौ पैशाची स्यात्पिशाचवाक् ।
 चेटीनामध्यनीचानामपि स्यात्सौरसेनिका ॥ १६४ ॥

कलादिकर्म । विद्या भीमासादिः । जातिर्द्रोहणत्वादिः । तेनैव तत्कर्मादिप्रशङ्केन
 मालारादिपदेन । असौ मालाग्रादिः । ज्ञेयाश्चेति अन्ये-मिश्रादयो मिश्रादि-
 पदेन वाच्य इत्यर्थः । अनीचानामुत्तमगध्यमानाम् ॥ कृतार्त्तमानां पण्डितानां
 चेत्यर्थः । तादृशीनां गाथासु श्लोकेषु । अथ नाटकादौ । राजान्तःपुरचारिणां
 वामनाम्नीनाम् । चेटानां मृत्तानाम् । प्राच्या गौडीया । धूर्तानामक्षयिणाम् ।

१. अन्ये इति । शाक्यमिशुर्भेदन्तेति भगिनीपतिरायुजेति जनक आहुतेति राज-
 द्वालो राष्ट्रियेति वाच्य इति यथाशास्त्रमनुसंधेयम् ॥

२. भाषाविभाग इति । सामान्यगो भाषा सख्याता रङ्गदेन—‘प्राच्यसंस्कृत-
 मागधपिशाचभाषाश्च सूरसेनी च । यद्योऽथ भूरिभेदो देशविशेषादप्यग्रः ॥’ इति ।
 नाट्यशास्त्रे तु विशेषः—‘मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी । बाहीका दाक्षि-
 णाया च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः ॥’ इति ॥

३. पुंक्षसेति । पुंक्षसश्चाण्डालः ॥

४. अङ्गारेति । अङ्गारकारो लोहादिषुजीवी ॥

बालानां पण्डकानां च नीचग्रहविचारिणाम् ।

उन्मत्तानामातुराणां सैव स्यात्संस्कृतं क्वचित् ॥ १६५ ॥

ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्योपद्रुतस्य च ।

भिक्षुवल्कधरादीनां प्राकृतं संप्रयोजयेत् ॥ १६६ ॥

संस्कृतं संप्रयोक्तव्यं लिङ्गिनीपूतमासु च ।

देवीमन्त्रिसुतावेश्यास्तपि कैश्चित्तथोदितम् ॥ १६७ ॥

यद्देश्यं नीचपात्रं तु तद्देश्यं तस्य भाषितम् ।

कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाविपर्ययः ॥ १६८ ॥

योपित्तस्त्रीबालवेश्याकितवाप्तरसां तथा ।

वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृतं चान्तरान्तरा ॥ १६९ ॥

एषामुदाहरणान्याकरेषु बोद्धव्यानि । भाषालक्षणानि नम तात-
पादानां भाषार्णवे ।

पद्त्रिंशच्छृण्वान्यत्र, नाट्यालंकृतयस्तथा ।

त्रयस्त्रिंशत्प्रयोज्यानि वीथगङ्गानि त्रयोदश ॥ १७० ॥

लास्याङ्गानि दश यथालाभं रसव्यपेक्षया ।

यथालाभं प्रयोज्यानीति संबन्धः । अत्रेति नाटके ।

तत्र लक्षणानि—

भूषणाक्षरसंघातौ शोभोदाहरणं तथा ॥ १७१ ॥

हेतुसंशयदृष्टान्तास्तुल्यतर्कः पदोचयः ।

निदर्शनाभिप्रायौ च प्राप्तिर्विचार एव च ॥ १७२ ॥

दिष्टोपदिष्टे च गुणातिपातातिशयो तथा ।

दाक्षिणात्या वैदर्भी । पिशाचवाक् चेद्यानामपीत्यन्वयः । सैव सारसेनी एव ।
प्राकृतं सारसेन्यादिद्राविडीपर्यन्तानामन्यतमं महाराष्ट्रं वा । लिङ्गिनीषु संन्यागादि-
विहगारिणीषु । कार्यत इति । उत्तमस्य राजान्तःपुरवासिने सागरी न तु संस्तुतम् ।
एवमन्यत्रापि । अत एवानर्घरापवादी राजपुत्रस्यापि समबन्धादेरुत्तमसार्गकारित्वेन
संस्तुतेनेन व्याहारे वर्णितः न तर्पमागध्या । वैदग्ध्यार्थं वैदग्ध्यमात्रार्थम् ।
अन्तरा अन्तरा तत्तद्भाषणां मध्ये । एषां भाषाविशेषाणाम् । अत्र तेषु नाट्यपरि-
भाषार्णवे बोध्यानीति पूर्वान्वयः । यथालाभं यथायोग्यम् । रसव्यपेक्षया रस-

विशेषणनिरुक्ती च सिद्धिर्भ्रंशविपर्ययौ ॥ १७३ ॥

दाक्षिण्यानुनयौ मालार्थापत्तिर्गर्हणं तथा ।

पृच्छा प्रसिद्धिः सारूप्यं संक्षेपो गुणकीर्तनम् ॥ १७४ ॥

लेशो मनोरथोऽनुक्तसिद्धिः प्रियवचस्तथा ।

तत्र—

लक्षणानि गुणैः सालंकारैर्योगस्तु भूषणम् ॥ १७५ ॥

यथा—

‘आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे ! तवं मुखश्रियम् ।

कोपदण्डसमप्राणां किमेवामस्ति दुष्करम् ॥’

वर्णनाक्षरसंघातश्चित्रार्थैरक्षरैर्मितैः ।

यथा शाकुन्तले—‘राजा—कच्चित्सखी वो नातिबाधते शरीर-
संतापः । प्रियंवदा—संपदं लघोसहो उभयसमं गमिस्सदि ।’

सिद्धैरर्थैः समं यत्राप्रसिद्धोऽर्थः प्रकाशते ॥ १७६ ॥

श्लिष्टैश्चक्षुषणचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते ।

यथा—

‘सद्वंशसंभवः शुद्धः कोटिदोऽपि गुणान्वितः ।

कामं धनुरिव क्रूरो वर्जनीयः सतां प्रभुः ।

काहूया । यस्मिन्नेते यदाग्राहितं योग्यं च भवति तत्तस्मिन्वर्णनीयमिति भावः ॥
गुणैर्माधुर्यैः प्रगादैर्यमकोपमायलंकारसहितैर्योगः परस्परमेलकः ॥ आक्षिपन्ति नि-
न्दन्ति । कोपो वीजकोपो भाण्डागारश्च । दण्डो नालं चतुर्थोपायश्च । अत्रारविन्दाना-
मपेतनतया निन्दा न संभवतीत्युपमा कल्प्यत इति निदर्शना । एवं च निदर्शनार्थान्तर-
न्यासश्लेषालंकारसहिताभ्यां माधुर्यप्रसादाभ्यां योगः ॥ चित्रो विदग्धमनोरमोऽर्थो
देवो तैरक्षरैः पदैः ॥ यो गुण्याकं सती शाकुन्तल्यं शरीरसंतापः स्मरज्वाला । ‘सां प्रमं
लघोयधमुपशमं गमिष्यति’ इति संस्कृतम् ॥ सिद्धैः साधयितुमारब्धैः । श्लिष्टं (स-
क्षुषणं) धियोऽर्थो यस्याः सा वर्णना ॥ यंशोऽन्वयायो वेणुश्च । कोटिः संख्याविज्ञे-
योऽर्थं च । गुणः दौर्गादिः मोर्वी च । क्रूरः कुटिलः कठिनश्च । अत्र सिद्धैरन्यथादिभिः

१. गुणैरिति । बोधशास्त्राये भरतेनाप्युक्तम्—‘अलंकारैर्गुणैश्च बहुभिः समं कृ-
तम् । भूषणैश्च निन्दलैश्च कृतमिति स्पष्टम् ॥’ इति ॥

१. ‘प्रमं क. स. २. ‘अप्यन्ति’ क. ल. ग. ३. ‘तव’ क. ल. ग. ४. ‘कथनं’ क. ५. ‘देव-
रत्नैः’—वेणुश्च । इत्यन्तं पाठः पुस्तकान्तरे कश्चि. ६. ‘श्लिष्टमन्त्र’ इति कश्चि.

यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ॥ १७७ ॥
साध्यतेऽभिमतश्चार्थस्तदुदाहरणं मतम् ।

यथा—

‘अनुयान्त्या जनातीतं कान्तं साधु त्वया कृतम् ।
का दिनश्रीर्विनाकेण का निशा शशिना विना ॥’
हेतुर्वाक्यं समासोक्तमिष्टकृद्देतुदर्शनात् ॥ १७८ ॥

यथा वेण्यां भीमं प्रति ‘चेटी—एवं मए भणिदं भाणुमदि, उ-
हाणं अमुकेसु केसेसु कहं देवीए केसा संजमिअन्तिचि ।’

संशयोऽज्ञाततत्त्वस्य वाक्ये स्याद्यदनिश्चयः ।

यथा ययातिविजये—

‘इयं स्वर्गाधिनाथस्य लक्ष्मीः किं यक्षकन्यका ।
किं चास्य विषयस्यैव देवता, किमु पार्वती ॥’
दृष्टान्तो यस्तु पक्षेऽर्थसाधनाय निदर्शनम् ॥ १७९ ॥

सममेकदेव प्रसिद्धो वेण्वादिरथो भासते ॥ अभिप्रदर्शनाद् बहुतरभिप्रायात् ।
साध्यते ज्ञाप्यते । अभिमतो योधयितुमिष्टः ॥ अनुयान्त्येति । कान्तमरणेन
दुःखमनुभवन्त्या जपिरियम् । अत्रार्कं विना दिनधीरिव दक्षिणं विना निशेन कान्तं
विना योपिदशोभेवेति प्रतीयते ॥ समासेन संक्षेपेण उक्तम् । इष्टकृदगीष्टार्थबोध-
करम् ॥ ‘एवं मया भणितं भाणुमति, गुप्ताकममुकेषु केसेषु कथं देव्याः केशाः
संयम्यन्ते’ इति संस्कृतम् । अत्र द्रौपदीकेशासंयमनस्य हेतुर्भाणुमतीकेशामोक्षणं
तद्दर्शनेन दुर्योधनवधे सत्वेन देव्याः केशमन्धनं भविष्यतीत्यभिमतार्थबोधः ॥ अस्मा-
ततत्त्वस्य अज्ञातविशेषस्य । ‘यत्’ इत्यप्ययं ‘यः’ इत्यर्थः ॥ विषयस्य देवतास्य ॥
दृष्टान्त इति । पक्षेऽर्थस्य साध्यस्य साधनाय ज्ञापनाय निदर्शनं हेतुदर्शनम् ॥

१. देतुरिति । नाट्यशास्त्रेऽयुक्तम्—‘बहूनां भावमाणानामनेकाधेविनिर्णयार्थं ।
सिद्धौ समानवचनं देतुरित्यभिहितम् ॥’ इति ॥

२. संशय इति । उक्तं च मुनिना—‘अपरिज्ञाततत्त्वार्थं यत्र वाक्यं समाप्यते ।
अनेकत्वादिवाराणां संशयः परित्यज्यते ॥’ इति ॥

३. दृष्टतेति । एतद्विषयाभिप्रायीत्यर्थः ॥

४. दृष्टान्त इति । मुनिनायुक्तम्—‘सिद्धौ पूर्वोपलब्धौ यः समानवचनस्यार्थः ।
निर्दोषस्तत्त्वार्थः स दृष्टान्त इति दृष्टम् ॥’ इति ॥

यथा वेण्याम्—‘सहदेवः—आर्य, उचितमेवैतत्तस्या यतो दुर्यो-
धनकलत्रं हि सा’ इत्यादि ।

तुल्यतर्को यदर्थेन तर्कः प्रकृतिगामिना ।

यथा तत्रैव—

‘प्रायेणैव हि दृश्यन्ते कामं स्वप्नाः शुभाशुभाः ।

शतसंख्या पुनरियं सानुजं स्पृशतीव माम् ॥’

संचयोऽर्थानुरूपो यः पदानां स पदोच्चयः ॥ १८० ॥

यथा शाकुन्तले—

‘अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।

कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् ॥’

अत्र पदपदार्थयोः सौकुमार्यं सहशमेव ।

यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्तनम् ।

परपक्षव्युदासार्थं तन्निदर्शनमुच्यते ॥ १८१ ॥

तस्या भानुमत्याः । सा भानुमती ॥ अर्थेन वस्तुना तर्को भाव्यर्थसूचनम् ।
प्रकृतिगामिना प्रकृतेन, न तु प्रकृतिविपर्यासरूपेण अकृतेन ॥ प्रायेणैवेति ।
स्वप्नदर्शनस्य प्रकृतत्वज्ञापनायेदम् ॥ संचयः समूहः । अर्थानुरूपोभिधेयसदृशः ।
सुकुमारार्थं सुकुमारपदसंचयस्य, उद्भटार्थं उद्भटपदसंचयस्य प्रयोग इत्यर्थः ॥
अधर इति । विटपानुकारिणो शाखासदृशौ । यथा वा—‘प्रागप्राप्तनिशुम्भशांभवध-
नुर्द्धेधाविधाविर्भवत्क्रोधप्रेरितमीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्धः क्षणात् । सज्ज्वालः परशु-
र्भवत्यशिधिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथियेनानेन जगत्सु स्रग्दपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते ॥’

१. अधर इति । अधरोऽधरोष्ठः किसलय इव रागो यस्य सः । बाहू विटपी
रक्तगोर्ध्वशाखे तदनुकारिणौ तत्सदृशौ । ‘स्वगन्धादूर्ध्वं तरोः शाखा कट्यो विटयो मतः’
इति कात्यायनः । कोमलशब्देन लघोरग्रजत्वं व्यज्यते । अङ्गेषु संनद्धं संनाहं प्रापितम् ।
अत्युत्पलमिति यावत् । अत्राङ्गेष्विति बहुवचनेन वदने वाङ्मिमत्ता, नेत्रयोस्तर-
लता, कण्ठे कम्पुत्रिरेखावस्त्वम्, वक्षसि स्तोमधूम्रमपम्, नाभौ गभीरता, निम्बे
मत्पनिद्रावम्, उभयभागे चतुरस्रत्वम्, जघनजङ्घानानुमण्डनोरुदेशानां मांसलत्वम्,
गती सविलासवमिलादि ध्वनितम् । संनद्धशब्दः प्रकृते बाधितनुरवयवैः सन् यः
संनद्धो भवति तदाहेन प्रकटो भवतीति प्राकट्यसंरम्भेन यौवनं लक्षयंस्तद्वत्प्रतिपक्षं
व्यनक्ति । यौवनं कुसुममिव लोभनीयं चित्ताकर्षकम् । अङ्गेषु संनद्धमित्यत्रापि योजनी-
यम् । एताङ्गेषु संनद्धमित्यर्थः ॥

२. व्युदासार्थमिति । व्युदासो निरासः ॥

३. स्रग्दपरशुरिति । ‘स्रग्दहतीति स्रग्दः सर्वग्रेदकः परशुर्वस्य सः स्रग्दपरशुः’
इति लिङ्गपुराणव्याख्या ॥

यथा वेणयाम्—‘सहदेवः—

यद्वैद्युतमिव ज्योतिरार्ये कुद्वेऽद्य संभृतम् ।

तत्प्रावृडिव कृष्णेयं नूनं संवर्धयिष्यति ॥’

उपदिष्टं मनोहारि वाक्यं शास्त्रानुसारतः ।

यथा शाकुन्तले—

‘शुश्रूषस्व गुरुन्, कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,

भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।

भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने, भाग्येष्वनुत्सेकिनी,

यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो, वामाः कुलस्याधयः ॥’

गुणातिपातः कार्यं यद्विपरीतं गुणान्प्रति ॥ १८४ ॥

यथा मम चन्द्रकलायां चन्द्रं प्रति—

‘जह सहरिज्जह तमो घेय्यह सभलेहि ते पाञ्च ।

वससि सिरे पशुवह्णो तहवि हे इस्थीअ जीअणं हरसि ॥’

यः सामान्यगुणोद्रेकः स गुणातिशयो मतः ।

यथा तत्रैव—‘राजा—(चन्द्रकलायां मुखं निर्दिश्य ।)

असावन्तश्चन्द्रिकचनवनीललज्जयुगल-

स्तलस्फूर्जत्कम्बुर्विलसदलिसंघात उपरि ।

विना दोषासङ्गं सततपरिपूर्णाखिलकलः

कुतः प्राप्तश्चन्द्रो विगलितकलङ्कः सुमुखि । ते ॥’

प्रावृडिव वर्षाकाल इव ॥ शुश्रूषस्वेति । पतिगेहं गच्छन्तीं शाकुन्तलां प्रति कृष्णस्योपदेशोऽयम् ॥ गुणान् प्रतीति । गुणानामित्यर्थः ॥ जह इति । ‘यदि संह्रियते तमो गृह्यते सकलस्ते पादः । वससि धिरसि पशुपतेस्तथापि हा क्रिया जीवनं हरसि ॥’ इति संस्कृतम् । अत्र चन्द्रस्य स्त्रीवधस्वमोहरणादिगुणविपरीतं कार्यम् ॥ सामान्यगुणेभ्य उपमानोपमेयवृत्तिसाधारणधर्मेभ्य उद्रेक आधिक्यमुपमेयस्य ॥ तले अधोभागे स्फूर्जन् देदीप्यमानः कम्बुः कण्ठरूपो यस्य सः । दोषा-

१. शुश्रूषस्वेति । अत्र समासेन वात्स्यायनोक्तमेकचारिणीवृत्तं स्पष्टीतं कविकुल-
गुणम् ॥

२. विलसदिति । अलिसंघातेन केशपाशोऽभिप्रेतः ॥

१. गद्यीकृतेयमार्पां पुराणे. २. ‘ह’ इति नास्ति च-पुस्तके.

सिद्धानर्थान्वहूनुक्त्वा विशेषोक्तिर्विशेषणम् ॥ १८५ ॥

यथा—

‘तृष्णापहारी विमलो द्विजावासो जनप्रियः ।

हृदः पद्माकरः किंतु बुधस्त्वं स जलाशयः ॥’

पूर्वसिद्धार्थकथनं निरुक्तिरिति कीर्त्यते ।

यथा वेण्याम्—

‘निहताशेषकौरव्यः—’ इत्यादि । (३१४ पृ०)

बहूनां कीर्तनं सिद्धिरभिप्रेतार्थसिद्धये ॥ १८६ ॥

यथा—

‘यद्वीर्यं कूर्मराजस्य यश्च शेषस्य विक्रमः ।

पृथिव्या रक्षणं राजन्नेकत्र त्वयि तत्स्थितम् ॥’

दृष्टादीनां भवेद्धंशो वाच्यादन्यतरद्वयः ।

वेण्याम्—कञ्चुकिनं प्रति ‘दुर्योधनः—

सहमृत्युगणं सवान्धवं सहमित्रं समुतं सहानुजम् ।

स्वबलेन निहन्ति संयुगे नचिरात्पाण्डुसुतः दुर्योधनम् ॥’

विचारस्थान्यथाभावः संदेहात्तु विपर्ययः ॥ १८७ ॥

सर्गं विना । दोषरहित इत्यर्थः । अथ च दोषा रात्रिस्तस्याः सर्गं विना । कलाः कलाशालाणि षोडशभागश्च । अत्राद्यादकत्यादिसाधारणधर्मेभ्यो नीलाञ्जयुगलादि-
संयन्धाधिन्यं मुख्यम् ॥ अर्थानिति । सिद्धान् प्रसिद्धान् । विशेषोक्तिर्भेद-
कथनम् ॥ तृष्णेति । हृदस्त्वं चैताहृदः । किं तु त्वं बुधः, स हृदो जलाशयः
सलिलमान्, जाञ्जयुक्श्च । तृष्णा धनेच्छा, पिपासा च । मलः पापं, पङ्कजः ।
द्विजा विप्राः, पक्षिणश्च । लक्ष्मीकरः, पद्मानामाधारश्च । अत्रान्यपादे विशेषस्थ-
नम् । व्यतिरेकालंकारोऽयम् ॥ बहूनामिति । एतदनेकोपलक्षणम् । तेन नोचो-
दाहरणासंग्रहः । एकस्मिन्बहूनां गुणकथनमित्यर्थः ॥ यद्वीर्यमिति । अत्र राशः
पृथिवीपालनभारमहिष्णुतातिशयबोधाय तदुभयकीर्तनम् ॥ दृष्टादीनामित्यादिपदेन
दृष्टदुःखितादीनां ग्रहणम् । वाच्याद्रक्षुमिष्टादन्यतरद्विपरीतम् ॥ नचिरादिति ।
चिरम् इन्तीति वक्षुमिष्टम्, अचिरादन्तीत्यन्यथा जातम् ॥ विचारस्य तरवनि-

१. “न चिरात्पाण्डुसुतं दुर्योधनः” इत्येवं वक्तव्ये “नचिरात्पाण्डुसुतः दुर्योधनम्”
इति विपरीतगुणम्” इत्युच्यते ॥

यथा—

‘मत्वा लोकमंदातारं संतोषे यैः कृता मतिः ।
त्वयि राजनि ते राजन्न तथा व्यवसायिनः ॥’

दाक्षिण्यं चेष्टया वाचा परचिचानुवर्तनम् ।

वाचा यथा—

‘प्रसाधय पुरी लङ्कां राजा त्वं हि विभीषण ! ।

आर्येणानुगृहीतस्य न विघ्नः सिद्धिमन्तरा ॥’

एवं चेष्टयापि ।

वाक्यैः स्निग्धैरनुनयो भवेदर्शस्य साधनम् ॥ १८८ ॥

यथा चेष्ट्याम्—अश्वत्थामानं प्रति ‘कुपः—दिव्यास्त्रमामकोविदे
भारद्वाजतुल्यपराक्रमे किं न संभाव्यते त्वयि ।’

माला स्वाद्यदमीष्टार्थं नैकार्थप्रतिपादनम् ।

यथा शाकुन्तले—‘राजा—

किं शीकरैः क्लमविमर्दिभिराद्रैवातं

संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तम् ।

अङ्गे निवेश्य चरणाधुत पद्मताम्री-

संवाहयामि करमोरु । यथासुखं ते ॥’

अर्थापत्तिर्यदन्यार्थोऽर्थान्तरोक्तेः प्रतीयते ॥ १८९ ॥

अथस्यान्यथाभावोऽभावः ॥ संतोषे घनतृष्णावमजन्यमुपे । न तथा व्यवसायिनः
दातृत्वनिषेधवन्तः । अत्र भवद्विधे दातृरि दातृत्वनिषेधयामाव एव विचारभावः ॥
परचिचिस्तानुवर्तनम् ॥ आर्येण धीरामेण । अन्तरा मध्ये ॥ चेष्टया यथा
शाकुन्तले—‘तददमेनामनृणां परोमि । इत्यदुलीयकं ददाति ।’ अत्रादुलीयदान-
रूपचेष्टया शाकुन्तलचिराशीर्णम् ॥ ‘चाक्यैरिति ।’ अर्थस्य ‘प्रयोजनस्य ॥’ ‘मार्-
द्वाजो द्रोणः ॥ मालेति । अमीष्टार्थं सामीष्टविद्ये । नैकार्थप्रतिपादनमने-
पकार्यस्य शापनम् ॥ शीकरैरमुद्गैः अर्धः शीतलो वातो यस्य तत् । संचा-
रयामि म्यापारयामि । नलिनीदलमेव तालवृन्तम् । ‘वृन्ते-’ इति पाठे शीतरेः
सह नलिनीदलतालवृन्तेष्वर्धवानं संचारयामि, स्मरतस्तत्तरीं प्रापयामि । अत्र दुष्प-
न्तस्य मुरतरूपसामीष्टविषयं शाकुन्तल्यस्य सामीरसचारपादसंवादनार्थमोर्धपनम् ॥

यथा वेण्याम्—द्रोणोऽश्वत्थामानं राज्येऽभिषेकुमिच्छतीति कथ-
यन्तं कर्णं प्रति 'राजा—साधु अङ्गराज, साधु । कथमन्यथा ।

दत्त्वामयं सोऽतिरथो वध्यमानं किरीटिना ।

सिन्धुराजमुपेक्षेत नैवं चेत्कथमन्यथा ॥'

दूषणोद्धोषणायां तु भर्त्सना गर्हणं तु तत् ।

यथा तत्रैव—कर्णं प्रति 'अश्वत्थामा—

निर्वार्य गुरुशापभाषितवशार्त्तिकं मे तवेवायुधं .

संप्रत्येव भयाद्विहाय समरं प्राप्तोऽस्मि किं त्वं यथा ।

जातोऽहं स्तुतिवंशकीर्तनविदां किं सारथीनां कुले

क्षुद्रारातिकृताभियं प्रतिकरोम्यस्त्रेण नास्त्रेण यत् ॥'

अभ्यर्थनापरैर्वाक्यैः पृच्छार्थान्वेषणं मत्ता ॥ १९० ॥

यथा तत्रैव—'सुन्दरकः—अज्जा, अवि णाम सारपिदुदिओ-
दिट्ठो तुप्पेहिं महाराजो दुर्योधनो ण वेत्ति ।'

प्रसिद्धिलोकसिद्धार्थैस्तत्कृतैरर्थसाधनम् ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—'राजा—

सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ ।

सयं कृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च शुवा च यः ॥'

सारूप्यमनुरूपस्य सारूप्यात्क्षोभमवर्धनम् ॥ १९१ ॥

अर्थापत्तिरिति ॥ अङ्गराज इति कर्णसंबोधनम् । कथमन्यथेति । भवता
यक्तव्यम् । इति शेषः ॥ स द्रोणः । सिन्धुराजं जयद्रथम् । एवं पुत्राभिषेक-
मिप्रायः । अन्यथा प्रकारान्तरेण । अत्र सिन्धुराजोपेक्षारूपार्थान्तरोक्त्या द्रोणस्य
पुत्राभिषेकमिप्रायः प्रतीयते ॥ दूषणोद्धोषणायामिति कृतायामिति शेषः ॥
अभ्यर्थनापरैः सविनयैः ॥ अज्जा इति । 'आर्या, अपि नाम सारपिद्वितीयो
एषो पुष्पाभिर्महापुत्रो दुर्योधनो न वेत्ति' । इति संस्कृतम् ॥ लोकसिद्धार्थैः
लोकख्यातपशुभिः । अर्थसाधनं पदार्थपरिचयः ॥ सूर्याचन्द्रमसाविति ।
अत्र सूर्यादिभिः प्रसिद्धार्थैः पुरुरवतः परिचयः ॥ अनुरूपस्य सदृशस्य सारूप्यात्

१. स्तुतिवंशेति । स्तुतिवंशयोः कीर्तनं निदिष्टं नै वेत्ति सारथीनां यज्ञानाम् ॥

२. अस्त्रेणेति । अस्त्रेण नवनाम्नसा ॥

यथा वेण्याम्—दुर्योधनभ्रान्त्या भीमं प्रति 'युधिष्ठिरः—दुरात्मन्,
दुर्योधनहतक—' इत्यादि ।

संक्षेपो यत्तु संक्षेपादात्मान्यार्थे प्रयुज्यते ।

यथा मम चन्द्रकलयाम्—'राजा—प्रिये,

अङ्गानि खेदयसि किं शिरीषकुसुमपरिपेलवानि मुषा ।

(आत्मानं निर्दिश्य ।)

अयमीहितकुसुमानां संपादयिता तवास्ति दासजनः ॥'

गुणानां कीर्तनं यत्तु तदेव गुणकीर्तनम् ॥ १९२ ॥

यथा तत्रैव—

'नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिजप्रत्यर्थि—' इत्यादि (११० पृ.) ।

स लेशो भण्यते वाक्यं यत्सादृश्यपुङ्गवसम् ।

यथा वेण्याम्—'राजा—

हते जरति गाङ्गेये पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।

या श्लाघा पाण्डुपुत्राणां सैवास्माकं भविष्यति ॥'

मनोरथस्त्वभिप्रायस्योक्तिर्मङ्गलान्तरेण यत् ॥ १९३ ॥

यथा—

'रतिकेलिकलः किञ्चिदेष मन्मथमन्थरः ।

पश्य मुमु ! समालम्भात्कादम्बश्चुम्बति प्रियाम् ॥'

विशेषार्थोहविस्तारोऽनुक्तसिद्धिरुदीर्यते ।

सादृश्यजनितभ्रमात् । 'अनुभूतस्य' इति पाठे सादृश्यादनुभूतस्य भ्रमविषयस्यैत्यर्थः ।
संक्षेपात् अविशेषात् । अन्यार्थे अर्थान्तरस्थाने । प्रयुज्यते निर्दिश्यते ॥ अय-
मिति । अत्रायमित्यनेन आत्मा अन्यो वेति न विशेषकथनम् । अत एवार्थान्तर-
स्थाने आत्मनः प्रयोगः ॥ सादृश्यपुङ्गवसं सादृश्यतात्पर्यकम् ॥ गाङ्गेये भीष्मे ।
सैवेति तत्तुल्यश्लाघायां तात्पर्यम् । यया वृद्धस्य छलेन श्लाघानुपयुक्ता तथा अस्मा-
कमपि बालकस्यैकाकिनोऽभिमन्योर्बहुभिर्हनने भविष्यतीति भावः ॥ उक्तिर्ज्ञा-
पनम् । भङ्गवान्तरेण । सदृशदर्शनादिना ॥ रतिकेलिं कलयति सः । यद्वा रस्य
केलिकल्य यस्य सः । समालम्भादादराधिक्यात् । कादम्बः कलहंतः । अत्र
प्रियायै कादम्बस्य प्रियानुम्वनं दर्शयता नायकेन स्वस्य प्रियानुम्वनाभिप्रायः
सूचितः ॥ विशेषेति । रूपत्ववर्ण्यातिशयज्ञापनं विशेषः तस्यै प्रयोजनं विशेषार्थः ।

यथा—‘गृहवृक्षवाटिकायाम्—

दृश्यते तन्वि । यावेतौ चारुचन्द्रमसं प्रति ।

प्राज्ञे कल्याणनामानाबुधौ तिप्यपुनर्वसू ॥’

स्यात्प्रमाणयितुं पूज्यं प्रियोक्तिर्हर्षभाषणम् ॥ १९४ ॥

यथा शाकुन्तले—

‘उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः ।

निमित्तनैमित्तिकयोरयं विधिस्तव प्रसादस्य पुस्तु संपदः ॥’

अथ नाट्यालंकाराः—

आशीराक्रन्दकपटाक्षमागर्बोद्यमाश्रयाः ।

उत्प्रासनस्पृहाक्षोभपश्चात्तापोपपत्तयः ॥ १९५ ॥

आशंसाध्यवसायौ च विसर्पोल्लेखसंज्ञितौ ।

उत्तेजनं परीवादो नीतिरर्थविशेषणम् ॥ १९६ ॥

प्रोत्साहनं च साहाय्यमभिमानोऽनुवर्तनम् ।

उत्कीर्तनं तथा याज्ज्ञा परिहारो निवेदनम् ॥ १९७ ॥

प्रवर्तनाख्यानयुक्तिप्रहर्षाश्चोपदेशनम् ।

इति नाट्यालंकृतयो नाट्यभूषणहेतवः ॥ १९८ ॥

आशीरिष्टजनाशंसा—

यथा—शाकुन्तले—

‘ययातेरिव शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमता भव ।

पुत्रं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुषवामुहि ॥’

आक्रन्दः प्रलपितं शुचा ।

यथा वेण्णयाम्—‘कञ्चुकी—हा देवि कुन्ति, राजमवनपताके—’
इत्यादि ।

ऊहविस्तारस्वर्कातिशयः ॥ दृश्यते इति । गृहोपवने विधामित्रसमीपे श्रीरा-
मलक्ष्मणौ दृष्ट्वा सीतां संबोध्य तत्सखीनां वितर्कवर्णनमिदम् । अत्र चन्द्रादीनां
पृथिव्यामसंभवे वितर्कातिशयः ॥ प्रमाणयितुं प्रमाणं कर्तुम् । हर्षजनकं भाषणं
हर्षभाषणम् ॥ निमित्तनैमित्तिकयोर्हेतुफलयोः । अयं पौर्वापर्यरूपो विधिः क्रमः ॥
नाट्यालंकारमाह—अथेति । अलंकृतिपदस्य योगार्थमाह—नाट्यभूषणहेतवः
इति ॥ इष्टजनस्य चन्धोराशंसा अभिमतप्राप्तीच्छा ॥ सम्राजं राजसमूहस्य

कपटं मायया यत्र रूपमन्यद्विभाज्यते ॥ १९९ ॥

यथा कुलपत्यङ्के—

‘मृगरूपं परित्यज्य विधाय कपटं वपुः ।

नीयते रक्षसा तेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥’

अक्षमा सा परिभवः खल्वोऽपि न विपद्यते ।

यथा शाकुन्तले—‘राजा—भोः सत्यवादिन्, अभ्युपगतं ताव-
दस्माभिः । किं पुनरिमामेतिसंधाय लभ्यते । शार्ङ्गरवः—विनि-
पातः—’ इत्यादि ।

गर्वोऽवलेपजं वाक्यं—

यथा तत्रैव—‘राजा—ममापि नाम सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः ।’

कार्यसारम् उद्यमः ॥ २०० ॥

यथा कुम्भाङ्के—‘रावणः—

पश्यामि शोकविचशोऽन्तर्कमेव तावत्’ ।

ग्रहणं गुणवत्कार्यहेतोराश्रय उच्यते ।

यथा विभीषणनिर्मर्त्सनाङ्के—‘विभीषणः—राममेवाश्रयामि ।’
इति ।

उत्प्राप्तनं तूपहासो योऽसाधौ साधुमानिनि ॥ २०१ ॥

यथा शाकुन्तले—‘शार्ङ्गरवः—राजन्, अथ पुनः पूर्ववृत्तान्तमन्य-
सङ्गाद्विस्मृतो भवान् । तत्कथमधर्मभीरोर्दारपरित्यागः—’ इत्यादि ।

शास्त्रारम् । स्तेव शर्मिष्ठेव । अत्र कण्वस्य शाकुन्तलाया अभीष्टलाभेच्छा ॥ विभाज्यते
प्रकाशयते । स्तेन मारीचेन ॥ अक्षमेति । खल्वस्यापि परिभवस्यासह्यमित्यर्थः ॥
‘भोः—’ इत्यादि ‘—लभ्यते’ इत्यन्तं दुष्यन्तवचनम् ॥ शार्ङ्गरवः कण्वशिष्यः ।
आह इति शेषः । ‘विनिपातः’ इति ‘लभ्यते’ इत्यनेनान्वेति । अत्र राजकृतस्या-
ल्पस्यापि परिभवस्य शार्ङ्गरवेणासह्यम् ॥ अवलेपजमहंकारजन्यम् ॥ सत्त्वैः
प्राणिभिः पश्यामीति । अत्र समरोद्यमः सूचितः ॥ गुणवदिति । उत्कृष्टे-
त्यर्थः ॥ राममेवेति । अत्र विभीषणस्य स्वराज्यप्राप्तिरूपोत्कृष्टकार्यस्य हेतुः
धीरामाश्रयः ॥ आत्मानं साधुं मन्यते साधुमानी तस्मिन् ॥ अथ पुनरिति

१. अतिसंघायेति । अतिसंघाय अन्यथा सिद्धयित्वा ॥

आकाङ्क्षा रमणीयत्वाद्भस्तुनो या स्पृहा तु सा ।

यथा तत्रैव—‘राजा—

चारुणा स्फुरितेनायमपरिक्षितकोमलः ।

पिपासतो ममानुज्ञां ददातीव प्रियाधरः ॥’

अधिक्षेपवचःकारी क्षोभः प्रोक्तः स एव तु ॥ २०२ ॥

यथा—

‘त्वया तपस्विचाण्डाल ! प्रच्छन्नवधवर्तिना ।

न केवलं हतो वाली स्वात्मा च परलोक्तः ॥’

मोहेनावधीरितार्थस्य पथात्तापः स एव तु ।

यथानुतापाङ्के—‘रामः—

किं देव्या न विचुम्बितोऽसि बहुशो मिथ्यामिश्रसत्तदा’ इति

उपपत्तिर्मता हेतोरुपन्यासोऽर्थसिद्धये ॥ २०३ ॥

यथा वध्यशिलायाम्—

‘प्रियते प्रियमाणे या त्वयि जीवति जीवति ।

तां यदीच्छसि जीवन्तीं रक्षात्मानं ममासुभिः ॥’

आशंसनं स्यादाशंसा—

यथा, दमदाने—‘माधवः—

संक्षेपेयमनङ्गमङ्गलगृहं मूयोऽपि तस्या मुखम्’ इति ।

वितर्कं । पूर्ववृत्तान्तं द्रष्टुं न ताया गान्धर्वमिवाद्भ्यम् । अन्यसद्भाद् भार्यान्त-
रसंत्तर्गात् । सत्कथमिति । अन्यथा कथमित्यर्थः ॥ अपरिक्षितो नायकेनादृष्टः ।
अत एव क्षोभः ॥ अधिक्षेपवच्चो भर्त्सनवाच्यम् । क्षोभधित्वव्या स एव
क्षोभनामालंकार एव ॥ प्रच्छन्नवधवर्तिना अलङ्कितदिङ्मासरीणा ॥ मोहेना-
वधीरितस्यावज्ञातस्य अर्थस्य प्रयोजनस्य । स एव पथात्तापलंकार एव ॥ देव्या
सीतया । मिथ्यामिश्रसत्ता मिथ्यादत्तागतिवादः । अत्र मोहेनावधीरिते शुम्भनस्यै
पथात्तापः ॥ म्रियते इति । अत्र तस्या जीवनेहेतुस्य चरीररक्षणम् ॥ आशं-

१. मोहेति । नाट्यशास्त्रेऽप्युक्तम्—‘अकार्यं वदता वदता वदता कार्यमवाप्ति वा ।
संज्ञतो मनसो वस्तु पथात्तापः स कीदृशः ॥’ इति ॥

२. तदिदि । ‘संक्षेपेयं वृत्तान्तिं वेदति परं भूयानमादृष्टे वदारीकृतवाचना-

प्रतिज्ञाध्यवसायकः ।

यथा मम प्रभावत्याम् 'वज्रनाभः—

अस्य वक्षः क्षणेनैव निर्मथ्य गदयानया ।

लीलयोन्मूलयाम्येषं भुवनद्वयमद्य वः ॥'

विसर्पो यत्समारब्धं कर्मानिष्टफलप्रदम् ॥ २०४ ॥

यथा वेण्याम्—

'एकस्यैव विषाकोऽयम्—' इत्यादि (३१२ पृ.) ।

कार्यदर्शनमुख्यः—

यथा शाकुन्तले—राजानं प्रति 'तापसौ—समिदाहरणाय प्रस्थितावावाम् । इह चासन्नुरोः साधिदैवत इव शकुन्तलयानुमालिनीतीरं माश्रमो दृश्यते । न चेदन्य (था) कार्यातिपातः, प्रविश्य गृह्यतामतिथिसंस्कारः' इति ।

उत्तेजनमितीप्यते ।

स्वकार्यसिद्धयेऽन्यस्य प्रेरणाय कठोरवाक् ॥ २०५ ॥

यथा—

'इन्द्रजिच्चण्डवीर्योऽसि नास्मैव बलवानसि ।

धिग्धिक्प्रच्छन्नरूपेण युध्यसेऽस्मद्भयाकुलः ॥'

भर्त्सना तु परीवादो—

सनमिति । अत्र स्वस्वामीष्टलाभेच्छा । आधीरलंकारे तु बन्धुजनस्येति भेदः ॥ तस्या मालयाः ॥ कार्यस्य कर्तव्यत्वेन निर्देशः प्रतिज्ञा ॥ एकस्य प्रौढीकेशप्रहस्य परिपाकः फलमयं राजसमूहस्यद्वयः । द्वितीये श्लोणसंयन्धिनि निःशेषीकर्तुमारब्धा नि शेषिताः ॥ असन्नुरोः कण्वस्य । अनुमालिनीतीरं मालिन्याख्यं नदीतीरे । न चेदिति । यथावा समिदाहरणाय न प्रस्थितो, अन्यथा तदा कार्यस्य होमस्यातिपातोऽनुपपत्तिः ॥ प्रेरणाय प्रवृत्तये ॥ नास्मैव न तु कर्मणा ।

रिति रति प्रसूति नेशोत्सवः । यद्वालेन्दुकलेचवाद्बचितैः सारैरियोत्पादितं—' इति सत्पादद्वयी ॥

१. न चेदिति । 'न चेदन्यकार्यातिपातः' इति पाठे तु मुखेन ग्रन्थयोजना । स एव पाठः सामतमुपलभ्यते ॥

यथा सुन्दराङ्के—‘दुर्योधनः—धिग्धिक् सूत, किं कृतवानसि ।
वैत्सस्य मे प्रकृतिदुर्ललितस्य पापः

पापं विधास्यति—’ इत्यादि ।

नीतिः शास्त्रेण वर्तनम् ।

यथा शाकुन्तले—‘दुष्यन्तः—विनीतवेषप्रवेशयानि तपोवनानि ।’
इति ।

उक्तस्यार्थस्य यत्तु स्यादुत्कीर्तनमनेकधा ॥ २०६ ॥

उपालम्भविशेषेण तत्स्यादर्थविशेषणम् ।

यथा शाकुन्तले राजानं प्रति ‘शार्ङ्गरवः—आः, कथमिदं नाम ।
किमुपन्यस्तमिति । ननु भवानेव नितरां लोकवृत्तान्तनिष्णातः ।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां

जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते ।

अतः समीपे परिणेतुरिष्यते

प्रियामिया वा प्रमदा स्वयन्दुमिः ॥’

प्रोत्साहनं स्यादुत्साहगिरा कस्यापि योजनम् ॥ २०७ ॥

यथा बालरामायणे—

‘कालरात्रिकरालेयं स्त्रीति किं विचिकित्ससि ।

तज्जगद्वितयं त्रातुं तात ! ताडय ताडकाम् ॥’

अत्र लक्षणेन इन्द्रजिह्वाय प्रकृत्युद्धे तस्य वर्तनम् ॥ प्रकृत्या स्वभावेन
दुर्ललितस्य दुर्ललितस्य । पापो दुष्कर्मा । पापमनिष्टम् ॥ शास्त्रेण शास्त्रानुसा-
रेण । वर्तनं कर्मावृत्तानम् ॥ उत्कीर्तनं सूचनम् । उपालम्भविशेषेण
प्रतिकूलोक्तिवृत्तनेन । क्वचित् ‘उपालम्भस्वरूपेण’ इति पाठः ॥ आः कथमिदं
नामेति । लक्षिः इति शेषः । लोकवृत्तान्तनिष्णातः लोकचरितवितः ॥
ज्ञातिकुलैकसंश्रया पित्रादिगृहमात्रवर्तिनीम् ॥ अन्यथा भर्तृमतीमुपपत्तिरुक्तम् ।
यद्वा सतीमपि अन्यथा असतीं विशङ्कते । अत उक्तशेषात् । परिणेतुः पत्युः ।
अत्र किमिदमुपन्यस्तमिति राज्ञः प्रतिकूलोक्तिवृत्तनेन ‘आः कथमिदम्—’ इत्यादि-
वाक्यप्रवेण ॥ ‘तदिदानीमापन्नास्यवेयं गृह्यतां सहधर्मचरणाव’ इति स्वोचोऽर्थः
शार्ङ्गरवेण मुहुः संप्रियः ॥ विचिकित्ससि वध्या न वेति संदेहाश्रयो भवति ।

- 1. यत्सत्येति । अवशिष्टांशु—‘समस्तमुदात्तशेषी । अस्तिप्रियात्यसि किं स्व-
सावित्रं मां मोषो न नाम कस्या न च वेदसि छन्ना ॥’ इति । असौ भीमः ॥

साहाय्यं संकटे यत्स्यात्सानुकूल्यं परस्य च ।

यथा वेण्याम्—कृपं प्रति 'अश्वत्थामा—त्वमपि तावद्राजः पार्थ-
वर्तौ भव । कृपः—वाञ्छाम्यहमद्य प्रतिकर्तुम्—' इत्यादि ।

अभिमानः स एव स्यात्—

यथा तत्रैव—'दुर्योधनः—

मात. किमप्यसदृशं कृपणं वचस्ते—' इत्यादि ।

प्रथयादनुवर्तनम् ॥ २०८ ॥

अनुवृत्तिर—

यथा शाकुन्तले—'राजा—(शाकुन्तलां प्रति ।) अयि, तपो वर्धते ।

अनुसूया—'दार्णि अदिधिविसेसलाहेण' इत्यादि ।

भूतकार्याख्यानमुत्कीर्तनं मतम् ।

यथा चालरामायणे—

'अत्रासीत्कणिषाक्षबन्धनविधिः शक्या भवद्देवरे

गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरग्राहृतः ।' इत्यादि ।

या तु कञ्जापि याञ्जा या स्वयं दूतमुखेन वा ॥ २०९ ॥

यथा—

'अद्यापि देहि वैदेहीं दयालुस्त्वयि राघवः ।

शिरोमिः कन्दुकक्रीडां किं कारयसि वानरान् ॥'

परिहार इति प्रोक्तः कृतानुचितमार्जनम् ।

यद्वा घृणी भवति । तात इति सप्रेमसंबोधनम् ॥ आनुकूल्यमनुकूलचरणम् ॥
स एव अभिमानात्कार एव ॥ कृपणं क्षुद्रम् । अत्र मातुराक्षेपेणाहकार प्रती-
यते ॥ प्रथयादिनयात् । अनुवृत्तिः प्रत्युत्तरादिना सत्कार ॥ दार्णि इति ।
'इदानीमतिथिविशेषनामैव' इति संस्कृतम् ॥ भगद्देवरे लक्ष्मणे । अत्र सीता
प्रति भूतकार्यं श्रोत्रामेणाख्यातम् ॥ स्वयं याचनं यथा—'ओ लङ्केश्वर ! दीयतां
जनकजा राम स्वयं याचते—' इत्यादि ॥ दूतमुखेन याचनमाह—अद्यापीति ।
रावण प्रत्युत्तरदस्योक्तिरियम् ॥ कृतं यदनुचितं कर्म तस्य मार्जनं तज्जन्यापराध-

१. मातरिति । चरमपादत्रयी तु—'सुश्रित्वा क भवती क च दीयतेषा । निर्व-
त्सले दूतशतस्य निषक्षिमेतां त्वं नानुचिन्तयसि, रक्षसि मामयोग्यम् ॥' इति ॥

२ अत्रेति । उत्तरार्थं तु—'क्षिणेरेन्द्रनिद्रेण लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं लभित. केना-
म्यत्र मृगाक्षि ! राक्षसपते. कृत्वा च कञ्जादयी ॥' इति ॥

यथा—

‘प्राणप्रयाणदुःखार्तं उक्तवानस्म्यनक्षरम् ।

तत्क्षमस्व ! विमो, किं च सुग्रीवस्ते समर्पितः ॥’

अवधीरितकर्तव्यकथनं तु निवेदनम् ॥ २१० ॥

यथा राघवाभ्युदये—‘लक्ष्मणः—आर्य, समुद्राभ्यर्थनया गन्तुमु-
च्यतोसि । तत्किमेतत् ।’

प्रवर्तनं तु कार्यस्य यत्स्यात्साधुप्रवर्तनम् ।

यथा चैष्याम्—‘राजा—कञ्चुकिन्, देवस्य देवकीनन्दनस्य बहु-
मानाद्वत्सस्य भीमसेनस्य विजयमङ्गलाय प्रवर्तन्तां तत्रोचिताः समा-
रम्भाः ।’

आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिर—

यथा तत्रैव—

‘देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यसिन्हृदाः पूरिताः—’ इत्यादि ।

युक्तिरर्थावधारणम् ॥ २११ ॥

यथा तत्रैव—

‘यदि समरमयास नास्ति मृत्यो-

र्भयमिति युक्तमिदोऽन्यतः प्रयातुम् ।

अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः

किमिति मुधा मलिनं यशः कुरुष्वम् ॥’

क्षमापनम् ॥ प्राणेति । विमो धीराम् ॥ अवधीरितेति । अवज्ञातेत्यर्थः ॥
अर्थस्य प्रयोजनस्य अवधारणं कर्तव्यत्वनिश्चयः ॥ इतः समरान् । अत्र समरः

१. देश इति । पादत्रयं तु—‘क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्याप्तस्य देशमहः ।
क्षान्तेरादित्यस्य सारगुरुण्यस्यानि भासन्ति मे यदायेन कृतं तदेव बुद्धये ईशानामनिः
शेषनः ॥’ इति ॥

ग्रहणः प्रमदाधिक्यं—

यथा शाकुन्तले—‘राजा—तत्किमिदानीमात्मानं पूर्णमनोरथं
नामिनन्दामि ।’

शिक्षा स्यादुपदेशनम् ।

यथा तत्रैव—‘सहि, ण जुचं अस्समवासिणो जणस्स अकिदसक्कारं
अदिधिविसेसं उज्झिअ सच्छन्ददो गमनम् ।’

एषां च लक्षणं नाट्यालंकाराणां सामान्यतः एकरूपत्वेऽपि भेदेन
व्यपदेशो गङ्गुलिकाप्रवाहेण । एषु च केषांचिद्गुणालंकारभावसंध्यङ्ग-
विशेषान्तर्भावेऽपि नाटके प्रयत्नतः कर्तव्यत्वाच्चद्विशेषोक्तिः ।

एतानि च—

‘पञ्चसंधि चतुर्वृत्ति चतुःषष्ठ्यङ्गसंयुतम् ।

पङ्क्तिशल्लक्षणोपेतमलंकारोपशोभितम् ॥

महारसं महामोगमुदात्तरैचनान्वितम् ।

महापुरुषसत्कारं साध्वाचारं जनप्रियम् ॥

कर्तव्य एवेत्यर्थावधारणम् ॥ सहि इति । ‘सक्ति, न युक्तमाधमवासिनो जनस्या-
कृतसत्कारमतिथिविशेषमुज्झरवा सच्छन्दतो गमनम्’ इति संस्कृतम् । अत्र शाकु-
न्तलां प्रति तत्सख्या उपदेशोक्तिरियम् ॥ ननु भूषणादीनि यानि लक्षणान्युक्तानि
तानि नाट्यभूषणहेतुस्वरूपसामान्यधर्मयोगेन नाट्यालंकारमप्य एषान्तर्भावितुमर्हन्ति,
तदेषां भिन्नत्वेनोपादानमनतिप्रयोजनमित्यभिप्रायेणाह—एषां चेति । गङ्गुलि-
काप्रवाहेण गतानुगतिकन्यायेन । ननु भूषणस्य यथायथं गुणेऽलंकारे च,
शोभायाः श्लेषे विशेषणस्य विशेषोक्त्यलंकारे, एवमाशीरादिनाट्यालंकाराणामाशीरा-
लंकारेषु, एवं युक्त्यादीनां युक्त्यादिसंध्यङ्गेषु चान्तर्भावे सिद्धे पुनरुपादानमनर्थक-
मित्यत आह—एषु चेति । लक्षणनाट्यालंकारेष्वित्यर्थः । एतानि लक्षणादीनि
‘नाटकेऽवश्यं कर्तव्यानि’ इत्यप्रेषणान्वयः । भोगो भावादिः सहायो वा । रचनाया
उदात्तत्वं विलसद्भादियुक्तत्वम् । महापुरुषस्य धीरोदात्तनायकस्य सत्कारो

१. प्रमदेति । प्रमदस्य आनन्दस्य आधिक्यं साध्यावस्था ॥

१. ‘गङ्गुलिका’ इति कश्चित् पाठः. २. ‘गुणालंकारभूषितम्’ इति नाट्यशास्त्रस्य पाठः.
३. ‘वचन’ इति नाट्यशास्त्रस्य पाठः. ४. ‘संचारम्’ इति नाट्यशास्त्रस्य पाठः.

सुष्ठिष्टसंघियोगं च सुप्रयोगं सुखाश्रयम् ।

मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात् नाटकम् ॥

इति मुनिनोक्तत्वान्नाटकेऽवश्यं कर्तव्यान्येव । वीथ्यज्ञानि वक्ष्यन्ते ।

लास्याज्ञान्याह—

गेयपदं स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ॥ २१२ ॥

प्रच्छेदकस्त्रिगुणं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ।

उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च ॥ २१३ ॥

लासे दशविधं ह्येतदङ्गमुक्तं मनीषिभिः ।

तत्र—

तन्त्रीमाण्डं पुरस्कृत्योपविष्टस्यासने पुरः ॥ २१४ ॥

शुष्कं गानं गेयपदं—

यथा—गौरीगृहे वीणां वादयन्ती 'मलयवती—

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते मम हि गौरि ।।

अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति ! युष्मत्पसादेन ॥'

स्थितपाठ्यं तदुच्यते ।

मदनोत्तापिता यत्र पठति प्राकृतं स्थिता ॥ २१५ ॥

अभिनवगुप्तपादास्त्वाहुः—'उपलक्षणं चैतत् । क्रोधोज्झान्तस्यापि प्राकृतपठनं स्थितपाठ्यम्' इति ।

निखिलातीघरहितं शोकचिन्तान्वितायला ।

गुणवर्णनं यत्र । साधुरभिगीत आचारो वैदिकं कर्म यत्र ॥ तन्त्रीमाण्डं वीणा.

१. मृद्विति । इदमेवाभिप्रेत्य षोडशाध्यायोपसंहारे मुनिनोक्तम्—'चेरीयतेप्रमृति-
मिषिद्वैतैश्च शब्देषु न भवति स्मृतिः भवति भवत्ययोगाः । यद्वक्तव्यं शरनगैर्भवेत्तात्ते-
वेदया द्विगैरिव कमण्डलुदण्डहस्तैः ॥' नाटकस्य वैशिष्ट्यमपि मुनिनोक्तविशेषादे-
प्रतिपादितम्—'न तद्व्यानं न तच्छिष्टं न सा विद्या न सा कला । न तरुर्न न वा
योगो नाटके यत्र इदमर्थः ॥'

२. तन्त्रीति । षोडशाध्याये भवतेनाप्युक्तम्—'भासनेषूपनिर्दिष्टतन्त्रीमाण्डोपगृहि-
तम् । गायनेगीयते शुष्कं तदेवपत्रमुच्यते ॥' इति ॥

३. निशिलेति । शोकं च भवतेन—'भासीनमासनस्थस्य सर्वभोग्यविशेषिणः ।
अप्रमारीतगर्भं च चिन्ताशोकान्वितं च तत् ॥'

अप्रसाधितगात्रं यदासीनासीनमेव तत् ॥ २१६ ॥

आतोद्यमिश्रितं गेयं छन्दांसि विविधानि च ।

स्त्रीपुंसयोर्विपर्यासचेष्टितं पुष्पगण्डिका ॥ २१७ ॥

अन्यासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना ।

वीणापुरःसरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः ॥ २१८ ॥

स्त्रीवेषधारिणां पुंसां नाट्यं शृङ्गणं त्रिगूढकम् ।

यथा मालत्याम्—‘मकरन्दः—एषोऽस्मि मालती संवृतः ।’

कश्चन भ्रष्टसंकेतः सुव्यक्तकरणान्वितः ॥ २१९ ॥

प्राकृतं वचनं वक्ति यत्र तत्सैन्धवं मतम् ।

करणं वीणादिक्रिया ।

चतुरस्रपदं गीतं मुखप्रतिमुखान्वितम् ॥ २२० ॥

द्विगूढं रसभावाढ्यमुत्तमोत्तमकं पुनः ।

कोपप्रसादजमधिक्षेपयुक्तं रसोत्तरम् ॥ २२१ ॥

हावहेलान्वितं चित्रश्लोकबन्धमनोहरम् ।

उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तं सोपालम्भमलीकवत् ॥ २२२ ॥

वाच्यं पुरस्कृत्य गानोपायोपयोगित्वेनादृत्य ॥ आतोद्यं वादिप्रम् । अप्रसाधि-
तगात्रमनलंछतशरीरम् । एतद्वयं क्रियाविशेषणम् । विपर्यासेन वैपरीत्येन चेष्टा
अभिनयो यत्र गेये तत् । मन्युः शोकः ॥ संकेतस्थाने अनागमने नायको भ्रष्ट-
संकेतो भवति ॥ चतुरस्राणि विदग्धमनोहराणि पदानि यत्र । यद्वा चतुरस्रपदं
पूर्णसप्तखरम् । मुखप्रतिमुखान्वितम् उक्तिप्रत्युक्तिसहितम् । ‘कोपप्रसादजम्’
इत्यादिविशेषणपञ्चकमनुपक्तस्य गीतस्य विशेषणम् । उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तमिति
गीतमिश्रानुपज्यते । सोपालम्भं समर्त्सनम् । अलीकवत् अप्रियमिव ॥ नाट्य-

१. स्त्रीति । उक्तं च भरतेन—‘वृत्तं तु द्विविधं यत्र गीतमातोद्यमेव च । स्त्रियः
पुंश्च चेष्टन्ते सा चेष्टा पुष्पगण्डिका ॥’ इति ॥

२. वीणेति । नाट्यशास्त्रे तु—‘प्रच्छेदकः स विधेयो यत्र चन्द्रातपादताः । स्त्रियः
प्रियेयु सज्जन्ते सति विप्रियकारिषु ॥’ इत्याम्नातम् ॥

३. स्त्रीधेयेति । गुणिना तु—‘अनिष्टशृङ्गणपदं समवृत्तैरलंछितम् । नाट्यं पुराणा-
वाढ्यं त्रिगूढकमुदाहृतम् ॥’ इत्युक्तम् ॥

४. द्विगूढमिति । चतुरस्रपदादिविशेषणत्रयवद् गीतं द्विगूढम् ॥

५. उत्तमेति । कोपप्रसादजादिविशेषणपञ्चकवद् गीतमुत्तमोत्तमकपदवाच्यम् ॥

१. ‘अप्रसाधित’ इति नाट्यशास्त्रे पाठः, कश्चन-पुस्तकस्थस्य. २. ‘तु’ घ. ३. ‘विप-
र्यासि’ क-ख. ४. ‘अन्यासक्त’ घ.

विलासान्वितगीतार्थमुक्तप्रत्युक्तमुच्यते ।

स्वष्टान्युदाहरणानि ।

एतदेव यदा सर्वैः पताकास्थानकैर्द्युतम् ॥ २२३ ॥

अङ्गैश्च दशभिर्धीरा महानाटकमूचिरे ।

एतदेव नाटकम् । यथा—बालरामायणम् ।

अथ प्रकरणम्—

भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् ॥ २२४ ॥

शङ्कारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक् ।

सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः ॥ २२५ ॥

वेप्रनायकं यथा मृच्छकटिकम् । अमात्यनायकं मालतीमाधवम् ।

वणिङ्नायकं पुष्पभूषितम् ।

नायिका कुलजा कापि वेश्या कापि द्वयं क्वचित् ।

तेन भेदात्प्रयत्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः ॥ २२६ ॥

कितव्यूतकारादिविटचेटकसंकुलः ।

कुलस्त्री पुष्पभूषिते । वेश्या तु रङ्गवृत्ते । द्वे अपि मृच्छकटिके ।

अस्य नाटकप्रकृतित्वाच्छेषं नाटकवत् ।

मुक्त्वा प्रकरणमाह—अथेति । वृत्तं वर्णनीयं नायकचरितम् । लौकिकं लौकचरितमात्रप्रसिद्धम् । अत एव कविकल्पितम्, न तु पुराणादिप्रसिद्धम् । धनस्य सुवर्गसाधनत्वेन, कामस्य पुत्रपञ्चादिविषयकत्वेन, अर्थस्य भोगसाधनत्वेन सापाय-
त्वम् ॥ तेन नायिकाभेदेन । तस्य प्रकरणस्य । 'विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाट-
क्यन्तम्' इति प्रकरणादौ नाटकधर्मातिदेशाच्चाटकस्य प्रकृतित्वम् ॥ भाणमाह—

१. उक्तेति । उक्त्यादिविशेषणचतुष्टयवद् भीतमुक्तप्रत्युक्तम् ॥

२. भवेदिति । भस्तेनाप्युक्तम्—'यत्र कविरात्मनुमा वस्तु शरीरं च नायकं चैव । औत्पत्तिकं प्रवृत्ते प्रकरणमिति उद्गुपेर्भेदम् ॥' इति ॥

३. नायिकेत्यादि । काव्येन्दुप्रकाशे त्वयमर्थः निचिरपरिप्लव्योक्तः—'शुद्धं पूर्वं निश्चितं भेदाच्चित्रितं पुनः । कुलस्त्रीनायिकं शुद्धं गणिकानायिकं परम् ॥ प्राधान्य-
मुपयोधेन निश्च प्रकरणं विदुः ॥' इति 'तत्र वेश्या प्राकृतं तु कुलजा संरक्तं वदेत् ॥' इति दृष्ट्या ॥

अथ भाणः—

भाणः स्याद्भूतचरितो नानावस्थान्तरात्मकः ॥ २२७ ॥

एकाङ्क एक एवात्र निपुणः पण्डितो विटः ।

रङ्गे प्रकाशयेत्स्वेनानुभूतमितरेण वा ॥ २२८ ॥

संवोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।

सूचयेद्दीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यवर्णनैः ॥ २२९ ॥

तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं वृत्तिः प्रायेण भारती ।

मुखनिर्वहणे संधी लास्याङ्गानि दशापि च ॥ २३० ॥

अत्राकाशभाषितरूपपरवचनमपि स्वयमेवानुवदशुत्तरप्रत्युत्तरे कुर्यात् ।
शृङ्गारवीररसौ च सौभाग्यशौर्यवर्णनया सूचयेत् । प्रायेण भारती ।
कापि कैशिक्यपि वृत्तिर्भवति । लास्याङ्गानि गेयपदादीनि । उदाहरणं
लीलामधुकरः ।

अथ व्यायोगः—

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः ।

हीनो गर्भविमर्शाभ्यां नरैर्वहुमिराश्रितः ॥ २३१ ॥

एकाङ्कश्च भवेदस्त्रीनिमित्तसमरोदयः ।

कैशिकीवृत्तिरहितः प्रख्यातस्तत्र नायकः ॥ २३२ ॥

राजर्षिरथ दिव्यो वा भवेद्दीरोद्धतश्च सः ।

हास्यशृङ्गारशान्तेभ्य इतरेऽत्राङ्गिनो रसाः ॥ २३३ ॥

यथा सौमन्धिकदाहरणम् ।

भाणः स्यादिति । भूतस्य नायकस्य चरितं यत्र सः । कार्यसाधर्म्यमवस्था ।
निरुक्तप्रारम्भादिपञ्चविधावस्थातिरिकावस्थालाभायान्तरपदम् । शौर्यवर्णनयात्र वीर-
सौभाग्यवर्णनाय शृङ्गारं सूचयेदित्यन्वयः । तत्र भाणे । इतिवृत्तं वर्णनीयं
वल्लु । उत्पाद्यं कविभिः कल्पनीयम् । न तु पुराणादिप्रसिद्धम् ॥ व्यायोगमाह—
ख्यातेतिवृत्त इति । ख्यातं पुराणादिप्रसिद्धमिति वृत्तं यत्र । गर्भविमर्शौ वृत्तीय-

१. भाण इति । भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद् भाण इति ध्वनिकः ॥

२. व्यायोग इति । व्यायुज्यन्तेऽस्मिन्वहवः पुरषा इति व्यायोगः ॥

३. अस्त्रीति । अस्त्रीनिमित्तेश्चान्न संग्रामः । यथा पट्युराभेन पितृवधोपात्तहस्ता-
जुनवधः इत इति ध्वनिकः ॥

अथ समवकारः—

वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम् ।

संधयो निर्विमर्शास्तु त्रयोऽङ्कास्तत्र चादिमे ॥ २३४ ॥

संधी द्वावन्त्ययोस्तद्वदेक एको भवेत्पुनः ।

नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवमानवाः ॥ २३५ ॥

फले पृथक्पृथक्तेषां वीरमुख्योऽखिलो रसः ।

वृत्तयो मन्दकैशिकयो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥ २३६ ॥

वीथ्यङ्गानि च तत्र स्युर्यथालाभं त्रयोदश ।

गायन्पुणिलुखान्यत्र च्छन्दांसि विविधानि च ॥ २३७ ॥

त्रिशृङ्गारस्त्रिकपटः कार्यश्चार्य त्रिविद्रवः ।

वस्तु द्वादशनालीभिर्निष्पाद्यं प्रथमाङ्कगम् ॥ २३८ ॥

द्वितीयेऽङ्के चतसृभिर्द्वाभ्यामङ्के तृतीयके ।

नालिका घटिकाद्वयमुच्यते । बिन्दुप्रवेशकौ च नाटकोक्तावपि
नेह विधातव्यौ ।

तत्र—

धर्मार्थकामैस्त्रिविधः शृङ्गारः, कपटः पुनः ॥ २३९ ॥

स्वाभाविकः कृत्रिमश्च दैवजो, विद्रवः पुनः ।

अचेतनैश्चेतनैश्च चेतनाचेतनैः कृतः ॥ २४० ॥

तत्र शास्त्राविरोधेन कृतो धर्मशृङ्गारः । अर्थलाभार्थकस्त्रिप्तोऽर्थ-
शृङ्गारः । महसनशृङ्गारः कामशृङ्गारः । तत्र कामशृङ्गारः प्रथमाङ्क

चतुर्थसंधी । स नायकः अत्र व्यायोगे ॥ समवकारमाह—वृत्तमिति ।
आदिमे प्रथमादे द्वौ मुखप्रतिमुपाख्यौ । अन्त्ययोर्द्वितीयतृतीयाद्वयोरेक एकः
संधिरित्यन्वयः । उदात्ता धीरोदात्ताः । देवमानवाः दिव्यादिव्याः । देवाश्च
दानवाश्च 'देवदानवाः' इत्यपि क्वचित्पाठः । तेषां नायकानाम्, मन्दकैशिकयः
कैशिकीहीनाः ॥ तत्र समवकारे । विद्रवो गर्भसंध्यङ्कम्, स च द्वाभ्यामत्रासकृतः
संभ्रमः, नाटकप्रकृतित्वादेव विद्रवप्राप्तौ प्रकारत्रयस्यावश्यकत्वायमिदं वचनम् ।
नियिद्रवाले नियिद्रयोपिति कृतः शृङ्गारः शास्त्रविद्वद्भिरितरो धर्मशृङ्गारः ।

१. फलमिति । यथा एवोनिधिमन्यन्ते वायुदेवादीनां रुद्राद्यादिनाम इति धनिकः ॥

२. प्रथमाङ्क इति । धनिकस्तु 'प्रत्यङ्क' च यथासंख्यं कथयः । तथा नगरोपरोध-
मुखाणां प्लाविदिदवाणां मध्ये एवैवो विद्रवः कार्यः । भर्माभ्यामशृङ्गाराणामेकैकः शृङ्गारः

१. 'नालिका' क. २. 'क्षयो' इति पुस्तकाकारे पाठः.

एव । अन्ययोस्तु न नियम इत्याहुः । चेतनाचेतना गजादयः । सम-
वकीर्यन्ते बहवोऽर्था अस्मिन्निति समवकारः । यथा—समुद्रमथनम् ।

अथ डिमः—

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।

उपरागैश्च भूयिष्ठो डिमः रूपातेतिवृत्तकः ॥ २४१ ॥

अङ्गी रौद्ररसस्तत्र सर्वेऽङ्गानि रसाः पुनः ।

चत्वारोऽङ्गा मता नेह विष्कम्भकप्रवेशकौ ॥ २४२ ॥

नायका देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ।

भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमृद्वताः ॥ २४३ ॥

वृत्तयः कैशिकीहीना निर्विमर्शाश्च संघयः ।

दीप्ताः स्युः पङ्क्ताः शान्तहास्यशृङ्गारवर्जिताः ॥ २४४ ॥

अत्रोदाहरणं च 'त्रिपुरदाहः' इति महर्षिः ।

अथैहामृगः—

ईहामृगो मिश्रवृत्तश्चतुरङ्गः प्रकीर्तितः ।

मुखप्रतिमुखे संघी तत्र निर्वहणं तथा ॥ २४५ ॥

नरदिव्याचनियमौ नायकप्रतिनायकौ ।

समवकीर्यन्ते निबध्यन्ते ॥ डिममाह—मायेन्द्रजालेति । इह डिमे । शीघ्रा
विभावादिसामग्रीबलेन क्षातिरिति प्रतीयमानाः ॥ ईहामृगमाह—ईहामृग इति ।
मिश्रवृत्तः ख्याताख्यातेतिवृत्तः । नरदिव्यौ नायकप्रतिनायकाविति । कमनिषेधार्थ-
माह—अनियमाविति । यद्वा कचिदिव्ययोः कचिन्नरयोर्वा प्राप्त्यर्थमिवम् ।

प्रत्यङ्गमेव विधातव्यः ।' इति नियममाह । मन्दारमरन्दकुतु—'अङ्गाद्यस्तत्र चाये
मुखप्रतिमुखी तथा । वस्तुस्वभावदेवारिकृताः स्युः कपटालयः ॥ कथामपि निबध्नीया-
स्तथा द्वादशनालिकाश्च । द्वितीयेऽङ्केऽपि च चतुर्नालिकावधिका कथाम् ॥ पुरोधरणाभ्यादि-
निमित्ता विद्वन्नालयः । तृतीयेऽङ्के निबद्धस्या कथा चापि दिनालिका ॥ धर्माधेकामानु-
शुणास्तिस्रः शृङ्गाररीतयः ॥' इत्याह ॥

१. उपेति । उपरागैः सर्वैश्चन्द्रग्रहणैः । चकारेण निर्धातोक्त्यापातादयो गृह्यन्ते ॥

२. डिम इति । 'डिम सधाते' इति नायकसधातव्यापातात्मकत्वाद्विम इति धनिकः ॥

३. महर्षिरिति । तथाच तद्वाक्यम्—'इदं त्रिपुरदाहे तु रुद्राणं मन्त्राणोदितम् । तत-
स्त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः ॥' इति ॥

ख्यातौ धीरोद्धतावन्यो गूढभावादयुक्तकृत् ॥ २४६ ॥

दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।

शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत् ॥ २४७ ॥

पताकानायका दिव्या मर्त्या वापि दशोद्धताः ।

युद्धमानीय संरम्भं परं व्याजान्निवर्तते ॥ २४८ ॥

महात्मानो वधप्राप्ता अपि वध्याः स्युरत्र नो ।

एकाङ्को देव एवात्र नेतेत्याहुः परे पुनः ॥ २४९ ॥

दिव्यस्त्रीहेतुकं युद्धं नायकाः पडितीतरे ।

मिश्रं ख्याताख्यातम् । अन्यः प्रतिनायकः । पताकानायकास्तु नायकप्रतिनायकयोर्मिलिता दश । नायको मृगवदलभ्यां नायिकामत्र ईहते वान्छतीतीहागृगः । यथा—कुसुमशेखरविजयादिः ।

अथाङ्कः—

उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः ॥ २५० ॥

रसोऽत्र करुणः स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम् ।

✓ प्रख्यातमिति वृत्तं च कविर्बुद्ध्वा प्रपञ्चयेत् ॥ २५१ ॥

भाणवत्संधिवृत्त्यङ्गान्यसिञ्जयपराजयौ ।

युद्धं च वाचा कर्तव्यं निर्वेदवचनं बहु ॥ २५२ ॥

इमं च केचित् 'नाटकाद्यन्तःपात्यङ्गपरिच्छेदार्थमुत्सृष्टिकाङ्कनामानम्' आहुः । अन्ये तु—'उत्क्रान्ता विलोमरूपा सृष्टिर्यत्रेत्युत्सृष्टिकाङ्कः ।' यथा—शर्मिष्ठायातिः ।

अन्यः प्रतिनायकः । गूढभावाद् गोपनेन । अपहारो यत्नतारः । आदिना छलादिपरिग्रहः । परं प्रतिनायकम् । संरम्भमानीय क्रोधं प्रापद्य स्थितस्य नायकस्य व्याजात् कार्यान्तरच्छलाद् युद्धं निवर्तत इत्यर्थः । 'निवर्तयेत्' इति पाठे परं युद्धस्थानमानीय संरम्भं निवर्तयेदित्यर्थः । महात्मान इति । प्रतिनायकानां यथे पुराणादिप्रतिदेऽपि स न वर्णनीय इति भावः । अत्र ईहागृगे ॥ अङ्कमाह—उत्सृष्टिकाङ्क इति । अङ्कस्य नामान्तरमेतत् । प्राकृताः नाटिकोपिदा । स्थायी स्मरतरः । प्रपञ्चयेद्बहुलीतुर्यात् । भाणवदिति । भाणे यथा मुखनिर्वहणे संधी, केशिक्रीमारत्नौ शूनी, दश स्याद्वाहानि तथाप्रापीत्यर्थः । अस्मिन्नेव जय-

1. प्रख्यातमिति । अचिदप्रख्यातमपि । तदुक्तं नाट्यशास्त्रज्ञा—'प्रख्यातमिति यपरमप्रख्यातः कदाचिदेव स्यात् । दिव्यपुरुषैर्विमुक्तः सेवैतन्मैरेतुभिः ॥' इति ॥

अथ वीथी—

वीथ्यामेको भवेदङ्कः कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते ।

आकाशभाषितैरुक्तैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः ॥ २५३ ॥

सूचयेद्भूरि शृङ्गारं किञ्चिदन्यात्रसान्प्रति ।

मुखनिर्वहणे संधी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः ॥ २५४ ॥

कश्चिदुत्तमो मध्यमोऽधमो वा । शृङ्गारबहुलत्वाच्चास्याः कैश्चि-
कीवृत्तिबहुलत्वम् ।

अस्यास्त्रयोदशाङ्गानि निर्दिशन्ति मनीषिणः ।

उद्धात्य(त)कावलगिते प्रपञ्चस्त्रिगतं छलम् ॥ २५५ ॥

वाक्केल्यधिवले गण्डमवस्यन्दिदनालिके ।

असत्प्रलापव्याहारमृद(मार्द)वानि च तानि तु ॥ २५६ ॥

तत्रोद्धात्य(त)कावलगिते प्रस्तावनाप्रस्तावे सोदाहरणं लक्षिते ।

मिथो वाक्यमसद्भूतं प्रपञ्चो हासकृन्मतः ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—वलमीत्यविदूषकचेत्योरन्योन्यवचनम् ।

त्रिगतं स्यादनेकार्थयोजनं श्रुतिसाम्यतः ॥ २५७ ॥

यथा तत्रैव—‘राजा—

सर्वक्षितिभृतां नाथ !, दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।

रामा रम्ये वनान्तेऽसिन्मया विरहिता त्वया ॥

(नेपथ्ये तथैव प्रतिशब्दः ।) राजा—कथं दृष्टेत्याह ।’

पराजयो वर्णनीयौ । इमं च अङ्कं च ॥ वीथीमाह—वीथ्यामिति । एकोऽदि-
तीयः । नायक इति शेषः । कल्प्यते कल्पयित्वा वर्ण्यते । अर्थप्रकृतयो
वीजादयः पष्ठ ॥ अस्याः वीथ्याः ॥ प्रपञ्चमाह—मिथ इति । परस्परमित्यर्थः ।
असद्भूतं मिथ्यास्वरूपम् ॥ चलमी शृङ्गारस्थितकाष्ठविशेषः ॥ त्रिगतमाह—
त्रिगतमिति । ‘सर्वक्षितिभृतां नाथ’ इति प्रश्नपक्षे पर्वतः । उत्तरपक्षे राजा
संबोध्यः । राजात्र पुरुरवाः । ‘रामा उर्वशी मया विरहिता त्वया दृष्टा’ इति प्रश्नः ।

1. यथेति । यथा वा कर्पूरमञ्जरी भैरवानन्दः—‘रण्डा चण्डा दिविखदा धम्म-
दारा मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ । मिक्खा मोखं चम्मखण्डं च सेज्जा फोले धम्मो
वरस जो होए रग्गो ॥’ इति ॥

अत्र प्रश्नवाक्यमेवोत्तरत्वेन योजितम् । 'नटादित्रितयविषयमेवेदम्'
इति केचित् ।

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्यच्छलना छलम् ।

यथा वेण्याम्—'मीमार्जुनौ—

कर्ता धूतच्छलानां, जनुमयशरणोद्दीपनः, सोऽभिमानो

राजा दुःशासनादेर्गुरुजशतस्याङ्गराजस्य मिथम् ।

कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः, पाण्डवा यस्य दासाः

काले दुर्योधनोसौ कथयत, न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥'

अन्ये त्वाद्गुच्छलं किञ्चित्कार्यमुद्दिश्य कस्यचित् ॥ २५८ ॥

उदीर्यते यद्वचनं वञ्चनाहासरोपकृत् ।

वाकैलिर्हास्यसम्बन्धो द्वित्रिप्रत्युक्तितो भवेत् ॥ २५९ ॥

द्वित्रीत्युपलक्षणम् । यथा—

'मिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरूपे, किं तेन मघं विना

मघं चापि तव प्रियं, प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।

वेद्याप्यर्धरुचिः कुतस्तव धनं, धूतेन चौर्येण वा

चौर्यधूतपरिमहोऽपि भवतो, नष्टस्य कान्या गतिः ॥'

केचित्—'प्रक्रान्तवाक्यस्य साकाङ्क्षस्यैव निवृत्तिर्वाकैलिः' इत्याहुः ।

अन्ये च 'अनेकस्य प्रश्नस्यैकमुत्तरम् ।'

अन्योन्यवाक्याधिकयोक्तिः स्पर्धयाधिबलं मतम् ।

'स्वया विरहिता मया दृष्टा' इत्युत्तरम् ॥ त्रिगतपदव्युत्पत्तिमाह—नटादीति ।

आदिना मटीप्रतिनटमोर्महणम् । इदं त्रिगतम् ॥ छलमाह—प्रियाभैरिति ।

प्रियवृत्त्यैरित्यर्थः । छलना वचना ॥ जनुमयशरणोद्दीपनः जनुमयपटुदाहकः ।

अङ्गराजस्य पणस्य । कृष्णा द्रौपदी तस्याः केशोत्तरीययोरुत्कर्षणे पटुः । स्यो

भवायः । 'आयाम्' इति शेषः ॥ वाकैलिमाह—वाकैलिरिति । द्वे वा त्रयो वा

प्रत्युक्तयस्याभ्यः । समासप्रत्ययानामनित्यत्वादत्र उपलब्धयाभावः । अनेकप्राप्त्यस्यै-

कमुत्तरमिति वाकैलिर्वाकैलिर्वाकैलिः ॥ अधिबलमाह—अन्योन्येति । वाक्य-

१. कश्चिदिति । तथा वाह दृष्टरूपक इति—'दृष्टिप्राप्त्यादनेकार्थोक्तने प्रियं
तिर । नटादित्रितयाजस्यः पूर्वोक्ते तद्विषये ॥' इति ॥

यथा मम प्रभावत्याम्—‘वज्रनाभः—

(अस्य वक्षः क्षणेनैव निर्मथ्य गदयानया ।

लीलयोन्मूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः ॥)

प्रद्युम्नः—अरेरे अंसुरापसद, अलममुना बहुप्रलापेन । मम खलु

अद्य प्रचण्डमुजदण्डसमर्पितोरु-

कोदण्डनिर्गलितकाण्डसमूहपातैः ।

आस्तां समस्तदितिजक्षतजोक्षितेयं

क्षोणिः क्षणेन पिशिताशनलोभनीया ॥’

गण्डं प्रस्तुतसंबन्धि भिन्नार्थं सत्वरं वचः ॥ २६० ॥

यथा वेण्याम्—‘राजा—

अध्यासितुं तव चिराज्जघनस्यलस्य

पर्याप्तमेव करमोरु । ममोरुयुग्मम् ॥’

अनन्तरम् (प्रविश्य) कञ्चुकी—देव, भमं भमं—’ इत्यादि ।

अत्र रथकेतनभङ्गार्थं वचनमूरुभङ्गार्थं संबन्धे संबद्धम् ।

व्याख्यानं स्वरसोक्तस्यान्यथावस्थान्दितं भवेत् ।

यथा छलितरामे—‘सीता—जाद, कासं वखु उआज्झाएण

गन्तव्यम्, तर्हि सो राजा विणएण पणयिदवो । लवः—अथ किमा-

वाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम् । सीता—जाद, सो वखु तुम्हाणं

पिदा । लवः—किमावयो रघुपतिः पिता । सीता—(साक्षाद्म ।) मा

अण्णघा संकद्धम् । ज वखु तुम्हाणम्, सअलाए ज्जेव पुहवीएत्ति ।’

भिक्षयेन वाक्यातिशयेनोक्तिः ॥ अस्य प्रद्युम्नस्य । वो देवानाम् ॥ गण्डमाह—

प्रस्तुतसंबन्धि प्रस्तुतार्थसंबद्धम् ॥ पर्याप्तं समर्थम् ॥ संबन्धे प्रस्तुते ॥ अवस्थ-

न्दितमाह—व्याख्यानमिति । स्वरसोक्तस्य ‘वाक्यस्य’ इति शेषः ॥ जगद्

इति । ‘पुत्र, कस्यं खलु उपाध्यायेन गन्तव्यम्, तत्र स राजा विनयेन पणायि-

तव्यः ।’ (इति संस्कृतम्) । ‘पुत्र, स खलु युष्माकं पिता ।’ इति संस्कृतम् ।

‘मा धन्यया शङ्खम् । न खलु युष्माकम् । सकल्यया एव पृथिव्या इति ।’ इति

संस्कृतम् । अत्र सीतया युवमोर्जनकः श्रीराम इत्यभिप्रायेणोक्तं वाक्यम् । ‘पालकः’

1. अध्यासितुमिति । एतत्पूर्वार्थं तु—‘लोकांशुकस्य पवनानुक्तिर्तादृशान्तं तदृष्टि-

शक्ति मम लोचनगान्धवस्य ।’ इति ।

प्रहेलिकैव हासेन युक्ता भवति नालिका ॥ २६१ ॥

संवरणकार्युत्तरं प्रहेलिका ।

यथा रत्नावल्याम्—‘सुसंगता—सहि, जस्स किदे तुमं आंभदा सो इद जेव चिट्ठदि । सागरिका—कस्स किदे अहं आंभदा । सुसंगता—णं वसु चित्तफलमस्स ।’

अत्र तं राज्ञः कृते आगतेत्यर्थः संवृतः ।

असत्प्रलापो यद्वाक्यमसंबद्धं तथोत्तरम् ।

अगृह्यतोऽपि मूर्खस्य पुरो यच्च हितं वचः ॥ २६२ ॥

तत्रार्थं यथा गम्य प्रभावत्याम्—‘प्रद्युम्नः—(सहकारवल्लीमवलोक्य सानन्दम् ।) अहो, कथमिहैव—

अलिकुलमञ्जुकेशी परिमलवहला रसावहा तन्वी ।

किसलयपेशलपाणिः कोकिलकलभापिणी प्रियतमा मे ॥’

पद्यमसंबद्धोत्तरेऽपि । तृतीयं यथा वेण्यां दुर्योधनं प्रति गान्धारी-
वाक्यम् ।

व्याहारो यत्परस्यार्थे हास्यलोभकरं वचः ।

यथा मालविकाग्निमित्रे—‘(लास्यप्रयोगावसाने मालविका निर्गन्तुमिच्छति ।) विदूषकः—मा दाव उवदेसमुद्धा गमिस्ससि । (इत्युपक्रमेण ।) दासः—(विदूषकं प्रति ।) आर्य, उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः । विदूषकः—पदमं बम्भणपूआ भोदि । सा इमाए लल्लिदा । (मालविका स्मरते ।)’ इत्यादिना नायकस्य विशुद्धनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हासलोभकारिणा वचसा व्याहारः ।

इत्यन्यथा व्याख्यातम् ॥ नालिकामाह—प्रहेलिकैवेति ॥ सहि इति । ‘तरि, यस्य कृते स्वमागता स इह एव तिष्ठति ।’ इति संस्कृतम् । ‘कस्य कृते अहमागता ।’ इति संस्कृतम् ‘ननु यत्तु चित्तफलस्य ।’ इति संस्कृतम् । इयं हास्ययुक्त्यवस्थान्दितादस्या भेदः ॥ असत्प्रलापमाह—असत्प्रलाप इति । असंबद्धं वाक्यमुत्तरं चेत्यर्थः ॥ अलिकुलेति । अत्राप्रलम्बायां स्वप्रियारोप इति वाक्यमसंबद्धम् ॥ व्याहारमाह—व्याहार इति । परस्य नायकादेरर्थे प्रयोजने ॥ मा दाव इति । ‘मा तावदुपदेशमुग्रा गमिष्यसि ।’ इति संस्कृतम् । ‘प्रथमं प्राप्नोष्यता भवति । सा अनया रुक्षिता ।’ इति संस्कृतम् ॥ मृदवमाह—दोषा

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृद(मार्द)वं हि तत् ॥२६३॥

क्रमेण यथा—

‘प्रिय ! जीवितताकौर्यं निःश्रेयस्त्वं कृतमता ।

भूयस्त्वदर्शनादेव भूमैते गुणतां गताः ॥’

‘तस्यास्तद्रूपसौन्दर्यं भूषितं यौवनश्रिया ।

सुखैकायतनं जातं दुःखायैव ममाधुना ॥’

एतानि चाङ्गानि नाटकादिषु संभवन्त्यपि धीढ्यामवश्यं विधेयानि
स्पष्टतया नाटकादिषु विनिविष्टान्यपीहोदाहृतानि । वीथीव नानारसानां
चात्र मालारूपतया स्थितत्वाद्दीथीयम् । यथा—मालविका ।

अथ प्रहसनम्—

भाणवत्संधिसंध्यङ्गलास्याङ्गाङ्गैर्विनिर्मितम् ।

भवेत्प्रहसनं धृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम् ॥ २६४ ॥

अत्र नारमटी, नापि विष्कम्भकप्रवेशकौ ।

अङ्गी हास्यरसस्तत्र वीथ्यङ्गानां स्थितिर्न वा ॥ २६५ ॥

तपस्विभगवद्विप्रप्रभृतिष्वत्र नायकः ।

एको यत्र भवेद्दृष्टो हास्यं तच्छुद्धमुच्यते ॥

यथा कंदर्पकेलिः ।

इति ॥ प्रियेति । जीवितताकौर्यं जीवनकठिन्यम् । त्वद्विरहे मम श्रेयस्यैव
मरणमेव स्यात् । एवं तदा मरणमेव प्रत्युपकारस्वदनावरणारकृतमता । अस्ते जीव-
नकौर्यादयः । यद्वा जीवितता जीवनमेव कौर्यादयः । तद्विरहे मम जीवनेनैव
कौर्यादयः सुव्यथा इति भावः । तस्या इति । विरहिणो नायकस्योक्तिरियम् ॥
एतानि चेति । वीथ्यङ्गानां नाटकादितया नाटक एव शङ्कुं युक्तत्वम् । तथा सति
प्रकरणादौ तद्भागे सिद्धे यत्तेयामिह धीर्तेन तदत्र तेषामावश्यकत्वमन्यत्रानियतत्वमिति
भावः ॥ प्रहसनमिति । भाणवदिति । भाणे यथा मुसनिर्गदने संधी,
नानासंध्यङ्गानि, दश सस्यानि, एकोऽद्वयभाषापीत्यर्थः ॥ तपस्वीति । अत्र
प्रहसने तापरादिषु भव्ये कथिप्रायवो वाच्यः । भगवान् संन्यासी । प्रहसनस्य
शुद्धसंकीर्णविहितत्वमेतेन त्रैविध्यमाह—यक इति । धृष्टः प्रगत्यः । ‘नायकः’

१. कृतमिति । इति इति निपातने विशेषो नाट्यशास्त्रे—‘लेख्येपचारयुक्ता वा वातां
दक्ष दम्भसंयोगः । तदनवसरेषु कोऽयं पूर्वोक्तविचारसंयुक्तम् ॥’ इति ॥

आश्रित्य कंचन जनं संकीर्णमिति तद्विदुः ॥ २६६ ॥

यथा—धूर्तचरितम् ।

वृत्तं बहूनां धृष्टानां संकीर्णं केचिदचरे ।

तत्पुनर्भवति ब्रह्ममथवैकाङ्कनिर्मितम् ॥ २६७ ॥

यथा—लटकमेलकादिः ।

मुनिस्त्वाह—

‘वेश्याचेदनपुंसकविटधूर्ता बन्धकी च यत्र स्युः ।

अविकृतवेषपरिच्छदचेष्टितकरणं तु संकीर्णम् ॥’ इति ।

विकृतं तु विदुर्यत्र पण्डकञ्चुकितापसाः ।

भुजंगचारणभटप्रभृतेर्वेषवाग्भुताः ॥ २६८ ॥

इदं तु संकीर्णैव गतार्थमिति मुनिना पृथङ्नोक्तम् ।

अथोपरूपकाणि । तत्र—

नाटिका हस्तवृत्ता स्यात्स्त्रीप्राया चतुरङ्गिका ।

प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः ॥ २६९ ॥

स्यादन्तःपुरसंघट्टा संगीतव्यावृताथवा ।

नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा ॥ २७० ॥

संप्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः ।

देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥ २७१ ॥

पदे पदे मानवती तद्वशः संगमो द्वयोः ।

वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः संघयः पुनः ॥ २७२ ॥

द्वयोर्नायिकानायकयोः । यथा—रत्नावली—विद्वशालमञ्जिकादिः ।

इत्यनुपज्यते । हास्यं प्रहसनम् ॥ कंचन पृथग्भिन्नं नायकमाश्रित्य यत्प्रहसनं क्रियते तत्संकीर्णमित्यर्थः ॥ वृत्तमिति । ‘यत्र तद्’ इति पूरणीयम् । तत्संकीर्णप्रहसनम् ॥ यत्र चेद्यादयो वर्णनीयाः स्युस्तदविकृतवेषादीनां करणमनुकरणं प्रहसनम् । संकीर्णमित्यर्थः ॥ इदं तु विकृतप्रहसनं तु ॥ नाटिकामाह—नाटिकेति । हस्तवृत्ता कविकल्पितनायकचरित्रा । स्त्रीप्राया नटीबहुला । प्रख्यातो लोके प्रसिद्धः । तत्र नाटिकायाम् । अस्यां नाटिकायाम् । स्वल्पविमर्शाः विमर्श-

I. एतदेति । एतको दुर्जन इत्युनादिपुत्रवृत्तानुज्ज्वलद्वयः । एतकानां मेलको यत्रेति लटकमेलकं प्रहसनम् ॥

अथ त्रोटकम्—

सप्ताष्टनवपञ्चाङ्गं दिव्यमानुषसंश्रयम् ।

त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्गं सविदूषकम् ॥ २७३ ॥

प्रत्यङ्गसविदूषकत्वादेव शृङ्गारोऽङ्गी । सप्ताङ्गं यथा—स्तम्भ-
तरम्भम् । पञ्चाङ्गं यथा—विक्रमोर्वशी ।

अथ गोष्ठी—

प्राकृतैर्नवभिः पुंमिर्दशभिर्वाप्यलंकृता ।

नोदात्तवचना गोष्ठी कैशिकीवृत्तिशालिनी ॥ २७४ ॥

हीना गर्भविमर्शाभ्यां पञ्चपद्योपिदन्विता ।

कामशृङ्गारसंयुक्ता स्यादेकाङ्गविनिर्मिता ॥ २७५ ॥

यथा—रैवतमदनिका ।

अथ सट्टकम्—

सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं स्यादप्रवेशकम् ।

न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरश्वाद्भुतो रसः ॥ २७६ ॥

अङ्गा जवनिकाख्याः स्युः स्यादन्यत्राटिकासमम् ।

यथा—कर्पूरमञ्जरी ।

अथ नाट्यरासकम्—

नाट्यरासकमेकाङ्गं बहुताललयस्थिति ॥ २७७ ॥

उदात्तनायकं तद्वत्पीठमर्दपिनायकम् ।

हास्योऽङ्गयत्र सशृङ्गारो नारी वासकसञ्जिका ॥ २७८ ॥

मुखनिर्वहणे संधी लास्याङ्गानि दशापि च ।

केचित्प्रतिमुखं संधिमिह नेच्छन्ति केवलम् ॥ २७९ ॥

हीनाः । 'नायकनायिकयोः' इत्येवदोषाभावविन्त्यः ॥ त्रोटकमाह—सतेति ।
सप्ताष्टनवपञ्चाङ्गमा अङ्गा यत्र । दिव्यमानुषसंश्रयं दिव्यादिव्यनायकम् ॥ गोष्ठी-
माह—प्राकृतैरिति । नातिविदग्धैरित्यर्थः । नवभिः पद्भिर्यो योपिद्विरन्विता ।
उपलभ्यस्यानित्यत्वात्तद्रूपतिष्ठिः । कामशृङ्गारः श्रयुक्तः (३५६ पृ.) ॥
सट्टकमाह—सट्टकमिति ॥ प्राकृतं संसृजतमिष्टमदोषं पठ्यं श्लोकादिकं यत्र ।
अन्यदहसंरुपादि ॥ नाट्यरासकमाह—नाट्यरासकमिति । 'तालः कान्-

१. पश्येति । 'पञ्चपद्योपिदन्विता' इति पापीयान् पाठः ॥

१. 'दस' इत्यपि पञ्चपद्ये.

तत्र संधिद्वयवती यथा—नर्मवती । संधिचतुष्टयवती यथा—
विलासवती ।

अथ प्रस्थानकम्—

प्रस्थाने नामको दासो हीनः स्यादुपनायकः ।

दासी च नायिका वृत्तिः कैशिकी भारती तथा ॥२८०॥

सुरापानसमायोगादुद्दिष्टार्थस्य संहतिः ।

अङ्गौ द्वौ लयतालादिर्विलासो बहुलस्तथा ॥ २८१ ॥

यथा—शृङ्गारतिलकम् ।

अथोल्लाप्यम्—

उदात्तनायकं दिव्यवृत्तमेकाङ्कभूषितम् ।

शिल्पकाङ्गैर्युतं हास्यशृङ्गारकरणै रसैः ॥ २८२ ॥

उल्लाप्यं बहुसंग्रामसंगीतमनोहरम् ।

चतस्रो नायिकास्तत्र त्रयोऽङ्का इति केचन ॥ २८३ ॥

शिल्पकाङ्गानि वक्ष्यमाणानि । यथा—देवीमहादेवम् ।

अथ काव्यम्—

काव्यमारभटीहीनमेकाङ्कं हास्यसंकुलम् ।

खण्डमात्राद्विपदिकाभग्नतालैरलंकृतम् ॥ २८४ ॥

वर्णमात्राष्टकलिकायुतं शृङ्गारभाषितम् ।

क्रियमानं लयः साम्यम् इत्यमरः । पीठमर्दलक्षणं प्रागुक्तम् (२०१ पृ.) । नारी
नायिका । दासकसञ्जिका प्रागुक्ता (१२३ पृ.) ॥ प्रस्थानकमाह—प्रस्थान इति ।
संहतिः समाग्रणम् ॥ उल्लाप्यमाह—उल्लाप्येति । दिव्यवृत्तं दिव्यनायकोचित-
चरित्रं यत्र । अन्यसंमतमुल्लाप्यमाह—उल्लाप्यमिति । अस्वगीतेन त्रिपदीगी-
तेन मनोहरम् ॥ काव्यमाह—काव्यमिति । खण्डमात्रादयो गीतप्रभेदाः ।

१. भवेति । 'उत्तरोत्तररूपं यत्पुस्तकार्थपरिष्कृतम् । अन्वर्धनिकं गीतमस्वगीतं
तदुच्यते ॥' इति ॥

२. वर्णंति । 'वर्णमात्राष्टकलिकायुतं' इति पाठः साधीयान् । अत एव काव्येन्दु-
प्रकाशे—'वर्णमात्रस्वच्छेदेवायुतं' इत्यादि तल्लक्षणं प्रतिपाद्य 'वर्णमात्रस्वच्छा न य
मनःस्वच्छा' इति व्याख्यातम् ॥

नेता स्त्री चाप्युदात्तात्र संधी आद्यौ तथान्तिमः ॥ २८५ ॥

यथा—यादवोदयम् ।

अथ प्रेङ्खणम्—

गर्भावमर्शरहितं प्रेङ्खणं हीननायकम् ।

असूत्रधारमेकाङ्कमविष्कम्भप्रवेशकम् ॥ २८६ ॥

निघुद्रसम्फेद्युतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम् ।

नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचना ॥ २८७ ॥

यथा—वालिबधम् ।

अथ रासकम्—

रासकं पञ्चपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम् ।

भाषाविभाषाभूयिष्ठं भारतीकैशिकीयुतम् ॥ २८८ ॥

असूत्रधारमेकाङ्कं सवीथ्यङ्गं कलान्वितम् ।

श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम् ॥ २८९ ॥

उदात्तभावविन्याससंश्रितं चोत्तरोत्तरम् ।

इह प्रतिमुखं संधिमपि केचित्प्रचक्षते ॥ २९० ॥

यथा—मेनकाहितम् ।

अथ संलापकम्—

संलापकेऽङ्काश्चत्वारस्त्रयो वा नायकः पुनः ।

पापण्डः स्याद्रसस्तत्र शृङ्गारकण्ठेतरः ॥ २९१ ॥

भवेयुः पुरसंरोधच्छलसंग्रामविद्रवाः ।

वर्णमात्राछद्मलिके छन्दोविशेषौ । शृङ्गारभाषितं शृङ्गारसूचकम् । नेता उदात्तः । नायिकाप्युदात्तैत्यन्वयः ॥ प्रेङ्खणमाह—गर्भावमर्शंति । अवमर्शो विमर्शाख्यसंधिः । हीननायकं नीचनायकम् । सम्फेद्यो रोपभाषणम् । ननु सूत्रधाररहितं चेन्नान्दी केन पाठ्या प्ररोचना वा केन कार्येत्यत आह—नेपथ्येति । गीयते पठ्यते । तत्र नेपथ्ये । प्ररोचना च भारत्या वृत्तेरङ्गविशेषः । सा कविपरिपदादीनां प्रशंसया सामाजिकानामुन्मुखीकरणम् । तथा चात्र नेपथ्यस्थेन येन केनापि नटेन नान्दी पाठ्या प्ररोचना च कर्तव्येति भावः ॥ रासकमाह—रासकमिति । उदात्तभावस्य नायकमहत्त्वस्य विन्यासेन वर्णनेन संश्रितम् ॥ संलापमाह—संलापक इति । 'प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्यच्छलना छलम्' इत्युक्तलक्षणं छलम् (३६० पृ.) । 'शृङ्गारभयप्रासकृतः संग्रमो

... न तत्र वृत्तिर्भवति भारती न च कैशिकी ॥ २९२ ॥

यथा—मायाकापालिकम् ।

अथ श्रीगदितम्—

प्रख्यातवृत्तमेकाङ्कं प्रख्यातोदात्तनायकम् ।

प्रसिद्धनायिकं गर्भविमर्शाभ्यां विवर्जितम् ॥ २९३ ॥

भारतीवृत्तिबहुलं श्रीतिशब्देन 'संकुलम् ।

मतं श्रीगदितं नाम विद्वद्भिरुपरूपकम् ॥ २९४ ॥

यथा—क्रीडारसातलम् ।

श्रीरासीना श्रीगदिते गायैर्त्तिकचित्पठेदपि ।

एकाङ्को भारतीप्राय इति केचित्प्रचक्षते ॥ २९५ ॥

ऊष्णमुदाहरणम् ।

अथ शिल्पकम्—

चत्वारः शिल्पकेऽङ्काः स्युश्चतस्रो वृत्तयस्तथा ।

अशान्तहास्याश्च रसा नायको ब्राह्मणो मतः ॥ २९६ ॥

वर्णनात्र क्षमशानादेर्हीनः स्यादुपनायकः ।

सप्तविंशतिरङ्गानि भवन्त्येतस्य तानि तु ॥ २९७ ॥

आशंसातर्कसंदेहतापोद्वेगप्रसंक्तयः ।

प्रयत्नग्रथनोत्कण्ठावहित्थाप्रतिपत्तयः ॥ २९८ ॥

विलासालसवैष्णवाणि प्रहर्षाश्वासमूढताः ।

साधनानुगमोच्छ्वासविस्मयप्राप्तयस्तथा ॥ २९९ ॥

पिद्रवो मतः' इत्युक्त्यङ्गो विद्रवः (२९३ पृ.) ॥ श्रीगदितमाह—प्रख्या-
तेति । 'श्री' इति शब्देन संकुलं बहुलम् ॥ श्रीलक्ष्मीवेषधारिणी नटी ॥
शिल्पकमाह—चत्वार इति । क्षमशानादेरित्यादिना शब्दादेर्महणम् । एतस्य

१. प्रसक्तय इति । प्रसक्तिरावृत्तिः ॥

२. अग्रहिषेति । अग्रहिषा आकृतियोगनम् ॥

३. प्रतिपत्तय इति । प्रतिपत्तिः क्रियार्थावगमः ॥

४. साधनेति । साधनस्य इदंसाधनस्यानुगमः ॥

लाभविस्मृतिसंफेटा वैशारद्यं प्रबोधनम् ।

चमत्कृतिश्चेत्यमीषां स्पष्टत्वाल्लक्ष्म नोच्यते ॥ ३०० ॥

संफेटप्रथमयोः पूर्वमुक्तत्वादेव लक्ष्म सिद्धम् । यथा—कनकाव-
तीमाधवः ।

अथ विलासिका—

शृङ्गारबहुलैकाङ्का दशलास्याङ्गसंयुता ।

विदूषकविटारभ्यां च पीठमर्देन भूषिता ॥ ३०१ ॥

हीना गर्भविमर्शाभ्यां संधिभ्यां हीननायका ।

स्वल्पवृत्ता सुनेपथ्या विख्याता सा विलासिका ॥ ३०२ ॥

केचित्त्र विलासिकास्थाने विनैयिकेति पठन्ति । तस्यास्तु 'दुर्म-
ल्लिकायामन्तर्भावः' इत्यन्ये ।

अथ दुर्मल्लिका—

दुर्मल्ली चतुरङ्का स्यात्कैशिकीभारतीयुता ।

अङ्गर्भा नागरनरा न्यूननायकभूषिता ॥ ३०३ ॥

त्रिनालिः प्रथमोऽङ्कोऽस्यां विटक्रीडामयो भवेत् ।

पञ्चनालिर्द्वितीयोऽङ्को विदूषकविलासवान् ॥ ३०४ ॥

षण्णालिकस्त्वृतीयस्तु पीठमर्दविलासवान् ।

चतुर्थो दशनालिः स्यादङ्कः क्रीडितनगरः ॥ ३०५ ॥

यथा—विन्दुमती ।

शिल्पकस्य । 'संफेटो रोषभाषणम्', (३१४ पृ.) 'उपन्यासस्तु कार्याणां
प्रथनम्' (३१९ पृ.) इत्युक्तलक्षणे सम्फेटप्रथने ॥ विलासिकामाह—शृङ्गा-
रेति । स्वल्पं वृत्तं श्लोक इतिवृत्तं वा यत्र । तस्यास्तु विलासिकायास्तु ॥ दुर्म-
ल्लिकामाह—दुर्मल्लीति । 'नालिका षट्कद्वयम्' इति प्रागेवोक्तम् ॥ प्रकरण-

१. वैशारद्यमिति । वैशारद्य मैपुण्यम् ॥

२. अङ्गर्भेति । अङ्गर्भेति नरा ॥

३. नागरेति । नागराः पुणेद्गवा नरा यस्यां सा । चातुर्व्ययोगायेदम् ॥

४. न्यूनैः । न्यूनो जालापकृष्टः ॥

५. त्रिनालिरिति । त्रिनालिर्नालिकात्रयनिष्पायेतिवृत्तनिबद्ध इति परमार्थः । एत-
न्मतेऽपि ॥

६. अस्यामिति । अस्यां दुर्मल्लिकायाम् ॥

१. 'उपेयस्या' क. ग. २. 'वीप्यवासा' क. ३. 'लविश' घ. ४. 'तथा' घ. ५. 'नाव' घ.
घ. ६. 'च' इति पुष्कराक्षरस्य पाठः.

अथ प्रकरणिका—

नाटिकैव प्रकरणी सार्थवाहादिनायका ।

समानवंशजा नेतुर्भवेद्यत्र च नायिका ॥ ३०६ ॥

मृग्यमुदाहरणम् ।

अथ हल्लीशः—

हल्लीश एक एवाङ्कः सप्ताष्टौ दश वा स्त्रियः ।

धागुदात्तैकपुरुषः कैशिकीवृत्तिरुज्ज्वला ।

मुखान्तिमौ तथा संधी बहुताललयस्थितिः ॥ ३०७ ॥

यथा कैलिरैवतकम् ।

अथ भाणिका—

भाणिका श्लक्ष्णनेपथ्या मुखनिर्वहणान्विता ।

कैशिकीभारतीवृत्तिपुक्तैकाङ्कविनिर्मिता ॥ ३०८ ॥

उदात्तनायिका मन्दपुरुषात्राङ्गसप्तकम् ।

उपन्यासोऽथ विन्यासो विबोधः साध्वसं तथा ॥ ३०९ ॥

समर्पणं निवृत्तिश्च संहार इति सप्तमः ।

उपन्यासः प्रसङ्गेन भवेत्कार्यस्य कीर्तनम् ॥ ३१० ॥

निर्वेदवाक्यव्युत्पत्तिर्विन्यास इति स स्मृतः ।

आन्तिनाशो विबोधः स्यान्मिथ्याख्यानं तु साध्वसम् ॥

सोपालम्भवचः कोपपीडयेह समर्पणम् ।

निदर्शनस्योपन्यासो निवृत्तिरिति कथ्यते ॥ ३१२ ॥

संहार इति च प्रादुर्यत्कार्यस्य समापनम् ।

स्पष्टान्युदाहरणानि । यथा—कामदत्ता ।

अमाह—नाटिकैवेति । सार्थवाहो नायिक ॥ हल्लीशमाह—हल्लीश इति ।
एकपुरुष एकवचः ॥ भाणिकमाह—भाणिकेति । मन्दपुरुषा हीननायका ।

१. सार्थवाहादीति । आदिशब्देन पुरोदिशमात्रो गृह्यते ॥

२. यागिति । उदात्ता वाक् ॥

३. व्युत्पत्तिरिति । व्युत्पत्तिः प्रपञ्चनम् ॥

४. कोपेति । कोपपीडया अमर्षवाचया ॥

५. स्पष्टानीति । उपन्यासावसप्तकदेशार्थः ॥

१. 'कोपं पीडयेत्' इति ।

एतेषां सर्वेषां नाटकप्रकृतित्वेऽपि यथौचित्यं यथालाभं नाटको-
क्तविशेषपरिग्रहः । यत्र च नाटकोक्तस्यापि पुनरुपादानं 'तत्र तत्सद्भा-
वस्य नियमः ।

अथ श्रव्यकाव्यानि—

श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥ ३१३ ॥

तत्र पद्यमयान्याह—

छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।

द्वाभ्यां तु युग्मकं 'संदानितकं त्रिभिरिष्यते ॥ ३१४ ॥

कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम् ।

तत्र मुक्तकं यथा मम—

'सान्द्रानन्दमनन्तमव्ययमजं यद्योगिनोऽपि क्षणं

साक्षात्कर्तुमुपासते प्रतिमुहुर्ध्यानैकतानाः परम् ।

धन्यास्ता मधुरापुरीयुवतयस्तद्भवा याः कौतुका-

वाल्लिङ्गन्ति समालपन्ति शतधाकर्षन्ति चुम्बन्ति च ॥'

युग्मकं यथा मम—

'किं करोपि करोषान्ते कान्ते ! गण्डस्यलीमिमाम् ।

प्रणयप्रवणे कान्तेऽनैकान्ते नोचिताः कुषः ॥

इति यावत्कुरङ्गाक्षीं वक्तुमीहामहे वयम् ।

तावदाविरभूच्छूते मधुरो मधुपध्वनिः ॥'

एतेषां नाटिकादीनाम् ॥ इत्येकाव्यमुक्त्वा श्रव्यमाह—श्रव्यमिति । मात्रपदेन
इत्यव्यवच्छेदः ॥ छन्दो गायत्र्यादि । तच्च छन्दःशास्त्रप्रसिद्धलक्षणम् । तेन
पदेन मुक्तेन पद्यान्तरनिरपेक्षेण एकेन । 'तेनैकेन च मुक्तकम्' इति कवित्याहः ।
द्वाभ्यां परस्परापेक्षाभ्यां पद्याभ्याम् । एवमग्रेऽपि । पञ्चभिरिति न्यूनसंख्याव्यव-
च्छेदः । तेन माघादौ दशादिभिः श्लोकैः कुलकं संगच्छते ॥ क्षणं क्षणमपि । ध्यानै-
कतानाः ध्यानैकाम्रचिता । आकर्षन्ति क्रीडार्यमाहरन्ति ॥ अनैकान्तेऽव्यभिचारिणि ।

१. संदानितकमिति । संदानितकस्यैव विशेषकमिति तिलकमिति च संज्ञा ॥

२. कलापकमिति । कलापकमेव काश्मीरकैश्चकुलकमिति स्वपदिश्यते ॥

३. मधुरापुरीति । मधुराशब्दस्य मधुपुरीवाचकत्वे 'काञ्ची ते धृतयोगसंपदभितो
जाता विशालाकृतियौवन्ती मधुरा ध्वनिं विदधती पश्चादयोष्यामवत् । माया द्वारवती
क्षिवाधिवसतिः सा काशिका दृश्यते तच्चित्रं न वदामि माधव ! यत्तस्यां सा सदा
सथिता ॥' इति मधुसूदनसरस्वतीश्लोकः प्रमाणम् ॥

एवमन्यान्यपि ।

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥ ३१५ ॥

सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।

एकवंशभवा भूषाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥ ३१६ ॥

शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।

अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंघयः ॥ ३१७ ॥

इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।

चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥ ३१८ ॥

आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।

कंचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ॥ ३१९ ॥

एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।

नातिखल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥ ३२० ॥

त्वन्मात्रपरायणे इत्यर्थः ॥ महाकाव्यमाह—सर्गबन्ध इति । सर्गैरवान्तरायवर्णनैरुप-
रक्षितः बन्धः । पद्यबन्ध इत्यर्थः । तत्र महाकाव्ये । यद्वयः । नायका इत्यर्थः । नाटक-
संघयो मुखप्रतिमुखवर्मविमर्शनिर्वहणाख्याः । इतिहासोद्भवं भारतादिप्रसिद्धम् ।
अन्यलोकप्रसिद्धम् । चत्वारो वर्गाः धर्मार्थगाममोक्षाः, तेषु चतुर्षु मध्ये एकं चेति
चकारो वार्थः । फलं वर्गः । आदौ आरम्भे । वस्तुनो वर्णनीयनायकस्य नाम्ना निर्देशो
वस्तुनिर्देशः । एकवृत्तमयैरेकजातीयपदैरुपलक्षिताः । अष्टाधिका अष्टान्यूनाः । इह

१. महाकाव्यमिति । अत्र विशेषः—‘शास्त्रं काव्यं शास्त्रकाव्यं काव्यशास्त्रं च
भेदतः । चतुष्प्रकारः प्रसरः सतां सारस्वतो मतः । शास्त्रं काव्यविदः प्राहुः सर्वका-
व्याङ्गलक्षणम् । काव्यं विशिष्टशब्दार्थसाहित्यसदलंकृति ॥ शास्त्रकाव्यं चतुर्वर्गप्रायं सर्वो-
पदेशकृत् । भट्टि-भौमक-काव्यादि काव्यशास्त्रं प्रचक्षते ॥ शास्त्रं कुर्यात्प्रयत्नेन
प्रसन्नार्थमनुबुधा । येन सर्वोपकाराय याति सुस्पष्टसेतुताम् ॥ काव्ये रसानुसारेण
वर्णनानुगुणेन च । कुर्वीत सर्ववृत्तानां विलियोगं विभावयित्वा ॥ शास्त्रकाव्येऽतिदीर्घाणां
वृत्तानां न प्रयोजनम् । काव्यशास्त्रेऽपि वृत्तानि रसावधानि काव्यविदः । पुराणप्रतिवि-
म्बेषु प्रसन्नोपायवर्त्मसु । उपदेशप्रधानेषु कुर्यात्सर्वेष्वनुबुधम् ॥ नानावृत्तविशेषास्तु कवेः
ज्ञातस्य ज्ञातनात् । यान्ति प्रमेरिवात्यन्तमयोभ्या अति योग्यताम् ॥’ इति ॥

२. कचिदिति । यथा धर्मशर्माऽनुदयादौ ॥

३. एकवृत्तेति । एकवृत्तेति लक्ष्यानुरोधेनैव । नतूच्छृङ्खलतया वैदिकच्छन्दोभिर्हिन्दी-
प्रभृतिच्छन्दोभिर्वा । प्रायेणाधुनिका मातरीपुरुषा ‘अग्निमीळे पुरोहितम्’ इत्येवमादि विद-
मयिषुमुत्सहन्ते । कतिपये पुनर्दोहासोरठापनाक्षरीप्रभृतीनि राजलदादराकम्बालीमभृतीनि
च तत्तन्प्रापाच्छन्दसि संस्कृते व्यवहर्तुमीहन्ते तैरपि छन्द्यानुरोधेनैव प्रवर्तितव्यम् । इतरथा-
वेतालचेष्टितं स्यात् । यत्तदुक्तं भवति—‘षड् (३) जलधि (४) त्रि (३) कलैर्युना विपने भाति
सदैव । रस (६) वेदे (४) क (१) कलैर्यो समे भाति दोहैव ॥’ इत्येवमादिषु लक्षणेऽपि प्रास-
यश्रणावलोकनात्, माषायामपञ्चशस्ताच्छन्दाश्च निर्वाहेऽपि संस्कृते तथा राहित्यात् कापि
षट्तेऽपि पर्यवसानेऽधमकक्षासंनिपाताच्चाट्टकाव्यं षटनं कापेयमेव । यथावसरं हि सर्वं शोभत
इत्येव न्याय्यम् । एतेन साहित्यिकाः प्रबन्धलेखका-जकाण्डव्याख्यानाकर्तारोऽपि निवेदिताः ॥

नानावृत्तमयः केषांपि सर्गः कश्चन दृश्यते ।

सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥ ३२१ ॥

संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।

प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥ ३२२ ॥

संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।

रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ॥ ३२३ ॥

वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।

कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥ ३२४ ॥

महाकाव्ये । उपयमो विवाहः । यथायोगं यथासंभवम् । एतेन येन केनाप्यङ्गेन हीनमपि काव्यं न दुष्टमिति भावः । वृत्तस्य वर्णनीयचरित्रस्य । अस्य महाकाव्यस्य । कविनामकं महाकाव्यं भाष्यभारविप्रमृति । वृत्तनामकं कुमारसंभ-

I. क्वापीति । यथा शिशुपालकवे चतुर्थः सर्गः, किरातार्जुनीये षष्ठमः ॥

2. वर्णनीया इति । केषांचन वर्णनीयानां विशिष्य वर्णनप्रकारा निरूप्यन्ते—
‘नृपे विद्या नयः शक्तिर्बल तत्करताक्षमः । प्रभाशक्तिः प्रभारागो धर्मकामार्थतृप्त्यता ॥
प्रयागरणक्षत्रादिशास्त्राण्यरिपराजयः । अरिनाशोऽरिशैलादिबासोऽरिपुरशून्यता । महः
श्रीदानकीर्त्याद्या गुणौघा रूपवर्णनम् ॥ महामात्ये नयः शास्त्र धैर्यं मुक्तिर्गोमीरता । शक्तिः
शस्त्रमलोभत्वं जनरागो विवेकिता ॥ पुरोहिते स्मृतिर्वेदा निमित्तापरप्रतिक्रिया ।
दण्डनीतिशता शुद्धिधर्मशीलकुलक्रमाः ॥ देव्यां विश्वान्वातुर्यत्रपाशीलप्रतादयः ।
रूपलावण्यसौभाग्यप्रेमशृङ्गारमन्मथाः ॥ वैष्ण्वमिलतीमस्तभालश्रवणनासिकाः । कपो-
लाधरनेत्रभ्रुकदाक्षदशानोकयः ॥ वण्टबाहुकरोरोजनाभ्यो मध्यं बलित्रयम् । रोमाक्षिभोगि-
जह्वोरगतिक्रमनखाः क्रमात् ॥ कुमारे क्षत्रशास्त्रश्रीकलावलगुणोच्छ्रयाः । बाह्यालीखुरली
राजभक्तिः सुभगतादयः ॥ सेनापतौ महोत्साहः स्वामिभक्तिरभीरुजा । अभ्यासो बाह्वने
शास्त्रे शस्त्रे च, विजयो रणे ॥ देशे बहुबलनिद्रम्यपण्यधान्याकरोद्भवाः । दुर्गमामजनाधि-
श्वनदीमातृकतादयः ॥ ग्रामे धान्यलतावृक्षसरसीपशुपुष्टयः । क्षेत्रारवट्टकेदारग्रामेयीमु-
ग्धविभ्रमाः ॥ पुरेऽट्टपरिखावप्रतोलीतोरणादयः । प्रासादाध्वपारामवाप्यो वेदया
सतीवरी ॥ सरस्वभोक्तृहर्षभोगजाचमुजषट्पदाः । दक्षचक्रादयस्तीरोधानस्त्रीपान्थके-
लयः ॥ अन्धौ द्वीपाद्विरलोर्मिपोतबादोजगत्पुत्राः । विष्णुकुल्यागमस्वप्नद्राहुद्विरोधोऽन्द-
पूरणम् ॥ सरित्सन्धियामित्व वीच्यो जलमजादयः । पद्मानि षट्पदा दक्षचक्रापा, कूल-
शास्त्रिनः ॥ उद्याने सरणिः सर्वफलपुष्पलताद्रुमाः । पिकातिकेकिर्हस्तावाः श्रीहावाप्य-
ध्वगसितिः ॥ शैले भेदीषधीषातुवशक्तिरनिर्हाराः । शृङ्गपादयुद्धारलवननीवाद्युपलकाः ॥
अरण्येऽद्विवराहेमयूषसिद्धादयो द्रुमाः । काकोल्लङ्कपोतापा मिष्ठमहदवादयः ॥ आश्र-
मेऽतिथिपूजैगविश्वातो द्विस्तान्तवा । यक्षपूयो मुनिधृवा वृत्तेनो वक्त्रलद्रुमाः ॥ मन्त्रे
साहि० ३२

नामास्यः सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।

संध्यङ्गानि यथात्रयमत्र विधेयानि 'अवसानेऽन्यवृत्तकैः' इति बहुवचनमविवक्षितम् । साङ्गोपाङ्गा इति जलकेलिमधुपानादयः । यथा—
रघुवंश-शिशुपालवध-नैषधादि । यथा वा मम—राघवविलासादि ।

यादि । नायकनामकं रघुप्रभृति । इतरनामकं भट्टिप्रभृति । महाभारतादौ गद्यस-

पद्याङ्गताशक्तिपाहुण्योपायसिद्धयः । उदयाश्विन्तनीयाश्च सौर्योन्नत्यादिसूक्तयः ॥ कूते स्वस्वामितेजःश्रीविक्रमौत्रलकुद्वचः । शत्रुक्षोभकती चेष्टा धार्ष्ट्यं दाक्ष्यममीरता ॥ युद्धे-
ह्यु-वर्मबलवीरराजसि त्वयं विशासनादश्वरमण्डपरकनयः । छिन्नातपत्ररथचामरकेतुकुम्भि-
मुक्तासुरीश्वतमदामरपुष्पवर्षाः । प्रयाणे भेरिनिस्तानभूकम्पबलमूलवः । करमोक्षध्वजच्छ-
त्रवणिषष्ठद्वेष्टराः ॥ भृगुपायांश्चसचरो वायुरा नीलवेषता । भट्टकाभृगुगत्रासः
सिंहयुद्धस्वरागतिः ॥ अश्वे खरलुरोत्पातरजःसहस्रणसितिः । तेजो वेगित्वमौन्नत्यं
जातिधारापञ्चनम् ॥ गजे सहस्रयोषित्वमुन्नत्यं कर्णचापलम् । अरिब्यूहविभेदित्वं कुम्भ-
मुत्तामदाकिनः ॥ सुरभौ दोषाकोकिलमारुतसर्वगतितददलोद्भेदाः । जातीतरपुष्पचपात्र-
मक्षरीभ्रनरसंकाराः ॥ ग्रीष्मे पाटलमञ्जरीतापसरःपथिकशोषयातात्त्वः । सप्तमपाप्रपासी-
शृगृष्णाभ्रादिफलपाकाः ॥ वर्षासु घनशिखिस्रवहस्रगमाः पङ्क्तन्दलोद्भेदाः । जातीकद-
म्बनेतकसप्तानिलनिस्त्रगा इलिप्रीतिः ॥ शरदीन्दुरविपङ्क्तं जलाच्छतागस्त्यहंसवृषदपाः ।
सप्तच्छदपक्षिताभ्रगान्धशिक्षिपश्चमदपाताः ॥ हेमन्ते दिनलघुता शीतपवस्तन्ममरवक-
हिमानि । शिशिरे कतीपधूमः कुमुदाम्बुजदाहशिपिरतोत्कर्षाः ॥ सूर्येऽश्रुगता रविम-
णिषक्राम्बुनपथिकलोचनप्रीतिः । तारेन्दुरीपकौषधिभूकमध्वोरकुमुदकुलगातिः ॥ चन्द्रे
ज्जुलदाचमाम्बुवहिरदितमोहानिरीज्वल्यम् । जलपिञ्जनेनमैरवचकोरचन्द्राश्मदम्पति-
प्रीतिः ॥ विवाहे लाजशुभ्राङ्गभूषाखलुनयीरवाः । वेदीसीमन्ततारेक्षा लाजामल्ल-
वतेनम् ॥ विरहे तापनिःश्वासचिन्ता मौन कृदाङ्गता । अञ्जशय्या निशादैर्ध्वं जागरः
शिथिलोन्मता ॥ स्वयंवरे श्वरीरक्षामञ्जमण्डपसज्जता । राजपुत्री मृपाकारान्वयचेष्टामका-
शनम् ॥ सुरापाने विकलता रखलनं वचने गती । लज्जा मानघ्युत्तेः प्रेमाभिक्ष रक्त-
क्षणत्रमाः । पुष्पावचये पुष्पावचवः पुष्पावर्णाभिने दयिते । मानार्थं गोत्ररखलनेर्था-
यकोकिस्रमगालेपाः ॥ जरुकेलौ सरःक्षोमश्चक्रहंसापसर्वणम् । पद्मलानिः पद्मःसेपो
प्रमाणे भूषणच्युतिः ॥ सुरते सात्विका भावाः सीतकारः कुचलाङ्गता । काशीकङ्कण-
मञ्जीररवोऽधरनखक्षते ॥ प्रातः कोकाम्बुजोत्कर्षो मध्याह्ने तापसंभवः । सार्धं सूर्याति-
लोहित्य चक्रपचादिविष्टवः ॥ अन्धकारेऽतिसान्द्रत्वं विश्वलोपसमर्भता । आकलिकस-
मारम्भो निःशङ्कमभिसारिकाः ॥ वण्डेषु वण्डंभावाना दिद्यान्मिह दर्शितम् । चिद्रूपै-
श्चिन्लमानानां भवलेषामनन्तता ॥ इति ॥

1. सर्गनामेति । यथा गीतगोविन्दे प्रथम-द्वितीयद्विसर्गाणां सामोददामोदर-मङ्गे-
शकेशवादिनद्यां स्वपदेशः ॥

असिन्नार्पे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः ॥ ३२५ ॥

असिन्महाकाव्ये । यथा—महाभारतम् ।

प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससंज्ञकाः ।

छन्दसां स्कन्धकेनैतत्कचिद्गलितकैरपि ॥ ३२६ ॥

यथा—सेतुबन्धः । यथा वा मम—कुवल्याश्चरितम् ।

अपभ्रंशनिर्बद्धेऽस्मिन्सर्गाः कुड्बकाभिधाः ।

तथापभ्रंशयोग्यानि छन्दांसि विविधान्यपि ॥ ३२७ ॥

यथा—कर्णपराक्रमः ।

भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुज्झितम् ।

एकार्थप्रवणैः पद्यैः संधिसामग्र्यवर्जितम् ॥ ३२८ ॥

यथा—मिक्षाटनम्, आर्याविलासश्च ।

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।

यथा—मेघदूतादि ।

कोपः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः ॥ ३२९ ॥

ब्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः ।

सजातीयानामेकत्र संनिवेशो ब्रज्या । यथा—मुक्तावरुणादिः ।

एवंपि पद्यप्राचुर्येणैव महाकाव्यत्वव्यवहारः ॥ तस्मिन्महाकाव्ये । एतद्व्याकृतकृतं महाकाव्यम् । गलितकानि छन्दोविशेषाः ॥ काव्यमाह—भाषेति । भाषा संस्कृतादिः, विभाषा अपभ्रंशादिः । एकार्थप्रवणैः एकवाक्यतापणैः । यावत्संधिरहितं यत्तत्काव्यमित्यर्थः ॥ खण्डकाव्यमाह—खण्डेति । काव्यस्यानन्तरनिरूपितस्य एकदेशानुसारि यत्किञ्चिद्व्यञ्जनाहीनम् । तेनात्र भाषानियमो नास्ति । एकार्थप्रवणैः संस्कृतपद्यैर्निर्मितं खण्डकाव्यमित्यर्थः ॥ कोपमाह—कोप इति ।

१. भाषेति । भाषाविभाषानियमाद् एकार्थप्रवणैः पद्यैर्निबद्धम् ॥

२. मेघदूतादीति । आदिपदेन अनुसंहारप्रवृत्तिर्ना संग्रहः । अप्रेत मेघे देवद्विज-राजसुतिमात्रप्रवणानां यत्किञ्चिद्व्यञ्जनाकान्त्यानामन्येषामपि काव्यकानामन्तर्भावः ॥

३. कोप इति । अत्रेदं तत्त्वम्—ब्रज्यापठित एकः प्रचारस्तद्विज्ञो द्वितीय इति द्विविधः कोपः । तत्रापस्य आर्यासप्तशत्यादय उदाहरणम् । द्वितीयस्य सुभाषितावलि-प्रभृतयः । अकारादिद्विकारान्ताद्यक्षरश्लोकसंघातो ब्रज्या ॥

अथ गद्यकाव्यानि । तत्र गद्यम्—

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च ॥ ३३० ॥

भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम् ।

आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम् ॥ ३३१ ॥

अन्यदीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम् ।

मुक्तकं यथा—‘गुरुर्वचसि पृथुरसि—’ इत्यादि ।

वृत्तगन्धि यथा मम—‘समरकण्डूलनिविडमुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिञ्जिनीटंकारोज्जागरितवैरिनगर—’ इत्यादि ।

अत्र ‘कुण्डलीकृतकोदण्ड—’ इत्यनुष्टुप्वृत्तस्य पादः, ‘समरकण्डूल’ इति च प्रथमाक्षरद्वयरहितस्तस्यैव पादः ।

उत्कलिकाप्रायं यथा ममैव—‘अणिसविस्मरणिसिदसरविसरविदलितसमरपरिगदपवरपरचल—’ इत्यादि ।

चूर्णकं यथा मम—‘गुणस्तसागर जगदेकनागर कामिनीमदन जनरञ्जन’ इत्यादि ।

कथार्या सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ॥ ३३२ ॥

क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके ।

आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेवृत्तकीर्तनम् ॥ ३३३ ॥

यथा—कादम्बर्यादिः ।

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वैशानुकीर्तनम् ।

अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित् ॥ ३३४ ॥

स एव कोप एव ॥ वृत्तस्य गन्धेन लवेनापि उज्झितं शब्दकाव्यं गद्यम् । आद्यं मुक्तकम् । वृत्तस्य छन्दसो भागः पादः, परं वृत्तगन्धि । अन्यदुत्कलिकाप्रायम् । तुर्यं चूर्णकम् ॥ अणिस इति । ‘अणिसविस्मरणिसिदसरविसरविदलितसमरपरिगदपवरपरचल—’ इति सस्कृतम् ॥ गद्यकाव्यप्रभेदयोः कथाख्यायिकयोर्विशेषमाह—कथायामिति । पद्यानां विशेषमाह—क्वचिदिति । ‘वक्त्रापवक्त्रके छन्दोविशेषाः । ‘पद्यैः’ इत्युभयत्र सवध्यते ॥ आख्यायिकामाह—आख्यायिकेति । कथावदिति । यथा कथार्या पद्यैर्नमस्कारखलादेवृत्तकीर्तनसरसवस्तुवर्णनास्तथात्रापीत्यर्थः । विशेषमाह—कवेरिति । अस्यामाख्यायिकायाम् । वृत्तं

कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति वक्ष्यते ।

आर्यावक्रापवक्राणां छन्दसा येन केनचित् ॥ ३३५ ॥

अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम् ।

यथा—हर्षचरितादिः ।

‘अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात् ।’ इति दण्ड्याचार्यवचनात्केचित् ‘आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या’ इत्याहुः, तदयुक्तम् । आख्यानादयश्च कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ताः । यदुक्तं दण्डिनैव—

‘अत्रैवान्तर्भव्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ।’ इति ।

एषामुदाहरणम्—पञ्चतन्त्रादि ।

अथ गद्यपद्यमयानि—

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ॥ ३३६ ॥

यथा—देशराजचरितम् ।

गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते ।

यथा—विरुदमणिमाला ।

करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम् ॥ ३३७ ॥

यथा मम—पौडशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली ।

चरित्रम् ॥ दण्ड्याचार्यवचनादिति हेतु ‘तदयुक्तम्’ इत्यग्रान्वेति ॥ एषा आख्यायिकासीताम् ॥ गद्यपद्यमयानि श्रव्यकाव्यानीत्यर्थः ॥ सेवा. श्रव्यकाव्यविशेषः । उद्देशमात्रप्रसिद्धत्वात् नाममात्रेण ख्यातत्वात् । तथा च तेषां सशयैव भिन्नत्वम्, न तु वस्तुत इति भावः ॥

इति श्रीरामचरणतर्जवागीशमहाराजचार्यविरचिताया साहित्यदर्पणविरचिता

पष्ठ प्रकाशः ।

१. आर्यावक्रेति । आर्यावक्रापवक्राणां मध्ये ॥

२. गद्येति । काव्यं चात्र समस्तलक्षणकान्तमवधेयम् । लक्षणसंकीर्णे तु काव्यभेदबहिर्भाष्यपादेयतात्परात्म्यं स्यात् । कथांशविच्छेदास्तुच्छाससंज्ञका स्तवकसंज्ञका वा भवन्ति ॥

३. यद्येति । यथा वा नलचम्पादि ॥

ऐवमन्येऽपि भेदा उद्देशमात्रप्रसिद्धत्वादुक्तभेदानतिक्रमाच्च न पृथ-
ग्लक्षिताः ॥

(अत्र मूलकारिका=३३७ पूर्वाभिः सह ६४६ उदाहरणश्लोकाः=११४
पूर्वैः सह ३२१ ।)

इति साहित्यदर्पणे दृश्यव्यक्ताव्यनिरूपणो नाम षष्ठः परिच्छेदः ।

१. एवमिति । येन केनापि शब्देन मध्यमसमन्वितम् । जयेत्युपक्रमं मालिन्या-
दिप्रासविचित्रितम् ॥ तदुदाहरणं नास्ति विमललघाद्वसंयुतम् । संबोधनविभक्त्या यत्प्र-
चुर पद्यपूर्वकम् ॥ विद्युत्पुनराकृतशब्दः स्वाक्षकपालकम् । अद्यन्तपदसंयुक्ता संस्कृ-
तप्राकृतमिश्रिका ॥ अष्टभिर्वा चतुर्भिर्वा वाक्यैः स्तुत्यसमन्विता । प्रतिशक्त्यं भिन्नवाक्य-
रीतिर्देवमृपोचिता ॥ सर्वतो देवशब्दादिरेषा भोगावली मता । वर्ण्यनामाङ्कविरुद्धवर्णन-
प्रचुरोगवला ॥ वाक्याङ्गमरसयुक्ता कविता विद्वावली । ताराणां सङ्ख्या पद्यैर्युक्ता
तारावली मता ॥ मिश्रेषा संख्यया पद्यैर्युक्ता विश्वावली मता । रत्नानां सङ्ख्या
पद्यैर्युक्ता रत्नावली मता ॥ पदैश्च पञ्चमिर्युक्ता प्रोक्त्य पञ्जाननावली ॥' इत्यादयः
कविकर्मभेदास्तत्र तत्रोपलभ्यन्ते । ते नाविचमत्कारावापकत्वाद् ग्रन्थकृतोपेक्षिताः ।
प्रायेण कविकर्मणो द्विविधः परिपाको भवति । तथा चोक्तम्—'अर्थगम्भीरिमा वाकः स
देवा कविसमतः । द्राक्षपाको नारिकेलपाकश्च प्रसूतान्तरौ ॥ द्राक्षपाकः स कथितो
वदिरन्तः स्फुरद्भसः । स नारिकेलपाकः स्वादन्तर्गदरसोदयः ॥' इति ॥



सप्तमः परिच्छेदः ।

इह 'हि प्रथमतः काव्ये दोषगुणरीत्यलंकाराणामवस्थितिक्रमो दर्शितः । संप्रति के त इत्यपेक्षायामुद्देशक्रमप्राप्तानां दोषाणां स्वरूपमाह—

रसापकर्षका दोषास्—

काव्यं निरूप्य सदीयदोषादीभिरूपयैस्वस्य प्रकृतत्वं दोषनिरूपणस्य प्राथमिकत्वं चोपपादयति—इह हीति । प्रथमतो दोषादिनिरूपणात्प्राक् काव्ये काव्यलक्षणे रीतेऽछन्दोनुरोपेन पद्याभिर्देशेऽपि वक्ष्यमाणयुक्त्या अलंकारनिरूपणात्प्रागेव तां निरूपयिष्यतीति तस्या अलंकारात्प्राणिह निर्देशः । ते दोषादयः । 'हेयहानिपूर्वकमुपादेयोपादानमिति सूचयितुं दोषनिरूपणस्य प्राथमिकत्वम्' इत्यपरे । दोषाणां सामान्यलक्षणमाह—रसापकर्षका इति । अत्रोक्तयुक्त्या (२० पृ.) रसपदेन विभावादयोऽप्युच्यन्ते । तदपकर्षकस्यापि दोषत्वेनोदाहरिष्यमाणत्वात् । दूषयति काव्यमिति दोषपदेन दु ध्रुवत्वादिरुच्यते । भावसाधनेन तु काव्यापकर्षे एव । काव्यापकर्षश्च त्रिधा—रसादिप्रतीतिप्रतिबन्धः, रसादिप्रकर्षप्रतीतिप्रतिबन्धः, रसादिप्रतीतिविलम्बनं च । तत्र दोषविशेषोदाहरणेऽप्यवधेयम् । नन्वेतलक्षणं श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादावव्याप्तं तस्य सध्दार्थदोषत्वेन रसापकर्षवत्त्वाभावादत आह—

१. दोषा इति । अत्रेदं तत्त्वम्—उद्देश्यप्रतीतिविधातलक्षणे दोष इति तत्सामान्यलक्षणम् । उद्देश्या च प्रतीती रसवन्निमित्तानपकृष्टरसविषया च नीरसे त्वविलम्बिता चमत्कारिणी चार्थविषया । तथा च सादृश्यप्रतीतिविधातकत्वं सर्वेषामविशिष्टम् । यतो दुष्टेषु कचिद्रसस्याप्रतीतिरेव, कचिप्रतीयमानस्यापकर्षः, कचिषु विलम्बः । एवं नीरसे कचिदर्थस्य मुख्यभूतस्याप्रतीतिरेव, कचिद्विलम्बेन प्रतीतिः, कचिदचमत्कारित्वमित्युद्देश्यप्रतीत्यनुरूपो व्यक्त एव । तद्विधातकता च कस्यचित्साक्षात् । यथा—रसदोषाणाम् । कस्यचिरपरम्परया । यथा—शुद्धार्थदोषाणाम् । तेष्वपि कस्यचिदर्थोपस्थितेरभावात् । यथा—असम्भवेत्वादेः । कस्यचिद्विलम्बात् । यथा—निवृत्तार्थत्वादेः । कस्यचिद्व्याप्यार्थबोधाभावात् । यथा—च्युतसंस्कारत्वादेः । कस्यचित्तत्र विलम्बात् । यथा—द्विष्टत्वादेः । कस्यचित्सद्दयैमुख्यव्यग्रताभावापदानेन । यथा—निरर्थकत्वादेः । कस्यचिद्रोष्युपस्थापनेन विपरीतोपस्थापनेन वा । यथा—विरुद्धमतिकारित्वादेरित्याहूनीयम् । विधातकत्वं च कस्यचित् श्रुतस्य । यथा—ग्राह्यत्वादेः । कस्यचित्स्वरूपस्य एव । यथा—निवृत्तार्थत्वादेः । ॥ चायं द्विविधः—निलोऽनिलश्च । तत्रानुकरणादन्येन प्रकारेण समाधातुमशक्यो निलः । यथा—च्युतसंस्कारत्वादिः । अन्यादृश्यत्वेनिलः । यथा—अप्रयुक्तत्वादिः । यदा सर्वदैव हेयो निलः । यथा—च्युतसंस्कारत्वादिः । तदन्योऽनिलः । यथा—शृङ्गारादौ हेयमपि तु भवत्यौदादावुपादेयमेव ॥

अस्यार्थः प्रागेव स्फुटीकृतः ।

तद्विशेषानाह—

ते पुनः पञ्चधा भवताः ।

पदे तदंशे वाक्येऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि यत् ॥ १ ॥
स्पष्टम् ।

तत्र—

दुःश्रवन्निविधाश्लीलानुचितार्थाप्रयुक्तताः ।

ग्राम्याप्रतीतसंदिग्धनेयार्थनिहतार्थताः ॥ २ ॥

अवाचकत्वं क्लिष्टत्वं विरुद्धमतिकारिता ।

अविमृष्टविधेयांशभावश्च पदवाक्ययोः ॥ ३ ॥

दोषाः केचिद्भवन्त्येषु पदांशेऽपि पदे परे ।

निरर्थकासमर्थत्वे च्युतसंस्कारता तथा ॥ ४ ॥

परुषवर्णतया श्रुतिदुःखावहत्वं दुःश्रवत्वम् ।

यथा—

‘कार्तार्थ्यं यातु तन्वङ्गी कदानङ्गवशवदा ॥’

अस्यार्थ इति । प्रागेव प्रथमपरिच्छेद एव । श्रुतिदुष्टतादे शब्दार्थोपकर्षकद्वारेण रसापकर्षत्वमिति नाव्याप्तिरिति भावः ॥ तद्विशेषान् दोषविभागान् । ते दोषा । तदंशे ॥ पदांशे दोषविशेषाभिर्दिशति—दुःश्रव इति । अयं भावप्रधानो निर्दशः । दुःश्रवन्निविधाश्लीलेति समस्तपाठे भावप्रत्ययस्य सर्वान्वयः । यूपुक्तदोषेषु ॥ उद्देशक्रमेण ॥ श्रवत्वादिलक्षणं सोदाहरणमाह—परुषेति । केषां चित्सपष्टत्वादुदाहरणस्यैव दर्शनम् । ‘श्रुतिपतितमानं यद्वैरस्यमावदति तत्पदं तावदा न देयमिति प्रथमं तदुपन्यासः’ इत्यन्ये । परुषवर्णता वर्णानां पारुष्यं गुणपरिच्छेदे व्यक्तीभविष्यति । श्रोतॄणां श्रोनावच्छेदेन दुःखजनकत्वं श्रुतिदुःखावहम् । श्रुतिपतितं सद्दुःखावहं श्रुतिदुःखावहम्, तत्त्वं वा । कार्तार्थ्यमिति । अत्र तययो रेभ्योयोगेन पारुष्यम् । तत्प्रयुक्तं पदस्य दुःश्रवत्वं स्वाश्रयपदसंबन्धित्वेन प्रत्यासन्नस्य शृङ्गाररसस्य अपर्क्यप्रतीतिं प्रतिबध्नाति । इदमेव ‘श्रुतिकट्ट’ इत्यभिधीयते । नन्वेतत्पदाशपाठ्यमेव न तु पदपारुष्यमिति चेत् । वाक्यपदकद्विनादिपद-

१ कार्तार्थ्यमिति । ‘अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गमङ्गितरद्वितै । आङ्गित ॥ तन्वङ्ग्या कार्तार्थ्यं लभते कदा ॥’ इति प्रकाशोदाहरणानुरूपम् ॥

अश्लीलत्वं व्रीडाजुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकत्वात्रिविधम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

‘दत्तारिविजये राजन्साधनं सुमहत्तव-॥’

‘प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि ! ते तदा ॥

अत्र साधन-वायु-विनाश-शब्दा अश्लीलाः ।

‘शूरा अमरतां यान्ति पशुभूता रणाध्वरे ॥

अत्र पशुपदं कातर्यमभिव्यनक्षीत्यनुचितार्थत्वम् ।

पारुष्यप्रयुक्तवाक्येयदु श्रवत्ववत्पदपटकद्विप्रादिवर्णपारुष्यप्रयुक्तपददु श्रवत्वस्य स्त्री-
कारात् । असंभ्यार्थान्तरव्यञ्जकमश्लीलं तस्य भावस्तत्ता । पदांशाश्लीलत्वं
तु असंभ्यस्मृतिहेतुत्वमेव । जुगुप्सा घृणा । अमङ्गलममङ्गलाशङ्का । व्यञ्जक-
त्वमिह जनकत्वमेव ॥ अत्रेति । सैन्ये प्रयुक्तः साधनशब्दो मेद्व्यञ्जकतया
धोतुर्लज्जाजननेन राजविपर्ययतिभावस्य, समीरणे प्रयुक्तो वायुशब्दः पायुवायुव्य-
ञ्जकतया धोतुर्जुगुप्साजननेन, अदर्शने प्रयुक्तो विनाशशब्दश्च मृत्युव्यञ्जकतया
अमङ्गलाशङ्काजननेन, शृङ्गारस्य प्रकर्षप्रतिबन्धकः ॥ अनुचितार्थत्वं कविद्व-
यार्थदोषप्रतिपादकत्वेन, कविदर्शसंभवेन, कविदसंस्मरणकार्येन । तत्राप्यमाह—
शूरा इति । पशुभूताश्छेयस्वरूपाः । अत्र वाच्यार्थस्य शूरस्य कातर्यं दोषः ।

१. अश्लीलत्वमिति । मिय सङ्गदयवशीकरणसंपत्तिं शक्नोति । ‘आंतोऽनुपसर्गो-’
इति कः । तज्जितम् । कपिलादिखातत्वम् ॥
२. अत्रेति । अश्लीलायोपसिद्धा ओतुर्वैमुख्यमिह दूषकतावीजम् । येषां पुनः शिव-
लिङ्ग-सुभगा भगिनी-महागङ्गादिशङ्खदानां विवक्षितार्थस्य मतिरुतयाश्लीलाधो नोपतिष्ठते
न तेषु दुष्टत्वमित्यतिरोहितं विदाम् ॥ अत्र “साधनं सुमहद् यस्य यत्रान्यस्यावलोचयते ।
तस्य धीशालिनः कोऽन्यः सहेतारालितां भुवम् ॥” ‘लीलासामरसाहोऽन्यवनितानि-’
‘शङ्खदृष्टाभरः कश्चित्केसरदूषितेक्षण इव व्योमीत्य नेने सितः’ । ‘सुग्धा कुञ्जलिताननेन
‘ददती वायु सितता तत्र सा आगता भूतैतन्मायवाननिसृष्टे । तेनानिशं चुम्बिता ॥’
‘मृदुपवनविभित्तो मग्निमाया विनाशाद् घनरुचिरकलपो निःसपलोऽप्य जातः । रति-
विगलितवन्द्ये केसपादो मुकेशयाः सजि कुसुमसनाये कं हरेदेष वही ॥’ इति प्रकाशो-
दाहरणानां दूष्याशः संगृहीताः ॥

३. पशुपदमिति । अत्र शौर्ये प्रतिपाद्ये, पदान्तरानपेक्षमेव पशुपदं कातर्यमभि-
व्यनक्ति, पशुपदार्थे कातर्यस्य दर्शनात् । विरुद्धमतिक्रान्तं पदान्तरसापेक्षं तथेति तस्मा-
ज्ज्ञेदः ॥ अत्र “सपस्विभिर्यो मुचिरेण लम्बते प्रयत्नतः सन्निगिरिष्यते च या । मयान्ति
तामाशु गतिं यशस्विनो रणाशमेवे पशुतामुपागताः ॥” इति प्रकाशोदाहरणानां
परावर्तितः ॥

अप्रयुक्तत्वं तथाप्रसिद्धावपि कविभिरनादृतत्वम् । यथा—

‘भाति पद्मः सरोवरे ॥’

अत्र पद्मशब्दः पुंलिङ्गः ।

ग्राम्यत्वं यथा—

‘कटिस्ते हरते मनः ॥’

अत्र कटिशब्दो ग्राम्यः ।

अप्रतीतत्वमेकदेशमात्रप्रसिद्धत्वम् । यथा—

‘योगेन दलितशयः ॥’

अत्र योगशब्द एव वासनार्थ आशयशब्दः ।

तस्य व्यञ्जकत्वात्पदशुद्धस्यानुचितार्थत्वम् । द्वितीयं यथा—‘प्रज्वलजलधारावन्नि-
पतन्ति शरास्तव ।’ अत्र प्रज्वलदिति पदमनुचितार्थम् । तृतीयं यथा—‘दिवाक-
राप्रकृति यो शुद्धसु चीनं दिवाग्नीतमिवान्धकारम् । ध्रुवेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने
ममत्वमुच्चैः शिरसागतीन् ॥’ अत्रासद्भूतस्यान्धकारभयस्य समर्थकं द्वितीयार्धमनु-
चितार्थम् । एवमन्यदपि हेयम् ॥ तथाप्रसिद्धावपि तेन रूपेण प्रसिद्धितत्वेऽपि ॥
पुंलिङ्ग इति । ‘अप्रयुक्तः’ इति शेषः ॥ हाल्लिकसाधारणप्रसिद्धार्थकशब्दो
ग्राम्यः कटिरिति । अत्र शृङ्गारस्य गूढत्वकृतचास्त्रभावात्प्रकर्षप्रतीतिप्रति-
रोधः ॥ योगेन प्रकृतिपुरुषयोर्भेदचिन्तनेन दलितः रागिष्ठ आशयो वासना
यस्य सः । आशयशब्दोऽप्रतीत इति शेषः । अत्र योगशास्त्रानुशीलिनामाशय-
पदार्थानभिज्ञानो योगिविषयभावबोधविलम्बपरत्वमप्रतीतत्वम् ॥ प्रकरणाद्यभावेन

१. पक्षेति । ‘वा पुंसि पञ्चम्’ इत्यनेनाज्ञातोऽपि पुलिङ्गः पञ्चशब्दः कविभिर्न क्वापि
प्रयुक्तः । अत्र दूषकतावीजं तु तादृशकविसमयलङ्घनप्रयोजनानुसंधानव्यमतया मुख्यार्थ-
विच्छिन्तिः । यमकादिप्रयोजनसत्त्वे तु नार्थ दोषः, अन्यत्राप्रयुज्यमानस्यापि तदर्थं
कविभिः प्रयोगस्त दर्शनेन व्यग्रताभावादिति ॥

२. कटीति । अत्रेदं सत्त्वम्—शोणीनितम्बादिकमेव विदग्धैः प्रयुज्यते, कटिपदं त्ववि-
दग्धमात्रप्रयोज्यमिति ग्राम्यम् । पद त्रिविधम्—ग्राम्य नागरमुपनागर च । विदग्धमात्र-
प्रसिद्ध नागरम्, ग्राम्यकक्षातिक्रान्तमप्राप्तनागरमावमुपनागरम्, चांगरौपनागरे विहाय
ग्राम्यशब्दप्रयोगाद्गुरुर्वैदग्ध्योन्नयनेनात्र दौष्ट्यम् । अत एव विदूषकादावप्यमे वत्तारि न
दोषत्वम्, तस्य तथैवाचित्येन वैरस्याभावात् ॥ अत्र प्रकाशे संपूर्णलोकस्त्वेवम्—
‘राकाविभावरीकान्तसकान्तपुति ते मुखम् । यपनीयडिङ्गाशोभा कटिश्च हरते मनः ॥’

३. योगशास्त्र इति । ‘केशवर्मविपावाशुधैरपरायणः पुरुषविशेष ईश्वरः’ इति
पातञ्जल्युक्ते (१.२४) वासनार्थक आशयशब्दः प्रयुक्तः । वासना चात्र संसार-
निदानं निष्पञ्चानगम्य संस्कारविशेषः । दूषकतावीजं तु वञ्छास्त्रानभिज्ञस्य तादृश-

‘आशीः परम्परां वन्धां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ॥’

अत्र वन्द्यामिति किं वन्दीभूतायापुत वन्दनीयामिति संदेहः ।

नेयार्थत्वं रूढिप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनम् ।

यथा—

‘कमले चरणाघातं मुखं सुमुखि ! तेऽकरोत् ।

अत्र चरणाघातेन निर्जितत्वं लक्ष्यम् ।

श्लेषादिनार्यजनकः शब्दः संदिग्धः । आशीरिति । कर्णे कृत्वा ध्रुत्वा । अत्रेति । वन्द्यामिति पदस्य संदिग्धत्वं शब्दबोधविलम्बेन राजविपर्ययतिभावबोधस्य विलम्बकृतं ॥ अशक्तिकृतं कवेरसामर्थ्यप्रयुक्तम् । असामर्थ्यमत्रान्युत्पत्तिः ॥ चरणाघातेन चरणाघातपदेन निर्जितत्वं पराभवः । मुख्यस्य चरणासंभवात्तदाघातस्याप्यसंभव इत्यन्वयानुपपत्तिः । स्वजन्यचरणाघातपराभवः स्वजन्यवृत्तिपराभवत्ववत्त्वं मुख्यलक्ष्ययोः संबन्धः । अत्र रूढिप्रयोजनव्यतिरेकनिश्चयेन कवेरशक्तिनिश्चयः ततो लक्ष्योपस्थितिः ततः शब्दबोध इति तद्विलम्बेनैव रसबोधविलम्बनमत्र दूषकतापीजम् । केचित्तु—‘निर्जितत्वातिशयस्य प्रयोजनस्यैवोपस्थितेरत्र कथं नेयार्थम्’ इति चेत् । न । रूढिप्रयोजनाभावपदस्य मुख्यार्थसंबन्धप्रहाभावोपलक्षणपरतया प्रकृते तत एव नेयार्थत्वाभ्युपगमात् । केचित्तु—‘पुत्रनिर्जितत्वं हि शोभयैव जनितां न तु चरणाघातेनेति तयोर्जन्यजनकभावसंबन्धाभावः’ इत्याहुः । तत्र हि लक्षणाजन्यबोधानन्तरं सादृश्यप्रतीतिरेवानुभवसिद्धा, न तु निर्जितत्वातिशयप्रतीतिः । तात्पर्याभावात्, मुख्यलक्ष्ययोरुपदर्शितसंबन्धसंभवाच्च । न चात्र सादृश्यप्रतीतिरेव प्रयोजनमिति वाच्यम्, वक्तादिवैशिष्ट्यसन्निवयार्थव्य-

र्थानुपस्थितिः । अत एव यत्र लक्षणास्वाभिज्ञ एव प्रतिपादः स्वयमेव वा परामर्शस्तत्र न दोषत्वम् । अत्र ‘सम्पन्नानमहान्योतिर्दल्लिताशयताजुषः । विधीयमानमप्येतन्न मदेकमेवबन्धनम् ॥’ इति प्रकाशोदाहरणमुपजीव्यम् ॥

१. वन्द्यामिति । संदेहो वक्तृतात्पर्यसंशयः वययोरमेदमुद्दिमूलकः । वन्द्यामित्यानुपूर्व्या संभयसाधारणतया विनिगमनाभावादर्थद्वयस्मरणे वक्तृतात्पर्यसंदेहः । दूषकतापीजमुद्देश्यनिश्चयाभावः । अतो यत्र संदेह एवोद्देश्यस्तत्र यत्र च वाच्यादिमहिम्ना प्रकरणादिवशेन वा निश्चयस्तत्र चादोषत्वमिति गोविन्दठकुराः ॥ अत्र पूर्वार्थं स्वेतत्—‘आलिङ्गितस्तत्रमवान् सपरामे जयश्रिया’ ॥

२. नेयार्थत्वमिति । नेयो न्यायराशिलेन स्वेच्छया कल्पनीयोऽर्थो यस्य तावम् । निरुद्धा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत् । कियन्ते साप्रतं काश्चित्काश्चित्तैव त्वशुचित्तः ॥’ इति भाट्टनयेन रूढिप्रयोजनान्यां विनो प्रतिषिद्धा वा लक्षणा तद्विपर्ययमित्यर्थः ॥

निहतार्थत्वमुभयार्थस्य शब्दस्याप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगः । यथा—

‘यमुनाशम्बरमम्बरं व्यतानीद् ॥’ :

शम्बरशब्दो दैत्ये प्रसिद्धः । इह तु जले निहतार्थः ।

‘गीतेषु कर्णमादत्ते ॥’

अत्राद्-पूर्वो दाञ्-धातुर्वानार्थेऽवाचकः ।

यथा वा—

“दिनं मे त्वयि सप्राप्ते धान्तच्छन्नापि यामिनी ॥”

अत्र दिनमिति प्रकाशमयार्थेऽवाचकम् ।

जनयैव तस्य जननात् । लक्षणाप्रयोजनस्य तु लक्षणामूलव्यञ्जनाजन्यत्वनियमात् सादृश्यस्य च लक्ष्यार्थतद्वृत्तिधर्मान्यतरस्यन्धत्वाभावात्, प्रयोजनस्य तदन्यतरवृत्तित्वनियमात् ॥ उभयार्थस्य प्रसिद्धाप्रसिद्धोभयवाचित ॥ यमुनाशम्बरं यमुनाजलं व्यतानीद् व्यासवत् ॥ दैत्ये दैत्यविशेषे । अत्र विलम्बेन पदार्थोपस्थापकत्वं यमुनाविपर्ययतिभावबोधविलम्बकत्वं ॥ आद्पूर्वं इति । न च ‘दा’ धातोर्दानेऽभिधासत्त्वेन कथमवाचकत्वमिति आच्यम् । धात्वर्थनाधकोपसर्गरहितं ‘दा’ धातोरेव दानेऽभिधाकल्पनात् ॥ एतदस्वीकारे ‘तदाहरणान्तरमाह—यथा चेति । दिनमिति । दिनपदस्य सूर्यावच्छिन्नयामचतुष्टयेऽभिधा । अत्र शृङ्गारप्रतीतिविलम्बनं रूपकतापीजम् । इत्यादिरात्वे साक्षणिकपदप्रयोगेऽवाचकत्वं तदसत्त्वे नैयार्थत्वमिति भेदः । निहङलक्षणादौ शाब्दबोधविलम्बाभावात् रसादिबोधविलम्बनमिति नास्यावसर इत्यवधेयम् । ‘हा भिक्षु सा किल तामसी शशिमुखी दृष्टा गमा यत्र सा तद्विच्छेददृग्जान्धकारितमिदं दग्धं दिनं कल्पितम् ।’ इत्यादौ प्रकाशमये दिनपदप्रयोगदर्शनाद्गुडि प्रकाशातिशयप्रतीति प्रयोजने वा । एवमन्यथापि बोध्यम् । चेचित्तु—‘अमोक्षायकसत्त्वेऽवाचकत्वं तदसत्त्वे नैयार्थत्वम्’ इति वदन्ति । तत्र । दिनमित्यादौ दिनपदस्य प्रकाशमयेऽर्थे अभिधाभ्रमजनकस्याभावाद् ‘बचोवाणत्वंमागता’ इत्यादिवक्ष्यमाणनेयार्थोदाहरणे अमोक्षायकसत्त्वेऽप्यवाचकः ।

1. निहतार्थत्वमिति । निहत प्रसिद्धेनाविवक्षितेनार्थेनाप्रसिद्धतया अपवर्धितो विवक्षितोऽर्थो यस्य तत्तत् । अविवक्षितप्रसिद्धार्थप्रत्ययव्यवधानेन विवक्षिताप्रसिद्धार्थबोधनत्वमिति भावः ॥

2. दिनमिति । ‘हा भिक्षु सा किल तामसी शशिमुखी दृष्टा मया यत्र सा तद्विच्छेददृग्जान्धकारितमिदं दग्धं दिनं कल्पितम् । किं कुर्मं कुचले सदैव विप्रतो पाठा न भिच्छन्ति तादृश्यामवतीमयो अत्रति मे नो जीवलोकोऽमुना ॥’ इति प्रकाशानुरूपम् ॥

अर्थप्रतीतेर्व्यवहितत्वं । यथा—

‘क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः प्रसन्नाः ॥’

अत्र क्षीरोदजा लक्ष्मीस्तस्या वसतिः पद्मं तस्य जन्मभुवो जलानि ।

‘भूतयेऽस्तु भवानीशः ॥’

अत्र भवानीशशब्दो भवान्याः पत्यन्तरप्रतीतिकारित्वाद्विरुद्धमतिकृद्
अविमृष्टविधेयांशत्वं यथा—

‘स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥’ (७ पृ.)

स्थानहीकाराद्य ॥ अर्थप्रतीतेः पदार्थोपस्थितेर्व्यवहितत्वं व्यवधानेन जनक-
त्वम् । पदक्लिष्टत्वस्य समासगतत्वेनैव दोषत्व वक्ष्यते । समासेऽन्वितान्वयलभ्या-
मतिप्रसक्तविशेष्यतावच्छेदकरूपत्वेन विलम्बो हि व्यवधानम् । वाक्यक्लिष्टत्वस्थले
स्वासत्तिकल्पनेन विलम्बः ॥ क्षीरोदजेति । अत्रान्वितान्वयलभ्यानां क्षीरोद-
जात्क्षीरोदजावसतित्व-क्षीरोदजावसतिजन्मस्थानत्वानां व्याप्यानि लक्ष्मीत्वपद्मत्व-
जलत्वानि प्रकृतोपयोगित्वप्रतिस्थानेन कल्पनीयानि, तत आशब्दबोध इति रसादि-
बोधविलम्बनमत्र दूषकतापीजम् ॥ भूतय इति । भवस्य पत्नी भवानी तस्या
ईशाः पति । अत्र देवविषयकरतिभावप्रकर्षबोधप्रतिरोधः ॥ अविमृष्टेति ।
अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत्त्वम् । पदार्थानां मध्ये विधेयांश-
स्योपादेयत्वेन प्राधान्यम् । तस्य च प्राधान्येन निर्देश एवोचितः । तत्रिपर्ययश्च
कश्चित्समासेन कविदुर्द्वयविधेयपदयोः पौर्वापर्यविपर्ययेण । तत्राद्ये पददोषत्वं

१. अर्थेति । अर्थस्य विवक्षितस्यान्वितविशेषस्य वा प्रतीतिः प्रतिपत्तिस्तस्या व्यव-
हितत्वं विलम्बितत्वम् । निहतापेत्वादी तु शक्यतावच्छेदकरूपेण प्रकृतपदार्थोपस्थितिरेव
व्यवहितेति ततो भेदः ॥

२. भवानीशेति । अत्र भवस्य पत्नीत्यर्थे ‘पुत्रोगात्-’ इत्यादिना व्युत्पादितो
भवानीशशब्द इति । भवानीशशब्दो देवदत्तपत्न्याः पतिरिति च भवान्याः पत्यन्तरे प्रतीतिः
मुत्पादयतीति । केचित्तु भवानीशशब्देनापणात्वप्रकारक एव बोधः, अन्यथा भवानीशशब्देन
‘अपणां पार्वती दुर्गा-’ इत्यादीनां पर्यायत्व न स्यात् । योगस्तु पद्मजातिशब्दवत्तापु-
त्राभिः । यद्यपि च भवानीशशब्दोऽपणात्वविशिष्टे रूढ इति नात्र दोष इत्याहुः ॥ अत्र ‘न त्रस्तं
यदि ब्राम भूतकरणासंतापशान्ततामनस्तेव’ व्याख्याता घनभूतगतो देवाद्भवानीपदेः ।
तत्पुत्रस्तु भदान्वतारकृपणादिभ्यः दत्तोत्सवः स्कन्दः स्कन्द इव प्रियोऽहमधवा
शिष्यः कथं विस्मृतः ॥’ इति प्रकाशोदाहरणमुपजीव्यम् ॥

१. ‘यथा’ य पुरुषे नास्ति २. ‘विरुद्धमवगमयति’ घ. ३. ‘अवि-’ इत्यादि ‘यथा’ इत्यन्त

क य-पुरुषशब्दोर्नास्ति ४. ‘अन्वितावच्छेदकानां विशेष्यतावच्छेदकरूपत्वेन’ इति पुरुषान्तरे.

अत्र वृथात्वं विधेयम्, तच्च समासे गुणीभावादनुवाचित्व-
यथा वा—

‘रक्षांस्यपि पुरः स्वातुमलं रामानुजस्य मे ॥’

अत्र रामस्येति वाच्यम् । यथा वा—

‘आसमुद्रक्षितीशानाम् ॥’

अत्रासमुद्रमिति वाच्यम् । यथा वा—

‘यत्र ते पतति सुमु ! कटाक्षः पष्ठबाण इव पञ्चशरस्य ॥’

अत्र पष्ठ इवेत्युत्प्रेक्ष्यम् । यथा वा—

‘अमुक्ता भवता नायः मुहूर्तमपि सा पुरा ॥’

अत्रामुक्तेत्यत्र नञः प्रसज्यप्रतिषेधत्वमिति विधेयत्वमेवोचितम् ।

यदाहुः—

‘अप्राधान्यं विधेयत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।

प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ् ॥’

द्वितीये वाक्यशेषता । अनुवाच्यत्वेमुद्देश्यत्वम् । अलं समर्पति ।
अत्र आहुस्वरवशाद्वरामर्थत्वं न्यज्यते । शक्तसविनाशे, रामस्यन्विधत्वसंबोधोपयो-
गित्वमिति तसंबोधोपादेयत्वमिति भावः ॥ आसमुद्रेति । रघुवंशाधिकारस्य
संसुद्रपर्यन्तत्वमुपादेयम् ॥ उत्प्रेक्ष्यमुत्प्रेक्षितुं योग्यम् ॥ नञ्समासगतमपिमृष्ट-
विधेयाशक्तमाह-अमुक्तेति । प्रसज्यप्रतिषेधत्वमिति । विधेःप्रधानत्वादिति
भावः । विधेयत्वमिति । ‘तदर्थस्य’ इति शेषः ॥ अप्राधान्यमिति । यत्र
वाक्ये विधेः पदार्थान्तरस्य अप्राधान्यमुद्देश्यतया अमुक्यत्वम्, प्रतिषेधे
नञर्थे प्रधानता विधेयतया मुख्यत्वम् । यत्र तदर्थं क्रियया समन्विता

1. वृथात्वमिति । अयमाशयः—‘अनुवाच्यमनुक्तेव न विधेयमुदीरयेत्’ इत्यभि-
मुक्तेस्तथा ‘उद्देश्यविधेयताशालिनोपे विधेयवाचकप्रावर्त्युद्देश्यवाचकपदन्योपसितिः का-
रणमित्यभिप्रायवत्ता अनुवाच्यविधेययोः पौर्वापर्यभावस्य नियमितत्वात्प्राकृते उक्तानुत्वमात्र-
स्यानुवादो योग्यः, न तु वृथात्वविशेषितस्य । ध्वं च वृथात्वं समासे गुणीभूतं विधेयत्वेन
विवक्षितं न प्रवीयत इत्यर्थः । किंचोद्देश्य विधेयं च यदि वृथवपराभ्यामुपतिष्ठते तदा
प्राप्तमुद्देश्यप्राप्तं विधीयते ‘पर्वतो बहिमान्’ इतिवत्, न ॥ समासे । अन्यथा बहि-
मत्पर्वत इत्यभिधानापत्तेः ॥

2. वाच्यमिति । वक्तुं योग्यम् ॥

3. अत्रेति । ‘अमुक्ता’ इत्यत्र नञः प्रसज्यप्रतिषेधार्थकतया ‘न मुक्ता’ इत्यसमत्वेन
नञा विधेयो विधेयः, न तु समत्वेन ॥ अत्र ‘आनन्दसिन्धुरसिचापलशालिचिचसदान-
नैकसदन क्षणमप्यमुक्ता । या सनैव भवता तदुदन्ताचिन्ता तान्ति तनोति तत्र
संप्रति भिन्निगमन्ता ॥’ इति प्रकाशोदाहरणं तन्मूलकम् ॥

यथा—

‘नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृष्टनिशाचरः ॥’

उक्तोदाहरणे तु तत्पुरुषसंभासे गुणीभावे-नञः पर्युदासतया निषेधस्य विधेयतयानवगमः । यदाहुः—

पदार्थतावच्छेदकेन सह संबन्धस्तत्र भाव्ये असौ नञ् । प्रसज्यप्रतिषेध इत्यर्थः ॥ उदाहरति—यथेति । नवजलधर इति । गन्धवर्णोर्वर्यां हृतायां पुरुरवसं-स्तद्विरहे नवजलधरादौ निशाचरत्वादिप्रतीतिवर्णनमिदम् । अयं संनद्धो न नवजलधरः, दृष्टनिशाचर इति । अयं नवजलधरत्वाभाववानित्यर्थः । अत्रेदंपदार्थस्य उद्देश्यत्वम्, ननर्थस्याभावस्य विधेयत्वम्, समभिज्याहृन्पदार्थतावच्छेदकेन सह ननर्थस्य संबन्धः । न च विधेर्भावपदार्थस्येति व्याख्येयम् । अभावो न जातिमानित्याद्यसंप्रदायपक्षेः । क्रिययेति । यथाश्रुतार्थविवक्षणे तु ‘अयं न पाकवान्’ इत्याद्यसंप्रहंशोऽयुक्तोदाहरणायसंप्रहंप्रसङ्गः । न च ननर्थस्य क्रियान्वयित्वाभावेनोक्तोदाहरणादौ नञः प्रसज्यप्रतिषेधत्वमेव नास्तीति वाच्यम् । तत्र विधेर्विधेयत्वाभावेन पर्युदासत्वासंभवात्तृतीयप्रकारानभिधानाच्च प्रसज्यप्रतिषेधत्वस्यैवावश्यं वाच्यत्वात् । अत एवाव्ययीभावसमासप्रकरणे गोपीचन्द्रेणोक्तम्—‘धर्मोभावे प्रसज्यप्रतिषेधो माभूत्’, ‘ग्राहणोऽयं न भवति’, ‘ग्राहणत्वं धर्मोऽत्र निविध्यते’ इति । ‘मुनिरधनः’ इत्यादौ समासहृतवियमानादिपदार्थैकदेशं ननर्थस्य संबन्धः । वस्तुतस्तु ‘घटो गेहे न अत्वरे’, ‘धनं चैत्रस्य न मैत्रस्य’ इत्यादौ विभक्त्यर्थेन सह ननर्थस्यान्वयेऽपि प्रसज्यप्रतिषेधत्वं वाच्यम् । ननर्थस्य विधेयत्वेनैव तत्स्वीकारात्क्रियान्वयित्वस्यानियतत्वाच्च । एवं च ‘घटो न पटः’ इत्यादासुतरपदार्थेन ‘पटादिना ननर्थस्य भेदस्य संबन्धसत्त्वेऽपि’ विधेयतामात्रेण प्रसज्यप्रतिषेधत्वम् । न चात्रपटत्वाभाव एव विधेयः, न तु पटभेद इति वाच्यम् । पटभेदस्यापि विधेयत्वेन ननर्थस्य विधेयत्वेनैव तत्स्वीकारादिक्रियान्वयित्वस्यानित्यत्वाच्च बाधकाभावात् । न च भेदबोधकस्य नञो नित्यसमासविधानमेव बाधकमिति वाच्यम् । यजतिषु ‘ये यजामहं (कुर्वीत) करोति नानुयाजेषु’ इत्यादौ व्यभिचारदर्शनात्फाल्गुणानां नित्यसमासविधानस्यायुक्तत्वात् । नित्यसमासवादिसमतेऽपि ‘अयमग्राहणः’ इत्यादौ ग्राहणभेदस्य विधेयत्वमवश्यं वाच्यम् । न चात्रापि ग्राहणत्वाभाववानित्येवार्थ इति वाच्यम् । समस्यमानपदार्थयोरन्वयाभावे तत्पुरुषानङ्गीकारात् । नन्वेवं प्रकृते किमनुपपन्नमित्यत आह—उक्तोदाहरणे’ त्यिति । अनुकृत्यादावित्यर्थः । पर्युदासतया पर्युदासवदनुवाच्यत्वप्रतीतिरिति । अनवगमो

१. नवजलधर इति । ‘सुरधनुर्दिदं दूराकृतं न तस्य शरासनम् । अयमपि पटुर्धारा-सरो न बाणपरम्परा कनकनिकपल्लिम्बा विद्युत्प्रिया न अगोर्वशी॥’ इति शिष्टे पादत्रयम् ॥

‘प्रधानत्वं विधेयत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।

पर्युदासः स विज्ञेयो, यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥’

तेन—

‘जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः’ ।

अगृधुराददे सोऽर्थानसक्तः सुखमन्वमूत् ॥’

अत्रात्रस्तताद्यनूयात्मगोपनाद्येव विधेयमिति नञः पर्युदासतया गुणीभावो युक्तः ।

ननु ‘अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः’ ‘असूर्यपश्या राजदाराः’ इत्यादिवत् ‘अमुक्ता’ इत्यत्रापि प्रसज्यप्रतिषेधो भवतीति चेत् । न । अत्रापि यदि भोजनादिरूपक्रियादौ नञः संबन्धः स्यात्तदैव तत्र प्रसज्यप्रतिषेधत्वं वक्तुं शक्यम् । न च तथा । विशेष्यतया प्रधानेन तद्भोज्यर्थेन कर्त्रेणैव नञः संबन्धात् । यदाहुः—

विधेयताया न स्पष्टावगमः । यथाश्रुतार्थत्वेऽन नञः प्रसज्यप्रतिषेधत्वमिति प्राशु-
क्तेन सह विरोधः स्यात् । विधेर्विधेयत्वाभावे पर्युदासासंगतिश्च स्यात् । पर्युदास-
स्यानुवाच्यत्वमुपपादयति—यदाहुरिति । यत्र वाक्ये विधेः पदार्थान्तरस्य
प्रधानत्वं विधेयतया मुख्यत्वं प्रतिषेधे जनयेऽप्रधानता उद्देश्यतावच्छेदक-
तया अनुव्यत्यम् । यत्र यदर्थे उत्तरपदेन उत्तरपदार्थेन सह संबन्धस्तत्र वाक्ये
न नञ् पर्युदासो विज्ञेय इत्यर्थः । ‘रानौ श्राद्धं न कुर्वीत’ इत्यादौ न रानाविति
योजनया रात्रावित्यस्योत्तरपदत्वमुपपन्नम् ॥ उदाहरति—तेनेति । जुगोप
प्रापयामास । अगृधुस्तृष्णाश्रयः । स दिलीपः । असक्तोऽनासक्तः । अघ्नस्त-
तादि शस्त्रमिश्रत्वादि । अनूद्य उद्देश्यतावच्छेदकीकृत्य । नत्पुरुषसमासेनात्यन्ता-
भावानभिधानात् प्रस्तत्वाभावादिरत्र नोद्देश्यतावच्छेदकत्वमित्यवगन्तव्यम् । एवं च
नञः प्रसज्यप्रतिषेधत्वं पर्युदासत्वं च विधेर्नोद्देश्यभावविवक्षाधीनम्, यत्तु निय-
तम् । गुणीभावो, गौणार्थप्रतिपादकत्वम् ॥ नन्वश्राद्धभोजीति । समस्तेनापि
नञा भोजनाद्यभावविधेयत्वस्य स्पष्टावगमे कथमविमृष्टविधेयाशत्वमिति भावः ।
तद्भोज्यर्थेन श्राद्धभोज्यादिरूपाथेन । कर्त्रेणैवैवेति । भोजनार्थाद्यंशेन तत्सं-
बन्धस्वीकारे गिन्याद्यर्थस्य कर्तुरनन्वयापत्तेः । कृदुपस्थापितस्य कर्तुर्धोत्वर्थेनैवान्वयस्य

१. ‘अश्राद्धेति । ‘न श्राद्धं मुहे’ इति वाक्यं कृत्वा ‘नञ्’ श्राद्धशब्देनात्मनर्थसमाप्तं
विधायामाश्रयश्च उपपदे गितिः कर्तव्यः । न तु गिन्यन्तेन समाप्तो विधेयः ॥

२. अस्मिन्निति । स्मर्य न पश्यन्तीति विग्रहः । आदिपदेनापुनर्गत्याः शोका इति
हेयम् ॥

‘श्राद्धभोजनशीलो हि यतः कर्ता प्रतीयते ।

न तद्भोजनमात्रं तु कर्तरीनेर्विधानतः ॥’ इति ।

‘अमुंका’ इत्यत्र तु क्रियैव सह संबन्ध इति दोष एव । एते च क्लिष्टत्वादयः समासगता एव पददोषाः ।

वाक्ये दुःश्रवत्वं यथा—

‘स्यार्त्यन्धः कदा लप्स्ये कार्त्तार्य्यं विरहे तव ॥’

कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे कविर्वान्तं समभुंते ॥

अत्र जुगुप्साव्यञ्जिकाश्लीलता ।

‘उद्यत्कमललौहित्यैर्वक्राभिर्भूषिता तनुः ॥’

अत्र कमललौहित्यं पद्मरागः । वक्राभिर्वाभामिः । इति नेयार्थता ।

व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् । अतः श्राद्धभोजिपदात्तद्भोजनमात्रं श्राद्धभोजनमानं प्रतीयत इत्यनुपासः । क्रियैव सह संबन्ध इति । भवत्वर्तुकमोचनाभावप्रतीतियो-
धस्यानुभवसिद्धत्वादिति भावः । दोष एव अविमृष्टविधेयांशत्वमेव । एतन्मतै-
समस्त्वमानपदार्थकदेशे नञर्थान्वयेऽपि समासस्वीकारः । यदि पुनः ‘कप्रत्ययार्थस्य
कर्मणोऽन्वयापत्त्या क्रियया सह नञर्थस्य संबन्धमनशीकृत्य मोचनकर्मणैव संबन्धः
स्वीक्रियते, तदा पुनरयमप्राधान्यं इत्यादिवदप्रापि मोचनकर्मपदस्यैव विधेयत्वं
बोध्यम् । किं तु नञः समस्ततया तस्य न स्पष्टावयवम् इत्यविमृष्टविधेयांशत्वमित्य-
वगन्तव्यम् । अप्रापि रसादिप्रतीतिविलम्बनं दूषकतायोजम् । एते चेति ।
आदिपदाद् विरुद्धवर्तिकारित्वविधेयायिमर्शयोर्ग्रहणम् । विना समासं तेषामसंभवा-
दिति भावः ॥ संप्रति वाक्यदुःश्रवत्वादीनुदाहरति—वाक्य इति । स्यार्-
त्यन्ध इति । अत्रानेकपदस्य परपवर्णघटितत्वाद्वाक्यदुःश्रवत्वम् । वाक्यगतं
ग्रीडाव्यञ्जकाश्लीलत्वं यथा—‘न’ साधनोन्नतिया स्यात्कलप्रारतिदायिनी ।’
जुगुप्साव्यञ्जकाश्लीलत्वमुदाहरति—कृतप्रवृत्तिरिति । अन्यार्थे अन्यकपिवर्णित-
मान्यार्थे कृतप्रवृत्तिः कृतकाव्यबन्धः । अत्र वान्तप्रवृत्तिसन्देहो जुगुप्साव्यञ्जको ।
अमङ्गलाश्लीलत्वं वाक्यगतं यथा—‘पितृवसतिमहं प्रयामि तौ सह परिवारज-
नेन, मम मे । भवति सपदि पावकान्वये हृदयमद्येपितशोकशाल्यकम् ॥’ अत्र
पितृवसतिपावकशब्दौ जनकचेष्टमपवित्रकारिवाचकौ इमंशानतद्वहिरूपामङ्गलव्य-
ञ्जकौ—अनुचितार्थत्वं यथा—‘कुविन्द । त्वं तावत्पटयसि गुणप्राप्तमभितो

1. हनेरिति ॥ जिनिप्रत्ययविधायकं तु ‘मते’ इति सूत्रम् । मते’ मन्दमाने’ सूत्रेण
उपपदे धातोर्जिनिः प्रलयो भवतीति उद्दिष्टः ॥

2. उच्यते ॥ उच्यत्कमललौहित्यैरिति करणे उदीया ॥

यशो गायन्त्येते दिशिदिशि च नम्रास्तव विभो । । शरज्ज्योत्स्नागौरस्फुटविकटसर्वा-
 जसुभगा तथापि त्वत्कीर्तिर्ग्रमति विगताच्छादनमिह ॥' नम्राः स्तुतिपाठकाः, पक्षे
 दिग्मन्वराः । अत्र कुबिन्दादिशब्दोऽर्थान्तरं प्रतिपादयन्स्तुत्यस्य तिरस्कारं व्यनकी-
 ल्यनुचितार्थत्वम् । अग्रयुक्तत्वं यथा—'स एतु वो दुष्यवनो भावुकानां, परम्प-
 राम् । अनेडमूकतायैश्च एतु दोषैरसंमतान् ॥' अत्र 'रा' धातुर्दाने, दुष्यवन इन्द्रे,
 भावुकं मन्त्रणे, अनेडमूको मूकवधिरं, 'दो' धातुः खण्डने प्रतिष्ठा अपि कविभिर-
 नाहतत्वादप्रयुक्ताः । 'अनुत्तमं पश्य' इत्यत्रानुत्तमपदस्योत्तमवाचकत्ववदनेडमूक-
 पदस्यात्रैडमूकवाचकत्वम् । ग्राम्यत्वं यथा—'ताम्यूलमृतगलोऽयं भलं जल्पति
 मानुषः । करोति स्तादनं पानं सदैव च यथा तथा ॥' गलः कपोलः । भलं, भद्रम् ।
 अथ गलभलमानुषखादनपानशब्दां ग्राम्याः । अग्रतीतत्वं यथा—'तस्याधिमा-
 त्रोपायस्य तीप्रसवेगिताजुपः । दृढभूमिः प्रियप्राप्तो यमः स फलितः सखे ॥'
 अधिमात्रनामा क्रियाविशेषः उपायो यस्य । संवेगिता समाधिविशेषः । दृढभूमि-
 र्दृढाभ्यासदायी । प्रियप्राप्तो तत्त्वज्ञानलाभे । अत्राधिमात्रादयः शब्दा योगशास्त्र-
 मात्रप्रयुक्तत्वादप्रतीताः । 'संदिग्धत्वं यथा—'सुराकम्पनसर्करः प्राप्तपर्याप्तक-
 म्पनः । मार्गणप्रवणो मास्त्रद्विरेप विलोक्यताम् ॥' अत्र सुराकम्पनमार्गणभू-
 तिशब्दाः, किं देवसेनाशरविभूत्यर्थाः, किं वा मदिराकम्पनपर्यटनभस्मार्था इति
 संदेहः ॥ नेयार्थत्वमाह—उद्यदिति । अत्र हि उपपूर्वस्येणधातोरदयगिरि-
 शिरःपरोहणमुद्यार्थस्य पद्मरागे बाधातत्तन्व्यशक्तौ लक्षणा । अत्र रुदिसत्त्वेऽपि
 पद्मरागप्रकाशास्योदयाजुन्यावान्मुह्यार्थयोगाभावात्तेयार्थत्वमवगन्तव्यम् । अन्यदपि
 नेयार्थत्वमुपपादयति—अत्रेति । पद्मरागपदस्य परिदृश्यसहत्वात्कमलपदस्य पद्म-
 शब्दे, लीहिल्यपदस्य च रागशब्दे, वक्रापदस्य वामाशब्दे लक्षणा । लक्षितैः पद्म-
 दिभिः पदैरभिधया पद्मरागवामानामुपस्थितिः । यथा—द्विरेफपदेन बहुमीहिलक्षणः
 चोपस्थापितद्विरेफद्वययुक्तप्रमरपदादभिधयैव मृद्वोपस्थितिरत्र रुदिरस्ति । प्रकृते तु
 रुद्विप्रयोजनाभावाच्चेयार्थत्वम् । इयमेव लक्षितलक्षणेत्युच्यते । न च लक्षणा-
 द्वाभावात् कथमियं लक्षितलक्षणेति वाच्यम् । यत्र लक्षिताच्छब्दादर्थाभिधानं
 तत्रैव लक्षितलक्षणायाः परिभाषितत्वात् । ननु द्विरेफपदस्य रेफद्वययुक्तप्रमरशब्द
 एवार्थत्वया सति द्विरेफं पश्येत्वादौ द्वितीयाथर्वमेताया मृद्वेपान्वयः । तथाहि
 प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वं प्रत्ययानामिति नियमादिति चेत् । न । प्रकृत्यर्थाभि-
 नत्वेनाध्यासितस्यापि प्रकृत्यर्थत्वात् । अत एव मुखचन्द्रं पश्येत्वादौ चन्द्राभिच-
 त्वेनाध्यासिते मुखे कर्मताया धन्यवः । तथा हि द्विरेफशब्दाद्भ्रमरशब्दस्य, द्विती-
 यातथ्य वमेतायाः, लक्षितप्रमरशब्दाद् मृद्वस्य चोपस्थितौ मृद्वे भ्रमरशब्दामेदं
 कर्मतां चावगाहमान आशिक्वाध्यारोपरूपो बोधो जायते । शब्दतदर्थयोरमेदारोपध
 'हिरण्यपूर्वं कनिषुं प्रचक्षते' इत्यादौ दृष्टः । नेयाधिक्यस्तु—'द्विरेफपदस्य भ्रमरशब्दे
 एका लक्षणा, लक्षितभ्रमरशब्देवाच्यत्वसंबन्धेन मृद्वे चापरा लक्षणा, ततश्च

‘धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्याः ।

रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥’

अत्र धम्मिल्लस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यतीति संबन्धः
क्षिप्तः ।

‘न्यकारो ह्ययमेव मे यत्’ (७ पृ.) इति ।

अत्र चायमेव न्यकार इति न्यकारस्य विधेयत्वं विवक्षितम् । तच्च
शब्दरचनावैपरीत्येन गुणीभूतम् । रचना च पदद्वयस्य विपरीतेति
वाक्यदोषः ।

‘आनन्दयति ते नेत्रे योऽसौ सुष्ठु । समागतः ॥’

इत्यादिषु ‘यत्तदोर्नित्यः संबन्धः’ इति न्यायादुपक्रान्तस्य यच्छब्दस्य

प्रसङ्गार्थे भूत्वे कर्मतान्वयबोधः’ इत्याहुः । तच्च । सकृदुचरितशब्दादावृत्तिं विना
क्रमिकशोधानुभवात्, अजनितान्वयावबोधस्य शब्दस्यावृत्त्यभावात्, आरुतौ च
द्वितीयाया अग्रावृत्तौ प्रथमोक्तद्वितीयाया अन्वयानुपपत्तेः । अस्मदुचरीतेः
मुक्तचन्द्रं पश्येत्प्राक्प्रत्ययमाश्रयणीयत्वाच्चेत्यास्तां वितरः ॥ निहृताथं यथा—
‘सायकसङ्घायवाहोर्मैरुध्वजनिमित्तक्षमाधिपतेः । अञ्जलविभासुरस्त्रे भातितराम-
धनिप ! श्लोकः ॥’ अत्र सायकमकरध्वजक्षमाञ्जलश्लोकशब्दाः शरवामशान्तिपद्म-
यशःसु प्रतिष्ठा अप्रसिद्धेषु खड्गान्धिमिचन्द्रयशःसु प्रयुक्ताः ॥ अथाद्यकार्यं
यथा—‘नमस्तुपतिमण्डलीमुकुटचन्द्रिकादुर्दिनस्फुरच्चरणपङ्कजप्रतिपदोक्तदो. संपदा ।
अनेन सद्योजेतरां तुरगमेधमुक्तप्रमत्तुरङ्गचरचन्द्रकप्रकरदन्तुरा मेदिनी ॥’ अत्र
चन्द्रिकाशब्दः किरणसामान्ये, दुर्दिनशब्दश्छमात्रे । स्फुरच्छब्दश्चरणसङ्घाव-
वाचकः ॥ क्षिप्तत्वमाह-धम्मिल्लस्येति । अपूर्वा बन्धस्य व्युत्पत्तिर्निपुण्यं
यस्याः ॥ विरुद्धमतिकारित्वं यथा—‘धिनक्षमा रक्तभुवः शिवालिङ्गितमूर्तेयः ।
विप्रहृक्षपणेनाय शेरते वे गताह्वयाः ॥’ गतामुता गतदु याः । पक्षे गतानि असवः
यानि इन्द्रियाणि च येषां ते तथा । अत्र क्षमादिगुणयुक्ताः सुरमाधवे इति विव-
क्षिते हता इति विरुद्धार्थप्रतीतिः ॥ अविमृष्टविधेयांशत्वमाह-न्ययत्नार इति ।
तच्चेति । ‘अनुवायमनुमयैव न विधेयमुदीरयेत्’ इति न्यायादिति भावः ॥ उदा-
हरणान्तरमाह-आनन्दयतीति । नित्यः संबन्ध इति । अवश्यमन्योन्या-
पेक्षितत्वमित्यर्थः । स च संबन्धः शब्द आर्थश्च भवति । द्वयोरुपादाने शब्दः,
उभयोरनुपादाने आर्थः । कमेणोदाहरिष्यति । उपक्रान्तस्य अनुवायव्यबोध-

१. यत्तदोरिति । तापदप्रतिपादनया वस्तुविविधेषु उद्देश्यो यत्तदार्थः, तापद-
प्रतिपादनया वस्तुविविधेषु विधेयभूतलक्षणार्थ इति वैशारुण्याः ॥

१. ‘एतन्नोपदेशे चाप्यर्थः’ इति पुनरावृत्तेरिति च,

निराकाङ्क्षत्वप्रतिपत्तये तच्छब्दसमानार्थतया प्रतिपाद्यमाना इदमेत-
ददःशब्दा विधेया एव भवितुं युक्ताः । अत्र तु यच्छब्दनिकटस्थतया
अनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत् । तच्छब्दस्यापि यच्छब्दनिकटस्थितस्य प्रसिद्ध-
परामर्शित्वमात्रम् । यथा—

‘यः स ते नयनानन्दकरः सुधु । स आगतः ॥’

यच्छब्दव्यवधानेन स्थितास्तु निराकाङ्क्षत्वमवगमयन्ति । यथा—

‘आनन्दयति ते नेत्रे योऽधुनासौ समागतः ॥’

एवमिदमादिशब्दोपादानेऽपि । यत्र च यत्तदोरेकस्यार्थत्वं संभवति,
तत्रैकस्योपादानेऽपि निराकाङ्क्षत्वप्रतीतिरिति न क्षतिः । तथाहि
यच्छब्दस्योत्तरवाक्यगतत्वेनोपादाने सामर्थ्यात् पूर्ववाक्ये तच्छब्दस्या-
र्थत्वम् । यथा—

‘आत्मा जानाति यत्पापम् ॥’

कस्य । प्रतिपाद्यमानाः प्रयुज्यमाना विधेया विधेयत्वबोधकाः । नन्वन किं
बाधकमत आह—अत्र स्थिति । उक्तोदाहरणे त्वित्यर्थः । प्रसिद्धपरामर्शित्व-
मात्रं प्रसिद्धबोधकत्वमेव, न तु विधेयत्वबोधनेन निराकाङ्क्षत्वबोधकेप्रतिपादकत्वम् ।
तदुक्तम्—‘ख्यातार्थमनुभूतार्थं प्रकान्तार्थं च तत्पदम् । यत्पदापेक्षया हीनं न
विधेयत्वबोधकम् ॥’ इति । यत्र तु प्रसिद्धादिपरामर्शिनोऽपि तच्छब्दस्य यत्पदेन
संबन्धः संभवति तत्र विधेयत्वप्रतीतिकारित्वगस्त्येन । कमेव यथा—‘करयदरस-
दृशमरिलं भुवनतलं यत्प्रसादतः कवय । पश्यन्ति सूक्ष्ममतयः सा जयति सर-
स्वती देवी ॥’, ‘यदङ्गलावप्यमनङ्गमङ्गं यदाननं निन्दति बिम्बमैन्दवम् । मम
क्षणं मुञ्चति मानसं न या विहाय तां हन्त न शान्तिरस्ति मे ॥’, ‘रसै कथा
यस्य सुभावधीरिणी नल स भूजानिरभूद्गुणाद्भुतः ॥’ स्थिता इति । तदादयः
शब्दा इत्यनुपज्यन्ते । आर्थत्वमर्थवशलभ्यत्वम् । सामर्थ्यात् परस्परकाङ्क्षा-
नैयस्यात् । एतेनोत्तरवाक्यस्थं यत्पदं तत्पदनिराकाङ्क्षमिति हेयम् ॥ आत्मेति ।

1. अत्र स्थिति । अयमाशयः—‘योऽसौ’ इति पदद्वयमुद्देश्यविधेयार्थकतया विवक्षित-
मपि न चैतत्तत्प्रतिपादकम् । यच्छब्दसन्निध्येन प्रयुज्यमानस्यादसौ यच्छब्दार्थगतप्रसिद्धि-
बोधकतयोद्देश्यकोटिप्रविष्टार्थकत्वात् । यथा ‘यः स ते—’ इत्युदाहृतौ तच्छब्दो यच्छब्दसा-
न्निध्यापदर्थविशेषणतया प्रसिद्धार्थमभिदधदुद्देश्यवाक्य एव प्रविशति, न विधेयवाक्य
इति तात्पर्यम् ॥

एवम्—

‘यं’ सर्वशैलः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्वरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च—

इत्यादावपि ।

तच्छब्दस्य प्रकान्तप्रसिद्धानुभूतार्थत्वे यच्छब्दस्यार्थत्वम् ।

क्रमेण यथा—

‘स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।

धातोः स्थान ईवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥’

‘स वः शशिकलामौलिस्त्रादात्म्यायोपकल्पताम् ॥’

‘तामिन्दुसुन्दरमुखीं हृदि चिन्तयामि ॥’

यत्र च यच्छब्दनिकटस्थितानामपीदमादिशब्दानां भिन्नलिङ्गविभ-
क्तिवं तत्रापि निराकाङ्क्षत्वमेव । क्रमेण यथा—

‘विभाति मृगशावाक्षी येदे’ भुवनमूषणम् ॥’

‘इन्दुर्विभाति यस्तेन दग्धाः पथिकयोपितः ॥’

तदात्मा जानाति यत्पापमस्ति इत्यर्थः ॥ यमिति । स हिमालयोऽस्तीति पूर्ववाक्ये
तच्छब्दस्यार्थत्वम् । उत्तरवाक्यस्थयत्पदस्य पूर्ववाक्यस्थयत्पदेन शाब्दः सं-
न्योऽपि । यथा—‘अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवः’ इत्यादि । एवं पूर्ववाक्यस्थयत्प-
दस्योत्तरवाक्ये प्रतीयमानतत्पदापेक्षा यथा—‘यस्त्वा विमुजते मर्त्य आत्मानं
प्रियमीश्वरम् । विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं विपमत्यमृतं लजेत् ॥’ इत्येति । यः
सुग्रीवप्रियकारीत्यर्थतोऽवगम्यते ॥ स य इति । यः शिष्यो लोके पूज्यते
इत्यर्थः ॥ तामिति । या रूपलावण्यपूर्णैर्लभ्यतोऽवगम्यते । एवमेव चण्डीदा-
सादयः । तेषामयमाशयः—प्रकान्तादिपरामर्शकस्य तत्पदस्य यत्पदनिराकाङ्क्षत्वे
‘यत्तदोर्नित्यः संन्यः’ इति नियममज्ञाय स्यात् । एवं च ‘यत्पदापेक्षया हीनम्’
इति प्रागुक्तं तूत्पिताकाङ्क्षविरहपरम्, ‘स हत्वा’ इत्यादौ स क इत्युत्पाप्याकाङ्क्षेव
संगतिरिति नियमे तु यत्पदसंनिहितत्वेन यत्पदप्रतिष्ठापकं तत्पदं तद्देशे निवे-

१. यमिति । ‘पृथूपदिष्टा दुःखधर्माः’ इति चरमचरणम् ॥

२. प्रकान्तेति । प्रकान्तः पूर्वप्रतीतिविषयः, प्रप्रिष्टो श्लोकविस्थापः, अनुभूतोऽनु-
भाविषयोऽर्थो विषयस्तथाभूते ॥

३. आदेशमिति । स्थान्यर्थाभिधानसमर्थमिति भावः ॥

कचिदनुपात्तयोर्द्वयोरपि सामर्थ्यादवगमः । यथा—

‘न मे शमयिता कोऽपि भारस्येत्युर्वि । मा शुचः ।

नन्दस्य भवने कोऽपि बालोऽस्त्यद्भुतपौरुषः ॥’

अत्र योऽस्ति, न ते भारस्य शमयितेति बुध्यते ।

‘यद्यद्विरहदुःखं मे तत्को चापहरिष्यति ॥’

इत्यत्रैको यच्छब्दः साकाक्ष इति न वाच्यम् । तथाहि—यद्यदि-
त्यनेन केनचिद्रूपेण स्थितं सर्वात्मकं वस्तु विवक्षितम् । तयामृतस्य तस्य
तच्छब्देन परामर्शः । एवमन्येषामपि चाप्यगतत्वेनोदाहरणं बोध्यम् ।

पदांशे दुःश्रवत्वं यथा—

‘तद्ब्रूच्छ सिद्धौ कुरु देवकार्यम् ॥’

‘घातुमचां गिरिर्धत्ते ॥’

शानीय इति ॥ द्वयोरेकतत्पदयोः । सामर्थ्यादाकाङ्क्षातः ॥ ननु यत्र पूर्ववान्ये
यत्पदद्वयं तत्र ‘कथमेकतत्पदेन निराकाङ्क्षत्वप्रतीतिः । तत्र तत्पदद्वयस्यैव वस्तु
योग्यत्वात् । यथा—‘यं यं धामयते कामं-तं तमाप्नोति-लीला’ इति । अत
आह—यद्यदिति । एक इति । उत्तरत्वान्नो एकतत्पदप्रयोगोऽर्थ इति भावः ॥
सर्वात्मकमिति । विरहदुःखत्वेन सामान्येन सर्वं विरहदुःखमित्यर्थः ॥ तथा-
भूतस्य विरहदुःखावाच्छिन्नस्य । तथा च वीप्साया यकृतात्पर्यमेव निगमकम् ।
सामान्यरूपेण उपस्थापने यकृतात्पर्यं सति न तत्पदे वीप्सा । तत्तत्प्रकृत्येन
उपस्थापने तात्पर्यं सति तत्पदे वीप्सा । क्वचिषु तत्पदे एव वीप्सा, न तु
यत्पदे । यथा—‘ते ये सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थस्य बाधेन ये ॥’ एवमिति ।
अन्येषामनुचितार्थत्वादीनाम् । तच्च यथा दर्शितमेव ॥ ‘दोषाः केचिद्व्यवस्थेयु

1. यद्यदिति । परमाधेयु यद्यदिति न पदद्वयम् । किंतु ‘नित्यवीप्सयोः’ इति सूत्रेण
वीप्सार्था यदो द्वित्वापन्नोऽवगादेशः । यत्वादेरिवैवेन यत्पदेन तत्पदेन च द्वाभ्यामप्ये-
केनैव रूपेण दुःखपरामर्शः । आदेशस्तु साकल्येनान्वये तात्पर्यग्राहक इति यत्पदीवेनैव
तेन संबन्धमानोपपत्तौ न तत्पदेऽपि वीप्साचोक्तको द्वित्वापन्न आदेशः । यत्र तु
तत्पदेऽपि वीप्सा तत्र न यत्पदेऽप्यादेशः । किं तुमान्वा रूपद्वयेन सर्वोपस्थानमिति
तत्त्वम् ॥

2. सिद्धौ इति । अत्र ‘सिद्धौ’ इति चतुर्थ्यन्तपदेकदेशः श्रुतिरुक्तः ॥ अत्र ‘अर्थोय-
मर्थान्तरलभ्य एव । लपेक्षते मत्त्यनमल्लब्धये वीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवान्मः ॥’ इत्य-
पदिष्टा पादप्रतीतिः ॥

अत्र मेत्ताशब्दः क्षीयार्थे निहतः ।

‘वर्ण्यते किं महासेनो विजेयो यस्य तारकः ॥’

अत्र विजेय इति कृत्यप्रत्ययः कप्रत्ययार्थेऽवाचकः ।

‘पाणिः पल्लवपेल्वः ॥’

पेल्वशब्दस्याद्याक्षरे अश्लीले ।

‘संग्रामे निहताः शूरा वचोवाणत्वमागताः ॥’

अत्र वचःशब्दस्य गीःशब्दवाचकत्वे नेयार्थत्वम् । तथा तत्रैव वाण-
स्थाने शरेति पाठे । अत्र पदद्वयमपि न परिवृत्तिसहम् । जलध्यादौ

पदाशेऽपि पदे परे’ इति बहुकम्, तदुदाहरणमाह—तद्वच्छेति ॥ अश्लीले
इति । ग्रीडाव्यञ्जे ॥ जुगुप्साव्यञ्जकं यथा—‘पूयते’ इति अत्र पूयशब्दः ।
अमङ्गलव्यञ्जकं यथा—‘अभिप्रेतः’ इति । अत्र प्रेतशब्दः ॥ वचोवाणत्वं
गीर्वाणत्वम् । गीःशब्दार्थवाचकत्वे इति । लक्षणया गी शब्दप्रतिपादकत्वे
इत्यर्थः । तथा नेयार्थत्वम् । तत्रैव गीर्वाणशब्द एव । परिवृत्तिसहं श्रुतश-

१. नसेति । अत्र धातुमतो भावो धातुमसेति पदे कदेत्येन क्षीयार्थेन मेत्ताशब्देन मनुष्यो
निहन्ते । अत्र ‘वक्ष्यामसरोविभ्रममण्डनानां संपादयित्री शिपरिविभर्ति । मलाहकच्छेद-
विभक्तारागमकालसंध्यामिव धातुमत्ताम् ॥’ इति तनूकृतम् ॥

२. विजेय इति । ‘अहं कृत्यवचक्ष’ इति सूत्रेणार्थांश्च ‘अचो यत्’ इति सूत्रेण
विहितः कृत्यसंज्ञो यत्प्रत्ययो भूतत्वरूपे कप्रत्ययार्थेऽवाचकः ॥ अत्र ‘चापाचार्यक्षिपुर-
विजयी क्रातिवैयो विजेयः, शस्त्रत्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियन्तकारः । नस्यैवैतत्
विमु कृतवता रेणुवाकण्ठबाधा । बद्धरपथस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥’
इत्युपजीम्यम् ॥

३. पेल्वेति । ‘पेल’ इति वर्णद्वय एतद्भाषायां वृषणरूपशुद्धाप्रत्यायकतया ग्रीवा-
दायीति प्रकाशम्याख्यातारः ॥ अत्र ‘अतिपेल्वमतिपरिमितवर्णं लघुनरमुदाहरति शठः ।
परमार्थतः सद्द्वयं बहति पुनः बालकृत्यमितिव ॥’ इति प्रकाशोदाहरणं शरणम् ॥

४. जलध्यादाविति । तथा चोत्तमरिसिंहेन—‘जलध्यादिषु पूर्वपदे सरोजमुख्येषु
चोत्तरपदेषु । सरपतिसंज्ञेषु चोत्तमपदेषु पर्वयपरिवृत्तिः ॥ इति परिवृत्तिसहा ये योगादे
‘योगिका, शब्दाः । परिवृत्तिसहा ये तु मित्रा गीर्वाणतुल्यास्ते ॥’ योगरूपमन्तो
गीर्वाणादिमिश्रशब्दाः परिवृत्तिं न सहाय इत्यर्थः ॥ अत्र वचोवाणेषुदाहरणम् ‘विमु-
च्यतेऽस भूपालमौरिमालामहामणेः । सुदुर्लभं वचोवाणैस्तेजो यस्य विमाम्यते’
इत्येतद्रूपम् । वचोवाणा. गीर्वाणाः वचयोरभेदात् ॥

तूत्तरपदम्, बाह्वानलादौ पूर्वपदम् । एवमन्येऽपि यथासंगमं पदांश-
दोषा ज्ञेयाः । निरर्थकत्वादीनां त्रयाणां च पदमात्रगतत्वेनैव लक्ष्ये
संगमः । क्रमतो यथा—

‘मुञ्च मानं हि मानिनि ॥’

अत्र हिंशब्दो वृत्तपूरणमात्रप्रयोजनः ।

‘कुञ्जं हन्ति कृशोदरी ॥’

अत्र हन्तीति गमनार्थे पठितमपि न तत्र समर्थम् ।

‘गौण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्या-

माजमे विषमविलोचनस्य वक्षः ॥’

‘आढो यमहनः’, ‘स्वाङ्गकर्मकाच्च’ इत्यनुशासनबलादाङ्पूर्वस्य
हनः स्वाङ्गकर्मकस्यैवात्मनेपदं नियमितम् । इह तु तल्लङ्घितमिति
व्याकरणलक्षणहीनत्वात् च्युतसंस्कारत्वम् ।

नन्वत्र ‘आजमे’ इति पदस्य स्वतो न दुष्टता, अपि तु पदान्तरा-
पेक्षयैव । इत्यस्य वाक्यदोषता । मैवम् । तथाहि गुणदोषालंकाराणां

पदपरित्यागेन सत्पर्यायशब्दान्तरदानेऽपि तदर्थबोधकम् ॥ उत्तरपदमिति ।
न परिश्रुतिसहमित्यनुपपत्तः । एवमग्रेऽपि ॥ एवमिति । ‘प्रकटितम्’ इत्यादौ
कटिशब्दो घ्राण्यः । ‘संभवन्ति रसेऽपि, यत्’ इति यदुक्तं तदुदाहरणमाह—
निरर्थकत्वादीनामिति । आदिना असमर्थत्वच्युतसंस्कारयोर्महणम् ॥ अत्र
गमनार्थे न समर्थं न प्रतिपत्तिक्षमम् ॥ तल्लङ्घितमिति । अनुशासनमन्यथाकृत-

१. एवमन्येऽपीति । ‘कसिङ्गकर्मणि सामर्थ्यमस्य नोत्तपतेतराम् । अयं साधुचर-
स्तस्मादजलिर्वध्यतामिह ॥’ इत्यादौ पदैकदेशे सद्विधत्वमनुसंधेयम् । तथाहि—इह सा-
धुचरपदस्य चरेत्येकदेशः पूर्वं साधुरित्यर्थे ‘भूतपूर्वं चरद्’ इति सूत्रेण न्युत्पादितः ।
अथवा साधु चरतीत्यर्थे ‘चरेष्टः’ इत्यनेनेति प्रकरणाद्यभावे वक्तव्यतात्पर्यसंदेहः ॥

२. धीति । अत्र ‘तल्लङ्घकमलकेसर-’ (२५२ पृ.) इति प्रकाशोदाहरणं
द्रष्टव्यम् ॥

३. हन्तीति । अत्र ‘वीर्यान्तरेषु खानेन समुपाजितसत्त्वविः । सुरस्रोतसिनीमेव
हन्ति संप्रति सादरम् ॥’ इत्युपजीव्यम् ॥

४. गौण्डीवीति । ‘तन्मन्त्रजन्मकर इवामरापगाया वेगेन प्रतिमुखमेव बाणनद्याः ।’
इत्येतत्पूर्वार्थम् ॥

शब्दार्थगतत्वेन व्यवसितेस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं हेतुः । इह तु दोषस्य 'आजमे' इति पदमात्रस्यैवान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वम् । पदान्तराणां परिवर्तनेऽपि तस्य तादवस्थ्यादिति पददोषत्वमेव । तथा यथेहात्मनेपदस्य परिवृत्तावपि न पददोषः, तथा हन्प्रकृतेरपीति न पदांशदोषः ।

एवं 'पद्मः' इत्यत्राप्युक्तस्य पदगतत्वं बोध्यम् । एवं प्राकृतादिव्याकरणलक्षणहान्यावपि च्युतसंस्कारत्वमूह्यम् ।

इह तु शब्दानां सर्वथा प्रयोगाभावेऽसमर्थत्वम् । विरलप्रयोगे निहतार्थत्वम् । निहतार्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम् । अप्रतीतत्वं त्वेकार्थस्यापि शब्दस्य सार्वत्रिकप्रयोगविरहः । अप्रयुक्तत्वमेकार्थशब्दविषयम् । असमर्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम् । असमर्थत्वे 'हन्त्यादयो' गमनार्थे पठिताः । अवाचकत्वे दिनादयः प्रकाशमयाद्यर्थे, न तथेति परस्परभेदः । एवं पददोषसजातीया वाक्यदोषा उक्ताः, संप्रति तद्विजातीया उच्यन्ते ।

॥

मित्यर्थः ॥ एवं पद्म इति । अप्रयुक्तस्य अप्रयुक्तस्य पदगतत्वं न तु पदांशगतत्वम् ॥ इदानीं केषांचिहोषाणां परस्परभेदं दर्शयति—इह त्विति । स्वर्थेति । यत्र शापकं नास्ति तत्रैव प्रयोगाभावः । शापकत्वे तु प्रयोगोऽस्त्येव । यथा—हनधातोर्गतौ जह्यापद्धतिरित्यादिप्रयोगः । अत्र यनलोपपञ्चद्वी शापकौ । कुटिलं गम्यतेऽनया इति जह्या । पद्मा (हन्त्यते) गम्यतेऽप्येति पद्धतिः । एतदर्थमेव हनधातोर्गतौ पाठः । केचित्तु—'पुनः पुनः गम्यतेऽनया' इति यनो वाक्यं कुर्वन्ति । तत्र । गम्यर्थधातोरस्यैव पुनः पुन्ये च यन् प्राप्त्यभावात् ॥ विरलेति । श्लेषादी प्रयोगो न त्वन्यत्र । एतेनासमर्थत्वनिहतार्थयोर्भेदो दर्शितः ॥ निहतार्थत्वाप्रतीतत्वं योर्भेदमाह—निहतार्थत्वमिति ॥ अप्रयुक्तत्वासमर्थयोर्भेदमाह—अप्रयुक्तत्वमिति । असमर्थत्वावाचकत्वयोर्भेदमाह—असमर्थत्वे इति । न तथा पठिताः ॥ तद्विजातीयाः पददोषविजातीया वाक्यदोषा उच्यन्ते इत्यनुपपत्तेरान्वयः ॥

१. पद्म इति । नाकमेकान्ततः पुंलिङ्गेऽप्रयुक्तः । तथा च गौवर्धनः—'पठितरक्षा-
शकपाटं दिशि दिशि सुखिनो हि नेरते पद्माः । उज्जागरणं कैरव कृति शब्दा रक्षितुं
रक्ष्मीः ॥' अत्रः 'मधायं दाक्षणाचारः सर्वदेव विमाष्यते । तथा मन्ये देवतोऽन्य
मिशचो राक्षसोऽम्बा ॥' इति प्रकाशोदाहरणमेव परम् ॥

२. जहति । जहन्त्यत इति जह्या । हन्तेर्पञ्चगन्तात्—'हन्तेभ्योऽपि' इति वः ।

वर्णानां प्रतिकूलत्वं, लुप्ताहतविसर्गते ।

अधिकन्यूनकथितपदताहतवृत्तता ॥ ५ ॥

पतत्प्रकर्षता, संघौ विश्लेषाश्लीलकष्टताः ।

अर्धान्तरैकपदता समाप्तपुनरात्तता ॥ ६ ॥

अभयन्मतसंबन्धाक्रमामतपरार्थताः ।

वाच्यस्यानभिधानं च भग्नप्रक्रमता तथा ॥ ७ ॥

त्यागः प्रसिद्धेरस्थाने न्यासः पदसमासयोः ।

संकीर्णता गर्भितता दोषाः स्युर्वाक्यमात्रगाः ॥ ८ ॥

वर्णानां रसानुगुण्यविपरीतत्वं प्रतिकूलत्वम् । यथा मम—

‘ओवट्टइ उल्लट्टइ सजणे कर्हिपि मोट्टाअइ णो परिहट्टइ । (१)

हिमएण फिट्टइ लज्जाइ खुट्टइ दिहीए सा ॥’ (१)

अत्र टकाराः शृङ्गाररसपरिपन्थिनः केवलं शक्तिप्रदर्शनाय निबद्धाः ।

एषां चैकद्वित्रिचतुःप्रयोगे न तादृशसमञ्ज इति न दोषः ।

लुप्तेति । लुप्तविसर्गता, आहतविसर्गता च । एवमधिकपदता, न्यूनपदता, कथित-
पदता च ॥ संघाविति । संघविश्लेषः संघ्यश्लीलता संघिकष्टता च ॥ रसानु-
गुण्यविपरीतत्वं च प्रकृतरसविरोधिरसगतगुणव्यञ्जकत्वेन ॥ ओवट्टइ इति ।
‘उवर्तयति उल्लोटयति शयने कर्हपि मोट्टायितयति नो परिचट्टयति । हृदयेन स्फिड-
यति लज्जया खुट्टयति धृतेः सा ॥’ इति संस्कृतम् । विप्रलम्भवर्णनमिदम् । उवर्तयति
वेदमुत्तानीकरोति । उल्लोटयति ‘सार्धपरिचृति’ करोति । मोट्टायितभावं न करोति ।
स्फिडयति भ्रश्यति । खुट्टयति कुण्ठिता भवति । शृङ्गाररसपरिपन्थिनः शृङ्गा-
रविरुद्धवीरवीरमत्सरीदगतौजोगुणव्यञ्जकत्वेन शृङ्गारप्रकर्षबोधप्रतिबन्धकाः । एषां
प्रतिकूलवर्णानाम्, तादृशवर्णप्रतिकूलत्वनिबन्धनो रसभङ्गः रसप्रकर्षबोधप्रति-
बन्धः । दुःश्रवत्वनिबन्धनस्तु वर्तते एव । अत एव ‘निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्’ इत्यत्र
(२३ पृ.) रेफ्युक्तस्य वर्णत्रयस्य सत्वेऽपि नायं दोषः । दुःश्रवत्वं तु वर्तते
एव । ननुक्तोदाहरणे दुःश्रवत्वमेव दोष इति चेदुदाहरणान्तरे बोध्यम् । यथा—
‘शृन्दारकप्रकरमय करोम्यशङ्कमानन्दयामि मुनिवृन्दममन्दमङ्ग । महं भुजङ्गमग-
णस्य मयं नयामि त्वामन्तवातिथिमसन्तमहं विधाय ॥’ रावणं प्रति श्रीरामस्ये-

१. ‘ओवट्टइ—’ इति । आकारनिक्षयमन्तरेण छन्दोभेदसान्निध्ये प्राकृतव्याकरण-
वलेनापि संशोधयितुमसंभवेत्तत्संप्रतम् ॥

‘गता निशा इमा बाले ॥’

अत्र लुप्तविसर्गाः । आहता ओत्वं प्राप्ता विसर्गा यत्र । यथा—

‘धीरो वरो नरो याति ॥’

‘पल्लवाकृतिरक्तोष्ठी ॥’

अत्राकृतिपदमधिकम् । एवम्—

‘सदाशिवं नौमि पिनाकपाणिम् ॥’

इति विशेषणमधिकम् ।

‘कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः’ इति ॥

अत्र तु पिनाकपाणिपदं विशेषप्रतिपत्त्यर्थमुपात्तमिति युक्तमेव ।

यथा वा—

‘वाचमुवाच कौत्सः ॥’

अत्र वाचमित्यधिकम् । उवाचेत्यनेनैव गतार्थत्वात् ।

किरियम् । अत्र माधुर्यव्यञ्जकवर्णप्राचुर्यं वीररसस्य परिपन्थि ॥ गता इति ।
द्वयमपि बहुशः पात एव दोषः । विसर्गस्थितिग्राह्यस्य दुःश्रवणमेव । यथा—
‘स्तरः स्तरः खलः खान्तः’ इति ॥ अधिकमनुपयुक्तार्थं पदं यत्र तत्त्वम् ।
अत्राकृतिपदमिति । शिलापुत्रस्य शरीरमिति वत् पल्लवाकृतेः पल्लवानतिरिक्तत्वा-
दाकृतिपदमनुपयुक्तार्थमिति भावः । अन्ये तु ‘आकृतिः संस्थानं तत्र संयोगस्वरू-
पमेव तत्र रक्तत्वस्य बाधादधिकपदम्’ इत्याहुः । तत्र । भाषे अभवन्मतयोगत्वं स्यैव
प्रसक्तेः, न त्वधिकपदत्वस्य ‘प्रभातवाता इति क्षम्पिताकृतिः’ इत्यादिप्रयोगादा-
कृतिशब्दस्य शरीरवाचकत्वाच्च । अन्यथा तत्र संयोगकल्पनानुपपत्तेः, इत्यपरे ॥
कुर्यामिति । पिनाकपाणेऽपि धैर्यच्युतिकरणेनात्मनः शौर्यातिशयः प्रतिपादितः ॥
वाचमिति । यथा—‘देवं यजति’ ‘गन्धं जिघ्रति’ इत्यादौ संभेदेनान्यतरवै-
यर्थ्यमिति न्यायेन यज्ञादेः पूजाग्रहणमाश्रयार्थं, तथापि यच्चानोदयारणमाश्र-
यत्वम्, न तु वचनोदयारणार्थत्वम् । अन्यथा पीनरक्त्यं स्यात् । एवं च तादृश-
कल्पनमेवात्र शान्दबोधविलम्बनरुदिति दोषत्वमस्य । गतार्थत्वादिति । यच्च-

१. कुर्यामिति । ‘तत्र प्रसादात्कुरुमायुषोऽपि सहायमेकं मनुमेव लब्ध्वा । कुर्यां
हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युति के मम भविष्ये ॥’ इति समसम् ॥

२. वाचमिति । मधोब्रूवानीशुवादिशार्थं प्रवेशरं प्रीतमना महभिः । एतदन्तरे-
पानतपूर्वशायं संप्रसिद्धो वाचमुवाच कौत्सः ॥’ इति समसम् ॥

कचिच्च विशेषणदानार्थं तत्प्रयोगो युज्यते । यथा—

‘उवाच मधुरां वाचम्’ इति ॥

केचित्त्वाहुः—यत्र विशेषणस्यापि क्रियाविशेषणत्वं संभवति
तत्रापि तत्प्रयोगो न घटते । यथा—

‘उवाच मधुरं धीमान्’ इति ॥

‘यदि मय्यर्पिता दृष्टिः किं ममेन्द्रतया तदा ॥’

अत्र त्वयेति पदं न्यूनम् ।

‘रतिलीलाश्रमं भिन्ते सलीलमनिलो वहन् ॥’

लीलाशब्दः पुनरुक्तः । एवम्—

‘जक्षुर्विसं धृतविकासिविसप्रसूनाः ॥’

अत्र विसशब्दस्य धृतपरिस्फुटतत्प्रसूना इति सर्वनाम्नैव परामर्शो
युक्तः ।

धातुनैव वायुच्चारणस्य प्रतिपादनाद्वाचमिलस्य प्रयोगोऽनुपयुक्त एव प्रत्युत्तरान्त-
रकल्पनाकार इति भावः ॥ न्यूनमुपादेयमप्यनुपात्तं पदं वाचकपदं यत्र तच्चैत्यर्थः ।
वाचकेति विशेषणाद्वाच्यानभिधानादस्य भेदो दर्शितः । तस्य द्योतकपदानभिधान-
स्वरूपत्वात् । केचित्तु—‘अप्याहारपूरणीयं पदं न्यूनपदम् । वाच्यानभिधाने त्वच्चा-
हारस्यैवासंभवादनुभेदः । तथाहि—‘व्यतिक्रमलवं कं मे वीक्ष्यं यामाहि । हुप्यसि’
इत्यत्र व्यतिक्रमलवयोः समाससत्त्वेऽप्याहार्यापिकारेणापि व्यतिक्रमीयस्थलभाषसं-
मुच्चयस्यासंभवात् । किं च वस्त्वन्तरस्यैव समुच्चयात्’ इत्याहुः । तत्र । ‘गुणशतमपि
दोषः कश्चिदेकोतिवृद्धः क्षपयति यदि नान्यस्तद्विरोधी गुणोऽस्ति’ इत्यादौ गुणशतयोः
समाससत्त्वेऽप्यधिकारेणैकव्यादिगुणसमुच्चयदर्शनात् । व्यक्तितमर्थपौनस्यत्वाभावेऽपि
द्विरुपात्तं पदं यत्र तत्त्वम् । एकस्यैवार्थस्यैकशब्देन द्विरुपादाने किमिदं पदं नानार्थ-
त्वेनार्यान्तरबोधकम्, अतः तस्यैवार्थस्य प्रतिपादकमिति प्रतिपञ्चानप्रसङ्गे शाब्द-

१. जक्षुरिति । ‘सलुः पयः पपुरनेनिरुम्बरानि जक्षुर्विसं धृतविकासिविसप्रसूनाः ।
सैन्याः श्रियामनुपभोगनिरर्थकत्वदोषप्रवादममृजक्षगनिभ्रगानाम् ॥’ इति ॥

हंतवृत्तं लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यं रसानुगुणमप्राप्तगुरुभावान्तलघु च ।
क्रमेण यथा—

बोधविलम्बनं दूषकताधीजमत्र बोध्यम् ॥ हतवृत्तस्य त्रिविध्यमाह—हतमिति ।

1. अश्रव्यमिति । इह केषांचन वृत्तानां श्रव्यत्वान्श्रव्यत्वश्रव्ये कतिचन नियमाः
प्रदर्श्यन्ते—‘समासैर्ध्रुववृत्तानामसमासैर्महीयसाम् । शोभा भवति श्रव्यानामुपयोग-
शेन वा ॥ अनुगुणन्दसां भेदे कैश्चित्सामान्यलक्षणम् । यदुक्तं पञ्चमं कुर्याल्लघु पठ तथा
शुभ ॥ तत्राप्यनियमो दृष्टः प्रबन्धे महतामपि । तस्मादव्यभिचारेण ‘अन्यतैव गतीयसी ॥’
यथा—‘तदन्वये शुद्धिमति’ इति कालिदासोक्तौ । ‘उपजातिविकल्पानां सिद्धौ यद्यपि
संकरः । तथापि प्रथमं कुर्यात्पूर्वपादाक्षरं लघु ॥ शुर्वक्षरेण संरुद्धं ग्रन्थियुक्तमिवामतः ।
करोति प्रथमं स्थूलं किंचित्कर्णकदर्शनाम् ॥’ यथा—‘अस्त्युत्तरसाम्’ इत्यत्र । ‘अधु-
र्यक्षैरेव षष्ठेऽक्षराभाति दोषकम् । अतोऽपर्यधिकैवापि पठि तात्त्वमिबोद्धति ॥ शत्रु-
क्षरसंयोगैः किंचित्काकंश्यकारिभिः । अन्ये विसर्जनीयैश्च शालिनी याति दीप्तताम् ॥
विसर्गयुक्तैः पादान्तैर्विराजति रयोद्धता । कलापरिचयैर्योता लट्भेव मगम्भताम् ॥
साकाराद्विसर्गान्तैः सर्वपादैः सविभ्रमा । स्वागता स्वागता भाति कविकर्मविलासिनी ॥
हुतताललयैरेव व्यक्तं रुक्षाक्षरैः पदैः । प्रनर्वयति यच्चित्तं तपोटकमभीप्सितम् ॥ अस-
त्तापदैः पादसंघिविच्छेदसुन्दरम् । सर्वपादैर्विसर्गान्तैर्विशेषं बालनवताम् ॥ प्रारम्भे हुत-
विन्द्यासं पर्यन्तेषु निलम्बितम् । विच्छित्त्वा सर्वपादानां भाति हुतविलम्बितम् ॥ आकार-
मन्धरैः प्रायः पादे पादेऽधुरैस्त्रिभिः । शेषाधुरैर्हुतवरेः प्रहर्षाय प्रहर्षिणी ॥ वसन्ततिलक-
स्थामे साकारे प्रथमाक्षरे । ओजसा जायते कान्तिः सविकासविलासिनी ॥’ यथा रत्नाक-
रस्य—‘कण्ठमिव कुबलयस्तवकाभिरामशमानुकारिविकटच्छविकालकूटम् । विभ्रमुत्थानि
दिशानुपहारपीतधूपीतधूममलिनानिब धूर्जटिर्वः ॥’ ‘आकारेऽपि कृते पूर्वं द्वाभेऽक्ष-
पदपेशले । वसन्ततिलक पक्षे निर्गन्धि रमणीयताम् ॥ विसर्गहीनपर्यन्ता मालिनी न
विराजते । चमटी छिन्नपुच्छेव बह्वीवाद्यनपहता ॥ द्वितीयाधे समस्ताभ्यां पादाभ्यां
मालिनी वरा । प्रथमार्धे समस्ताभ्यां पादाभ्यामवरा मता ॥ प्रथमे मधुरैरेतेस्तल्लिख-
तुरक्षरैः । पञ्चाक्षरैश्च पर्यन्ते नकुटं याति चाकताम् ॥’ यथा धीरदेवस्य—‘तत्र शतप्रपन्न-
मृदुताम्रजलक्षरणश्रलकलहंसनूपुरवरणबहिना मुखरः । मक्षिमहासुरस्य शिरसि प्रसभं
निहितः कनकमहीपरेन्द्रगुरुणा कवचम्ब ! गतः ॥’ ‘असमासैः पदैर्मांति पृथ्वी पृथ्वी पृथ-
विस्फुटैः । समासग्रन्थिभिः सेव याति संकोचसर्वताम् ॥’ पृथक्पदा यथा मम—‘दक्षिणसि
मनोहरा म्यतिकरे ॥ दुःखमदा मनागपि निषेविता दृश्यकम्पलीलावदाः । अनन्तपदो-
धिकालुदिनवृष्टयः केवलं कदाचन करावतां दधति यत्र वायसवत् ॥’ यत्र बदरिका-
ग्रमे । ‘पृथ्वी साकारगम्भीरैरेव सर्वभिरधुरैः । समासग्रन्थियुत्तराणि याति प्रत्युन दीर्य-
ताम् ॥’ यथा—‘महाप्रलयमारुत-’ इत्यादि । ‘स्वरात्ररुचिच्छेदेर्विमानि हरिणीपदैः ।
मन्धरेर्गन्धिषट्केव याति निःस्पन्दसंगताम् ॥ त्रिषु पादेषु विशान्तविलासेर्लट्पापदैः । अन्ये

‘हन्त सततमेतस्या हृदयं भिन्ते मनोभवः कुपितः ॥’

‘अयि मयि मानिनि ! मा कुरु मानम् ॥’

इदं घृतं हास्यरससैवानुकूलम् ।

‘विकसितसहकारमारहारपरिमल एव समागतो वसन्तः ॥’

यत्पादान्ते लघोरपि गुरुमात्र उक्तस्तत्सर्वत्र द्वितीयचतुर्थपाद-

अप्राप्तगुरोत्वमन्तलपु यत्र तत् ॥ हन्तेति । अत्र प्रथमद्वितीयगणौ भग्नरस-
कारी, अनयोः सानिध्यमभ्रम्यं तच्च सम्भ्यानामनुभवविदम् ॥ गुरुमात्र उक्त
इति । ‘सानुस्वारध दीर्घश्च विसर्गश्च गुरुर्मध्येत् । वर्णः संयोगपूर्वश्च तथा पादा-

अरहितगतित्तरिणी हारिणीतरान् ॥ त्रितरिण्याः समारोहास्तद्वैराजसः इति । सैव
श्रुतनिर्गन्तैः प्रयासलन्तमुन्नतिम् ॥ शिखरिण्याः पदेतिष्ठः स्वरूपं परिदीयते । मुक्ता-
तापा निःस्पृग्मुक्तशुकापठैरिव ॥ मन्थराकान्तविद्युत्प्रेक्षताभिः प्रथमाद्वैः । मध्यपट्टे-
तिचतुरे मन्दाकान्ता विराजते ॥ यथा-‘मदावर्तं जनपदमधः-’ इत्यादि । ‘साकारप-
ठैः पादपर्यन्तेः सविसर्गकैः । शार्दूलक्रीडितं यत्ते तंजोत्रीविगमूजितम् ॥ विसर्जनीयस्रोतेन
मदैर्निस्तोत्रतैरिव । शार्दूलक्रीडितं याति पठि सापासतामिव ॥ विच्छिन्नपादं पूर्वार्धे द्विती-
यार्धे समासवत् । शार्दूलक्रीडितं माति विपरीतमतोऽप्यमम् ॥ आपन्नयोगुणोऽस्यैकान्त्या
सर्पातिशयिनोः । शार्दूलक्रीडितं यत्ते मध्ये तन्नोरवोन्नतिम् ॥ यथा-‘शाहन्ता मदिपाः-’
इत्यादि । ‘आपन्तावारविरहापर्यन्ते नाविसर्गतः । शार्दूलक्रीडितं स्वस रूपं नैवोपल-
भ्यते ॥’ यथा-‘यस्मिन्नेवसमानकान्ति-’ इत्यादि । ‘मुकुमाररससाय रक्षार्थे इत्तमुद-
त्तम् । दावपाकेनैव गलितं कविना नीतमवतारम् ॥ आकारगुरुकारिष्यन्तान्तनिसर्गिणी ।
असंस्कृतविरामा च राजते सम्भरातरान् ॥ आपन्ताकारविरहाग्रन्थरोचः स्फुरोऽपि यः ।
अविस्तृतिर्वैराज्यैः सम्भराया समीहते ॥’ इत्यादि सङ्ख्यानानुसरतिदम् ॥

२. रसानुगुणमिति । केषाञ्चन वृत्तानां रसानुगुणं प्रदर्शयते-‘आरम्भे सर्गवन्धस
कथाविल्लरसंमदे । रामोपदेशवृत्तान्ते सन्धः शेषन्यनुष्ठुमम् ॥ मृत्तारालम्बनोदारनावि-
कासपवर्गेणम् । वसन्तादि तद्वत् च सञ्चारमुपजातिभिः ॥ रसोद्धता विभावेषु भग्या
चन्द्रोदयादिषु । भाग्यप्रगुणा नीतिर्विश्वेन विराजते ॥ वसन्ततिष्ठकं मापि संकरी वीर-
रौद्रयोः । कुर्वातसर्गस्य पर्यन्ते भाविनी हृतवालम्ब ॥ उपपन्नपरिच्छेदकाले शिखरिणी वरा ।
ओदार्यस्वचिरोन्मिलविचारे हरिणी मया ॥ साक्षेपकोषधिकारे पर पृथ्वी भरसमा । प्राङ्द
प्रवासमयसने मन्दाकान्ता विराजते ॥ शीर्षस्त्वै नृपादीना शार्दूलक्रीडितं मतम् । सानेग-
भवनादीनां वर्णने सम्भरा चरा ॥ दोषकतोऽकनकुंठ्युक्तं मुक्तकमेव विराजते सत्तम् ।
निधिपयस्य रसादिषु तेषां निनियमश्च सदा विनियोगः ॥’ इति ॥

१. विकसितेति । ‘विकसितसहकारमारहारपरिमलगुञ्जितपुञ्जितशिरेफः । नवकितलव-
चारुचामरधीर्हरि मुनेरपि मानसं वसन्तः ॥’ इति प्रकाशोदाहरण्यनुरूपम् ॥

विषयम् । प्रथमतृतीयपादविषयं तु वसन्ततिलकादेरेव । अत्र 'प्रमुदि-
तसौरभ आगतो वसन्तः' इति पाठो युक्तः । यथा वा—

‘अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्त्यैव सा

संभाराः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा ।

श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात्स्त्रीणां नितम्बस्थला-

दृष्टे यत्र पतन्ति मृदमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च ॥’

अत्र वस्त्राणि चेति बन्धस्य श्रुत्यत्वश्रुतिः । ‘वस्त्राप्यपि’ इति पाठे
तु दार्ढ्यमिति न दोषः । ‘इदमप्राप्तगुरुभावान्तलधु’ इति काव्यप्रका-
शकारः । वस्तुतस्तु ‘लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्’ इत्यन्ये ।

‘मोज्ज्वलज्ज्वलनज्वालाविकटोरुसटाच्छटः ।

श्लासक्षिसकुलक्षमाभृत्पातु वो नरकेसरी ॥’

न्तगोऽपि वा ॥’ इत्यादिनेति शेषः ॥ द्वितीयचतुर्थपादेति । इह प्रथमपा-
दान्तस्य श्रुत्वाप्राप्तौष्व इति भावः ॥ पतत्प्रकर्षत्वं च द्विविधम्, बन्धस्य
पूर्वापेक्षया उत्तरोत्तरम् क्षैमित्यादनुप्रासपाताद्य निरूपेण विशेषः । तदुक्तम्—‘पत-
त्प्रकर्षं बन्धस्य क्षैमित्यादुत्तरोत्तरम् । पूर्वानुसारतः कोऽपि निकर्षो यत्र जायते ॥’
इति । कमेणोदाहरति—अन्यास्ता इति । गुणरत्नस्य रोहणभुवो जन्मस्थानानि ।
मृदलरीरारम्भनष्टृभिर्वीर्यभारा उपकरणानि । अन्ये विलक्षणाः । यैरिति प्रागुक्त-
श्रितयपरामर्शः । ‘कचिद्विश्विमितयोः’ इत्यनुशासनाद् यत्पदस्य परिलिङ्गवचन-
प्राहित्वम् । अन्यथा तत्पदत्रयासाक्षात्पूरणं न स्यात् । यत्र मूनि दृष्टे सति द्विषां
करतलादस्त्राणि, स्त्रीणां नितम्बस्थलादस्त्राणि च पतन्तीत्यर्थः । भीमदित्यादि
मूढेत्यादि च विशेषणमुभयेषाम् । मोहधैक्यत्र भयेन, अन्यत्र पामेन ॥ लक्षणा-
नुसरणेऽपि चतुर्थपादान्तस्य लघोर्गुणत्वप्रापकश्लासतत्वेऽपि ॥ सदा सिंहशिरो-
रहः । छटा समूहः ॥ श्रमेणेति । प्रथमपादे संयुक्तवर्णत्रयेण चानुप्रास इत्यलन्त-
मुक्तम् । द्वितीयपादे टकारत्रयेणैवेति तदपेक्षयापष्टम् । तृतीयपादे तु शकार-
त्रयेणैवेति ततोऽप्यष्टम् । चतुर्थपादे मृदुवर्णद्वयेनैवेति सर्वपष्टम् इत्यर्थः । अत्र

१. वसन्ततिलकादेरिति । आदिपदेनेन्द्रमोरेन्द्रजयोः सप्तमः । एवंप्रायेषु षष्ठेऽपि
प्रथमतृतीयपादावसाये एतद्वर्णसङ्काशेऽपि सम्पन्नं नापत्तीये । अत्र परोक्षम्—‘न
पादान्तलघोर्गुणत्वं च सर्वम् ।’ इति । पादान्तलघोर्गुणत्वं प्रयोक्तव्यं न सर्वं न सर्व-
सिग्नम् इति तदर्थः ॥

अत्र क्रमेणानुप्रासप्रकर्षः पतितः ।

‘दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गि । ते ॥’

एवंविधसंधिविश्लेषस्यासकृत्प्रयोग एव दोषः । अनुशासनमुल्लङ्घ्य
वृत्तभङ्गमात्रेण संधिविश्लेषस्य तु सकृदपि । यथा—

‘वासवाशामुखे भाति इन्दुश्चन्दनविन्दुवत् ॥’

‘चलण्डामरचेष्टितः’ इति ॥

अत्र संधौ जुगुप्साव्यञ्जकमश्लीलत्वम् ।

‘उर्व्यासावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः ॥’

चतुर्थपादस्य शैथिल्येनापि निकर्षो बोध्यः ॥ विसंधिकमुदाहरति—दलिते इति ।
विकसिते इत्यर्थः ॥ एवंविधेति । अनुशासनविद्वेत्त्यर्थः ॥ सकृदपीति ।
सकृत्प्रयोगेऽपि दोष इत्यन्वयः ॥ वासवाशामुखे पूर्वदिशि । अत्र ‘नित्यं संहितै-
कपदवत् पादेऽप्यर्थांतवर्जम्’ इत्यनुशासनात् पदे संधेर्नित्यत्वमिति तादृशनाशेप
इत्यर्थः ॥ चलन्निति । ‘वेगाद्दृष्टीय गगने चलण्डामरचेष्टितः । अयमुद्गीयते पक्षी
ततोऽग्रेव रुचिं कुर्व ॥’ चलन् यथा स्यात्तथेत्यर्थः । डामरमुद्गटं चेष्टितं यस्य सः ।
अत्रेति । चलण्डामरेत्यर्थः । संधावुत्पन्नलण्डासब्दस्यापभ्रंशविधया पुंव्यञ्जनव्य-
ञ्जकवाजुगुप्सा । ‘रुचिं कुर्व’ इत्यत्र जीगुप्साव्यञ्जकपि कुशान्वोत्पत्त्या ग्रीडा ।
अमल्लाश्लीलसंधिक्षु ‘भजते ध्रुवमृतम्’ इत्यत्र बोध्यः । कृतं सत्यं भजत इति
संधिवशादमल्लम् ॥ उर्व्यासाविति । उर्वी महती तर्वाली वृक्षश्रेणी मर्वन्ते
निर्जलभूम्यन्ते । चारुवस्थितिर्यस्याः सा । अर्धान्तरे भिन्नान्यघटितपदार्थे
एकमेव पदं यस्य । अत्र पञ्चार्थो घटकत्वम्, तथा च यद्वटकमेकमेव पदं भिन्न-
वाक्यघटितपदार्थे वर्तते तत्त्वम् । तच्चोत्तरार्धादौ पूर्वार्धान्ते च संभवति । तत्रा-

१. एवंविधेति । प्रगृह्यादिहेतुकस्येत्यर्थः । तत्र प्रगृह्यहेतुको विशेषः ‘दलिते उत्पले-’
इत्यत्र दक्षित एव । असिद्धिहेतुकः ‘ततः सदिनं उदारहारहारिलुतिरुचैरुदयाचलादिनेन्दुः ।
म्रियंपञ्च उदात्तकान्तकान्तिर्वतं मुक्तामणिवच्चकारत्वनर्थः ॥’ इत्यादौ ब्रह्मण्यः । अत्र ॥
‘श्लेषः शाकल्यस्य’ इति सूत्रेण विहितस्यापि श्लेषस्य ‘आहुणः’ इत्यनेन प्राप्तं गुणं प्रति
‘पूर्वत्रासिद्धम्’ इत्यनेनासिद्धिविधानादसिद्धिहेतुकोऽयं विशेषः । इह वन्धशैथिल्यमेव
दुष्टिवीजम् ॥

२. चलन्निति । ‘वेगाद्दृष्टीय गगने चलण्डामरचेष्टितः । अयमुत्पते पक्षी ततोऽग्रेव
रुचिं कुर्व ॥’ इति शेषः ॥

३. उर्वीति । ‘नामर्जुं युज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाह् ॥’ इत्युत्तरार्धम् ॥

अत्र संधौ कष्टत्वम् ।

‘इन्दुर्विभाति कर्पूरगौरैर्धवल्यन्करैः ।’

जगन्मा कुरु तन्वङ्गि ! मानं पादानते प्रिये ॥’

अत्र जगदिति प्रथमार्धे पठितुमुचितम् ।

‘नाशयन्तो धनध्वान्तं तपयन्तो वियोगिनः ।

पतन्ति शशिनः पादा भासयन्तः क्षमातलम् ॥’

अत्र चतुर्थपादो वाक्यसमाप्तावपि पुनराक्तः ।

अभवन्मतसंबन्धो यथा—

‘या जयश्रीर्मनोजस्य यया जगदलंकृतम् ।

यामेणाक्षीं विना प्राणा विफला मे कुतोऽद्य सा ॥’

अत्र यच्छब्दनिर्दिष्टानां वाक्यानां परस्परनिर्पेक्षत्वात्तदेकान्तःपाति-
नैणाक्षीशब्देनान्येषां संबन्धः कवेरभिमतो नोपपद्यत एव ।

‘यां विनामी वृथा प्राणा एणाक्षी सा कुतोऽद्य मे ॥’

इति तच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यान्तःपातित्वे तु सर्वैरपि यच्छब्दनिर्दिष्ट-
वाक्यैः संबन्धो घटते । यथा वा—

‘ईक्षसे यत्कटाक्षेण तदा धन्वी मनोभवः ।’

यमुदाहरति—इन्दुरिति । अन्त्यं यथा—‘जगत्प्रकाशयन्निन्दुः करैः शुभ्रैर्विभाति
मा । मानमायतनेत्रान्ते । कुरु पादानते प्रिये ॥’ अत्रमेतिपदमुत्तरार्धे पठितुमुचि-
तम् । अत्रार्धान्तरोक्तपदस्य यथायथमुत्तरत्र पूर्वत्र वा वाक्ये निराकाङ्क्षत्वप्रतिषे-
धानेन शाब्दबोधविलम्बनमेव दूषकतावीजम् ॥ समाप्तमन्वयबोधजननोभिराकाङ्क्ष-
मपि विशेष्यं पुनर्विशेषणान्तराणाङ्क्षया अर्थं यत्र तत्त्वम् । तदुदाहरति नाशयन्त
इति । अत्राकाङ्क्षान्तरकल्पनेन शाब्दबोधविलम्बनं दूषकतावीजम् । अभवन्-
संभवन्मत इष्ट-संबन्धो यत्र तत्त्वम् । विवक्षितान्वयासंभव इति यावत् । स च
कविभिराकाङ्क्षतया कवियोग्यतया ॥ या जयश्रीरिति । कुतः कुत ॥ अन्येषां
यत्पदानाम् ॥ नोपपद्यते इति । भिन्नविभक्तिव्यादित्यर्थः । अत्र यामेणाक्षी-
मित्यन्वयो निराकाङ्क्षत्वादसंभवः । विभक्तिविपरिणामेनात्रान्वयः संभवतीत्यसतो-
पादाद्—यथा चेति । अत्रेति । यदिति परं न काल्यर्थकं तदेति तु कालार्थकम्,
तयोरभेदान्वयो योग्यताविरहाच्च संभवतीति भावः । ननु यदित्यव्ययं यद्यर्थकम्-

अत्र यदित्यस्य तदेत्यनेन संबन्धो न घटते । 'ईक्षसे चेत्' इति तु युक्तः पाठः । यथा वा—

‘ज्योत्स्नान्वयः पयःपूरस्तारकाः कैरवाणि च ।

रज्जति व्योमकैसारराजहंसः सुधाकरः ॥’

अत्र व्योमकैसारशब्दस्य समासे शुणीभावात्तदर्थस्य न सर्वैः संयोगः । विधेयाविर्मर्शे यदेवाविमृष्टं तदेव दुष्टम् । इह तु प्रधानस्य कासार-पदार्थस्य प्राधान्येनापतीतेः सर्वोऽपि पयःपूरादिपदार्थस्तदङ्गतया न प्रतीयते, इति सर्ववाक्यार्थविरोधावभासः । इत्युभयोर्भेदः ।

‘अनेन च्छिन्दता मातुः कण्ठं परशुना तव ।

वद्वस्पदः कृपाणोऽयं लज्जते मम भार्गव ॥’

अत्र भार्गवनिन्दायां प्रयुक्तस्य मातृकण्ठच्छेदनस्य परशुना सह संबन्धो न युक्त इति प्राच्याः । परशुनिन्दामुखेन भार्गवनिन्दाधिक्य-मैव वैदग्ध्यं द्योतयतीत्याधुनिकाः ।

अक्रमता यथा—

‘समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम् ।

शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वस्मयूरमयू रमणीयताम् ॥’

यस्य, तथापि तदेत्यस्यान्वयः संभवतीत्यहोराह—यथा चेति ॥ कासारः सरः । अथ वाक्यनय एव कासारशब्दस्य शोभः कवेरभिमतः स तावत् समभिव्याहार-विशेषरूपावाहाविरहाच्च घटते इत्याह—अत्रेति । शुणीभावाद्विशेषणरूपेणाभिमततया विश्लेषाभावात् । तदर्थस्य कासारशब्दस्य सर्वैः पयःपूरादिभिः । व्यो (नि सरति) इति तु युक्तः पाठः ॥ विधेयाविर्मर्शस्य भेदं दर्शयति—विधेयेति । भार्गवनिन्दायामिति प्रतिपादायामित्यर्थः । मातृकण्ठच्छेदनस्य मातृकण्ठच्छेदनकर्तृत्वस्य । परशो छेदनस्य करणत्वमेव न तु कर्तृत्वम् । यद्वा परशो मातुरित्यस्य संबन्धामादा-एवशिष्टस्य संबन्धो न संभवति । प्राच्याः प्राचीनाः । आधुनिका इति । अन्वयाद्यः—शब्देनानुपपत्तेन मातुरित्यस्य संबन्धः स्थाली पर्वतीतिवत् करणस्यापि कर्तृत्वारोपः । परशोरारोपितेनापि जीवधकर्तृत्वेन पातकं संभाव्यते, तत्र तु सुरयेनैव मातृवधकर्तृत्वेन सुतरामतिपातकमिति । अस्य शाब्दबोधविघटकत्वं वृत्तकताधीनम् ॥ अक्रमतेति । अविद्यमान स्वार्थान्वितार्थरूपदप्रत्यासत्तिरूप-

१. 'रज्जते' क-ख. २. 'कृपाणे रात्रहंस' घ. ३. 'रज्जति' घ. ४. 'न' नास्ति. क.प. सुलक्षणे. ५. 'सर्वैः' क. ६. 'क' इति नास्ति व-मुद्रके. ७. 'मर्शे तु' क-ख. ८. 'छेदन-कर्तृत्वस्य' घ. ९. 'इत्यादिपद' सुलक्षणादौ.

अत्र यदित्यस्य तदेत्यनेन संबन्धो न घटते । 'ईक्षसे चेत्' इति तु युक्तः पाठः । यथा वा—

‘ज्योत्स्नाचयः पयःपूरस्तारकाः कैरवाणि च ।

राजति व्योमकासारराजहंसः सुधाकरः ॥’

अत्र व्योमकासारशब्दस्य समासे गुणीभावात्तदर्थस्य न सर्वैः संयोगः । विधेयाविमर्शे यदेवाविमृष्टं तदेव दुष्टम् । इह तु प्रधानस्य कासार-पदार्थस्य प्राधान्येनाप्रतीतेः सर्वोऽपि पयःपूरादिपदार्थस्तदङ्गतया न प्रतीयते, इति सर्ववाक्यार्थविरोधावभासः । इत्युभयोर्भेदः ।

‘अनेन च्छिन्दता मातुः कण्ठं परशुना तव ।

वद्वस्पद्वः कृपाणोऽयं लज्जते मम भार्गव । ॥’

अत्र भार्गवनिन्दायां प्रयुक्तस्य मातृकण्ठच्छेदनस्य परशुना सह संबन्धो न युक्त इति प्राच्याः । परशुनिन्दामुखेन भार्गवनिन्दाधिक्यमेव वैदग्ध्यं द्योतयतीत्याधुनिकाः ।

अक्रमता यथा—

‘समय एव करोति बलावलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम् ।

शरदि हंसखाः परुषीकृतस्वरमयूरमयू रमणीयताम् ॥’

अस्ति, तथापि तदेत्यस्यान्वयः संभवतीत्यरुचेराह—यथा वेति ॥ कासारः सरः । अत्र वाक्यत्रय एव कासारशब्दस्य योगः कवेरभिमतः स तावत् समभिव्याहार-विशेषरूपाकाङ्क्षाविरहान्न घटते इत्याह—अत्रेति । गुणीभावाद्विशेषणत्वेनान्विततया विच्छेपाभावात् । तदर्थस्य कासारशब्दस्य सर्वैः पयःपूरादिभिः । व्यो (त्रि सरसि) इति तु युक्तः पाठः ॥ विधेयाविमर्शस्य भेदं दर्शयति—विधेयेति । भार्गवनिन्दायामिति प्रतिपादायामित्यर्थः । मातृकण्ठच्छेदनस्य मातृकण्ठच्छेदनकर्तृत्वस्य । परशो छेदनस्य कर्तृत्वमेव न तु कर्तृत्वम् । यद्वा परशो मातुरित्यस्य संबन्धाभावाद्दशदिशस्य संबन्धो न संभवति । प्राच्याः प्राचीनाः । आधुनिका इति । अयमाशयः—तत्रैत्यनुपत्तेन मातुरित्यस्य संबन्धः स्थायी पर्वतीतिवत् कारणस्यापि कर्तृत्वारोपः । परशोरारोपितेनापि स्त्रीवधकर्तृत्वेन पातकं संभाव्यते, तत्र तु मुख्येनैव मातृवधकर्तृत्वेन सुतरामतिपातकमिति । अस्य शाब्दबोधविषयकत्वं दूषकतापीजम् ॥ अक्रमतेति । अविद्यमान स्वार्थान्वितार्थकपदप्रत्यासत्तिरूप-

१. 'राजते' क-ख. २. 'राजते राजहंस' घ. ३. 'राजति' घ. ४. 'न' वा.सि. क-घ. पु.स.पयो. ५. 'वर्षे' क. क. 'क' इति नास्ति घ-पु.स.के. ६. 'पर्ये' तु क-ख. ७. 'छेदनक' एतस्य घ. ८. 'इत्यादिवत्' पु.स.गान्ते.

अत्र परामृश्यमानवाक्यानन्तरमेवेतिशब्दोपयोगो युज्यते, न तु प्रणिगदन्त इत्यनन्तरम् । एवम्—

‘द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।

कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥’

अत्र त्वमित्यनन्तरमेव चकारो युक्तः ।

अमत्तपरार्थता यथा—

‘राममन्मथशरेण ताडिता—’(१५३ पृ.) इत्यादि ।

अत्र शृङ्गाररसस्य व्यञ्जको द्वितीयोऽर्थः प्रकृतरसविरोधित्वादनिरुद्धः ।

वाच्यस्यानभिधानं यथा—

‘व्यतिक्रमलवं कं मे वीक्ष्य वामाक्षि ! कुप्यसि ॥’

अत्र व्यतिक्रमलवमपीत्यपि रवश्यं वक्तव्यो नोक्तः । न्यूनपदत्वे वाचकपदस्यैव न्यूनता विवक्षिता । अपेक्षु न तथात्वमित्यनयोर्भेदः ।

एवमन्यत्रापि । यथा वा—

‘चरणानतकान्तायास्तन्वि ! कोपस्तथापि ते ॥’

अत्र चरणानतकान्तासीति वाच्यम् ।

कमो यत्र तत्त्वमित्यर्थः । वाचकपदस्योक्तकामाभावेऽस्थलस्थपदत्वम्, इदं तु तदित-
रपदत्वैवेति ततोऽस्य भेदः ॥ समय इति । परपीकृतस्वरमयूरं यथा स्वातथा
रमणीयतां अयुः । प्राप्तयन्त इत्यर्थः ॥ द्वयमिति । शिवप्राप्त्यर्थं तपस्यन्तीं
पार्वतीं प्रति ब्रह्मचारिरुमधारिणः शिवस्योक्तिरियम् । कपालिशिवस्य कलावतश्च-
न्द्रस्य नेत्रकौमुदी नयनानन्दरुजिवा । अस्य प्रत्यासत्तिकल्पनेन शाब्दबोध्यविल-
म्बनं दूषकतापीजम् ॥ अमत्तः प्रकृतविरुद्धः प्रकृतरसविरोधिरसव्यञ्जकः व्यञ्ज-
नः परः श्लेषादिना प्रतीयमानो द्वितीयोऽर्थो यत्र तत्त्वम् ॥ रामेति । व्याख्यातमिदं
प्राक् (१५३ पृ.) प्रकृतेति । प्रकृतो वीमत्तरसस्तद्विरोधित्वात्तद्विरोधिः शृङ्गारव्यञ्ज-
कत्वात् । अस्य प्रकृतरसापकर्षकत्वं दूषकतापीजम् ॥ वाच्यस्यावश्यं वक्तव्यस्या-
नभिधानम् ॥ न्यूनपदत्वादस्य भेदं दर्शयति—न्यूनेति । न तथात्वं न च वा-
चकत्वम् । पदान्तरप्रत्यासत्तिं विना स्वर्यबोधनासामर्थ्यादित्यर्थः । न्यूनपदत्वे वाच-
कत्वाविपक्षयो पुनरुक्तोदाहरणं तस्यैवेत्युदाहरणान्तरमाह—यथा वेति । अत्र
चरणेति । तथापीलस्य भिज्जनान्यार्थसापेक्षत्वादिति भावः । पूर्वनापेरध्यादारेण

भग्नप्रक्रमता यथा—

‘एवमुक्तो मन्त्रिमुख्ये रावणः प्रत्यभाषत ॥’

अत्र वचधातुना प्रक्रान्तं प्रतिवचनमपि तेनैव वक्तुमुचितम् । तेन ‘रावणः प्रत्यवोचत’ इति पाठो युक्तः । एवं च सति न कथितपदत्व-
दोषः । तस्योद्देश्यप्रतिनिर्देश्यव्यतिरिक्तविषयकत्वात् । ईह हि वचन-
प्रतिवचनयोरुद्देश्यप्रतिनिर्देश्यत्वम् । यथा—

‘उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ॥’

इत्यत्र हि यदि पदान्तरेण स एवार्थः प्रतिपाद्यते तदान्योऽर्थ-
इव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्वगयति ।

शब्दबोधविलम्बनम्, उत्तरन तथापीत्यन्वयेन शब्दबोधविलम्बनं दूषकतापीजम् ॥
भग्नप्रक्रमतेति । भग्नो विच्छिन्नः प्रक्रम- प्रस्तावो यस्य तत्त्वम् । प्रस्तावश्चात्रा-
काङ्क्षितप्रकारकोऽर्थः । यद्येन प्रकारेण प्राङ्निर्दिष्टं तस्य तत्प्रकारेणानुक्तिरेव भग्नः ।
तथा च प्रत्युत्थिताकाङ्क्षविषयीकृतेन प्रकारेण पश्चादनुक्तिः क्रमभङ्ग इति फलितम् ।
एवमुक्त इति । अत्रैवमुक्तमिति साकाङ्क्षवाक्येनोत्थापिता प्रतिवचनस्याकाङ्क्षा,
सा च पूर्वाकाङ्क्षविशिष्टमेव प्रतिवचनं विषयीकरोति । अत्र आकाङ्क्षिताया वचधा-
तुरूपप्रकृतेः प्रकारस्य भाषधातुनिर्देशाद्भङ्गः । तेनैव वक्तुमुचितमिति । तथा
सति प्रथमोत्थापिताकाङ्क्षापूरणं भवतीति भावः । ननु ‘प्रत्यवोचत’ इति पाठे कथि-
तपदत्वदोषप्रसङ्ग इत्यत आह—एवं च सतीति । एवं सतीत्यर्थः । तस्य
कथितपदत्वस्य । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभावे तु कथितपदत्वं गुण एव । तदुक्तम्—‘प्र-
क्रमस्यान्यथाभावे स एव तु महान्गुण’ इति । स एव कथितपदत्वदोष एव ॥
उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभावश्च त्रिविधः । एकविधेयार्थमुद्दिष्टस्य विधेयान्तरे प्रतिनिर्देश-
इत्येकः । यथा—उदेतीति । अनोदयश्चलीनताम्रत्वविधावुद्दिष्टस्य सवितुरस्तम-
यवालीनताम्रत्वविधावुद्देश्यतया प्रतिनिर्देशः । एवोद्देशेन विहितस्योद्देशान्तरे
विधेयतया प्रतिनिर्देश इत्यपरः । यथा—एवमुक्त इति । अत्र मन्त्रिमुख्योद्देशेन

१. उद्देश्येति । उद्देश्यः प्राक्प्रत्यापित एव प्रतिनिर्देश्यः पुनः प्रत्याप्यो ध्वज तस्मात्
व्यतिरिक्तो विषयो यस्य तथा । पूर्वापरयोरेकरूपत्वप्रतिपत्तये यत्र प्राङ्निर्दिष्टस्याधेयस्य
तेन शब्देन तेन च रूपेण पुनर्निर्देश्यावश्यकत्वं तदतिरिक्तस्यले कथितपदत्वदोषः । ईह
त्वभेदोपन्यासं पुनश्चिह्नकर्त्तव्यता । अयमेवार्थः ‘उदेति सविता—’ इति दृष्टान्तभूतो-
दाहरणेन विशदीकृतः । यदुत्तरार्थं तु ‘सप्तो च विषो च महतामेकरूपता ॥’ इति ॥

२. पदान्तरेणेति । ‘एक एवास्तमेति च’ इत्याकारेण ॥

यथा वा—

‘ते हिमालयमाम्रं पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।

सिद्धं चासौ निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः समुचयुः ॥’

अत्र ‘असौ’ इतीदमा प्रकान्तस्य तेनैव तत्समानाभ्यामेतददःशब्दाभ्यां वा परामर्शो युक्तो न तच्छब्देन । यथा वा—

‘उदन्वच्छिन्ना भूः स च पतिरपां योजनशतम् ।’

अत्र ‘मिता भूः पत्यापां स च पतिरपां’ इति युक्तः पाठः ।

एवम्—

‘यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा ।’

निरस्तुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्मुपैति सिद्धिः ॥’

विहितस्य वचनस्य रावणोद्देशेन विधेयतया प्रतिनिर्देशः । प्रतिवचनेऽपि वचनत्वसत्त्वादेकत्वम् । एतदेव दर्शयति—इह हीति । एकोद्देशेन विहितस्य विधेयान्तरे उद्देश्यतया प्रतिनिर्देश-इति तृतीयः । यथा—‘मिता-भूः पत्यापां स च पतिरपां योजनशतम्’ इति । अत्र पृथिव्युद्देशेन विहितस्वार्थं पत्युर्योजनशतविधाभ्युद्देश्यतया प्रतिनिर्देशः । छण्डीदासास्तु—‘उद्देश्योऽनूयः स एव प्रतिनिर्देश्यः प्रतीतिमान्यर्थपरिहारार्थं पुनरभिधेयो यत्र स तथोक्तः’ इत्याहुः । वेपामयमाशयः—उद्देश्यपदं प्राङ्निर्विद्योद्देश्यविधेयान्यतरपरम्, प्रतिनिर्देश्यपदं च चरमनिर्विद्योद्देश्यविधेयान्यतरपरम् । तथा सति सर्वं समञ्जसम् । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभावे एकशब्दस्य पुनः प्रयोगे दोषाभावमुदाहरणदर्शनेन प्रमाणयति—उदेतीति । अत्र ताम्रपर्यायरक्तशब्ददाने भ्रमप्रकृत्यं प्रदर्श्य तस्य दूषकताभीजं प्रदर्शयति—अत्र हीति । अन्योऽर्थ इवेति । ‘न सोऽस्ति प्रलयो लोके यत्र शब्दो न भासते’ इति नियमात्तात्परकशब्दरूपविशेषणमेवादन्यार्थवद्भासमानत्वम् । तथा सति ‘सपत्नी च विपत्नी च महताभेकरूपता’ इत्युत्तरार्थस्य शब्दबोधविलम्बनमिति भावः ॥ सर्वनामपदस्य प्रकृत्यं दर्शयति—ते हिमालयमाम्रं न्येति । यद्यपि सर्वनाम्ना प्रतिनिर्देशे दोषो नास्तीति सिद्धम्, तथाप्यनुभववज्जेनासर्वनामनिर्दिष्टस्य सर्वनाम्ना प्रतिनिर्देशे तद्विषयम्, सर्वनामनिर्दिष्टस्य नेति बोध्यम् । इदमा इदंशब्देन । तेनैव इदमेव । समानाभ्यां समानार्थाभ्याम् । एतदादिशब्दत्रयस्य समानार्थकत्वं सुप्रसिद्धमिति शब्दमेवेऽपि, न तु तद्वृत्तान्तकदा इति भावः । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभावस्य तृतीयं प्रकारं दर्शयति—उदन्वदिति । उदन्वच्छिन्ना समुद्रपरिच्छिन्ना ॥ मनुष्यसंख्यां सामान्यमनुजेषु गण-

1. उदन्वदिति । ‘—सदा पान्नः पूषा गगनपरिमाणं गणयति । इति प्रायो भावाः स्फुरदवधि मुद्रामुकुलिताः सर्वा प्रबोन्धेयः पुनरयमस्तीमा निबन्धते ॥’ इत्यवशिष्टम् ॥

१. एतदेव ‘न सोऽस्ति प्रलयो लोके यत्र शब्दो न भासते’ इत्यधिकं पुस्तकान्तरे सादि ३५

अत्र 'सुखमीहितुम्' इत्युचितम् । अत्राद्ययोः प्रकृतिविषयः प्रक्रमभेदः । तृतीये पर्यायविषयः, चतुर्थे प्रत्ययविषयः । एवमन्यत्रापि ।

प्रसिद्धित्यागो यथा—

'घोरो वारिसुचां स्वः ॥'

अत्र मेघानां गर्जितमेव प्रसिद्धम् ।

यदाहुः—

'मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु तु कूजितप्रभृति ।

स्वनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम् ॥' इत्यादि ।

अस्थानस्थपदता यथा—

'तीर्थे तवीये गजसेतुवन्धात्पतीपगामुचरतोऽस्य गङ्गाम् ।

अयलबालव्यजनीवमूर्धसा नमोलङ्घनलोलपक्षाः ॥'

नाम् । अतिवर्तितुमतिक्रमिषुम् । निरुत्सुकानामनुत्कण्ठितचित्तानाम् । अभियोगः उद्योगः । अत्रेच्छार्थकतुमुन्प्रत्ययेनोपक्रमस्य तत्समानार्थकतन्प्रत्ययेन भङ्गः । यशोऽधिगमनोद्देशेन विहिताया इच्छयाः सुखलोभोद्देशेनापि विधेयतया निर्देशः ॥ दर्शितोदाहरणानां विशेषमाह—अद्याद्ययोरिति । एषूदाहरणेषु आद्ययोः 'एवमुक्तः' इति 'ये हिमालयम्' इत्येतयोः । तृतीये 'उदन्वच्छिन्ना' इत्यादौ । चतुर्थे 'यशोऽधिगन्तुम्' इत्यादौ ॥ एवमन्यत्रेति । वारकोपसर्गादायपि प्रक्रमभङ्गो बोद्धव्य इत्यर्थः । तत्र वारकविषयो यथा—'गाहन्तां महिषा निपानसलिलं' इति महुत्ताडितं छायावदकदम्बकं मृगकुलं रोमन्धमन्यस्यतु । विश्रब्धः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्लवे विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याघन्धमस्रद्धतुः ॥' अत्र प्रत्ययोक्तकर्तृकारकोपक्रमस्य क्रियतामित्यत्र भङ्गः । कर्मकारकस्योक्तत्वात् । परे कर्तृकारकाणां प्रथमोपक्रमस्य वराहपतिभिरिति तृतीयाया भेदः । 'विश्रब्धा रचयन्तु शूद्रवर मुस्ताक्षति पल्लवे' इति युक्तः पाठः । उपसर्गविषयो यथा—'चपलचपलस्त्रेव नापलु विम्लो भवेत् । विपलु धीरता यस्य भाजनं स हि सपदः ॥' चपलचपलसु विपुचयुज्यम् । अत्रापस्त्रित्यत्र धातुपसर्गोपक्रमस्य विपस्त्रित्यत्र चेष्यादानाद्यत्र ॥ मेघानामिति । मेघानां शब्दे गर्जितमेव गर्जितादिशब्द एव, तत्परित्यागादद्यादिप्रकपन्वोधप्रतिरोधः ॥ प्रसिद्धमाह—मञ्जीरादिष्विति । आदिना रम्यादीनां ग्रहणम् । रणितप्रायमिति । प्रायशब्द आद्यर्थः । तेन शिञ्जितादीनां ग्रहणम् । मञ्जीरादिशब्देषु रणितादिशब्दः प्रयोष्यः । एवमप्येवम् । मेघादिष्वित्यादिना हस्त्यारिपरिमहः । प्रगुलमित्यनेन रणितारिमहणम् । एवं भ्रमरादिषु गुञ्जितादि, मण्डूमादिषु रसादि, हयेषु हेवि-

अत्र तदीयपदात्पूर्वं गङ्गामित्यस्य पाठो युक्तः । एवम्—

‘हिताज्ञ यः संश्रुते स किंप्रभुः ॥’

अत्र संश्रुत इत्यतः पूर्वं नञः स्थितिरुचिता ।

अत्र च पदमात्रस्यास्थाने निवेशेऽपि सर्वमेव वाक्यं विवक्षितार्थप्र-
त्यायने मन्थरमिति वाक्यदोषता । एवमन्यत्रापि । इह केऽप्याहुः—
‘पदशब्देन वाचकमेव प्रायो निगद्यते, न च नञो वाचकता, निर्विवादा-
त्स्वातन्त्र्येणार्थबोधनविरहात्’ इति । यथा—‘द्वयं गतम्—’ (४०७ पृ.)
इत्यादौ त्वमित्यनन्तरं चकारानुपादानादक्रमता तथात्रापीति ।

अस्थानस्थसमासता यथा—

‘अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि

स्थातुं वाञ्छति भान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।

प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्पत्यसौ तत्क्षणा-

स्फुल्लकैरवकोपनिःसरदलिश्रेणीकृपाणं शशी ॥’

अत्र कोपिन उक्तौ समासो न कृतः, कवेरुक्तौ कृतः ।

तावि, इत्तिषु ब्रूहितादि । एवमन्यदपि बोद्धव्यम् ॥ तदीये गङ्गासंयन्धिनि ॥
ननु पदमात्रस्यास्थानस्थितिः पददोष एव, कथमस्य वाक्यदोषत्वमत आह—अत्र
पदमात्रस्येति । सर्वा औदुम्बरी ताम्रप्रतिमा वेष्टयितव्येतिवत् सर्वपदमात्रावयव-
समुदायपरम् । मन्थरं विलम्बसहम् ॥ स्वातन्त्र्येण पदान्तरसमभिव्याहारविर-
हेण (तैद्वसगुण) विरहादिति । इतिशब्दो हेतौ । तैद्वसगुणव्यञ्जकस्य समा-
सस्य तद्वसाव्यञ्जकस्थानपातोऽस्थानस्थसमासत्वम् ॥ अद्यापीति । सध्याकाले
स्फुटत, कैरवकोरकाणि सरतामलीनां श्रेणीरूपं कृपाणं शशी कर्पति । कोपपद-
पात् कुप्यत्वस्य खड्गपिधानत्व व्यङ्ग्यम् । कीदृश । दूरे प्रसारितं करो रदिमरेव
करो हस्तो यस्य स । किमर्थं कृपाणकर्पणमित्यत्राह—अद्यापीति । ममोदय-
कालेऽपीत्यर्थः । अन्यदा त्विदमाधिस्य तिष्ठतु, ममोदये सत्यपि स्थातुं वाञ्छति,
तन्मां धिगिति क्रोधादिवालोहितः । कोपिन उत्प्रेक्षितकोपस्य शशिनो दीर्घस-
मासो हि रौद्ररसव्यञ्जकस्यद्वर्णेनस्थानं कुद्वस्योक्तिर्न तु कवेरुक्तिरिति भावः ॥ अत्र

१. हितादिति । ‘स किं सखा साधु न शशि योऽपि हिताज्ञ यः संश्रुते स किं-
प्रभुः । सदानुश्रुतेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमातेषु च सर्वसंपदः ॥’ इति छमस्तम् ॥

१. ‘वाचक एव प्रयोग’ य. २. ‘ताम्रप्रतिमा’ इति पुस्तकान्तरे नास्ति. ३. ‘तद्वसगुण’ इति पुस्तका-
न्तरे नास्ति. ४. ‘अत्र संश्रुत’ इति पुस्तकान्तरे पाठः

वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशः संकीर्णत्वम् । यथा—

‘चन्द्रं मुञ्च कुरङ्गाक्षि ! पश्य मानं नमोज्जने ॥’

अत्र नमोज्जने चन्द्रं पश्य मानं मुञ्चेति युक्तम् ।

‘क्लिष्टत्वमेकवाक्यविषयम्’ इत्यसाद्विज्ञम् ।

वाक्यान्तरे वाक्यान्तरानुप्रवेशो गर्भितता । यथा—

‘रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुना ।

वदामि सखि ! ते तत्त्वं कदाचिन्नोचिताः क्रुधः ॥’

अर्थदोषानाह—

अपुष्टदुष्क्रमग्राम्यन्याहताश्लीलकष्टताः ।

अनवीकृतनिर्हेतुप्रकाशितविरुद्धताः ॥ ९ ॥

संदिग्धपुनरुक्तत्वे ख्यातिविद्याविरुद्धते ।

साकाङ्क्षता सहचरभिन्नताऽस्थानयुक्तता ॥ १० ॥

अविशेषे विशेषधानियमे नियमस्तथा ।

तयोर्विपर्ययो विध्यनुवादायुक्तते तथा ॥ ११ ॥

निर्मुक्तपुनरुक्तत्वमर्थदोषाः प्रकीर्तिताः ।

तद्विपर्ययो विशेषेऽविशेषो नियमेऽनियमः । अत्रापुष्टत्वं मुख्यानु-
पकारित्वम् । यथा—

‘विलोक्य वितते व्योम्नि विधुं मुञ्च रूपं प्रिये ! ॥’

अत्र विततशब्दो मानत्यागं प्रति, न किंचिदुपकुरुते । अधिकपद-

नमोज्जने इति ॥ नन्यत्र व्यवहितान्वयत्वाद्विद्वत्त्वमेवेदमित्यत आह—क्लिष्टरच-
मिति । संकीर्णं तु वाक्यद्वयविषयमिति, अस्मात् संकीर्णात् तस्य नेद-
रुत्तरः । प्रणतिप्रवणे प्रणामप्रवणे सन्ते कदाचिन्नोचिताः क्रुधो नोचिताः ।
अधुना प्रणतिप्रवणे पुनः सुतरां नोचिता इति । तत्त्वं हि वं सारं वेदं वदामी-
त्यन्वयः । अनयोः प्रत्यासत्त्यभावेन शब्दबोधो न जायत इति शब्दबोधविपर्यय-
विरुद्धताभीजम् ॥ उद्देशक्रमप्रसातनर्थोपाभिरूपयति—अपुष्टेति । ख्यातिविरुद्धता,
विद्याविरुद्धता च । तयोरपिशेषविशेषानियमनियमयोः । विपर्ययो विशेषविशेषनि-
यमनियमौ । विध्ययुक्तता, अनुवादायुक्तता च मुख्यान्तरेति विशेषनाश्रीनां परंपर-
सिद्धार्थो उत्कर्षरूपमित्यर्थः ॥ विततशब्द इति । स्वार्थबोधशरीरेति शेषः । एतदु-
पलक्षणम् । व्योमवृत्तित्वमपि विशेषणनपुष्टम् । सरोरोपपत्त्येव प्रसिद्धस्य चन्द्रस्य
दर्शनमेव मानस्यमस्य मुख्यान्तरे उपपत्तिः, न तु तस्य व्योमवृत्तिः व्योमो वित-

त्वे पदार्थान्वयप्रतीतिः समकालमेव बाधप्रतिभासः, इह तु पश्चादिति विशेषः ।

दुष्कमता यथा—

‘देहि मे वाजिनं राजन् ! गजेन्द्रं वा मदालसम् ॥’

अत्र गजेन्द्रस्य प्रथमं याचनमुचितम् ।

‘स्वपिहि त्वं समीपे मे स्वपिम्येवाधुना प्रिये ॥’

अत्रार्थो ग्राम्यः ।

कस्यचित्प्रागुत्कर्षमपकर्षं वामिषाय पश्चात्तदन्यप्रतिपादनं व्याहृत-
त्वम् । यथा—

हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलादयः ।

वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका ॥’

तत्त्वं वा, नन्वेवं पदद्वयमत्राधिकमित्यधिकपदत्वमेवात्र दोषः किमुष्टत्वस्य दोष-
त्वस्वीकारेणेत्यतोऽस्य मेदं दर्शयति—अधिकेति । बाधप्रतिभासः मुख्यायोंप-
कारविरहप्रत्ययः ॥ दुष्कमतेति । ‘ग्राम्याच्च उच्यते पश्चात्पश्चाद्वाच्योऽयवा-
प्रतः । कविना शक्तिवैकल्याणोऽर्थस्तं दुष्कमं विदुः ॥’ इत्युक्तलक्षणा दुष्कमता ॥
अत्रेति । बहुमूल्यं वस्तु प्रथमं याच्यते तदप्राप्तिसमावनायामल्पमूल्यं वस्तु या-
च्यते इति याचनक्रमः । तदभावादन दुष्कमत्वम् । अनयोरेषस्यापुष्टत्वदुष्कम-
त्वप्रतिसंधानेन रसादिप्रतीतिविलम्बनमेव दूषकत्वानीजम् । एवमप्येऽपि यथावयं
ज्ञेयम् ॥ ग्राम्यत्वमुदाहरति—स्वपिहीति । ‘स ग्राम्यः स्वरिरसायां पानरैर्यत्र
कथ्यते । वैदग्ध्यवकिमलयं हित्वं वनितादिषु ॥’ उच्यते संमन्थः । इत्युक्तलक्षणा
ग्राम्यता ॥ कस्यचिदिति । प्रतिपादितोत्कर्षेणैवप्रतिपादनं प्रतिपादिताप-
कर्षेणैवोत्कर्षप्रतिपादनं व्याहृतत्वम् । तत्र प्रथमं यथा—‘कान्ते ! तव मुखाम्भोर्ध्वं शु-
तरं हृदयंगमम् । जितानि येन पश्चानि वसन्ति सखिले सदा ॥’ अत्र मुखे पश्चात्वारो-
पणेनोत्कर्षकथनम् । पश्चान्मुखेन परामवादपकर्षकथनम् । द्वितीयमाह—हरन्तीति ।
अनेन्दुकलायाः प्रागपकर्षाभिधानं पश्चात्प्राग्विषया उत्कर्षार्थं चन्द्रकल्यक्रियारूप-

१. देहीति । ‘भूपालराज ! निर्देन्यप्रधानप्रथिवोत्सव ! । विश्रापव तुराह ने मातङ्गं वा
मदालसम् ॥’ इत्येवमुक्तम् ॥

२. स्वपिहीति । ‘स्वपिति यावदयं निकटे जवः स्वपिति तावदहं किमपैति ते । उदसि
संप्रतमाहर कूर्पं स्वपितमृगमुदजय कुञ्जितम् ॥’ इत्येवमिषीडनम् ॥

३. हरन्तीति । ‘जगति जगिन्से ते भावा नवेन्दुकलादयः प्रकृतिमधुराः सन्ते-
वान्ये मनो मदयन्ति ते । मम तु यदिय याता लोके निषेचनचन्द्रिका नयनविषयं
जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥’ इत्येवमिषीडनम् ॥

अत्र येषामिन्दुकला नानन्दहेतुस्तेषामेवानन्दाय तन्व्याश्चन्द्रिका-
त्वारोपः ।

‘हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैरपिणः ।

‘यथाशु जायते पातो न यथा पुनरुन्नतिः ॥’

अत्रार्थोऽश्लीलः ।

‘वर्षत्येतदहर्षतिर्न तु घनो धामस्यमच्छं पयः ।

सत्यं सा सवितुः सुता सुरसरित्पूरो यया श्रवितः ।

व्यासस्योक्तिषु विश्वसित्यपि न कः श्रद्धा न कस्य श्रुतौ

न प्रत्येति तथापि मुग्धहरिणी भास्वन्मरीचिष्वपः ॥’

अत्र यस्मात्सूर्यादृष्टेर्यमुनायाश्च प्रभवत्तस्मात्तयोर्जलमपि सूर्यप्रभ-

चन्द्रिकात्वमारोपितम् ॥ अश्लीलत्वमाह—‘हन्तुमेवेति । हन्तुं शत्रुं मारयितुम् ।
स्तब्धस्य अक्षक्षेपकुण्डलस्य विवेकरहितस्य वा । विवरैरपिणः परच्छिन्नाभित्तरपिणः ।
पातोऽभिभवः । उन्नतिर्जयः । अर्थान्तरं तु—‘हननं यातस्यायनादिप्रसिद्धं निर्घोषादि ।
स्तब्धस्यादबलित्वस्य । विवरं गोनिरिच्छितं तद्गामिनः । पातो रत्युत्तरं नम्रता । उ-
न्नतिः पुनरुत्थमः । अत्र प्रकरणाद्वोधविशेषे सत्यते । अदबलित्वरूपद्वितीयार्थस्त्वर्ष-
मशदेवेत्यर्थदोषत्वमस्य ॥ अश्लील इति । पुंस्त्वजकप्रकाशकवादिति शेषः । इदं
श्रीहान्यजकं, जुगुप्सामङ्गलव्यजकयोरुदाहरणमूलम् ॥ कष्टत्वमाह—‘वर्षत्येतदिति ।
आश्रयादिवर्षेऽपि विलम्बबोधित्वं कष्टत्वम् । विलम्बमीत्रं तु तात्पर्यमाहङ्ग-
भावः । अहर्षतिः सूर्यः । घनानां जलाधारत्वमाश्रयम्, न तु वृष्टिर्कृत्यत्वम् । धामस्य
चन्द्रमण्डलत्वम् । सुरसरिद्रा तस्याः पूरो जलप्रवाहः । श्रवितो पपित । उर्ध्व-
मर्थं प्रमाणयति—‘व्यासस्येति । व्यासस्योक्तिषु पुराणेषु । तथापि सर्वकिरणानां
जलप्रलयहेतुत्वस्योचितत्वेऽपि । मुग्धेति जलप्रलयाभावे, हेतुः । भास्वन्म-
रीचिषु सूर्यकिरणेषु । तथा च विष्णुपुराणम्—‘विविक्तानश्रुभिर्मातृपदायापो
रयात्मिकाः । वर्षत्येव तत्तत्तत्सां द्वाद्वाप्यसितं जगत् ॥ विनस्तनंशुभिस्त्र्यो-
रपाय जगतो जलम् । सोम पुष्यत्वधेन्नुक्ष वायुनाभीमयैर्दधि ॥ नारैर्विह्वितेऽ-
त्रेण भूमाम्पनिलमूर्तिषु । न अदयन्ति तत्ततोभ्यो जलान्यग्राभि तान्यतः ॥
अप्रस्था- प्रपतन्त्यापो वायुना समुदीरिताः ॥ सस्पर्शं फलप्रतिवे मेघमापाय
निर्मेगः ॥’ इति । ‘आश्रित्वाज्जायते वृष्टिर्देवैर्धं ततः प्रजा-’ इति धृतिरपि ।
‘सर्वस्य पशोः सप्तभूषणया विश्वकर्माः । मनुर्वयो वनी एव तदपत्नानि मे
मुने ।’ इति विष्णुपुराणम् । यमी यजुना ॥ कष्टरसुषणद्वय-‘मनेति । तयो-
र्गुणैश्चमुनयोः कष्टमेव सूर्यस्य वृष्टिमुत्तरेणुत्तमेव प्रतिपादये । तस्मादिता-

1. दपेति । ‘५४-न यावदेवमस्य कृष्णं पुनरुन्नतिः’ भागवत-भाष्ये पाठः ॥

वम् । ततश्च सूर्यमरीचीनां जलप्रत्ययहेतुत्वमुचितम् । तथापि मृगी
आन्तत्वात्तत्र जलप्रत्ययं न करोति । अयं प्रस्तुतोऽप्यर्थो दुर्बोधः,
दूरे चास्मत्प्रस्तुतार्थबोध इति कष्टार्थत्वम् ।

‘सदा चरति खे मानुः सदा वहति मारुतः ।

सदा धत्ते सुवं शेषः सदा धीरोऽविकल्पनः ॥’

अत्र सदेत्यनवीकृतत्वम् । अत्रास्य पदस्य पर्यायान्तरेणोपादानेऽपि
यदि नान्यद्विच्छिद्यन्तरं तदास्य दोषस्य सद्भाव इति कथितपदत्वाद्वेदः ।
नवीकृतत्वं यथा—

‘मानुः सकृद्युक्तुरङ्ग एव रात्रिर्दिवं गन्धवहः प्रयाति ।

विभर्ति शेषः सततं धरित्रीं पद्मांशवृत्तेरपि धर्म एवः ॥’ इति ।

‘गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि

प्रभावाद्यस्याभूत् खलु तव कश्चिन्न विषयः ।

परित्यक्तं तेन त्वमपि सुतशोकात्तु न भया-

द्विमोक्ष्ये शस्त्रं त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥’

अत्र द्वितीयशस्त्रमोचने हेतुर्नोक्त इति निर्हेतुत्वम् ।

अर्थस्तु तात्पर्यवशात्प्रतीयते । तस्य तात्पर्यस्य ग्राहकाभावाद्विलम्ब इति भावः ।
अस्मत्प्रस्तुतार्थबोधः । मद्रिधाना प्रस्तुतार्थबोधः । ‘तस्मात्’ इति पाठे व्यक्त
एवार्थः । मुरधनयिकाया नायकात्स्वाभीष्टलाभाप्रत्यय प्रस्तुतः । अत्र तात्पर्यप्रति-
सधानविलम्बेन शब्दबोधविलम्बेन दूषकतावीजम् ॥ अनवीकृतत्वमाह—सदेति ।
बहुश प्रतिपादनीयार्थस्य भङ्गीपराङ्मतिं विना एकैव भङ्ग्या प्रतिपाद्यत्वं तत्त्वम् ॥
अविकल्पनोऽनात्मज्ञाधारः । अत्रैकशब्देन बहुश प्रतिपादनीयोऽर्थः पुरतन्व
ज्ञासमानो रसादेरपकपेकः ॥ ननु कथितपदत्वादस्य को भेद इत्यत आह—अत्रा-
स्येति । अस्यानवीकृतार्थबोधकस्य । उपादानेऽपीत्यपिना तच्छब्दोपादाने च । अ-
न्यत् पूर्वपदविभक्तिसमासादिप्रतिपादितमिदं विच्छिद्यन्तरे विभक्तिसमासादिप्रति-
पादितार्थविशेषः । अस्य अनवीकृतत्वस्य । तथा चोक्तविच्छित्तिविशेषसद्भाव एव
कथितपदत्वदोषः ॥ नवीकृतत्वग्रहं विना अनवीकृतत्वप्रतीतिर्न जायते इति नवी-
कृतत्वमाह—नवीकृतत्वमिति । मङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादने नूतनवद्भासमानमि-
त्यर्थः । पद्मांशवृत्ते राज्ञः । एष सदा युक्तुरङ्गत्वादिरूपः ॥ निर्हेतुत्वमुदाहरति-
गृहीतमिति । हेत्वाकाङ्क्षासत्त्वे तदनभिधानं तत्त्वम् । कर्णं प्रति क्रोधात्त्यज्य-
मानमज्ञं सुबुध्य अधस्तात्तु उक्तिरियम् । हे राज्ञः, येन मम दूषदरूपसमुपरिभव-
भयान्नोचितमपि ब्राह्मणजात्यनुचितमपि त्वं गृहीतमासी । यस्य मम पितुः

‘कुमारस्ते नराधीश ! श्रियं समधिगच्छतु ॥’

अत्र ‘त्वं म्रियस्व’ इति विरुद्धार्थप्रकाशनात्प्रकाशितविरुद्धत्वम् ।

‘अचला अवला वा स्युः सेव्या ब्रूत मनीषिणः ? ॥’

अत्र प्रकरणाभावाच्छान्तशृङ्गारिणोः को वक्तैति निश्चयाभावात्सं-
दिग्धत्वम् ।

‘सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।

वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सपदः ॥’

अत्र द्वितीयार्थं व्यतिरेकेण द्वितीयपादस्यैवार्थं इति पुनरुक्तता ।

प्रसिद्धिविरुद्धता यथा—

‘ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरिः ॥’

अत्र हरेः शूल लोकेऽप्रसिद्धम् । यथा वा—

‘पादाघातादशोकस्ते संजाताङ्कुरकण्टकः ॥’

प्रभावात्प विषय कश्चित् न्यभूत्, अपि तु सर्व एव । तेन मम पिना द्रुतशोका-
न्मृतत्वेन सिध्याश्रुतस्य मम शोकात् त्व परित्यक्तमसि, भयास्तु न । अहमपि त्वा
विमोक्ष्ये स्वस्यामि । यतो मोक्षणाद्भवते स्वस्तीत्यर्थः । अत्र हेतोरप्रसिद्धत्वेनाशङ्क्य ॥
प्रकाशितविरुद्धत्वमाह—कुमार इति । प्रकाशित परिलोचनया व्यजित विरुद्ध प्रकृत
तविरुद्ध येन तत्त्वम् । गच्छति । रातो मङ्गल प्रकृत मरण तु तद्विरुद्धम् । अनार्येन
विरुद्धार्थव्यजनमनुचितार्थत्वे पदेनेति ततो मेव ॥ उद्दिग्धत्वमुदाहरति—अचला
इति । वक्त्रभिप्रेतव्यक्रियाधस्य तत्तात्पर्यविषयत्वस्य देहात्सदेहविषयत्व तत्त्वम् । मनी-
षिण इति स्वोपधनम् । अचलसेवायां वक्त्ररभिमतत्वे शान्त । अवलासेवायास्तु
शृङ्गारो व्यग्रव । अनयोरेकतरस्मिन्तात्पर्यनिधयभावात्सतिशयप्रतिबन्ध ।
शान्तशृङ्गारिणोरिति निर्धारणे पक्षी सप्तमी वा ॥ पुनरुक्तत्वमुदाहरति—सह-
सेति । पद कारणम् । वृणुते प्राप्नुवन्ति । विमृश्यकारिण विचार्यकर्तारम् ।
द्वितीयार्थं द्वितीयार्थार्थं, व्यतिरेकेण वैपरीत्येन । यथा—अधर्मो दुःखसाधनमि-
त्युक्ते धर्मस्य सुखसाधनत्वमुपलभ्यते तथानापीति भावः ॥ स्वयतिविरुद्धतामुदा-
हरति—प्रसिद्धीति । लोककविसप्रदायवैपरीत्य तत्त्वम् ॥ शितेति । शोणिते

1. अचलेति । ‘भास्वर्यमुत्सार्य विचार्य कायमार्थो समर्वादमुदाहरन्तु । सेव्या
नितम्बा किमु भूषणानामुत सरसेरविजायिनीनाम् ॥’ इत्येतदुपजीव्यम् ॥

अत्र पादाघातादशोकेषु पुण्यमेव जायत इति प्रसिद्धं न त्वङ्कुर इति कविसमयस्यातिविरुद्धता ।

‘अधरे करजक्षतं मृगाक्ष्याः ॥’

अत्र शृङ्गार (काम) शास्त्रविरुद्धत्वाद्विद्याविरुद्धता । एवमन्य-
शास्त्रविरुद्धत्वमपि ।

‘देशस्य धनुषो भङ्गं क्षत्रस्य च समुन्नतिम् ।

क्षीरलं च कथं नाम मृष्यते भार्गवोऽधुना ॥’

अत्र क्षीरतमुपेक्षितुमित्याकाङ्क्षता ।

‘सज्जनो दुर्गतौ ममः कामिनी गलितस्त्रनी ।

खलः पूज्यः समज्यायां तापाय मम चेतसः ॥’

अत्र सज्जनः कामिनी च शोभनौ तत्सहचरः खलोऽशोभन इति
सहचरभिन्नत्वम् ।

त्यर्थः ॥ ते कामिन्याः । अङ्कुर एव, कण्टको रोमोद्गमः ॥ कविसमयः कविस-
प्रदायसिद्धान्तः ॥ विद्याविरुद्धतामाह—अधरे इति । करजक्षतं नखघातः ॥
साकाङ्क्षतामाह—देशस्येति । शिवसवन्धि न इत्यर्थः । मृष्यते न द्रष्टि ॥ अत्रेति ।
द्वेययोग्य एवमुक्तिरुपपद्यते, क्षीरलं च न द्वेययोग्यम्, इत्यतस्तदुपेक्षायां द्वेययो-
ग्यतायामाकाङ्क्षेत आह—उपेक्षितुमितीति । ननु न्यूनपदत्वादस्य को विशेष
इति चेत्तत्र शब्दाभ्याहारः, इह त्वयोभ्याहार इति विशेषः । वस्तुतस्तु—अनेन्य-
वित्वभ्रमेण प्रयुक्तस्य पदार्थस्यानुपपत्तिपदार्थसाकाङ्क्षत्वं तत्त्वम् । न्यूनपदे तु नेदशो
भ्रमः ॥ सहचरभिन्नतामाह—सज्जन इति । उत्कृष्टे सह निकृष्टस्य निकृष्टेः सह
उत्कृष्टस्य चैकान्वयित्वेन निर्देशस्त्वम् । तत्रायं यथा—सज्जन इति । सम-
ज्याया सनायाम् ॥ द्वितीयं यथा—‘दुष्टसङ्गेन दौःशील्यं व्यसनेन तथा विपत् ।
अपथ्यचर्यया व्याभिर्विद्याभ्यासेन वर्धते ॥’ तत्र दौःशील्यविपद्याधयो हेयत्वा-
निकृष्टाः । विद्योपादेयत्वादुत्कृष्ट ॥ अस्वान्युक्ततामाह—आशेति । अनुपयु-
क्तस्थाने समापितवाक्यार्थत्वमस्थानयुक्तता । तच्च द्विविधम्—वाक्यार्थस्याधिको-
पयोगे समापनम्, समापनोपयोगे चाधिक्यम् । तदुक्तम्—‘युक्ताधिक्ये विसर्गः
स्यादाधिक्यं च समापने । अर्थे प्रकल्पिते यत्र सोऽस्थाने स्यात्तमुज्झितः ॥’
इति । तत्रायं यथा—‘मातुलो मापनो यस्य पितृ यस्य धनंजयः । स शेते यमरे
धीमानभिमन्युर्महाबलः ॥’ अत्र ‘नियतिः केन बाध्यते’ इत्यधिकं वक्तुं योग्यम् ॥

“आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं

भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लब्धेति दिव्या पुरी ।

उत्पत्तिर्दुहिणान्वये च तदहो नेद्वारो लभ्यते

स्याच्चेदेष न रावणः क नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥”

अत्र न रावण इत्येतावतैव समाप्यम् ।

‘हीरकाणां निघेरस्य सिन्धोः किं वर्णयामहे ॥’

अत्र रत्नानां निघेरित्यविशेष एव वाच्यः ।

‘आवर्त एव नामिह नेत्रे नीलसरोरुहे ।

भङ्गाश्च बलप्लेतेन त्वं लवण्याम्बुवापिका ॥’

अत्रावर्त एवेति नियमो न वाच्यः ।

द्वितीयमुदाहरति—आप्तेति । रावणपुरोहितेन रावणार्थं सीताप्रार्थने कृते जन-
कपुरोहितस्य घातानन्दस्य रावणस्य प्रशंसापूर्वकमुपेक्षावीजप्रदर्शनमिदम् । पञ्चसु
वाक्येषु यस्येति बोध्यम् । प्रणयिनी सहपरी । शक्रेण क्षिरोमणिरिव रावणाज्ञा
धार्यत इत्यन्वयः । एतेनास्य वीरत्वं सूचितम् । तच्च वीरानाम[न]भिमतम् ।
शास्त्राण्येव भवमधिकं चक्षुः । शास्त्रदृष्ट्या कर्मकरणात् । एतेन धीमत्त्वं सूचितम् ।
‘युवा धीमाञ्जनप्रियः’ इत्यनेन वरगुणत्वेनास्योक्तत्वात् । भूतानामीश्वरे पिनाकिनि
शिवे । एतेन संपदैश्वर्यप्रजाभोगित्वं सूचितम् । संपदावीनां शिवसेवाफलप्रधानोक्त-
त्वात् । तेन जनवत्त्वमपि वरगुणो लभ्यते । ‘माता वरयते विसं पिता वरयते
कुलम् । कन्या वरयते रूपं मिष्टान्नमितरे जनाः ॥’ इति । मिष्टान्नं जनप्रियम् ।
पदं स्थानम् । दुहिणस्य द्रव्याणोऽन्वये कुले । एतेन सत्पुलजातत्वं वरगुणाः
सूचितः ॥ उपेक्षावीजमाह—स्याच्चेदेवेति । रावयति पीडनेन लोकान् आतु-
रान् करोतीति रावणः । ‘एष यदि दुर्दृष्टत्वेन ख्यातनामा न स्यात्तदेद्वारो न
लभ्यत इति । एतेन जनप्रियत्वस्य वरगुणस्य वैकल्यं दर्शितम् । वरगुणवत्त्वं
कुत्रापि नास्तीति आह—कन्विति । कुत्र जगति सर्वत्र पुरुषे सर्वे वरगुणाः
सन्ति । न कुत्रापील्यर्थः । अत्र पुंसां प्रातिस्निकरूपेण सर्वगुणाभाववत्त्वं याव-
त्त्वेन तु सर्वगुणसद्भाव एव । यद्यपि सर्वेषु पुरुषेषु मध्ये कुत्र पुरुषे सर्वे वरगुणाः ।
न कुत्रापील्यर्थः । एतच्च न रावणोपेक्षावीजमित्येतत्पर्यन्तमस्थानं तत्र वाक्यार्थ-
समापनमयुक्तमित्याह—अत्रेति । सामान्येन वक्तव्ये विशेषाभिधानमविशेषे
विशेषस्तमुदाहरति—हीरकाणामिति । अनियमेन वक्तव्ये नियमाभिधानमनि-
यमे नियमः । तमुदाहरति—आवर्त एवेति । भङ्गास्वरत्नाः । बलवति-

‘यान्ति नीलनिचोलिन्यो रजनीज्वभिसारिकाः ॥’

अत्र तमिस्रास्त्विति रजनीविशेषो वाच्यः ।

‘आपातसुरसे भोगे निमग्नाः किं न कुर्वते ॥’

अत्र आपातमेवेति नियमो वाच्यः ।

ननु वाच्यस्यानभिधाने ‘व्यतिक्रमलवं—’ (४०७ पृ.) इत्यादावपे-
रभावः, इह चैवकारस्वेति कोऽनयोर्भेदः । अत्राह—‘नियमस्य वचन-
मेव पृथग्भूतं नियमपरिवृत्तेर्विषयः’ इति । तन्न । तथा सत्यपि द्वयोः
शब्दार्थदोषताया नियामकाभावात् । तत्का गतिरिति चेत्, ‘व्यति-
क्रमलवम्’ इत्यादौ शब्दोच्चारणान्तरमेव दोषप्रतिभासः । इह त्वर्थ-
प्रत्ययान्तरमिति भेदः । एवं च शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यां ‘पूर्व-
राहतोऽपि शब्दार्थदोषविभाग एवं पर्यवस्यति—यो दोषः शब्दपरिवृ-
त्त्यसहः स शब्ददोष एव । यश्च पदार्थान्वयप्रतीतिपूर्वबोध्यः सोऽपि
शब्ददोषः । यश्चार्थप्रतीत्यनन्तरं बोध्यः सोऽर्थाश्रय इति । एवं
चानियमपरिवृत्तित्वादेरप्यधिकपदत्वादेर्भेदो बोद्धव्यः । अमतपरार्थत्वे
तु ‘राममन्मथशरेण—’ इत्यादौ (१५३ पृ.) नियमेन वाक्यव्यापित्वा-
भिप्रायाद्वाक्यदोषता । अश्लीलत्वादौ तु न नियमेन वाक्यव्यापित्वम् ।

वक्ष्य ॥ विशेषवक्तव्ये सामान्येनाभिधान विशेषेऽविशेष । तमुदाहरति—यान्तीति ।
नीलनिचोलिन्यो नीलप्रच्छदपटारूता । तस्मिन्नासु तमोयुक्तरात्रिषु ।
ज्योत्स्नीज्वभिसारिकाणां शुक्लपटावरणमेवोचितम् ॥ नियमो निर्धारणं तेन वक्तव्ये
अनियमेनाभिधानं नियमानियमः । तमुदाहरति—आपातेति । भोगे विषयो-
पभोगे निमग्ना एकान्तमासक्ता ॥ वाच्यानभिधानादियमपरिवृत्तेर्भेदं निरूपयितु-
माह—नन्विति । पृथग्भूत विशेषः । एवं च नियमस्योत्तरकपदानभिधानं निय-
मपरिवृत्तिसिद्धादितरस्योत्तरकपदानभिधानं तु वाच्यानभिधानस्य विषय इति भेदः ॥
गतिः सिद्धान्तः । निरुक्तभेदे प्राचीनस्वरसमप्याह—एव चेति । पर्यवस्यतीति ।
परिवृत्तिं पर्यायशब्दान्तरदानं स्वार्थबोधेन निरुत्तिथेति भावः ॥ नन्वेवममतप-
रायत्वादौ पदार्थबोधान्तरमेव दोषप्रतिभासादथदोषत्वमेव, कथं वाक्यदोषत्वमत-
आह—अमतेति । नियमेन वाक्यव्यापित्वात् वाक्यान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् ॥
अश्लीलत्वादौ त्विति । ‘हन्तुम्’ इत्यादावर्थाश्रितत्वे हनधात्वादेः पारि-
भाषिकनिर्णयादिवोधकत्वं नियमतो नोपपद्यते परं तु समभिप्रायादवशात्तात्पर्यपर्या-
लोचनत्वात् तदर्थकत्वकल्पनेनेति भावः ॥ विधेयतापर्याययोग्ये तात्पर्यारोपणं विध्यनु-

‘आनन्दितस्वपक्षोऽसौ परपक्षान्दनिष्यति ॥’

अत्र परपक्षं हत्वा स्वपक्षमानन्दयिष्यतीति विधेयम् ।

‘चण्डीशचूडाभरण ! चन्द्र ! लोकतमोपह ! ।

विरहिप्राणहरण ! कदर्थय न मां वृथा ॥’

अत्र विरहिण उक्तौ तृतीयपादस्यार्थो नानुवाचः ।

‘लभं रागावृताङ्गमा सुदृढमिह यथैवासियद्वारिकण्ठे

मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।

‘तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गुणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता

भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिति गतेवाम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥’

अत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन समापितमपि वचनं तेनेत्यादि पुनरुपाचम् ।

अथ रसदोषानाह—

‘रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि ॥ १२ ॥

परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः ।

आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः ॥ १३ ॥

अकाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः ।

अङ्गिनोऽननुसंधानमनङ्गस्य च कीर्तनम् ॥ १४ ॥

कृता । तामुदाहरति—आनन्दितेति । अत्रेति । परपक्षहननस्वपक्षानन्दनयो-
र्द्वयोरपि विधेयत्वेऽपि परपक्षहननानन्तरमेव स्वपक्षानन्दनविधायेव विधेयतात्पर्या-
तिरुचिता, परपक्षहननविधौ तत्करणदोषः ॥ नन्वन विधेयाविमर्श एव दोष इति
चेत् ‘आनन्दयति पक्षं स्वं परपक्षं हनिष्यति’ इति पाठपरिवर्तनेनास्योदाहरणं
वेदितव्यम् ॥ अनुवायविशेषणस्य विधिविरोधित्वमनुवादायुक्तता । तामुदाहरति—
‘चण्डीशेति । नानुवाच. अनुवायविशेषणत्वेन नोपादेयः विरहिणा स्वकदर्थ-
नस्य वृथात्वे विधीयमाने विरहिप्राणहरस्य अनुवायचन्द्रविशेषणस्य तद्विधिविरोध-
त्वादिति भावः ॥ आकाङ्क्षितस्य स्वरकस्य क्रियान्वयेन समाप्तावपि पुनस्तत्परा-
कोपादान निर्मुक्तपुनरुक्तत्वम् । समाप्तपुनरुक्तत्वं तु विशेष्यानुपपन्न एव इत्य-
नयोर्भेदः । उदाहरति—‘लभमिति । रागेण रक्तेन जातुर्तं लिप्तमङ्गं यस्यास्तया,
अथ च रागेण सुरतेच्छया जातुर्तं स्वन्धं शरीरं यस्यास्तया । मातङ्गानां हस्ति-
नाम्, अथ च कामशस्त्रोक्तपुरुषविशेषणानाम् । परपुरुषे शत्रुभिः, स्वामिभिर्भेदः ।
तत्सक्तस्वादयासिलतासक्तः । अत्रेति । गणयतीति पर्यन्तस्य कर्मसारस्य
निश्चितक्रियान्वयेन समाप्तावपि तेनास्योदादे पुनरुपादानादिति भावः ॥ स्थायि-
संचारिणोरिति । स्वशब्देनोक्तिरित्यनुपकेनान्वेति । अकाण्डे अकाण्डे । प्रथना-

अतिविस्तृतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्ययः ।

अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः ।

रसस्य स्वशब्दो रसशब्दः शृङ्गारादिशब्दश्च । क्रमेण यथा—

‘तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत ॥’

‘चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे गगनमन्तरम् ॥’

स्या विभावस्य स्वशब्दवाच्यं यथा—

‘अजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे ॥’

व्यभिचारिणः स्वशब्दवाच्यत्वं यथा—

‘जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने ॥’

अत्र प्रथमे पादे ‘आसीन्मुकुलिताक्षी सा’ इति लज्जाया अनुभाव-
मुखेन कथने युक्तः पाठः ।

‘मानं मा कुरु तन्वज्जि ! ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम् ॥’

अत्र यौवनास्थैर्यनिवेदनं शृङ्गाररसस्य परिपन्थिनः शान्तरसस्याङ्गं
शान्तस्यैव च विभाव इति शृङ्गारे तत्परिग्रहो न युक्तः ।

‘धवल्यति शिशिररोचिषि भुवनतलं लोकलोचनानन्दे ।

ईपत्क्षिप्तकटाक्षा स्मेरमुखी सा निरीक्ष्यतां तन्वी ॥’

अत्र रसस्योद्दीपनालम्बनविभावानुभावपर्यवसायिनौ स्थिताविति
कष्टकरपणा ।

द्वित्रयं रसस्यैव । प्रकृतीनां नायकोचितधर्माणां विपर्ययोऽन्यथावर्णनम् । इद-
मेकमनौचित्यम् । अन्यत्प्रकृतिविपर्ययमिदम् ॥ कोऽप्यनिर्वचनीयस्वभावः ॥
व्यभिचारिणः स्थातव्येणोपादाने एव स्वशब्दवाच्यत्वं दोषः, रसव्यञ्जनार्थमुपादाने
तु न दोषः । यथा लज्जानम्रमुखीति, भ्रमविवृतमुखे च । स्वशब्दवाच्यत्वं
रसादिप्रकर्षबोधप्रतिबन्धकम् ॥ विरोधिरसाङ्गपरिग्रहमुदाहरति—मानमिति ।
शान्तस्यैव चेति । चशब्दो हेतौ । विभाव उद्दीपनविभावः । तत्परिग्रहो
यौवनस्थैर्यनिवेदनवर्णनम् ॥ अनुभावस्य कटाक्षेपमाह—धवल्यतीति । शिशि-
ररोचिषि चन्द्रे यातिप्रयत्नेनाप्यभग्नमाना सेत्यर्थः । अत्रेति । आलम्बनं

१. तामिति । ‘तामनश्चयमङ्गलधियं विचिदुच्चभुजमूललोकितान् । नेत्रयोः कृ-
न्तोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः ॥’ इति प्रकाशोदाहरणस्य चूर्णम् ॥

२. चन्द्रेति । ‘आलोक्य कोमलरूपोलतलामिषिचन्द्यक्तानुरागमुभयामभिराममूर्तिम् ।
पश्येव वाच्यमतिवृत्त्य विवर्तमानः शृङ्गारसीमनि तरङ्गिवगात्रनोति ॥’ इति प्रकाशोदा-
हरणोपजीव्यम् ॥

‘आनन्दितस्वपक्षोऽसौ परपक्षान्दनिष्यति ॥’

अत्र परपक्षं हत्वा स्वपक्षमानन्दयिष्यतीति विधेयम् ।

‘चण्डीशचूडामरण ! चन्द्र ! लोकत्रमोपह ! ।

विरहिप्राणहरण ! कदर्थय न मां वृथा ॥’

अत्र विरहिण उक्तौ तृतीयपादस्यार्थो नानुवाद्यः ।

‘लभं रागावृताङ्गत्वां सुदृढमिह ययैवासियष्टारिकण्ठे

मातृज्ञानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।

तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्वृणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता

भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्भदितुमिति गतेवाम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥’

अत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन समापितमपि वचनं तेनेत्यादि पुनरु-
पात्तम् ।

अथ रसदोषानाह—

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि ॥ १२ ॥

परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः ।

आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः ॥ १३ ॥

अकाण्डे प्रथमच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः ।

अङ्गिनोऽननुसंधानमनङ्गस्य च कीर्तनम् ॥ १४ ॥

कृता । तामुदाहरति—आनन्दितेति । अत्रेति । परपक्षहननस्वपक्षानन्दनयो-
र्द्वयोरपि विधेयत्वेऽपि परपक्षहननानन्तरमेव स्वपक्षानन्दनविधावेव विधेयतात्पर्या-
तिरुक्ता, परपक्षहननविधौ तत्करणादोपः ॥ नन्वत्र विधेयाविमर्श एव दोष इति
चेत् ‘आनन्दयति पक्षं स्वं परपक्षं इतिष्यति’ इति पाठपरिवर्तनेनास्योदाहरणं
वेदितव्यम् ॥ अनुवाद्यविशेषणस्य विधिविरोधिरप्यनुवादायुक्ता । तामुदाहरति—
चण्डीशेति । नानुवाद्यः अनुवाद्यविशेषणत्वेन नोपादेयः विरहिणा स्वकदर्थ-
नस्य दृष्टात्वे विधीयमाने विरहिप्राणहरस्य अनुवाद्यचन्द्रविशेषणस्य तद्विधिविरोध-
त्वादिति भावः ॥ आकाङ्क्षितस्य कारकस्य क्रियान्वयेन समाप्तावपि पुनस्त्वत्कार-
कोपादानं निर्मुक्तपुनरुक्तत्वम् । समाप्तपुनरुक्तत्वं तु विशेष्यानुपपन्न एव इत्य-
नयोर्भेदः । उदाहरति—लघ्नमिति । रागेण रक्तेन आवृतं लिप्तमङ्गं यस्यास्तया,
अथ च रागेण सुरतेच्छया आवृतं स्तब्धं शरीरं यस्यास्तया । मातृज्ञानां हस्ति-
नाम्, अथ च कामशास्त्रोक्तपुरुषविशेषाणाम् । परपुरुषैः वाञ्छुभिः, स्वामिभिश्चैव ।
तत्सक्त्यादृशासिक्ततासक्तः । अत्रेति । गणयतीति पर्यन्तस्य कर्मकारकस्य
विदितक्रियान्वयेन समाप्तावपि तेनास्मीत्यादेः पुनरुपादानादिति भावः ॥ स्थायि-
संचारिणोरिति । स्वशब्देनोक्तिरित्यनुपकेनान्वेति । अकाण्डे अकाण्डे । प्रथना-

अतिविस्तृतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्ययः ।

अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः ।

रसस्य स्वशब्दो रसशब्दः शृङ्गारादिशब्दश्च । क्रमेण यथा—

‘तोमुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत ॥’

‘चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमन्तरम् ॥’

स्याभिभावस्य स्वशब्दवाच्यं यथा—

‘अजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे ॥’

व्यभिचारिणः स्वशब्दवाच्यत्वं यथा—

‘जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने ॥’

अत्र प्रथमे पादे ‘आसीन्मुकुलिताक्षी सा’ इति लज्जाया अनुभाव-
मुखेन कथने युक्तः पाठः ।

‘मानं मा कुरु तन्वङ्गि ! ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम् ॥’

अत्र यौवनास्यैर्यनिवेदनं शृङ्गाररसस्य परिपन्थिनः शान्तरसस्याङ्गं
शान्तस्यैव च विभाव इति शृङ्गारे तत्परिग्रहो न युक्तः ।

‘धवल्यति शिशिररोचिषि भुवनतलं लोकलोचनानन्दे ।

ईपक्षिस्तकटाक्षा स्मेरमुखी सा निरीक्ष्यतां तन्वी ॥’

अत्र रसस्योद्दीपनालम्बनविभावावनुभावपर्यवसायिनौ स्थिताविति
कष्टकरपणा ।

विप्रयं रसस्यैव । प्रकृतीनां नायकोचितधर्माणां विपर्ययोऽन्यथावर्णनम् । इद-
मेकमनौचित्यम् । अन्यत्प्रकृतिविपर्ययमिदम् ॥ कोऽप्यनिर्वचनीयस्वभावः ॥
व्यभिचारिणः स्वातन्त्र्येणोपादान एव स्वशब्दवाच्यत्वं दोषः, रसव्यञ्जनार्थमुपादाने
न न दोषः । यथा लज्जानममुखीति, भ्रमविरुद्धमुखे च । स्वशब्दवाच्यत्वं
रसादिप्रकर्षयोधप्रतिबन्धकम् ॥ विरोधिरसाद्वर्तिग्रहमुदाहरति—मानमिति ।
शान्तस्यैव चेति । चशब्दो हेतौ । विभाव उद्दीपनविभावः । तत्परिग्रहो
यौवनस्यैर्यनिवेदनवर्णनम् ॥ अनुभावस्य कष्टक्षेपमाह—धवल्यतीति । शिशि-
रोचिषि चन्द्रे यातिप्रयत्नेनाप्यभ्रममाना सेल्लर्थः । अत्रेति । आलम्बनं

१. तामिति । ‘प्रागनङ्गव्ययमङ्गलमिव किञ्चिदुच्चमुबभूवलोकिताम् । नेपथ्योः कुरु-
वतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः ॥’ इति प्रकाशोदाहरणस्य चूर्णम् ॥

२. चन्द्रेति । ‘आलोक्य नोमलकपोलतथ्यमिषिचञ्चकाधुरागशुभवासमिरासमूर्तिम् ।
पद्मेव वाच्यमतिष्ठत्य विवर्तमानः शृङ्गारसीमनि तरङ्गितमावतनोति ॥’ इति प्रकाशोदा-
हरणोपजीव्यम् ॥

‘परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलिततरां परिवर्तते च भूयः ।

इति वत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥’

अत्र रतिपरिहारादीनां करुणादावपि संभवात्कामिनीरूपो विभाव कृच्छ्रादाक्षेप्यः ।

अकाण्डे प्रथमं यथा—वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्के प्रवर्तमानानेकवी संक्षये काले दुर्योधनस्य भानुमत्या सह शृङ्गारप्रथनम् । छेदो यथ वीरचरिते राघवमार्गवयोर्धाराधिरूढेऽन्योन्यसंरम्भे कङ्कणमोचना गच्छामीति राघवसोक्तिः ।

पुनः पुनर्दीप्तिर्यथा—कुमारसंभवे रतिविलापे ।

अङ्गिनोऽननुसंधानं यथा—रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के धात्रव्यागमं सागरिकाया विस्मृतिः ।

नायिका । उद्दीपनविभावाद्यन्त्रकटाक्षनोक्षमन्दहासाः । एषां बहुत्वेऽप्युद्दीपनवि भावस्थेनैकत्वमिति । द्विवचनोपपत्तिः । अनुभावपर्यवसायिनौ प्रणिधानेना नुभावस्य नायकचक्षुःप्रसारणस्य बोधकौ । नायकस्य शृङ्गारित्वनिश्चायकाभावाद् व्यनुभावस्य नायिकायां चक्षुःप्रसारणस्य कटकल्पनया आक्षेपः । नायकस्याश्रु श्रित्ये दर्शनाभावस्यापि संभवाद् तादृशसमये तादृशनायिकायां मुनेरपि प्राये मनःक्षोभो भवतीत्येतस्मिन्कमेव चक्षुःप्रसारणमिति कटकल्पना ॥ विभावस्य कट कल्पनमाह—परिहरतीति । अप्रायमिति कर्तृपदमूढम् । रतिं पक्ष्यन्तरा भिलपम् । स्खलिततरां भूयो नृशं पठति । परिवर्तते पार्थपरिभृति कपोति । विषमा दुष्प्रतीकारः । दशा अवस्था ॥ कृच्छ्रादाक्षेप्य इति प्रकरणादिप्रतिसंधानमेवात्र कृच्छ्रम् ॥ प्रवर्तमानः स्वपुत्रादिरूपानेद्वीराणा संक्षयो यत्र तस्मिन् ॥ धाराधिरूढे आरब्धे ॥ रतिविलाप इति ‘विललाप विदीर्णमूर्धजा’ इत्युपक्रम्य धारावाहिकरूपरस्ये प्रवर्तिते पुनर्मोहो गमने ‘तमवेक्ष्य हरोद सा नृशं वानसंधाधमुणे जपान सा’ इत्यादिना तदुद्दीपनं कृतम् ॥ अङ्गिनः प्रधानस्य ॥ धात्रव्यागमन इति । सागरिकायाः पितृमृदाया

१. उद्दीपनमोचनावेति । उद्दीपनोचन विनाहरजमदिनोरसवः । अकाण्डे तथाकथ भावनिर्गमप्रत्यापदरवाद् सममद्रस्यावीरारवर्षवसार्थमिति ।

२. धात्रव्यागमन इति । धात्रव्यागमने विनयवर्षे इष्टाकमेनादिवननसा राधा साग रिकाया नामवाचस्त्वप्यमरुत्तादिरुचिः । तेन नाटिकाप्रतिपाद्यः शृङ्गारस्यो विविधप्रकारि रति दोषः ॥

अनङ्गस्य कीर्तनं यथा—कर्पूरमञ्जर्या राजनायिकयोः स्वयं कृतं
सन्तस्य वर्णनमनादृत्य वन्दिवर्णितस्य प्रशंसनम् ।

अङ्गस्यातिविस्तृतिर्यथा—किराते सुराङ्गनाचिलासादिः ।
प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्चेति । तेषां धीरोदात्ता-
देता । तेषामप्युत्तमाधममध्यमत्वम् । तेषु च यो यथाभूतस्तस्यायथा-
र्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः । यथा—धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतव-
च्छब्दना बालिवधः । यथा वा—कुमारसंभवे उत्तमदेवतयोः पार्वती-
रमेश्वरयोः संभोगशृङ्गारवर्णनम् । 'इदं पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्य-
तमनुचितम्' इत्याहुः ।

अन्यदनौचित्यं देशकालादीनामन्यथा यद्वर्णनम् । तथा सति हि
काव्यस्यासत्यताप्रतिभासेन विनेयानामुन्मुखीकारासंभवः ।

ततः कञ्चुकी बाधव्यः ॥ अनङ्गस्य रसानुपकारकस्य ॥ अङ्गस्याप्रधानस्य ॥ प्रकृ-
तेविपर्ययमुदाहरुं प्रकृतीराह—प्रकृतय इति । नायका इत्यर्थः । दिव्या देवा-
पुरयक्षगन्धर्वैराक्षसादयः । अदिव्यास्तदितरे मानुषादयः । दिव्यादिव्याः प्रागे-
वोक्ताः (२७३) । तेषां दिव्यादिनायकानां धीरोदात्तादिता । उत्तममध्यमाध-
मत्वमपि प्रकृतिरित्यर्थः । दिव्यादीनामनुचितवर्णनं प्रकृतिविपर्ययस्तज्ज्ञापनाय तेषा-
मुचितं वर्णनीयं वर्णयामि । यथा—'रतिस्तथैव हासश्च शोक आश्चर्यमेव च ।
दिव्यानामुचितं वर्ण्यमदिव्योत्तममेतद्वत् ॥ किं तु संभोगशृङ्गारो वर्ण्यो नोत्तमदे-
वयोः । सद्यः फलप्रदः क्रोधो भुक्कुट्यादिविवर्जितः ॥ उत्साहः स्वर्गपातालगत्य-
न्धिलङ्घनादिषु । दिव्यानामेव नेतृणा वर्ण्यते ह्युचितं युधेः ॥ ख्यातं लोकपुरा-
णादौ यच्चान्यस्यादबाधितम् । वर्णनीयमदिव्यानामन्येषा तूभयं युधेः ॥ पूज्यादौ
॥ तत्रभवन्भगवन्निति चोच्यते । भङ्गरकेति राजादौ परमेशेति चोच्यते ॥ इत्या-
द्युचितमेतेषा विरुद्धं दूषणं भवेत् ॥' अन्येषा दिव्यादिव्यानामुभयं दिव्यसाधर्म्य-
मदिव्यसाधर्म्यं चोचितमित्यर्थः । यथा—अर्जुनस्य स्व.पातालादिलङ्घनोत्साहः
भुक्कुट्यादिरहितः क्रोधश्च ॥ देशकालादीनामिति । देशोऽद्विवनराष्ट्रादिः,
कालो रात्रिदिनतैव, तदनौचित्यम् । क्रमेण यथा—'कर्पूरपादपामर्शा सुरभिमे-

१. प्रशंसनमिति । 'जह किञ्च णिवेदिदं वन्दीही' इत्यादिनां विदूषकोक्तिपर्यन्तेन
संदर्भेण वन्दिवर्णितस्य वसन्तस्य वर्णनं प्रकृतरसानुपयोगित्वादनुचितम् ॥

२. संभोगेति । रसगङ्गाधरेऽप्युक्तम्—'जयदेवादिभिस्तु गीतगोविन्दादिप्रबन्धेषु
सकलसद्दयसंमतोऽयं समयो मदनोन्मत्तमवज्ञैरिव भिन्न इति न सन्निरुद्धेनेनेदानीतनेन
तथा वर्णयितुं साप्रतम् ।' इति ॥

एभ्य उक्तदोषेभ्यः । तथाहि—उपमायामसादृश्यासंभवयोरुपमा-
स्य जातिप्रमाणगतन्यूनत्वाधिकत्वयोरर्थान्तरन्यासे उत्प्रेक्षितार्थसमर्थने
वानुचितार्थत्वम् । क्रमेण यथा—

‘अध्यामि काव्यशशिने विततार्थरश्मिम् ॥’

रावः ॥ अन्तर्भावप्रकारमाह—तथा हीति । उपमायामसादृश्यासंभवयोरनु-
चेतार्थत्वं पर्यवस्यतीत्युपाहृतेनान्वयः । एवमप्येऽपि । साधारणधर्माप्रसिद्धिर-
सादृश्यम् । उपमानाप्रसिद्धिरसंभवः ॥ अध्यामीति । आनुपूर्व्या निवे-
द्यामीत्यर्थः ॥ काव्यं शशीवेद्युपमाने समासः । एवमप्येऽपि । न चात्र रूपकसं-
भवोऽपीति वाच्यम् । तस्यापि सादृश्यमूलकत्वेन तत्रापि तद्व्युपतादवस्थ्यात् । अत्र
काव्यशशिनेरर्थरश्म्योश्च कथितसाधारणो धर्मो न प्रसिद्धः । काव्यशशिनेराङ्गाद-
कृतवर्णैकधर्मसंभवेऽप्यर्थरश्म्योर्न तादृशधर्मः संभवतीत्यवधेयम् ॥ उपमानासंभव-

मक्रमत्वम्=‘समय एव’ (१६) अमत्परार्थत्वम्=‘राममन्मथ’ (१७) अन-
भिहितवाच्यत्वम्=‘व्यक्तिक्रम’ (१८) भयप्रक्रमत्वम्=‘पद्ममुक्ते’ (१९)
प्रसिद्धित्यागतत्वम्=‘घोरो’ (२०) अस्थानस्वपदत्वम्=‘वीर्ये’ (२१) अस्था-
नस्यसमासत्वम्=‘अघाति’ (२२) संकीर्णत्वम्=‘खण्डं शुभ्र’ (२३) गति-
त्वम्=‘रमणे’ ॥

एते प्रतिकूलवर्णैस्त्वादयस्त्रयोविंशतिर्दोषा वाच्यमात्रगता इति ॥

(१) अपुष्टत्वम्=‘खिलोवय’ (२) दुष्क्रमत्वम्=‘देहि’ (३) प्राप्त्य-
त्वम्=‘स्वमिहि’ (४) व्याहृतत्वम्=‘हरन्ति’ (५) अश्लीलत्वम्=‘हन्तुमेव’
(६) कष्टत्वम्=‘वर्षत्येत’ (७) अनवीकृतत्वम्=‘सदा धरति’ (८) निर्हे-
नुत्वम्=‘गृहीत’ (९) प्रकाशितविरुद्धत्वम्=‘कुमारस्ते’ (१०) संक्षिप्तत्वम्=
‘अचला’ (११) पुनरुक्तत्वम्=‘सहसा’ (१२) प्रसिद्धिविरुद्धत्वम्=‘तत्-
श्चचार’ (१३) विद्याविरुद्धत्वम्=‘अधरे’ (१४) साक्षात्त्वम्=‘देशस्य’
(१५) सहचरभित्तत्वम्=‘सञ्जनो’ (१६) अस्थानशुक्लत्वम्=‘भाषा’ (१७)
अविशेषविशेषत्वम्=‘हीरकाणां’ (१८) अनियमनियमत्वम्=‘आवर्त एव’ (१९)
विशेषाविशेषत्वम्=‘यान्ति’ (२०) नियमानियमत्वम्=‘आपात’ (२१) विध्य-
शुक्लत्वम्=‘आनन्दित’ (२२) अनुवादाशुक्लत्वम्=‘चण्डीश’ (२३) निर्मु-
क्तपुनरुक्तत्वम्=‘लभं’ ॥

एतेऽपुष्टत्वादयस्त्रयोविंशतिरर्थदोषाः ॥

(१) रसशब्दोक्तिः । (२) स्वाविशब्दोक्तिः । (३) व्यभिचारिशब्दोक्तिः ।
(४) प्रतिकूलविभावादिग्रहः । (५) अनुभावकष्टाक्षेपः । (६) विभावकष्टा-
क्षेपः । (७) अकाण्डप्रथनम् । (८) अकाण्डच्छेदः । (९) पुनःपुनर्दातिः ।
(१०) अद्वयननुसृष्टानम् । (११) अनङ्गाभिधानम् । (१२) अङ्गाति-
विरुद्धिः । (१३) प्रकृतिविपर्ययः (१४) अर्थान्वयित्वम् ।

एते चतुर्दश रसदोषाः ॥

‘प्रज्वलज्वलधारावन्निपतन्ति शराखव ॥’

‘चण्डाल इव राजासौ संग्रामेऽधिकसाहसः ॥’

‘कर्पूरखण्ड इव राजति चन्द्रबिम्बम् ॥’

‘हरवन्नीलकण्ठोऽयं विराजति शिखावलः ॥’

‘स्तनावद्रिसमानौ ते ॥’

‘दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।

क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसामतीव ॥’

एवमादिपूर्वेष्वेक्षितार्थस्यासंभूततयैव प्रतिभासनं स्वरूपमित्यनुचितमेव तत्समर्थनम् । यमकस्य पादत्रयगतस्याप्रयुक्तत्वं दोषः । यथा—

‘सहसामिजनैः क्षिग्धैः सह सा कुञ्जमन्दिरम् ।

उदिते रजनीनाथे सहसा याति सुन्दरी ॥’

उत्प्रेक्षायां यथाशब्दस्योत्प्रेक्षाद्योतकत्वेऽवाचकत्वम् । यथा—

‘एष मूर्तो यथा धर्मः क्षितिपो रक्षति क्षितिम् ।’

एवमनुप्रासे वृत्तिविरुद्धस्य प्रतिकूलवर्णित्वम् । यथा—

‘ओषट्ठ उल्लङ्घि-’ इत्यादौ । (३९८ पृ.)

मुदाहरति—प्रज्वलदिति । तत्र बह्विकर्मणो ज्वलनस्य जले पाथात्तद्विशिष्टनां तासां सर्वभवं ॥ उपमानस्य जातिन्यूनत्वमुदाहरति—चण्डाल इवेति । अप्र चण्डालपदमुपमेयस्यातिनीचत्वं व्यञ्जयतीत्यनुचितार्थत्वम् ॥ उपमानस्य प्रमाण-
न्यूनत्वमुदाहरति—कर्पूरेति । अनूपमेयस्य चन्द्रबिम्बस्यातिक्षुद्रत्वव्यञ्जकं कर्पू-
रखण्डत्वम् ॥ उपमानस्य जातिधिकत्वमुदाहरति—हरवदिति । शिखावलो-
मयूरः ॥ उपमानस्य प्रमाणाधिकत्वमुदाहरति—स्तनावदिति । अत्र स्तनयो-
रुत्तिमद्वयव्यञ्जनमदिपदमनुचितार्थम् ॥ उत्प्रेक्षितार्थसमर्थनमुदाहरति—दिवाक-
रादिति । उत्प्रेक्षितार्थस्याचेतनान्धकारनासंज्ञासंभूततया संभावनाविषये
पशुन्यवृत्तितया प्रतिभासनं स्वरूपमारोपणमात्रमनुचितमेवेति समर्थनं न
मिथ्येत्युपपादनं तच्चासद्रूपे वस्तुनि न सम्भवतीति भावः ॥ पादत्रयगतस्य पाद-
त्रयमात्रश्रुतित्वस्य अप्रयुक्तत्वं नाम दोषः । स्वरूपमिति पूर्वणान्वयः ॥ सहसा
अविचारेण । सह सार्थम् । सा प्रविष्टा । सहसा द्युत्युक्ता ॥ वृत्तिविरु-
द्धत्वस्य प्रकृतरसविरोधिरसानुप्राणवर्णयदितत्वस्य ॥ ओषट्ठ इति । अप्र

उपमायां च साधारणधर्मस्याधिकन्यूनत्वयोरधिकपदत्वं न्यूनपदत्वं च । क्रमेणोदाहरणम्—

‘नयनज्योतिषा भाति शंभुर्भूतिसितद्युतिः ।

विद्युतेव शरन्मेघो नीलवारिदखण्डधृक् ॥’

अत्र भगवतो नीलकण्ठत्वस्याप्रतिपादनाच्चतुर्थपादोऽधिकः ।

‘कमलालिङ्गितस्वारहारहारी सुरं द्विपन् ।

विद्युद्विभूषितो नीलजीमूत इव राजते ॥’

अत्रोपमानस्य सचलाकत्वं वाच्यम् ॥

अस्यामेवोपमानोपमेययोर्लिङ्गवचनभेदस्य कालपुरुषविध्यादिभेदस्य च भग्नप्रक्रमत्वम् । क्रमेणोदाहरणम्—

‘सुधेव विमलश्चन्द्रः ॥’

, ‘ज्योत्स्ना इव सिता कीर्तिः ॥’

‘काप्यभिरुष्या तयोरासीद्भजतोः शुद्धवेषयोः ।

हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्रोचन्द्रमसोरिव ॥’

अत्र तथामूतचित्राचन्द्रमसोः शोभा न खल्वासीत् । अपि तु सर्वदापि भवति ।

‘लतेव राजसे तन्वि । ॥’

अत्र लता राजते, त्वं तु राजसे ।

‘चिरं-जीवतु ते सुनुमार्कण्डेयमुनिर्यथा ॥’

अत्र मार्कण्डेयमुनिर्जीवत्येव न खल्वेतदस्य जीवत्वित्यनेन विधेयम् ।

भङ्गारविरोधिवीरायनुगुणटकारचटितत्वभनुप्रासस्य ॥ भगवतः शम्भो । अप्रतिपादनात् अप्रतियोगात् । सत्प्रयोगे तु तदुपयोगसम्भावनाधिकत्वम् ॥ तारहारहारी शुद्धहारहारी । सुरं द्विपन् श्रीकृष्ण ॥ वाच्यं चक्षु योग्यम् । तदकथनान्यूनपदत्वमित्यर्थः ॥ अस्यामेव उपमायामेव ॥ सुधेव विमल इति । अत्र पुलिङ्गस्य विमलमुधायामन्वयासम्भावनालिङ्गव्यत्ययेनान्वयः । एवं च प्रकान्तलिङ्गभग्न ॥ वचनभेदमाह—ज्योत्स्ना इवेति । अत्र वचनव्यत्ययेन प्रकान्तवचनभग्न । कालभेदमुदाहरति—कापीति । अभिरुष्या शोभा । तयोः शुद्धक्षिणादिलीपयो । अत्रोपमानेऽतीतकालस्य बाधाद्वर्तमानोद्देनान्वय इति प्रकान्तसलभग्न ॥ पुरुषनेदमुदाहरति—लतेवेति । अत्रोपमाने मध्यमपुरुषान्वयस्य बाधात्प्रथमपुरुषोद्देनान्वयमुपपादयति—लता राजते इति । अत्र प्रकान्तपुरुषभग्न ॥ विधिनेदमाह—चिरमिति । पतजीवनम् । अस्य मार्कण्डेयस्य । विधेयं विधिविषयः

‘प्रज्वलज्जलधारावलिपतन्ति शरास्तव ॥’

‘चण्डाल इव राजासौ संग्रामेऽधिकसाहसः ॥’

‘कर्पूरखण्ड इव राजति चन्द्रबिम्बम् ॥’

‘हरवज्रीलकण्ठोऽयं विराजति शिखावलः ॥’

‘स्तनोर्वदिसमानौ ते ॥’

‘दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।

क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने भगत्वमुच्चैःशिरसामतीव ॥’

एवमादिप्रेक्षितार्थस्यासंभूततयैव प्रतिभासनं स्वरूपमित्यनुचितमेव तत्समर्थनम् । यमकस्य पादत्रयगतस्याप्रयुक्तत्वं दोषः । यथा—

‘सहसाभिजनैः स्निग्धैः सह सा कुञ्जमन्दिरम् ।

उदिते रजनीनाये सहसा याति सुन्दरी ॥’

उत्प्रेक्षया यथाशब्दस्योत्प्रेक्षाद्योतकत्वेऽर्वाचकत्वम् । यथा—

‘एष मूर्तो यथा धर्मः क्षितिपो रक्षति क्षितिम् ।’

एवमनुप्रासे वृत्तिविरुद्धस्य प्रतिकूलवर्णनत्वम् । यथा—

‘ओवट्टइ उल्लट्टइ—’ इत्यादौ । (३९८ पृ.)

मुदाहरति—प्रज्वलदिति । तत्र बह्विकर्मणो ज्वलनस्य जले बाधातद्विशिष्टानां तापामर्शभयः ॥ उपमानस्य जातिन्यूनत्वमुदाहरति—चण्डाल इवेति । अत्र चण्डालपदमुपमेयस्यातिनीचत्वं व्यञ्जयतीत्यनुचितार्थत्वम् ॥ उपमानस्य प्रमाण-
न्यूनत्वमुदाहरति—कर्पूरेति । अनूपमेयस्य चन्द्रविम्बरस्यातिक्षुद्रत्वव्यञ्जकं कर्पू-
रखण्डपदम् ॥ उपमानस्य जालधिक्यत्वमुदाहरति—हरवदिति । शिखावलो-
मयूरः ॥ उपमानस्य प्रमाणाधिक्यत्वमुदाहरति—स्तनाविति । अत्र स्तनयो-
रतिमदृश्यव्यग्रवमदिपदमनुचितार्थम् ॥ उत्प्रेक्षितार्थसमर्थनमुदाहरति—दिवाक-
रादिति । उत्प्रेक्षितार्थस्याचेतनान्धकारप्रातर्थासंभूततया सभावनाविषये
वदुन्यवृत्तितया प्रतिभासनं स्वरूपमारोपणमात्रमनुचितमेवेति समर्थनं न
मिथ्येत्युपपादनं तथावद्वृत्ते वस्तुनि न सम्भवीति भावः ॥ पादत्रयगतस्य पाद-
त्रयमाप्रतिारस्य अप्रयुक्तत्वं नाम दोषः । स्वरूपमिति पूर्वेष्वन्यथः ॥ सहसा
अभिचारेण । सह कार्भम् । सा प्रतिष्ठा । सहसा हास्युपा ॥ वृत्तिवि-
रुद्धत्वस्य प्रकृतारविरोधिराद्यानुशुण्णवर्णपठित्वस्य ॥ ओवट्टइ इति । अत्र

एवं समासोक्तौ साधारणविशेषणवशात्परार्थस्य प्रतीतावपि पुन-
स्तस्य शब्देनोपादानस्याप्रस्तुतप्रशंसायां व्यञ्जनयैव प्रस्तुतार्थावगतेः
शब्देन तदभिधानस्य च पुनरुक्तत्वम् । क्रमेणोदाहरणम्—

‘अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्द्रवतं वपुः सुखमतापकरम् ।

निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका ॥’

अत्रापरदिगित्येतावतैव तस्या गणिकात्वं प्रतीयते ।

‘आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान्पुरो वार्यते

मध्ये वा धुरि वा वसंस्तृणमणिर्धते मणीनां धुरम् ।

खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां

धिवसामान्यमचेतसं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥’

अत्राचेतसः प्रभोरभिधानमनुचितम् ।

वचनमिदम् । हे अरुणचरणे, तव परिसरणं सर्वतो गमनं पुंसां रणरणकं
कामचिन्तामकारणं कुरुते । ‘चिन्ता रणरणं च तत्’ इति कोषः । कीदृशम् ।
अनपु अनल्पं यथा स्यात्तथा रणन्ती मणिमेखल्य यत्र । अथिरलं पनं क्षिप्रानं
शब्दायमानं मञ्जु मञ्जीरं यत्र तादृशम् । लघुरेफनकारादिषट्तितानुप्रासस्य मा-
धुर्यातिशयव्यञ्जनेन शृङ्गारदेवोपकारित्वम्, अत्र पुनः पर्यवसितार्थस्य वेद्याविरा-
गस्य न किञ्चिदुपकारित्वमित्युपार्थत्वम् ॥ परार्थस्य रूपकस्य उपमानस्य वा ॥
अनुरागवन्तमपीति । अनुगो रक्षिमा, प्रेम च । निरकासयद्गीपान्तरं
प्रापयामास, अथ च दूरीचकार । अपेतवसुं निष्किरणम्, निर्धनं च । अप-
रदिक् पश्चिमदिक् ॥ अत्रेति । यथा रविमित्येतावतैव तस्य भुजङ्गत्वं प्रतीयते
तथैवेति भावः ॥ आहूतेष्विति । अत्र यत्तदर्थयोराकाङ्क्षया स्थभः । तमचेतस
सदसद्विवेचनारूपचेतनारहित सामान्यं जनं धिक् । अत्रामृष्टमनाकलितं तत्त्वा-
न्तरं वस्तूनां विशेषो येन तादृशं प्रभुमिवेति । सदसद्विवेचनरहितत्वं दर्शयति—
आहूतेष्विति । विहङ्गमशब्देनाहूतेषु हंसकोकिल्यादिषु अहमपि विहायोगमनादि-
हङ्गम इति मत्वा पुर आयात् आगच्छन् मशको येन न दर्पणे वस् धुरि यान-
मुखे मध्ये वा अर्थादुपस्थितस्य यानस्यैव मध्ये वा वसंस्तृणमणिस्तृणाकर्षको
मणिरल्पमणिर्यानशोभाजनकमहामणीनां धुरं साम्यं धत्ते । यानस्य पश्चाद्भागस्या-
वस्तृणमणेः स्थानं तद्विधे मध्यादौ तद्विव्यासात्तत्त्वामिनोऽविवेचकत्वमिति भावः । ‘धूः
स्त्री क्लीबे यानमुखम्’ इति कोषः । (कचित्) ‘मध्ये वा धुरि वा वसन्’ इति पाठो न
रमणीयः । अनन्वयात् । खद्योतोऽपीति पुर इत्यनुपज्यते । यस्य पुरः खद्योतोऽपि
तेजस्विनामपि मध्ये प्रचलितुं गन्तुं न कम्पते । न विमेतीत्यर्थः । अत्राप्रस्तुतेन
तादृशा सामान्येनैव विशेषस्याचेतनस्य प्रभोरभिव्यक्तिरिति तदभिधानमनुचितमित्य-

इह तु यत्र लिङ्गवचनभेदेऽपि न साधारणधर्मस्यान्यथाभावस्तत्र न दोषः । क्रमेणोदाहरणम्—

‘मुखं चन्द्र इवाभाति ॥’

‘तद्वेशोऽसद्वेशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरतामृतः ।

दधते स परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥’

पूर्वोदाहरणे उपमानोपमेययोरेकस्यैव साधारणधर्मेणान्वयसिद्धेः प्रक्रान्तस्यार्थस्य स्फुटोऽनिर्वाहः । एवमनुप्राप्ते वैफल्यस्यापुष्टार्थत्वम् । यथा—

‘अनुरणन्मणिमेतल्लभविरलशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम् ।

परितरणमरुणचरणे ! रणरणकमकारणं कुरुते ॥’

अत्रादिपदमाहाया अमीत्यंशंसनरूपाया आक्षिप एव भेदः, न ॥ प्रेक्षादिर्बोध संकल्पभेदोऽपेक्षाभ्युपायता । शब्दव्यापारभेदो वा कार्यभेदोऽथवा विधिः ॥ इत्युक्तपक्षविधस्य विधेरसंभवात् । विधिभेदस्योदाहरणमेवं बोध्यम् । ‘चमूरियं दूरविमुक्तभङ्गा गजैव मे बोधमनुप्रयातु । ययारिसब्बा विभटाः प्रक्रमं नश्यन्त्यधर्मा इव खेदशाब्धाः ॥’ अत्र गङ्गा प्रयाति, चमू प्रयातु, इति प्रक्रान्तविधिभङ्गः ॥ साधारणधर्मस्य निर्दिश्यमानसामान्यस्य । अन्यथाभाव उपमानान्वयानुपयोगित्वम् । न दोषो नोपमादोषः । भग्नप्रक्रमत्वस्य तु प्रसक्त्यभावेन तन्निषेधस्यात्र न संभवः ॥ मुखमिति । अत्राभातीति उपमानेनाप्यन्वेति ॥ वचननेदेनापि दोषाभावात्—तद्वेश इति । वेशः वेशः परां शोभां दधते स धारयति स । ‘वध धारणे’ आत्मनेपदी एकवचनान्तः । वेशः कीदृशः । अन्याभिः स्त्रीभिरसद्वेशोऽसाधारणः । मधुरतया सौन्दर्येण मृतः पूरितः । विभ्रमाः स्वरविलासाः अपि च परां शोभां दधते धारयन्ति । ‘कुधान् धारणपोषणयो’ मधुवचनान्तः । ये कीदृशाः । अन्याभिः स्त्रीभिरसद्वेशोऽसाधारणाः । अत्र क्लिबन्तः सद्वेशाब्दो असन्तः । तथा मधुरतां विभ्रतीति मधुरतानृतः । क्लिबन्तस्य जतिरूपम् । अत्रासद्वेश इत्यादिपदानां श्लेषेणोपमानान्वययोगित्वम् ॥ एतदुदाहरणानां पूर्वोदाहरणापेक्षया वैलक्षण्यं दर्शयितुं पूर्वोदाहरणेषु भग्नप्रक्रमत्वं दर्शयति—पूर्वेति । एकस्यैव उपमेयस्यैव ॥ साधारणधर्मेणान्वयसिद्धेरिति । योरयत्वादिति शेषः । प्रक्रान्तार्थस्य आकाङ्क्षितसाधारणधर्मस्य । अनिर्वाहः उपमानेनान्वयस्यानुपपत्तिः । अयोग्यत्वादिति शेषः । लिङ्गव्यत्यादिना योग्यसामानाधिकरण्योपपादने प्रथमोत्थापिताकाङ्क्षाविषयीकृतेन प्रकारेण पश्चादनुकिरिति भग्नप्रक्रमत्वमिति भावः । अनोभयान्वयाभिप्रायेण प्रयुक्तस्यैकतरान्वयसंभवेऽभ्यवन्ततयोग्यत्वम् इत्यपरे । अनुप्राप्तस्य वैफल्यं रसायुक्त्यर्थाभावात्कृतम् । तत्र मुख्यार्थानुपकारिवरूपापुष्टार्थत्वे पर्यवस्यति ॥ तदुदाहरति—अनप्यिति । वेश्याविरक्तस्य

एवं समासोक्तौ साधारणविशेषणवशात्परार्थस्य प्रतीतावपि पुनस्तस्य शब्देनोपादानस्याप्रस्तुतप्रशंसायां व्यञ्जनयैव प्रस्तुतार्थावगतेः शब्देन तदभिधानस्य च पुनरुक्तत्वम् । क्रमेणोदाहरणम्—

‘अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधत् वपुः सुखमतापकरम् ।

निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका ॥’

अत्रापरदिगित्येतावतैव तस्या गणिकात्वं प्रतीयते ।

‘आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान्पुरो वार्यते

मध्ये वा धुरि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां धुरम् ।

खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां

धिक्षामान्यमचेतसं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥’

अत्राचेतसः प्रभोरभिधानमनुचितम् ।

वचनमिवम् । हे अरुणचरणे, तव परितरणं सर्वतो गमनं पुंसां रणरणकं कामचिन्तामकारणं कुरुते । ‘चिन्ता रणरणं च तत्’ इति कोपः । कीदृशम् । अनशु अनल्पं यथा स्यात्तथा रणन्ती मणिमेखल्य यत्र । अविरलं घनं शिक्षानं शब्दायमानं मञ्जु मञ्जीरे यत्र तादृशम् । लघुरेफनकारदिघटितानुप्रासस्य माधुर्यातिशयव्यञ्जनेन शृङ्गारादेवोपकारित्वम्, अत्र पुनः पर्यवसितार्थस्य वेद्याविरागस्य न किञ्चिदुपकारित्वमित्युपश्रयत्वम् ॥ परार्थस्य रूपकस्य उपमानस्य वा ॥ अनुरागवन्तमपीति । अनुरागो रक्तिमा, प्रेम च । निरकासयद्गीपान्तरं प्रापयामास, अथ च दूरीचकार । अपेतवसुं निष्किरणम्, निर्धनं च । अपरदिक् पश्चिमदिक् ॥ अत्रेति । यथा रविमित्येतावतैव तस्य भुजङ्गत्वं प्रतीयते तथैवेति भावः ॥ आहूतेष्विति । अत्र यत्तदर्थयोरालाक्ष्या लभः । तमचेतस सदसद्विवेचनारूपचेतनारहित सामान्यं जनं धिक् । अनामृष्टमनाकलितं तत्त्वान्तरं वस्तुनां विशेषो येन तादृशं प्रभुमिवेति । सदसद्विवेचनरहितत्वं दर्शयति— आहूतेष्विति । विहङ्गमशब्देनाहूतेषु हंसकोकिल्यादिषु अहमपि विहायोगमनाद्विहङ्गम इति मत्वा पुर आयान् आगच्छन् मशको येन न वार्यते यस्य धुरि यानमुखे मध्ये वा अर्धादुपस्थितस्य यानस्यैव मध्ये वा वसंस्तृणमणिस्तृणाकर्षको मणिरल्पमणिर्यानशोभाजनकमहामणीनां धुर साम्यं धत्ते । यानस्य पथाद्भागस्तावत्तृणमणेः स्थानं तद्भिन्ने मध्यादौ तद्विन्यासात्तत्त्वामिनोऽविवेचकत्वमिति भावः । ‘धूः स्त्री क्लीबे यानमुखम्’ इति कोपः । (कचित्) ‘मध्ये वा धुरि वा वसन्’ इति पाठो न रमणीयः । अनन्यथा । खद्योतोऽपीति पुर इत्यनुपपद्यते । यस्य पुरः खद्योतोऽपि तेजस्विनामपि मध्ये प्रचलितुं गन्तुं न कम्पते । न विमेषीत्यर्थः । अत्राप्रस्तुतेन तादृशा सामान्येनैव विशेषस्याचेतनस्य प्रभोरभिव्यक्तिरिति तदभिधानमनुचितमित्य-

एवमनुप्राप्ते प्रसिद्धभावस्य स्यादतिरुद्धत्वम् । यथा—

‘चक्राधिष्ठितां चक्री गोत्रं गोत्रमिदुच्छ्रितम् ।

वृषं वृषभकेतुश्च प्रायच्छदस्य भूभुजः ॥’

उक्तदोषाणां च कचिददोषत्वं कचिद्गुणत्वमित्याह—

वक्तरि क्रोधसंयुक्ते तथा वाच्ये समुद्धते ।

रौद्रादौ तु रसेऽत्यन्तं दुःश्रवत्वं गुणो भवेत् ॥ १६ ॥

एष चास्वादस्वरूपविशेषात्मकतया मुख्यगुणप्रकर्षोपकारित्वात्
इति व्यपदेशो भोक्तः । क्रमेण यथा—

‘तद्विच्छेदकृशस्य कण्टलुठितप्राणस्य मे निर्दयं

क्रूरः पञ्चशरः शरैरतिशितैर्मिन्दन्मनो निर्भरम् ।

शंभोर्भूतकृपाविधेयमनसः प्रोद्दामनेत्रानल-

ज्वालाजालकरालितः पुनरसावास्तां समस्तात्मना ॥’

भिप्रायेणाह—अत्रेति ॥ एवमिति । प्रसिद्धभावस्य अनुप्राप्तिपदार्थयोर्विवक्षितेऽन्वये लोकतः स्मृततो ना प्रसिद्धिनिर्दयः ॥ चक्राधिष्ठितामिति । मण्डलाधिकारितमित्यर्थः । चक्री विष्णुः । गोत्रं वंशम् । गोत्रमिन्द्रः । उच्छ्रितम् उद्धतम् । वृषं पुण्यम् । वृषभकेतुः शिवः । प्रायच्छदस्य । अत्र कर्तृकर्मनियमेन स्तुतिरनुप्राप्तानुबोधेनैव प्रतिपादिता, न पुनः पुराणेतिहासादिषु तथा प्रतीतिरिति प्रसिद्धिनिर्दयः ॥ संप्रति दोषाणां नित्यत्वानित्यत्वप्रतिपत्त्यर्थमनित्यदोषाणाह—उक्तदोषाणामिति । कचिदिति । यत्र रसादीनामपकर्षकत्वं प्रकर्षकत्वं च नास्ति तत्रेत्यर्थः । यत्र तु रसादीनामपकर्षकत्वं नास्ति, प्रत्युत प्रकर्षकत्वमेव, तत्र गुणत्वम् ॥ तत्र दोषोद्देशक्रमेण यथासंभवं तान्दर्शयति,—‘वक्तरिति । क्रोधसंयुक्ते वक्तरि उद्धते प्रतिपाद्ये च सति दुःश्रवत्वं गुणः । रौद्रादिरसे पुनरत्यन्तं गुण इत्यर्थः । आदिशब्दाद् बीरवीभक्त्ययोगेहणम् ॥ ननु गुणानां रसाधर्मत्वं त्रिविधत्वं च वक्ष्यति, दुःश्रवत्वादीनां तदुभयाभावात्कथं गुणत्वमित्यत आह—एष चेति । दुःश्रवत्वादिष्वित्यर्थः । आस्वादानां रसानां स्वरूपविशेषात्मकाः साधर्म्यविशेषरूपा ये मुख्यगुणा माधुर्यादयः उत्कृष्टो यः प्रकर्षो रसाद्युत्कर्षस्त्वोपकारित्वात् अनुकूलत्वात् । व्यपदेशो गौणव्यवहारः ॥ तद्विच्छेदेति । भूतेषु जन्तुषु वा कृपा तदायत्तमनसा । करालितो दग्धः । असौ पञ्चशरः । समस्तात्मना शर्वशरीरेण पूर्वं भौतिकं शरीरं दग्धम्, इदानीं तस्य लिङ्गशरीरमपि दग्धतामिति भावः । अत्र क्रोधस्यास्वाद्यमानत्वेऽपि प्राकरणीकतया प्रधानत्वेन

अत्र शृङ्गारे कुपितो वक्ता ।

‘मूर्ध्व्याधूयमानध्वनदमरधुनीलोलकल्लोलजालो-

द्धूताम्भःक्षोददम्भात्मसभमभिनमःक्षिसनक्षत्रलक्षम् ।

ऊर्ध्वन्यस्ताङ्घ्रिदण्डभ्रमिभररभसोद्यन्नभस्तत्प्रेग-

गन्तव्रह्माण्डखण्डं प्रवितरतु शिवं शोभनं ताण्डवं वः ॥’

अत्रोद्धतताण्डवं वाच्यम् । इमे पद्ये मम ।

रौद्रादिरसत्वं एतद्वितयापेक्षयापि दुःश्रवत्वमत्यन्तं गुणः । यथा—

‘उत्कृत्योत्कृत्य कृतिम्—’ इत्यादि । (१९० पृ.)

अत्र वीभत्सो रसः ।

सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः ।

तथा पुनरिति गुण एव । यथा—

‘करिहस्तेन संवाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते ।

उपसर्पन्ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते ॥’

तिपेक्षायामानत्वाच्छृङ्गारत्वमेव, न तु रौद्रत्वम् । अत एवाह—अत्र शृङ्गार-
रतिः ॥ वाच्यस्योद्धतत्वे दुःश्रवत्वं गुणमुदाहरति—मूर्ध्वेति । मूर्ध्नि व्याधूयमाना
ध्वनन्ती शब्दायमाना या अमरधुनी गङ्गा तस्या लोलं चञ्चलं यत्
ल्लोलजालं महातरङ्गसमूहस्तस्मादुद्धूता उत्क्षिप्ता ये अम्भःक्षोदा जलविन्दवः तेषां
म्भाच्छलात् । अभिनभो नभसि क्षिप्तं नक्षत्रलक्षं तारासमूहो यत्र तत् । ऊर्ध्वं
यस्यो योऽङ्घ्रिदण्डस्तस्य भ्रमिभरेण भ्रमणातिशयेन यो रभसो वेगस्तस्मादुद्यन् जाय-
मानो यो नभस्तान् वायुस्तस्य प्रवेगेण आन्ते कुल्ललचक्रवत् भ्रमिमापन्नं ब्रह्म-
ण्डखण्डं यत्र तत् । अत्र ताण्डवस्य लोकसंहारकारित्वादुद्धतत्वम् ॥ एतद्वितया-
पेक्षया कुल्लवकृतसमुद्धतवाच्यापेक्षया । रौद्रे दुःश्रवत्वं यथा मम—‘क्षितोप्रक्ष-
पक्षे भवि सति सुतरां क्षत्रङ्गिन्मेन शोभोक्षापाचार्यस्य चण्डध्वनि धनुरधुना ध्वंसितं,
इति तितिक्षाम् । संघट्टोऽङ्घ्रिदण्डं कठिनमतितरां तस्य कण्ठे कुठारं प्रीडापीड-
यशेः परिभवसरित्वाय पारं प्रपद्ये ॥’ अत्र क्रोधस्यास्वायमानतया भार्गवस्य
क्रुः कुद्धतया च सुतरां दुःश्रवत्वस्य गुणत्वम् । सर्वथा आस्वादरहिते काव्याभाते
ऽथवत्वादीनां न दोषत्वम्, न वा गुणत्वम् । काव्यधर्माणां दोषगुणानां तत्राप्र-
शात् ॥ अश्लीलत्वस्य गुणत्वमाह—सुरतेति । सुरतस्यारम्भधेय्य यस्यास्ताद-
गोष्ठी आदिर्यस्य तत्र ॥ करिहस्तेनेति । साधनस्य सेनाया अन्तर्मध्ये प्रविश्यो-
पसर्पन् गच्छन् पुंसो ध्वजः केतुर्विराजते । कीदृशे । संवाधे नराधादिनेविद्येन
प्रवेशे । प्रवेशोपायमाह—करिहस्तेनेति । करिणां हस्तेन गुण्डया विलोडिते
स्फुरिते । अत्र पुलिङ्गस्य व्यञ्जनस्यापि प्रतीत्याश्लीलत्वम् । तथाहि—साधनस्य
गत्यान्तर्मध्ये प्रविश्य उपसर्पन् गतागतं कुर्वन् पुंसो ध्वजो मेहनं विराजते ।
य्ये । संवाधे संकुचिते तत्प्रवेशोपायमाह—करीति । करिहस्तेन कामशास्त्रोक्त-

अत्र हि सुरतारम्भगोष्ठ्याम् । 'ताम्बूलदानविधिना विसृजेद्वयस्यां
व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच रहस्यवस्तु' इति कामशास्त्रस्थितिः । आदिश-
ब्दाच्छमकथाप्रभृतिषु बोद्धव्यम् ।

स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्थाप्रयुक्तते ॥ १७ ॥

यथा—

'पर्वतभेदि पवित्रं जैत्रं नरकस्य बहुमतं गहनम् ।

हरिमिव हरिमिव हरिमिव मुरसरिदम्भः पतन्नमत ॥'

अत्रेन्द्रपक्षे पवित्रशब्दो निहतार्थः । सिंहपक्षे मतङ्गशब्दो मातङ्गा-
र्थेऽप्रयुक्तः ।

गुणः स्यादप्रतीतत्वं ज्ञत्वं चेद्वक्तृवाच्ययोः ।

कृत्रिमलिङ्गेन विलेहिते । तत्र संस्रामतर्जन्यनामिकापृष्टारुडमभ्यनारूपम् । तदु-
क्तम्—'तर्जन्यनामिकारूपे मध्यमा पृष्टतो यदि । करिहस्त इति प्रोक्तः कामशा-
स्त्रविधारदैः ॥' इदं प्रोक्तव्यञ्जकमश्लोत्वम् । गुणत्वमुपपादयति—अत्र हीति ।
पिशुनयेत् सूचयेत् रहस्यं गोप्यम् । कामशास्त्रस्य स्थितिर्नियमः । रहस्यव्यञ्जनस्य
मुरतोद्रेकानुकूलत्वाद्गुणत्वमिति भावः ॥ शमकथाप्रभृतिष्विति । प्रभृतिशब्दा-
द्वैराग्योत्पादककथाग्रहणम् । तत्र यथा—'उक्तानोच्यूनमण्डकपादितोदरसज्जिमे ।
हेदिनि श्रीमणे सफिरकृमेः फस्य जायते ॥' अत्र जुगुप्साश्लोत्वस्य गुणत्वम् ।
प्रभृतिशब्दात् उद्यमकथापीनां ग्रहणम् । उद्यमकथा उल्लोकिः । अमहलाश्लोत्वस्य
गुणत्वत्वं उद्यमकथायां यथा—'निर्वाणवेरदहनाः' इति । कुरुगाममङ्गलसूचनं नटस्य
वचनमिदम् । अत्र प्रशमादयः शब्दा मरणरूपामङ्गलसूचका अपि उक्तौ गुणा
एव ॥ पर्वतेति । हे जनाः, पृथिव्यां पतन्मुरस्यदिदम्भो गङ्गाजलं धूयं नमत ।
कीदृशम् । पर्वतभेदि हिमालयभेदकरम् । पवित्रं पावनम् । नरकस्य पारलौकि-
कदुःखस्य जैत्रं विनाशकम् । बहुभिर्मतं पूजितम् । गहनं महावेगित्वात्
तुरवगाहम् । हरिमिव विष्णुमिव । पर्वतभेदी गोवर्धनोद्धारी सं चासौ पवि-
प्रथेति तम् । नरकस्य नरकनाश्रोऽसुरस्य जैत्रं विनाशकं पराजयकरम् । गहनं
दुर्गोपतत्त्वम् । हरिमिव इन्दुमेव । पर्वतानां पक्षच्छेदकत्वात् पर्वतभेदी ।
पवि वज्रं ज्ञायते पारयति पवित्रः । स चासौ स चेति तम् । जैत्रं जय-
शीलम् । नरकस्य मनुष्यस्य बहुमतं वृथां पूजितम् । गहनं दुर्जयम् । हरिमिव
सिंहमिव । 'भृगाणां च भृगेन्द्रोऽहम्' इति स्मरणात् सिंहस्य वन्दनीयत्वम् । पर्व-
तभेदी शिरिगह्वरमाध्रयत्वेन सोऽस्यास्तीति । पवित्रो देवरूपवात् । नरकस्य मनु-
ष्यस्य जैत्रम् । बहून् मतङ्गान् हन्तीति तम् ॥ ज्ञत्वं संकेताभिज्ञत्वम् ॥

1. अप्रयुक्त इति । यथा वा मरीये दशकण्ठवधे—'वापीषु स्फुटितारविन्दनिचया,
गज्यास पानप्रियाः, कीटाशैलगुहासु गीननयना, नेत्रेषु वेद्याङ्गनाः । ज्वरेषु सरोवरा
द्रववनीकुलेषु श्मशानिणो रागं पञ्चवन्ति वत्र निवस्य कान्वालिभिर्भाविताः ॥' भया-
लिपदं मयापेक्षप्रयुक्तम् ॥

यथा—

‘त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।

त्वदर्शनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥’

स्वयं वापि परामर्श—

अप्रतीतत्वं गुण इत्यनुषज्यते । यथा—

‘युक्तः कलाभिस्तमसां विवृद्धौ क्षीणश्च तामिः क्षतये य एषाम् ।

शुद्धं निरालम्बपदावलम्बं तमात्मचन्द्रं परिशील्यामि ॥’

कथितं च पदं पुनः ॥ १८ ॥

विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विसय्ये कृधि ।

‘दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने ॥ १९ ॥

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे ।

गुण इत्येव । यथा—

‘उदेति सविता ताम्रः—’ इत्यादि । (४०८ पृ.)

अत्र विहितानुवादः ।

‘हन्त हन्त गतः कान्तो वसन्ते सखि नागतः ॥’

अत्र विषादः ।

‘चित्रं चित्रमनाकाशे कथं सुमुखि चन्द्रमाः ॥’

अत्र विसयः ।

‘सुनयने नयने निधेहि’ इति ॥

अत्र लाटानुप्रासः ।

त्वामिति । अत्र प्रकृतिपद प्रधानवाचक योगशास्त्र एव प्रयोगप्राचुर्येण प्रसिद्धम् । ‘प्रधानं प्रकृतिं भ्रियाम्’ इति संकेताभिज्ञत्वे तु गुण एव । एवं पुरुषपदं परमात्मवाचकं योगशास्त्र एव प्रसिद्धम् । ‘क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः’ इति संकेताभिज्ञत्वे तु गुण एव । युक्त इति । कलाभिः श्रुत्यव्यादितत्त्वैः । तमसात्मशानानाम् । तामिः क्षीणो हीनः । तमसां क्षमिण्यां विवृद्धौ यो भवति । यद्य तामिर्बुद्धः एषां तमसां क्षतये भवति । तं शुद्धं शुभ्रप्रकाशम् । निरालम्बपदमाकाशमवलम्बो यस्य तम् । अत्र कलानिरालम्बपदात्मपदानां तत्त्वादिवचकत्वं योगशास्त्र एव प्रसिद्धम् । आत्मनात्रप्रतीतेरुद्देश्यत्वादस्य गुणवत्त्वम् ॥ विहितस्येति । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यस्थले साहि ३७

‘नयने तस्यैव नयने च ॥’

इत्यादावर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः । एवमन्यत्रापि ।

संदिग्धत्वं तथा व्याजस्तुतिपर्यवसायि चेत् ॥ २० ॥

उत्पदप्रयोगादर्थान्तरप्रतीत्यभावेन सटिलेव शब्दबोधः, ततो रसादिधीरविलम्बेनैवेत्यत्र कथितपदत्वस्य गुणवत्त्वम् । विषाद इत्याद्युपलक्षणम् । यत्र यत्र द्विरुक्तं पदं लक्षणार्थान्तरबोधकं तत्रापि कथितपदत्वं गुणः । अत एव वक्ष्यति—
एवमन्यत्रापीति । तेन ‘गृहे गृहे व्यपपुरन्निर्गमम्’ इत्यत्र द्विरुक्तं गृहपदं संकले लाक्षणिकं पार्वत्या सवैजानुश्रुतं व्यञ्जयति । ‘पीत्वा पीत्वा भुभिर्नदिरामादरात्कान्तदत्तां कण्ठं यस्य प्रसिन्नु रभसाद्वाहुपाशद्वयेन । यकं दन्तमणकिण्ठलङ्काकुलं कारयेन्दुं मत्तानां तु प्रजति गुणतां दानुरपत्प्ररखम् ॥’ अत्र द्विरुक्तं पीत्वेति पदं पीनःपुन्यलक्षकमन रुचिरेव । ‘रथ रथ रथुव्याघ्र भवन्नाभमनाथवत् । पौरदंष्ट्राकसाल्यसं रक्षो भक्षति मामिदम् ॥’ अत्र रक्षेति द्वे लाक्षणिकं भयातिशयं व्यञ्जयति । ‘याहि याहि मुमुक्षि प्रियधान त्राहि कान्तमशरीरधराधेः । बन्धुरेव विपदः प्रतिकारे संवधाति सुतरमुपयोगम् ॥’ अत्र याहि याहीति पदं द्वे लाक्षणिकं त्वरातिशयं व्यञ्जयतीत्यादावपि कथितपदत्वं गुणः । पदानुप्रसङ्ग एव लाटानुप्राप्तो भवति । तस्य शब्दवैचित्र्यद्वारा रसाद्युपकारकत्वमिति गुणत्वमेव । अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिप्रभेदस्तत्रार्थविशेषव्यञ्जकत्वमिति गुणकत्वम् ॥ हन्त हन्तेति । अत्र द्विरुक्तं पदं वाच्यस्य विषादस्यातिशयं व्यञ्जयति ॥ एवं चित्रं चित्रमित्यत्र वाच्यस्य विस्मयातिशयम् । सुखवर्णनमिदम् ॥ कुपि यथा—‘यातु यातु किमनेन तिष्ठत मुञ्च मुञ्च सति सादरं वचः । पामरीबदनलोहपो युवा नैव वेति कुलजाधेरासवम् ॥’ अत्र द्विरुक्तं पदं समन्वितव्याहृतपदार्थसायोगव्यवच्छेदं लक्षयति क्रोधातिशयं च व्यञ्जयति ॥ क्रोधेनोष्णवप्यर्थान्तराव्यञ्जकत्वात्कथितपदत्वं दोष एव । यथा—‘तद्विच्छेदकृशस्य-’ (४३० पृ.) इत्यादी मनःपदम् ॥ दैन्ये यथा—‘देहि देहि नृपभेव तु चित्तम् ।’ अत्र द्विरुक्तं पदं दानप्रयुक्तिर्गौनपुन्यं लक्षयदैन्यातिशयं व्यञ्जयति ॥ अनुकम्पायां यथा—‘वीन दे यस्तु गृहाण गृहाण ।’ अत्र द्विरुक्तं पदं ग्रहणप्रयुक्तिर्गौनपुन्यं लक्षयदनुकम्पातिशयं व्यञ्जयति ॥ प्रसादने यथा—‘मुञ्च मुञ्च स्रसि नेत्रमुदणं नाक्षमा मयि पदान्ते क्षमा ।’ नयने इति । अत्र द्वितीयनयनपदं भाग्यवत्त्वादिगुणविशिष्टनयनबोधकत्वाद्गुणः ॥ हयं यथा—‘कथय कथये दूत काग्तो रामभद्रः ।’ यदा ‘हन्त-हन्तागतः कान्तः श्रीमानस्य मदाश्रयम् ।’ अन्वधारणयोग्यवच्छेदोऽन्ययोगव्यवच्छेदश्च । तत्रायोगव्यवच्छेदे—‘हन्ति हन्ति रिपुं वीरः ।’ अन्ययोगव्यवच्छेदे यथा—‘तद्वधनाहितमतिर्वहुचातुर्गमं वार्योन्मुखः खलु जनः कृतकं ब्रवीति । तत्साधवो ननु विदन्ति विदन्ति किंतु कर्तुं कृया प्रणयमस्य न पारयन्ति ॥’

गुण इत्येव । यथा—

‘पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ।

विलसत्करेणुगहनं संप्रति सममावयोः सदनम् ॥’

वैयाकरणमुख्ये तु प्रतिपाद्येऽथ वक्तुरि ।

कष्टत्वं दुःश्रवत्वं वा—

गुण इत्येव । यथा—

‘दीधीवेवीदंसमः कश्चिद्गुणवृद्धो रभाजनम् ।

किंप्रत्ययनिभः कश्चिच्चत्र संनिहिते न ते ॥’

अत्रार्थः कष्टः । वैयाकरणश्च वक्ता । एवमस्य प्रतिपाद्यत्वेऽपि ।

अत्र ‘विदन्ति’ इति द्वितीयं पदं साधय एव विदन्तीत्यन्ययोगव्यवच्छेदपरम् । अयोगव्यवच्छेदस्तु नमूदयेनैव प्रतीयते ॥ पृथुकार्तेति । रात्रि दरिद्रस्योक्तिरियम् । हे देव, संप्रत्यावयोः सदनं गृहं समम् । त्वत्तो धनजाले तु मद्गृहमनेवंभावात्पश्चात्समं न भविष्यतीत्यर्थः । पृथुनि कार्तस्वरस्य सुवर्णस्य पात्राणि यत्र । भूषिताः रत्नाद्यलंकारमण्डिताः निःशेषपरिजना यत्र । विलसन्तीभिः, करेणुभिर्गहनं^१ बुरगं राजसदनमीदृशम् । दरिद्रसदनं तु—पृथुघनां^२ शिञ्जनां क्षुधया आर्तस्वरस्य पात्रम् । भुवि उषिताः सुप्ताः निःशेषपरिजना यत्र । शयनास्वरणाभावात् । तथा विले गते कुत्तितसतां मृषिकपिपीलिकादीनां रेणुभिर्गहनं व्याप्तम् । कुत्तायां कः । अत्र विशेषणपदानां सदेहयोग्यत्वेऽपि व्याजस्तुतिपर्यवसानात् गुणवत्त्वम् ॥ वैयाकरणमुख्ये । वैयाकरणादौ । आदिपदाच्छुद्धकर्तृदिपिप्रसङ्गः ॥ वैयाकरणे वक्तुरि कष्टत्वं गुणमुदाहरति-दीधीवेवीदिति । कश्चिन्नो गुणवृद्धोः शौर्याभ्युदययोरभाजनमनाश्रयः । दीधीवेवीधातुभ्यामिडागमेन च समः । तेषां व्याकरणे गुणवृद्धिनिषेधात् । कश्चिन्नः किंप्रत्ययनिभो विनष्ट एव । अत्र ते गुणवृद्धी न संनिहिते न स्तः । अत्र दीधीवेवीदां गुणवृद्धिनिषेधानभिज्ञानां किंप्रत्ययस्य सर्वलोपित्वानभिज्ञानां च द्योति प्रतीतिर्न भवतीत्यर्थस्य कष्टत्वम् । एतदेवाह—अत्रेति ॥ एवमिति । अस्य वैयाकरणस्य । यथा—‘आत्मनेपदसंयोनियजिज्ञाता गुरो भवान् ।’ आत्मनः स्वर्गार्थं यागं करोषीत्यर्थः कष्टः ॥ वैयाकरणे

१. दीधीति । धातुपक्षे—‘अदेह गुणः,’ ‘वृद्धिरदेह’ इति सूत्राभ्यां परिभाषिते गुणवृद्धी । तयोरभाजनम् । ‘दीधीवेवीदम्’ इत्यनेन गुणवृद्धिनिषेधविधानात् । प्रत्ययपक्षे—किंप्रत्ययः ‘वेरपृक्तस्य’ इत्यनेन लुप्यते । यस्मिन्संनिहिते पुरोवर्तिते ‘कृति च’ इति निषेधाद् गुणवृद्धी न स्याताम् ॥

‘अत्रासार्पमुपाध्यायं त्वामहं न कदाचन ॥’

अत्र दुःश्रवत्वम् । वैयाकरणो वाच्यः । एवमस्य वक्तृत्वेऽपि ।

ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु ॥ २१ ॥

गुण इत्येव । यथा मम—

‘एसो ससहरविम्बो दीसह हेअन्नवीणपिण्डो व ।

एदे अस्ससमोहा पडन्ति आसासु दुद्धघार ज्व ॥’

इयं विदूषकोक्तिः ।

निर्हेतुता तु ख्यातेऽर्थे दोषतां नैव गच्छति ।

यथा—

‘संप्रति संध्यासमयश्चक्रद्वन्द्वानि विघटयति ।’

कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता ॥ २२ ॥

वाच्ये दुःश्रवत्वं गुणमुदाहरति—अत्रासार्पमिति । ‘अत्रातात्पर्सम्’ इति क्वचित् पाठः । अस्य वैयाकरणस्य दुःश्रवत्वं गुण इत्यनुपज्यते । यथा—‘सोऽध्वैष्ट वेदां-
स्त्रिदशानयष्ट’ इति ॥ शुष्कतार्किकवक्तृत्वे कष्टत्वं गुणो यथा—‘न्यायानुमानविगुणं
क्रुयघास्ते महीपते । हेत्वाभासबहुद्वाभ्यं विदुषो याति निग्रहम् ॥’ अत्र पश्चादयव-
न्यायप्रयोगे दुष्टहेतुप्रयोगे यादिनिग्रहकर इत्यर्थः । एतदन्विष्टानां कष्टः । एवम-
न्यस्य बोध्यत्वे बोध्यम् । अधमोक्तिषु अविरुद्धवाक्येषु ॥ एसो सस्तेति ।
‘एष शशधरविम्बो दृश्यते हैयंगवीनपिण्ड इव । एते चांशुसमूहाः पतन्त्याशास्तु
दुग्धधारा इव ॥’ इति संस्कृतम् । अत्र दुग्धपदं ग्राम्यमपि बहुधमत्वप्रतीतिकर-
त्वाद्गुण एव ॥ ‘सुग्धादुग्धधिया—’ इत्यादावनुप्रासविशेषादौ ग्राम्यत्वस्मादौ-
पत्वं बोध्यम् ॥ संप्रतीति । संध्यायां चक्रवाकद्वन्द्वस्य विघटनं सुप्रसिद्धमिति

१. अत्रासार्पमिति । ‘यदां त्वामहमद्राक्षं पदविधाविशारदम् । उपाध्यायं तदा-
सार्पं समस्पाक्षं च समदम् ॥’ इति प्रकाशे ॥

२. समय इति । समयः संप्रदायः । स च त्रिविधः । तेषां चोक्तम्—‘असतोऽपि
निबन्धेन सत्तामप्यनिबन्धनात् । नियमस्य पुरस्कृतात्संप्रदायस्त्रिधा कवेः ॥’ असतो निब-
न्धनं यथा—‘रत्नानि यत्र तत्रादौ वंसावल्पजलाशये । जलेभावे नमोनयामम्भोजार्थं नदी-
भ्यपि ॥ तिमिरस्य तथा मुष्टिप्राप्तत्वं घृच्छिष्यता । शुद्धत्वं कीर्तिपुण्यादौ काण्ड्यं चाकी-
र्त्यधादिषु ॥ प्रतापे रक्तोष्णत्वे रक्तत्वं क्रोधरागयोः । ज्वोत्स्नापानं चकोराणां शैबालं
सर्ववारिषु ॥ कैटराशोकयोः खीणां गण्डूषात्पादधातवः । मासान्तरेऽपि पुष्पाणि रोमा-
लिज्जिबलिः सियाम् ॥’ सत्तामप्यनिबन्धनं यथा—‘वसन्ते मालतीपुष्पं फलपुष्पे च
चन्दने । कामिदन्तेषु कुन्दानां कुम्भलेषु च रक्तता । नारीणां श्यामता पातः खनयो-
र्यच्च वा द्विषे ॥’ नियमाख्यानं यथा—‘हिमवलेव भूर्जत्वक् चन्दनं मढये परम् ।
हेमन्तशिशिरो त्यक्त्वा सर्वदा कभलसितिः । सामान्यग्रहणे शौक्यं पुष्पांश्चन्द्रवा-

कविसमयख्यातानि च—

मालिन्यं व्योम्नि पापे, यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्यो

रक्तौ च क्रोधरागौ, सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादि ।

तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसङ्घो

ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः ॥२३॥

न तत्र हेत्वपेक्षा ॥ कवीनामिति । समये सिद्धान्ते ॥ मालिन्यमिति । तेष-
म्पाकारानवीक्ष्यामम् । 'कलङ्कमालिन्यमिषेण चन्द्रमा दधात्यर्धं पान्थवधूवधो-
द्भवम् ।' बुर्यशसि च मालिन्यं ज्ञेयम् । यथा—'अमानि तत्तेन निजायशोयुगं
द्विफालवद्वाधिकुराः शिरःस्थितम् ।' इति । एवमावीन्येषामुदाहरणानि बोध्यानि ।

सप्तम् । ध्वजचामरहंसानां हारस्त्रयकमलस्रोतः ॥ कृष्णत्वं शैलवृक्षादिनेपवारिभिर्भी-
रुधाम् । मिष्ठानाममृताणां च धूपपङ्कशिरोरुहाम् ॥ लैलित्य धातुमाणिक्यजपारत्नविव-
स्वताम् । पद्मपङ्कवधन्वूकदाडिमीकरजादिषु ॥ पीतत्वं शालिमण्डूकवस्त्रकलेषु परागके ।
वर्णस्त्रेष शिखिम्रीडिर्निधानेव मिक्कध्वनिः ॥' अन्यच्च—'कमलासपदोः कृष्णहरितोर्नाग-
सर्पयोः । पीतलोहितयोः स्वर्णपरागामिस्त्रिखादिषु ॥ चन्द्रे शशैषयोः कामध्वजे मकर-
मत्स्ययोः । दानवामुरदैत्यानामेकमेवाभिसंहितम् ॥' अपि च—'चिरतनस्यापि तथा
शिवचन्द्रस्य बालता । मानवा भौलितो वर्णां देवाश्चरणतः पुनः ॥ भुवनानि निवध्नी-
याप्त्रीणि सप्त चतुर्दश । चतस्रोऽष्टौ दशदिशश्चतुरः सप्त चाम्बुधीम् ॥ अष्टादश स्मृता
विधाश्चतस्रश्च चतुर्दश । ये स्वर्गे ते जले जीवा भिन्दन्त्यर्कं रणे मृताः ॥ महत्स्वमादौ
सर्गान्ते सूक्ष्मता जगतामपि ॥ शैलादिर्मिषते शब्दाप्रभः शतधनूपति (१) ॥ नाम तत्तदु-
पाधौ स्याच्छकरो वृषवाहनः । चिह्नत्वे च वृषाक्षोऽयं ध्वजे सत्त्वाद्भुवध्वनः ॥ शशी न
सर्पी गिरिशः शशी न हरिणी विधुः । इन्दुमौलिर्महादेवो गङ्गामौलिर्न तु कश्चिद् ॥'
अन्यच्च—'श्वेतानि चन्द्र-शक्राश्च-शशु-भार्गव-नारदाः । हस्ती शेषादि-शक्रेभौ
सिंहसौभशरदनाः ॥ सूर्ये-दुक्रान्त-निर्गोक-भन्वार-हु-दिमादयः । दिग्महासमृणालानि
स्वर्गजैभरदाभकम् ॥ सिकतामृतलोप्राणि शुण्केरवशर्कराः । नीलानि कृष्ण-चन्द्राङ्क-
व्यास-राम-धनजयाः ॥ शनिर्जुपदजा काली रानपट्टविदूरजम् । विषाकाशकुहून्सालु-
रुपापतमेतिशयाः ॥ रसावद्भुतन्द्रहारो मदद्वीपिच्छराहवः । सीतिचीर यमो रश्मिः कण्ठः
खज्जनकेकिनोः ॥ कृत्वा छाया गन्वाहारखलान्त करणादवः । शोणानि च्छत्रधर्मैश्च त्रेता
रीदरसस्तथा ॥ चकोरकोकिणापारावतनेत्र कपेर्मुसम् । तेजःसारसमस्त च भौमकुङ्कु-
मतक्षकाः ॥ त्रिहेन्द्रगोपखपोतविष्णुत्कुजरविन्दवः । पीतानि दीपनीवेन्द्रगरुडेश्वरद्वन्द्वजटाः ॥
महावीररसस्वर्गकपिप्रपररोचनाः । किञ्चिच्छक्रवाकयाया हरितालमनःशिला ॥ धूस-
राणि रजो लता करभो गृहगोषिका । कपोतमूषवी दुर्गा फाककण्ठस्तरादयः ॥' इदमु-
पलक्षणम् । 'हरिताः सूर्येतरया उपो मरकतादयः ।' इत्यपि बोध्यम् । 'द्वैरूप्ये चाप्र-
सिद्धौ च नियमोऽयमुदाहृतः । अन्यदस्तु यथा यत्स्यात्तत्सर्वेवोपवर्ण्यते ॥' इति ॥

पादाघातादशोको विकसति यकुलो योपितामास्यमघै-

र्युनामङ्गेषु हाराः, स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः ।

मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो-

भिन्नं स्यादस्य बाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ॥ २४ ॥

अहयम्भोजं, निशायां विकसति कुमुदं, चन्द्रिका शुक्लपक्षे

मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिशिनां नाप्यशोके फलं स्यात् ।

न स्याज्जाती वसन्ते, न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा-

मित्याद्युभेयमन्यत्कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे ॥ २५ ॥

एषामुदाहरणान्याकरेषु स्पष्टानि ।

धनुर्ज्यादिषु शब्देषु शब्दास्तु धनुरादयः ।

आरूढत्वादिवोधाय—

यथा—

‘पूरिते रोदसी ध्वानैर्धनुर्ज्यास्फलनोद्भवैः ॥’

अत्र ज्याशब्देनापि गतार्थत्वे धनुःशब्देन ज्याया धनुष्यायचीक-
रणं बोध्यते । आदिशब्दात्—

‘भोति कर्णोवतंसस्ते ॥’ अत्र कर्णस्थितत्वबोधनाय कर्णशब्दः ।
एवं श्रवणकुण्डलशिरःशेखरप्रभृतिः ।

यथाः कीर्त्तौर्भेदः ‘सद्भादिप्रभवा कीर्त्तिर्विद्यादिप्रभवं यथाः ।’ इति केयचिदर्शनादु-
पपत्तेः ॥ पादाघातादिति । योपितामित्यनेन संयन्धः । ‘पादेनं नापैक्षत
मुन्दरीणाम्’ इत्यादिदर्शनात् । स्फुटति विदीर्णं भवति । रोलम्बमाला भ्रमरभेणी ।
‘भक्षिपङ्क्तिरनेकशतस्य गुणकुले भनुषो नियोजिता’ इत्यादिदर्शनात् । धनुरथे-
त्यथशब्दार्थः । तेन पुष्पकेतोः कामस्य धनुः कौसुमं विशिखाश्च कौसुमा
इत्यर्थः । अस्य पुष्पकेतोः ॥ अहयम्भोजमिति । दिनादौ पद्माद्यधरेऽपि
सत्र तत्प्रकाशो वर्णनीयः । चन्द्रिकेति । यत्र रात्रिभागे चन्द्रिक्य नास्ति तत्रापि
वर्णनीयेति भावः । गन्धसारद्रुमाणां चन्दनवृक्षाणाम् । इत्यादीति । तेन सोपा-
देर्मेधाद्युपरिपर्यन्तगमित्यवत्युच्चत्वव्यवधानाय वर्ण्यते ॥ पुनश्चकस्य गुणत्वमाह—
धनुरिति । ज्याशब्देनैव धनुर्गुणबोधादनुःशब्दो निरर्थकोऽपि आरूढत्वबोध-

१. भावीति । ‘अस्याः कर्णोवतंसेन निर्वर्त्त सर्वं विभूषणम् । सधेय शोभयेत्यर्थ-
यस्याः श्रवणकुण्डलम् ॥ अपूर्वमधुराभोदप्रभोदितदिशस्तवः । बायवुर्यत्सुहाराः,
शिरःशेखरशक्तिनः ॥’ इति प्रकाशे ॥

एवं निरूपयतो मालाशब्दः पुष्पसज्जमेवाभिधत्त इति स्थितावपि
‘पुष्पमालाविभाति ते ॥’ अत्र पुष्पशब्द उत्कृष्टपुष्पवृद्धौ । एवं मुक्ता-
हार इत्यत्र मुक्ताशब्देनान्यरत्नामिश्रितत्वम् ।

अयोक्तव्याः स्थिता अमी ॥

धनुर्ज्यादयः सत्काव्यस्थिता एव निबद्धव्याः, न त्वस्थिता जघन-
काञ्चीकरकङ्कणादयः ।

उक्तावानन्दमभादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः ।

यथा—

‘गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा

सान्द्रजेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्निताम्बरा ।

मा मा मानद माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी

.. सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥’

अत्र पीडयेति न्यूनम् ।

क्वचिन्न दोषो न गुणः—

न्यूनपदत्वमित्येव । यथा—

‘तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घा न सा कुप्यति

स्वर्गायोत्पत्तिता भवेन्मयि पुनर्भावाद्वर्मस्या मनः ।

नाहुणः । शेषरूपद शिरोभूषणं किरीटं वक्ति ॥ काव्यस्थिता महाकविप्रयोगेषु
स्थिताः ॥ जघनेति । निबद्धव्या इति शेषः ॥ आनन्दमभादेरित्यादिना दु खममा-
देर्महणम् ॥ गाढेति । सख्यो रात्रिवृत्तान्तकथनमिदम् । गाढालिङ्गनेन वामनी-
कृतकुचा चात्तौ प्रोद्भिन्नरोमोद्गमा चेति समासः । गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचयोः
प्रोद्भिन्नो रोमोद्गमो यस्या इति समासो न युक्तः । कुचे रोमोद्गमस्यासम्भवात् । सान्द्र-
जेहरसातिरेकेण विगलत् धीमतो नितम्बादम्बरं यस्याः सा । हे मानद, मा मा
मा पीडय मा मातिपीडय अल बहुव्यापारेणेति क्षामस्याल्पस्याक्षरस्योल्लापिनी । पीड-
येत्यादिरनुक्तवादस्पृश्यमक्षरस्य । मानदस्य पीडाकरत्वमनुपपन्नमित्यवगमाय तत्पदेन
संबोधनम् । एते तावज्जिपेधभासा विधिषु पर्यवसन्ताः । निष्पन्दत्वेन किं मृतेति
वितर्कचतुष्टयम् । सुप्ता निद्राविता, अतिनिष्पन्दत्वेन मृतेति, अत्यन्तत्वे लयः,
अवहिर्भावे विशेषपल्लव्य बोध्यः । अत्र पीडयेत्यादिशोभ्यस्य पदस्य न्यूनता द्वेपरल-
निसमोद्गमप्रकर्षबोधनद्वारा रस पुष्पातीति गुणवत्त्वम् ॥ तिष्ठेदिति । पुरुषस्य
उक्तिरियम् । सा उर्वशी प्रभावेण पिहिता सती तिष्ठेत् । अथवा प्रभो मयि
कोपवशादपिहिता तिष्ठेत् । नैतत् । यतो दीर्घा न कुप्यति । उत्पत्तिता उद्भूता मयि

तां हतुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं

सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्जातेति कोऽयं विधिः ॥'

अत्र प्रभावपिहितेति भवेदिति चेत्यनन्तरं 'नैतद्यतः' इति पदानि न्यूनानि । एषां पदानां न्यूनतायामप्येतद्वाक्यव्यङ्ग्यस्य वितर्काख्य-
व्यभिचारिभावस्योत्कर्षाकरणाच्च गुणः । दीर्घं न सेत्यादिवाक्यजन्यया
च, प्रतिपत्त्या तिष्ठेदित्यादिवाक्यप्रतिपत्तेर्बोधः स्फुटमेवावभासत इति
न दोषः ।

'गुणः क्वाप्यधिकं पदम् ॥ २७ ॥

यथा—

'आचरति दुर्जनो यत्सहसा मनसोऽप्यगोचरानर्थान् ।

तन्न न जाने जाने स्पृशति मनः किं तु नैव निष्ठुरताम् ॥'

अत्र न न जान इत्ययोगव्यवच्छेदे द्वितीयजान इत्यनेन नाहमेव
जाने इत्यन्ययोगव्यवच्छेदाद्विच्छित्तिविशेषः ।

समाप्तपुनरात्तत्वं न दोषो न गुणः क्वचित् ।

यथा—'अन्यास्ता गुणरत्न—' इत्यादि (४०३ पृ.) ।

अत्र प्रथमार्धेन वाक्यसमाप्तावपि द्वितीयार्धवाक्यं पुनरुपात्तम् ।

भावार्थं मग्नोचरेमस्तिमितम् । अस्या उर्वश्याः । विबुधद्विषोऽसुराः । इत्थमदृश्यत्वे
हेतुर्नास्त्वेष किमदृश्येति विस्मयादाह—सा चेति । अगोचरमगोचरत्वम् ।
विधिर्नियतिः प्रकारो ॥ ॥ अगुणत्वप्रदोपलं चोपपादयति—एषामिति ॥
वाक्यप्रतिपत्तेर्वाक्यजन्यबोधस्य ॥ ननु द्वितीयजाने इत्यनेनायोगव्यवच्छेद
एव प्रतीयते इत्यत आह—अत्रेति । इत्यनेन इत्यनेनैवेत्यर्थः । गुण-
त्वमुपपादयति—द्वितीय इति । विच्छित्तिविशेषोऽर्थवैचित्र्यविशेष प्रतीयत
इति । गुणत्वमिति शेषः । अत्र कथितपदत्वस्यावधारणबोधकत्वाद् 'यद्ब्रह्मनेन—'
इत्यादिप्राप्यप्रदर्शितवद् गुणत्वमस्ति । अस्य अदोदाहरणं तु—'याहि माधव
याहि केशव मा वद कैतवनाम् । तामनुसर सरसीरुहलोचन या तव
हरणि निपादम् ॥' अत्र माधवकेशवसरसीरुहलोचनपदानामन्यतमेनैवान्वयो-
पपत्तौ सर्वेषामुपपादनमर्थान्तरबोधकत्वाद् गुण एव । तथाहि—माधवपदेन
लक्ष्मीपतित्वेऽपि तव वैदग्ध्यं नास्तीति, केशवपदेन वीरत्वेऽपि तव रतिप्रामा-
न्यं नास्तीति, सरसीरुहलोचनपदेन विलक्षणबहु सत्त्वेऽपि मम रूपलावण्यातिशयं न
पश्यतीति व्यज्यते । यथा वा—'कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्येच्युतिं के मन
धन्विनोऽन्ये ॥' अत्र पिनाकपाणेरपीत्यनेनैव प्रकृतान्वयोपपत्तौ हरस्येत्यधिकमपि

एवं च विशेषणमात्रस्य पुनरुपादाने समाप्तपुनरात्तत्वं न वाक्यान्तर-
स्येति विज्ञेयम् ।

गर्भितत्वं गुणः कापि—

यथा—

‘दिङ्मातङ्गपटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते

सिद्धा सापि वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत ।

विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो

यस्मात्प्रादुरभूत्कथान्नुतमिदं यत्रैव चास्तं गतम् ॥’

अत्र वदन्त एवेत्यादि वाक्यं वाक्यान्तरप्रवेशात् चमत्कारातिशयं
पुष्पाति ।

पतत्प्रकर्षता तथा ॥ २८ ॥

तथेति क्वचित् गुणः । यथा—‘चञ्चद्भुज—’इत्यादि (३०२ पृ.) ।

अत्र चतुर्थपादे सुकुमारार्थतया शब्दाडम्बरत्यागो गुणः ।

क्वचिदुक्तौ स्वशब्देन न दोषो व्यभिचारिणः ।

अनुभावविभावाभ्यां रचना यत्र नोचिता ॥ २९ ॥

हरस्यैव पिनाकसबन्धेन दुर्जयत्वमिति व्यञ्जकत्वाद् गुणत्वम् । ‘नार्यं भिक्षुर्वैर्युवति-
माक्षो तितिधुर्धनुष्मान्गणः पुनो नहि नहि जटाजूटभारं दधानः । नार्यं व्याधो
नवगुणधरः पश्य कस्मादकस्मात्पुण्येऽरण्ये नवजलधरदयामलः कोऽयमेति ॥’ अत्र
द्वितीयस्य नहीति निपातसमुदायस्य वाचकत्वाभावेन कथितपदस्य न विषयः,
किं स्वधिकोऽपि राजपुत्रस्य जटाधारणमस्यन्तासंभवीति व्यञ्जकत्वाद् गुण एव ॥
न वाक्यान्तरस्येति । पुनरुपादाने समाप्तपुनरात्तत्वं न दोष इत्यर्थः ।
दिङ्मातङ्गेति । दिङ्मातङ्गसमूहेन विभक्ताः परिच्छिन्नाश्चत्वार आघाटाः सीमा
यस्या सा । साध्यते स्ववशीक्रियते । सिद्धा साधितापि सा मही । विप्राय
प्रतिपाद्यत इत्युत्तरेणान्वयः । किमपरमिति चाच्यमिति शेषः । कथैवाद्भुतमा-
श्चर्यम् । यत्रैवेति । तथा च तत्तुल्यो न भूतो न वर्तमानो न भविष्यन्निति
भावः ॥ चमत्कारातिशयमिति । तेन युद्धवीरदानवीरयोः परिपोषः ॥
क्वचिदिति । यत्र पद्यान्ते सुकुमारार्थत्वं तत्रेत्यर्थः ॥ इदानीं रसदोषाणां विषय-
विशेषे यथायथमदोषत्वं गुणत्वं चाह—क्वचिदिति । रचना व्यञ्जनम् । विभावा-

यत्रानुभावविभावमुखेन प्रतिपादने विशदप्रतीतिर्नास्ति, यत्र च विभावानुभावकृतपुष्टिराहित्यमेवानुगुणं तत्र व्यभिचारिणः स्वशब्दे-
नोक्तौ न दोषः । यथा—

‘औत्सुक्येन कृतत्वरं सहभुवा व्यावर्तमाना हिया

तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।

२ दृष्ट्वाप्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे

सरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥’

अत्रौत्सुक्यस्य त्वरारूपानुभावमुखेन प्रतिपादने ‘संगमे न इदिति प्रतीतिः । त्वराया भयादिनापि संभवात् । हियोऽनुभावस्य च व्याव-
र्तमानस्य कोपादिनापि संभवात् । साध्यसहासयोस्तु विभावादिपरिपो-
पस्य प्रकृतरसप्रतिकूलप्रायत्वादित्येषां स्वशब्दामिधानमेव न्याय्यम् ।

संचार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यत्वेन वचो गुणः ।

यथा—‘काकार्यं शशलक्ष्मणः क च कुलं—’ इत्यादि (२०४ पृ.)

अत्र प्रशमाज्ञानां वितर्कमतिशङ्काधृतीनामभिलाषाऔत्सुक्यस्मृतिदे-
न्यचिन्ताभिस्त्रिरस्कारः पर्यन्ते चिन्ताप्रधानमास्वादप्रकर्षमाविर्भावयति ।

दिकृतरचनानीचिलम् । निरूपयति—यत्रेति ॥ ‘औत्सुक्येनेति । नवे संगमे प्रथमदिवससमागमे हसता हरेण श्लिष्टा गौरी शुष्मार्क शिवायास्तु । कीदृशी । तद्गृह्यमाने प्रथमौत्सुक्येन कृतत्वरं, ततश्च सहभुवा सहजया हिया लज्जया व्यावर्तमाना, ततश्च तैस्तैरित्यादि । ततश्चाप्रे वरं, स्वामिनं दृष्ट्वा आसेत्यादि । साध्वस्य विभावादिभिः परिपोषे सति रसत्वप्राप्त्या शृङ्गारपिरोधित्वं स्यात् । हासस्य तथात्वे प्रधानत्वेन प्रतिपत्तिः स्यात्, न शृङ्गारत्वेनेति भावः ॥ परिपन्थि-
रसविभावादिसंग्रहस्य गुणत्वमाह—संचार्यादेरिति । व्यभिचारिभावादेरित्यर्थः ।
आदिना विभावानुभावग्रहणम् । विरुद्धस्य प्रतिकूलसाक्षस्य बाध्यत्वेन प्रतिरुद्धस्वज-
न्यरसपरिपुष्टिकत्वेन वचोज्ञापनम् ॥ काकार्यमिति । भावशब्दत्वेदाहरणमिदम् ॥
गुणत्वमुपपादयति—यत्रेति । प्रशमाज्ञानां चान्तरसानुकूलनाम् । अभिलाषाभिः
शृङ्गाररसानुकूलैः । त्रिरस्कारः स्वनन्यरसपरिपोपस्थगनम् । ननु वितर्कदीना-
मेव औत्सुक्यादीनामपि बाध्यत्वमस्तीति कथं विप्रलम्भस्य परिपुष्टिरित्यत्र आह—
पर्यन्त इति । चिन्तायाम् । विश्रान्तौ सत्यमित्यर्थः । चिन्ताप्रधानमवाधित-
त्वेन मुख्यं कारणं यस्य तादृशमास्वादप्रकर्षं विप्रलम्भशृङ्गारपरिपोपम् । आविर्भाव-

विरोधिनीऽपि स्मरणे साम्येन वचनेऽपि वा ॥ ३० ॥
भवेद्विरोधो नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयोः ।

क्रमेण यथा—‘अयं स रसनोत्कर्षा—’ इत्यादि (२३९ पृ.) ।
अत्रालम्बनविच्छेदे स्तेरसात्मतया स्मर्यमाणानां तदङ्गानां शोको-
द्दीपकतया करुणानुकूलता ।

‘सरागया सुतघनघर्मतोयया

कराहतिध्वनितपृथुरूपीठया ।

मुहुर्मुहुर्दशनविलङ्घितोष्ठया

रुषा नृपाः प्रियतमयेव मेजिरे ॥’

अत्र संभोगशृङ्गारो वर्णनीयवीरन्यभिचारिणः क्रोधस्यानुभावसाम्येन
विवक्षितः ।

यति करोतीति । तज्ज्ञापनं गुणं इति शेषः ॥ विरहस्वरसयोः संपर्को दोष एव । तदु-
क्तम्—‘प्रत्यनीकौ रसौ द्वौ द्वौ तत्संपर्कं विवर्जयेत्’ इति । तयोर्विषयविशेषे समा-
वेशमाह—विरोधिनीऽपीति । स्मरणे पूर्वानुभूतस्वादीतस्य व्यञ्जनया ज्ञाने ।
वचने ज्ञापने । अङ्गिति मुख्यविशेष्ये । एतच्चाङ्गिनीत्युपादानालम्ब्यते । अन्यथा
‘अङ्गत्वमाप्तयोः’ इत्यनेनैवाङ्गत्वमे तदुपादानमनर्थकं स्यात् । द्विवचनं बहुनामुपल-
क्षणम् ॥ अयमिति । व्याख्यातमिदं गुणीभूतव्यङ्ग्योदाहरणे । अत्र विरहस्यापि
शृङ्गारस्य स्मर्यमाणतया करुणेन संपर्को न दोषः ॥ ननु तदानीमपि स्तिरस्ति
तस्या रसत्वप्राप्तिरविहृतैवेति कथं शृङ्गारस्य स्मर्यमाणत्वमत आह—अत्रेति ।
आलम्बनस्य नायकस्य विच्छेदे मरणे, अरसात्मतया तदानींतनानुभावमात्रेण
रसरूपतानापमतया स्मर्यमाणानामिति । एतेन शृङ्गारस्यापि स्मरणं दर्शितम् ।
तदङ्गानां रसज्ञानाम् । मृतस्योपकारस्मरणं बन्धूनामत्यन्तशोकजनकमिति
भावः । साम्येनोक्तौ विरहयोः समावेशमुदाहरति—सरागयेति । मुखलो-
हित्यजनकत्वेन ‘रसो च क्रोधरागौ’ इति दर्शनाद्वा रूपः सरागत्वोपपत्तिः पक्षे—
सानुरागया । कराघातेन ध्वनितं पृथुरूपीठं यत्र क्रोधे सति वीररुहः पीठं वा
आहन्यते । पक्षे—कराघातेन ध्वनितं पृथुरेव पीठं यथा । अतिप्रौढकामाभि-
र्नायिकाभिः करेणोरुहहन्यत इति कामशास्त्रप्रसिद्धम् । दशनैर्विलङ्घितो निपीडित
ओष्ठो यत्र । पक्षे—कान्तदशनेन निपीडित ओष्ठो यस्याः । अत्र शृङ्गारवीरयोर्
समावेशः । उक्तानुभावानामन्यत्रापि संभवाज्ज्ञेदिति रूपः प्रतीतिर्न भवतीति
तस्याः स्वशब्देनोपादानं न दोषः । प्रकरणादुत्साहस्यास्वाद्यमानत्वेन वीरत्वं

‘एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितप्रायं द्वितीयं पुनः

पार्यत्या वदनाम्बुजस्तनभरे संभोगभावालसम् ।

अन्यदूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं

शंभोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥’

अत्र शान्तशृङ्गाररौद्ररसपरिपुष्टा भगवद्विषया रतिः । यथा वा—

‘क्षितो हस्तावलम्बः प्रसभममिहतोऽप्याददानोऽशुक्रान्तं

गृह्णन्केशेष्वपास्तध्वरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।

आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः सासुनेत्रोत्पलाभिः

कामीवाद्रापराधः स दहतु दुरितं शंभवो वः शराभिः ॥’

अत्र कविगता भगवद्विषया रतिः प्रधानम् । तस्याः परिपोषकतया भगवत्स्त्रिपुरध्वंसं प्रत्युत्साहस्यापरिपुष्टतया रसपदवीमप्राप्ततया भावमात्रस्य करुणोऽङ्गम् । तस्य च कामीवेति साम्यबलादायातः शृङ्गारः ।

स्थायिनः ॥ क्रोधस्य स्वशब्देनोपादानास्वाद्याभावेन न रौद्रत्वमिति भावः ॥ एकस्मिन्नाश्रितत्वात्मानां रसानां समावेशमुदाहरति—एकमिति । नेत्रमित्यर्थः । मुकुलितप्रायं मुद्रितपद्माकारम् । वदनाम्बुजे संभोगधुम्बनम्, स्तनभरे संभोग आलिङ्गनादिः, तस्य भावेन अभिप्रायेण अलसं निषण्णम् । अन्यललाटेनेरम् । दूरमत्यन्तं विकृष्टधापो येन । यद्य दूरे विकृष्टधापो येन । तस्मिन्मदने यः क्रोधः स एवानलः तेनोद्दीपितमुज्ज्वलितं भिन्नरसम् । विशदबहुरसव्यञ्जकम् । शृङ्गारिणोऽपि न समाधिभग्न इति शृङ्गारस्य परम्परया क्रोधस्य समाधिविघ्ननिवारकत्वेन तत्परिणामिनो रौद्रस्य साक्षादेव देवविपयकरतिपोषकत्वम् ॥ परम्परयाप्यश्रितत्वात्मातयो रसयोः समावेशमुदाहरति—क्षित इति । त्रिपुरदाहे च प्रसिद्धः शंभुसंघधी शराभिः वो युष्माकं दुरितं दहतु । कीदृशः । आसन्नापराधः कामीव सासुनेत्रोत्पलाभिः युवतिभिर्हस्तावलम्बः सन् क्षिप्तः । शोषात् क्रोधाच्च तासामलु । एवमुत्तरोत्तरक्रियास्वपि कामीति दृष्टान्तः । अंशुकस्यान्तमाददानोऽपि प्रसभं सहसा अभिहतः । केशेषु गृह्णन् अप्राप्तः । धुम्बनार्थं कम्पितः केशग्रहणम् । संभ्रमेण भयजन्यत्वरया ईक्षणभावः । पक्षे—आदरजन्यत्वरया नेक्षितः, किंत्वनादरेणेक्षितः ॥ अत्राग्निभावमुपपादयति—अवेति । प्रधानमिति । निषण्णश्च नावयप्रतिपाद्यत्वादिति भावः । तस्या भगवद्विषयरतेः । परिपोषकतयेति । ‘अङ्गस्य’ इति शेषः । अपरिपुष्टतयेति । विभावानुभाययोरनुपादानादिति भावः । रसपदवीं रसत्वम् । भावप्राप्तस्य उद्बुद्धभावस्थायी चेति भावलक्षणाक्रान्तस्य । करुणोऽङ्गमिति । दुष्टविग्रहं प्रति भगवदुत्साहस्यानुभावेन करुणस्थायिभावेन स्त्रीणां शोकेन व्यञ्जनमिति कस्यस्याश्रितत्वम् । कामीवेति । प्राग्यथा कामुक आचरति स तथाच शराभिरिति साम्यबलरसादस्यानुभावादायातः स्मृतिविषयत्वात् प्राप्तः । शृङ्गार ईर्ष्यामानाख्यविप्रलम्भाः अत्रमित्यनुपप्रेषा-

एवं चाविश्रान्तिधामतया करुणस्याप्यङ्गत्वैवेति द्वयोरपि करुणशृङ्गारयोर्भगवदुत्साहपरिपुष्टतद्विषयरतिभावात्सादप्रकर्षकतया यौगपद्यसद्भावादङ्गत्वेन न विरोधः ।

ननु समूहालम्बनात्मकपूर्णघनानन्दरूपस्य रसस्य तादृशेनेतररसेन कथं विरोधः संभावनीयः । एकवाक्ये निवेशप्रादुर्भावयौगपद्यविर-

न्वयः । स्मर्यमाणपूर्वावस्थायां रतेः । करुणस्थायिभावः स्त्रीशोकोद्दीपकतयाङ्गत्वमिति भावः । नन्वत्र स्त्रीशोकस्य वाच्येनानुभावेनाश्रुणा व्यङ्ग्येनोद्दीपनविभावेन श्रुतित्याक्षेपलभ्येन म्रियमाणपत्यालम्बनविभावेन परिपुष्टिरिति करुणस्य प्रधानत्वमेव कथमङ्गत्वमत आह—एवं चेति । अविश्रान्तिधामतया साकाङ्क्षाक्यव्यङ्ग्यतया । एवं पदैः सकल्पदार्थोपस्थितौ खल्वेकपोतन्यायेन विशेष्यविशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरमिति रीत्या शब्दबोधे सति व्यङ्ग्यबोधेऽपीयं रीतिरिति भावः । भगवदुत्साहस्तत्र करुणस्तत्रापि शृङ्गारो व्यञ्जनया एकदैवाङ्गितयावगम्यत इत्युक्तया अवान्तरवाक्यार्थबोधक्रमेण शब्दबोधपक्षे व्यङ्ग्यार्थबोधस्यापि तद्रीतित्वेन विशिष्टवैशिष्ट्यमिति रीत्या शृङ्गारविशिष्टकरुणबोधे सति करुणविशिष्टभगवदुत्साहबोधः तदनन्तरं भगवदुत्साहविशिष्टभावबोधः क्रमाज्जायत इति मतेन परम्परया प्रधानोपकारमुपपादयति—द्वयोरपीति । करुणशृङ्गारयोरेति । अपरिपुष्टतयेति प्रधानस्य भूयस्युपकारे वर्तत इति प्रथममते स्वपरिपोषकं परिपोषणमात्रं प्रधानस्योपकारः । द्वितीये तु निरुक्तक्रमेण आत्सादातिशयजननमपीति विशेषः । स्थायिभावानामङ्गाङ्गिभावेनैव रसानामङ्गाङ्गिभाव इति काव्यप्रकाशकारः । यद्वा यासां पूर्वं प्राणेश्वरा हस्तधारणादिना प्रसादनपरा आसंत्सासामेवैदानीं शंभुशरस्तत्कर्मणैव तादृशीं दुर्दशा जनयतीति शृङ्गारेण परिपोषितः कविकरुण एव स्वजन्यभगवदुष्टनिग्रहोत्साहोद्बोधेन कविगतां भगवद्विषयां रतिं जनयित्वा तामेव सामाजिकानामात्सादकन्दतामुपनयतीति रसयोरेवाङ्गत्वम् ॥ एतन्मते प्रद्वेषमाह—नन्विति । समूहालम्बनात्मकेति । विभावादिपदार्थसमूहविषयकज्ञानरूपेत्यर्थः । पूर्णः समधिकः । घनः सुखान्तरतिरोधायकः । अपेरङ्गत्वेनापीत्यप्रेषणान्वयेन मतवैलक्षण्यावगमः । आत्सादप्रकर्षकतयेति । गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते । उपकारे प्रधानस्य तथा गूर्यसि वर्तते ॥ इति न्यायेनेति भावः । अस्यार्थः—गुणो विशेषणं कृतात्मसंस्कारः स्वविशेषणेन कृतोपकारः प्रधानं पार्यन्तिकविशेष्यं प्रतिपद्यते अन्वेति । तादृशः सत्त्व हि तिरोधायको य आनन्दस्वत्स्वरूपेत्यर्थः । एतादृशेन समूहालम्बनात्मकपूर्णघनानन्दरूपेण । एकवाक्येति । एकस्मिन्वाक्ये यो निवेशो व्यञ्जकतासंबन्धेन श्रुतिः स च प्रादुर्भावयौगपद्यं च

१. समूहेति । नानाप्रकाररतानिरूपितनानामुख्यविशेषवाशाद्विज्ञान समूहालम्बनम् ।

३. 'अपे' इत्यादि 'सत्त्वे हि' इत्यन्ता पाठः—पुस्तकान्तरे नोपलभ्यते.

साहि० ३८

हेण परस्परपेमर्दकत्वानुपपत्तेः । नाप्यज्ञाभिभावः द्वयोरपि पूर्णः
 स्वातन्त्र्येण विश्रान्तेः । सत्यमुक्तम् । अत एवात्र प्रधानतरेषु
 स्वातन्त्र्यविश्रमराहित्यात्पूर्णरसभावमात्राच्च विलक्षणतया संचारि
 नाम्ना व्यपदेशः प्राच्यानाम् । असत्पितामहानुजकविपण्डितमुख्य
 चण्डीदासपादानां तु खण्डरसनाम् । यदाहुः—

—‘अङ्गं वाच्योऽयं संसर्गायद्यङ्गी साद्रसान्तरे ।

नास्वाद्यते समग्रं तत्ततः खण्डरसः स्मृतः ॥’ इति ।

ननु ‘आद्यः करुणवीभत्सरौद्रवीरमयानकैः’ इत्युक्तनयेन विरो
 नोर्वीरशृङ्गारयोः कथमेकत्र

‘कपोले जानक्याः करिकलभदन्तयुतिमुपि

सरस्मेरस्फारोद्भुमरपुलकं वक्रकमलम् ।

‘मुहुः पश्यन्शृण्वन्रजनिचरसेनाकलकलं

जटाजूटप्रस्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥’

तयोर्विरहेणेत्यर्थः । यद्वा एकपाक्यार्थग्रहेण यौ प्रादुर्भावापुत्पत्ती तयोर्योगपर
 विरहेण एककालीनत्वविरहेण उपमर्दकत्वाभावात् परस्परपरिपोषकप्रतियन्धकत्वं
 भावात् । ‘राममन्मथ—’ इत्यादौ वीभत्सरशृङ्गारयोर्न युगपदुत्पत्ती, किं त्वभि
 यबोधानन्तरं वीभत्सरस्य न्यग्रयबोधानन्तरं शृङ्गारस्येति क्रमेणैवेति नानुपपत्तिः
 नापीति । रसयोरपीति शेषः । अत एव उक्तानिर्वाहादेव । प्रधानतरेषु अङ्गे
 स्वातन्त्र्येणादि विलक्षणतयेत्यत्र हेतुः । भावमात्राद्येति । अपरिमुष्टस्याभिभा
 वत्वेन भावत्वमभिप्रेत्य प्रधानत्वाभावाद्विलक्षणभावप्रदर्शनं खण्डरसनामेति व्यप
 देश इत्यन्वयः । एवं च पूर्णरसयोर्विरोधाद्यसंभवेऽपि खण्डरसपूर्वरसयोस्तद्विरो
 धादिसंभवः ॥ अङ्गमिति । अङ्गी रसो रसाग्रन्तरे यद्यङ्गम् । अथवा वाच्यं
 विरुद्धोऽपि स्मरणादिवल्यङ्गसमावेशः स्यात् । यदि वा संसर्गा अवितोधी प्रधा
 नानुपकारितया स्वातन्त्र्येण मिलितः स्यात्तदा समग्रास्वादाभावात्खण्डरसः स्मृतः
 इत्यर्थः ॥ ननु स्मरणादावेव विरुद्धयोः समावेशः प्रतिप्रसूतस्वदभावात् क्व
 ‘कपोले—’ इत्यादौ विरुद्धयोर्वीरशृङ्गारयोः समावेश इत्यभिप्रायेणाह—नन्वाद्य
 मिप्रायेणाह—नन्वाद्य इति । एकत्रेति । समावेश इत्यभिप्रायान्वयः । कपोल
 इति । वक्रकमलं कीदृशम् । कपोलवच्छेदे स्मरेण कामोदेकेण स्मेरः प्रकाशमान
 स्फारोद्भुमरोऽत्युत्कटः पुलको यत्र । कपोलस्य किंचित्पाण्डुत्वेन विमलत्वेन वा
 करिस्तलभदन्तोपमा । अत्र शृङ्गारस्य जानक्यालम्बनविभावः, तदीयतादृक्कपो
 उदीपनविभावः, तन्मुखकमलवलीकनमनुभावः । वीरस्य तु रजनीचरसेना आल
 म्बनम्, तदीयकलकलविधानमुदीपनविभावः, जटाजूटप्रस्थिदृढीकरणमनुभावः ।

इत्यादौ समावेशः । अत्रोच्यते—इह खलु रसानां विरोधिताया
वेरोधितायाश्च त्रिधा व्यवस्था । कयोश्चिदालम्बनैक्येन, कयोश्चिदा-
क्येन, कयोश्चिन्नैरन्तर्येणेति । तत्र वीरशृङ्गारयोरालम्बनैक्येन वि-
रोधः । तथा हास्यरौद्रवीमत्सैः संभोगस्य । वीरकरुणरौद्रादिभिर्विप्रल-
स्य । (आलम्बनैक्येन) आश्रयैक्येन च वीरभयानकयोः । नैरन्त-
र्येभावैक्याभ्यां शान्तशृङ्गारयोः । त्रिधाप्यविरोधो वीरस्याद्भुतरौद्रा-
त् । शृङ्गारस्याद्भुतेन भयानकस्य वीमत्सेनेति । तेनात्र वीरशृङ्गा-
रमिन्नालम्बनत्वान्न विरोधः ।

एवं च वीरस्य नायकनिष्ठत्वेन भयानकस्य प्रतिनायकनिष्ठत्वेन
बन्धे मित्राश्रयत्वेन विरोधः । यश्च नागानन्दे प्रशमाश्रयस्यापि
मृतवाहनस्य मलयवत्यनुरागो दर्शितः, तत्र 'अहो गीतमहो वादि-'
' इत्यद्भुतस्यान्तरा निवेशनान्नैरन्तर्याभावान्न शान्तशृङ्गारयोर्विरोधः ।
मन्यदपि ज्ञेयम् । 'पाण्डुक्षामं वदनं—' इत्यादौ (१७२ पृ.) च
द्भुतादीनामङ्गभावः करुणविप्रलम्भेऽपीति न विरोधः ।

अनुकारे च सर्वेषां दोषाणां नैव दोषता ॥ ३१ ॥

सर्वेषां दुःश्रवत्वप्रभृतीनाम् । यथा—

'एष दुःश्रवणं नौमीत्यादि जल्पति कश्चन ॥'

रस्य निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यतया प्रधानत्वम् ॥ स्मरणादावालम्बनाश्रयभेदनैरन्तर्या-
वैध्वपि विरोधिनोरेकस्मिन्समावेश इति सिद्धान्तमाह—इह खल्विति । आश्र-
त्येन नायकैक्येन । नैरन्तर्येण अव्यवधानेन ॥ विशिष्य दर्शयति—तत्रेति ।
शृङ्गारयोर्वीरसंभोगयोः । तथा आलम्बनैक्येन संभोगस्येति विरोध इत्यन्वयः ।
स्मरेऽपि । आश्रयैक्येन चेति । चकारेण आलम्बनैक्येनेत्यस्य समुच्चयः ।
रस्याद्भुतरौद्राभ्यां सहाविरोध आलम्बनैक्येन आश्रयैक्येन नैरन्तर्येण च
वति । एवं शृङ्गारस्याद्भुतत्वेन । भयानकस्य वीमत्सेन तु नैरन्तर्यमात्रेणाविरोधो
यः । वीरशृङ्गारयोरालम्बनभेदेनाविरोध दर्शयति—तेनेति । उक्तनियमेनेत्यर्थः ।
न 'कपोले—' इत्यत्र । मित्राश्रयत्वेनेति । उत्साहस्य प्रतिनायकविषयत्वेन
यकैक्येन निबन्धे मित्रालम्बनत्वेनाविरोधो ज्ञेयः ॥ इदानीं विरुद्धरसीयविभावा-
परिग्रहस्यादोषत्वं दर्शयति—पाण्डुक्षाममित्यादि । तथा च विरुद्धरसीयासा-
रणात्परिग्रह एव दोषो न तु साधारणात्परिग्रह इति भावः ॥ अनुकारे चेति ।

१. तत्रेत्यादि । तथा चोक्तं ध्वनिकृता—'एवमप्येव निबन्धो नैरन्तर्ये विरोधवान् ।
'न्तर्यवधिना रसो न्यस्य सुमेधसा ॥' इति ॥

अत्र दुष्ययनशब्दोऽप्रयुक्तः ।

अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः ।

अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुमयात्मता ॥ ३२ ॥

अनुभयता अदोषगुणता ॥

इति साहित्यदर्पणे दोषनिरूपणे नाम सप्तमः परिच्छेदः ।

‘अत्र मूलकारिकाः=३२ । पूर्वाभिः सह’ ६७८ । उदाहर-
णानि=१६६ । पूर्वैः सह ४८७ ।

परोक्षशब्दवाक्ययोः कर्मादित्वेनोपादाने चेत्पर्यः । अनुकरणे दुःप्रवस्यादोषत्वं
यथा—‘मृगवधुपनशक्षीदित्यादि कथयत्ययम् ।’ शब्दस्यानुकरणे द्युतसंस्कारस्या-
दोषत्वं यथा—‘पर्येष च गवित्याह मुग्रामार्गं यजेति च ।’ अत्र प्रथमपादे गोश-
ब्दस्य निर्विभक्तिरुक्तया द्युतसंस्कारत्वम् । द्वितीयपादे मुग्रामशब्दोऽप्रयुक्तो न
दोषः । दुष्ययनशब्दोऽप्रयुक्तो न दोष इति ज्ञेयः ॥ अदोषगुणता अदोषत्वं गुणत्वं
च रसादेर्निकर्षप्रकर्षबीजत्वाभावादुभयरूपम् ॥

इति श्रीरामचरणतर्कपाणीशमहाचार्यविरचितायां साहित्यदर्पणविद्वतौ

सप्तमः प्रकाशः ।



अष्टमः परिच्छेदः ।

गुणानाह—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा ।

गुणाः—

यथा स्वस्वङ्गित्वमाप्तस्यात्मन उत्कर्षहेतुत्वाच्छौर्यादयो गुणशब्द-
वाच्याः, तथा कान्येऽङ्गित्वमाप्तस्य रसस्य धर्माः स्वरूपविशेषा माधु-
र्यादयोऽपि स्वसमर्पकपदसंदर्भस्य काव्यव्यपदेशस्यौपयिकानुगुण्यभाज
इत्यर्थः । यथा चैषां रसमात्रस्य धर्मत्वं तथा दर्शितमेव ।

* काव्यलक्षणकारिकोद्देशक्रमप्राप्तानुगुणानिरूपयति—गुणानिति । रसस्यैव-
नेन काव्यशरीरस्य शब्दार्थयोर्भ्यवच्छेदः । अङ्गित्वमाप्तस्येति । ऋष्टं यद्
यथासंभवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तयोर्व्याख्यायते—यथा रस्यति । लोके इति पूरणी-
यम् । आत्मन इति अङ्गित्वमाप्तस्यैवस्य विशेष्यम् । कान्ये कविमणिती । अ-
ङ्गित्वं विभावाद्यप्रसमुदाययोगेन पूर्णत्वम् । एतेन खण्डरसे माधुर्यादीनामनु-
भूयमानत्वादसंभव इति सूचितम् । स्वरूपविशेषाः विशेषणप्रभेदाः । माधुर्यादीना-
मन्यतमस्य काव्यत्वव्यापकतया उत्कर्षहेतुत्वाद् गुणव्यवहारोपयिकं धर्मान्तर-
माह—स्वसमर्पकेति । स्वं रसत्वस्य समर्पको व्यञ्जको यः पदसंदर्भो वाक्यं
तस्य काव्यव्यपदेशस्य काव्यव्यवहारस्य औपयिकमुपयोगि यद्वानुगुण्यमात्रवृत्त्यं
तद्भाजः गुणशब्दवाच्या इत्यन्वयः । एतच्च गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोः
काव्यशब्दोऽयं वर्तत इति प्राचीनमतानुसारेणोक्तम् । स्वमते तु रसवत्त्वमेव का-
व्यव्यवहारोपयिकम्, न तु गुणत्वम् । यद्वा । रसवत्त्वं काव्यलक्षणम् । व्यवहा-
रपीजं तु गुणालंकारसंस्कृतशब्दार्थत्वमेवेति स्वमतेनेवेदमुक्तम् । एवं च काव्य-
व्यवहारप्रयोजकत्वे सति रसधर्मवत्त्वं गुणलक्षणम् । रसत्वादिव्याप्यस्यैव सत्त्वं
नत्वम्, अलंकारव्याप्यस्यैव विशेष्यम् । ननु गुणानां शब्दार्थधर्मत्वं प्राचीनैक-
कम्, भयता तु कथं रसधर्मत्वमुच्यत इत्यत आह—यथा चेति । एषां गुण-
नाम् । मात्रपदेन शब्दार्थयोर्भ्यवच्छेदः । दर्शितं दर्शयितुमारब्धम् । माधुर्यादि-

* मुद्रितपुस्तके सप्त नारदस्य परिच्छेदान्तं - नारदः स्वात्मस्वान्तरासमाप्नो भूवान्प्रव-
नेद उपलभ्यते । स नारदस्य कथादिशानुपन्यसते—“लोपात्रिरूप्य गुणानिरूपयति—
गुणानिति । काव्यलक्षणोद्देशकनेनेति शेषः । रसस्य कश्चित् मुख्यत्वम् । एतच्च शब्दा-
लंकारयोः काव्यव्यवहारोपयोजकत्वात् । लोपात्रिरस्य इत्यादिपदादिप्रातिपदिकानां महत्तम् ।
स्वरूपमिदेषानिर्गुणमिदेषानि माधुर्यादयोऽपि गुणव्यवहारव्याप्य इत्यन्वयः । गुणरसस्य
भुततत्त्वमाह—स्वेति । स्वं सत्यतो रसः तस्य समर्पको व्यञ्जको यः पदसंदर्भः पद-
व्यपदेशो वाक्यमिति वाच्यम् । तद्व्यवहारदेशः काव्यव्यवहारो तस्योपयिकमुपयोजि

माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति चे' त्रिधा ॥ १ ॥

ते गुणाः । तत्र—

चित्त्रवीभावमयो ह्यदो माधुर्यमुच्यते ।

स्वरूपनिरूपणेनेवागीषा रसधर्मत्वं व्यञ्जीभवित्युच्यते भावः ॥ गुणान्विभजने—
माधुर्यमिति । चित्त्रवीभावमथ इति स्वार्थे मयद् । ह्यदोः गुणसंयोजितप्रतीतिः ।

यदागुण्यमानुशुस्यं तज्ज्ञानः । रसस्यैव काव्यव्यवहारोपयोगित्वं तदुत्कर्षद्वारा गुणा-
नामपि सदित्यवधेयम् । ननु गुणानां वामनादिभिः शब्दार्थधर्मत्वमुक्तम्, किमिति
नवता रसमात्रधर्मत्वमुच्यत इत्यत आह—यथा चैवामिति । यथा गुणानाम् । ए-
वेति । काव्यप्रकाशोक्तकाव्यलक्षणदूषणप्रकरणेति 'किंच शब्दार्थयोः सगुणत्वविशेषण-
मनुपपन्नम्—' इत्यादिना । गुणान्विमज्जति—माधुर्यमिति । माधुर्यमाह—चित्तेति ।

१. ते त्रिधेति । वामनादयस्त्वोजभादीन्द्रश्च गुणानाहुः । ते यथा—'पदन्यासस्य
गायत्र्य वदन्त्योजः कवीश्वराः । अनेनाधिष्ठिताः प्रायः शब्दाः श्रोत्ररसायनम् ॥ शब्द-
स्वमोजसा मिथं प्रसादं च प्रचक्षते । अनेन न विना सर्वं स्वदते काव्यपदतिः ॥
यत्रैकपदवद्भावः पदानां भूयसामपि । अनालक्षितसपीनां स श्लेषः परमो गुणः ॥ प्र-
तिपाद्यं प्रतिष्ठाकमेकमार्गपरिग्रहः । दुर्वन्धो दुर्विभावश्च समतेति यतो गुणः ॥ भारोह-
न्यवरोहन्ति क्रमेण यतश्चो हि यत् । समाधिर्नाम स गुणस्त्वेन पूता सरस्वती ॥ कथं
पृथक्पदत्वं च माधुर्यमुदितं गुणैः । अनेन हि पदन्यासाः कर्म धारा नपुत्रयुतः ॥
यथाहि चिच्छपते रेखा चतुर चित्रपण्डितैः । तथैव वागपि प्रायैः समस्तगुणगुम्फिता ॥
बन्धस्याजरठत्वं च सौकुमार्यमुदाहृतम् । पतेन वर्जिता वाचो रूक्षत्वात् क्षुतिक्षमाः ॥
विकटत्वं च बन्धस्य कथयन्ति सुदारताम् । वैविध्यं न प्रपद्यन्ते यथा शून्याः पदकमाः ॥
पश्चादपि गतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुनः । यनार्थव्यक्तिदेष्टुत्वारसोऽर्थव्यक्तिः स्मृतो गुणः ॥
औष्ण्यवत्त्वं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविचारदाः । पुराणचित्रस्थानीयं तेन बन्धं कवेर्वचः ॥'
इति । सरस्वतीकण्ठाभरणे तु चतुर्विधतिर्गुणाः । तत्र दद्य निरूपिता षण् षेयाः,
इतरे तुल्यन्ते—'छाव्यविशेषणयोगत्वंमुदात्तता । गाढवन्धत्वसौर्जित्यम् । चादृक्कित-
हकारिप्रियतराख्यानदर्व प्रेयः । सुसिद्ध्युत्पादनं सुसन्दृष्टा । यथा—'तस्याजीवनि-
रेस्तु मातरं मां जीवस्य मा जीवतो भूयाद्वा जनने किमिव जनिना जन्तोर्भूया-
जीविनः । यस्त्वामेव न वन्दते न यजते नोपैति नालोकेते नोपस्यीति न
मन्यते न मनुते नाध्येति न ध्यायति ॥' अत्राजीवनिरजननिरित्यादीनां दुबन्धानां
वन्दते यजत इत्यादीनां शिङ्गानां च न्युत्पत्तिः सुसन्दृष्टा । शब्दानामन्तः
सजल्यरूपत्वं सौक्ष्म्यम् । यथा—'केवलं दक्षि कर्तृवाचिनः प्रत्ययानिह न ज्ञातु
कर्मेणि । पातवः सजतिर्सदृशास्तवः स्तोतिरत्र विपरीतस्मरकः ॥' अत्र श्रुतावगत्वा-
न्पार्थस्य सजति, सहरति शास्त्रि स्तूयत इति पदानामन्तःसजल्यरूपेण सूक्ष्मवया
सूक्ष्मत्वम् । ध्वनिगत्ता गाम्भीर्यम् । यथा 'मौले धारय पुण्डरीकममिवं तन्वात्मनो

यत्तु—केनचिदुक्तम्—‘माधुर्यं द्रुतिकारणम्’ इति तन्न । द्रवीभा-
वस्यास्वादस्वरूपाहादाभिन्नत्वेन कार्यत्वाभावात् । द्रवीभावश्च । स्वाभा-
विकानाविष्टत्वात्मककाठिन्यमन्युक्रोधादिकृतदीप्तत्वविषयहासाद्युपहित-

‘आहादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्’ इति कान्यप्रकाशः । शृङ्गारादिष्वनु-
भवसिद्धमेवाहादजनकत्वं तदेव माधुर्यम् । तस्योत्कर्षाधायकत्वमाह—‘द्रुतिका-
रणमिति ॥ एतद्वृण्यति—यत्त्विति । तत्कार्यत्वाभावात् माधुर्यजन्यत्वा-
संभवात् । आहादातिरिक्तस्य द्रवीभावस्य निर्वक्तुमशक्यतया आहाद एव पर्यव-
सानम् । एवमाहादजनकत्वापेक्षया लघुन आहादत्वस्यैव माधुर्यपदशक्यताव-
च्छेदकत्वमुचितमित्याहाद एव माधुर्यपदार्थ इति भावः । ननु द्रवीभावस्यावदाहाद
एव भवतोच्यते तस्य रसाभिन्नतया रसधर्मत्वं नोपपद्यत इत्यत आह—‘द्रवी-
भावश्चेति । काठिन्यादिपरित्यागस्य रसोद्बोधहेतुत्वं दर्शयति—स्वाभावि-
केति । मन्युः शोकः, रीतत्वं दग्धप्रायत्वम्, रसादीत्यादिपदेन शोकप्रशमयो-

स्वार्थे मयद् । हाद आनन्दविशेषः । द्रुतिकारणं माधुर्यमिति । कान्यप्रकाशोक्तं लक्ष्मं
दूषयति—धरिषति । द्रुतिकारणमाहादो माधुर्यमिति । दूषयति—तप्तेति । आस्वादो
रसस्य स्वरूपं स्वरूपविशेषश्चिन्तनिर्गृहीतरूप आहादः । कार्यत्वाभावात् निरक्ताहादज-
न्यत्वायोगात् । द्रवीभावस्य आहादजन्यत्वाभावेन आहादस्यापि तज्जनकत्वाभाव इति
भावः । गूढविषयसंचाराक्षमत्वमनाविष्टत्वम् । मन्युः शोको दैन्यं वा । क्रोधादीत्यादि-

विक्रम चक्राहं बह पादयुग्ममवनीं दोष्णा समन्युदर । लक्ष्मीं भ्रूनिक्टे निवेशय भव
ज्यायान्दिवोक्तरपेर्विश्रान्तःकरणैकचौर तदपि ज्ञातो हरिः खल्वसि ॥’ अत्र नाभ्या
पुण्डरीकधारणं अपरमितविक्रमत्वं चक्राकृतकरत्वं दंष्ट्रया वसुधोद्धारणं वक्षस्यलनिवेशित-
लक्ष्मीकत्वमिन्द्रावरजत्वं च ध्वनतीति गाम्भीर्यम् । व्यासेनाभिधानं विस्तरः । समासे-
नाभिधानं संक्षेपः । यथा—‘स माकृतिसमानीतमहीषभिहतव्ययः । लङ्काकीर्णां पुन-
श्चक्रे विलापाचार्यक शरैः ॥’ अत्र कथाविस्तरप्रतिपादयत्यर्थेन प्रकृतसंभारसविच्छेदा-
शङ्कया श्लोकार्थमात्रेणोक्तव्याससंक्षेपः । भावद्वयपदत्वं संमितत्वम् । यथा—‘केचिद्वस्तुनि
नो वाचि केचिद्वाचि न वस्तुनि । वाचि वस्तुनि वाप्यन्ये नान्ये वाचि न वस्तुनि ॥’
अत्रार्थेन प्रदर्शितं च तुल्यविश्रुततुल्यत्वेन संमितत्वम् । भावतो वाङ्मयवृत्तिर्भौतिकम् ।
आरोहायरोहयोः क्रमो गतिः । यथा—‘वराहः कल्याण वितरतु स वो यस्य शशमृ-
रकलाकोटीकान्त क्रमविदलदभ्युदयतिगिर्या । मिथः संमूलेऽस्मिन्नुदधिकछोऽपटलेरना-
सृष्टं दष्टाशिक्षरमभिषेजे वसुमती ॥’ अत्र पूर्वार्थे स्वरस्यारोहादुत्तरार्थे चावरोहादतिः ।
उपक्रमनिर्वाहो रीतिः । निश्चिष्टपण्डिरुक्तिः । यथा—‘कुण्डं तस्या जीवति कुण्डं
पृच्छामि जीवतीत्युक्तम् । पुनरपि तदेव कथयति श्रुत्वा न कथयामि या श्रुतिरिति ॥’ अत्र
कुण्डं तस्या इति पृष्टे कुण्डलमकुण्डल चेति वक्तव्ये, योऽयं जीवत्याशुकिभग्नया जीवित-
मात्रशेषताप्रतिपादनप्रकारः स उक्तिसंबन्धः । उक्तिप्रौढपरिपाकः प्रौढिः । यथा—

विशेषपरित्यागेन । रत्याधाकारानुविद्धानन्दोद्बोधेन । सहृदयचित्तार्द्रप्रा-
यत्वम् ।

तच्च—

संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ॥ २ ॥

ग्रहणम् । रत्यादिभिराकारैर्विषयैरनुविद्धः संवर्तितो य आनन्दोद्बोधो रसास्वादः
तेन । एवं च शृङ्गाररुक्मणश्चान्तरसोद्बोधानन्तरं जायमानो रत्याद्यविषयकः सह-
ृदयचित्तद्रवीभावरूपः केवलानन्दसेदोद्बोधमवो माधुर्यं तस्य जनकतासंयन्धेन
रससंबन्धितया रसधर्मत्वमक्षतमेवेति भावः । केचित्तु—‘रतिशोकप्रशमेपु गुर्ज-
र्यादिरागवृत्तिरिव कथिदेको धर्मोऽस्ति स एव माधुर्यं येन सामाजिकानां चित्तं
द्रवीभवति । रत्यादीनां रसरूपतया परिणामेन तस्य रसवृत्तित्वम्’ इति वदन्ति ।
तत्र । तत्र तादृशधर्मसत्त्वे मानाभावात् । नच वृत्तिरूपकार्यान्ययानुपपत्त्या तत्क-
ल्पनमिति वाच्यम् । तस्य रसस्वभावेनैव सिद्धत्वात्तदर्थं धर्मान्तरकल्पनानीचि-
त्यात् । गुर्जर्यादौ तु प्रत्यक्षसिद्ध एव तादृशधर्मः । अन्ये तु—‘सुधभवत्वमेव माधुर्यं
वाच्यधर्मः’ इत्याहुः । तत्र । असुधवत्त्वेऽपि कान्ये माधुर्यस्योपलम्भात् ॥ माधुर्य-
विषयानाह—तच्चेति । माधुर्यं चेत्पर्यः । संभोगापेक्षया करुणे, तदपेक्षया विप्र-
लम्भे, तदपेक्षया शान्तेऽधिकम् । साविशयमित्यर्थः । केचित्तु—‘करुण’ इति
विप्रलम्भविशेषणम् । तच्च ‘अश्रुपातादयस्तत्र दृढत्वाच्चेतसो मत्ताः’ इत्यनेन करु-
णेऽपि चित्तद्रवीभावस्याङ्गीकारेण माधुर्यस्वीकारात् । ‘अपसारय धनसारं—’ इत्यादौ

पदाञ्जुगुप्सादिपरिग्रहः । विषयहासादीत्यादिपदेन भयादिपरिग्रहः । उपहितमुपभानं सं-
न्यस्तदात्मनो विशेष इत्यर्थः । यदा विषयादिभिरुपहितं उपपादितो विशेषो विषयान्-
रामाश्रितम् । रत्यादीत्यादिपदेन हासादीनां ग्रहणम् । रत्यादेराकारः परिणामो हार्म
वेदानुविद्धः संवर्तित आनन्दस्वसोद्बोधेन रसास्वादेन आर्द्रप्रायत्व निरतिशयानन्दसा-
न्दस्यत् । तच्च स्वविषयकानुभवसम्बन्धेनानन्दभागित्वं तच्चावन्द एव पर्यवसन्नमित्यभि-
प्रायः । केचित्तु—‘गुर्जर्यादिरागवृत्तिरिव रसवृत्तिः कथिदेको धर्मोऽस्ति स एव वृत्ति-
रूपाकादस्य जनको माधुर्यमुच्यते’ इत्याहुः । तत्र । रसस्यैव तादृशाकादजनकत्वाद्भो-
कारेणैवोपपत्तौ तद्वृत्तिधर्मान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । तच्च माधुर्यं च । अधिकमु-
त्कर्षाविशयजनकम् । क्रमादिति । संयोगादीनां पूर्वपूर्वमुपेक्ष्य उत्तरोत्तरं उत्कर्षाति-
शयजनकत्वमिति भावः । संभोगाभासादिष्वपीति । अतिरेवार्थः । परस्व माधुर्यस्य ।
माधुर्यव्यञ्जकान्वर्णादीनाह—मूर्ध्नीति । पुरखादित्यर्थः । युक्ता इति । मूर्धस्वर्गान्त-
सजादीयवर्णा इत्यर्थः । ऊर्ध्व वर्णान्तरयोगराहित्येन ऊर्ध्वमयलोच्छर्वा, न तु पुरविपरीतो ।

‘मभ्युदृता वयमपी दलितं रिपूः क्षिप्रकया कवलिषा वलिगन्धर्वाः । अत्रैकनन्मनि
द्वयं भवनेन गुना जन्मनये तदकरोत्पुरुषः पुराणः ॥’ इति ॥

संभोगादिशब्दा उपलक्षणानि । तेन संभोगाभासादिष्वन्येतस्य स्थितिर्ज्ञेया ।

मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टडडान्विना ।

रणौ लघू च तद्वक्तौ वर्णाः कारणतः गताः ॥ ३ ॥

अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ।

यथा—

‘अनङ्गमङ्गलमुवस्तदपाङ्गस्य भङ्गयः ।

जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तःसंतापसंततिम् ॥’

यथा वा मम—

‘लताकुञ्जं गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं चपलय-

न्समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रवलयन् ।

विप्रलम्भान्तरेऽपि माधुर्योपलम्भाच्च ॥ एतस्य माधुर्यस्य ॥ माधुर्यव्यञ्जक-
न्याह—मूर्ध्नीति । वर्गान्त्यवर्णेन स्ववर्गान्त्यवर्णेन । युक्ताः कादयो मान्ता
इत्यर्थः । लघू विसर्गवर्णान्तरायुक्तावयुक्तान्तौ च, न तु गुरुविपरीतौ । ‘स्वयं
हाराकारा गच्छति जलधारा कुवलयत्’—इत्यादौ । ‘अपसारय घनसारं कुह हारं,
वृष्ट एव किं कमलैः ।’ इत्यादौ दीर्घानुसारयोगेन गुरोरपि रेफस्य माधुर्यव्यञ्ज-
कत्वदर्शनात् । केचित्तु—‘लघू ह्रस्वान्तौ’ इत्याहुः । तच्च । ‘सरः खरः खलः
फालः—’ इत्यादौ ‘परस्परसर्धिवरः स्वयंवर—’ इत्यादौ च रेफस्य ह्रस्वान्तत्वेन
माधुर्यव्यञ्जकत्वापत्तेः । ‘पुरो रेवापारे गिरिरिति दुरारोहशिखरः—’ इत्यादौ ह्रस्वा-
न्तत्वाभावेन माधुर्यव्यञ्जकत्वानुपपत्तेः ॥ अवृत्तिः समायाभावः । अल्पवृत्ति-
रधीर्यसमासः । मधुरा तु श्रवणवर्णाघटितत्वेन मनोरमा । रचना पदसदर्थः ।
निरुक्तवर्णबहुला बहुतरनिष्ठराक्षररहिता नि समासा अल्पसमासा वा सुकुमारार्थ-
प्रतिपादिना माधुर्यव्यञ्जिकेति तात्पर्यार्थः ॥ माधुर्यमुदाहरति—अनङ्गेति । अन-
ङ्गस्य मङ्गलभुवो जन्मस्थानानि । तस्या अपाङ्गस्य नेत्रप्रान्तस्य भङ्गयो विक्षेपाः ।
लताकुञ्जमिति । लतापदं मुरगिपुष्पलता बोधकतया सार्थकम् । अवृत्तेर्माधुर्य-

* मुद्रितपुस्तके—मूर्ध्नीति । अग्रभागे स्वस्ववर्गान्त्यवर्णसंज्ञिता इत्यर्थः । यथा—अनङ्ग-
मङ्गलेत्यादि ॥ यथात्वे ‘अपसारय घनसारं कुह हारं’—इति काव्यप्रकाशोक्तं तदुदाहरणमसंगतं
स्यात् ॥ ‘स्वयं हाराकारा गच्छति जलधारा कुवलयत्—’ इत्यादौ चानुभवसिद्धस्य दीर्घरेफस्य
माधुर्यव्यञ्जकत्वस्यापठनप्रसङ्गाच्च । तद्वच्च माधुर्यव्यञ्जने । अवृत्तिः समायाभावः ।
अल्पवृत्तिरल्पसमासः । मधुरा मृदुपदानुभासादिरुचिरा रचना । यथा—‘मधु-
वोषितमाधवी—’ इत्यादि । यथा माधुर्यव्यञ्जिका । अनङ्गेति । कामस्य मङ्गलभुवोऽभि-
मतसिद्धिस्थानानि तस्या नेत्रप्रान्तस्य भङ्गयो विक्षेपविक्षेपाः । क्वेति । गुञ्जन्तो मधुर-

“महन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलय-

त्रजोवृन्दं विन्दन्किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥”

ओजधित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ॥ ४ ॥

वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिवयमस्य तु ।

असौजसः । अत्रापि वीरादिशब्दा उपलक्षणानि । तेन वीरमा
सादावप्यस्यावस्थितिः ।

वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ॥ ५ ॥

उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफौ टठडटैः सह ।

शकारश्च पकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गताः ॥ ६ ॥

व्यञ्जकत्वं यथा—‘मुद्रितामिन्दुमालोक्य पद्मिनीं पश्य सुन्दरि । इन्त कान्तस्य
विच्छेदे मधुरोऽपि न रोचते ॥’ सुकुमारार्थप्रतिपादकरचनाया माधुर्यव्यञ्जकत्वं
यथा—‘उचितं गोपनमनयोः स्तनयोः कनकाद्रिधर्मतस्करयोः । अवमानितविधु-
मण्डलसुखमण्डलगोपनं किमिति ॥’ । ओजोगुणमाह—ओज इति । धीतत्व-
मोजः । तत्र धीतत्वमाह—चिन्तेति । सत्साहाय्याकारानुबिम्बमत्कारोद्घोषेन जा-
यमान उत्साहाद्यविषयकचमत्कारोद्घोष इति तदर्थः । केचित्तु—‘धीतत्वं कटु-
वर्णध्वजवर्णम्यधोनहुःखसंभिन्नमुखविशेषः, स एव चित्तविस्तारः’ इत्याहुः । तत्र ।
अतिदुःखरसायनबन्धव्यवधाने वीरवी तदभावप्रसङ्गात् । ‘चित्तविलाररूपही-
तत्वजनकमोजः’ इति काव्यप्रकाशः । तत्र । वीरादिभ्य एव जायमानही-
तत्वस्यैव ओजःस्वीकारेणोपपत्तौ तजनकधर्मान्तरकल्पने मानामाधान् । ओजो-
विषयानाह—वीरेति । वीरपेक्षया वीमत्से, तदपेक्षया रौद्रे ओजस आधि-
क्यमतिष्ठयः । रौद्रवीरे च निष्प्रतिभटमोजः । वीमत्से तु माधुर्येणानुपिदम् ।
ह्यसाद्रुतभवानकेषु द्वयोः समवेदो ध्वनिसिद्धान्तसंग्रहोफरित्वा श्रेय इति
चण्डीदासः । एतन्मते वीमत्सापेक्षया रौद्रवीर्योरोजस आधिपत्यम् ॥ ओजो-
व्यञ्जकध्वनार्थानाह—वर्गस्येति । सजातीयस्य विजातीयस्य वेत्यर्थः । तद-
न्तिमौ वर्गाद्यतृतीययोरन्त्यौ वर्गस्य द्वितीयचतुर्थौ । सरेफादिति । द्विचनं

शून्यो मदकन्तश्चातिपुत्रा भमरलेखयो यत्र । तदपत्यम् कम्पयन् । दलितं मृदुलम् ।
तरलयन् कम्पयन् । रनोवृन्दं परागसमूहम् । विन्दन् गृह्यन् । विरिरति निधिरति ।
मकरन्दं पुष्परसम् । उदाहरणस्य मूर्धसवर्णान्तवर्णानामप्यसमासस्य च माधुर्यव्यञ्ज-
कम् । अद्यमासस्य यथा—‘माने विमुञ्चं कस्यापि दाष्टं मागनुकम्पय । निवसेदि ह्यो-
पागवपरस्य च कम्पयन् ॥’ ओजोगुणमाह—ओज इति । चित्तविलारे वीरादिरसा-
कारेण जायमानो विलसविशेषः । अत्रापि ओजोव्यञ्जकेति । तदन्तिमौ वर्गद्वितीयवर्ग-

तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी ।

था—‘चञ्चद्भुज-’ इत्यादि (३०२ पृ.)

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ॥ ७ ॥

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।

मादिकम् । रेफयुक्तस्य यस्यकस्यचिदपि वर्णस्य ओजोव्यञ्जकत्वात् । एतदुप-
क्षणम् । माधुर्यव्यञ्जकतिरिक्तो युक्तो विसर्गयुक्तश्च वर्ण ओजोव्यञ्जकः । अत-
एव ‘उत्कृष्योत्कृष्य-’ इत्यादौ, ‘यो यः पाश्चात्तोत्रे-’ इत्यादौ च ओजोव्यञ्ज-
कत्वमक्षतमेव । दादयस्तु केवला अप्योजोव्यञ्जकाः । समासो बहुल इति ।
ओजोव्यञ्जकवर्णघटितसमासाधिस्यमप्योजोव्यञ्जकमिति पृथगुपादानम् । घटना
इदसंदर्भः औद्धत्यशालिनी उद्धटाश्रयबहुला उद्धटार्थप्रतिपादिका च । द्वितीय-
प्रकारसंप्रदाय एतदुपादानं सार्धम् । तेन ‘आपतन्तममुं दूरादूरीकृतपरक्रमः ।
‘लोडवलोकयामास मातङ्गमिव’ केसरी ॥’ इत्यादावोजोव्यञ्जकत्वमुपपन्नम् ॥
प्रसादगुणमाह—चित्तमिति । य इति । आस्वादव्यपक्षेण आस्वादाख्यः कश्चि-
देको धर्मोऽस्ति येन व्यञ्जयानामास्वाद्यत्वं चोपपद्यते । स एव प्रसादाख्यो गुण
इत्यर्थः । तदुक्तं चण्डीदासेन—‘चित्तं यो व्याप्नोति आविष्टं करोति स प्रसाद-
नामा आस्वादात्मा गुणः ।’ अनल्पक्षे—व्यापनं संयोगानुकूलव्यापारः । गुणपक्षे
त्वाद्—व्याप्नोतीति । आविष्करोति व्यासन्ननिराकरणेन निर्मलं करोति । प्रसादप-
दप्युत्पत्तिर्न्योऽयमर्थः ‘आविष्टं करोति’ इति पाठे स्वाधयनिविष्टं करोतीत्यर्थः ॥
प्रसादविषयानाह—समस्तेष्विति । रसेषु कव्यात्मभूतेषु । तेन भावार्थानामपि
गुणत्वमुपपद्यते । अन्यथा तत्र वाक्यव्यवहारो न स्यात् । रचनासु चेति ।

चतुर्थी । द्वयोर्वर्णपक्षे श्रेयानिति वर्णसादिवृत्तीषी च तदन्तिमो च । घटना गन्धः ।
औद्धत्यशालिनी कम्बरा । सा च संयुक्तवर्णवातुल्येन भवति । चञ्चदिति व्याख्यातमिदं
माह । अत्र समासवातुल्यकम्बरावर्णयोरोजोव्यञ्जकत्वं वर्णस्वारीत्युक्तवर्णस्य । यथा—
‘अनेन टिन्दता मातुः कण्ठं परशुना तव । कदम्बपत्रैः कृपाणोऽयं लज्जते मम भा-
ग्ये ॥’ अत्र वृत्तिवशादे दक्षरयुक्त्यै वकाशे ओजोव्यञ्जक्यै । ‘रिक्तप्रोदधिक्रमः’ इत्य-
त्रासंसर्गो वकाशे । वस्तुतस्तु माधुर्यव्यञ्जकतिरिक्त्यै वर्णान्तरसंयुक्त्यै दिवा अयेऽपि
वर्णो ओजोव्यञ्जकः । यथा—‘समरे मात्रे संस्मादुपदिनकरपुलिः । दुताशुशुब्द-
काशोचनो नृपगवः ॥’ अत्र द्वितीयपादे संयुक्तवर्णप्रयोगोऽप्युक्तः । ओजोव्यञ्ज-
काधुरपटिः शत्रुपदसमासछायाशुशुब्दोदपटिवो गन्धश्च ओजोऽतिशयव्यञ्जक्यै ।
‘दीप्तवद्विचयोरीक्षनेयानीतिद्विदलः । चण्डप्यानपरिषत्तद्विद्वानोऽल्लो गुपि ॥’
‘उपदिनकरपटः मन्दवज्रवज्रनेत्रुनः । भार्गवो नृपवर्गस्य वरपुत्रेष्ट पुत्रे लिव ॥’ मन्त्र-
दगुणमाह—चित्तमिति । आविष्टमधिकनिविष्टम् । तद्व्यञ्जकः मन्त्र इत्येवमर्थः । रग-

व्याप्नोति, आविष्करोति ।

शब्दस्तब्धज्ञका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ॥ ८ ॥

यथा—

‘सूचीमुखेन सकृदेव कृतत्रणस्त्वं

मुक्ताकलाप लुठसि स्तनयोः प्रियायाः ।

नाणैः सरस्य शतशो विनिकृतमर्मा

स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि ॥’

एषां शब्दगुणत्वं च गुणवृत्त्योन्यते बुधैः ।

सप्तम्यर्थो व्यङ्ग्यः । तेन समस्तरचना व्यङ्ग्येत्यर्थः ॥ ओजोमाधुर्यवदस्य रचना-
विशेषो व्यङ्ग्यको नास्ति, किन्तु शब्दस्यसंभर्पकपदपठिता रचनैव व्यङ्ग्येति
प्रतिपादयितुमाह—शब्दा इति । तच्चञ्जकाः प्रसादव्यञ्जकाः । ननु गुणानां
रसधर्मत्वस्वीकारे प्राचीनसमतशब्दार्थधर्मत्वमेवा कथमुत्पद्यत इत्यत आह—
यपामिति । माधुर्यादीनामित्यर्थः । शब्दगुणत्वं शब्दार्थधर्मत्वम् । गुणवृत्त्या
आधयरसव्यञ्जकत्वरूपपरम्परारूपसंयन्धेन । युधैर्बामनादिभिः । शौर्यादेरुत्तमधर्मस्य
यथा शरीरवृत्तित्वं यथा वा स्थूलत्वादेः शरीरधर्मस्य आत्मवृत्तित्वं परम्पर-
संयन्धेन, तथेवमर्थः । ननु गुणानां रसवृत्तित्वस्य निरुक्तपरम्परयाः संयन्धत्वस्य च
कल्पने गौरवमतः शब्दार्थवृत्तित्वमेव कल्पयितुमुचितमिति चेत् । न । कचिन्मीरसे
गुणानि व्यञ्जकशब्दार्थयोः संभवेऽपि माधुर्यादेरुपलम्भात् । कचिन्नु तदसंभवेऽपि
रसत्वेनैव तदुपलम्भाच्च रसान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन रसवृत्तित्वकल्पनस्यैवो-
चितत्वात् ॥ ननु धामनादिभिः श्लेषादयो दृश शब्दगुण्य ओज आदयो दृशार्थगुण-
उक्ताः, भवद्विस्तु माधुर्यादयस्त्रय एव कथमुच्यन्ते इत्यतस्तान्मया संभवं श्लेष-
गुणव्यञ्जकरोपाभावात्वंकारगुणीभूतव्यङ्ग्येष्वन्तर्भावयन्प्रथमं शब्दगुणान्श्लेषगुण-

वृत्तिः कचिद्वनैः येन सामाजिकानां चित्तं विषयान्तरेभ्यो व्यवस्थितं सस्तिप्रकाशित-
विष्टं करोति । माधुरीनद्योत्रेनकरवसंयन्नेन रसवृत्तित्वं प्रसादस्य तरतिरेकेनेत्यवदे-
यन । कृतत्रणः वृत्तिवृद्धः । मर्मे मनः । तां प्रियाम् । एषां विकृतगुणानाम् । शब्दे-
रुपलब्धगन् । मर्मेगुणमति बोध्यम् । गुणवृत्त्या साधयरसव्यञ्जकत्वरूपपरम्परारूपसं-
यन्धेन । युधैर्बामनादिभिः । शौर्यादिगुणवर्णनम् । अत्र सप्तमस्या-
न्वयश्लेषकत्वं परम्परारूपसंयन्धः । धामनापुच्छदग्निपुष्पाणां श्लेषगुणव्यञ्जकादीं एषा-
वयमन्तर्भावमाह—श्लेष इति । भवदा व्युत्पन्ना । ओजःपदवाग्दे ओजःपरवर्ति-

‘शरीरस्य शौर्यादिगुणयोगं इव’ इति शेषः ।

श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः ॥ ९ ॥

गुणाधिरंतनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते ।

ओजसि भक्त्या ओजःपदवाच्ये शब्द(अर्थ)धर्मविशेषे । तत्र श्लेषो

बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा । यथा—

‘उन्मज्जलकुञ्जरेन्द्ररभसास्फालानुबन्धोद्धताः

सर्वाः पर्वतकंदरोदरभुवः कुर्वन्प्रतिध्वानिनीः ।

व्यञ्जकदोषाभावयोरन्तर्भावयति—श्लेष इति । भक्त्या लक्षणया । ओजःपदवाच्ये ओजःपदप्रतिपाद्ये । चित्तविस्ताररूपे ओजस्यन्तर्भावसंभवादिति भावः । शब्दधर्मविशेषे बन्धपादत्वरूपे । अत्रार्थपदं चिन्त्यम् । अर्थधर्मे प्रौढत्वरूप ओजसि शब्दश्लेषादीनामन्तर्भावसंभवात् । एकपदवदिति । संध्यादि-वशादनेकपदानामुच्चारणकालभेदः स्पष्टं नावभासत इत्यर्थः । केचित्तु—‘समासाभावात्’ इति व्याकल्पते । तत्र । वामनोपदर्शितस्य असमासत्वेऽपि ‘अस्त्युत्तरस्यां’ विशि ‘देवतात्मा’ इति श्लेषोदाहरणस्य समाससत्त्वेऽपि ‘तडित्कपिलमाकाशं—’ इत्यादी श्लेषप्रत्युदाहरणस्य वासंगत्यापत्तेः । ‘अस्ति भयमस्ति कौतुकमस्ति च मन्दाक्षमस्ति चोत्कण्ठः । गालानां प्रणयिजने भावः कोऽप्येव न करसः ॥’ इति प्राचीनान्तरदत्तोदाहरणस्यासंग्रहापत्तेर्यथा ॥ उन्मज्जदिति । प्रलयकालीनसमुद्रवर्णनमिदम् । यथायं सिन्धुसंबन्धी ध्वनिदधरति तथेयं वेला विहृतसिन्धुजलमुद्ध-च्छति । ‘अन्त्यम्युविहृतौ वेला कालमर्यादयोरपि’ इत्यमरः । उभयोः साधर्म्यमाह—उन्मज्जदिति । उन्मज्जतां जलकुञ्जरेन्द्राणां रभसेन वेगेन य आस्फालो जलप्रपातनन्यशब्दस्तस्यानुबन्धेन उद्धता उद्धताः । पक्षे—येषां रभसेन हर्षेण य आस्फाल उदयानभ्यापासतिशयस्तस्यानुबन्धेन आरम्भेण उद्धता उद्धताः । प्रतिध्वानिनीः प्रतिशब्दान्विताः । पक्षे—प्रतिध्वानिनीः शब्दनिरुद्धाः जलपूरणेन

पाये । शब्दार्थधर्मविशेषे बन्धपादत्वादी । अन्तर्भवन्ति अग्नियथा वर्तन्ते । बहूनामिति । संधिवशादेकपदवत्प्रतीतिरूपः । उन्मज्जदिति । एवं वेला समुद्रजलं तथोद्धच्छति यथायं ध्वनिरुद्धरति । कीदृक् । उन्मज्जन्तो ये जलकुञ्जरेन्द्रा जलहस्तिभेदास्तेषां रभसास्फालानुबन्धेन वेगवर्जितस्फालतिशयेन उद्धता उद्धताः । प्रतिध्वानिनीः प्रतिशब्दयुक्ताः ।

उच्चैरुच्चरति ध्वनिः श्रुतिपथोन्माथी यथायं तथा
प्रायप्रेक्ष्यदसंख्यशङ्खधवला वेल्लेयमुद्गच्छति ॥'

अयं बन्धवैकट्यात्मकत्वादोज एव । समाधिरारोहावरोहक्रमः
आरोह उत्कर्षः, अवरोहोऽपकर्षः, तयोः क्रमो वैरस्यतानावहो वि-
न्यासः । यथा—‘चञ्चद्भुज-’ इत्यादि (३०२ पृ०) । अत्र पादत्र-
क्रमेण बन्धस्य गाढता । चतुर्थपादे त्वपकर्षः । तस्यापि च तीव्रप्रयत्न-
धार्यत्तया ओजस्विता । उदारता विकटत्वलक्षणा । विकटत्वं पदान-
नृत्यत्प्रायत्वम् । यथा—

वि.शब्दाः पुर्व्वतीः । श्रुतेः पन्था. शब्दग्रहणसामर्थ्यं तस्योन्माथी नाशकः ।
पक्षे-श्रुतीनां वेदाना पथां चोन्माथी । वेत्त फीटशी । प्रायेण रमणेन (बाहुत्वेन)
प्रेक्षन्त उच्छलन्तो ये शङ्खास्तैर्धवला । अयं लेपो विकटबन्ध एव । अस्योत्कर्षो
धायकत्वाद्गुणत्वमिति भावः । उत्कर्षो गाढबन्धत्वम् । अपकर्षो बन्धशैथि-
ल्यम् । उत्कर्षमध्ये अपकर्षोपादाने अपकर्षमध्ये चोत्कर्षोपादाने च वैरस्यं य-
न भवतीत्यर्थः । ननु क्रमनिबन्धयोस्तत्कार्योपकर्षयोः समावेशः समाधिरिति फलि-
तम्, तत्रापकर्षस्य कथमोजस्यन्तर्भाव इत्यत आह—तस्यापीति । चतुर्थपाद-
स्यापीत्यर्थः । पदस्य पादे पादे आरोहावरोहक्रमः सम्भवतीति तत्रारोहपूर्वोऽवरोहो
यथा—‘निराजन्दः कौन्धे मधुनि, विधुरो बाल्यकुले, न सालेनालम्बो, लवमपि
लवत्रे न रमते । प्रियङ्गी नासक्तं रचयति, न चूटे विरमति, सराङ्गमीलीलाक-
मलमधुपानं मधुकरः ॥’ लवत्र इति लघुप्रयत्नोच्चारणेनावरोह । अवरोहपूर्वं
आरोहो यथा—‘अयमुदयति मुद्रा-’ इति । नृत्यत्प्रायत्वमिति । प्रत्येकं
पदच्छेदादिति भावः ॥ झगिटीत्यव्यक्ताशब्दानुकरणम् । कलमिति रणितमित्यने-
नान्वितम् । नन्वन वीरादिरसाम्भावदोज एव नास्ति तद्यप्रके एतदीयबन्धगाढावै

श्रुतेः श्रवणस्य पन्था विषयान्तरग्रहणं तस्योन्माथी नाशकः । वेत्त फीटशी । प्रेक्षन्त
उपरि चरन्तो येऽसंख्याः शङ्खा. शङ्खकपालानि तैर्धवला । अत्र समस्यनामसमस्यानां
या नष्टानां पदानां संशिवशादेकत्वारोपः । अयं लेपः संशिवशङ्खत्वेन वर्णानां संयुक्तवर्ण-
मयं शुद्धप्रयत्नोच्चार्यत्वात् बन्धस्य वैकट्यं भवतीति भावः । उत्कर्षो गाढत्वम् । अपकर्षः
शैथिल्यम् । वैरस्यतानावहः सामानिकानां खेदाजबन्धः । विन्यासो प्रवणम् । केचि-
‘यत्र पपे प्रतिपादं प्रथममुत्कर्षं. पश्चादपकर्षः, तत्रैवारोहावरोहक्रमरूपः समाधिः ।
‘चञ्चद्भुज-’ इत्यादी प्रतिपादमुत्कर्षानन्तरमपकर्षः, द्वितीयपादे चरमवर्णस्य गाढारोह-
पश्चात्प्रयत्नोच्चार्यत्वात्पकर्षः इत्याहुः । उत्कर्षोपकर्षस्यैव प्राधान्यं प्रधानेन स्वपदेऽपि
भवतीति न्यायजम्भवाहार इति भावः । नृत्यत्प्रायत्वं शुद्धप्रयत्नोच्चार्यत्वात्प्रवणत्वेन ।

‘सुचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां

झणिति रणितमासीत्तत्र चित्रं कलं च ।

अत्र च तन्मतानुसारेण रसानुसंधानमन्तरेणैव शब्दप्रौढोक्तिमा-
त्रेणैव । प्रसाद ओजोमिश्रितश्चैथिस्यात्मा । यथा—

‘यो यः शलं विमर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनाम्’
(३११ पृ.) इति ।

माधुर्यव्यञ्जकत्वं यदसमासस्य दर्शितम् ॥ १० ॥

पृथक्पदत्वं माधुर्यं तेनैवाङ्गीकृतं पुनः ।

यथा—‘श्वासानुश्चति—’ इत्यादि (१३६ पृ०) ॥

उदाहरतायाः कथमन्तर्भाव इत्यत आह—तन्मतानुसारेणेति । ये गुणानां
शब्दार्थधर्मत्वमेव वदन्ति तन्मतेनेत्यर्थः । शब्दप्रौढोक्तिमात्रेण ओजो व्यवहियते
इति शेषः । तथा च प्रकृते योग्यतामादायैव बन्धगाढत्वस्य ओजोव्यञ्जकत्वमिति
भावः ॥ प्रसाद इति । समाधौ श्लोके तत्पादे वा ओजः प्रसादयोरन्यतरस्य पुन-
रन्मज्जनं नास्ति । अत्र तूभयोर्निमज्जनोन्मज्जनक्रमेण संपर्कः । तदुक्तं चामनेन—
‘संपृक्तौ खल्वोजः प्रसादौ नदीवेणिकावदुद्वहतः’ इति । यो य इति । व्याख्यात-
मिदं प्राक् ॥ वर्णित(दर्शित) मित्यस्माभिरिति शेषः । श्वासानिति । अत्र
भुजावाङ्मरीमिति प्राणसमानेति च समाससत्त्वेऽपि पृथक्पदत्वस्य दीर्घसमासराहित्ये
तात्पर्यान्न दोषः । यद्वा—‘बाले । नाथ । विमुग्ध मानिनि । एवं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मात् न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि । तत्किं रोदिषि गह्वरेज
वचसा कस्याप्रतो रुचते नन्येतन्मम का तवास्मि दयिता नास्तीत्यतो रुचते ॥’

छन्दुवर्णयटितपदानामपि समभिध्याहारवशेन गुरुप्रयत्नोच्चार्यत्वमस्ति । सुचरणेति ।
ननु वीरादिरसे ओजः संभवति, कथमत्रो ज इत्यत आह—तन्मतानुसारेणेति ।
ओजोमिश्रितेति । शैथिल्यं छन्दुप्रयत्नोच्चार्यवानुत्प्रेतानुद्भूतत्वम् । ‘तेजः क्षमा वा
नेकान्तं कालशस्य महीपतेः । नेकमोजः प्रसादो वा रसभाषविदः कवेः ॥’ इति
माघे । प्रसादः शैथिल्यमेवेत्यवश्यम् । यो य इति । द्रोणवपे भूतेऽथवाप्राज्ञः क्रोधाति-
रियम् । पाञ्चालेन धृष्टपुत्रेण द्रोणो हत इति पाञ्चालगोत्रे क्रोधातिशयः । अधिकवया
वृद्धः गर्भशय्यां जरायु गतः । गर्भस इति यावत् । यत्कर्तुंसाक्षी मत्पितृव्यानुमत्या
कृष्णादिः । प्रतीपः प्रतिफूटः । अन्तकक्षेलनन्तरमपिकारो बोध्यः । अत्र प्रतिपार्द
मध्यवर्णानां शैथिल्यम् । वर्णितमस्माभिरिति शेषः । तेनैव निरुक्तमाधुर्यमत्र केनैव ।

१. पृथगिति । पृथक्पदानि यस्य तस्य भावः । समासदीर्घनिवृत्तिपटं येतत् ॥ ।

अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः ॥ ११ ॥

अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थसमर्पणम् ।

स्पष्टमुदाहरणम् ।

ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात्कान्तिश्च सुकुमारता ॥ १२ ॥

अङ्गीकृतेति संबन्धः । कान्तिरौज्वल्यम् । तच्च हालिकादिपद-
विन्यासवैपरीत्येन लौकिकशोभाशालित्वम् । सुकुमारता अपारुष्यम् ।
अनयोरुदाहरणे स्पष्टे ।

क्वचिदोपस्तु समता मार्गाभेदस्वरूपिणी ।

अन्यथोक्तगुणेष्वस्या अन्तःपातो यथायथम् ॥ १३ ॥

एतदुदाहरणं बोध्यम् ॥ प्रसादाख्यगुणेन प्रसादगुणव्यञ्जकेन ॥ हालिकाद्ये-
स्यादिना चालकादिपरिग्रहः । हालिकादिसाधारणप्रसिद्धार्थरूपवेनेत्यर्थः ॥ स्पष्टे
इति । क्रमेण यथा—‘ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भद्रं जल्पति मानवः ।’ विपर्ययस्तु
‘ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भद्रं जल्पति मानुषः ।’ अत्र भद्रगल्लमानुपशब्दा ग्राम्याः ।
‘भानन्दमियमायातु कदा कामवशंवदा ।’ विपर्ययस्तु ‘कार्तार्थ्यमियमायातु’ इति ॥
क्वचिदिति । सुकुमारबन्धमध्ये उद्धतार्थोपस्थितौ प्रौढबन्धमध्ये सुकुमारोपस्थितौ
चेत्यर्थः । मार्गस्य रीतेरभेदोऽपरित्यागः । तत्स्वरूपेत्यर्थः । अन्यथा प्रकान्त-
मार्गयोरन्यार्थानुपस्थितौ । उक्तगुणेषु प्राचीनोक्तमाधुर्यसौकुमार्यौज-
यथमिति । सुकुमारमार्गभेदस्य माधुर्यसौकुमार्ययोः प्रौढमार्गभेदस्य त्वोजघी

प्रसादाख्यगुणेन प्रसादाख्यगुणव्यञ्जकेन । अर्थसमर्पणमर्थप्रत्यायनम् । ग्राम्येति । ग्राम्य-
त्वस्यागात् कान्तिदुःश्रवतात्यागात् सुकुमारत्वेत्यन्वयः । हालिकादीति । आदिपदात्या-
कृत्रनरनामप्रश्नम् । हालिकादिप्रयुज्यमानानां पदानां भतगल्लादिशब्दानां हालिकादि-
साधारणरीपञ्चनानां ‘शुच्यो वृद्धस्तिष्ठत्यग्रे’ इत्यादीनां च विन्यासः प्रयोगस्तस्य
वैपरीत्येन भावेन अलौकिकशोभासाधककारादिक्रववेचिञ्चम् । तदन्वयमित्यर्थः । एवं च
ग्राम्यत्वाभावे सति रसलंकारादिवैचित्र्यं कान्तिरिति फलितम् । न तु ग्राम्यत्वस्याग-
माद्रेणौज्वल्यम् । कल्पयन् ‘विश्रान्तानुरयमुज्ज्वलकान्तिः देसुरे ठसति भूमिपरस ।’
इत्यादावपि कान्तिः स्यात् । ‘कन्ये कामवशान्नं मां न त्वं कामयसे कथम् ।’ इत्यादौ
ग्राम्यत्वरतिशृङ्गाररसानुप्रासाधककारसत्त्वेऽपि कान्तिवारणाय सत्यन्वयः । एवमेव उदाहरणे
यथा मम—‘त्वान्नं तन्नि । तवानुरागमृदुलं हन्त्याशु मे मन्मथयवधिचं तु विरागरु-
धममृती वेदुं न शक्नोत्वसौ । याचे त्वामिदमेव वञ्च्युः पुनः क्रूरय वसे न वञ्च्यार्थं
सखि ! नाशिकं शुनिशितं नालीकमप्यामनः ॥ रोष्ठशानतिकृत्रितं वदु रिदं कान्ते
वसानुपमप्रेनामी गणितं वनप्रियवधूतं वापटशु नया । नाशुद्रे मलयानिठान्न च
विषोरापानं भाक्ये बाभावां स्वधि तावदद्य दधिते । तानि प्रतीपानि मे ॥’ यदि तु

मसृणेन विकटेन वा मार्गेणोपक्रान्तस्य संदर्भस्य तेनैव परिनिष्ठानं मार्गभेदः । स च कचिदोषः । तथाहि—

‘अव्यूढाङ्गमरूढपाणिजठरामोगं च विभ्रद्रपुः

पारीन्द्रः शिशुरेष पाणिपुटके संमातु किं तावता ।

उद्यदुर्धरगन्धसिन्धुरश्चतमोद्दामदानार्णव-

स्रोतःशोषणरोपणात्युनरितः कल्पाग्निरल्पायते ॥’

अत्रोद्धतेऽर्थे वाच्ये सुकुमारबन्धत्यागो गुण एव । अनेवंविधस्याने माधुर्यादावेवान्तःपातः । यथा—‘लताकुञ्जं गुञ्जत्—’ इत्यादि (४५३ पृ.) ।

त्वर्थः ॥ मसृणेन सुकुमारेण ॥ उपक्रान्तस्य आरब्धस्य । संदर्भस्य प्रबन्धस्य । तेनैव उक्तमार्गेण । परिनिष्ठानं समाप्तिः । स मार्गभेदः ॥ मार्गभेदोपत्त्या-
गस्य गुणत्वमुदाहरति—अव्यूढेति । अप्रौढावयवमित्यर्थः । अरूढोऽजातपाणि-
जठरस्याभोगः परिपूर्णता यत्र । पारीन्द्रः सिंहः । ‘कण्ठीरवस्तु पारीन्द्रः केसरी
गजमोहनः’ इति हारावली । संमातु इत्यर्थां प्राप्नोतु, तावता अव्यूढाहत्वाविना
किम् । न किमपि बुद्ध्यतीत्यर्थः । बुटेरभावमाह—उद्यदिति । उद्यज्जायमानं
दुर्धरस्य गन्धसिन्धुरश्चतस्य मत्तहस्तिमूहस्य प्रोद्दामदानार्णवस्रोतसः प्रौढमदजल-
धिप्रवाहस्य शोषणं यस्मात्तादृशं रोपणं यस्य तस्मात् । इतः पारीन्द्रशिखोः ।
कल्पाग्निः प्रलयकालाग्निः । अल्पायते तुच्छो भवति । ‘यस्योपमदगन्धेन हस्तिनो
भयविह्वलाः । द्युदेव पलायन्ते गन्धहस्ती स उच्यते ॥’ माधुर्यादावित्यनेन

ग्राम्यस्वामावेनैव शोभाविशेषो जन्यत इत्यङ्गीक्रियते तदा यथास्तमेव सम्यक् । अन्यथा
दोषत्वासंभावनाशम् । उक्तगुणेषु उक्तगुणव्यञ्जकेषु । अन्तःपातोऽन्तर्भावः । यथायथं
यथासंभवम् । मसृणेन सुकुमारेण । विकटेन उद्धटेन । मार्गेण बन्धेन । उपक्रान्तस्य
आरब्धस्य । संदर्भस्य महाकाम्यविशेषस्य । तेनैव उपक्रान्तेनैव । परिनिष्ठानं समापनम् ।
संदर्भस्रोतुपलक्षणम् । एकवाक्येऽपि समता बोध्या । अव्यूढाङ्गमिति । अव्यूढानि
अपरिणतानि अङ्गानि करवरणादीनि यस्य तद् । अरूढोऽनिष्पन्नः पाणिजठरस्याभोगः
परिपूर्णता यत्र तद् । पारीन्द्रः सिंहः । ‘कण्ठीरवस्तु पारीन्द्रः केसरी गजमोहनः’
इति हारावली । संमातु भावं प्राप्नोतु । तावता ‘शुद्धशरीरकृतेन’ किं न्यूनत्वम्, अपि
तु न । उद्यद् उद्गच्छत् । अस्य स्रोत इत्यनेन संबन्धः । गन्धसिन्धुरो गन्धहस्ती । यस्य
गन्धमदेन प्रतिगताः पलायन्ते स दानार्णवो मदसमुद्रश्च स्य स्रोतो भारा तस्य शोषणं
शोषकं रोपणं यस्य तस्मात् । इतः पारीन्द्रशिखोः । अल्पायते तुच्छो भवति । अर्थे
वाच्ये सुकुमारसंदर्भान्तःपातिनोऽस्य एवस्य समतानुरोधेन सुकुमारपदेर्धटके वर्णप्राप्ति-
कृत्याख्यदोष एव स्यात् । मुण इति । अर्थसौदृश्यव्यञ्जकत्वादिति भावः । अनेवमिति ।
यत्र वर्णनीयविशेषानुरोधेन प्रकृत्यवयवत्यागो नास्ति तत्रेत्यर्थः । माधुर्यादावित्यादिप-
दादोजोप्रहणम् । माधुर्यव्यञ्जके ललितवन्धे ओजोव्यञ्जके चद्रववन्धे चेत्यर्थः । लताकु-

ओजः प्रसादो माधुर्यं सौकुमार्यमुदारता ।

तदभावस्य दोषत्वात्स्वीकृता अर्थगां गुणाः ॥ १४ ॥

ओजः साभिप्रायत्वरूपम् । प्रसादोऽर्थवैमल्यम् । माधुर्यमुक्तिवैचि-
त्र्यम् । सौकुमार्यमपारुष्यम् । उदारता अग्राभ्यत्वम् । एषां पञ्चाना-
मप्यर्थगुणानां यथाक्रममुपपत्त्यर्थधिकपदानवीकृतमङ्गलरूपास्त्रीलग्राभ्याणां
निराकरणेनैवाङ्गीकारः । स्पष्टान्युदाहरणानि ।

सौकुमार्योऽजोऽर्पणम् । ओजोविपर्ययः सौकुमार्यम् । तच्च दीर्घसमासराहित्येन
परुषवर्णानां त्यागेन च भवति । एवं च सुकुमारमार्गमेदस्य माधुर्यसौकुमार्ययो-
रन्तर्पात इति भावः ॥ इदानीमोजःप्रभृतीनां दशविधार्थगुणानां दोषामावादिभि-
रङ्गीकारमगुणत्वं च यथायथमुपपादयति—ओज इति । तदभावस्य ओजःप्रभृति-
गुणपञ्चकाभावस्य । अस्माभिरिदोषाभावत्वेनाङ्गीकृता इति भावः । 'अर्थप्रतिरोजः'
इति प्राचीनलक्षणम् । सा च पञ्चविधा—'पदार्थे वाक्यरचना वाक्यार्थे च पदा-
भिधा । प्रौढिव्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च ॥' तत्रायप्रकारचतुष्टयस्य
वैचित्र्यमात्रप्रयोजकत्वेन गुणत्वाभावमपे दर्शयिष्यति । चरमप्रकारं तु दोषाभाव-
त्वेनैव संगृह्णाति । ओज इति । साभिप्रायत्वमर्थस्य प्रकृतोपकारमिन्नामेण प्रयु-
क्तत्वम् । वैमल्यं विमलाप्रायस्याप्रयोजकपदार्थस्यानिवेशः । उत्प्रेक्षितं विचित्र-
योक्तया तस्यैवार्थस्य पुनः समर्पणम् । अपारुष्यममङ्गलार्थस्योक्तिवैचित्र्यवशात्सु-
कुमारप्रायत्वेन प्रतिपादनम् । रिरसया पामरप्रयुज्यमानत्वं तद्विचलक्षणमग्रमन्य-
त्वं । स्पष्टानीति । क्रमेण यथा—'कुर्वो हरस्यापि पिनाकपाणेः' इति ।
विपर्ययस्तु 'सदाशिवं नौमि पिनाकपाणिम्' इति । 'सुवर्णा कन्यसा रूपयौवनार-
म्भशालिनी ।' अत्र यौवननवीनत्वप्रतिपादकमारम्भपदमधिकम् । - विपर्ययस्तु
'अपास्तो हस्तो मे विमलमणिः' इति । अत्र काशीपदमित्यनेनैव नितम्बस्य
बोधाद्विशेषणमप्रयोजनकम् । 'भानुः सदा युक्तुरङ्ग एव' इत्यादि । विपर्ययस्तु

अमिति । आदिपदात् 'चञ्चुज्ज्वल' इत्यादिग्रहणम् । शेषादीनां दशानामर्थगुणत्वमपि
प्राचीनैरङ्गीकृतानामपि यथासंभवं दोषामावादाकन्तर्भावयति—ओज इति । तदभावस्य
ओजःप्रभृतेरभावस्य । स्वीकृता । अस्माभिरिति शेषः । उपपादयति—ओज इति ।
साभिप्रायत्वं विशेषणानां प्रकृतोपयुक्तत्वेन वक्तुरभिप्रेतत्वम् । अर्थस्य वाक्यार्थस्य
वैमल्यमनतिप्रयोजननिरर्थकपदार्थसंबन्धरूपमलराहित्यम् । उच्यतेकार्थप्रतिपादकत्वानेक-
शब्दस्य वैचित्र्यं निरूपकम् । नान्यार्थसामङ्गलान्यत्रकत्वमपारुष्यम् । अपुष्टार्थेति ।
अन्त्यस्यप्राप्त्यस्य प्रत्येकान्वयारपुष्टार्थत्वादीनामित्यर्थः । स्पष्टानीति । दोषपरिच्छे-
देऽपुष्टार्थत्वादीनां पञ्चानां बान्युदाहरणानि दत्तानि चरित्ररीत्यानीत्यर्थः । दीप्तरत्नं
स्पर्शरत्नम् । रत्नस्य प्राधान्याप्राधान्याभ्यां ध्वनिगुणभूतव्यक्त्यन्यपदेशः । विविचिता
धोरविज्ञपवनरूपरीतिविषयत्वम् । पदना अर्थानां येलनं विविचितामार्गं च तु गुणत्वम् ।

अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यालंकारेण तथा पुनः ।

रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यानां कान्तिनामकः ॥ १५ ॥

अङ्गीकृत इति संबन्धः । अर्थव्यक्तिर्वस्तुस्वभावस्फुटत्वम् । कान्ति-
र्दीप्तरसत्वम् । स्पष्टे उदाहरणे ।

श्लेषो विचित्रतामात्रमदोषः समता परम् ।

श्लेषः क्रमकौटिल्यानुस्वणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा । तत्र क्रमः
क्रियासंततिः, विदग्धचेष्टितं कौटिल्यम्, अप्रसिद्धवर्णनाविरहोऽनु-
स्वणत्वम्, उपपादकयुक्तिविन्यास उपपत्तिः, एषां योगः संमेलनं
स एव रूपं यस्या घटनायास्तद्रूपः श्लेषो वैचित्र्यमात्रम् । अनन्यसाधा-
रणरसोपकारित्वातिशयविरहादिति भावः । यथा—

‘द्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे—’ इत्यादि (११५ पृ०) ।

अत्र दर्शनादयः क्रियाः, उभयसमर्थनरूपं कौटिल्यम्, लोकसंव्य-
वहाररूपमनुस्वणत्वम्, ‘एकासनसंस्थिते’ ‘पश्चादुपेत्य’ ‘नयने पिर्धाय’

‘सदाचरति’ इति ‘सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादिले ।’ अत्र मरणे
कीर्तिशेषशब्दः । विपर्यस्तु भृतादिशब्दः । ‘कर्म कंदर्पचण्डालो मयि वामाक्षि ।
निर्वयः । रतिमन्तिमदेहत्वाच्चवि निमत्सरः किमु ॥’ विपर्ययस्तु ‘कन्ये कामय-
मानं मा न त्वं कामयसे कथम् ।’ इति । कान्तिनामकः । गुण इति शेषः ।
क्रमेणोदाहरणे—‘पृष्ठेषु शङ्खधवलच्छविषु च्छदानां राजीभिराङ्कितमलककरागि-
णीभिः । गोरोचनाहरितवभ्रुवहिःपलाशमामोदते कुमुदमन्भसि पल्लवस्य ॥’
दीप्तरसत्वं यथा—‘शून्यं वासगृहं—’ इत्यादि ॥ उपपादकेति । प्रकृतानुकूल-
हेतुपन्यास इत्यर्थः ॥ वैचित्र्यमात्रमिति । मात्रपदेन गुणत्वव्यवच्छेदः । अत्र
हेतुमाह—अनन्येति । तादृशरसोपकारित्वातिशयश्च रसव्यञ्जकवाक्यस्य काव्य-
व्यपदेशयोगित्वम् ॥ उभयस्य ज्येष्ठाग्रीणस्य कनिष्ठाप्रतारणस्य च समर्थनम-
नुष्ठानम् । यद्वा उभयोज्येष्ठाकनिष्ठयोः समर्थनमनुरूपग्रीणनम् । निरुक्तश्लेषेऽस्य

अत्र हेतुमाह—अनन्येति । गुणनामसाधारणरसोपकारप्रयोजकत्वनियमादिति भावः ।
द्वैकासनेत्युदाहरणं रसपरिच्छेदे नायिकाप्रकारकमनप्रकरणे दत्तम् । तत्रैव मया
व्याख्यातम् । उभयसमर्थनं प्रियतमायाः ग्रीणनमन्यस्याः प्रतारणम् । तयोः समर्थनं
संघटनम् । लोकव्यवहाररूपं लोकव्यवहारप्रसिद्धरूपम् । उपपादकानि स्वाभिमतार्थसं-
पादकानि । अनेन निरुक्तेष्वेव । वाच्यस्य प्रियतमानुम्बनस्य । उपपत्तिरुपपादकयुक्ति-
स्तस्या ग्रहणे अनुसंधाने । व्यग्रतया । सामाजिकानामिति शेषः । विसर्गादिना विजा-
दीयत्वप्रतिभासः । ह्रस्वो म्लेच्छविशेषः । मद्यो मदिरादिमद्युनेन । तस्य मुखस्याति-

‘ईषद्विकृतकंधरः’ इति चोपपादकानि, एषां योगः । अनेन च वाच्यो-
पपत्तिग्रहणव्यग्रतया रसास्वादो व्यवहितप्राय इत्यस्यागुणता ।

समता च प्रकान्तप्रकृतिप्रत्ययाविपर्यासेनार्थस्य विसंवादिताविच्छेदः ।
स च प्रक्रमभङ्गरूपविह्व एव । स्पष्टमुदाहरणम् ।

न गुणत्वं समाधेश्च—

समाधिर्थायोन्यन्यच्छायायोनिरूपद्विविधार्थद्वैष्टिरूपः । तत्रायोनिरर्थो
यथा—

‘सद्योमुण्डितमच्छूणचिबुकप्रस्पर्धि नारङ्गकम् ॥’

अन्यच्छायायोनिर्यथा—

‘निजनयनप्रतिचिम्बैरम्बुनि बहुशः प्रतारिता कापि ।

. नीलोत्पलेऽपि विमृशति करमर्पयितुं कुसुमलावी ॥’

अत्र नीलोत्पलनयनयोरतिप्रसिद्धं सादृश्यं विच्छिन्नविशेषेण
निबद्धम् । अस्य चासाधारणशोभानाधायकत्वान्न गुणत्वम्, किंतु
काव्यशरीरमात्रनिर्वर्तकत्वम् ।

दोषत्वमेव प्रसक्तं कुतो गुणत्वमित्युपपादयति—अनेन चेति । निरुक्तश्लेषेण
चेत्यर्थः । वाच्यस्य वाच्यार्थस्य । उपपत्तिः समवः । यद्वा, वाच्याया उपपत्तेः
कारणस्य ग्रहणं ज्ञानमग्न व्यग्रतया कष्टेन तज्जनकतया । व्यवहितप्रायो विल-
म्बेनोत्पादितः । अस्य श्लेषस्य । अगुणता गुणविरोधित्वम् । दोषत्वमिति
यावत् । स्पष्टमिति । ‘उदेति सविता ताम्रः’ इत्यादि ॥ अयोनिरन्यच्छायायोनिः ।
अन्यस्य काव्यान्तरस्य छाया वर्णनं योनिर्यस्य सः ॥ सद्य इति । दूणो दूणदे-
शोत्पन्नो म्लेच्छः । नारङ्गकं पक्वनारङ्गकम् । अत्र दूणचिबुकनारङ्गयोः सादृश्यमनि-
बद्धपूर्वम् । निजेति । विमृशति विचारयति । कुसुमलावी मालाकारी ॥ नन्दन्य-
च्छायायोनेरर्थस्य नियन्धनमप्रयोजनमत आह—अत्रेति । अतिप्रसिद्धं काव्यान्तरैः
सहस्रशो निबद्धमिति । विच्छिन्नविशेषेण वैचित्र्यविशेषाधायकत्वेन । तथा
चार्यान्तरयोगेन प्रसिद्धमपि सादृश्यं विलक्षणवैचित्र्यं जनयतीति भावः ॥ अस्य

ताम्रकादिति भावः । प्रस्पर्धि तुल्यम् । नारङ्गकम् नारङ्गम् । पक्वमिति बोध्यम् । कुसु-
मलावी मालाकारी । विच्छिन्नविशेषेण वैचित्र्यविशेषप्रयोजकत्वेन । अस्य निरुक्तस्य-
मापेः । काव्यशरीरस्य अर्थस्य निर्वर्तकत्वं निष्पादकत्वम् । मात्रपदेन रसस्यासाधारण-
शोभाव्यवच्छेदः । प्रौढिरोजः । प्रौढिश्च ‘पद्मार्थं वाक्यरचना वाक्यार्थं’ च पदामिधा ।
प्रौढिर्भाससमाप्तौ च साभिप्रायत्वमस्य च ॥’ इति वायनोक्त्यानां पद्मप्रकाराणामोज-

1. अयोनीति । अयोनिरन्यकारणः । अवधानमात्रहेतुक इति भावः ॥

2. अर्थेति । अर्थस्य दर्शनं द्रष्टिः ॥

१. ‘विरह’ प. ‘-दृष्टि-’ इति नास्ति क स-पुस्तकयो.

कचित् 'चन्द्रम्' इत्येकस्मिन्पदार्थे वक्तव्ये 'अत्रेर्नयनसमुत्थं ज्योतिः' इति वाक्यवचनम् । कचित् 'निदाघशीतलहिमकालोष्ण-सुकुमारशरीरावयवा योषित्' इति वाक्यार्थे वक्तव्ये 'वरवर्णिनी' इति पदाभिधानम् । कचिदेकस्य वाक्यार्थस्य किञ्चिद्विशेषनिवेशादनेकैर्वा-क्यैरभिधानमित्येवंरूपो व्यासः । कचिद्बहुवाक्यप्रतिपाद्यस्यैकवाक्येना-भिधानमित्येवंरूपः समासश्च । इत्येवमादीनामन्यैरुक्तानां न गुणत्व-मुचितम्, अपि तु वैचित्र्यमात्रावहत्वम् ।

तेन नार्थगुणाः पृथक् ॥ १६ ॥

तेनोक्तप्रकारेण । अर्थगुणा ओजःप्रभृतयः प्रोक्ताः ॥

इति साहित्यदर्पणे गुणविवेचनो नामाष्टमः परिच्छेदः ।

(अत्र मूलकारिकाः १६ पूर्वाभिः सह ६९४ उदाहरणानि ८ पूर्वैः सह ४९५)

च समाधेय ॥ चतुर्विधार्थप्रतिरूपस्योजसो गुणत्वाभावमाह—कचिदिति । चन्द्रमिति पश्यत्येकदेशम् ॥ निदाघेति । 'शीतकाले भवेदुष्ण उष्णकाले च शीतला । सुकुमारशरीरा च सा ज्ञेया वरवर्णिनी ॥' व्यासो यथा—'असौ नानाकारो भवति सुखदुःखव्यतिकरः सुखं वा दुःखं वा भवति न भवत्येव च ततः । पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति सुखदुःखं किमपि तत्पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति न च दुःखं न च सुखम् ॥' अत्र येन संसारिणा यथाविधं कर्म कृतं तदनुसारेणैव विविधत्व-माश्रितः सुखदुःखभोगः क्रियते । यदि कुतश्चिदध्यात्मसाक्षात्कारः स्यात्तदैवाय प्रवाहस्य घान्तिरित्येव विवक्षितं वैचित्र्येणोच्यते । समासो यथा—'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधारय । अर्थिनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥' अत्र परद्रव्यं न हरेत्, परदारान् गृहीयात्, परापवादो न वक्तव्यः, इत्यादिवाक्य-गताभिधेयस्य द्वितीयांशेनाभिधानम् ॥ न गुणत्वमिति । रसव्यञ्जकवाक्यस्य काव्यव्यपदेशोपयोगित्वाभावादिति शेषः ॥ उपसंहरति—तेनेति । प्रोक्ताः । एवं दण्ड्याचार्यनिरूपितानामपि दशविधगुणानां त्रयासेमवं स्तोक्तगुणव्यञ्जकादा-वन्तर्भावो बोद्धव्यः ॥ ८ ॥

इति श्रीरामचरणतर्कभागीशभट्टाचार्यविरचितायां साहित्यदर्पणविहीतो

गुणविवेचनो नामाष्टमः प्रकाशः ।

सामन्तिमं प्रकारं प्रागेव दूषितवान् । इदानीं तत्सर्वं प्रकारचतुष्टयं दूषयति—कचि-दिति । अत्रेर्नयनस्य मुनिविशेषस्य । अत्रेर्नयनाचन्द्र उत्पन्न इति पौराणिसी वार्ता । वरवर्णिनीपदस्य तादृशवाक्यार्थे परिभाषितवानयत्वादिति भावः । व्यासो यथा—'अयं नानाकारो भवति सुखदुःखव्यतिकरः—' इत्यादि । समासो यथा—'ते हिमालयमा-मञ्चय—' इत्यादि । ननु शब्दार्थशोभापायकत्वेनैव ओजःप्रभृतीनां गुणत्वमङ्गीकरणी-यमिति चेत्, न । तेषां ये दोषाभावपर्यवसानास्तत्रान्यत्से । दोषाभावस्यापकर्षप्रयोजक-दोषविघटकत्वमात्रेणैवोक्तार्थापायकत्वासेमवादलंकारोऽतिव्याप्तेः । नहि तादृशगुणालंकार-जन्यशोभायां किञ्चिदलक्षणात्मिका येन गुणेश्वोऽलंकाराणां व्यावृत्तिः क्रियत इति ॥' इति ।

नवमः परिच्छेदः ।

अथोद्देशक्रमप्राप्तमलंकारनिरूपणं बहुवक्तव्यत्वेनोल्लङ्घ्य रीतिमाह—

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।

उपकर्त्री रसादीनां—

रसादीनामर्थाच्छब्दार्थशरीरस्य काव्यस्यात्मभूतानाम् ।

सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥ १ ॥

वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा ।

सा रीतिः । तत्र—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका ॥ २ ॥

* रीतिं निरूपयितुमस्माः प्राथमिकत्वे युक्तिमाह—अथेति । गुणनिरूपणानन्तरमित्यर्थः । उद्देशेति । 'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः' इत्युद्देशक्रमप्राप्तकालमित्यर्थः । उल्लङ्घ्य । सूचीकटाहन्वायेन प्रथममकृतवैलम्बः ॥ पदेति । पदानां संघटनाविशेषः । रीयते गुणानां विशेषो ज्ञायतेऽनयेति रीतिः । 'रीड् गतौ' इत्यनेन साधुः । गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात्तथा व्युत्पत्तिः । अङ्गेति । विलक्षणमुखाद्यवयवसंनिवेशविशेषवदित्यर्थः । ननु पदसंघटनाविशेषस्य काव्यातिरिक्तेऽपि सत्त्वादतिव्याप्तिरत आह—उपकर्त्रीति । स्थाभ्यव्यञ्जकरसादिदृष्टिगुणव्यञ्जकतया रसादीनामुत्कर्षाधायिकेत्यर्थः । एवं च गुणाभिव्यञ्जकपदविन्यासो रीतिरीतिफलितम् । तदुक्तं वामनेन—'विशिष्टपदरचना रीतिः, विशेषो गुणात्मा' इति ॥ ननु रीतेः साक्षादेव शब्दस्योत्कर्षाधायकत्वं निरुक्तं परम्परया, नु रसादीनामित्युपपन्नम्, तथापि तस्याः काव्योत्कर्षाधायकत्वमनुपपन्नमित्यत आह—रसादीनामिति । अर्थात्संभवबलात् । तथा च काव्यस्य शरीरात्मनोत्कर्षाधायकत्वेनैव काव्योत्कर्षाधायकत्वमिति भावः ॥ वैदर्भीति । विदर्भगोउपाधाललाटदेशोद्भवैः कविभिः संमतत्वाद्यधायकं वैदर्भ्यादिसंज्ञा ॥ वैदर्भीमाह—माधुर्येति । ललिता

* मुद्रितपुस्तके तु—“उद्देशक्रमप्राप्तमलंकारनिरूपणं परित्यज्य रीतिनिरूपणे युक्तिमाह—अथेति । बहवो वक्तव्या विषया यत्र तत्त्वेन । रीतिनिरूपणस्याल्पवत्त्ववदेन चेति बोध्यम् । सूचीकटाहन्वायेनाल्पविषय एव प्रथमं शिष्याणां मिश्रासेति भावः । वस्तुतस्तु रीवेर्गुणघटितत्वेनैव गुणनिरूपणानन्तरं तन्निरूपणस्योचितत्वमित्यवधारयम् । पदानां गुणाभिव्यञ्जकवर्णादीनां घटना योजना । शरीरस्य यथा शोभनाङ्गयोगस्तथेत्यर्थः । एतेन रीवेर्व्यभिचारित्वमुपपन्नम् । नीरसेषु गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थसत्त्वे तस्य रीतित्वधारणयाह—उपकर्त्रीति । उत्कर्षजननी काव्यात्मभूतानामिति विशेषणमुक्तमपि प्रापयति । विदर्भादिदेशविशेषवत्कविसंप्रदायाभिमतत्वेन वैदर्भ्यादिसंज्ञा । माधुर्यव्यञ्जका वर्णा माधुर्यगुणनिरूपणे दर्शिताः । एकसमस्ता अवयवमाशुच्य वा

अवृत्तिरत्यवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ।

यथा—‘अनङ्गमङ्गलमुवः—’ इत्यादि (४५३ पृ०)

रुद्रटस्त्वाह—

‘असमसैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी ।

वर्गाद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया ॥’

अत्र दशगुणास्तन्मतोक्ताः स्फुटादयः ।

ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्वन्ध आडम्बरः पुनः ॥ ३ ॥

समासबहुला गौडी—

यथा—‘बहुज—’ इत्यादि (३०२ पृ०)

पुरुषोत्तमस्त्वाह—

‘बहुतरसमासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौडीया ।

रीतिरनुप्रासमहिमपरतन्त्रा स्तोकनाक्या च ॥’

वर्णः शेषैः पुनर्द्वयोः ।

सुकुमारप्रपञ्चा सुकुमारार्था च ॥ एकसमस्ता असमस्तयुक्ता । स्वल्पो लघुः प्राण उच्चारणप्रयत्नो येषां तादृशान्वक्षराणि यत्र ॥ ननु गुणानां भित्तमेवोक्तम्, कथं दृष्टव्यमत आह—तन्मतोक्ता इति । रुद्रटमतोक्ता इत्यर्थः ॥ गौडीमाह—ओज इति । अत एवाडम्बर उद्भूतः । उद्भूतार्थप्रतिपादकतयापि उद्भूतः ॥ सुमहानतिगुणः प्राणो येषां तादृशान्वक्षराणि यत्र । अनुप्रासो वक्ष्यमाणशब्दाकारविशेषः तस्य महिमा आधिक्यं तत्परतन्त्रा तदधीना । स्तोकचाक्या शिथिलबन्धा । अत एव दृष्टवाच्यैरुक्तम्—‘अल्पप्राणाक्षरोत्तरम् । शिथिलं मालतीमाला लोहालिकलिता यथा । अनुप्रासविद्या गैदित्वादित्म्’ इति ॥ पाश्चात्तमाह—वर्णरिति । वैदर्भीमौष्मोर्व्यञ्जकवर्णव्यतिरिक्तैर्वर्णैरित्यर्थः । समस्तानि

स्वल्पप्राणाक्षरोत्तरा लघुप्रबलोच्चार्यवर्णबहुला । उद्भूतद्वयार्थं यथा—‘माहन्तां महिषाः—’ इति । गौडीमाह—ओज इति । ओजःप्रकाशका वर्णं ओजोगुणनिरूपणे उक्ताः । आडम्बर उद्भूतः । स्तोकनाक्या शिथिलबन्धा । उद्भूत दृष्टवाच्यैरुक्तम्—‘अल्पप्राणाक्षरोत्तरम् । शिथिलम्’ इति । ‘अनुप्रासविद्या गैदित्वादित्म्’ इति च । तच्छिथिलम् । यथा—‘दोदण्डाश्रित—’ इत्यादि । सानुप्रासशिथिलबन्धा गौडी यथा—विमादि माला । ओजाक्या लोहालिकुलसंक्रुता । यदीयामोदसादाय भूलां यावति यावत्तम् ॥ पाश्चात्तं

१. वैदर्भीति । प्रयां पुनोर्व कथयः सुवन्ति—‘सति वक्त्रे सत्यं सति शब्दानु-
प्रासे । अस्ति एव विद्या येन परित्यज्ये वाङ्मयम् ॥’ इतीत्यात्मकं वसिष्ठस्यैः ॥

२. रुद्रटमन्वे स्तेनं वधुं न दृष्टव्यम् ॥

समस्तपञ्चपदो बन्धः पाञ्चालिका मता ॥ ४ ॥

द्वयोर्वैदर्भीगोत्र्योः ।

यथा—

‘मधुरया मधुबोधितामधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिमृता निमृताक्षरमुज्जगे ॥’
भोजस्त्वाह—

‘समस्तपञ्चपदामोजःकान्तिसमन्विताम् ।
मधुरां मुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः ॥’

यथा—

लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरेन्द्रे स्थिता ।
‘अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीना-
मुदयगिरिवनालीचालमन्दारपुष्पम् ।

पञ्चपाणि पदानि यत्र । पाञ्चालिकेति । रीतिरित्यनुपपद्यते । अत्र स्यादं
रूपप्रत्ययः, न तु टिक्ण । तथा सतीप्रत्ययः स्यात् ॥ मधुरयेति । मधुरशब्द-
योगेनोपपत्तम् । यद्वा मगोरमयेत्यर्थः । मधुना बोधिता प्रकाशिता या माधवी
वासन्ती तस्या मधुसमृद्ध्या मकरन्दसदोहेन समेधिता सम्यग्बोधिता मेधा स्वरमा-
धुर्यं यस्यास्तया । मधुकराङ्गनया भ्रमर्या । उन्मदध्वनिमृता उरट्टट्टहर्षजनकश-
ब्दकारिण्या । निमृताक्षरमव्यक्तवर्णं यथा स्यात्तथा उज्जगे । उरट्टट्टगानं कृतमि-
त्यर्थः । अत्र माधुर्यव्यञ्जकद्विप्रवर्णवत्त्वेऽपि विनिश्चरणं प्राप्नुयैव पाञ्चालीव्यव-
हारः ॥ कान्तिरञ्जवत्त्वम् । मधुरां माधुर्यव्यञ्जकवर्णपठिताम् । मुकुमारां
कोमलवर्णमृदुलाम् ॥ लाटीमाह—लाटीति । वैदर्भीमिश्रिता पाञ्चालीत्यर्थः ॥ अ-
यमिति । विशेषणानां योग्यताबलादयमित्यनेन सूर्यो लभ्यते । मुद्राभञ्जन

रीतिमाह—वर्णरिति । वैदर्भीदर्भीगोत्रीव्यञ्जकवर्णमिश्रैः, । मधुरयेति । मनोरमये-
त्यर्थः । मधुना वसन्तेन बोधिता प्रकाशिता प्रपुण्ड्रपुष्पीकृता या माधवी वासन्ती तस्या
मधुसमृद्ध्या मकरन्दास्तादातिशयेन समेधिता संवर्धिता मेधा मधुरस्वरवेचक्ष्ण्यं यस्यास्तया ।
निमृताक्षरं वल्लरम् । समस्तानि पञ्च पदं वा पदानि यत्र ताम् । भोजःकान्तिमाधुर्य-
सौकुमार्यगुणयुक्तामित्यर्थः । यथा मय—‘दत्तोदात्तविपत्रलोकरभक्ते विद्वानितासद्गुणो नाना-
यपनिधिप्रमोदितपुङ्खः कारुण्यधाराजितः । सद्भिषानिक्लृप्तचारानिपुणो दारिमचिन्तामणिः
श्रीमानेव मनोजचारुकरणो राजा जयलज्जता ॥’ लाटीमाह—लाटीति । अन्तरे मध्ये
तदुभयलक्षणादान्तेत्यर्थः । अयमिति । पुरोवर्तिरनुदयवर्णनमिदम् । अयं पुरोवर्ती

विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुविभिन्द-
न्कुपितकपिकपोलकोडताम्रस्तमासि ॥'

कश्चिदाह—

‘मृदुपदसमाससुभगा युक्तैर्वर्णैर्न चातिमूयिष्ठा ।

उचितविशेषणपूरितवस्तुन्यासा भवेच्छाटी ॥’

अन्ये त्वाहुः—

‘गौडी डम्बरबद्धा स्याद्वैदर्भी ललितकृमा ।

पाञ्चाली मिश्रभावेन लाटी तु मृदुभिः पदैः ॥’

• कचिन्नु वक्राद्यौचित्यादन्वयो रचनादयः ॥ ५ ॥

वक्रादीत्यादिशब्दाद्वाच्यप्रबन्धौ । रचनादीत्यादिशब्दाद्वाच्यविशेषणौ ।

यत्र वक्रौचित्यादयथा—

‘मन्थायस्तार्णवाभम् सुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः ।

क्रोणाघातेषु गर्जन्मलयघनघटान्योन्यसमदृचण्ड ।

सकोचनाशक । प्रगाद्यक इत्यर्थः । बालमचिरविरुच मन्दारपुष्प पारिमत्रपुष्प-
मिव । विरहेण विधुरं विरुल यत्कोकद्वन्द्व चक्रवाकमिधुन तस्य बन्धु संगसपाद-
कत्वेन मित्रम् । रात्रौ हि चक्रवाकमिधुन मिथो वियुक्त दिवा सयुक्त भवतीति
प्रसिद्धिः । सूर्यमालोक्य दिनज्ञानेन मिथो युक्त भवतीति मित्रता । विभिन्दकिति
तमासीत्यनेनाम्बितम् ॥ उचितैर्विशेषणैः पूरितस्य परिपुष्टात्मनो वस्तुविशेषस्य
न्यासो यत्र सा । डम्बरबद्धा उद्भटरचना । ललितकृमा मधुरम् । मिश्र-
भावेन गौडीवैदर्भ्योः संपर्केण ॥ इदानीं वक्राद्यौचित्येन प्रकृतरिति विपरीता अपि
रचनादयः कर्तव्या इत्यत आह—कचिन्नु । तत्र वक्राद्यौचित्यव्यञ्जका
वक्तृवाच्ययोरौचित्यमुद्भटव मुकुमारत्व वा । बन्धस्यौचित्य स्वभावः । तथा च
वक्तृवाच्ययोरौचित्यसौकुमार्यार्थः प्रबन्धस्य स्वभावेन वा उपनान्तायाः प्रकृते
रसव्यञ्जिकाया वा रीतेर्विपरीता रचनादयः कार्या इति भावः ॥ मन्थेति । डुण्ड

कश्चिदुदयति उदयगिरिशिखरमारोहति । मुद्रा सकोचः । बालः नभोत्पुङ्गवः । रात्रौ
चक्रवाकमिधुन वियुक्त सूर्योदये संगमो(त) भवतीति प्रसिद्धिः । कोकद्वन्द्वस्य चक्रा-
कमिधुनस्य बन्धुरसौपकारकारी । कपीनां गण्ड स्वभावत एव रक्त बोधे त्वत्तरक्त
इति सूचयितुं कुपितेति कपिविशेषणम् । ताम्रो रक्तः । अत्र योग्यत्वादयमिति सामान्य-
निर्देशे विशेषलाभ इत्यन्ये । उचितेति । उचिते प्रकृतोपयुक्तैर्विशेषणैः पूरितो व्याप्त
वस्तुन्यासो वगनीयनिर्देशो यत्र सा । एत मदे ‘मधुरयेति’ पाञ्चान्याः यदुदाहृतं तदेत
उदाहरण बोध्यम् । ललितकृमा मधुरवन्धा । मिश्रभावेन गौडीवैदर्भ्योः संपर्केण ।
यदा वैदर्भातीति प्रक्रान्तप्रबन्धमध्ये कुड्यो वक्ता उद्यतो बाभ्यो वण्वते तदा प्रक्रान्तरिति
परित्यज्य गौडी रीतिरनुसरणीया । एवमयमापीत्याह—कचिन्नु । तथा वक्राद्युचिता
रचना रीतिः । मन्थायस्तेति श्लोको नाटकप्रकरणे उक्तः । नाटकेऽपीति यदुक्तं

कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः

केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥

अत्र वाच्यक्रोधाद्यभिव्यञ्जकत्वेऽपि भीमसेनवक्तृत्वेनोद्धता रचना-
दयः । वाच्यौचित्याद्यथोदाहृते 'मूर्धव्याधूयमान-' इत्यादौ (४३१ पृ.)
प्रबन्धौचित्याद्यथा नाटकादौ रौद्रेऽप्यभिनयप्रतिकूलत्वेन न दीर्घसमा-
सादयः । एवमाख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः । कथायां
रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः । एवमन्यदपि ज्ञेयम् ॥

इति साहित्यदर्पणे रीतिविवेचनो नाम नवमः परिच्छेदः ।

(अत्र मूलश्लोकाः = ५ पूर्वाभिः सह ३९९ उदाहरणानि = ३ पूर्वः सह ४९८)

भिर्दुन्दुभिर्शब्दः केन ताडितः । ताडनेन अभितवित्पेपाणा शब्दविशेष्यकत्वेनैवो-
पपत्तेरिति कथितं । वस्तुतस्तु ताडितः सशब्दः कृतः । सविशेषणे हीति व्यायेन
विशेषणानां शब्दमात्रगमित्वमिति ब्रूमः । कीदृशः । मन्येन मन्यनेन आवस्तं
क्षुभितं यदर्णवस्याम्भसेन हुतं व्यातं कुहरं यस्य तादृशस्य चलतो मन्दरस्य
भानवद्धीरो गम्भीरः । तथा कोणापातेषु वादनवण्डाभिघातेषु सत्सु । गर्जन्त्याः
प्रलयकालीनघटाया अग्न्योन्यसंघटनन्यशब्द इव चण्डः । ईदृशं चण्डत्वं कोणा-
घातफल इत्यर्थः । 'कोणो वादनदण्डः स्यात्' इति कोदः । यद्वा 'उक्ताशतसहस्राणि
नेरीशतशतानि च । एकदा यत्र ताव्य-ते कोणाघातः स उच्यते ॥' इति परिभा-
षायां यत्रैवस्य यन्निमित्तमित्यर्थः अयेन एकदा उक्तादिताडनजन्याः शब्दाः कोणा-
घाताः तेषु मध्ये गर्जदिव्यादिवचण्ड इत्यर्थः । कृष्णा श्लेषी तत्क्रोधप्रवर्तकत्वात्तद-
ग्रदूतः । कुहशतनिधनस्योत्पातसूचकः । 'यदान्तरीक्षे बलवान्माहतो माहता
हतः । पतत्यधः स निर्घातो जायते वायुसंभवः ॥' इत्युक्तश्लेषो यो निर्घातस्त्व-
हितो वात इत्यर्थः । वाच्यस्य वाच्यार्थस्य । क्रोधादित्यादिना उत्साहजुगुप्सयोर्मह-
णम् । भीमसेनवक्तृत्वेनेति । भीमस्य क्रोधनत्वादीदृश्यं प्रतिक्षमिति भावः । अत्र
तादृशशब्दस्य श्रोत्रेणोद्भूतत्वाद्वाच्योद्भूतत्वमपि संभवतीति शुद्धमुदाहरणमूषम् ।
वक्तुमुद्धतत्वे वीरेऽपि सुकुमाररचना यथा-'भोलैश्वर-' इत्यादि (१८९ पृ.) । अत्रा-
क्रोधनत्वेनानुद्धतः श्रीरामो वक्ता । अभिनयप्रतिकूलत्वेन अभिनयार्थप्रतिपत्ति-
विलम्बकत्वेन मसृणा माधुर्यव्यञ्जकाः । नात्यन्तमुद्धता इति । वर्णादयः ॥

इति श्रीरामचरणतर्कवागीशमहाचार्यविरचितायां साहित्यदर्पणविरुता

रीतिविवेको नाम नवमः प्रकाशः ।

समभिरत्यपि । यथा अनयंरापरे—'उदामधुमणिपुति' शक्तिरामदीदृशोपलज्जालाजा-
लज्जालाजालप्रदीनिष्कृत्रोपलज्जः । भौगोभ्युवमानगदकिरणकूपप्रकाश इतिरायुधत्वे
नि पिगमूर्धेऽपि शून्या दिशः ॥' इति ॥" इति व्याख्यानं बर्ते.

दशमः परिच्छेदः ।

अथावसरप्राप्तानलंकारानाह—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ १ ॥

यथा अङ्गदादयः शरीरशोभातिशायिनः शरीरिणमुपकुर्वन्ति, तथा-
नुप्रासोपमादयः शब्दार्थशोभातिशायिनो रसादेरुपकारकाः । अलंकारा
अस्थिरा इति नैपां गुणवदावश्यकी स्थितिः । शब्दार्थयोः प्रथमं शब्दस्य

अलंकारनिरूपणे संगतिमाह—अथेति । रीतिनिरूपणानन्तरमित्यर्थः । अथ-
सरप्राप्तान् अवसरसंगत्या निरूपयितुं युक्तमित्यर्थः । प्रतिबन्धकीभूतशिष्यजि-
ज्ञासानिष्ठैरवसरः । प्रेरुते सूचीकृतान्यायेन प्रथमं रीतिनिरूपणजिज्ञासा
जाता अस्यैवोद्देशकमप्राप्तालंकारनिरूपणप्रतिबन्धिका तन्निवृत्तावलंकारनिरूपणजिज्ञासा
जायत इति भावः । अलंकाराणां सामान्यलक्षणमाह— शब्दार्थयोरिति ।
अस्थिरा काव्येष्वेतियतश्रुतयः । काव्यत्वाव्यापका इति यावत् । एतेन परम्परया
शब्दार्थधर्माणां गुणानां वारणम् । रीतेरस्थिरत्वात्वारणमाह—शोभातिशा-
यिन इति । शोभातिशयजनका इत्यर्थः । रीतेः शब्दशोभाजनकत्वेऽपि गुणालंका-
रवच्छोभातिशयजनकत्वं नास्तीति भावः । नीरसशब्दार्थयोरनुप्रासोपमादीनां वार-
णमाह—रसादीनिति । उपकुर्वन्त उत्कर्षयन्तः । एवं च यत्र रसो नास्ति तत्रो-
चितैर्विचित्रमात्रप्रयोजकेष्वनुप्रासोपमादिष्वलंकारपदप्रयोगो गौण एव । विवृणोति—
यथेति । शरीरिणमहमार्गम् । अनुप्रासादेः शब्दालंकारत्वादुपमादेरर्थालंकारत्वा-
दुभयोः पृथगुपादानम् । गुणेष्वतिव्याप्तिं वारयति—नैपामिति । एवमलंकारा-
णाम् । शब्दालंकारनिरूपणस्य प्राथमिकत्वे हेतुं दर्शयंस्तत्रापि पुनश्चकवदाभासनि-
वृणस्य प्राथमिकत्वे हेतुमाह—शब्दार्थयोरिति । वक्तव्येषु निरूपणयोग्येषु ।

१. अलंकारा इति । अलंकारपदेऽनेनेति करणमुत्पत्त्यलंकारशब्दः शब्दार्थालंकार-
बोधकः । साहित्यशास्त्रापरपर्यायोऽलंकारशब्दस्तु भावसाधनः । २२ जयरामभट्टा-

१. 'मृते' इत्यादिः '—याका' इत्यन्तः पाठः पुस्तकान्तरे नास्ति. २. 'अविषता' इति मुद्रितपाठः.
३. 'एतेन निरलंकारमपि काव्यमस्तीति' सूचितम् । धर्मा अनुप्रासोपमादयः शोभातिशायिनः नैविषा-
तिशयमभोगताः । तेन काव्यत्वमप्येवसादीनामनद्रूपेण नालंकारवत् ।' इति मुद्रितः पाठः. ४. 'अल-
कारत्ववच्छेदाय' इति मुद्रितः पाठः. ५. 'तरङ्गनिवरोजीततृणीयमणकुण्ड' सतिहृदयि पद्मोदवाहद्वयह-
ततीरम् ।' इत्यादौ रसगुणपानरहिते वद्रूपवास्तुमात्रबोरलंकारव्यवहारो नैव एवेति मन्तव्यम् । ६.
विकटहास्यमाह—अङ्गदादिवदिति । आदिवाङ्मयलंकारपरिमहः ।' इति मुद्रितः पाठः. ७. 'उपकुर्वन्त' उत्कृष्ट-
त्वात् प्रापयन्ति' इत्यधिकं मुद्रितपुस्तके. ८. गुणानामपि वक्ष्यशोभाजनकत्वेनालंकारत्वं मन्तव्यं तद्वारणाय
'अस्थिरा इत्युक्तं तदर्थमाह' इति मुद्रितः पाठः. ९. 'गुणानां मायुर्बोजमध्यादावो व्यञ्जकमात्रेऽपि स्वस्वरस-
म्यञ्जकवदावश्यं परम्पर्यामन्त्रं सद्भावे इति भावः । वस्तुतस्तु रीतिनामपि गुणव्यञ्जकवर्णादिघटितत्वा-
दस्थिरत्वेनालंकारत्वमप्यत्र तद्वारणाय शोभातिशायिन इत्यस्य विवक्ष्यवैचित्र्याद्यवस्थमिति तदर्थवत्-
वम् । अवश्यं तेनैव गुणानामपि वारणसमवादिशया इति विवेचनमनुपपन्नमित्यवश्यम् ।' इत्यधिकं मुद्रितपु-
स्तके. १०. मुद्रितपुस्तके 'वक्तव्येषु' इत्यादिः '—वृष्टव्य' इत्यन्तः पाठो नास्ति, किन्तु तत्र 'शब्दमलक्षणान्त-

कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातघातः

केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥'

अत्र वाच्यक्रोधाद्यभिव्यञ्जकत्वेऽपि भीमसेनवक्तृत्वेनोद्धृता रचना-
दयः । वाच्यौचित्याद्यथोदाहृते 'मूर्धन्याघूयमान-' इत्यादौ (४३१ पृ.)
प्रबन्धौचित्याद्यथा नाटकादौ रौद्रेऽप्यभिनयप्रतिकूलत्वेन न दीर्घसमा-
सादयः । एवमाख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः । कथायां
रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः । एवमन्यदपि ज्ञेयम् ॥

इति साहित्यदर्पणे रीतिविवेचनो नाम नवमः परिच्छेदः ।

(अत्र मूलश्लोकाः = ५ पूर्वाभिः सह ३९९ उदाहरणानि = ३ पूर्वैः सह ४९८)

भिर्दुन्दुभिर्शब्दः केन ताडितः । ताडनेन जनितविशेषाणां शब्दविशेष्यकत्वेनैवो-
पपत्तेरिति कथितं । वस्तुतस्तु ताडितः सशब्दः कृतः । उपविशेषणे हीति न्यायेन
विशेषणानां शब्दमात्रमामित्वमिति श्रूमः । रीदृशः । मन्थेन मन्थनेन आयत्तं
धुभितं यदणवस्याम्भस्तेन पुतं व्याप्तं कुहरं यस्य तादृशस्य चलतो मन्दरस्य
ध्वानवद्धीरो गम्भीरः । तथा कोणाघातेषु वादनदण्डाभिघातेषु सत्सु । गर्जन्याः
प्रलयकालीनघटाया अन्योन्यसंघट्टजन्यशब्द इव चण्डः । ईदृशं चण्डत्वं कोणा-
घातकाल इत्यर्थः । 'कोणो वादनदण्डः स्यात्' इति कोपः । यद्वा 'ढकाशतसहस्राणि
भेरीशतशतानि च । एकदा यत्र ताड्यन्ते कोणाघातः स उच्यते ॥' इति परिभा-
षायां यत्रेत्यस्य सञ्चिन्तितमित्यर्थस्येव एकदा टकादिताडनजन्याः शब्दाः कोणा-
घाताः तेषु मध्ये गर्जदिसादिशब्द इत्यर्थः । कृष्णा क्रोधाग्रो ताक्रोधप्रवर्तकत्वात्तद-
ग्रदूतः । कुरुकुलनिधनस्योत्पातसूचकः । 'यदान्तरीक्षे यत्कथाम्माहृतो माहता
दृतः । पतत्यथः स निर्घातो जायते धातुसंभवः ॥' इत्युक्तश्रवणो यो निर्घातस्तत्त-
द्विदो घात इत्यर्थः । वाच्यस्य वाच्यार्थस्य । क्रोधादित्यादिना उदाहरणमुपयोगप्रह-
णम् । भीमसेनवक्तृत्वेनेति । भीमस्य क्रोधनत्वादीदृशं प्रसिद्धमिति भावः । अत्र
शब्दस्य शब्दस्य धोरत्येनोद्धृत्य शब्दस्योद्धृत्यमपि संभवतीति शुद्धसुदृढरूपशब्दः ।
यत्पुण्ड्रतले वीरेऽपि मुकुन्दारत्ननामया- 'भोल्लेखर-' इत्यादि (१८९ पृ.) । अत्रा-
क्रोधनत्वेनानुद्धतः धीरामो वक्ता । अभिनयप्रतिकूलत्वेन अभिनेतार्यप्रतिपत्ति-
विरुद्धत्वेन मसृणा भावुर्यम्यजन्तः । नात्यन्तमुद्धता इति । वर्णादनः ॥

इति धीरामचरणतर्ष्यानीचमहाचार्यविरचितायां साहित्यदर्पणविरुद्धी

रीतिविवेचे नाम नवमः प्रश्नः ।

प्रश्नपरवति । यथा अनपराधो—'उदामपुयनिपुष्टिः शिकरमदीदृशे वलनादाया-
जनयत्नाद्वक्त्रादिभिर्भूयकोवदयः । भोगोभ्युन्नतान्तरादिरनभूयमाया इत्येतानुक्तं
समाप्तमिति विग्रहवैधेयं च यस्या रिक्तः स' इति ॥' इति व्याख्यानं च वृत्ते.

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम् ।

पुनरुक्तवदामासः स भिन्नाकारशब्दगः ॥ २ ॥

भुजङ्गकुण्डली व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः ।

जगन्त्यपि सदापायादव्याचेतोहरः शिवः ॥

अत्र भुजङ्गकुण्डल्यादिशब्दानामापातभात्रेण सर्पाद्यर्थतया पौनरुक्त्य-
प्रतिभासनम् । पर्यवसाने तु भुजङ्गरूपं कुण्डलं, विद्यते यस्येत्याद्यन्या-
र्थत्वम् । 'पायादव्यात्' इत्यत्र क्रियागतोऽयमलंकारः, 'पायात्' इत्यस्य
'अपायात्' इत्यत्र पर्यवसानात् । 'भुजङ्गकुण्डली' इति शब्दयोः प्रथ-
मस्यैव परिवृत्तिसहत्वम् । 'हरः शिवः' इति द्वितीयस्यैव । 'शशिशुभ्रांशु'
इति द्वयोरपि । 'भाति सदानत्यागः' इति न द्वयोरपि । इति शब्दपरि-
वृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यामस्योभयालंकारत्वम् ।

पणे सूचीकटाहभ्याम् एव हेतुर्दृष्टव्यः ॥ आपातत्व इति । तार्पण्यमेवधारणद-
शायामित्यर्थः ॥ भिन्नाकारशब्दग इति यमकव्याख्यापर्यम् । स च शब्दस्य भङ्गा-
भङ्गाभ्यां द्विविधः । शब्दभङ्गे यथा—'भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवगतिरुत्ति-
रुक्तः' इति । अत्रापाततो दानत्यागशब्दौ पुनरुक्तौ । पर्यवसाने तु सदा अनत्या-
ग्रगतिराहित्येन भाति । स्थिरतायामगः पर्वत इत्यर्थः ॥ शब्दाभङ्गे उदाहरति—
भुजङ्गेति । शशिशुभ्रांशुशीतगुणशब्दानां पौनरुक्त्यमापाततः । पर्यवसाने तु
शशिनः कर्पूरस्यैव शुभ्रा अश्वी यस्य तादृशः शीतगुणश्चो यत्र स इत्यर्थः । यद्वा
शशी शुभ्रांशु शीतकिरण इत्यर्थः । सदा अपायादित्यपि शब्दभङ्गः । चेतोहरः
मनोरमः । अस्योभयालंकारत्वमुपपादयति—भुजङ्गकुण्डलीति । भुजङ्गावतंस
इति । द्वितीयपरिवर्तने पौनरुक्त्यमेव नास्तीति भावः । एवमग्रेऽपि यथायथं
बोध्यम् । द्वयोरपीत्यादिना शीतगुणिति । तृतीयस्यापीति लभ्यते । न द्वयोरपीति ।

१. पुनरिति । पुनरुक्तत्वेन पुनरुक्तवद् आभातो दानमिति पुनरुक्तवदामासः ॥

२. भिन्नेति । भिन्नाकारे विजायतीयानुपूर्वीको यः शब्दशब्दः ॥

३. भातीति । सपूर्णश्लोकस्तु 'अरिवधदेहशरीरः सहसा रघिसत्तुरणपादातः । भाति

१. 'अनिरूपणम्' इति पुस्तकान्तरे. २. दुहितपुस्तके ॥ 'विजारा' इत्यादि 'अश्वी
कवारत्तमिति भावः । इत्यन्तस्य स्थाने 'उदात्तमश्वीरणाव स इति । अव्याज्यम् । पर्यवसाने बहुता-
त्ययमदान्तरं सदापायादिति अक्षरमश्लेषादिति भावः । परिवृत्तिसहत्वं पर्यायशब्दोपादानेऽपि मङ्गलो-
पयोगित्वात् । द्वितीयस्यैव परिवृत्तिसहत्वमित्यन्वयः । एवमग्रेऽपि । नास्तीति । दानत्यागपरेकार्थत्वात्
पौनरुक्त्यम् । यथुत्पन्न सदा अनत्याग्रगतिनेन अयं पर्वत इव । इति व्याख्या वङ्गे.

बुद्धिविषयत्वाच्छब्दालंकारेषु वक्तव्येषु शब्दार्थालंकारस्यापि पुनरुक्त-
वदाभासस्य चिरंतनैः शब्दालंकारमध्ये लक्षितत्वात्प्रथमं तमेवाह—

शब्दार्थालंकारस्यापीत्यनेन शब्दार्थोभयशक्तिमूलधनित्वप्राप्तिरूपणयोग्यत्वमस्य
सूचितम् । चिरंतनैरित्यादि शब्दालंकारप्रकरणे निरूप्यत्वे हेतुः । तत्रापि प्रथमनिरु-

चार्यादिन्यायानेनालंकारत्वेदं लक्षणप्रथमं लभ्यते—रसोपकारकत्वे सति रसावृत्ति-
त्वम् । तथात्वे सति रसम्यग्मिचारित्वम् । अनियमेन रसोपकारकत्वं चेति । तदेतरक्रमेण
कामिन्यां कमले कलशे चातिन्यासम् । तथादि—कामिनी मृगतारस्यालम्बनविभाव-
भूतापि, 'रसस्वाहित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा । गुणाः' इति प्रकाशानुरूपमा
अष्टमपरिच्छेदयारिकया गुणवत्तत्त्वमैतन्नाभावाच्चदृष्टिरिति व्यक्तमेव । एवं कमलमुदी-
पनविभावभूतमपि यथा बद्धिर्धूमाभाववलययोगोलेऽस्तीति धूमोपकृतां धूमम्यग्मि-
चारीति कथ्यते, तथा कमलमपि रसाभाववति जडे जलादी विद्यत इति रसम्यग्मि-
नार्येव । एवं कलशोऽपि कुचसारकत्वेन कदाचिद् रसोपकर्तृत्वमित्यनेन तत्रापि तदु-
पकृर्तृत्वम् । एवं कुचलयानन्दचन्द्रिकोक्तमपि । तथादि—अलंकारावन् च रसादि-
व्यङ्ग्यभिप्रेतत्वे सति शब्दार्थान्वयतरनिष्ठा या विपयितासंबन्धावच्छिन्ना चमरकृतिजन-
कतावच्छेदकता तदवच्छेदकत्वम् । अनुप्रासादिविशिष्टशब्दज्ञानाद् उपमादिविशिष्टार्थ-
ज्ञानाच्च चमरकारोदयात्तेषु लक्षणसमन्वयः । शब्दार्थयोर्ज्ञाननिष्ठचमरकृतिजनकतया
विपयितया अवच्छेदकत्वेन तद्विशेषणीभूतानुप्रासोपमादेस्तत्रिषावच्छेदकतावच्छेदकत्वात् ।
रसवदालंकारसंमहाय व्यङ्ग्योपमादिवारणाय च भेदद्वयभेदतत्त्वोपादानमिति ।
अत्रापि प्राग्भवेन शब्दे कामिन्यादिश्रितत्वेऽपि प्रत्येकमप्यतिशयः । तथादि—रसादि-
भिन्नत्वमत्र व्यङ्ग्ये रसोऽपि यत्र रसान्तरस्याहं भवति संप्रभृति रसवदालंकारवस्तु-
ष्टयभिन्नत्वमेव तादृशं यद् व्यङ्ग्यं व्यङ्ग्योपमादिच्छेदं तन्निष्ठत्वे सतीति 'सत्यन्तार्थः
संमतः । तेनोक्तकामिन्यादौ व्यङ्ग्यरसकरणीभूतरसावयरसवदावच्छेदरभिज्ञेन व्यङ्ग्यो-
पमावच्छेदकारभिन्नत्वमपि प्रसिद्धमेव । नहि कामिनी कमलं कलशो वा कलचित्रस्य
व्यङ्ग्यो रसो भवति भावादौर्वा येनापरस्याहं सन् रसवत्प्रेयशावच्छेदकारः स्यात् ।
तथोदात्तीनतादशाया व्यङ्ग्योपमावच्छेदकारभिन्नस्तु वर्तत एव । एवं ज्ञानार्थत्वेन तत्र
चमरकृतिजनकतावच्छेदकता या सा ज्ञाननिष्ठविपयितासंबन्धावच्छिन्ना भवति । तत्र
विशेषणत्वेनानन्दकरस्य कामिनीत्वादेरवच्छेदकत्वमित्यनलंकारेषुदासीनकामिन्यादा-
नुक्तालंकारसंचारः संप्राप्त एव । नहि कामिनी कमलं कलशो वा शातश्रेत्सामान्यतो
नानन्दकर इति । अथात्रालंकाराणां रसोपकारकत्वप्रतिपादनमपि दुःशकम् । अर्थाद्यु-
पकारद्वारा तदङ्गीकारे त्वर्थादेरेव तथात्वस्य साक्षात्संभवेन तेषां कुलालपित्रादिवदन्य-
थातिव्यवहारः । तथा चात्र मूलग्रन्थोऽलंकाररूपलक्षणपरतया योञ्जनीयो न त्वसा-
धारणलक्षणलक्षणपरतयेत्यन्वयः निस्तरः ॥

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम् ।

पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दमः ॥ २ ॥

भुजङ्गकुण्डली व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः ।

जगन्त्यपि सदापायादव्याचेतोहरः शिवः ॥

अत्र भुजङ्गकुण्डल्यादिशब्दानामापातमात्रेण सर्पाद्यर्थतया पौनरुक्त्य-
प्रतिभासनम् । पर्यवसाने तु भुजङ्गरूपं कुण्डलं, विद्यते यस्मैत्याद्यन्या-
र्थत्वम् । 'पायादव्यात्' इत्यत्र क्रियागतोऽयमलंकारः, 'पायात्' इत्यस्य
'अपायात्' इत्यत्र पर्यवसानात् । 'भुजङ्गकुण्डली' इति शब्दयोः प्रथ-
मस्यैव परिवृत्तिसहत्वम् । 'हरः शिवः' इति द्वितीयस्यैव । 'शशिशुभ्रांशु'
इति द्वयोरपि । 'भाति सदानत्यागः' इति न द्वयोरपि । इति शब्दपरि-
वृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यामसोभयालंकारत्वम् ।

पणे सूचीकटाद्व्याय एव हेतुर्दृष्टव्यः ॥ आपातत इति । तात्पर्यानिबन्धारणद-
शायामित्यर्थः ॥ भिन्नाकारशब्दम इति समकव्यावृत्त्यर्थम् । स च शब्दस्य भङ्गा-
भङ्गाभ्यां द्विविधः । शब्दभङ्गे यथा—'भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनिर्गतलति-
लकः' इति । अत्रापाततो दानत्यागशब्दौ पुनरुक्तौ । पर्यवसाने तु सदा अनत्या-
गप्रतिराहित्येन भाति । स्थिरतायामगः पर्वत इत्यर्थः ॥ शब्दभङ्गे उदाहरति—
भुजङ्गेति । शशिशुभ्रांशुशीतगुशब्दानां पौनरुक्त्यमापाततः । पर्यवसाने तु
शशिनः कर्पूरस्यैव शुभ्रा अवगो यस्य तादृशः शीतगुधन्त्रो यत्र च इत्यर्थः । यद्वा
शशी शुभ्रांशु शीतकिरण इत्यर्थः । सदा अपायादित्यपि शब्दभङ्गः । चेतोहरः
मनोरमः । असोभयालंकारत्वमुपपादयति—भुजङ्गकुण्डलीति । भुजङ्गावतंस
इति । द्वितीयपरिवर्तने पौनरुक्त्यमेव नास्तीति भावः । एवमप्येवमपि यथायथं
बोध्यम् । द्वयोरपीत्यादिना शीतगुश्रिति । तृतीयस्यापीति कथ्यते । न द्वयोरपीति ।

१. पुनरिति, १. पुनरुक्त्येव, पुनरुक्तवद् आभासो, ध्यातमिति, पुनरुक्तवदव्यापारः ॥

२. भिन्नेति । भिन्नाकारे विजायतीयानुपूर्वीको यः शब्दस्तद्गः ॥

३. भातीति । संपूर्णस्यैव स्तु 'अरिवधदेहशरीरः सहसा रमिषत्तद्वुरसपादातः । भाति

१. 'अनिरूपणे' इति पुस्तकान्तरे, २. श्रुतिपुस्तके ॥ 'विजाकारः' इत्यदोः '—शब्दा
लभारत्वमिति भावः ।' इत्यन्वयस्य स्थाने 'अपानुमासवारणाय च इति । अत्राद्वेषतु । पर्यवसाने बहुता-
वर्त्यपदान्तरं सदापायदिति अकारप्रत्ययेति भावः । परिवृत्तिसहत्वं पर्यायशब्दोपादानेऽपि प्रवृत्ते-
ययोगित्वम् । द्वितीयस्यैव परिवृत्तिसहत्वमित्यन्वयः । एवमप्येवमपि । यतीति । दानत्यागस्योपार्थत्वात्
पौनरुक्त्यम् । वस्तुतस्तु सदा अनत्यागप्रमाणेन अग पर्वत इति । इति व्याख्या वर्तते.

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैपम्येऽपि स्वरस्य यत् ।

स्वरमात्रसादृश्यं तु वैचित्र्याभावात् गणितम् । रसाद्यनुगतत्वेन प्ररूपेण न्यासोऽनुप्रासः ।

द्वयोरपि न परिश्रुतिसद्वत्त्वमित्यर्थः । अस्य पुनरुक्तवदाभासलोभयालंकारत्वं शब्दार्थोभयालंकारत्वम् । शब्दपरिवर्तने तदर्थकशब्दान्तरादानेऽपि वैचित्र्यसंभवादर्थान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादर्शालंकारत्वम्, यत्र तु शब्दपरिवर्तने वैचित्र्यं न संभवति तत्र शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाच्छब्दालंकारत्वमिति भावः ॥ अनुप्रासालंकारमाह—अनुप्रास इति । शब्दस्य वर्णपदैकदेशपदानामन्यतमस्य साम्यं सादृश्येनावर्तनम् । वर्णानां सादृश्यं च कत्वादिना एरुस्थानोच्चार्यत्वेनापि । तेन वर्णत्वादिना सदृशस्य विशासीमवर्णस्यापवर्तने नातिप्रसङ्गः, नापि शुक्लानुप्राससंग्रहः । पदपदैकदेशयोस्तु तत्तद्व्यञ्जनपद्धितत्वेन छेकल्लुटानुप्रासयोः संग्रहाय 'वर्णसाम्यम्' इत्यनुक्त्या 'शब्दसाम्यम्' इति कृतम् । वस्तुतस्तु पदतदेकदेशसाम्येऽपि वर्णसाम्यसंभवाच्छब्दपदं वर्णमात्रपरम् । अत एव 'वर्णसाम्यमनुप्रासः' इति काव्यप्रकाशः । 'वैपम्येऽपि' इत्यादिना साम्येऽपीति लभ्यते । एतच्च कटानुप्रासे नियतम् । न च समस्वरपदतदेकदेशसाम्यं यमकेष्वतिव्याप्तमिति वाच्यम् । तेषां प्रकरणनियम्यतया सदतिरिक्तत्वेनास्य विशेषणात् । ननु 'वैपम्येऽपि स्वरस्य' इत्यनेन व्यञ्जनेन व्यञ्जनसाम्यमनुप्रास इति लभ्यते । स्वरमात्रसाम्यं न कथमनुप्रास इत्यत आह—स्वरमात्रेति । अनुप्रासपदश्रुतिसमाह—रसादीति । तृतीयाद्वयं विशेषणे । रसाद्यनुप्रासः प्रकृतध्वेसार्थः । साधयश्च प्ररूपेण रसादिप्ररूपकत्वम् । तेनैव प्रकृत्यन्यास इत्येकदेशार्थमाह—

सदानत्यागः सिरतायामवनिजलतिलकः ॥ इति । अवनिजलतिलको रत्ना भावि । कथा । सदानत्यागः सदा विपये भावत्या अतिनम्रभावेन । यद्वा सदा सर्वकाले अनत्या भरिषु अनघ-
तया । पीडशः । अरिषदा शत्रुसंहारिणी ईहा चेष्टा येषा सादृश्या ये शरिणः शरविशिष्ट-
मदाः तानीत्यति प्रेरयतीति अरिषदेदृशरीरः । सहष् शीघ्र रश्मिभिः द्रष्टुं ऊहाः सव-
आलुस्या अन्वा । पादाग्राः पदातिक्रान्तिर्यस्य सः । सिरतायामगः । पर्वतानुत्थ इत्यर्थः ।
यथा वा—'अम्बरेण गगनेन सप्तं जीवनैः शिरसि वारिभिः धितम् । भोगिमिश्रं शुभ्र-
विभूषितं शंकरं शुभकरं मजामहे ॥' इति । अत्र अम्बरेण गगनेनेति, जीवनेवारिभिरिति,
भोगिभिर्मुञ्जैरिति, शंकरं शुभकरमिति आमुखे पीडकत्वं पर्यवसानेऽन्यार्थकत्वाच्चदभावः ॥

१. अनुप्रास इति । अनुशब्दोऽनुगमार्थः, प्रशब्दः प्रकर्षार्थः, आसशब्दो न्यासार्थ इति योगार्थं दर्शितः ।

छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा ॥ ३ ॥

छेकश्छेकानुप्रासः । अनेकधेति स्वरूपतः क्रमतश्च । रसः सर इत्यादेः क्रमभेदेन सादृश्यं नास्यालंकारस्य विषयः । उदाहरणं मम तातपादानाम्—

‘आदाय वकुलगन्धानन्धीकुर्वन्पदे पदे अमरान् ।

अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः ॥’

अत्र गन्धानन्धीति संयुक्तयोः, कावेरीवारीत्यसंयुक्तयोः, पावनः पवन इति व्यञ्जनानां बहूनां सकृदावृत्तिः । छेको विदग्धस्तत्प्रयोज्यत्वादेर्षं छेकानुप्रासः ।

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा ।

एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥ ४ ॥

एकधा स्वरूपत एव, न तु क्रमतोऽपि । अनेकधा स्वरूपतः क्रमतश्च । सकृदपीत्यपिशब्दादसकृदपि । उदाहरणम्—

‘उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर-

क्रीडत्कोकिलकाफलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णग्वराः ।

न्यास इति । अनुप्रासस्य पञ्चप्रभेदानाह—छेक इति । अनेकधेति । स्वरूपतः क्रमतश्चेत्यर्थः ॥ अस्य छेकानुप्रासस्य विषयः स्थानम् । तथा च तद्वारणायैव क्रमतश्चेत्युपात्तम् ॥ आदायेति । अन्धीकुर्वन् मधुलोभेन अन्धवद्ब्रान्तान् कुर्वन् । पदे पदे स्थाने स्थाने । कावेरीवारिसेयोगेन पावनः प्रवित्रकरः ॥ वृत्त्यनुप्रासमाह—अनेकस्येति । व्यञ्जनस्येत्यर्थः ॥ असकृदिति । अप्राप्यनेकस्येत्यनुपपद्यते ॥ उन्मीलदिति । वसन्तवर्षणमिदम् । अमी वसन्तसंषन्धिभो वासराः पथिकः प्रवासिग्रामुक्तैः कवंचकमपि महता कठेन नीयन्ते । क्रीडशाः ।

१. छेक इति । अथवा छेका आलम्ब्याः पक्षिणस्तेषां हि प्रायो दिर्भाषितं भवति । तेन छेकभ्रमितीपलक्षितोऽनुप्रासश्छेकानुप्रास इति । ‘छेकस्त्रिषु विदग्धेषु गृहासकमृगापहजे’ इति चपगादी रभसः । अयमनुप्रासः सजातीयान्यवहितदिवादिगणानामप्यावर्तने संभवति । ‘तथा चोक्तम्—‘सजातीयान्यवहितवर्णा दिवादयो यदि । आवर्तन्ते तदा केचिन्छेकानुप्रासमूचिरे ॥’ इति ॥

२. उदाहरणमिति । यथा वा मदीये दशकपठ्यधे—‘लीलालोडमरालाङ्गुलितम्बानो-दकोशाङ्गुजश्च्योततरफारपरागरागलक्षितं न्वालोडमम्भोमरम् । विआणा वरुणावृणारुणमिव प्रावारमुत्कण्ठिता यां कञ्जोलुजच्छलेन सरयूशालीमिवालिङ्गति ॥’ इति । यामयोध्याम् ॥

नीयन्ते पथिकैः कथंकथमपि ध्यानावधानक्षण-

प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः ॥'

अत्र 'रसोल्लासैरमी' इति रसयोरेकधैव साम्यम्, न तु तेनैव क्रमे-
णापि द्वितीये पादे, कलयोरसकृतेनैव क्रमेण, प्रथमे, एकस्य मकारस्य
सकृत्, धकारस्य चासकृत् । रसविषयव्यापारवती वर्णरचनावृत्तिः, तदनु-
गतत्वेन प्रकरणेन न्यसनाद्वृत्त्यनुप्रासः ।

उच्चार्यत्वाद्यदैकत्र स्थाने तालुरदादिके ।

सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ॥ ५ ॥

उदाहरणम्—

'दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः ।

विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः ॥'

अत्र जीवयन्ति' इति, 'याः' इति, 'जयिनीः' इति । अत्र जकार-
यकारयोरेकत्र स्थाने तालावुच्चार्यत्वात्सादृश्यम् । एवं दन्त्यकण्ठ्या-
नामप्युदाहार्यम् । एष च सहृदयानामन्तीव श्रुतिसुखावहत्वाच्छ्रु-
त्यनुप्रासः ।

उन्मीलित प्राञ्जयेण उत्पद्यमानस्य मधुनो मरुन्दस्य गन्धेन लुब्धा ये
मधुपासैर्व्याधूतेषु घृताकुलेषु आम्रमुद्गलेषु कीडता कोकिलानां कान्तजीभिः
सूक्ष्मभ्रानिभिः फलकैः प्रौढसन्धैरुद्गोणे प्रकाशित्वेन निक्षिप्त- कर्णेषु ज्वर-
पीडा येषु ते । पथिकैः कीदृशैः । ध्यानावधानेन ध्यानस्य निष्ठया क्षणं प्राप्तः
प्राणसमायाः प्रियायाः समागमरसेन सभोगरसेन उल्लास आहासो यस्तैः ॥
रसयोः रेफसकारयोः । प्रथमे इति । पादे इत्यन्वयः । तदतिरिक्तारहेका-
नुप्रासा इह वेदितव्याः । सञ्ज्ञव्युत्पत्तिमाह—रसेति । रसविषयव्यापारो
रसव्यञ्जनं तद्वतीत्यर्थः । वृत्तिश्च त्रिविधा—उपनागरिक, परुषा, कोमला च ।
तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'माधुर्यव्यञ्जनेर्वर्णरूपनागरिकोच्यते । ओजःप्रकाशकैस्तु
परुषा कोमला परैः ॥' परैः श्रेयैः । केचित् कोमल्य ग्राम्या वदन्ति । एतास्तिष्ठो
वृत्तयो वैदर्भीगौडीपाञ्चालीसङ्गकरीवित्वेन आश् निर्दिष्ट इति ग्रन्थकृतेह नोक्ताः ॥
तदनुगतत्वेन वृत्त्यनुगतत्वेन ॥ श्रुत्यनुप्रासमाह—उच्चार्यत्वादिति । स्थाने
उच्चारणस्थाने । रसो दन्तः । आदिना मूर्ध्वकण्ठोष्ठस्य सप्रहः । अत्र स्वरूपतः
साम्याभावेऽप्यनुप्रासत्वं प्रागेवोपपादितम् ॥ दृशेति । विरूपाक्षस्य शिवस्य ॥
सञ्ज्ञव्युत्पत्तिमाह—एष इति । अनुप्रासविशेषः ॥ अन्त्यानुप्रासमाह—व्यञ्ज-

व्यञ्जनं चैयथावस्थं सहायेन स्वरेण तु ।

आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्यानुप्रास एव तत् ॥ ६ ॥

यथावस्थमिति यथासंभवं मनुस्वारविसर्गस्वरयुक्ताक्षरविशिष्टम् । एष च प्रायेण पादस्य पदस्य चान्ते प्रयोज्यः । पादान्तगो यथा मम—

केशः काशस्तवकविकासः कायः प्रकटितकरमविलसः ।

चक्षुर्दग्धवराटकफलं त्यजति न चेतः काममनस्त्वम् ॥

पदान्तगो यथा—

‘मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः’ इत्यादि ।

शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः । ८१२/३५/२

लाटानुप्रास इत्युक्तो—

नमिति । आवर्त्यते पुनरुच्यते । सञ्जाव्युत्पत्तिमाह—अन्त्येति । अन्त्य एवान्त्यः । तत्र योज्यत्वात् ॥ केश इति । प्रकटितः करमस्य उग्रस्य विलसः सादृश्येन सः ॥ लाटानुप्रासमाह—शब्दार्थयोरिति । शब्दः प्रातिपदिकं पदं च । भिन्नार्थशब्दपौनरुक्त्ये यमकस्यैव विषय इति सङ्गारणार्थेति । ‘खेररा- जीवनयने ‘लोचने किं निमीळिते ।’ इत्यादावर्थमानस्य पौनरुक्त्ये नायमनुप्रास इत्युभयोपादानम् । अर्थस्य पौनरुक्त्यं तु पूर्वपदार्थविशेषणविशेषाभ्यां सङ्कोतरपदार्थविशेषणविशेषयोरप्येव सम्भवति । तेन ‘—प्रवेन स्रुते शुमुखि न्योत्रि विभाति चन्द्रमा ।’ इत्यादौ विशेषणयोर्भेदान्नायमनुप्रासः । नापि ‘बपु कान्तं वचः कान्त मनस्तु परपं तव’ इत्यादौ विशेषणयोर्भेदात् । ननु ‘यातु यातु किमनेन तिष्ठतु मुख मुख सखि सादर वचः’ इत्यादौ क्रोधादिव्यञ्जके शब्दार्थपौनरुक्त्ये लाटानुप्रास-प्रसङ्गः, इत्यत आह—भेद इति । तात्पर्यविषयान्वयमानभेदे सतीत्यर्थः ।

१. पदान्तगो इति । यथा वा—‘सारासारविदः सर्ता भयभिदः प्रहोषतापविच्छदः कारुण्यार्द्रहृदः प्रपन्नशुद्ध स्फारीभवत्सविदः । प्राताशेषविश्रः प्रकाशितदिशः कीर्त्या मही- निर्विश्रः वर्षावीश निशः प्रसक्तपृष्ठरत्नत्पादसौठरध्वजः ॥’ इति स्तुतिकुमुदाभ्रलि- पयमुदाहरणीयम् । यतदनुप्रासानुसरणेनैवावधायीकन्दः सहृदयहृदवावर्जक भवति । तत्र ‘न्यायावधिः छतनिकायाकरस्त्रिभुवनवावताररसिकदृष्टायावधीरितकलायावति । कनक- दाय्यादपट्टवसनः । जायासुखदाचटिलमायातनूषिदितकस्याभिमानिचरितः पायाददो जगद- पायाददभ्ररुगाया निधी रघुपतिः ॥’ इति मदीय देवराजचरितपद्यमुदाहरणम् ॥

२. लाटेति । प्रकाशो यः—‘पदानां स परस्मादि वृत्तान्तेन तत्र वा । नाद्यः सवृत्तवृ- रवोश्च तदेव पञ्चमा मतः ॥’ इत्यनेन लाटानुप्रासस्य पञ्चविधत्वमाज्ञातम्, तत्तु विकृतिरुजा

१. ‘प्रयोगवाक्य’ इत्यधिक गुडितपुष्पके २. ‘खेरराजीव’ इत्यपि ‘—आह’ इत्यतः पाठ पुस्तकान्तरे नास्ति, यतएवमेव पौनरुक्त्ये द्विरुक्तिः । नन्वस्य दोष एव कथमलङ्कार इत्यत आह—‘इति पाठः,

उदाहरणम्—

सेरराजीवनयने नयने किं निमीलिते ।

परम निर्जितकंदर्पे कंदर्पवशगं मियम् ॥

अत्र विभक्त्यर्थस्य पौनरुक्त्येऽपि मुख्यतरस्य प्रातिपदिकांशद्योत्यध-
मिरूपस्य भिन्नार्थत्वाच्चानुप्रासत्वमेव ।

‘नयने तस्यैव नयने च ॥’ (४३४ पृ०)

अत्र द्वितीयनयनशब्दो भाग्यवत्त्वादिगुणविशिष्टस्वरूपतात्पर्यमात्रेण
भिन्नार्थः ।

अतएव ‘अन्वयमानभेदात्’ इति काव्यप्रसासः । तथाह ‘शत्रु यातु’ इत्यादावन्व-
यभेदो नास्ति किं तु कोषव्यञ्जकत्वमेव पौनरुक्त्यमिति भावः । नन्वर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये
ध्वनावापाततः शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यावभासनेऽपि पर्यवसाने वक्तृतात्पर्यविषयविशेष-
णान्तरप्रतीक्षा भिन्नार्थत्वाभासनेनायमनुप्रास इत्यभिप्रायेणाह—नयने इति ।
द्वितीयेति भाग्यवत्त्वादिगुणरूपं यद्विशिष्टत्वं विशेषणं तन्मात्रेण वक्तृतात्पर्यमात्रेण
भिन्नार्थ इति योजनावैपरीत्येनान्वयः । अत एव ‘दन्येऽथ लाटानुप्रासेऽ-
नुकम्पायां प्रसादने । अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे ॥’ इत्यर्थान्तरसं-
क्रमितवाच्यध्वनेः पृथगुपादानं समच्छते । मात्रपदेन नयनत्वस्य व्यवच्छेदः । शब्दस्य
पौनरुक्त्यं द्विरुक्तिः । प्रातिपदिकपौनरुक्त्यं च तावदेकस्मिन्समासे विभित्तमासे
समासासमासयोश्च संभवतीति त्रिविधम् । यथा—‘सितकरकरचिरविभा, विभा-
कराकर, धरणिधर, कीर्तिः । पौरुषकमल्य, कमला चापि तवैवास्ति नाम्यस्य ॥’
अत्र करेति प्रातिपदिकानुतिरेकस्मिन्समासे, विभेति भिन्ने, कमलेति समासास-
मासयोश्च । समासासमासगतं प्रातिपदिकपौनरुक्त्यमुदाहरति—स्मेरेति । कुले-
त्यर्थः । नन्वत्र प्रातिपदिकस्य पौनरुक्त्यसत्त्वेऽपि विभक्त्यर्थस्य भिन्नत्वाद्-
र्थपौनरुक्त्यं नास्तीति कथमस्य विषय इत्यत आह—अत्रेति । भिन्नार्थात्पुनरुक्त-
त्वात् । पदपौनरुक्त्यमन्वयेकनेकपदगतत्वेन द्विविधम् । तत्रैकपदपुनरुक्ते यथा—
‘वदनं वरवर्णिन्यास्तस्याः सखं सुधाकरः । सुधाकरः क तु पुनः कलङ्कविकलो

दर्शितमेव । अत्र कारिकायां नृतिपदेन कुत्रचित्समासैकशेषस्यन्तवाचुरुपाः पञ्चानि वृ-
त्तय उपलक्ष्यन्ते । तेन ‘चन्द्रायते शुद्धरनापि हंसो हंसावते आरुपतेन शान्ता’ इत्यादेरपि
सप्रहः । कमलाकरादयस्तु—‘मधुनि मधुकर त्वं रत्नमङ्गीकरोषि—’ इत्यादौ नामैकदेशाह-
सानप्यमुमेच्छन्ति । केचित्तु कारिकागतनामपदस्योपलक्षणमूरीकृत्य ‘जित्वा विश्वं भवानप
विहरत्वरोपनैः । विहरत्वपरोमिस्ते रिपुवर्गो दिवं गतः ॥’ इत्यमुदाहरन्ति ॥

१. ‘अतः—’ इत्यादिः ‘—द्विरुक्तिः’ इत्यन्तो ग्रन्थे पुनश्चागते न किंतु तत्र ‘अर्थान्तर-
धनमिवावयवव्याख्यायति’ इत्यादौ पौनरुक्त्यमुदेरवविषयवायेनान्वयभेदव्याख्यायति तत्राप्याय नानपदम् ।
इति पाठः.

‘यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।

यस्यं न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥’

अत्रानेकपदानां पौनरुक्त्यम् । एष च प्रायेण लाटजनप्रियत्वा-
ल्लापानुप्रासः ।

अनुप्रासः पञ्चधा ततः ॥ ७ ॥

स्पष्टम् ।

सत्यर्थे पृथगर्थीयाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः ।

क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥ ८ ॥

भवेत् ॥’ अत्र विभक्तिग्रहितस्य प्रातिपदिकस्य तदर्थस्य च पौनरुक्त्यम् । प्रथमं
सुधाकरपदं विधेयार्थम्, अपरमनुवादार्थम् ॥ अनेकपदपौनरुक्त्ये उदाहरति—
यस्य नेति । अत्र पूर्वार्धे तागकरत्वात्तुहिनदीधितिर्दवदहनः । परार्धे तु तादृश-
दुःखाजनकत्वादवदहनोऽपि तुहिनदीधितिरिति तात्पर्यविषयस्योद्देश्यविधेयभावेना-
न्वयस्य भेदः । पदार्थानां त्वभेद एव । मिलित्वा अनुप्रासः पञ्चप्रकारः ।
चरमप्रकारद्वयं पदानुप्रास इत्यन्ये । अयं चान्यैरुभयालंकारतयोक्तोऽपि दाद्वि-
शेषान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाद्बन्धकृता वाच्यदालंकारमध्ये गृहीतः ॥ यमकालंका-
रमाह—सत्यर्थ इति । स्वरव्यञ्जनसंहतेः अग्न्यञ्जनमुदायस्य । स्वरव्यञ्जनयो-
रेकत्वेऽपि यमकं भवति । यथा—‘नानाकारेण कान्ताभूराधितमनोभुवा ।
विविक्तेन विलासेन ततश्च हृदयं मम ॥’ एतद्वर्णयमकं वामनसंमतम् । क्रमेणेति ।
येन क्रमेण प्रथमं स्वरव्यञ्जनसंगृह्य उक्तस्तेनैवेत्यर्थः । आहूतिः पुनरुच्चारणम् ।

१. अनुप्रास इति । एकानुप्रासवृत्त्यनुप्रासश्चलनुप्रासाञ्जानुमासललाटानुप्रासभेदः
पञ्चधा पञ्चप्रकारक इत्यर्थः ॥

२. यमकमिति । (१) यदि प्रथमपादो द्वितीये बन्धते तदा सुखयमकम् ।
यथा—‘दर्पकान्तक विराजमानयाऽऽर्य-कान्त-कविराज-मानया । त्वत्प्रसादविधिलम्भ-
या धिया साधवो दधति वैजुषी धुरम् ॥’ (२) प्रथमस्तृतीयपादे चेत्तदा संदंशः ।
यथा—‘सन्नारीभरणोभायमाराध्य विधुशेखरम् । सन्नाऽरीभरणोऽभायस्ततस्त्व शृण्वी,
जय ॥’ (३) प्रथमश्चतुर्थपादे चेत्तदावृत्तिः । यथा—‘मुदाऽऽरतादी समराजि-
राऽजितः प्रवृद्धतेजाः प्रथमो धनुष्मताम् । भवान्निर्मोह नमश्च मेदिनीमुदार-तादी-स-
मराजि राजितः ॥’ (४) द्वितीयस्तृतीयपादे चेत्तदा गर्भः । यथा—‘आध्यास्यते श्म-
जुषा भवतः प्रसादादामोदराजि-उरु-चाक चिर जनेन । दामोदरा जितरुचा रुचिरज-
नेन कीर्णं तृणेन शृज्ज ब्रजमार्तवेन ॥’ (५) द्वितीयपादश्चतुर्थे चेत्तदा संदष्टकम् ।
यथा—‘शारदीमिव नदी प्रसादिनीमुच-कैरव-सरोज-राजिताम् । स्तोत्रमेव मम मूर्ति-
रीमुचकैरवसरोऽञ्जराजिताम् ॥’ (६) तृतीयपादश्चतुर्थे चेत्तदा पुच्छम् । यथा—
‘हमातङ्गुलाकुले वो ब्रजेष्ट शत्रून्समरे सदैव । स सारमानीय महारि चक्रं ससार

मानी यमधारिचक्रम् ॥' (७) प्रथमपादस्त्रिचरि यम्यते चेत्तदा पङ्क्तिः । यथा—
 'तनुशूरेरसमायतयातनु शंकर वै रस मायतया । तनु शं करये रसमायतया-
 तनुशं कर वैरसमायतया ॥' हे शंकर, मा मां रस संभावय । मां प्रति स्ववचनामृतं
 मुनेति । वै प्रसिद्धौ । कैः । अतनु यथा स्वात्तया ये तनुशूरा निःशूरा रवा भक्तजनं
 प्रत्यभयदानवचनानि वैः । कीदृशं मा कर्मेभूतम् । असमोऽनन्यसदृशोऽयः शुभावशो
 विधिर्यस्य सोऽसमानः, तस्य भावस्तथा तथा असमायतया उपलक्षितम् । कर्मेभूतया
 भक्तमायतया । आयतया अनियतया । हे विमो, शं कैवल्याल्लभं तनु विस्तारय ।
 अहं रसं भक्तिरसं करये । एवं मा माम् अतनुशून् अतनुः कामक्षं इयति तनुशूरोवील-
 तनुशूलाभाभूतं कर । कुर्वितथैः । करोति च्छान्दसः प्रयोगः । 'छान्दसा अपि कविज्ञा-
 पायां प्रयुज्यन्ते' इति वचनात् । कया हेतुभूतया । वैरसमायतया । वैरणान्तरिपुस्तद्भाव-
 जनितेन, सह मानया नरैत इति समासः तस्य भावस्तथा तथा । कीदृश्या । भाव-
 नया विस्तीर्णया ।' इति तदर्थः । 'यमकं तु विधातव्यं न कदाचिदपि त्रिपाद' इति निष-
 मादेकस्यापरपादद्वयगतत्वेन भेदो न भवतीत्यसंकीर्णं पादगतं यमकं सप्तपेदम् । (८) प्र-
 थमः पादश्चतुर्थे पादे द्वितीयस्तृतीये चैवम्यते तदावृत्तिर्भयोपात्तरिवृत्तिः ।
 यथा—'मुदा रताऽसौ रमणी यथा यां सरस्वतोऽयं कु-हलेन योडा । सरस्वतोऽर्क-
 कुवरेऽनवोद्यनुदास्तासौ रमणीयतयाम् ॥' (९) प्रथमो द्वितीये तृतीयश्चतुर्थे चैवम्यते
 तदा मुखपुच्छयोगाद् युग्मकम् । यथा—'शवित-संगमसञ्ज-नताऽऽपर्वशमितसज्जन-
 सज्जनतापदम् । न-मत्त-काममहीन विभासितं नमत्त काममहीन-विभा-सितम् ॥' रज-
 थाभ्यासमृते पादद्वयावृत्तौ इयमिति नष्टम् । (१०) अर्धोवृत्तिः समुद्रकम् । यथा—
 पत्ति-समोहनमारव-राजितं सर हरे शिष्टि चन्द्रकला-ऽऽभिष्टम् । कलितमोहन-मारव-
 राऽजित सरहर शिष्टिचन्द्रक-लाभिष्टम् ॥' (११) श्लेषवृत्तिर्महायमकम् । यथा—
 'सकलं सकलमलंकृतप्रनदमस्मिन् मदनान्नतम् । भवमदभ-महानिधने हितं
 शमनमज्जनमानमवाऽऽलयम् ॥ सकल-शंसन-पाठमत्रं कृतप्रनदमस्मिन्-समद-नाश-
 नम् । भव-मद-भन-हानिधनेहितं शम-नमज्जन-मान-मवाऽऽलयम् ॥' यदर्थं यन्म-
 द् इति अतिधने अविनाशितं निजभक्तजनदेयं तत्र हितम् । शमने यमे मज्जयतीति
 शमनमज्जनम् । अलयं निर्वाणम् । सकला ये शंसका स्तुतिकर्तारस्ताम्पाठयति तथा
 भूतम् । कृतः प्रमदः परमानन्दो येन स तादृशम् । भवे संसारे यो मदस्तेन यो भ्रमस्तस्य
 हानिः सैव धनं येषां ते संसारभ्रमविरचयस्त्वैति हितम् । शमेन नमन्तो ये जनास्तेषां
 मानार्थं मगोऽङ्गीकृत आलयः प्रतिदेष्टव्यविरूपो येन स तादृशम् । शेष स्पष्टम् । इति तदर्थः ।
 एतद्विषयमपि पादावृत्तिविशेष इत्येकादश पादयमकानि । पादभागवृत्ति रवनेकविधम्—
 द्विधा विभज्य पादेषु प्रथमादिपादानामाद्यभागाः पूर्ववद्वितीयादिपादेष्वभागेष्वेव यदि
 यम्यन्ते तदा पूर्ववन्मुखादयो दश भेदा उत्पद्यन्ते । यथा—प्रथमपादाद्यभागे द्वितीयस्तृ-
 त्तीयश्चतुर्थपादाद्यभागेषु यम्यत इति निधा । द्वितीयपादाद्यभागस्तृतीयश्चतुर्थपादाद्यभागयो-
 र्यम्यत इति द्विधा । तृतीयपादाद्यभागश्चतुर्थपादाद्यभागयो र्यम्यत इत्येकः । प्रथमपादाद्य-
 भागस्त्रिचरिपादाद्यभागेषु यम्यत इत्यन्य इति सहासकीर्णभेदाः । प्रथमपादाद्यभागसमानो
 द्वितीयपादाद्यभागस्तृतीयपादाद्यभागसमानश्चतुर्थपादाद्यभाग इत्येकः संकरः । प्रथम-

अत्र द्वयोरपि पदयोः कचित्सार्थकत्वं कचिन्निरर्थकत्वम् । कचिदे-
कस्य सार्थकत्वमपरस्य निरर्थकत्वम् । अत उक्तम्—‘सत्यर्थे’ इति ।

पदयोः स्वरव्यञ्जनसमूहयोः । कचिदिति । ‘नगजानगजा दयिता दयिता’
इत्यादौ । कचिन्निरर्थकत्वमिति । द्वयोरित्यनुपपन्नः । यथा—‘विजितामरता-
मरसेक्षणा’ इत्यादौ । अत्र तामरेति समूहयोः पदैकदेशत्वाच्चिरर्थकत्वम् । एक-
स्येति । प्रथमस्य द्वितीयस्य वा स्वरव्यञ्जनसमूहस्येत्यर्थः । विविक्तविपयत्वं
विभिन्नविपयत्वम् । यमक्यदिति शेषः । रसादीनामत्यन्तोपकारिणो यमरूपप्र-
योगस्य निर्वचनमनतिप्रयोजनमिति संक्षेपेणैव यमकनिरूपणं ज्याय इत्यभिप्राये-

पादाद्यभागस्तृतीयपादाद्यभागसमानो द्वितीयपादाद्यभागश्चतुर्थपादाद्यभागसमान इत्यपरः
संकर इति नव । अर्थाद्व्या समं पूर्ववदश भेदाः । एवं प्रथमादिपादानामन्यभागस्य
द्वितीयादिपादान्यभागेष्वेव यमने पूर्ववदश भेदा जायन्ते । यथा—प्रथमपादान्यभागस्य
द्वितीयतृतीयचतुर्थभागेषु यमने त्रिधा । द्वितीयपादान्यभागस्य तृतीयचतुर्थपादान्यभाग-
योर्वमने द्विधा । तृतीयपादान्यभागस्य चतुर्थपादान्यभागे यमने एकः । प्रथमपादा-
न्यभागस्य त्रिष्वन्य-त्वभागेषु यमन इत्यपर इति सप्तासंकीर्णः । प्रथमपादान्यभागद्वि-
तीयपादान्यभागयोस्तृतीयपादान्यभागचतुर्थपादा-न्यभागयोश्च साम्ये एकः संकरः । प्रथ-
मपादान्यभागतृतीयपादान्यभागयोर्द्वितीयपादान्यभागचतुर्थपादान्यभागयोश्च साम्येऽन्यः
संकर इति नव । अर्थाद्व्या समं पूर्ववदश भेदाः । इत्थे द्विखण्डीकृतेषु पादेषु विंशतिः,
त्रिखण्डीकृतेषु त्रिंशत्, चतुःखण्डीकृतेषु चत्वारिंशद्वेदाः स्थानपरिवर्तितो भवन्ति ।
एतेषामुदाहरणानि पादावृत्तिदिशैवावसेयानि । अथ स्थानपरिवर्तनभेदाः—‘प्रथमादि-
पादानामन्यभागा द्वितीयादिपादानामाद्यादिभागेषु यम्यन्त्य इत्याद्यन्वधेतानुसारेणा-
न्तापादियमकादयः प्रभेदा भवन्ति । तथाहि—द्विखण्डे यथा प्रथमपादस्यान्यमर्थे द्वितीय-
पादस्याद्यार्थे चेद्यम्यते तदान्तादियमकम् । प्रथमभाग एव चेदान्यभागे तदाद्यन्तयम-
कम् । एवं प्रथमपादस्यान्यभागे द्वितीयस्यान्तादिभागयोर्वदि यम्येते तदाद्यन्तादियम-
कयोः समुच्चयः । अत्र द्विखण्डचतुःखण्डयोः पूर्वपादमध्यभाग उत्तरपादस्यादिभागे
यदि यम्यते तदा मध्यादियमकम् । पूर्वस्यादिभागश्चेदुत्तरपादस्य मध्यभागे तदादि-
मध्यमकम् । पूर्वस्य मध्यादिभागी चेदुत्तरस्यामध्ययोस्तदा मध्याद्यादिमध्ययोः
समुच्चयः । इव प्रथमस्यान्यभागे द्वितीयस्य मध्यभागे चेत्तदान्यमध्यम् । पूर्वस्य
मध्यभागश्चेद्वितीयस्यान्यभागे तदा मध्यान्तिकम् । पूर्वस्यान्यमध्यभागे चेद्वितीयस्य
मध्यान्तभागयोस्तदान्यमध्यमध्यान्तयोः समुच्चयः । यद्यपि पूर्वस्यादिभाग उत्तरस्यान्य-
भागे चेत्तदाद्यन्तकमन्यभागस्यावभागे चेत्तदान्तादिकमित्यादि प्रकारद्वयं संभवति,
तथापि द्विखण्डान्तर्गतमेव तदिति पृथक् गण्यते । सर्वेषां त्रैषामपरः समुच्चय इति
भिन्नपादे यमने प्रभेदाः । एवं तस्मिन्नेव पादे आद्यादिभागानां मध्यादिभागेष्ववृत्ती
भेदा द्रष्टव्याः । सर्वे चेते नियतस्थानविवक्षया स्थानयमकभेदा नियतेषु स्थानेष्ववृत्ते-
रिति बोध्यम् । अनियतस्थानयमकभेदा अपि नवनो भवन्तीति प्रमूढतमभेदं यमकम् ।
एतेषामुदाहरणानि तत्र तत्र महाकविप्रयोगेष्वनुसर्षेयानि, विस्तरमथात्रेह प्रपश्यन्ते ॥

‘तेनैव क्रमेण’ इति दमो मोद इत्यादेर्विविक्तविषयत्वं सूचितम् । एतच्च पाद-
पादार्थश्लोकावृत्तित्वेन पादाद्यावृत्तेश्चानेकविधतया प्रभूततमभेदम् ।
दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

‘नवपलाश-पलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागत-पङ्कजम् ।

मृदुल-तान्त-लतान्तमलोकयत्स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥’

अत्र पदावृत्तिः । ‘पलाशपलाश’ इति, ‘सुरभिं सुरभिं’ इत्यत्र, च
द्वयोः सार्धकत्वम् । ‘लतान्तलतान्त’ इत्यत्र प्रथमस्य निरर्थकत्वम् ।
‘परागपराग’ इत्यत्र द्वितीयस्य । एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

‘यमकादौ भवेदैक्यं ढलोर्वोर्लोरोस्तथा ।’

‘पाद—एतच्चेति ।’ यमकं चेत्पर्यः । अत्र पादपदं पादेकदेशपरम्, अर्धपदं
श्लोकार्धपरम् । पादाद्यावृत्तेश्चेति । पादपदस्य द्विधा त्रिधा चतुर्धा वा खण्डने
आनेकविधत्वम् । आदिना पादश्लोकार्धयोः समष्टः । तत्र प्रथमपादस्य द्वितीया-
द्यान्यतमस्मिन्द्वितीयादिसमुदाये च, द्वितीयतृतीयसमुदाये च, द्वितीयस्य तृती-
यान्यतरस्मिन्तृतीयादिसमुदाये च, तृतीयस्य चतुर्थे ‘आवृत्तिः संभवतीति
दशविधत्वमेव पादयमकस्य । एवं प्रथमार्धस्य द्वितीयाधे, प्रथमपादस्य द्वितीये,
तृतीयस्य चतुर्थे, प्रथमस्य चतुर्थे, द्वितीयस्य तृतीये पादे आवृत्तिः, संभवतीति
श्लोकार्धयमकस्य त्रैविध्यम् । श्लोकयमञ्चमपि विजातीयचतुष्पादवृत्त्या च
द्विविधम् । प्रभूततमभेदमतिप्रचुरप्रकारम् । दिङ्मात्रमिति । प्रकारान्तरोप-
लक्षणमल्पमित्यर्थः ॥ नवेति । नवानि ‘पलाशानि पत्राणि येषां तादृशं पला-
शवनं किञ्चकारण्यं यत्र तम् । स्फुटानि विकसितानि परगै रजोभिः परगतानि
सबद्धानि पङ्कजानि यत्र तम् । मृदुल्येऽत एव तान्त आस्येन लतानो लतान्तो
यत्र तम् । स श्रीकृष्णः सुरभिं वसन्तं सुमनोभरैः पुष्पातिशयेः सुरभिं सुगन्धिम् ।
पदावृत्तिः पादेकदेशावृत्तिः । द्वितीयस्येति । निरर्थकत्वमित्यन्वयः । अन्य-
वपीति । पादवृत्त्यादिरूपयमकमित्यर्थः । पादाभ्यासो यथा—‘न मन्दपाडव-
नित-माव-सत्तन्वा नमन्दपा वार्जितमानसात्मवा । उरस्सुगस्त्यीगंयवोपरद्वयं नवा
समालिङ्गयत जीवितेश्वरः ॥’ इत्यादि । अर्धाभ्यासो यथा—‘नाऽस्थेयसत्त्वया
वर्ज्यः परमायत-मानया । नास्थेयः स त्वयाऽऽवर्ज्यः परमायतमानया ॥’ इत्यादि ।
श्लोकावृत्तिद्वयं क्रमेण यथा—‘विनायकेन भवता वृत्तोपचितबाहुना । स्वमित्रोद्वाऽ-
रिणाऽभीता पृष्ठी यमतुलाश्रिता ॥’ ‘विनायकेन भवता वृत्तोपचितबाहुना । स्वमि-
त्रोद्वाऽरिणाऽभीता पृष्ठी यमतुलाश्रिता ॥’ ‘समानयास माऽनया समानयाऽसमा-
नया । समानया समानया समान या समानया ॥’ अर्थं चतुरक्षरपादश्लोकः । यम-
कादमित्यादिना श्लेषादिग्रहणम् । तेन ‘त्वं समुदय दुर्वाये महासरवो सतेजसो ।

१. यमकादाविति । अत्र विशेषः—‘यमकादौ भवेदैक्यं ढलो रलोर्वोः । शेष-
वोर्नणवोश्चाप्ये सविसर्गविसर्गयोः । सविन्दुकाविन्दुकयोः सादभेदमकल्पनम् ॥’ इति ॥

इत्युक्तनयात् 'भुजलतां जडतामवलज्जनः' इत्यत्र न यमकत्वहानिः,
अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि ।

अन्यः श्लेषेण काका वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥ ९ ॥

द्विषेति श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च । क्रमेणोदाहरणम्—

१ 'के यूयं स्थल एव संप्रति वयं प्रश्नो विशेषाश्रयः

किं ब्रूते विहगः स वा फणिपतिर्यत्रास्ति सुप्तो हरिः ।

वामा यूयमहो विडम्बरसिकः कीदृक्सरो वर्तते

येनास्मासु विवेकशून्यमनसः पुंस्त्वेव योषिद्भ्रमः ॥'

अत्र विशेषपदस्य 'विः पक्षी' 'शेषो नागः' इत्यर्थद्वययोग्यत्वात्समञ्ज-
श्लेषः । अन्यत्र त्वमङ्गः ।

अयं तु युवयोर्भेदः स जडात्मा पदमवान् ॥' इत्यादौ न श्लेषमङ्गः ॥' वक्रोक्त्य-
लंकारमाह—अन्यस्येति । वक्तुरित्यर्थः । अन्यार्थकमन्यतात्पर्यकम् । अन्यथा
अर्थान्तरप्रतिपादकत्वेन । योजयेत् समयेत् । अन्यः श्रोता । ततः श्लेषका-
कुवक्रोक्तिभ्याम् । श्लेषस्यापि पदभङ्गाभङ्गान्या द्विविधेन श्लेषवक्रोक्तिरपि
द्विविधा ॥ के यूयमिति । जले यूयमित्यर्थान्तरे सममञ्जोताह—स्थल इति ।
वक्ता स्वतात्पर्यमेवावगमयणाह—अत्र इति । विशेषाश्रयो विशेषविषयः । विः
पक्षी शेषोऽनन्त इत्यभिप्रायेण तदपि श्रोतान्यथा योजयति—किं ब्रूत इति । किं
पृच्छतीत्यर्थः । एवं वाक्यछलेन कथयितो वक्ता श्रोतारमाक्षिपति—वामा इति ।
प्रतिकूलतया छलप्राहिण इत्यर्थः । तदपि योषिदभिप्रायेण श्रोतान्यथा योजयति—
अहो इति । विडम्बरसिकः प्रतारणाचतुरः । येन स्मरविडम्बनेन विवेकशून्यमनसः ।
तत्र द्विति शेषः । यत्र वामान्येनाक्षेपो विशेषे पर्यवस्यतीति वाच्येदमर्थम् । तत्रैव
श्लेषवक्रोक्तिद्विविध्यं दर्शयति—अत्रेति । नागो नागराजः । अर्थद्वययोग्यत्वात्

१. अत्रेति । अत्र काक्षिरासपदे उकार-लकारयोर्भेदसंज्ञेऽपि कुतितान्मात्रं पमकरव-
न्यापात इत्यर्थः ॥

२. वक्रोक्तिरिति । एकैकान्वाभिप्रायेणोक्त वाक्य वचन्येनान्याभिप्रायकं कल्प्यते तदा
वक्रोक्तियोगाद् वक्रोक्तिरिति । वक्तुश्रोतुनिर्वाहोऽयमलंकार इति भावः । अत्र प्रदीपका-
रास्तु—'इयं च न वाकोवाक्यमने किं तु स्वतोऽप्यन्येनोक्तस्यान्यथायोजनमात्रे । न्याय-
साध्याह । यथा—'कुण्डो वैरिनिमर्दने हरिपदमीलजने स्वर्जुनः पीतः पद्मजलेचमाभिर-
मितो नेत्राञ्चलैश्चक्षलेः । रक्तः सञ्जनसगमेण करणश्रेणीमणे श्रीधर स्थाने वर्णचतुष्टयस्य
भुवने भर्ता भवामीयते ॥' अत्र वर्णचतुष्टयस्य भर्ता श्रीधर इति सावर्ज्यैकिकं वाक्यमन्व-
याश्लेषादिनास्माभिः समर्थितम् ॥' इत्याहः ॥ सेव वक्रोक्तिर्मात्रमेव प्रशस्यते—'शेषा
सर्वत्र वक्रोक्तिरक्षया(रफुटा)र्वा विभाव्यते । वलोऽस्यां कविना कार्यः कोऽल्लहरोऽनया
विना ॥' अत एवोक्तम्—'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' (१५ पृ.) इति ॥

३. अमङ्ग इति । 'अहो केनेदृशी बुद्धिरास्ति तव निर्मिता । त्रिगुणा ध्रुवे बुद्धिः

‘काले कोकिलवाचाले सहकारमनोहरे ।

कृतागसः परित्यागात्तस्याश्चेतो न दूयते ॥’

अत्र कयाचित्सख्या निषेधार्थे नियुक्तो नन् अन्यथा काका दूयतु
एवेति विध्यर्थे घटितः ।

शब्दैरेकविधैरेव भाषासु विविधास्तपि ।

वाक्यं यत्र भवेत्सोऽयं भाषासम इतीष्यते ॥ १० ॥

यथा मम—

‘मञ्जुलमणिमञ्जरीरे कलगम्भीरे विहारसरसीतीरे ।

विरसासि केलिकीरे किमालि धीरे च गन्धसारसमीरे ॥’

एष लोक संस्कृतप्राकृतसौरसेनीप्राच्यावन्तीनागरापत्रशेष्वेक-
विध एव ।

‘सरसं कङ्ण कव्य’

इत्यादौ तु ‘सरसं’ इत्यत्र संस्कृतप्राकृतयोः साम्येऽपि वाक्यगत-
त्वामात्रे वैचित्र्याभावान्नायमलंकारः ।

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ।

एतत्प्रपाद्यद्वये सगमनीयत्वात् ॥ काकुवकोकिगुराहरति—काले इति । कृतागस
कृतापरघस्य । ‘पत्यु’ इति श्लेष । घटितो योजित ॥ भाषासमावेशालंकार-
माह—शब्दैरिति ॥ मञ्जुलेति । मणिनीं प्रति सख्या वचनमिदम् । कलेन
मधुरध्वनिना गम्भीरे मनोहरे । केलिकीरे क्रीडाशुके । धीरे मन्दे । गन्धसारसमीरे
चन्दनवायी ॥ कङ्ण कव्य कवे काव्यम् ॥ श्लेषालंकारमाह—श्लिष्टैरिति । ‘सक-
दुच्चरित शब्द सकृदर्थं गमयति’ इति नियमेन काव्ये स्वरसेदनादराद् यावन्तोऽर्था-

न तु दारुणाय कविय ॥’ इत्यत्र दारुणा कृता काष्ठनेत्रुमयाधेपरीऽपि दारुणेति पदस्य
न भवति इत्यमरपदश्लेषेण यत्रोक्तिरिवम् ॥

१. नेति । न दूयते, अवि तु दूयत एवेति काका योजनम् । अथ काको शब्दधर्म-
तया शब्दालंकारता, अन्यथा योजनं च व्यवहनयेति सहृदया ॥

२. यथेति । यथा वा निषाधिपतिपरनाम्नो रक्षाकरस्य—‘श्लीलाविलोककलकण्ठवि-
हगकेलिकोलाहलकुलकुलायकुलामलाङ्गे । ककोलान्दृष्टीलवलीलपत्रमालालम-
धलमञ्जुलकूलच्छले ।’ अथ श्लेको भाषापद्धतम । एतदनुवृत्त्युचरकोक्तु—‘यसि-
न्सलीलमसितोत्रतगण्डशैलनाग करोति विक्रालकरावमशोऽ । रक्षातपाभिनवपल्लवभञ्ज-
मर्दनिम्बालवालवलपस्य दिनहुमस्य ॥’ इति । यदप्यदिवषणमेतत् ॥

वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि ॥ ११ ॥

श्लेषादिभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः ।

क्रमेणोदाहरणम्— (ॐ विष्णवे नमः)

‘प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विकलत्वमेति बहुसाधनता ।

अवलम्बनाय दिनभर्तुरमूत्र पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥’

अत्र ‘विधौ’ इति विधु-विधि-शब्दयोरुकारेकारयोरौकाररूपत्वाच्छेषः ।

‘किरणा हरिणाऋक्ष दक्षिणश्च समीरणः ।

कान्तोत्सन्नजुषां नूनं सर्वे एव सुधाकिरः ॥’

स्यापन्त एव शब्दा एकप्रयत्नेनोच्चार्यन्त इति नये गुणपदानाद्यन्वोच्चारणेऽपि तेषां नेदोपलम्भो न भवति । तथापि प्रहरणादिनियमाभावादनेवार्थानामभिधेयव बोधः । प्रहरणादिनियमसत्त्वे तु एकस्माभिधयापरस्य व्यञ्जनयेति मतनाश्रित्येदं लक्षणम् । एवं चैकप्रयत्नोच्चारणेन लक्ष्यभेदानां वर्णादीनां मेलकः श्लेषः, तद्विशिष्टः पदरनेकार्थ-नामभिधया बोधने सति श्लेषो भवतीत्यर्थः । एवं सति नात्माश्रयः ॥ श्लिष्टवर्णादिभेदेन श्लेषस्याप्रतिपत्तमाह-वर्णैति । वर्णा च प्रत्ययौ च लिङ्गं चेति विग्रहः । सः श्लेषालंकारः ॥ प्रतिकूलतामिति । सूर्यास्तवर्णनमिदम् । पतिष्यतोऽर्धं गमिष्यतो दिनभर्तुः सूर्यस्य किरणसहस्रमप्यवलम्बनाय अस्त्रमयविषाताय नाभूत् । अथ च पतिष्यतः श्लिष्टिष्यतो जनस्य कर्तव्यमपि पतनविषाताय भवति । तस्य तु करसहस्रमप्यवलम्बनाय नाभूदिति श्लेषः । अर्थद्वयमपि श्लेषेण समर्थयति—प्रतिकूलतामिति । विधौ चन्द्रे प्रतिकूलतां विदुदफलभागित्वम् । उदयफलभागित्वमिति यावत् । बहुसाधनता बहुस्थित्युपायशालित्वं विकलतामेति । तथा च कालान्तरे सूर्यास्तवर्णनं प्रति तत्प्रलीनकिरणानां प्रतिबन्धकत्वं कल्प्यते । एवं च सध्याकाले तत्प्रलीनकिरणरूपप्रतिबन्धकानां शृङ्गायेऽपि सूर्यास्तवर्णनमिथ्येति प्रथमाश्रयमर्थ-नम् । पक्षे—विधौ देवे प्रतिकूलतामनभिमतक उदाधनोन्मुखातामुपगते सति बहुभिन्-

१. वर्णैति । द्रष्टु वर्णादिश्लेषाणां प्रत्येकं लक्षणमाह—‘यत्र विभक्तिप्रत्ययवर्ण-यशदिकरूप्यमापवति । वर्णानां विविधानां वर्णश्लेषः स विधेयः ॥ यत्र प्रकृतिप्रत्ययसमु-दायानां मन्त्रवर्णनमाह । सारूप्य प्रत्ययतः स संयः प्रत्ययश्लेषः ॥ श्रीपुनपुसकानां शब्दानां भवति यत्र सारूप्यम् । लघुदीर्घत्वसमातीर्णश्लेषः स विधेयः ॥ सिध्यति यत्रानन्देः सारूप्य प्रत्ययाद्यमीपदः । प्रकृतीनां विविधानां प्रकृतिश्लेषः स विधेयः ॥ यस्मिन्विभक्तियोगः समासयोगश्च जायते निविधः । पदभेदेषु विभक्तौ विधेयोऽर्थ पदश्लेषः । सारूप्यं यत्र स्यात् त्विदं तथा सर्वथा मियो भवति । सोऽत्र विभक्तिश्लेषो वचनश्लेषस्तु वचनानाम् ॥ यस्मिन्नुच्चार्यन्ते मुख्यकविविधभिन्नभाषाणि । वाक्यानि वाक्यार्थ भाषाश्लेषः स विधेयः’ इति ॥

अत्र 'सुधाकिरः' इति क्प्-क-प्रत्यययोः । किं चात्र बहुवचनैकवचनयोरैकरूप्याद्वचनश्लेषोऽपि ।

'विकसनेत्रनीलाब्जे तथा तन्व्याः स्तनद्वयी ।

तव दत्तां सदागोदं लसत्तरलहारिणी ॥'

अत्र नपुंसकस्त्रीलिङ्गयोः श्लेषो वचनश्लेषोऽपि ।

'अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि त्रेषु च वक्ष्यति ।

सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः ॥'

अत्र 'वक्ष्यति' इति वहि-वच्योः, 'सामर्थ्यकृत्' इति कृन्तति-करोत्योः प्रकृत्योः ।

'पृथुफातस्तरपात्रं—' इत्यादि (४३५ पृ.) । अत्र पदमङ्गे विभक्तिसमासयोरपि वैलक्षण्यात्पदश्लेषः, न तु प्रकृतिश्लेषः । एवं च—

तफलोपायशालित्वं विफलतामेतीत्यर्थः ॥ प्रत्ययश्लेषमुदाहरति—किरणा इति ।

क्प्-क-प्रत्यययोरिति । श्लेष इत्यनुपपन्नः । एवमत्रेऽपि । क इत्यप्रत्ययस्य संज्ञा ।

वचनश्लेषोऽपीति । खर्व इति, सुधाकिर इति च । अत्रादौ सधिवशादैकरूप्यम् ॥

लिङ्गश्लेषमुदाहरति—विकसदिति । 'दत्ताम्' इति दाघातोः परस्मैपदद्विवचनात्मनेपदैकवचनयोरपि श्लेषः । आमोदनानन्दम् । अथ च नीलवज्रयोः

सौरभदानं समवति । नैनपक्षे—लसन्ती च तरले च हारिणी च मनोहरे चेति विग्रहः ।

स्तनद्वयीपक्षे—लसत्तरलो हारमभ्यगो मणिर्यत्र, सा चासौ हारिणी चेति विग्रहः ।

यद्वा लसत्तरलो यत्र, एवंभूतो हारो यत्रास्ति । कर्मभारयोत्तरमनु-

न्निपेक्षस्य प्रायिकत्वादितत्साधुवैचनम् । श्लेषोऽपीत्यपिना निम्नप्रत्ययस्य च श्लेषः ॥

प्रकृतिश्लेषमुदाहरति—अयमिति । राजपुत्रे जाते ज्योतिर्विन्दो वचनमेतत् ।

हृदि वक्ष्यतीति बहुधातुः । त्रेषु पण्डितेषु वक्ष्यतीति वचनधातुः । अमित्राणां

सामर्थ्यच्छेत्ता, मित्राणां सामर्थ्यस्य कर्ता ॥ पदश्लेषमुदाहरति—पृथु-

कैति । व्याख्यातमिदं दोषपरिच्छेदे । नन्वत्र प्रकृतिश्लेषोऽपि संभनतीत्यत आह—अत्र पदमङ्गे

अर्थबोधनाय समस्तपदस्य पार्थक्ये । विभक्ति-

१. सुधाकिर इति । सुधा किरन्तीति क्प्णि प्रथमानुवचनम् । सुधा किरतीति कप्रत्यये प्रथमैकवचनम् ॥

२. दत्तामिति । विकसनेत्रनीलाब्ज इत्यस्य कर्तृत्वे दत्तामिति ल्येति परस्मैपदद्विवचनम्, स्तनद्वयीत्यस्य कर्तृत्वे त्वात्मनेपदैकवचनमिति बोध्यम् ॥

३. वक्ष्यतीति । वारयिष्यति, वधयिष्यतीति यथाकर्मं बोधना ॥

४. सामर्थ्येति । सामर्थ्यं कृन्ततीति करोतीति यथायोगमनुसंधेयम् ॥

१. 'नपुंसकस्त्रीलिङ्गयोः श्लेषः' इति नास्ति क सपुङ्गवयोः. २. 'च' क. ३. 'वचनम्' इति नास्ति पुञ्जशब्दरे.

पाणि 'नीतानामाकुलीभावं लुब्धैर्भूरिशिलीमुखैः ।
सदृशे वनवृद्धानां कमलानां तदीक्षणे ॥'

अत्र लुब्धशिलीमुस्तादिशब्दानां श्लिष्टत्वेऽपि विभक्तेरभेदात्मकृति-
श्लेषः । अन्यथा सर्वत्र पदश्लेषसङ्गः ।

'सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः ।

नयोपकारसांमुख्यमायासि तनुवर्तनम् ॥'

अत्र 'हर' इति पक्षे शिवसंबोधनमिति सुप् । पक्षे हृधातोस्तिङ्गिति
विभक्तेः । एवं 'भव' इत्यादौ । अस्य च भेदस्य प्रत्ययश्लेषेणापि गता-
र्थत्वे प्रत्ययान्तरासाध्यमुबन्ततिङन्तगतत्वेन विच्छित्तिविशेषाधयणा-
स्पृथगुक्तिः ।

समासयोरपीत्यपिना प्रकृतेः संग्रहः । विभक्तिरत्र समासाङ्गम् ॥ १ कचिरपदभ-
ज्ञाभावेऽपि प्रकृतिविभक्तिवैलक्षण्येन पदश्लेषो यथा—'यस्य चेतः प्रियालोके तस्य
स्मरकदर्शनम् ।' अथ ययसोस्तत्तसोः प्रकृत्योः सुप्तिजोर्विभक्तयोरपि वैलक्षण्यापद-
श्लेषः । एवं च प्रकृतिविभक्तिवैलक्षण्येन पदश्लेषाङ्गीकारे च ॥ नीताना-
मिति । तस्या ईक्षणे कमलानां पद्मानां मृगविशेषाणां च सदृशे । 'मृगभे-
देऽपि कमलः कमला श्रीवरस्त्रियोः' इति मेदिनी । कीदृशानाम् । लुब्धैर्मधुल-
ब्धैर्भूरिभिः शिलीमुखैर्भ्रमरैराकुलीभावं नीतानाम् । पक्षे—लुब्धैर्व्याधैर्बहुभिर्वा-
पैर्व्याकुलीभावं व्याकुलतां नीतानाम् । वने जले, विपिने च वृद्धानां प्राप्ताधि-
करणाणाम् । ईक्षणेऽपि, पद्मिनीमुखे पतद्भिर्भ्रमरैर्व्याकुलत्वं नीयेते ॥ अन्यथा
प्रकृतिभेदमात्रेणापि पदश्लेषाङ्गीकारे । सर्वत्र प्रकृतिश्लेषस्थले । एवं च पदश्ले-
पासंकीर्णं प्रकृतिश्लेषोदाहरणं न स्यादिति प्रकृतिश्लेषोच्छेदप्रवृत्तिरिति भावः ॥ विभ-
क्तिश्लेषमाह—सर्वस्वमिति । शिवं प्रति तद्भक्तस्य, पुत्रं प्रति दास्याद्योक्तिरि-
यम् । प्रथमे—हे हर, त्वं, सर्वस्य जनस्य सर्वस्वम्, भवस्य संसारस्य छेदतत्परश्च,
नयस्योपकारस्य च सांमुख्यं यस्मात्तादृशं तनुवर्तनं शरीरवृत्तिमायासि । प्राप्नोषी-
त्यर्थः । द्वितीये—त्वं सर्वस्य सर्वस्वं हर । छेदे ध्वनिना मारणे तत्परो भव ।
उपकारसांमुख्यं नय अपनय । तद्विमुखो भवेत्यर्थः । आयासि परपीडाकारि वर्तनं
जीवनोंपायं तनु । विस्तारयेत्यर्थः ॥ अस्य च विभक्तिश्लेषपरस्य च । प्रत्ययश्ले-
षेणापीत्यपिभिन्नक्रमे । प्रत्ययश्लेषेण गतार्थत्वेऽपीत्यर्थः । प्रत्ययान्तरेणासाध्यं
यत्सुबन्तं तिङन्तं च तद्वत्त्वेन विच्छित्तिविशेषाधयणाद् वैचित्र्यविशेषजननात्
कृतद्वितान्तस्य स्वादिव्यतिरेकेण प्रयोगाभावात् प्रत्ययान्तरसाध्यत्वम्, सुप्तिङ-
न्तस्य तु न तथात्वमिति विशेषः । 'आयासि' इत्यत्र प्रकृतिविभक्तिवैलक्षण्येन

१. यस्येति । यतो दैवादिकस्य तस्य च लोण्मध्यप्रपञ्चकचने यस्य तस्येति यत्तदोः
पञ्चकचनेऽपि । तदाह—अत्र ययसोरित्यादिना ॥

‘महदे सुरसंधं मे तमव संभासन्नभागमाहरणे ।

हर बहुसरणं तं चित्तमोहमवसर उमे सहसा ॥’

अत्र ‘संस्कृतमहाराष्ट्रयोः ।

पदस्तेषोऽपीलवधेयम् ॥ भाषाधेयमाह—महदे इति । संस्कृतार्थो यथा—हे महदे उत्सवदे, हे उमे हे गौरि आगमाहरणे विशाग्रहणे मे मम तं प्रसिद्धं समासन्नं अव रक्ष । कीदृशम् । सुरसंधं देवप्रार्थनीयम् । अवसरे समये तं प्रसिद्धं चित्त-मोहं सहसा क्षतिं हर अपनय । कीदृशम् । बहुसरणं बहुविषयगामिनम् । प्रकृ-ताथंस्तु—मह—मम, देसु—देहि, रसं—रतिम् । धम्मे—धर्मे, तमवसं—तमोवशाम्, आसं—आताम्, गमागमा—संसारत्, हर—अपनय, मे—अस्माकम्, हरबहु-विषयघ्नः, सरणं—रक्षयित्री, तं—स्वम्, चित्तमोहं—चित्तमोहः, अवसरतः—अवस-रतः, मे—मम, सहसेति । भाषासंभे तु भाषाणामैकरूप्यमेव, न त्वर्थभेदः ।

१. संस्कृतेति । संस्कृतमाकृतयोरित्यर्थः । अकृतं प्राकृतं महाराष्ट्रीति व्यपदिश्यते । न तु ‘भक्तिविना वञ्च जोहे वीण्याने वा मृदङ्गनादाने । कन्यादानफलतः केवी पावे मृदङ्गनादाने ॥’ इत्यादिमहाराष्ट्रजनमुपसिद्धयावेति । तथा चोक्तं दण्डिना—‘महारा-ष्ट्राध्यां भाषां प्रकृतं प्राकृतं विदुः । सागरः सुकिरानां सेतुरन्धादि दम्भयम् ॥’ इति । संस्कृतमागम्योः शेषो यथा—‘कुललालितावलोके शलिलेभ्ये शालशालिवन्तुले । कमलाशयशालिवलेऽमाते विश्रमन्तकेऽवेशमे ॥’ ‘कुरराक्षिरारोके शलिकं तच्छा-रसाक्षिरवश्रम् । कमलासबलाक्षिर मारयति श्राम्यतो विषमम् ॥’ इति मागधी-ट्याया । ‘कुलानि लालयन्ति पौपयत्नेवंशीला ये तेषां लावे छेदने लोलसन्ति । शल-वीति शलाः शेषमाः ते सन्ति यत्र देशे स शली तं लिङ्गशक्तीकरोतीति शलिले-शालसन्ति । शालैर्गृहेः शालन्ते शोभन्ते ये ताडुनातीति शालशालिवः स चासी शलं चेति, दुःखजनकत्वात्, तथाभूते । कमला लक्ष्मीस्तस्याः शरा दरिद्रास्तेषु कलति कस-वीलेवंशीलं वर्तं यस्त स तसिन् । मूलं मालः, न विपदे मालो दस्तात्तावनाल-सिन् । ‘मल पारणे’ । अनिवार्य इत्यर्थः । अन्तर्के शूली सति स बाधुदेवे विषये या दिव्यार्गस्तां दिशमविशं प्रविष्टोऽसि ।’ इति संस्कृतवाक्यार्थः । मागधस्तु—‘कुरराणां पक्षिविशेषाणां वा मालिः पक्षिस्तद्वाने योः कलकले यत्र तत् । सारसानां पालिस्त-द्रवेण स्रष्ट तदिरिमारणसमर्थम् । कमलानामासवं मकरन्दं ये लान्ति ते च तेऽलिनश्च तैर्वरम् । विषमं वियोगिजनदुःखावहं तत्सलिलं श्राम्यतः श्रमजुषोऽपि मारयति । शरदि वाहय सलिलं विडोक्त्य मुनयोऽपि शुम्बन्ति ।’ इति । संस्कृतपैशाच्योर्वथा—‘कमनेक-प्रमादानं सुरतनरजतु च्छलं तदासीनम् । अप्रतिमानं क्षमते सोऽगनिक्षानं नर जेतुम् ॥’ ‘कामे कृतमोदानां श्रवणरजतोच्छलदासीनाम् । अप्रतिमानं क्षमते स गणिद्यानां न रजयितुम् ॥’ इति पैशाचीश्रवणा । ‘हे सुरतनरः निषुवनपुरुष । सुरतातिरिक्ते कर्मणि न तेऽभिष्वेत्तामप्रणाभिप्रायः । क्षमते शून्यबुद्धे, वस्त्वया क्षम्यते स पुरुषः कं नर जेतु-मजतु गच्छतु । अहो, न वाहयः पुरुषो यं स जेष्यतीति । किंभूतम् । अनेकतमान्या-

पुनस्त्रिधा समज्ञोऽयामज्ञस्तदुभयात्मकः ॥ १२ ॥

एतद्वेदत्रयं चोक्तमेदाष्टके यथासंभवं ज्ञेयम् ।

यथा वा—

‘येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो

यश्चोद्भूतमुजंगहारवलयोगज्ञां च योऽधारयत् ।

इह त्वर्धमेदोऽपीति भेदः ॥ यथासंभवमिति । ‘प्रयुज्यते स्वर-’ इत्यादौ
समज्ञः । ‘नीतानाम्-’ इत्यादावभज्ञः । ‘सर्वेखं हर’ इत्यादौ समज्ञाभज्ञः ॥
एकत्रैव तन्निर्गतमुदाहरति—यथावेति । सर्वदः सर्वमष्टिदाता माधवः, सर्वदा

दानानि यस्य ताम् । तत्प्रसिद्धं छकः मायामाचीनमाधितम् । अप्येतेवरुणस्यैव मानो
यस्य तम् । अगः अचक्ष निवाना दीप्तिर्वस्य तम् ।’ इति संस्कृतवाक्यार्थः । पेशाचस्तु
‘स पुरषो रजयितुमात्मरजनाय कामविषये कृतमोदानां सुगर्णरजताभ्यामुच्छलन्त्यो दास्यो
यासां तथाभूतानां गणिकानामप्रतिमानं न क्षमते न सहते न तदानीमादरममिलपठः
कस्यचिदुपहनगणिकस्योक्तिरियम् ।’ इति । संस्कृतसूरसेन्योर्यथा—‘तोदी तदिगगन-
मदोऽकलह स सदा बलं विदन्तरिदम् । आर दनेदावसरं सायदमारं गदासारम् ॥’ ततो
हृदयते गगनमदः कलहंसद्यतावलभितान्तरितम् । आरतमेधावसरं द्याश्वतमारं गताद्या-
रम् ॥’ इति । सूरसेनीच्छाया । ‘गुदति परानिति तोदी, देशन दिक् उपदेशः तथा सह
वर्तत इति सदिक् न गमेन सहायेन मदो यस्य सः, स विद्, सदा सर्वकालमेव अक-
लहं परिभूतत्वात्रिवैरम्, अत एव दमेदाया उपशमयेद्याया अवसरे यस्य तद्, तथास्यते
क्षिप्यन्ते इत्यासाः सुरासां गन्ति सृष्टयन्तीत्यासदा धानुःकाः सह तैर्वर्तत इति सास-
दम्, गदासारम्, इदमारमरिसक बलमन्तर्भावे आर ससार ।’ इति संस्कृतवाक्यार्थः ।
सौरसेनस्तु—‘आरतो निवृत्तो मेधानामवसरो यत्र । शाश्वतो मारः कामो यत्र । गत
भासारो यतस्तद् । दारदनमोवर्णनमेतद् ।’ इति । संस्कृतप्रश्नशयोर्यथा—‘धीराग-
च्छदुमे इतमुदरवारिमदः सु । अभ्रमदप्रसराहरणुरविकिरणा तेजः सु ॥’ ‘धीरा गच्छसु
मेघतमो दुर्धरवापिकदस्व । अभ्रमदप्रसराहरण रविकिरणास्ते यस्य ॥’ इत्यपभ्रंश-
च्छाया । ‘हे उमे, अमेरिव गङ्गाकिया इव किरण विक्षेपण निर्वासन यस्याः तथाभूता,
इतमुद्, अणुः कुशा, अभ्रे गमने माधति यः सः तथा विषोऽर्षा प्रसरो यस्याः सा
अभ्रमदप्रसरा गङ्गा अहदिवसमपि चद्रवा धरा प्रलयपश्चिमप्रा यस्याच्छदुदर तच्च तद्वादे
च समुदजल च तदेव सदो गृह येषां तेषु तेजः सु । बहवानल्लेन-स्वित्यर्थः । अगच्छद्
अपतद् हरनिर्वासनदुःखिता सती गङ्गात्मान बहवानल्लेन्यनीचकारेति धीरा सपट्टया व्यस-
नेन स्वस्या भव ।’ इति संस्कृतवाक्यार्थः । ‘हे धीराः, दुर्धरा वार्षिका दस्यो यत्र तथा-
भूततन्मेघतम इति गच्छत्वपसरतु । यस्य मेघतमसः तेन अभ्रमदवातीत्यभ्रमदः प्रसरो येषां
तादृशा रविकिरणा हरण हर्तारः ।’ इत्यपभ्रंशवाक्यार्थः ॥

१ पुनरिति । त्रिविधोऽप्ययं रूपः । प्रकृतानेकविषयामकृतानेकविषयप्रकृतानेक-
विषयभेदैर्मिषये ॥

यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः

पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाघवः ॥

अत्र 'येन—' इत्यादौ सभङ्गश्लेषः । 'अन्धक—' इत्यादावभङ्गः । अनयोश्चैकत्र संभवात्संभङ्गाभङ्गात्मको ग्रन्थगौरवभयात्पृथङ्गोदाहृतः ।

अत्र केचिदाहुः—'सभङ्गश्लेष एव शब्दश्लेषविषयः । यत्रोदात्तादि-
स्वरभेदाद्विन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेन भिन्नयोः शब्दयोर्जतुकाष्टन्यायेन श्लेषः ।
अभङ्गस्त्वर्थश्लेष एव । यत्र स्वरभेदादभिन्नप्रयत्नोच्चार्यतया शब्दाभेदाद-
र्थयोरेकवृत्तगतफलद्वयन्यायेन श्लेषः । यो हि यदाश्रितः स तदलंकार
एव । अलंकार्यालंकरणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तिः' इति ।
तदन्ये न क्षमन्ते ।

उमाधवश्च त्वां पायात् । आभवपक्षे—येन अभवेन जन्मरहितेन अनः शक्यं
ध्वस्तं पादेन परवर्तितम् । बलेश्वरराजस्य जेता । कायः पुरा असृतपति-
वेषणावसरे स्त्रीकृतः स्त्रीत्वं प्रापितः । असृताय विवस्मानानां देवासुराणाम-
मृतपरिवेषणाय मायया नारायणेन मोहिनीरूपं धृतमिति पुराणवार्ता । यश्चोदु-
त्तस्य उन्मत्तस्य अभङ्गस्य अधासुरस्य हन्ता । यद्वा कालियस्य पीडाकरः ।
भारवलयः भरिसवन्धि सैन्यं यातीत्यर्थः । यद्वा उद्धतभुजंगहारं बलं यस्य
तेन गरुडेन यातीत्यर्थः । अयं गोवर्धनं कृष्णरूपेण, गा पृथ्वीं च कूर्मरूपेण
योऽधारयत् । शशिं न भ्रातीति शशिमद्राहुः । तस्य शिरोहर इति स्तुत्यं नाम
यस्य चामरा आहुः । अन्धकानां नादवानां क्षयकरे द्वारकाक्षयनिवासनिर्माता ।
उमाधवपक्षे—येन ध्वस्तमनोभवेन विनाशितकामेन बलिजितो विष्णोः कायः पुरा
स्त्रीकृतः । मोहिनीरूपदिदृष्टुणा शिवेन प्रेषितो विष्णु पुनर्मोहिनीरूपं दधारेति
पुराणवार्ता । यश्च उद्धतौ उत्कृष्टेण वर्तितौ भुजंगरूपौ हारवलयौ येन सः । यश्च
शिरसि गङ्गामधारयत् । यद्वा क्षीरार्धेन गौरीम्, शिरसि गङ्गां चेलनिप्रायेण
चकारः । यस्य शिरः शशिमच्छिरोहरे इति स्तुत्यं नाम नामरा आहुः । अन्ध-
कस्य असुरविशेषस्य विनाशकरः ॥ श्लेषस्तावच्छब्दालंकारोऽर्थालंकारश्च संभवति,
तयोः परमतनिराकरणपूर्वकं भेदं निरूपयति—अत्रेति । जतुकाष्टेति । पृथगु-
पलभ्यमानयोरपि जतुकाष्टयोर्वीगे ययैकत्वप्रतिभासस्तथेहापीत्यर्थः । लोकव-

१. यत्रेति । समासभेदेनोदात्तादिस्वरभेदाद्विन्नप्रयत्नोच्चारणयोग्ययोरपि शब्दयोः श्लेष-
भङ्गमयेन स्वरभेदानादरादेन प्रयत्नोच्चारणे जतुकाष्टन्यायेन शब्दश्लेष इति भावः ॥

२. यत्र स्वरेति । समासभेदेनोदात्तादिभेदाभावाद्भिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेन शब्दभेदा-
भावे केवलमर्थयोरेकवृत्तगतफलद्वयन्यायेन श्लेषत्वादर्थश्लेष इति भावः ॥

३. पुराणवार्तति । अस्त्रीकृत इति च्छेदः । त्रिपुररूपे विष्णुर्यस्य वागो न भूवेति

१. 'श्लेष'क श्रुत्युक्ते नास्ति. २ 'हृत्' च. ३ 'भवते' च.

तथाहि—अत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यदोषगुणालंकाराणां शब्दार्थ-
गतत्वेन व्यवसितेरन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन नियम इति । न च
'अन्धकक्षय—' इत्यादौ शब्दभेदः, 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इति दर्श-
नात् । किं चात्र शब्दस्यैव मुख्यतया वैचित्र्यबोधोपायत्वेन कविप्रति-
भयोद्दृष्टनाच्छब्दालंकारत्वमेव । विसदृशशब्दद्वयस्य वन्धे चैवविधस्य
वैचित्र्याभावाद् वैचित्र्यस्यैव चालंकारत्वात् । अर्थमुखप्रेक्षितया चार्था-
लंकारत्वेऽनुप्रासादीनामपि रसादिपरत्वेनार्थमुखप्रेक्षितयार्थालंकारत्वप्रसङ्गः ।
शब्दस्याभिन्नमयतोच्चार्यत्वेनार्थालंकारत्वे 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ'
इत्यादौ शब्दभेदेऽप्यर्थालंकारत्वं तत्रापि प्रसज्यत इत्युभयत्रापि शब्दा-
लंकारत्वमेव । यत्र तु शब्दपरिवर्तनेऽपि न 'श्लेषत्वखण्डना, तत्र—

दिति । यथा लोके मौल्यादिगतं मुकुटादि मस्तकायलंकरत्वेन व्यवदिश्यते तथा
काव्येऽपीत्यर्थः ॥ दूषयति—तदन्धे इति । शब्दभेदादर्थश्लेष इति यदुक्तं तदूष-
यति—न चेति । दर्शनस्य प्रामाण्यान्भ्युपगमे त्वाह—किं चेति । कविप्रतिभया
कवीनामनुभवेन उद्दृष्टनाद् विषयीकरणात् । शब्दस्यान्ययाऽनुविधायित्वं प्रदर्श्य
व्यतिरेकानुविधायित्वं दर्शयति—विसदृशेति । वन्धे चेति चकारस्य वैचित्र्या-
भावाच्चैत्यन्वयः । ननु वैचित्र्यस्य शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन किमायातमत
आह—वैचित्र्यस्यैवेति । अलंकारत्वादलंकारनिशामकत्वात् । अर्थमुखप्रेक्षि-
तया अर्थानुसंधानसापेक्षत्वेन अर्थालंकारत्वे अर्थालंकारस्वाङ्गीकारे । रसादि-
परत्वेन रसाद्युत्कर्षाभिप्रायप्रयोज्यत्वेन । शब्दभेदेऽपीति । 'विधौ' इत्यादौ
स्वरभेदाभावेन एकप्रयत्नेनैव शब्दद्वयोच्चारणादर्थद्वयप्रतीतिरिति भावः । उभयत्र

पुराणवार्ता इति द्व युक्तम् ॥ तथा च शिवमहिम्नः स्तवे—'रथः श्रेणी यन्ता शतधृतिः
रगेन्द्रो धनुरयो रथाग्निः चन्द्राकी रथचरणपाणिः धर इति' ॥

१. शब्दार्थेति । १. पर्यायान्तरपरिवर्तितसदृशत्वात्तत्वाभ्यां शब्दार्थगतस्वरस्य स्थिति-
रिति भावः ॥

२. दर्शनादिति । 'यान्त्व एवमर्थाः स्युः शब्दास्त्वान्त्व एव हि ।' इत्याद्युक्तिपुल-
कादित्यर्थः ॥

३. शब्दभेद इति । विधिविधुशब्दयोः पार्थक्येऽपीत्यर्थः ॥

४. श्लेषत्वेति । श्लेषत्वखण्डना श्लेषसङ्गः ॥

१. 'अर्थे' इति नास्ति कश्च पुस्तकयोः । २. 'लोके' इति मुद्रितपुस्तके नास्ति । ३. 'अर्थान्तरा-
त्वे' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

‘स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।

अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुल्यकोटेः खलस्य च ॥’

इत्यादावर्थश्लेषः । अस्य चालकारान्तरविविक्तविषयताया अतन्म-
वाद्भिद्यमानेष्वलंकारान्तरेष्वपवादत्वेन, तद्वाचकतया तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्व-
मिति केचित् ।

इत्थमत्र विचार्यते—समासोऽयमस्तुतप्रशंसादौ द्वितीयार्थस्यान-
भिधेयतया नास्य गन्धोऽपि । ‘विद्वन्मानसहंस—’ इत्यादौ श्लेषगर्भे रूप-
केऽपि ‘मानसशब्दस्य चित्तसरोरूपोभयार्थत्वेऽपि रूपकेण श्लेषो
वाध्यते । सरोरूपस्यैवार्थस्य विश्रान्तिधामतया प्राधान्यात्, श्लेषे द्वय-

समजाभजाश्लेषयो । नन्वेव श्लेषस्यार्थालंकारत्वेच्छेदः, इत्यत आह—यत्र
त्विति । स्तोकेनेति । सुवर्णादिगौरवप्रकर्षाप्रकर्षप्रकाशिका छुत्तिका शिखरश-
लाका तुल्यकोटि । अत्र, स्तोकादिपदस्थानेऽल्पादिपदनिवेशेऽप्यर्थद्वयप्रतीतिरस्त्येव ।
‘अयम्—’ इत्यादौ ‘वक्ष्यति’ इत्यादिपदस्थाने ‘भारयिष्यति’ इत्यादिपदनिवेशे
तु नार्थद्वयप्रतीतिरिति तत्र शब्दालंकारत्वमेव । इदानीं श्लेषस्यालंकारान्तरविवि-
क्तविषयत्वमुपपादयितुं परमतं निरकरोति—अस्य चेति । श्लेषस्य चेत्यर्थः ।
विविक्तेति । विमुक्त्यर्थः । अपवादात्त्वेन असमवयविषयान्तरत्वेन तद्वाचक-
तया अलंकारान्तरवाचकतया तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वमलंकारान्तरप्रतीतिजन-
कप्रतीतिविषयत्वम् । तथा च प्राथमिकप्रतीतिविषयत्वेन श्लेषस्य व्यपदेश एव,
न तु चरमप्रतीतिविषयस्यालंकारान्तरस्य व्यपदेश इति भावः ॥ श्लेषावाध्यान-
लंकारान्निष्पिष्य दर्शयति—इत्थमिति । तत्र प्रथमं समासोक्त्यादेः श्लेषावाध्यान-
भ्रम निरकरोति—समासोक्तीति । अस्य श्लेषस्य । गन्धोऽपि । श्लेषप्रस-
ङ्गोऽपि । व्यञ्जनयैव तत्र द्वितीयार्थस्य प्रतीतिरिति भावः । ननु शिष्टरूपके
उभयार्थस्याभिधेयतया श्लेषावाध्यानमस्तीत्यत आह—विद्वदिति । विदुषा ज्ञानिना
मानसमेव मानस सरोमिशेषस्तस्य हस इत्यर्थः । श्लेषगर्भे श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतु-
उभयार्थत्वेऽपि रूपरूपकोभयवाचकत्वेऽपि । श्लेषस्य वाध्यत्वप्रयोजक समव-
धिषयान्तरत्व दर्शयति—सरोरूपस्यैवेति । एवकारेण चित्तरूपस्य व्यवच्छेदः ।
विश्रान्तिधामतया रूपकप्रतीतिपर्यवसानास्पदतया । प्राधान्यादिति ।

१. अलंकारेति । अलंकारान्तरेभ्यो विविक्तोऽप्यलंकारो विभिन्नो विषयो यस्य तस्य
भावस्तथा स्यात् । यत्र यत्र श्लेषो वर्तते तत्र तत्रान्योऽपि कश्चिदलंकार इति भावः ॥

२. विद्वदिति । ‘विद्वन्मानसहंस वैरिभलासरोचदीप्तपुटे दुर्गामार्गणीलोलोहित-
समित्तीकारादेशानुर । सत्यप्रतीतिविधानदस्य विजयप्राप्तमावनीस प्रभो साम्राज्य वरवीर
वत्सरघात वैरिभमुच्चैः क्रिया ॥’ इति संपूर्णं श्लोकः ॥

३. श्लेषेति । श्लेषस्यैव व्यपदेश इत्यन्वयः ॥

स्यापि समकक्षत्वम् । ‘संनिहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च’ इत्यादौ विरोधाभासेऽपि विरुद्धार्थस्य प्रतिभातमात्रस्य प्ररोहाभावात् श्लेषः । एवं पुनरुक्तवदाभासेऽपि । २३५२५/१५२५२५

तेन ‘येन ध्वस्त—’ इत्यादौ प्राकरणीकयोः, ‘नीतानाम्—’ इत्यादा-
वप्राकरणीकयोरेकधर्माभिसंबन्धात्तुल्ययोगितायाम्,

‘स्वेच्छोपजातविषयोऽपि न याति वक्तुं

देहीति मार्गणशतैश्च ददाति दुःखम् ।

मोहात्समुत्क्षिपति जीवनमप्यकाण्डे

कष्टं प्रसूनविशिखः प्रमुरल्पवृद्धिः ॥’ ५२५/२१५१

इत्यादौ च प्राकरणीकप्राकरणीकयोरेकधर्माभिसंबन्धादीपके,

अर्थयोः समकक्षत्वाभावोपपादकं समकक्षत्वं परस्परनिरपेक्षतया प्रधानत्वम् । तत्र चार्थद्वयस्य समकक्षत्वे श्लेषस्य विषयः संभवति । प्रकृते तूद्देशविधेयभावेन गुण-
प्रधानभावापेक्षितया तुल्यकक्षत्वाभावाद्वपकेन श्लेषो बाध्यते । अन्यथा शिष्टपर-
म्परितरूपकस्य निर्विषयतापत्तेरिति भावः । नन्वेवमपि विरोधाभासोच्छेदस्त्वन
समकक्षार्थद्वयस्याभिधानेन श्लेषस्य निर्वाणप्रसरत्वादित्यत आह—‘संनिहितेति ।
संनिहितो बालः केश एवान्धकारो यत्र सा, भास्वन्मूर्तिर्देहीप्यमानशरीरा । अथ
संनिहितनवीनान्धकारा सूर्यस्वरूपा चेति विरोधः ॥ प्रतिभातमात्रस्य पदार्थस्मृ-
तिविषयत्वेव । प्ररोहाभावादयोग्यत्वेन शब्दानुभवाभावात् । तथा चार्थद्वयस्य
शब्दानुभवेऽपि श्लेषस्य विषयसंभवादुत्तर्यत्वम्, विरोधाभासस्यायोग्यतया शब्दा-
नुभवाभावेऽपि विषय इत्यपवादत्वमिति भावः ॥ पुनरुक्तवदाभासेऽपीति ।
द्वितीयार्थस्य पुनरुक्ततया शब्दानुभवो न भवतीति भावः । ननु तर्हि के श्लेषबाध्या
इत्यपेक्षायामाह—‘तेनेति । समासोक्त्यादौ श्लेषस्य प्रसङ्गाभावादेव बाध्यत्वासं-
भवेनेत्यर्थः । प्राकरणीकयोरित्येकधर्माभिसंबन्धादित्यपेक्षान्वयः । माधवोमा-
धयो रक्षणोपयोगित्येन प्राकरणीकत्वम् । अप्राकरणीकयोरिति । पञ्चभूगवि-
शेषयोरुपमानत्वेऽप्राकरणीकत्वमिति भावः । तुल्ययोगितायामिति विद्यमाना-
यामपीत्यपेक्षान्वयः ॥ स्वेच्छेति । इयंतिरग्नसेवकस्योक्तिरियम् । प्रसूनविशिखः
कामः, अल्पवृद्धिश्च प्रभुः । कष्टं कष्टहेतुः । कष्टहेतुत्वमुपपादयति पादत्रयेण—
स्वेच्छया उपजाता उपपन्ना विषया उपभोगसाधनद्रव्याणि यस्य सः । न याति
विषयानानुभवति । गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात् । मार्गणशतैर्यचकसमूहैर्देहीति वक्तु-
मर्थात्तेभ्यो दुःखं ददाति । महाबुद्धिस्तु देहीति वचनं विनैव याचकेभ्यो धनं
ददातीति भावः । मोहादपराधश्रमात् समुत्तिरपति हरति । अकाण्डे अकाण्डे ॥

१. तेनेति । विशेषविषयकालंकारान्तरेः श्लेषस्य बाध्यत्वेनेत्यर्थः ॥

१. ‘इत्यत्र च’ प. २ ‘एकधर्माभिधानवचनत्वात्’ क.

साहि० ४२

‘सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुविम्बमिव ।’

इत्यादौ चोपमायां विद्यमानायामपि श्लेषस्यैतद्विषयपरिहारेणासंभवाद् एषां च श्लेषविषयपरिहारेणापि स्थितेरेतद्विषये श्लेषस्य प्राधान्येन चमत्कारित्वप्रतीतिश्च श्लेषेणैव व्यपदेशो भवितुं युक्तः । अन्यथा तद्व्यपदेशस्य सर्वथाभावप्रसङ्गाच्चेति ॥

अत्रोच्यते—न. तावत्परमार्थतः श्लेषस्यालंकारान्तराविविक्तविषयता ‘येन ध्वस्त—’ इत्यादिना विविक्तविषयत्वात् । न चात्र तुल्ययोगिता, तस्याश्च द्वयोरप्यर्थयोर्वाच्यत्वनियमाभावात् । अत्र च माधवो माधवयोरेकस्य वाच्यत्वनियमे परस्य व्यङ्ग्यत्वं स्यात् ।

किं च । तुल्ययोगितायामप्येकस्यैव धर्मस्यानेकधर्मिसंबन्धितया प्रतीतिः । इह त्वनेकेषां धर्मिणां पृथक्पृथक्धर्मसंबन्धितया । ‘सकलक-

कामपक्षे—लेच्छं यथेष्टमुपजाताः संभवन्तो विषया लक्ष्याणि यस्य सः । ऐहीति शरीरीति वक्तुं योग्यतां न याति न प्राप्नोति । मार्गणशतैः शरसमूहैः मोहान्मोहं विधाय । अघरीरोऽपि संभवद्बहुलशोऽपि कस्मैचिन्मार्गणशतैर्दुःखं ददाति । लक्ष्येषु विभज्य यदि शरान् क्षिपेत्तदा एकस्य वेधने शरशतासंभवाहुःखातिशयो न भवतीति भावः । अत्र स्मरसोपमानत्वेनाप्राकरणीकत्वम्, राज उपमेयत्वेन प्राकरणीकत्वम् ॥ दीपके इति । विद्यमानेऽपीति छिन्नविपरिणामेनान्वयः ॥ सकलकलं कोलाहलसहितम् । अथ च सकल्य समग्रा कला यस्य तादृशम् ॥ एतद्विषयेति । तुल्ययोगितादिविषये इत्यर्थः । एषां तुल्ययोगितादीनाम् ॥ अन्यथा एतद्विषये श्लेषान्वीकारे ॥ एतन्मते दोषं त्रैदश्यं सिद्धान्तमाह—अत्रोच्यत इति । विविक्तविषयत्वात् अलंकारान्तरपृथक्कृतविषयत्वात् । अत्र ‘येन ध्वस्त—’ इत्यादिश्लेषविषये । तस्यास्तुल्ययोगितायाः । एतदीपकस्याप्युपलक्षणम् । अर्थयोर्वाक्यार्थयोः । वाच्यत्वनियमाभावादिति । एकस्य वाच्यत्वनियमादिति तात्पर्यार्थः । न च ‘वंशः स्वभावमधुरा बहन्लो रयमुल्बणम् । दशो बल्लथ कर्पन्ति कान्ताभिः प्रेषिता. प्रियम् ॥’ इत्यादौ तुल्ययोगितायां द्वितीयार्थस्यापि वाच्यत्वेन कथमेकस्यैव वाच्यत्वमिति वाच्यम् । ये तु ‘दुर्गालङ्कितविग्रहः—’ इत्यादौ (६९४.) पदपरपठ्या द्वितीयार्थस्यापि वाच्यत्वमङ्गीकुर्वन्ति, तेषां मत इत्यर्थः । अत्र चेति । ‘येन ध्वस्त—’ इत्यादौ तुल्ययोगितानुरोधेनैकस्य वाच्यत्वनियमो वाच्यस्तथा सत्यपरस्य व्यङ्ग्यत्वापत्त्या श्लेषस्य विषयो न स्यादिति भावः ॥ ननु पदपरपठ्यतिपक्षे द्वयोरप्यर्थयोर्वाच्यत्वमत आह—किं चेति । इह तु श्लेषे तु । पृथक्पृथक्धर्मसंबन्धितया प्रतीतिरित्यन्वयः । अलंकारार्था यो यत्प्रतीतिजन्यप्रतीतिविषयः स तद्वाच्य इति नियमागिप्रायेण श्लेषस्य वाच्यत्वमुपमाया प्रसङ्ग निषेधयति—सकलकल-

१. ‘इह तु’-क.ख. २. ‘व्यङ्ग्यत्वा’ घ. ३. ‘व्यङ्ग्यत्वा’ ङ. ४. ‘दोष सिद्धान्तमाह’ इति पुष्पकान्तरे. ५. (रवा) इति मुद्रितपुष्पके. ६. ‘पदपरमर्थ’ इत्यधिकं पुष्पकान्तरे.

लम्—' इत्यादौ च नोपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः । पूर्णोपमाया निर्वि-
पयत्वापत्तेः 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' इत्याद्यस्ति पूर्णोपमाया वि-
पय इति चेत् । न । यदि 'सकलम्' इत्यादौ शब्दश्लेषतया नोपमा
तत्किमपराद्धं 'मनोज्ञम्' इत्यादावर्थश्लेषेण ।

'स्फुटमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौ, किं तु ।

आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः ॥'

इति रुद्रटोक्तदिक्षा गुणक्रियासाम्यवच्छब्दसाम्यस्याप्युपमाप्रयोजक-
त्वात् । ननु गुणक्रियासाम्यस्यैवोपमाप्रयोजकता युक्ता, तत्र साधर्म्यस्य
वास्तवत्वात् । शब्दसाम्यस्य तु न तथा, तत्र साधर्म्यस्यावास्तवत्वात् ।
ततश्च पूर्णोपमाया अन्यथानुपपत्त्या गुणक्रियासाम्यस्यैवार्थश्लेषविषयत-

मित्यादौ चेति । श्लेषो नोपमाबाधक इति भावः । तत् तदा । शब्द-
मात्रं सामान्यमाश्रित्यापीदालंकारमध्ये संभव इत्यन्वयः । यद्यपि 'सकल-
कलम्—' इत्यादावैकप्रयत्नेन शब्दद्वयोत्पत्त्या शब्दसाम्येकत्वं न संभवति, तथा-
प्येकानुपूर्व्यवच्छिन्नत्वेन शब्दयोरेकत्वप्रतिभास इति भावः । समुच्चयांतरारे एक-
धर्माभिसंबन्धस्य निवेद्याभावात्तत्तत्समुच्चयपदमत्र तुल्ययोगितापरे दीपकंपरं च
तयोस्तत्संभवात् । नन्वेवं 'किं च तुल्ययोगितायाम्—' इत्यादिना श्लेषतुल्ययोगि-
तयोर्धा विषयविभागः कृतः स न संगच्छते 'येन प्वस्त—' इत्यादावपि शब्दरूपै-
कधर्मसंबन्धस्य सत्वेन तुल्ययोगिताया विषयसंभवादिति चेत् । सत्यम् । यत्रानेक-
स्यैकधर्मसंबन्धावगमे द्विवचनबहुवचनचमरुपपेक्षा तत्रैव दीपकतुल्ययोगितयो-
र्विषयः । 'येन प्वस्त—' इत्यादौ तु द्विवचनाद्यपेक्षाविरहेण तुल्ययोगिताया विषय
एव नास्ति । एवं ययोरेकधर्मसंबन्धस्ययोरनेकप्रयत्नोच्चार्यपदवाच्यत्वं दीपकतुल्य-
योगितालक्षणे निवेद्यनीयमतो नातिप्रसङ्गः । एवं च 'क्षेच्छोपजातविषयोऽपि—'
इत्यादिदीपकस्य 'किरणा हरिणाइत्य—' इत्यादि, 'विक्रसत्तेजनीलाब्जे—' इत्यादि च
तुल्ययोगितायाश्च विषय इति ध्येयम् । गुणक्रियासाम्यवच्छब्दगुणक्रियासाम्यस्यैव ।
तत्र गुणक्रियासाम्यप्रयुक्तोपमायाम् । यास्तवत्वाद् वस्तुप्राप्तयेतत्वात् । न
तथा नोपमाप्रयोजकता । तत्र शब्दसाम्यप्रयुक्तोपमायाम् । साधर्म्यस्य शब्द-
रूपसाम्यस्य धर्मस्य । अवास्तवत्वाद् उपमानोपमेयरूपवस्तुनोरप्यप्येत-

१. कमलेति । 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्कचतितरान्' इत्यत्र मनोदत्तलक्षणस्य
गुणस्य, प्रकाशलक्षणायाः क्रियायाः, गुणक्रियायोर्धा साम्यात्पूर्णोपमाविषयोऽस्तीत्यर्थः ॥

२. मनोज्ञमिति । मनोज्ञरूपोपमानोपमेयरूपवस्तुनोः कमलमुखयोर्भेदेन विष्टरादर्श-
श्लेष इत्यर्थः ॥

१. 'द्वयोक्त' क. २. 'च' इति नास्ति च पुनश्चे. ३. 'प्रयत्ने' घ. ४. 'विषयः' घ.
५. 'यत्र यन्निर्वाच्येकधर्मोच्चार्यपदयोर्विच्छेदा द्विवचनबहुवचनोपपेक्षा' इति रुद्रटपुच्छे. ६. '२५
च १०००रूपेण च कवीमर्षे' इति रुद्रटपुच्छे फट्. ७. 'यत्र' इति रुद्रटपुच्छे.

या परित्यागे पूर्णोपमाविषयतायुक्ता, न तु 'सकल' इत्यादौ शब्दसाम्यस्यैवेति चेत्, न । 'साधर्म्यमुपमा' इत्येवाविशिष्टस्योपमालक्षणस्य शब्दसाम्याद्धावृत्तेरमावात् । यदि च शब्दसाम्ये साधर्म्यमवास्तवत्वान्नोपमाप्रयोजकम्, तदा कथं 'विद्वन्मानस' इत्यादावाधारभूते विचादौ सरोवराद्यारोपो राजादेर्हसाद्यारोपप्रयोजकः ।

किञ्च । यदि वास्तवसाम्य एवोपमाङ्गीकार्या, कथं त्वयापि 'सकल-कल' इत्यादौ बाध्यभूतोपमाङ्गीक्रियते । किं च । अत्र श्लेषस्यैव साम्यनिर्वाहकता, न तु साम्यस्य श्लेषनिर्वाहकता । श्लेषबन्धतः प्रथमं साम्यस्यासम्भवात् । इत्युपमाया एवाङ्गित्वेन व्यपदेशो ज्यायान् 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायात् ।

ननु शब्दालंकारविषयेऽङ्गाङ्गिभावसंकरो नाङ्गीक्रियते तत्कथमत्र श्लेषोपमयोरङ्गाङ्गिभावः संकर इति चेत्, न । अर्थानुसंधानविरहिण्यनुपमासादावेव तथानङ्गीकारात् । एवं दीपकादावपि ज्ञेयम् ।

‘सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः ।

निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे ॥’

त्वात् । ततश्च शब्दसाम्यस्योपमाप्रयोजकत्वायोगात् । अवशिष्टस्य वास्तव-त्वरूपविशेषरहितस्य । उपमालक्षणस्य काव्यप्रकाशाद्युक्तस्य । तथा च देन केनापि संबन्धेनोपमानोपमेयवृत्तिधर्म उपमा, न तु समवायसंबन्धेनेति नियमः । शब्दस्योप-साध्यत्वसंबन्धेनोपमानोपमेयवृत्तिरूपेणोपमाप्रयोजकत्वमक्षतमिति भावः । उपमानो-पमेययोरमेदप्रतीतिरूपकमित्याभिप्रायेणाह—यदि चेति । आधारभूते विषय-रूपे ॥ ननु श्लेषपदनिबन्धनपरम्परितरूपकान्यथानुपपत्त्या तत्र तथा कल्पनीयम्, न तूपमायामित्यत आह—किं चेति । कथमिति । तदेति शेषः । श्लेषस्या-लंकारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वेन तेनैव व्यपदेश इति यदुक्तं तदुपयति—किं चात्रेति । अङ्गित्वेन साध्यतया प्रधानत्वेन । तथा च श्लेषस्य प्रथमोपस्थित-त्वेऽपि साधनत्वेनाप्रधानतया तेन व्यपदेशो नोचित इति भावः । तथानङ्गी-कारात् अङ्गाङ्गिभावसंकरानङ्गीचरात् । श्लेषस्य शब्दालंकारत्वेऽप्यर्थानुसंधान-सापेक्षत्वादुपमाङ्गत्वमक्षतमिति भावः । एवमिति । यथा एकशब्दत्वेनोपमा स्वीकृत्य तस्या एव प्राधान्यव्यपदेशस्तथा दीपकादावपीत्यर्थः । आदिपदानुत्य-योगितापरिग्रहः ॥ ‘सत्पक्षा—’ इत्यादौ केचिदुपमाध्वनिं केचिच्च श्लेषं स्वीकुर्यन्ति, तदुभयमपि नोचितमित्याह—सत्पक्षा इति । सन्तः पक्षाः पक्षाणि येषां ते ।

१. 'हसाद्यारोपरूपकः' इति च. २. 'अङ्गीकर्तव्यः' क. ३. 'तदा' इत्यपि च प-पुलके. ४. 'अङ्गी-कर्तव्यः' क. ५. 'हि' इति नास्ति च पुलके. ६. 'इत्युक्तमयम्' घ. ७. 'तथा च' इत्यादि. 'सर्वे' राघवनेन' इत्युक्तं पाठः पुलकान्तो नास्ति.

अत्र शरद्वर्णनया प्रकरणेन धार्तराष्ट्रादिशब्दानां हंसाद्यर्थाभिधाने नियमनाहुयोधनादिरूपोऽर्थः शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः । इह च प्रकृतप्रबन्धाभिधेयस्य द्वितीयार्थस्य सूच्यतयैव विवक्षितत्वादुपमानोपमेयभावो न विवक्षित इति नोपमाध्वनिर्न वा श्लेष इति सर्वमवदातम् ।

पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते ।

आदिशब्दात्खड्ग-मुरज-चक्र-गोमूत्रिकादयः । अस्य च तथाविधलिपिसंनिवेशविशेषवशेन चमत्कारविधायिनामपि वर्णानां तथाविधश्रोत्राकाशसमवायविशेषवशेन चमत्कारविधायिभिर्वर्णैरभेदेनोपचाराच्छब्दालंकारत्वम् । तत्र पद्मबन्धो यथा मम—

‘मारमासुपमा चारुरुचा मारवधूत्तमा ।

माचधूर्ततमावासा सा वामा मेऽस्तु मा रमा ॥’

प्रसाधिताया अलंकृतदिग्वाः । मदेन शरत्कालकृतचित्तविकारविशेषेण उद्धत आरम्भ आरवो येषाम् । ‘रभि शब्दे’ इत्यस्य रूपम् । धार्तराष्ट्रा हंसविशेषाः । कालवशात् शरत्कालवशात् । वर्णानां हंसा मानवे सरसि तिष्ठन्ति, शरदि पृथिवी-मागच्छन्तीति प्रसिद्धिः ॥ पक्षे—सत्पक्षाः उत्तमसहायाश्च ते अमधुरगिरिधेति समासः । प्रसाधिताया वशीकृतदिग्वाः । यद्वा प्रकृष्टं साधिता आशाः स्वेच्छा-विषया यैः । अथवा प्रसाधिता, धृता आशा जयेच्छा यैस्ते । मदेन गर्वेण उद्धता आरम्भा युद्धायाङ्गवत् येषां ते । धार्तराष्ट्राः धृतराष्ट्रपुत्राः । कालव-शान्मृत्युकालवशात् ॥ नियमनाभिरयन्त्रणात् । ध्वनिनिर्व्यङ्ग्यः । न घा श्लेष इति । प्रकरणनियमेन द्वितीयार्थस्थानाभिधेयत्वादिति हेतुरत्र इष्टव्यः ॥ चित्रा-ख्यमलंकारमनेऽभिधमाह—पद्मादीति । पद्माद्याकारवर्णस्तोमजनकव इत्यर्थः ॥ गोमूत्रिकादय इति । आदिपदेन काकपदादयो ग्राह्याः । ननु श्रौतसम्बन्धानां जन्यवर्णानां पद्माद्याकारजनकत्वरूपचित्रालंकारमावात्कथमस्य शब्दालंकारत्वम-तत्त्वदुपपादयति—अस्य चेति । चित्रालंकारस्येत्यर्थः । तथाविधस्य पद्मा-दिसदृशस्य लिपीनां वर्णसंस्थानानां संनिवेशविशेषस्य रचनाविशेषस्य वशेन चमत्कारविधायिनां वक्तृविस्मयकारिणां वर्णानां तथाविधः श्रोत्राकाशसमवा-यविशेषः कर्णरन्ध्रसम्बन्धविशेषः तद्वशेन चमत्कारविधायिभिः श्रोतृविस्मय-कारिभिः । एवं च पद्माद्याकारलिपिसंनिवेशविशेषनालोक्त्य वषा ये वर्णा उपार्प्यन्ते तदेव धोतृणां श्रोत्रे पद्माद्याकारवर्णस्तोमो जन्यते । कार्यकारणयोर्भेदोपचारेण जन्यवर्णानामपि चित्रालंकारसंभव इति भावः ॥ मारमेति । सा वामा मनोरमा

विदिग्दलेष्वन्यथा, कर्णिकाक्षरं तु छिद्यमेव । एवं खङ्गचन्धादिकमप्यु-
ह्यम् । काव्यान्तर्गडुभूततया तु नेह प्रपश्यते ।

रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका ॥ १३ ॥

उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका ।

च्युताक्षरा दत्ताक्षरा च्युतदत्ताक्षरा च । उदाहरणम्—

‘कूजन्ति कोकिलाः साले यौवने फुल्लमम्बुजम् ।

किं करोतु कुरङ्गाक्षी वदनेन निपीडिता ॥’

हीत्वा प्रथमः पादः । द्वितीयात्प्रथमं प्रथमाद्वितीयतृतीयौ द्वितीयाश्चतुर्थपञ्चमौ
प्रथमात्पष्ठसप्तमौ द्वितीयादष्टमं गृहीत्वा द्वितीयः पादः । तृतीयात्प्रथमं नुर्याद्
द्वितीयतृतीयौ तृतीयाश्चतुर्थपञ्चमौ नुर्यात्पष्ठसप्तमौ तृतीयादष्टमं गृहीत्वा तृतीयः
पादः । पादचतुष्टयस्योर्ध्वक्रमेण प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थानधःक्रमेण पञ्चमपष्ठ-
सप्तमाष्टमानुगृहीत्वा चतुर्थः पादः पाठ्य एवं मुरजसिद्धिः ॥ चक्रवन्धो विदग्ध-
मुपमण्डने, गोमूत्रियावन्धो दण्डिनि ज्ञेयः । एवमन्येऽपि मुसल-शूल-शक्ति-
हल-चतुरङ्ग-पीठ-रथ-नुरग-गज-पाठ्यादयो बोध्याः । एवं वर्णानामनुलोमप्रतिलोम-
पाठादिना एकरूपपदोच्चयहेतुत्वेऽपि सर्वतोभद्रादिनामकश्चित्रालंकारो वेदितव्यः ॥
काव्यस्यान्तर्गडुभूततया अन्तर्गडुवदकिञ्चित्करत्वेन । इह काव्यालंकारविचारप्र-
करणे ॥ दण्ड्यादिभिर्हकं प्रहेलिमयामलंकारत्वं वृणयति—रसस्येति । रसबोध-
स्येत्यर्थः । परिपन्थित्वाद्विलम्ब्यत्वात् । तथा च प्रत्युत दोषलक्षणाक्रान्ततया
प्रहेलिका काव्ये नोपादेयेति भावः । ननु तर्हि प्राचीनैः किमिललंकारप्रकरणे
प्रहेलिका प्रपञ्चितेत्यत आह—उक्तीति । वैचित्र्यमात्रं वैचित्र्यमात्रं प्रयोजकम् ।
तथा च वैचित्र्यमात्रप्रयोजकत्वेनालंकारसाम्यात्तत्रालंकारपदप्रयोगो गौण एवेति ।

१. काव्यान्तरिति । गडुमन्थिरिति सांप्रदायिकाः । यथेष्टुष्वर्गदद्यादां मन्थी
रसस्यवधायकस्यैव काव्ये चित्रादीति परमार्थः ॥

२. रसस्येति । अत एव भोजराजेनाप्युक्तम्—‘प्रहेलिका सकृत्प्रश्नः सापि पोषा
च्युताक्षरा । दत्ताक्षरोभयं मुष्टिर्बिन्दुमलभेवल्पि ॥ क्रीडागोधोविनोदेऽपि तद्भेदातीत-
मन्त्रे । परम्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः ॥’ इति । एवमन्तःप्रश्न-वर्तिःप्रश्न-
वहिरन्तःप्रश्न-जातिप्रश्न-पृष्टप्रश्न-उत्तरप्रश्न-प्रश्नप्रयोगेऽपि क्रीडायासोपयोगिनः । एतेषां वन्धवि-
शेषाणां प्रपञ्चः सरस्वतीकण्ठाभरण-काव्यालंकारादौ द्रष्टव्यः ॥

३. उदाहरणमिति । यथा चा—‘तदा धुनेन बर्यस्य समिदः संहितः पदम् । रेजे
रुतिनयः साक्षात्प्रपदेरी धृतामतिः ॥’ अत्र यथेष्टाभ्यां मात्रापहारदानाभ्यां श्लोकद्वयमुदा-
हरते—‘तदाधुनेन बर्यस्य समिदः संहितः पदम् । रेजेऽस्यरुतिनयः साक्षात्प्रपदेरी धृतामतिः ॥
तदेधुनेन बर्यस्य सामिदः संहितः पदम् । रेजे रुतिनयः साक्षात्प्रपरादोधिनामृतः ॥’

१. मुद्रितपुष्पके तु ‘काव्यान्तर’ इत्यदिपदं ‘काव्यान्तर्गडुभूत’ का का तु नेह मन्थयते’ इति
श्लोकस्यं वीर्यम्, २. ‘वैचित्र्यमात्रप्रयोजक’ इति, न तु ‘रसस्यप्रयोजक’ इति मुद्रितपुष्पके.

तत्र 'रसाले' इति वक्तव्ये 'साले' इति 'र' च्युतः । 'वने' इत्यत्र 'यौवने' इति 'यौ' दत्तः । 'वदनेन' इत्यत्र 'मदनेन' इति 'म' च्युतः 'व' दत्तः । आदिशब्दात्क्रियाकारकगुस्यादयः । तत्र क्रियागुप्तिर्यथा—

‘पाण्डवानां समामध्ये दुर्योधन उपागतः ।

तस्मै गां च सुवर्णं च सर्वाण्याभरणानि च ॥’

अत्र ‘दुर्योधनः’ इत्यत्र ‘अदुर्योऽघनः’ इति । ‘अदुः’ इति क्रिया-
गुप्तिः । एवमन्यत्रापि ।

अथावसरप्राप्तेष्वर्थालंकारेषु सादृश्यमूलेषु लक्षितव्येषु तेषामप्युपजी-
व्यत्वेन प्राधान्यात्प्रथममुपमामाह—

भावः ॥ यत्न इति । वक्तव्य इत्यन्वयः ॥ एवमिति । कारकसंबोधनगुस्यादाव-
प्येवमुदाहार्यमित्यर्थः । तत्र ‘दुर्योधन उपागतः’ इत्यत्र ‘योऽघन उपागतः’ इति
कर्तृपदं गुप्तम् । यथा वा—‘ब्राह्मणेभ्यो नदीतीरे वस्त्राण्याभरणानि च । ददाति
गा हिरण्यं च वसुधां च हुतं मज्ज ॥’ अत्र ‘ब्राह्मण’ इति संबोधनपदम्, ‘इभ्यः’
इति कर्तृपदम्, संप्रदानभ्रमजनकत्वाद् गुप्तम् ॥ एवमेकद्वित्रिचतुस्वरनियमो-
ऽप्युक्तिवैविध्यमेव । क्रमेण यथा—‘करपद्मलसंस्कृतकप्रस्तगजग्रह । भक्तभग्न्य
भरन्मध्य मम व्यसनमर्दय ॥’, ‘श्रीरीती ह्रीकीती धीनीती नी.प्रीती । एधेते द्वे
द्वे वे ये नेने देवेष्टे ॥’ ‘क्षिति विजिति स्थिति विहितिव्रतरतयः परगतयः । वर
रुधुर्गुव दुधुर्गुधि कुरवः स्वमरिकुलम् ॥’, ‘आन्नायानामाहान्सा वाग्गीतीरीतीः
प्रीतीभीतीः । भोगो रोगो मोदो मोहो ध्येये धेच्छे देखे क्षेमे ॥’ एवमेकादिचतुर्पर्य-
न्तवर्णस्थाननियमानामुदाहरणानि दण्डिनि दृष्टव्यानि ॥ अर्थालंकारनिरूपयितुमुपमा-
निरूपणस्य प्राथमिकत्वे हेतुमाह—अथेति । शब्दालंकारनिरूपणानन्तरमित्यर्थः ।
अवसरप्राप्त्या अवसरसंगत्या निरूपणयोग्येषु अर्थालंकारेषु मध्ये सादृश्यमूलेषु
सादृश्यप्रतिभोत्थापितेषु स्मरणादिषु लक्षितव्येषु निरूपणीयेषु तेषां सादृश्यमूला-
लंकाराणामुपजीव्यत्वेन उत्थापकत्वेन प्राधान्यात्प्रथममुपमां निरूपयतीत्यर्थः ।

वर्यस्य प्रार्थनीयस्य पदम् । ततः सर्वं लभ्यत इत्यर्थः । समशब्दः सर्वप्राप्यः । सममस्ति
वैषा वै समिनः सर्वेश्वरा देवास्तान्वाति खण्डयति यः । सहतः सहिष्णोः पदम् । अस्तरस्य-
क्तस्तनवोऽन्धको येन । मन्थकस्य तत्पुत्रत्वात् । नयस्य नेदे घ्राणे सति क्षत्रासतिनिहतकु-
शुद्धिः । अथैव विपर्ययः—ईक्षणेन वर्यस्य पदं दर्शनमात्रेणाभीष्टपदः । सहतिः सह शत्रु-
हिंसया वर्तते स्तुतिर्नेयो यस्य । नववादेनोक्षितं सिद्धं सुवममृतं देन सः ॥

१. क्रियेति । क्रियाकारकगुस्यादीनां विशेषोदाहरणानि मदीयमित्र-पण्डित-काशिनाथ-
सकलिते सुभाषितरत्नभाण्डागारे दृष्टव्यानि ॥

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ॥ १४ ॥

एवं च हेतुता संगतिर्दर्शिता ॥ साम्यमिति । वाक्यस्यैकत्वे सति द्वयोः साम्य-
मुपमेयत्वव्ययः । साम्यं साधर्म्यं गुणक्रियादिरूपम् । वाच्यमभिधया बोध्यम् ।

१. साम्यमिति । अत्रेदमनुसंवेद्यम्—उपमायामुपमानमुपमेयं साधारणो धर्मः
उपमावाचकश्चेति चत्वारः पदार्थाः । तत्र साधारणधर्मेनत्वेन प्रसिद्धः पदार्थ उपमानम्,
तद्वर्तकतया कविसंरम्भगोचर उपमेयम्, 'कलकलशुणवत्तया संभाव्यमानमुपमानम्,
अपकलकलशुणवत्तया संभाव्यमानमुपमेयम्' इति केचित् । 'सादृश्यप्रतियोगि उपमानम्,
सादृश्यानुयोगि उपमेयम्' इत्यन्ये । उपमानोपमेययोः संगतो धर्मः साधारण इत्युच्यते ।
यस्य धर्मस्य संबन्धाद्येन सह यदुपमीयते स साधारणधर्मः तदुपमानं तद्योपमेयमिति
तद्वत् । यथा—'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' इत्यादौ मनोज्ञत्वधर्मसंबन्धात्तद्वत्तया
प्रसिद्धेन कमलेन सह मुखमुपमीयत इति मनोज्ञत्व साधारणो धर्मः कमलमुपमानं मुख-
मुपमेयमित्युपमालंकारः । अत्र संबंधेवादिपदादेरिव यथादिपदादयि सादृश्यावगमने पर्या-
यपरिवृत्तिसहवाहुपमादीनामर्थालंकारत्वम् । इयमुपमा तत्तदुक्तिवैचित्र्येण नानालंकार-
भावमवगाहते । तथाहि—'चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्रः' इत्युपमेयोपमा । 'मुखं
मुखमिव' इत्यनन्वयः । 'मुखमिव चन्द्रः' इति प्रतीपम् । 'चन्द्र इवा मुखं सरामि'
इति सरणम् । 'मुखमेव चन्द्रः' इति रूपकम् । 'मुखचन्द्रेण तापः शाम्यति' इति
परिणामः । 'किमिदं मुखमुताहो चन्द्रः' इति संदेहः । 'चन्द्र इति चकोरास्त्वन्मुख-
मनुधावन्ति' इति भ्रान्तिमान् । 'चन्द्र इति चकोराः कमलमिति चक्षरीकास्त्वन्मुखे
रज्यन्ति' इत्युल्लेखः । 'चन्द्रोऽयं न मुखम्' इत्यपह्नवः । 'नूनं चन्द्रः' इत्युपेक्षा । 'च-
न्द्रोऽयम्' इत्यतिशयोक्तिः । 'मुखेन चन्द्रकमले निर्जिते' इति तुल्ययोरिति । 'निशि चन्द्र-
स्त्वन्मुखं च हृष्यति' इति दीपकम् । 'त्वन्मुख एवाहं रज्यामि चन्द्र एव चकोरो रज्यते'
इति प्रतिवस्तूपमा । 'दिवि चन्द्रो मुवि त्वन्मुखम्' इति हृष्टान्तः । 'मुखं चन्द्रमयं विभक्ति'
इति निदर्शना । 'निष्कलम् मुखं चन्द्रादतिरिच्यते' इति व्यतिरेकः । 'स्वन्मुखेन समं चन्द्रो
निद्रासु हृष्यति' इति सहोक्तिः । 'मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः' इत्यप्रस्तुतप्रदांसा ।
'मुखं नेत्राङ्गकमनीयं स्मितज्योत्स्नाहारि' इति समासोक्तिः । एवं विविधभूमिकामासादयन्ती
कविकर्मरत्ने नृत्तन्वी उपमानुवर्ती सहृदयहृदयान्वावर्जयतीति तत्प्राञ्जिरूपणे बीजम् ।
आचार्यरुद्रटस्यत्र 'अर्थसालंकारा वास्तवगोप्यमतिशयः शेषः । एवमेव विशेषा
अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः ॥' इत्येवमर्थालंकाराणां प्राधान्येन वास्तवादि चातुर्विध्यमुद्दिश्य
तल्लक्षणानि प्राणीषीत् । तत्र—'वास्तवमिति तत्त्वेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथन यत् ।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयमशेषम् ॥ १ ॥' इति 'तस्य सशोक्तिसमुच्चयजातिय-
थासंख्यभावपर्यायाः । विपमानुमानदीपकपरिकरपरिवृत्तिपरिसंख्याः ॥ हेतुः कारण-
मालाव्यतिरेकोऽन्योन्यमुत्तर सरम् । यक्षं लेखोऽवसरो मीलितयेकावली मेदाः ॥' इति
वास्तवस्य त्रयोविंशतिः, 'सम्प्रतिपारयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्तत्प्रमानमिति । वस्तुन्तर-
मभिदधात्का चक्षित्तदौपम्यम् ॥' इति 'उपमेयोपमारूपकमपह्नुतिः सशयः समासोक्तिः ।

रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वम्, व्यतिरेके च वैधर्म्यस्याप्युक्तिः,

अवैधर्म्यं विरुद्धधर्मोक्तिस्तन्मयम् । वैधर्म्याविषयकैकवाक्यविषयत्वे सतीवादि-
वाच्यमुभयसंबन्धिसाधर्म्यमुपमेयार्थः । वाच्यादिपदचतुष्टयस्य क्रमेण व्यावृत्ति-
माह—रूपकादिष्विति । आदिना परिणामादिग्रहणम् । 'मुखं चन्द्रः' इत्यमेद-
प्रत्ययानन्तरे 'मुखं चन्द्रसाधर्म्यवत्' इति व्यञ्जनया साधर्म्यप्रतीतिरिति भावः ।
ननु 'विधवति मुस्ताब्जं—' इत्यादौ बक्ष्यमाणोदाहरणे साम्यस्य गम्यत्वात्कथं

मत्वमुत्तरमन्योक्तिः प्रतीपमर्थान्तरन्यासः ॥ उभयन्यासप्रान्तिमद्राक्षेपप्रत्यनीकदृष्टान्ताः ।
पूर्वसहोक्तिस्तु च यत्साम्यकारणानि तज्ज्ञेयाः ॥' इत्यौपम्यसैकविंशतिः 'यत्रार्थधर्मनियमः
प्रसिद्धराधादिपर्वयं याति । कश्चित्कचिदतिशेकं स सादित्यतिशयस्तस्य ॥' इति, 'पूर्व-
विशेषोत्प्रेक्षाविभाषनातद्वृणाधिकविरोधः । विषयासंगतिविहितन्यासात्ता हेतवो भेदाः ॥'
इत्यतिशयस्य द्वादश, 'यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकसिन् । अर्थे कुरते निश्चयमर्थ-
शेषः स विशेषः ॥' इति 'अविशेषविरोधाधिकवक्तव्याजोत्पत्तिसंभवावयवाः । तत्रविरोधा-
भासाविति भेदास्तस्य शुद्धस्य ॥' इति शेषस्य दश चेति यथावत् लक्ष्यित्वा पर्यन्त
इदमुपसमश्चर्यात्—'यथा तु चतुर्णामपि संकीर्णानामगणिता भेदाः । तत्रामानस्येषां
लक्षणमशेषं संयोज्यम् ॥' इति । अहो आचार्यस्य परिच्छेददाक्षिण्यम् ॥ प्रसक्तदुपमा-
षट्कसादृश्यस्य प्रतिबोध्यनुयोगिनामुच्यते—'चन्द्रकलाभुवदामशिरीषं विपुचारा कनक-
लता च । दमनककाञ्चनवष्टी शीपः सर्वैरेभिर्वाचा वण्यां ॥' 'रोचनासर्गविशुद्धिर्दृष्टि-
प्राप्तिर्विपट्टकैः । चम्पकैर्दम्भकेतवया वर्ण्यते तत्तज्जोर्मुक्तिः ॥' वराटकः प्रत्यमपपत्तीजम् ।
'विश्रवचा मुष्पक्ष्वा बभूनां कर्णान्तो गण्डतलागतानि । भृङ्गाः सलीलं यदि तापतिष्ण-
म्नोऽपैदपिष्णवपङ्कजानि ॥', 'आदनीरगौरवपुष्पममिसारिकाणाम्—' इत्यादिप्रयोगदर्शना-
द्वरसाम्यमप्यवसेपम् । 'तमःशैवालजीमूतवर्षभ्रमरचार्यैः । यमुनावीचिनीलादमनीला-
म्नोदैः समः कचः ॥', 'ललाटमर्चन्द्रेण हेमपट्टिकया तथा । रत्नीसरभनुवांस्त्रिभृत्तलीप-
ल्लवैर्भुवी ॥' 'चन्द्रादशौ कपोलस्य मुखसेन्द्रम्बदर्पणाः । तिलप्रसूवं नासायाः कण्ठः कम्बोः
समः स्मृतः ॥' कामतूणीश्वर नासा वर्ण्यत इति श्रीहर्षः । 'नासावंशो मृगीवृक्षाम्' इति
'नासानाली तिलोपमा' इति च विशेषो द्रष्टव्यः । 'मृगलठोचनाम्नोऽतत्प्रपञ्चपञ्चनैः ।
नेत्रं चकोरतलेनफेतकालिसराश्रुणैः ॥', 'मन्त्रालविग्वन्पूकपल्लवैरपरोष्ठयो । वण्यां माधुर्य-
माश्लिष यावन्मधुरवस्तुभिः ॥', 'मुञ्चमाणिक्पन्नारप्रदाडिमीकुन्दधोरकैः । तपामिध्व रदा,
वाणी रंजालिशुककिनरीः ॥', 'वैणुकोक्तिरवीणाभिर्माधुर्यं मधुरैः सह ॥', 'नाद्विधेन विष्णु-
द्रष्टृवृणालैः, करतु पद्मेन । पल्लवविद्रुमकाभ्यां, चन्द्रकलाकुन्दफोरकैश्च नखाः ॥',
'पूगाःश्वतकोरकविरुहालपुच्छेभक्तुम्माचलकुम्भचकैः । सौनीरजम्बीरकधीजपूरसमुद्र-
लोलङ्गफलेहरोजः ॥', 'नानी रसातलवर्तणदक्षपनदादिभिः । वक्ष्यं तदित्या तद्रूपैः
पृष्ठं वक्ष्यनपट्टकैः ॥' तद्रूपैस्तदनुकारिषाञ्चादिभिः । 'सूच्यप्रतलशून्याणुवेदिसिंहादिभिः
समः । मुदिप्राप्तो मवेन्मन्यो जयनं पुष्टिनोपमम् ॥' मध्यस्यातिरुद्धमत्वाच्चत्प्राप्त्यनोपमा-
नता । तेनेव 'सदसत्सद्वयोचरोदरि' इति 'परमाणुमध्याः' इति च वर्ण्यन्ति । 'पीठ-

उपमेयोपमायां वाक्यद्वयम्, अनन्वये त्वेकस्यैव साम्योक्तिरित्यस्या भेदः ।

लक्षणगमनमिति चेत् । न । 'दध्यानय' इत्यादौ लुप्तस्याभादेः, प्रतिसंधानात्कर्म-
तादेरिव लुप्तायप्रत्ययप्रतिसंधानात्साम्यस्य वाच्यताङ्गीकारात्समासस्यैवोपमावाच-
कत्वाङ्गीकारश्च । अत एव दृण्डिनोक्तं सादृश्यवाचकप्रकरणे—'समासश्च बहु-
मीहिः शशाङ्कवदनादिषु' इति । चकारात्कर्मधारयश्च । ननु तथापि सादृश्यवा-
चकसमासस्य सत्त्वे 'क्षिप्तमासगता द्वेधा धर्मेवादिविलोपने' इति वक्ष्यमाणम्
संगतमिति चेत् । न । समासस्य सादृश्यवाचकत्वमस्तीकुर्वतां प्राचां मतानुसारेणैव
तत्प्रकारस्य प्रणेष्यमाणत्वात् । एवं 'वदनं मृगशावाक्ष्याः सुधाकरमनोहरम्'
इत्यापम्यवाचकस्य लोपे यदुदाहृतं तदपि प्राचीनमतानुसारेणैव वेदितव्यम् ।
एतन्मते तु प्रथमं धर्मलोपस्य द्वितीयं पूर्णया उदाहरणं बोध्यम् । ननु तथापि-
'मुखमस्या विधुं द्वेष्टि', 'सद्योमुण्डितमत्तद्वृण्विबुक्प्रस्पर्धि नारङ्गकम्' इत्यादाव-
व्याप्तिः साम्यस्य गम्यत्वात् । न च 'स्पर्धते जयति द्वेष्टि' इत्यादिदृण्डवर्ध-
नात्तत्रापि साम्यस्य वाच्यत्वमिति वाच्यम् । तस्य साम्यव्यञ्जकपरत्वेनोपपत्तौ
साम्यवाचकत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । अत्रोच्यते—द्वेष्टस्पर्धयोश्चेतनधर्मत्वेन
मुखनारङ्गकयोरसंभवादुपमायां पर्यवसानेन तादृशस्थले निदर्शनालंकारस्यैवाङ्गी-
कारात् । 'इवादि' इत्युपादानात् 'मुखचन्द्रो मनोज्ञो' इत्यत्रोभयसाम्यस्य वाच्यत्वेऽपि
जातिव्याप्तिः । व्यतिरेके इति । 'अकलङ्कितं मुखं तस्या न कलङ्को यथा विधुः'
इत्याद्येकवाक्यगतव्यतिरेक इत्यर्थः । अत्राकलङ्कित्वमुपमानस्य कलङ्कित्वमुपमेयस्य
वैधर्म्यम् । नन्वत्र साम्यस्य वाच्यत्वेऽपि तस्य नया मुखे संबन्धाभावबोधादुभ-
यसंबन्धित्वमेव नास्ति, कथमत्रोपमाप्रसक्तिरिति चेत् । न । मुखे चन्द्रसाधर्म्य-
बाधासंभवेन नयो मुखस्योत्कर्षातिशयप्रतीतिमात्रे तात्पर्यात् । उपमेयोपमाया-
मिति । 'मतिरिव कमला कमलेव मतिः—' इत्यादावित्यर्थः । अत्र धीमत्स्योर-
नुल्यत्वं साधर्म्यं वाक्यद्वयेन प्रतिपाद्यते । रसनोपमादेरपि विलक्षणवैचित्र्याधा-
यकत्वेनालंकारान्तरत्वमित्यनेनैव तद्वारणमित्यवधेयम् । वाक्यैक्य इति । वाक्या-
न्तरव्यवच्छेदकमेव न त्वेकपदव्यवच्छेदकम् । तेन मुखाब्जमित्यादावेकपदेऽप्युपमा ।
अनन्वये रिति । 'चन्द्रश्चन्द्र इवातन्द्रः' इत्यादावित्यर्थः । अत्रैकस्यैव चन्द्र-
स्यातन्द्रत्वं साधर्म्यमिवशब्देन प्रतिपाद्यते । ननु 'घटत्वमिव पटत्वं नित्यम्'
इत्यादेरप्युपमात्वं स्वादिति चेष्टमेव, किन्तु वैचित्र्यविशेषाभावायकत्वात्तत्सामलंका-
रव्यवहारो नास्तीति विशेषः । एवमन्यत्रापि बोध्यम् । केचित्तु—'इवादिशब्द-
वृत्त्यादिपदेनापि साधारणधर्मस्य प्रतिपादनात्करिष्यमाणश्रौत्यार्थविभागात्तुपपत्त्या
साधारणधर्मसंबन्ध एवोपमा, न तु साधारणधर्ममात्रम् । स च प्रतियोगितारूपः ।
'चन्द्र इव मुखम्' इत्यादौ चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्याश्रयो मुखमितिप्रतीतेरानुभ-
विकत्वात् । तादृशसंबन्धश्च इवादिशब्देन वाच्यस्तुत्यादिपदेनार्थवशालभ्य इति
'श्रौत्यार्थविभागः' इत्याहुः । तत्र । आर्द्यामुपमायामव्याप्तेः । तत्र साधारणधर्म-
संबन्धस्य विभक्त्यादिप्रतिसंधानलभ्यतया इवादिशब्दवाच्यत्वाभावात्, उभयसंब-

सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च ।

उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्—

सा उपमा । साधारणधर्मो द्वयोः सादृश्यहेतू गुणक्रिये मनोज्ञ-
त्वादि । औपम्यवाचकमिवादि । उपमेयं मुखादि । उपमानं चन्द्रादि ।

इयं पुनः ॥ १५ ॥

श्रौती यथेववाशब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि ।

आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः ॥ १६ ॥

निधित्वस्येवादिवाच्यत्वे श्रौती अर्थवशत्तत्त्वे त्वार्थोति विवक्षयैव विभागोपपत्तेश्च ॥
उपमायाः पूर्णा लुप्ता चेति मेदद्वयमाह—सेति । सामान्यपदविवरणम् ।
साधारणेति । सादृश्यहेतू सामान्यव्यावृत्तिबोधकारणे साम्प्रविशेषणे इति
यावत् । औपम्यवाचकमिति । अव्ययानामन्विताभिधानस्वीकारादिति भावः ।
उपलभ्यमानं सामान्यस्यानुयोगि उपमेयम्, प्रतियोगि उपमानम् ॥ पूर्णोपमायाः धौ-
त्यार्थमेदेन द्वैविध्यमाह—इयं पुनरिति । इयं पूर्णोपमा । श्रूयत इति ध्रुतिः
शब्दः, तदा साक्षादेवोपलभ्यमानोपमेयसंबन्धा श्रौती । तस्या उपलम्भकानाह—
यथेवेति । 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरिवार्थे स समुच्चये' इति कोपाद्वाशब्दस्योपमा-
र्थत्वम् । बहुवचनमापर्थम् । तेन 'पङ्कजदलानि च कोचनानि' इत्यादौ वशाब्दो-
ऽप्युपमायं । पैदार्थानुसंधानापेक्षया प्रतीयमानोभयसंबन्धा आर्थी । तस्या शाप-
कानाह—तुल्येति । आयपदेन समसदशादीना ग्रहणम् । मेदमुपपादयति—

प्रस्तरभूचकैर्निवृत्तः परिवर्ष्यते । कस्तु इति हस्तेन कदल्या करभेग च ॥', 'चरणः
पङ्कजाम्बोजसलपद्ममालकैः । पूर्णेन्दुनाहुघनस्त्री गमनं हंसइक्षिपत् ॥', 'कटाक्षो यमुना-
वीचिभृद्वावलिपिमृतेः । उगीत्सेन्दुपुष्पपीयूषकेनकैरवदत्तः ॥', 'मुक्ताकण वा रजु-
निहुगस्यन्' इति कालिदासप्रयोगान्मुच्छप्यत्र गणनीया । 'दर्शन वमदञ्जादिः श्लाघन्तु
सुरभिः चने । हससारसशब्दाभ्यां वर्ण्यते नूपुरचरितः ॥', 'पुंसामत्यन्तपीनत्वमुपगता
दीर्घबाहुता । युगार्थलभुजङ्गेन्द्रदण्डस्तम्भेभहस्तकैः ॥' 'बाहु, बंधुः कपाटेन पिशाचद्वेन
वर्ण्यते । असे विपुलता मध्ये वारस्यमुच्यता पदे ॥', 'स्तनयोरिव योषाणामत्यन्तस्वच्छता
वृद्धि । कान्तिप्रयोजक यावत्तावत्तदवर्ण्यते ॥', 'प्रतापोऽर्वाक्षिजज्ञेयः कीर्तिश्चन्द्रादिनु-
भ्रकेः । करे पद्मोध्वरेखादि पदे च्छम्भजगदिति ॥ गमन इति सिद्धाभ्यां वार्त्तस्य च
मुनादिषु ॥' इति दिक् । विस्तरस्तु तत्तद्वर्णनानियामकमशक्यविशेषयोगानुसारेणानुसंक्षेपः ।
उक्तं च—'कसीनां पटनान्येव चराचरविलक्षणा । अवर्तुमन्यथावर्तुं कर्तुं या धमजे
जगत् ॥' इति ॥

१. औपम्यवाचीति । उक्तं च दृष्टिना—'हवनद्रावशाशब्दा. समाननिमित्तनिभा' ।

१. 'पारस्यदृष्टान्तोपमा' इति ॥ २. 'अशब्द' इति पुनश्चाहो य इति. ३. 'विभववर्ध' उपमाया-
इति पुनश्चाहो.

यथेववादयः शब्दा उपमानानन्तरप्रयुक्ततुल्यादिपदसाधारणा अपि
श्रुतिमात्रेणोपमानोपमेयगतसादृश्यलक्षणसंबन्धं बोधयन्तीति तत्सद्भावे
श्रौत्युपमा । एवं 'तत्र तस्येव' इत्यनेनैवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने ।

यथेवेति । यद्यपि यथादयः शब्दा उपमानवाचकपदात्परं प्रयुज्यमानस्य
तुल्यादिपदस्य साधारणास्तदुपमानोपमेयगतसाधर्म्यबोधकाः, तथापि श्रुतिमा-
त्रेण स्वोपलब्धिमात्रेण न तु पदार्थानुसंधानापेक्षया उपमानोपमेयवृत्तिसाधर्म्यं
बोधयन्तीति हेतोस्तेषां यथादिशब्दानां सद्भावे प्रयोगे धौती उपमेत्यर्थः । अव्य-
यानामन्विताभिधानस्वोपाराद् यथा 'घटो न पटः' इत्यादौ ननुपदं पदार्थो-
पस्थितिमन्तरेणैव पदार्थोपस्थितेः प्रागेव समभिव्याहृतपदार्थयोरन्वितं मेदं बोधयति,
तथा 'कमलमिव सुखम्' इत्यादाविवादपदमपि भवणमात्रेण समभिव्याहृत-
पदार्थयोरन्वितं साधर्म्यं बोधयति । भन्विताभिधानवादिमते । अखण्डवाक्य-
स्याखण्डवाक्यार्थं शक्तिरेकतिरिक्ता कल्प्यते, प्रथमं तथैव वाक्यार्थबोधो जायते,
पश्चादेव शक्त्या लक्षणया वा प्रत्येकपदार्थोपस्थितिरिति भावः । अव्ययानामभि-
हितान्वयाङ्गीकारेऽपि अव्ययातिरिक्तनामार्थयोरभेदातिरिक्तसंबन्धेन साक्षादन्व-
याङ्गीकारादव्ययार्थस्य नामार्थेन साक्षादेवान्वयः संभवतीत्यव्ययपदेनोपमानोपमे-
यभावेऽपि साधारणधर्मसंबन्धोपस्थापनेन विभक्त्यर्थप्रतिबंधानापेक्षेति बोध्यम् ।
एवमिति । 'तत्र तस्येव' इति पाणिनिवृत्तम् । तत्रैव तस्येवेत्यर्थे वतिर्भवतीति

तुल्यसकाशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपकाः ॥ प्रतिपद्प्रतिद्विप्रसन्नीकविरोधिनः । सद्-
वसद्दृशसवादिसजातीयानुवादिनः । प्रतिनिम्बप्रतिच्छन्दसरूपसमसमिदाः ॥ सलक्षण-
सदृक्षाभसपशोपमितोपमाः । कल्पदेशीयदेहादिप्रत्ययप्रतिनिधी अपि ॥ सर्वगतुलितौ शब्दौ
ये चान्मूनार्थवादिनः । समासश्च बहुव्रीहिः शशाङ्कवदनादिषु ॥ स्पर्धते जयति द्वेष्टि दुहति
प्रतिगर्जति । आक्रोशल्यवजानाति कदधेयति निन्दति ॥ निहन्मयति संधये हसतीर्थल्यवसति ।
तस्य मुष्णाति सौभाग्यं तस्य कान्तिं विमुष्पति ॥ तेन सार्धं विगृह्णाति मुष्ठां तेनाधि-
रोहति । तापदम्भां पदं धत्ते तस्य कक्षां विगाहते ॥ तमन्वेत्यनुब्रूयति तच्छीर्षं तं निषे-
धति । तस्य चानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यसूचकाः ॥ उपमावाचिने प्रोक्ताः कवीनां
मुद्रिसौख्यदाः ॥ इति । अभिधया लक्षणया व्यञ्जनया चोपमाप्रतीतिरिति तस्या वाचका
इवादयः, लक्षकाः स्पर्धते हलाद्यः स्पर्धापीना सादृश्ये तनेताद्वरणाद्, व्यञ्जकाः 'तस्य
मुष्णाति सौभाग्यम्' इत्यादयः ॥

१. यथेति । अत्र वाशब्दवद् वशब्दोऽनुपमार्थको बोध्यः । तथा च कालिदासः—
'शाश्व व पयुर्वशः' इति । यद्यपीदं 'शाश्वं च' इति चरटितपाठो बहुत्रोपलभ्यते
तथापि न शक्य इवार्थक-वशब्दोपादानेनैव चमत्कारोत्पत्तेः 'मणी कोट्स' इति भारत-
प्रयोगसमर्थनावसरे मनोरमायां दीक्षितैरुपेक्षितत्वाच्च ॥

२. तत्रेति । तत्रेति सप्तमीसमर्थोत्तयेति षष्ठीसमर्थोच्च इवार्थे वतिप्रत्ययो भवतीति

तुल्यादयस्तु—‘कमलेन तुल्यं मुखम्’ इत्यादावुपमेय एव । ‘कमलं मुखस्य तुल्यम्’ इत्यादावुपमान एव । ‘कमलं मुखं च तुल्यम्’ इत्यादावुभयत्रापि विश्राम्यन्तीत्यर्थानुसंधानादेव साम्यं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे आर्थी । एवं ‘तेन तुल्यं—’ इत्यादिना तुल्यार्थे विहितस्य वतेरुपादाने ।

३. द्वे तद्विते समासेऽथ वाक्ये—

द्वे श्रौती आर्थी च । उदाहरणम्—

तदर्थः । इयार्थकस्य वतेरिवशब्दतुल्यव्युत्पत्तिः, तदुपादानेऽपि धौलेवोपमेयार्थः । आध्यामुपपादयति—तुल्यादयस्त्विति । ‘शब्दा—’ इत्यनुपपन्नः । ‘कमलेन’ इति प्रथमं तृतीया । पञ्चमं ध्यानं कुम्भस्य जलमिति वदाधेयत्वम् । तस्य च तुल्यपदार्थ-कदेशे सादृश्येऽन्वयः । तथा च कमलवृत्तिसादृशश्रयो मुखमित्यर्थः । उपमेय एवेति । ‘विश्राम्यन्ति’ इत्यप्रेषणान्वयः । स्वार्थं बोधयन्तीति तदर्थः । एवकारेण उपमानव्यवच्छेदः । एवं च तुल्यादिपदानामनव्ययतयान्विताभिधानस्वीकारेणार्थ-बोधात्प्राक् पदार्थोपस्थितिमात्रं जनयित्वा उपमेय एव विश्रान्तिः, पश्चात्तुपमान-पदार्थानुसंधानेन तात्पर्यानुसंधानेन चोपमानस्य सादृश्योपमानप्रतीतिरिति भावः । उपमान एवेति । ‘तुल्यादयः शब्दा विश्राम्यन्ति’ इत्यन्वयः । कमलादीनां सुलोपमानत्वं प्रसिद्धमित्यभिप्रायेणेदम् । वस्तुतस्तु कमलमत्रोपमेयमेव । इयमेव विपर्यासोपमेति दृष्टी । विषयविशेषे तुल्यादिपदानामपि पञ्चमार्थानुसंधानं विना-प्युभयसंबन्धिताधर्म्यबोधकत्वमाह—कमलं मुखं चेति । अर्थानुसंधानादे-वेति पञ्चमार्थानुसंधानादुभयसंबन्धतास्य बोधयन्त्येवेत्यर्थः । तुल्यादिपदानामपि क्वचित्पञ्चमार्थानुसंधानं विनाप्युभयसंबन्धतास्यबोधकत्वस्य संग्रहेऽपीकारित्वमेव न तदभावात्तत्सद्भावेन धौत्युपमेति भावः । तुल्यार्थस्य वतेरुपादानेऽप्याधीमाह—एवमिति । ‘तेन तुल्यं—’ इति पामिनिस्त्वम् । वतेरुपादाने आधीति संबन्धः ॥ धौल्यान्नेदेन द्विविधायाः पूर्णोपमायाश्चैविध्यमाह—द्वे इति । तद्विते वत्कल्या-दियोगे । समास इति । इत्येव एवोपमानात्सर्वविभक्त्यानामिवेत्यद्योपविधान-

तदर्थः । सप्तमीसमर्थापथा—मधुरावत्सुमे प्राकारः । मधुरावानिव मधुरावदिति विग्रहः । प्राकारापाधेयापेक्षाधिकरणमिद्वितसप्तमन्ताद्विग्रहस्यविधानम् । मधुरार्था पादृशः प्राका-रत्वेन तुल्यः सुमे प्राकार इत्यर्थः । तृतीयासमर्थापथा—नेत्रकन्नेत्रस्य गावः । नेत्र-सेव नेत्रवदिति विग्रहः । नेत्रादिस्ताम्यपेक्षसंबन्धमिद्वितपञ्चमन्ताद्विः । नेत्रस्य पादृशो गावस्तुल्यो नेत्रसेत्यर्थः ॥

१. तेनेति । ‘तेन तुल्यं विद्या चेद्विः’ इति संपूर्णवृत्तम् । तेनेति तृतीयासमर्थं तुल्य-मित्येवार्थः । कस्यचो भवति, यत्तुल्यं विद्या चेत्मा भवतीति तदर्थः । उपमेयस्य विद्यारते

‘सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य कुम्भाविष्व स्तनौ पीनौ ।’

‘हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा वाले ॥’

अत्र क्रमेण त्रिविधा श्रौती ।

सामर्थ्यात्समासः । स च नित्य एव । ‘नित्यसमासे’ इवयोगे समासगाः । इति काव्यप्रकाशदर्शनादिबार्थस्य विशेषसापेक्षत्वेऽप्यनभिधानवशात्समासः । एवं च प्रतियोगिपदासमभिन्याहारेण यदिवपदं प्रयुज्यते तत्प्रयोनृप्रमादजमेव । वाक्ये यथादिशोरेऽप्रागदकत्वेन समासाभावात्तद्योगे बान्धयगतैवोपमेति भावः । एवं त्रिविधा श्रौती । आर्था तु तद्विषये वदादियोगे तुल्यदिपदसमासस्य वैकल्पिकत्वात्समासे वाक्ये च संभवतीति भावः । समासपक्षेऽपि लुप्तपद्व्यर्थस्य लक्षणया वा प्रतिसंधानादेवोपमानसंरन्ध्रबोध इत्याभ्येव ॥ सौरभमिति । मुखस्य सौरभमम्भोरुहवृत्तिसाधर्म्याभिन्नमित्यन्वयबोधः । यद्वा सौरभमभिन्नमम्भोरुहसाधर्म्यं मुखसंयन्तीति । स्तनौ पीनत्वाभिन्नकुम्भरुत्तिसाधर्म्याभ्रयावित्यन्वयबोधः । एव-

उपमानवाचकाचूरीयान्तात्तुल्यमित्यर्थे वतिप्रत्ययो भवतीति भावः । ‘ब्राह्मणवदधीते धृत्रियः’ इति वदुदाहरणम् । ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवदिति विग्रहः । अध्ययनक्रियाविशेष-णत्वाच्चुल्यमिति द्वितीया नपुंसकत्वं च । ननु ब्राह्मणसादृश्यस्याध्ययनेऽभावात्कथमिह वतिरिति चेत् । न । ब्राह्मणशब्दस्य तत्कर्तृकाध्ययने लाक्षणिकत्वात् । सौष्ठवादिक्षात्र साधारणो धर्मः । तथा च ब्राह्मणकर्तृकाध्ययनतुल्यं धृत्रियकर्तृकं वर्तमानकालिकमध्ययनमिति बोधः । अत्र ‘क्रिया चेत्’ इत्युक्त्या क्रियातुल्यत्वं परास्य भवेः साधुत्वम् । ‘तत्र तत्त्वेव’ इति विहितस्य ॥ गुणमालादिनापि तुल्यत्वे साधुत्वमिति विवेकः । तेन ‘पुत्रेण तुल्यः रथूजः’ इति गुणतुल्ये वाक्यमेव विवृति, न तु वतिरिति बोध्यम् ॥

“ 2. सौरभमिति । ‘अत्राम्भोरुहवन्मुखस्य, मुखस्येवोपमेयम्, सौरभं साधारणो धर्मः । ‘अम्भोरुहवत्’ इत्यत्र ‘तत्र तत्त्वेव’ इति पञ्चम्यादिवाच्ये वतिप्रत्यय इति तद्वित्तगा श्रौती पूर्णा । अम्भोरुहवदस्य तत्संबन्धिः सौरभलक्षकत्वेन अम्भोरुहसंबन्धिसौरभसदृशं मुखसंबन्धिसौरभमिति बोधः । ततः सौरभयोः सादृश्यमूलकामेदाध्ययनसाधेनाभिन्नधर्ममूला अम्भोरुहवन्मुखोपमेयमाश्रयति । ‘अम्भोरुहस्येवास्य सौरभम्’ इत्यादिस्थले पठ्युपपत्तये सौरभपदसादृश्या अम्भोरुहेऽप्यन्वयेन सादृश्यबोधस्यानुभवेन वृत्तावति तथैवोचितत्वात् । कुम्भाविष्वुपमानम्, स्तनमित्युपमेयम्, पीनत्वादिति साधारणो धर्मः, इवशब्द उपना-प्रतिपादकः । ‘कुम्भाविष्व’ इत्यत्र ‘इनेन समासो निभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रत्ययस्वरत्वं च’ इति वार्तिकेन समासे समासगा श्रौती पूर्णा । अत्र काव्यप्रकाशे ‘इनेन—’ इति वार्तिके नित्यपरप्रत्यये वृत्तये च चाप्रानागिक इति तन्नाशनाशरः । अत्र एव ‘उदाहृतेव वामनः’ इत्यादिभ्यश्चप्रयोगः संगच्छन्व इति अनोरमाश्रयत्वम् । इह ‘वीमूलेव भवति प्रवी-कम्—’ इति वैदिकोदाहरणमपि संभवति । अत्र यत्तुचतायायां समासेन, तैषिरीय-तायायामसमासेन पदस्यैः पाठः पठ्यते । अत्र मध्य कश्चेत्तैषिरीयसंज्ञितवोरिति श्रूयते ।

‘मधुरः सुधावदधरः पल्लवतुल्योऽतिकैवल्यः पाणिः ।

चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चंपले च लोचने तस्याः ॥’

अत्र क्रमेण त्रिविधा आर्था ।

पूर्णा पडेव तत् ।

स्पष्टम् ।

लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः ॥ १७ ॥

त्रयाणां चानुपादाने श्रौत्यार्थी सापि पूर्ववत् ।

सा लुप्ता । तद्वदमाह—

मुत्तरप्रापि ॥ सुधावदिति । प्रथमान्तातुल्यार्थे वतिः । पेलवः कोमलः ।
अत्रैकदेशस्याश्लीलत्वेऽपि यापचूनादिशब्दवत्कविनिबद्धप्रयुक्तत्वात् दोषः । अत्र
पेलवपदार्थैकदेशस्य तुल्यपदार्थैकदेशे साम्येऽभेदान्वयो व्युत्पत्तिवैयर्थ्यात् । मन्द-
म्भोजस्यैव मुखस्य सौरभमित्यादौ साधारणधर्मस्योपमानसंबन्धत्वबोधे पञ्चर्मा-
नुसंधानस्यापेक्षणीयतया कथं श्रौतीत्वमिति चेत् । न । नामार्थनिपातयोरन्वयबोधे
विभक्त्यर्थानुसंधानस्यातन्त्रतया तत्र पञ्चा विशेषणविभक्तैरिव प्रयोगसाधुत्वमात्रा-
र्थकत्वात् । अन्यथा ‘चन्द्रादिव मुक्तात्तस्या निरवति कथाभूतम्’ इत्यादौ संबन्ध-
बोधकविभक्त्यभावादानुपमानसंबन्धबोधो न स्यात् ॥ तदिति । उक्तप्रकारदि-
त्यर्थः ॥ लुप्तामाह—लुप्तेति । आदिपदेन उपमानोपमेयेवादीनां ‘संप्रहः । अनु-

तेन समासाभावे तु बाधयोगे श्रौती पूर्णेति बोधम् । कुम्भसादृश्यप्रयोजकरीनत्वादिधर्म-
वन्तो ह्यनानिति बोधः । शरदिन्दुरूपमानम्, वदनमुपमेयम्, मदयतीति मादनं साधारणो
धर्मः, यदेत्युपमाप्रतिपादकम् । अत्र ‘यथासादृश्ये’ इत्यनेनासादृश्ये एव समासनिवमेन
सादृश्ये समासाभावाद्वाक्यमिति वाक्यगता श्रौती पूर्णेति । अत्र यच्चञ्छब्दमकृत्विक-प्रका-
रवान्नि धातुप्रत्ययान्त-प्रभादिशब्दयोगे यद्वर्गवाञ्छरदिमुत्तररूपेव वदननियुभयनिश्चेष्टयो
बोधः, ततो यच्चञ्चा धर्मस्य बोधात्सादृश्यं फलति, इदममादनलक्षणेऽनुगामी साधारणो
धर्म इति तत्त्वम् ॥

१. मधुर इति । सुधा उपमानम्, अधर उपमेयम्, माधुर्यं साधारणो धर्मः, ‘सुधावद’
इत्यत्र ‘तेन तुल्यं—’ इत्यादिना तुलीयान्तात् ‘तुल्यार्थे वतिः’ इति तद्वित्तया आर्था पूर्णा ।
सुधातुल्या-भिन्नो मधुर इति बोधः । तुल्यत्वप्रयोजकं च माधुर्यं पञ्चान्नमसा व्यञ्जनया वा
उच्यते । पल्लव इत्युपमानम्, पाणिर्तुल्युपमेयम्, अतिपेक्षकत्वं साधारणो धर्मः, तुल्य-
पदमुपमाप्रतिपादकम् । ‘पल्लवतुल्यः’ इत्युपमानोपमाप्रतिपादकयोः समासत्वात्समास-
गार्थी पूर्णा । चकितमृगलोचने उपमानम्, लोचने उपमेयम्, चंपलत्वं साधारणो धर्मः
सदृशी इत्युपमाप्रतिपादकम् । सदृशशब्देन सह समासाभावाद्वाक्यमिति वाक्यगता
पूर्णेति ॥

पूर्णावद्धर्मलोपे सा विना श्रौतीं तु तद्धिते ॥ १८ ॥

सा लुप्तोपमा धर्मस्य साधारणगुणक्रियारूपस्य लोपे पूर्णावदिति पूर्वोक्तरीत्या पट्टप्रकारा, किं तत्र तद्धिते श्रौत्या असंभवात्पञ्चप्रकारा । उदाहरणम्—

‘मुखमिन्दुर्यथा, पाणिः पल्लवेन समः प्रिये ।

वाचः सुधा इवोष्ठस्ते बिम्बतुल्यो, मनोऽश्मवत् ॥’

आधारकर्मविहिते द्विविधे च क्यचि, क्यङि ।

कर्मकर्त्रोर्णमुलि च, सादेवं पञ्चधा पुनः ॥ १९ ॥

‘धर्मलोपे लुप्ता’ इत्यनुपज्यते । क्यच् क्यङ्-णमुलः कैलापमते इन्-आदि-णमः । क्रमेणोदाहरणम्—

पादाने । अवाच्यत्वे अप्रयोगे चेति यथासम्भवं बोध्यम् । तद्धिते श्रौत्या असंभवादिति । धर्मस्यानुपादाने तन्निष्ठसंबन्धबोधिरायाः पट्टाः सप्तम्या वानुत्पत्ती तदन्तविहित इवायं वतिर्न संभवति । कल्पादेस्तु तुल्यार्थं विहितत्वेन तद्योगे आध्यैव संभवतीति भावः ॥ अश्मवदिति । अश्मत्तुल्यमित्यर्थः ॥ धर्मलुप्ताया एवोपमायाः पुनरपि पञ्चप्रकारानाह—आधारेति । अधिकरणात्कर्मणश्च विहिते क्यचि ईयप्रत्यये, पुनर्विहिते क्यचि आवि प्रत्यये, कर्मकर्त्रोरुपप-

1. पञ्चेति । वाच्य-समासगतत्वेन द्विविधा श्रौती, वाच्य-समास-तद्धितगतत्वेन त्रिविधातीति मिलित्वा धर्मलोपे पञ्चविधा लुप्तोपमेत्यर्थः ॥

2. मुखमिति । अत्रेन्दुमुखयोरुपमानोपमेययोरालङ्कारादिसाधारणधर्मो नोपाचः, यथाशब्देन समासान्वाधानमिति वाक्यगता धर्मलुप्ता श्रौती । पल्लवग्न्योरुपमानोपमेय-योगादिसाधारणो धर्मो नोपाचः, समशब्देन समासान्वाधानमिति वाक्यगता धर्मलुप्तार्थी । सुधावाचोऽश्मनोपमेययोर्माधुर्यं साधारणो धर्मो नोपाचः, इवेन समास इति समासस्य धर्मलुप्ता श्रौती । बिम्बोष्ठयोऽश्मनोपमेययोरेकस्य साधारणधर्मो नोपाचः, तुल्यशब्देन समास इति समासगता धर्मलुप्तार्थी । मनोऽश्मनोरुपमेयोपमानयोः काटिल्यं साधारणो धर्मो नोपाचः । अश्मवदिति तृतीयान्वाच्यस्यार्थे वतिरिति तद्धितगता धर्मलुप्तार्थीति वेद्यम् ॥

3. कलापेति । कलापो नाम ‘विज्ञेयं वर्णसमाग्रावः’ इत्यादिः ‘अवर्णादूरो वृद्धिः’ इत्यन्तो व्याकरणशेषः । अस्मैव ‘कावप्रम्’ इति नामान्तरम् । उक्तं च—‘अपुना स्वस्वप्रवृत्तौ कावप्रस्यं न वेत्यपि । तदाह न कलापस्य नाद्या कलापकं तथा ॥’ इति । तत्र कावप्रस्येवं न्युत्पत्तिरुच्यते—‘ईदमे हि कुम्भस्य कादेयः । तद्वदने न्युत्पाप-ने नृन्दा भवेनेति तत्र यत्नम्’ इति ॥

अन्तःपुरीयसि रणेपु, सुतीयसि त्वं

पौरं जनं, तव सदा रमणीयते श्रीः ।

दृष्टः प्रियाभिरमृतद्युतिदर्शमिन्द्र-

संचारमत्र मुवि संचरसि क्षितीश ! ॥

अत्र 'अन्तःपुरीयसि' इत्यत्र सुखविहारास्पदत्वस्य, 'सुतीयसि'
इत्यत्र खेदनिर्भरत्वस्य च साधारणधर्मस्य लोपः । एवमन्यत्र ।

दयोर्विहिते णमुलि क्त्वादेरे णमि, विव्रिति इयप्रत्ययस्य संज्ञा ॥ अन्तःपुरीय-
सीति । तुल्यत्वमाचारस्य इयप्रत्ययार्थः । आचारश्चाप्राधिकरणत्वान्वययोग्यक्रिया ।
या च प्रकृते संचाररूपा प्राज्ञा । व्युत्पत्तिवैचित्र्येण तुल्यत्वस्य प्रकृत्यर्थे आचार-
स्याख्यातार्थेऽन्वयः । तथा चान्तःपुरतुल्येषु रणेषु संचारकर्तृत्वान्वयलोपः । 'सुती-
यसि' इत्यादां स्वाचारो नननम्, पौरजनं सुततुल्यं मन्यस इत्यर्थः । 'रमणीयते'
इत्यप्राचारो वर्तेनम्, रमणीतुल्या श्रीवर्तेत इत्यर्थः । 'अत्राल्यन्तापीतत्वस्य उपभो-
गसाधनत्वस्य वा साधारणधर्मस्य लोपः । दृष्ट इति । अमृतद्युतिरिव दृष्ट इत्यर्थः ।
अत्र मनोदात्तादिः साधारणो धर्मः । इन्द्रसंचारमिति । इन्द्र इव संचारी-
त्यर्थः । अत्र विभवाद्यतिशयः साधारणधर्मः । केचित्तु—'कचक्यगोरथे आचा-
रस्यस्यापि विद्यमानत्वाद्धर्मलोपोदाहरणमेतन्न भवति' इत्याहुः । तत्र । आचारस्य
साधारणत्वेऽपि प्रकृते सादृश्यहेतुत्वेन विवक्षणात्, उपदर्शितधर्माणां सादृश्यहेतु-
त्वेन शक्तिरिति प्रतीयमानत्वात् 'चन्द्रायते शुक्रक्यापि हंतः' इत्यादौ सत्यप्याचारे
'शुक्रक्या' इति साधारणधर्मप्रयोगदर्शनाच्च, आचारस्याख्यातार्थान्वितत्वेन निरु-

इह च यथादितुल्यादिविरहाच्छ्रौत्यादिविशेषचिन्ता नास्ति । इदं च केचिदौपम्यप्रतिपादकत्वेनादेर्लोप उदाहरन्ति । तदयुक्तम् । क्यङादेरपि तदर्थविहितत्वेनौपम्यप्रतिपादकत्वात् । ननु क्यङादिषु सम्यगौपम्यप्रतीतिर्नास्ति, प्रत्ययत्वेनास्त्वतत्रत्वाद् इवादिप्रयोगाभावाच्च, इति न वाच्यम् । कल्पवादावपि तथाप्रसङ्गात् । न च कल्पवादीनामिवादि-तुल्यतयौपम्यस्य वाचकत्वम्, क्यङादीनां तु द्योतकत्वम् । ईवादीनामपि वाचकत्वे निश्चयाभावात् । वाचकत्वे वा 'समुदितं पदं वाचकम्'

काङ्क्षतया क्यञ्चक्यङर्थे सादृश्येऽमेष्टान्वयासम्भवेन सादृश्यहेतुत्वायोगाच्च । इह चेति । श्रौतीत्यादिपदेनार्थपरिग्रहः । वस्तुतस्तु यथा तुल्यार्थविहितस्य वतेयोगे आधीत्वम्, तथात्रापि तुल्यार्थविहितक्यञ्चक्यङयोगे आधीत्वम् । ध्रुति शब्दस्तेन साक्षात्प्रतीयमाना श्रौती, तदितरा आधीति वदतश्चण्डीदासस्य मते सुतरामार्थीत्वम् । वतेरितीवाधुपलक्षणम् । कल्पवादेरित्यनुबन्धप्रकारसहितनिर्देशः । निश्चयाभावादिति । तथा चेवादेरव्ययतया उपमावाचकत्वमसिद्धं तत्तुल्यस्य कल्पादे सुतरामेव तदसिद्धमिति भावः । ननु 'कर्ममिव सुखम्' इत्यादाधुप-मालक्षणाव्याप्तिभवेन इवादेरुपमावाचकत्वमवश्यमङ्गीकर्ष्यमित्यभिप्रायेणाह—वाचकत्वे चेति । इवादितुल्यत्वेन कल्पादेरुपमावाचकत्वाङ्गीकारे वैलम्ब्यं । समु

१ केचिदिति । काव्यप्रकाशकारादय इत्यर्थः । तथा बाधु — 'वादेर्लोपे समासे वा क्रमाधारक्यचि क्यङि । कर्मकत्रोणमुत्ति—' इति । तदयुक्तमितादि चण्डीदाममतम् ॥

२ अस्त्वतत्रत्वादिति । 'प्रकृतिप्रत्ययो तद्यर्थं मृत' इति दर्शनेन प्रत्ययानां स्वातन्त्र्येणावबोधकत्वविरहादिति भावः ॥

३ कल्पवादाविति । अत्रेव तत्त्वम्—'ईषदसमाप्तिं कल्पभेदद्वयदेशीयम्' इति सूत्र-विहितस्य कल्पप्रत्ययस्य 'विषकल्प मन —' इत्यादिसामानाधिकरन्धेन निर्देशादीषदसमाप्तिविशिष्टे धर्मा अर्थः । ईषदसमाप्तिश्च किञ्चिन्नूनसकलधर्मसम्बन्धरूपमेव । एवमेवादेर्लोप इति वस्तु न युज्यते, तत्र धर्मलोप एवेति वक्तुमुचितत्वात् । आदिपदेन वतैः परिग्रहः ॥

४ इवादीनामिति । यथाकरणनये औपम्यप्रतिपादकत्वेनेष्टानामिवादीनां वाचकत्वान्नङ्गीकारः । तथाहि—इवादीनां द्योतकत्वमेव, न वाचकत्वम् । विपातस्वादुपसर्गश्च । अत एव 'शरीरैरिवोदीच्यानुद्धरिभ्यस्तस्मिन्' इत्यादाधुष्यदिपदस्योक्तप्रवृत्त्यपत्तेनोक्तसदृशैर्दूरैरिति दूरविशेषणतया वृत्तीयादिसंगतिः । वाचकत्वे वृत्तपदोच्चारं वृत्तीया न संगच्छते । उदाणामुद्धरणक्रिया प्रति वरत्नत्वाभावाद् इवार्थसादृश्यान्वयित्वेन करणीभूतशरविशेषणत्वविरहाच्चेति भूपणे स्पष्टम् ॥

५ वाचकत्व इति । आलङ्कारिकमत इत्यर्थः । अत्रेदमवधेयम्—उपसर्गाणां द्योतक-

‘प्रकृतिप्रत्ययौ स्वस्वार्थबोधकौ’ इति च मतेद्वयेऽपि क्त्यादिक्यङाद्योः साम्यमेवेति । यच्च केचिदाहुः—‘क्त्यादय इवाद्यर्थेऽनुशिष्यन्ते, क्यङादयस्त्याचाराद्यर्थे’ इति । तदपि न । न खलु क्यङादय आचारमात्रार्थाः, अपि तु सादृश्याचारार्था इति । तदेवं धर्मलोपे दशप्रकारा लुप्ता ।

उपमानानुपादाने द्विधा वाक्यसमासयोः ।

उदाहरणम्—

‘तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते न वा नयनतुल्यम् ।

दितं प्रकृतिप्रत्ययसमुदायः, चाचक्रं प्रकृत्यर्थविशिष्टप्रत्ययार्थप्रतिपादकम् । स्वस्वार्थबोधकौ क्रमेण स्वार्थप्रतिपादकौ । क्त्यादीति । आदिपदेन क्त्यादिपरिमहः । साम्यमेवेति । सादृश्यवाचकत्वेन साम्यमित्यर्थः । आचाराद्यर्थ इति । ‘अनुशिष्यन्ते’ इत्यन्वयः । अपि त्विति । किंत्वित्यर्थः । ‘अपि तर्हि’ इति पाठे किं तर्ह्यित्यर्थः । उपसंहरति—तदेवमिति । वस्तुतस्तु ‘चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसः’ इत्यादौ साधारणधर्मोपादानेऽपि क्यङादियोगे उपमादर्शनादार्थ्या उपमायास्तद्वितादिन्नित्यगतत्वात् क्यङादिपञ्चकगतत्वेन विशेषो बोध्यः । एवं चाष्टप्रकाराया आर्था धर्मलोपलोपाभ्यां षोडशप्रकारत्वं बोध्यम् । क्यङादिपञ्चके धर्मलोपे उदाहरणं यथा—‘धीरः प्रीतिकरत्वेन पर्यङ्गीयति मयके । मित्रीयति परं प्रेम्णा भक्त्या देवायते, नृणाम् ॥ देवदर्शं जनैः साधुः प्रतीक्ष्यत्वेन दृश्यते । कृपया विष्णुसचारं नित्यं सचरति क्षितौ ॥’ अथ तृतीयान्तपदार्थानां क्यङाद्यर्थे सादृश्येऽभेदेनान्वयः ॥ उपमानलुप्तामुपमामाह—उपमानेति । ‘लुप्तोपमा’ इत्यनुपपन्नः ॥ न चेति । न वा नयनतुल्यं रम्यमास्त इत्यन्वयः । अन्यथा

स्वनिष्ठमेव । अन्यथा उपास्यते हरः, अनुभूयते सुखम्, इत्यादौ भावार्थान्तनभवनक्रियमोरफर्णकत्वेन कर्मलकारोपपत्तिर्न स्यात् । इत्यादीनां तु वाचकत्वमेव । उपसर्गवाचकतायामिवेवादिवाचकतायां प्रतिबन्धकराहित्येन दृष्टान्तवैषम्यस्य सङ्गात्वाद् विशेषप्रतिषेधयोरेकविभक्तिरूपे विशेष्येण सहकार्यं भवेद्यत्र विशेषणम् । तत्र छिन्नारवः प्रायो विशेष्यत्वात् विशेषने ॥ इत्यनुशासनस्यबोधमानोपमेययोरपि तत्र ‘छिन्नसंस्थाविभेदेऽपि उपमानोपमेयता । विभक्तिः पुनरेकैव उपमानोपमेययोः ॥’ इत्यनुशासनस्य जागरूकत्वेन ‘चरिषीः—’इत्यादाउपमानपदोत्तरतृतीयादेः उपपादकत्वाच्च । प्रायोमद्वयेन ‘दिग्गजे ध्रुवन्ते मदमतिगण्डाः करटिनः करिण्यः कारुण्यापदम्—’ इत्यादौ विशेष्यविशेषणयोश्चिन्नादिभेदेऽपि न काचिदनुपपत्तिरित्यन्यत्र भिन्नरः ॥

१. क्यङादय इति । अयमभिप्रायः—‘कर्तुः क्यङ् सलोपश्च’ इत्यत्र ‘उपमानादाचारे’ इत्यत्र उपमानपदमनुवर्तते, तेनैवापेक्षादृश्यादपि बोधे सादृश्याचारार्थः वदिति ॥

अत्र मुखनयनप्रतिनिधिवस्त्वन्तरयोग्यमानत्वादुपमानलोपः । अत्रैव च 'मुखेन सदृशं' इत्यत्र 'मुखं यथेदं', 'नयनतुल्यं' इत्यत्र 'दृगिव' इति पाठे श्रौत्यपि संभवतीति । अनयोर्भेदयोः प्रत्येकं श्रौत्यार्थात्वमेवेन चतुर्विधत्वसंभवेऽपि प्राचीनानां रीत्या द्विप्रकास्त्वमेवोक्तम् ।

औपम्यवाचिनो लोपे समासे किपि च द्विधा ॥ २० ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

'वदनं मृगशावाक्ष्याः सुधाकरमनोहरम् ।'

'गर्दभति श्रुतिपरुषं व्यक्तं निनदन्महात्मनां पुरतः ।'

अत्र 'गर्दभति' इत्यत्रौपम्यवाचिनः किपो लोपः । न चेहोपमेयस्यापि लोपः । 'निनदन्' इत्यनेनैव निर्देशात् ।

द्विधा समासे वाक्ये च लोपे धर्मोपमानयोः ।

'तस्या मुखेन' इत्यादौ 'रम्यं' इति स्थाने 'लोके' इति पाठेऽनयो-
रुदाहरणम् ।

किप्समासगता द्वेधा धर्मेवादिविलोपने ॥ २१ ॥

धर्मोपमानलोपोदाहरणमिदं स्यात् । प्रतिनिधीति । सरसोत्तर्यः ॥ इवादिलुप्ता-
माह—औपम्येति । यत्र कालपादिभिरायलोपः कियते तत्र पाणिनीयैः किब-
नुशिष्यते ॥ वदनमिति । मृगशावस्याक्षीवाक्षि यस्या इति बहुमीहावक्षिपदलोपः ।
इवार्थस्य समासगम्यतया इवपदाप्रयोगः । चञ्चलत्वस्य शब्दानुपात्तत्वालोप इतीदं
वक्ष्यमाणत्रिलोपोदाहरणम् । सुधाकर इव मनोहरमिति 'उपमानानां सामान्यवा-
चिभिः' इति कर्मधारयः । एतदेव प्रकृतोदाहरणम् ॥ किपि उदाहरति—गर्द-
भतीति । गर्दभ इवाचरतीत्यर्थे किपि चिद्वार्थत्वात्तलोपः । यथा 'ग्रामभूत'
इत्यादौ किपो लोपेऽपि कर्तृत्वस्य वाच्यत्वं तथेहापि सादृश्यस्येति सामान्यलक्षण-
गमनम् । अत्र श्रुतिपरुषनिनादः साधारणधर्मः शब्दोपात्त एव । निर्देशादिति ।
उपमेयस्येत्यनेनान्वयः ॥ एवमेकलोपामुपमासुक्त्वा द्विलोपामाह—'लुप्तोपमा'

१. सुधाकरेति । 'सुधाकर इव मनोहरम्' इति विग्रहे 'उपमानानि सामान्यवचनैः'
इत्यनेन समास इति समासगेवादिलुप्ता । इह पूर्वपदं तत्सदृश्ये लाक्षणिकमिति सूचयितुं
लौकिकविग्रहे इवशब्दः प्रयुज्यते स च न लुप्यते, किंतु समासेनैवोपमाविधानात्
'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायेन प्रयोगाभावालोपव्यवहार इत्यवश्यम् ॥

२. गर्दभतीति । 'गर्दभ इवाचरति गर्दमति' इत्यत्र 'सर्वप्रतिपदिकेभ्यः किच् वा
वक्तव्यः' इति वार्तिकेनोपमानवाचकाद् गर्दभपदादाचारेऽर्थे, किम्बल्लयः तस्य सर्वोपहा-
रिलोपविधानादिकेनो वादिलुप्ता ॥

उदाहरणम्—

‘विधवति मुखाब्जमस्याः’

अत्र ‘विधवति’ इति मनोहरत्व-किप्प्रत्यययोरलोपः । केचित्त्रापि प्रत्ययलोपमाहुः । ‘मुखाब्जं’ इति च समासगा ।

उपमेयस्य लोपे तु स्यादेका प्रत्यये क्यचि ।

यथा—

‘अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः ।

कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥’

अत्र ‘सहस्रायुधमिवात्मानमाचरति’ इति वाक्ये उपमेयस्यात्मनो लोपः । न चेहौपम्यवाचकलोप उक्तादेव न्यायात् । अत्र केचिदाहुः— ‘सहस्रायुधेन सह वर्तत इति ससहस्रायुधः स ह्वाचरतीति वाक्यात्स-सहस्रायुधीयतीति पदसिद्धौ विशेष्यस्य शब्दानुपात्तत्वादिहोपमेयलोपः’ इति । तत्र विचारसहम् ? कर्तरि क्यचोऽनुशासनविरुद्धत्वात् ।

धर्मोपमेयलोपेऽन्या—

यथा—

‘यशसि मत्सरति भवतः क्षीरोवीयन्ति सागराः सर्वे ।’

अत्र क्षीरोदमिवात्मानमाचरन्तीत्युपमेय आत्मा साधारणधर्मः शुक्लता च लुप्तौ ।

इत्यनुपपद्यते । एवमप्येऽपि ॥ विधवतीति । विधुरिच-चरतीत्यर्थः । मुपमञ्जति-वेति ‘व्याप्रापैस्तद्गुणस्तुल्यस्य’ इति कर्मधारय । अनेवादिस्तीरभाषोर्लोपः । एवं ‘शशाङ्कवदना’ इत्यादियदुमीहावप्येतदुदाहरणं बोध्यम् ॥ उपमेयस्यात्मन् इति । कर्मक्यचोर्योगे कर्मण एवोपमेयत्वं तस्याप्रयोगे तथेति भावः । उक्तादे-वेति । क्यजादेः सादृश्यबोधकत्वव्यवस्थापनादित्यर्थः । अनुशासनविरुद्धत्वा-

१. विधवतीति । विधुरिवाचरति मिथवति निधुसदृशो नवति ॥

२. मुपमञ्जमिति । ‘मुपमञ्जनिव’ इति विग्रहे ‘उपमित व्याप्रापैभिः सामान्याप्र-योगे’ इत्यनेन समासः । अयं समास उपमानोपमेययोः समानदिशत्वं एव भवति निमित्तलिङ्गत्वे मयूरम्बस्रजदित्वात्समासः स च रूपरूप इति दोस्तदात्री सिद्धम् ॥

३. सहस्रायुधमिति । अत्र ‘उपमानादाचारे’ इत्यनेनोपमानवाचकत्वात्सहस्रायुधमिति कर्मपदादाचारोऽयं क्यच् । आचारेऽत्र दुर्नयत्वादिः । तथा च सहस्रायुधमिवात्मानमा-चरतीत्यर्थादामात्रोपमेयः । यद्यपीह स इति तच्छब्देन साध्यानुपात्तः कर्तृनोपमेयत्वप्राप्ति-कर्मणोपमेयभूत आत्मा कर्मत्वेन नोपात्त इति यथोक्तोदाहरणम् ॥

४. कर्तरीति । ‘उपमानाद्-’ इति शब्देन कर्मण्येव क्यचोऽनुशासनविरुद्धः ॥

त्रिलोपे च समासः ॥ २२ ॥

यथा—

‘राजते मृगलोचना ।’

अत्र मृगस्य लोचने इव चञ्चले लोचने यस्या इति समासे उपमाप्रति-
पादकसाधारणधर्मोपमानानां लोपः ।

तेनोपमाया भेदाः स्युः सप्तविंशतिसंख्यकाः ।

पूर्णा पङ्क्तिश्च लुप्ता चैकविंशतिविधेति मिलित्वा सप्तविंशतिप्रका-

दिति । अनुशासनाभावादित्यर्थः ॥ त्रिलोपे धर्मोपमानेवादिलोपे ॥ समास
इति । अत्र लोचनपदस्यैव समासे लोपो विहितः । अन्ययोस्तु गम्यमानत्वम् ॥
सेनेति । उक्तप्रकारप्रपञ्चेनेत्यर्थः । एकविंशतिविधेति । धर्मलोपे दश, उपमा-

१. मृगलोचनेति । मृगलोचने इव लोचने यस्या इति विग्रहे ‘सप्तस्युपमानपूर्वपदस्य
बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च’ इति वार्तिकेन बहुव्रीहौ उपमानवाचके ‘मृगलोचने’ इति
सप्तम्यन्ते पूर्वपदे ‘लोचने’ इत्युत्तरपदस्य लोपः । एव च लोचनेत्युपमानस्यानुशासनिक-
इवशब्द-चञ्चलत्वलक्षणसाधारणधर्मयोर्ध्वच्छिन्नो लोप इति त्रिलोपे समासगा । यद्यप्यत्र
लोचनपदस्यैवोपमानवाचकत्वं तथाप्यवयवधर्मेण समुदायस्य व्यपदेशान्मृगलोचनपदस्यो-
पमानपूर्वपदत्वमवश्यम् । ‘अनेकमन्त्रपदाभे’ इति सूत्रेण समानाधिकरणानामेव बहुव्री-
हिविधाने क्वचिदुत्तरपदलोपार्थं क्वचिदधिकरणानामपि बहुव्रीहिविधानार्थमुत्तरपदलो-
पार्थं च ‘सप्तमी—’ इत्यादिवार्तिकारम्भः । तत्र सप्तमीपूर्वपदस्य यथा—कण्ठेस्यः का-
लोऽस्य कण्ठेवाळः । ‘अभूर्ध्वमस्तकात्—’ इति सप्तम्या अनुक्तं । पदयोः सामानाधिकरण्याद्
बहुव्रीहौ सिद्धेऽप्युत्तरपदलोपार्थम् । उपमानपूर्वपदस्य यथा—उग्रमुग्रमिव मुग्रमस्य
उग्रमुग्रः । अवयवधर्मेण समुदायस्य व्यपदेशाद् उग्रस्योपमानत्वेत्युपमानपूर्वं उग्रमुग्रशब्दः
उपमानोपनेयश्चास्वात्पदयोर्वयधिकरणमिति बहुव्रीहार्थमुत्तरपदलोपार्थं च वचनमिति
भाष्यकैयटयोः स्पष्टम् । मृगपदस्य लोचने लक्षणेति नवे तु देवमुदाहरणम् ॥

२. एकविंशतिविधेति । प्रायोऽभिप्रायमेतत् । तथाहि—‘कोटिल इवावपति कोटि-
लालापिनी’ इत्यत्र ‘कठेयुपमाने’ इति गिनिप्रत्यये, ‘वज्रा पुरुषः सोऽयं यः सहित
नैव जानीते’ इत्यत्र वज्रा दृग्पुरुष इत्यसिप्रथमे ‘इमे प्रतिकृते’ इति कन्प्रत्यये ‘नुम्-
नुभ्ये’ इति लुङ्विधाने, ‘आह्लादि वदन तस्याः उरदाकाशशङ्कति’ इत्यत्र आचारकिति
पदान्तरेण प्रतिपादिते समाने धर्मेऽपि वाचकतुष्टा संभवति । ‘यथोराणामस्य च समा-
गमो यद्य त्वैवोऽस्य ठुतः । उपनतमेतदकस दधीद्वत् काकतालीयम् ॥’ इत्यत्र काकता-
लशब्दो वृत्तिविषये काकतालसमवेतक्रियावर्तिनौ । तेन काकागमनमिव ताडपवनमिव
काकतालमितीश्वरे ‘समासाच्च तदिष्यात्’ इति घापह्यारम्भेति समासः । उभयशो-
भमेयं क्रमेण देवदत्तागमन चोरसमागमस्य । तेन देवदत्तचोरसमागमः काकतालसमा-
गमसदृश इति फलति । ततः ‘काकतालमेव काकतालीयम्’ इति द्वितीयसिन्निवापे

रोपमा । एषु चोपमाभेदेषु मध्येऽलुप्तसाधारणधर्मेषु भेदेषु विशेषः प्रति-
पाद्यते—

एकरूपः क्वचित्कापि भिन्नः साधारणो गुणः ॥ २३ ॥

भिन्ने विम्बानुविम्बत्वं शब्दमात्रेण वा भिदा ।

एकरूपे यथा उदाहृतम्—‘मधुरः सुधावदधरः—’(५०८५.) इत्यादि ।

विम्बप्रतिविम्बत्वे यथा—

‘भस्त्रपवर्जितैस्तेषां शिरोभिः समश्रुलैर्महीम् ।

तस्त्वार सरघाव्यासैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥’

नलोपे द्वे, औपम्यवाचिलोपे द्वे, धर्मोपमानलोपे द्वे, धर्मैवादिलोपे च द्वे,
उपमेयलोपे धर्मोपमेयलोपे, धर्मैवाद्युपमानलोपे चैकैकेत्येकविंशतिविधेत्यर्थः ॥

एकरूप इति । जातिवन्नान्यत्विक्त्वे एव । गुणादिरित्युपाधि-
क्त्वादिमतेनेदम् । यद्वा एकजातीय इत्यर्थः । एवं च क्वचिदेकजातीयत्वेन

क्वचित्सादृश्यत्वेनैकोपचारादुभयवृत्तित्वं विवक्षणीयम् । गुणः साधर्म्यम् । भिन्ने

भिन्नसाधारणधर्मे । विम्बस्य सादृश्यस्य अनुविम्बत्वं प्रतिधानगम्यत्वम् । एकधर्म-
सौकर्यव्देनोपादानं प्रायेण क्वचिच्छब्दभेदेनाप्युपादानं संभवतीत्याह—शब्द-

मात्रेण वेति । कमेणोदाहरति—मधुर इति । एतद्वृत्त्यर्थे । कियैवत्वे यथा—
‘वीर्यं गच्छति पण्डोऽयं वत्स्येषां वीर्यं पुमानिव ।’ भस्त्रेति । भस्त्रेण यागविशेषेण

अपवर्जितैः कृतैः । तेषां यवनानाम् । तस्त्वार ह्यदयामास । सरघा मधुमक्षिका-

अत्र 'श्मश्रुलैः' इत्यस्य 'सरघाव्यासैः' इति दृष्टान्तवत्प्रतिविम्बनम् ।
शब्दमात्रेण भिन्नत्वे यथा—

‘स्मेरं विधाय नयनं विकसितमिव नीलमुत्पलं मयि सा ।
कथयामास कृशाङ्गी मनोगतं निखिलमाकृतम् ॥’

अत्रैके एव स्मेरत्वविकसितत्वे प्रतिवस्तूपमावच्छब्देन निर्दिष्टे ।
एकदेशविवर्तिन्युपमा वाच्यत्वगम्यते ॥ २४ ॥

भवेतां यत्र साम्यस्य—

यथा—

‘नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैर्मुखैरिव सरःश्रियः ।

पदे पदे विभान्ति स्म चक्रवाकैः सूनैरिव ॥’

अत्रोत्पलादीनां नेत्रादीनां सादृश्यं वाच्यं सरःश्रीणां चाङ्गनासाम्यं
गम्यम् ।

कथिता रसनोपमा ।

यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ॥ २५ ॥

स्वाभिर्भ्यासैः क्षीद्रपटलैर्मधूत्पत्तिस्थानैः ‘मौचाक’ इति प्रसिद्धैः । श्मश्रुलैरित्य-
स्येति । दृष्टान्तालङ्कारे यथा वाक्यार्थयोरिवावभासात्सादृश्यं प्रणिधानगम्यं तथा-
प्रापि श्मश्रुसरपयोः । अत्र इयमत्यविशेषः सादृश्यहेतुः । एवं च ‘सादृश्यहेतु-
गुणक्रिये’ इत्यस्योपलक्षणतया द्रव्यस्यापि साधारणधर्मत्वमवगन्तव्यम् ॥ स्मेर-
मिति । आकृतमभिप्रायम् । एके एवेति । संख्यार्थादेकशब्दाद् द्विवचनासंभवादयं
पाठो न युक्तः । किं तु ‘अत्रैकमेव प्रफुल्लत्वं प्रतिवस्तूपमावद् विभिन्नाभ्यां स्मेरविक-
सितशब्दाभ्यां निर्दिष्टम्’ इति पाठो बोद्धव्यः । एकक्रियायाः शब्दभेदेनोपादाने
यथा—‘प्रकाशते मुखं तस्याश्चन्द्रमा दीप्यते यथा ।’ नन्वन वाक्यैक्याभावा-
रूपमुपमेति चेत् । न । यथा ‘अमावास्यायां भ्रातृं कुर्याद्, रात्रौ भ्रातृ न पुत्रांत’
इत्यत्र संभेदेनान्यतरवैयर्थ्यमिति न्यायेन रात्रौतरत्रामावास्यायां भ्रातृं कुर्यादित्ये-
कवाक्यत्वं तथाप्राप्त्येव वाक्यत्वस्वीचरात् ॥ प्राचीनैरस्वीकृतमपि प्रमाणसिद्धा-
भेदेदशविवर्तिनीमुपनामाह—एकदेशेति । यत्र चास्म्ये कस्यचित्साम्यं वाच्यं
फलपक्षिद्वयं तत्रैकदेशवर्तिन्युपमेत्यर्थः । इयं चैकदेशविवर्तिरूपकवत्साहचर्याङ्गि-
नः सादृश्य एव संभवति ॥ नेत्रैरिवेति । अङ्गना इव सरःश्रियः पदेपदे प्रतिवस्तु
विभान्ति स्म । अत्र नेत्रादिप्रयमुपमानस्य उत्पत्त्यदिप्रयमुपमेयस्याङ्गम् ॥ रसनो-
पनामाह—कथितेति । यथोर्ध्वमिति । पूर्वोपमायां यदुपमेयमुत्तरेपमायां

1. रसनेति । यथा खञ्ज रचनायां पूर्व वमभिप्रायाः शुद्धपण्डितायाः परप्रपनाव-
सरे परान् तपेरात्र पूर्वपूर्वोपमेयस्योपमानत्वमवगन्तव्यं यदाय परपरमाप्तिरेति उक्तम् ॥

यथा—

‘चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसो हंसायते चारुगतेन कान्ता ।
कान्तायते स्पर्शमुखेन वारि वारीयते स्वच्छतया विहायः ॥’
मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते ।

यथा—

‘वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी ।
यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा ॥’

कचिदुपमानोपमेययोरपि प्रकृतत्वं दृश्यते—

‘हंसश्चन्द्र इवाभाति जलं व्योमतलं यथा ।

विमलाः कुसुदानीव तारकाः शरदागमै ॥’

‘अस्य राज्ञो गृहे भान्ति भूपानां ता विभूतयः ।

पुरंदरस्य भवने कल्पवृक्षभवा इव ॥’

तस्योपमानता- यदि स्यादित्यर्थः । इयं साधारणधर्मस्याभेदे भेदे च सम्भवतीति द्विधा ॥ तत्रार्थो यथा—‘महीमृतो वदान्वस्य भारतीवामला मतिः । चेष्टा मतिरिव स्वच्छा चेष्टेव गुणसंततिः ॥’ अत्र स्वच्छत्वमेकमेव साधारणो धर्मः ॥ द्वितीया- माह—चन्द्रायत इति । चन्द्र इवाचरतीत्यर्थः ॥ मालोपमाह—मालो-पमेति । वह्निलेकापि कपरम् । तेन ‘ता हंसमालाः शरसीव गङ्गां महीपथीर्न-चामिदात्मभासः । स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रवेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥’ इत्यावाधुपमाद्वयेऽपि, मालात्वमशतम् । इयमपि पूर्ववद्विधा । तत्राद्यामाह—वारिजेनेति । अत्र मनोहरत्वमेकमेव सादृश्यहेतुः । द्वितीया यथा—‘ज्योत्स्नेव नयनामन्दः सुधेव मदस्मरणम् । प्रभुतेव समारुष्टतर्पलेव नितम्बिनी ॥’ अत्र नेनानन्दजननादयो विभिन्नधर्मा एव सादृश्याद् हेतवः ॥ उपमेयस्य प्रकृतत्वमु-पमानस्याप्रकृतत्वं प्रायिकमित्यभिप्रायेणाह—कचिदिति । प्रकृतत्वं वर्णनीयस्यो-त्कर्षावायकत्वेनाकाङ्क्षितत्वम् ॥ हंस इति । हंसादय इव चन्द्रादयोऽपि वर्णनी-यशरत्कालस्योत्कर्षाधायकत्वेनावाङ्मिता । ‘विमल्य’ इति पाठो न रमणीयः, भिनल्लिङ्गतया कुसुदानीत्युपमानान्वयायोग्यत्वात् । तस्मात् ‘लघन्ति’ इति पाठो द्रष्टव्यः ॥ प्राचीनसमतानाक्षेपोपमादीनुपमाप्रकारान्वैचित्र्यातिशयानाधायकत्वेनोपेक्ष-माण आह—अस्य राज्ञ इति । कल्पवृक्षभवाः कल्पवृक्षोत्पन्ना विभूतय इत्यर्थः ॥

१. मालेति । यथा काचिन्माला सजातीयैः कुसुमैः काचिच्च विजातीयैर्निर्मियते तथै-वेयमपि सजातीयैर्विजातीयैर्वा बहुभिरुपमानैरिति भावः । एकस्य उपमेयस्यैत्यर्थः ॥

१. ‘यथा’ पुस्तकान्तरे नास्ति २. ‘वदन्त्यु मृगयोरैकधर्माभिन्न-परस्परवैचित्र्ययोगितेरेव न दृश्याः । एव चायं यथैवपुस्तकयोगितुल्ययोगिताद्योनेन त्वार्थत्वेन न सौव एवेत्यपेक्षम् ।’ इति मुद्रितपुस्तकेऽपि कश्चि-

अत्रोपमेयमूतविभूतिभिः 'कल्पवृक्षभवा इव' इत्युपमानभूता विभू-
तय आक्षिप्यन्त इत्याक्षेपोपमा । अत्रैव 'गृहे' इत्यस्य 'भवने' इत्यनेन
प्रतिनिर्देशात्मप्रतिनिर्देश्योपमा । इत्यादयश्च न लक्षिताः । एवंविधवै-
चित्र्यस्य सहस्रधा दर्शनात् ।

उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः ॥ २६ ॥

अर्थादेकवाक्ये ।

यथा—

‘राजीवमिव राजीवं, जलं जलमिवाजनि ।

चन्द्रश्च इवातन्द्रः, शरत्समुदयोद्यमे ॥’

आक्षिप्यन्त इति । ‘कल्पवृक्षभवाः’ इति विशेषणेनोपस्थिता विभूतय एवा-
क्षिप्यन्त इत्यर्थः । एवंविधेति । यथाकथंचिद्वैचित्र्यविशेषाणां परिच्छेत्तुमश-
क्यतया तत्प्रयोजकप्रकाराणामपि परिच्छेदो न संभवतीति भावः ॥ अनन्वयालं-
कारमाह—उपमानेति । नन्वेतद्वसनोपमायामुपमेयोपमायां चातिव्याप्तमत
आह—अर्थादिति । पारिशेष्यादित्यर्थः । रसनोपमायां ‘यथोर्ध्व-’ इत्यनेन
उपमेयोपमायां ‘पर्यायेण-’ इत्यनेनैकवाक्यत्वाभादेकवाक्य एवास्य विषय इति
भावः । ननूपमेयोपमायां ‘द्वयोः’ इत्युपादानात्कथमतिव्याप्तिरिति चेत् । न । तत्र
प्रत्येकपदार्थस्यापि पर्यायेणोपमानोपमेयसम्भवात् ॥ अतन्द्रो निर्मलः ॥ ननूप-

१. इत्यादय इति । भाचार्यदण्डिना काव्यादर्शस्य द्वितीयपरिच्छेदे उपमाचक्रेऽने-
कविधा उपमा निरूपिताः, तत्र काश्चन भङ्गो न्युत्पत्तुभिराकलनीयाः ॥

२. अनन्वय इति । न विद्यतेऽन्वय उपमानान्तरेण संबन्धो यत्र सोऽनन्वयः । स
च पूर्णो लुप्तश्चेति द्विविधः । पूर्णस्तूपमानवश्विधोऽपि संभवति । यथा—‘गङ्गा दृष्या
यथा गङ्गा गङ्गा गङ्गेव पावनी । हरिणा सहस्रो बन्धुर्हरितुल्यः परो हरिः ॥ गुरुबहुसरा-
राधो गुरुबह्वारवं गुरोः ॥’ छन्दोऽपि धर्मलुप्तः पञ्चविधोऽपि संभवति । प्रागुक्तधर्मलोके
‘गङ्गा राजन्वधा गङ्गा गङ्गा गङ्गेव सर्वदा । हरिणा सहस्रो विष्णुर्विष्णुतुल्यः सदा हरिः ॥
गुरुबहुसरास्तोऽसिन्मण्डले गुरुबहुरोः ॥’ इति पदान्तरदाने तथा वाचकलुप्तः । ‘रामाय-
माणः धीरामः सीता सीतामनोदध । ममान्त-करणे नित्य विहरेता जगद्गुरु ॥’ इत्यत्र
वयस्समासयोः । यवम् ‘लङ्कापुरादतितरां कुपितः फणीव निर्मल जातु पृतनापतिभिः
परीतः । क्रुद्धं रणे सपदि दाशरथिं दशास्यः सरन्धदाशरथिदशमहो ददधे ॥’ एवं
कर्तृणमुत्पादानपञ्चान् । ‘अम्बरलम्बरं यद्वत्समुद्रोऽपि समुद्रति । विक्रमार्कमहीपाल
तथा त्वं विक्रमार्कसि ॥’ इत्यत्र वाक्यार्थवयवेषु त्रिष्वन्वयेषु धर्मवाचकयोर्लोपः । मुख्य-
वाक्यार्थस्त्वनन्वयफलेन निरूपमत्वेन समानधर्मेण प्रयोजितो मालोपमेव । ‘पतावति
प्रपञ्चेऽसिन्सदेवासुरमानुषे । केनोपमीयतां तज्जै रामो रामपराक्रमः ॥’ अत्र वाचक-
धर्मोपमानां लोपः ॥

अत्र राजीवादीनामनन्यसदृशत्वप्रतिपादनार्धमुपमानोपमेयभावो वैवक्षिकः । 'राजीवमिव पाथोजम्' इति चास्य लाटानुप्रासाद्विविक्तो विषयः । किं त्वत्रोचितत्वादेकशब्दप्रयोग एव श्रेयान् । तदुक्तम्—

'अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुपपन्निकम् ।

अस्मिन्स्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम् ॥' इति ।

पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता ।

एतदुपमानोपमेयत्वम् । अर्थाद्वाक्यद्वये ।

यथा—

'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला, तनुरिव विभा विभेव तनुः ।'

घरणीव धृतिर्धृतिरिव घरणी, सततं विभाति वत यस्य ॥'

मानोपमेयभावो भेद एव संभवति, कथमेकस्यैव च इत्यत आह—राजीवादीनामिति । वैवक्षिक आरोप्य विवक्षितः । ननु लाटानुप्रासविषयविनिर्माणेणास्य विषयो न संभवतीति तद्वाचकोऽयमेव स्यादित्यत आह—राजीवमिति । विविक्तो विषय इति । तथा चायं संभवद्विषयान्तरत्वाच्च वाचक इति भावः । उचितरत्नादुपमानोपमेयभेदस्य सति प्रतिपत्त्युपपत्तत्वात् । श्रेयानतिप्रशस्तो न तु नियतः ॥ औचित्यात्प्रशस्तत्वात् । आनुपपन्निकमनियतम् । साक्षादेव स्वयमेव । प्रयोजकं वैचित्र्यावायकम् ॥ उपमेशोपमामाह—पर्यायेणेति । क्रमेणेत्यर्थः । रसनोपमायामेकस्यैव क्रमेणोपमानोपमेयभाव इति तद्वारणाय 'द्वयोः' इति । 'मुखमिव कमलम्' इत्यादौ युगपदेव द्वयोः उपमानोपमेयत्वमिति तद्वारणाय 'पर्यायेण' इति । अत्र सादृश्यहेत्वभेद इत्यपि बोध्यम् । तेन 'पल्लवमिवारुणं करतलं करतलमिव कौमलं प्रलम्बम्' इत्युपमाद्वयव्यवच्छेदः । अस्या वैचित्र्यं दर्श-

१ उपमेयोपमेति । पूर्ववाक्यप्रतिपादितसाधारणधर्ममेव साधारणधर्मोक्त्य पूर्ववाक्यप्रतिपादितेनोपमेयेन पूर्ववाक्यप्रतिपादितस्योपमानस्योपमा उपमेयोपमा । उपमेयेनोपमा यत्रेति वा । इयं च तावदुक्तधर्मा व्यक्तधर्मा च । तत्रोक्तधर्मा अनुगाम्यादिधर्मैरेनेकधा । धर्मस्तानुगामित्वे 'कथमेव मतिः—' इत्युदाहरणम् । इह स्तुष्टीयत्वं त्रिविधत्वं विपुलत्वं च साधारणधर्माः । धर्मस्य निम्बप्रतिबिम्बभावापन्नत्वे रमणीयस्तनकश्रुता विलसितवक्षीन-सुगलशालिन्यः । उत्तिका इव वा वनिता वनिता इव रेखरे उत्तिकाः ॥' इत्युदाहार्यम् । अथ रमणीयत्वविलसितवक्षीन्या विशेषणान्या सुगलशालिवाभ्यां विशेष्याभ्यां परस्पर-वस्तुप्रतिबस्तुभावापन्नान्या संपुष्टिः स्तनकस्तनकभ्यः परस्पर-विम्बप्रतिबिम्बभावापन्नो धर्मः । 'गिरिरिव गजराजोऽयं गजराज इवोच्चरैर्विभाति गिरिः । निश्वर इव मदधारा मद-धारेवास्य निश्वरः सञ्चति ॥' इयं व्यक्तधर्मा प्रकृताप्रकृतविषयेत्यन्यत्र विस्तरः ॥

अत्रास्यं राज्ञः श्रीवुद्ध्यादिसदृशं नान्यदस्तीत्यभिप्रायः ।

सदृशानुभवादस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ॥ २७ ॥

यथा—

‘अरविन्दमिदं वीक्ष्य खेलत्स्वजनमञ्जुलम् ।

सरामि वदनं तस्याश्चारु चञ्चललोचनम् ॥’

‘मयि सकपटं—’ (१५७७.) इत्यादौ च स्मृतेः सादृश्यानुभवं विनो-
त्थापितत्वाच्चायमलंकारः । राघवानन्दमहापात्रास्तु वैसादृश्यात्स्मृति-
मपि स्मरणालंकारमिच्छन्ति । तत्रोदाहरणं तेषामेव यथा—

‘शिरीषमृद्वी गिरिषु प्रपेदे यदा यदा दुःखशतानि सीता ।

तदा तदास्याः सदनेषु सौरयलक्षाणि दध्यौ गलदस्तु रामः ॥’

रूपकं रूपितारोपाद्रि (पो वि)पये निरपह्नवे । ५५३

यति—अस्य राज्ञ इति । स्मरणालंकारमाह—सदृशेति । सदृशानुभवस्य
स्मृतिं प्रति संस्कारोद्बोधकत्वेन कारणत्वम् । संस्कारस्तु धस्त्वनुभवबाहुत्पन्नः ।
सदृशेति संबन्धिज्ञानादिजन्यस्मृतिवारणाय । तेन ‘भवदभिमतवस्तून्याकि-
रन्त्याः समन्तात्सरसिजदलतल्पं ममरं कल्पयन्त्याः । इतकण्ठ । वयस्या जीवनो-
पायमस्याः स्मरणमविरलं ते हन्त सपादयन्ति ॥’ इत्यादौ संबन्धिज्ञानजन्य-
स्मरणस्य नालंकारत्वम् । एवं चिन्ताजन्यस्मृतेरपि नालंकारत्वमित्याह—मयीति ।
स्मृत्याख्यव्यभिचारिभावस्योदाहरणमिदम् । वैसादृश्याद्विरुद्धानुभवात् । तेषां
राघवानन्दमहापात्राणाम् । शिरीषेति । गलदस्तु यथा स्यात्तथा दध्यौ स्मृतवान् ।
अत्र वैपरीत्यसंबन्धेन संबन्धिनो ज्ञानं संस्कारोद्बोधकम् ॥ ‘रूपकालंकारमाह—
रूपकमिति । अत्र ‘रूपितारोपात्’ इति पुनश्चान्तपाठः प्रामादिकः । अर्था-
संगतेः । प्रथमान्तपाठस्तु रमणीयः । प्रकृतगोपनमपह्नवः, ततः शब्दे विपये उपमेये
रूपितस्योपमानस्यारोपात्तादात्म्याध्यासाद्रूपकनामालंकार इत्यर्थः । ननुपमानोपमेय-
योर्भेदमनुभवतां कथं तादात्म्याध्यास इति चेत् । न । आहार्यस्यैव तादृशा-
रोपस्य रूपकालंकारत्वस्वीकारात् ॥ तदुक्तं चण्डीदासेन रूपकप्रकरणे—‘अलंकार-
धात्राहार्यस्तादात्म्यारोप इत्यवधेयम्’ इति । न चातिसाम्बादपह्नवभेदयोरभेदो
रूपकमिति काव्यप्रकाशदर्शनात्तदानीं भेदप्रतीतेरभावात्कथमाहार्यत्वम् । बाध-
कालीनेच्छाजन्यज्ञानस्यैवाहार्यत्वाद्भीमारादिति वाच्यम् । शान्दस्य भेदानुभवस्य
तदानीमसत्त्वेऽपि आनुमानिकस्य मानसस्य भेदप्रत्ययस्य सत्त्वात् । ननु ‘गौर्वाहीकः’

१—१. रूपकमिति । रूपयत्युपमानोपमेययोरभेदारोपेणैकतां नयतीति रूपकम् । यथा
‘मुखं चन्द्रः’ इत्यादौ मुखैवचन्द्रत्वरूपधर्मवत्त्वोपलक्षितयोर्मुखचन्द्रयोरभेदारोपः ॥

१. ‘भावाः’ कं २. उपमेये उपमानाभेदारोपस्यैव रूपकत्वाद्भीमारादं यत्र तत्प्रयुक्तस्यार्थान्तरस्य ।
इति पाठो मुद्रितपुस्तके. ३. ‘चण्डीदासेन’ इति नास्ति पुस्तकान्तरे. ४. ‘न चाति—’ इत्यादि
‘—बोध्यमानोपमेययोः’ इति । इत्यतः पाठः पुस्तकांतरे नास्ति.

‘रूपित-’ इति परिणामाद् व्यवच्छेदः । एतच्च तत्पस्तावे विवेच-
यिष्यामः । ‘निरपहवे’ इत्यपहृतिव्यवच्छेदार्थम् ।

तत्परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा ॥ २८ ॥

तद्रूपकम् ।

तत्र—

यत्र कस्यचिदारोपः पारोपणकारणम् ।

तत्परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ॥ २९ ॥

प्रत्येकं केवलं मालारूपं चेति चतुर्विधम् ।

श्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलपरम्परितं यथा—

‘आहवे जगदुद्दण्ड ! राजमण्डलराहवे ।

श्रीनृसिंहमहीपाल ! स्वस्त्यस्तु तव बाहवे ॥’

अत्र राजमण्डलं नृपसमूह एव, चन्द्रविम्बमित्यारोपो राजबाहौ राहु-
त्यारोपे निमित्तम् । मालारूपं यथा—

इत्यादावपहृतभेदयोरुपमानोपमेययोस्तादात्म्यारोपस्य कथं न रूपकत्वमिति न

वाच्यम् । तस्य विच्छिन्तिमिशेषात्जनकत्वेन रसाद्युपकारकत्वाभावात् । केचित्तु—

‘विषयस्य प्रादुर्निर्देशे रूपकस्य व्यवहारः, परनिर्देशे तु गौणीव्यवहारः’ इत्याहुः ।

तत्र । ‘निर्माणकौशलं चातुष्यमिन्द्रा लोकचक्षुषाम् । कीडाष्टहमनज्ञस्य सेवसिन्धो-
चरेक्षणम् ॥’ इत्यादौ विषयस्य प्रादुर्निर्देशाभावेऽपि रूपकव्यवहारात् । रूपितस्य

अपहृतभेदोपमानस्य निरपहवे प्रतिषेधश्च न्ये विषये उपमेये आरोपस्तादात्म्या-

रोपो रूपकमित्यर्थः । अत एवोक्तं काव्यप्रकाशकारेण—‘रूपकं स्वादभेदो य

उपमानोपमेययोः’ इति । परिणामादिति । ‘अस्य’ इति शेषः ।

एतच्च रूपकपरिणामयोर्वैलक्षण्यं च । परिणामे ह्यारोप्यमाणस्य प्रकृतो-

पयोगित्वेनाप्रकृतत्वनियतोपमानत्वस्य बाधाद्रूपितपदेन तदवच्छेद इति भावः ।

विषय इत्यस्य वाच्य इति विशेषणं बोध्यम् । तेन ‘ज्वातामूले लीनो हरिणपरिहीनो

हिमकरः स्वयं हाराकारा गच्छति जलधारा कुवलात् । पुनीते वग्धूकं तिलकुमुम-

जन्मा हि पवनो बहिर्बारे पुष्पं परिणमति कस्यापि कृतिनः ॥’ इत्यादौ निगीने-

विषये सुखादौ निष्कलङ्कचन्द्राद्युपमानतादात्म्यारोपरूपातिशयोक्तौ नातिव्याप्तिः ।

रूपकमेवासाह—तदिति । कार्यकारणभवेत्तस्या परम्परा संजाता अस्मैति

परम्परितम् । साङ्गं सावयवम् । निरङ्गं निरवयवम् । परम्परितरूपकमाह—

यत्रेति । तस्यापि द्वेभिष्यमाह—श्लिष्टेति । श्लिष्टशब्दनिबन्धनमश्लिष्टशब्दनिबन्धनं

१. मालेति । श्लिष्ट मालारूपपरम्परित रूपकमित्यर्थः ॥

१. ‘परिणमनशब्दे’ क. ख. ग. २. ‘विचारविधान’ क. ३. ‘माता’ क. ख. ४. ‘मात’
इति नाति क पुष्पे.

‘पद्मोदयदिनाधीशः सदागतिसमीरणः ।

भूमृदावलिदम्भोलिरेक एव भवान्मुनि ॥’

अत्र पद्माया उदय एव पद्मानामुदयः, सतामागतिरेव सदागमनम्, भूमृतो राजान एव पर्वता इत्याधारोपो राज्ञः सूर्यत्वाधारोपनिमित्तम् ।

अश्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलं यथा—

‘पान्तु चो जलदश्यामाः शार्ङ्गज्याघातकर्कशाः ।

त्रैलोक्यमण्डपस्तम्भाश्चत्वारो हरिबाहवः ॥’

अत्र त्रैलोक्यस्य मण्डपत्वारोपो हरिबाहूना स्तम्भत्वारोपे निमित्तम् ।

मालारूप यथा—

‘मनोजराजस्य सितातपत्रं श्रीखण्डचित्रं हरिदङ्गनायाः ।

विराजते व्योमसरःसरोजं कर्पूरपूरममिन्दुबिम्बम् ॥’

अत्र मनोजादे राजत्वाधारोपश्चन्द्रबिम्बस्य सितातपत्रत्वाधारोपे निमित्तम् । ‘तत्र च राजभुजादीनां राहुत्वाधारोपो राजमण्डलादीनां चन्द्रमण्डलत्वाधारोपे निमित्तम्’ इति केचित् ।

अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत् ॥ ३० ॥

समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ।

तत्र—

आरोप्याणामशेषाणां शाब्दत्वे प्रथमं मतम् ॥ ३१ ॥

चेत्यर्थः । पुनरपि तस्य द्वैविध्यमाह—प्रत्येकमिति । त्रिरुक्तमेदयोरेकैकमित्यर्थः ॥ आहव इति । जगदुरल्लपदण्ड यस्मात्तत्संबोधने तथा ॥ इत्यारोप इति । अत्र शेषेण रूपरूपकयोर्द्वयोरेवाभिधानं शाब्दसाम्यरूपसादृश्यमूलं प्रथम रूपकम् । तेन राजमण्डलपदवाच्योपमर्दकत्वरूपसादृश्यनिबन्धन द्वितीय रूपकमिति भावः ॥ पद्मायाः सपद उदय उपार्जनम् । पद्मपक्षे प्रकाशः ॥ तत्र चेति । राजमण्डलादीनां सरूपसादृश्याच्चत्वं साम्यं प्रसिद्धमारोपकारणम् । बाहुराजादीनां तु सादृशधर्मान्तरमप्रसिद्धमित्यस्वरस ‘केचित्’ इत्यनेन सूचितम् ॥ साङ्गरूपकमाह—अङ्गिन इति । रूपणमुपमानतादात्म्यारोपः । तस्य द्वैविध्यमाह—समस्तेति । समस्तानि वस्तूनि आरोप्यमाणानि विषया शब्दोपात्तानि यत्र तत् । आरोप्याणामिति । बहुवचनमविवक्षितम् । ‘सूत्रे लिङ्गं सरूपा कालथातन्त्राणि’ इति न्यायात् । तेन ‘दन्ताशुके शरालीभिस्तस्या भाति मुखाम्बुजम्’ इत्यादे समग्रः । शाब्दत्वे शब्दोपात्तत्वे ॥ रावण एवा-

१. ‘जगदुरल्लपदण्डराजमण्डलराहवे’ इति समस्तं तु शोभनम् ॥

१ ‘शब्द’ इति नास्ति कश्चि पुस्तकयो २. ‘रूप’ इति नास्ति क पुस्तके. ३. ‘एव च’ घ-
४. ‘अत्र’ इत्यादि—‘भाव’ इत्यतः पाठो पुस्तकान्तरे नास्ति.

प्रथमं समस्तवस्तुविषयम् । यथा—

‘रावणावग्रहकान्तमिति वागमृतेन सः ।

अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥’

अत्र कृष्णस्य मेघत्वारोपे वागादीनाममृतत्वादिकमारोपितम् ।

यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्ति तत् ।

कस्यचिदारोप्यमाणस्य । यथा—

‘लावण्यमधुभिः पूर्णमास्यमस्या विकस्वरम् ।

लोकलोचनरोलम्बकदम्बैः कैर्न पीयते ॥’

अत्र लावण्यादौ मधुत्वारोपः शब्दः, मुखस्य पद्मत्वारोप आर्थः ।
न चेयमेकदेशविवर्तिन्युपमा विकस्वरत्वधर्मस्यारोप्यमाणे पदो मुख्यतया
वर्तमानान्मुखे नोपचरितत्वात् ।

निरङ्गं केवलस्यैव रूपं तदपि द्विधा ॥ ३२ ॥

मालाकेवलरूपत्वात्—

‘वमहो पृष्ठिप्रतिबन्धरुत्वेन ह्यन्तम् । वागमृतेन वाग्जलेन अभिवृष्य प्रीणयित्वा,
पक्षे अभिविष्य । मरुतेन एव सस्यं ग्रीवादि । कृष्णे विष्णुरेव मेघः । अत्र
कृष्णोऽग्नी, वागाद्यत्रम् । मेघत्वारोपस्य शब्दत्वत् अमृतत्वाद्यारोपितत्वस्य शब्द-
त्वम् ॥ एकदेशविवर्तिसाङ्गरूपकमाह—यत्रेति । आर्थत्वमर्थवशत्तन्मत्वम् । ‘कस्य-
चित्’ इत्यनेनान्यस्य शब्दत्वत्प्रसङ्गः । ‘धौता आर्थाश्च’ से यस्मिन्नेकदेशविवर्ति
तत् इति काव्यप्रकाशदर्शनात् अन्वयस्याप्येतद्व्यञ्जनघटवत्त्वं योज्यम् ॥ रोलम्बो
भ्रमरः । ‘इन्द्रिन्दिरस्तु रोलम्बध्वजरीको मधुमतः’ इति हारावली ॥ न चेयमिति ।
समभिव्याहृतपदार्थस्य मुख्यतया वृत्त्यान्वयसंभव एवैकदेशविवर्तिनोरुपमारूपकयो-
रन्यतराग्रीकारे धीजम् । ‘मुखपद्मं विकस्वरम्’ इत्युपमाग्रीकारे क्रियाविशेषशालि-
त्वरूपविकस्वरत्वस्य मुखे बाधात्कान्तिविशेषे लक्षणाप्रसङ्गः । ‘मुखमेव पद्मम्’ इति
ह्यन्यग्रीकारे तु विशेष्ये पक्षे विकस्वरत्वस्य मुख्यतया वृत्त्यान्वयः संभवति ।
‘दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपद्मशोभिनी । केशपाशालिवृन्देन सुवेपा हरिणेशणा ॥’
इत्यत्र रूपकाग्रीकारे भूषणादिकृतशोभाविशेषस्य लतायां बाधाच्छोभामात्रे लक्ष-
णाप्रसङ्गः । उपमाग्रीकारे तु मुख्यतया वृत्त्यान्वयः संभवतीति । एतादृशं विशेष-
मनवलोक्त्यैव केचिदेकदेशविवर्तिनीमुपमांमेकदेशविवर्तिरूपक एवान्तर्भावयन्ति ।
केवलस्यैव न साङ्गस्य । तदपि निरङ्गरूपकमपि ॥ मालेति । मालारूपत्वात् केवल-

1. एकदेशेति । एकदेशेतिऽदे विवर्तनाद् विशेषतो वर्तनात् अर्थादारोप्यमाणस्य
सर्वत्र अन्वयप्रसङ्गत्वे एकाशेषवत्तन्मत्वस्य विशेषस्य सङ्गावादेकदेशविवर्तीति
साधकमभिप्रायम् ॥

तत्र मालारूपं निरञ्जं यथा—

‘निर्माणकौशलं धातुश्चन्द्रिका लोलचक्षुषाम् ।

क्रीडागृहमनङ्गस्य सेयमिन्दीवरेक्षणा ॥’

केवलं यथा—

‘दासे कृतागसि भवेदुचितः प्रभूणां

पादप्रहार इति सुन्दरि ! नात्र दूये ।

उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै-

र्यस्त्रिघते मृदु पदं ननु सा व्यथा मे ॥’

तेनाष्टौ रूपके भिदाः ।

‘चिरंतनैरुक्ताः’ इति शेषः । कचित्परम्परितमप्येकदेशविवर्ति,

यथा—

‘खञ्जः क्षमासौविदलः समिति विजयते मालवाखण्डलस्य ॥’

अत्रार्थः क्षमायां महिपीत्वारोपः खञ्जे सौविदलत्वारोपे निमित्तम् ।

अस्य भेदस्य पूर्ववन्मालारोपत्वेऽप्युदाहरणं मृग्यम् ।

दृश्यन्ते कचिदारोप्याः श्लिष्टाः साङ्गेऽपि रूपके ॥ ३३ ॥

रूपत्वापेक्षार्थः ॥ निर्माणकौशलं वराङ्गनासृष्टिव्युत्पत्तिः । सौन्दर्यातिशयसंपादकत्वमे-
वानयोः साम्यं तन्मूलक एवायमारोपः । अत्रेन्दीवरेक्षणाया एव रूपणं न तु तदङ्ग-
स्यापि ॥ दासे इति । मानिनीं प्रसादयितुस्तत्पादादृतस्य नायकस्योक्तिरियम् । अत्र
पादप्रहारे । मृदु पदमिति । ‘तव’ इति शेषः । तव पादप्रहारेऽपि मम पुलको भ-
वति, तथापि मयि तव क्रोध इति भावः ॥ सौविदलोऽन्तः पुरपालकः कक्षुकी । क्षमायां
महिपीत्वारोपो राजभोग्यत्वरूपसाम्यमूलकः ॥ मृग्यमिति । छत्रं सितं शम्बरशास्त्र-
मस्य श्रीखण्डचित्रं हरितोऽवलायाः । विराजते चारु नभःसरोजं कर्पूरपूरप्रभमिन्दु-
बिम्बम् ॥’ अत्र शम्बरशस्त्रवादे राजत्वाद्यारोप आर्यश्चन्द्रबिम्बस्य सितच्छत्रत्वारोपे

१ अष्टाविति । रूपकं तावद्विधम्—साङ्गं निरञ्जं परम्परितं चेति । तत्र साङ्गं सप्त-
स्वस्त्युविधम्, एकदेशविवर्तितं चेति द्विविधम् । निरञ्जमपि केवलं मालारूपं चेति द्वि-
धम् । परम्परितं तु श्लिष्टाश्लिष्टश्चन्द्रबिम्बनतया द्विविधं सप्तत्येकं केवलं मालारूपं चेति
चतुर्विधमिति संकलनेऽष्टौ रूपकभेदाः ॥

२. राज्ञ इति । यत्पादवर्णी तु ‘पर्यङ्को राजलक्ष्म्या हरितमणिमयः पौष्पाग्वेत्तरङ्गो
भस्मप्रलम्बिवशोऽवधविजयकरिस्त्यानदानाम्नुपट्टः । सङ्ग्रामत्रासवाम्यन्मुखपतिवशोऽंसनी-
लाङ्गुवाहः-’ इति ॥

तत्रैकदेशविवर्ति लिष्टं यथा मम—

(करमुदयमहीधरस्तनाभे गलिततमःपटलांशुके निवेश्य ।

विकसितकुमुदेक्षणं विचुम्बत्ययमग्रेसरदिशो मुखं सुधांशुः ॥)

समस्तवस्तुविषयं यथा—अत्रैव 'विचुम्बति—' इत्यादौ 'चुचुम्बे हरिदवलामुखमिन्दुनायकेन' इति पाठे । न चात्र लिष्टपरम्परितम् । अत्र हि 'भूमृदावलिदम्भोलिः—' (५२३) इत्यादौ राजादौ पर्वतत्वाचारोपं विना वर्णनीयस्य राजादेर्दम्भोलितादिरूपणं सर्वथैव सादृश्याभावादसंगतम् । तर्हि कथं 'पद्मोदयदिनाधीशः—' इत्यादौ परम्परितम्, राजादेः सूर्यादिना सादृश्यस्य तेजस्वितादिहेतुकस्य समवात्—इति न वाच्यम् । तथा हि—राजादेस्तेजस्वितादिहेतुकं सुव्यक्तं सादृश्यं न तु प्रकृते विवक्षितम् । पद्मोदयादेरेव द्वयोः साधारणधर्मतया विवक्षितत्वात् । इह तु महीधरादेः स्तनादिना सादृश्यं पीनोत्तुङ्गत्वादिना सुव्यक्तमेव—इति न लिष्टपरम्परितम् । क्वचित्समासाभावेऽपि रूपक दृश्यते—

'मुखं तव कुरङ्गाक्षि ! सरोजमिति नान्यथा ॥'

क्वचिद्वैयधिकरण्येऽपि यथा—

'विदधे मधुपश्रेणीमिह' भूलतया विधिः ॥'

क्वचिद्वैयधर्म्येऽपि—

'सौजन्याभ्युमरुस्थली सुचरितालेख्यद्युभित्तिर्गुण-

ज्योत्स्नाकृष्णचतुर्दशी सरलतायोगधपुच्छच्छटा ।

वैरेयापि दुराशया कलियुगे राजावली सेविता

तेषां शैलिनि भक्तिमात्रसुलभे सेवा कियत्कौशलम् ॥'

निमित्तम् । करमिति । कर किरणमेव हस्तम् ॥ पद्मोदयादेरेव पद्मोदयादिशब्दस्यैव । द्वयोः रूप्यरूपकयो राजादिसूर्याद्यो ॥ नन्वन शब्दसाम्यविवक्षावशात्प्रविद्धतेजस्वितादिरूपसाम्यविवक्षयास्तु 'नैलोक्यमण्डपस्तम्भा' इत्यादौ तु दीर्घत्वपीवस्त्वादिसाम्यसम्भवेनान् वन्मूलक एव सम्भत्वाचारोपोऽस्तु नैलोक्यादौ मण्डपत्वाचारोपस्य उत्तारणत्वस्वीकारेण किमिति चेत् । न । स्वम्मा यथा मण्डपभारसहिष्णवस्तथा हरिचाहवन्नैलोक्यभारसहिष्णव इति साम्यस्यैव प्रकृते विवक्षितत्वात् । तच्च नैलोक्यादौ मण्डपत्वाचारोप विना दुर्बोधम् । समासाभावेऽपीति । अत एव दण्डिना व्यस्त समस्त व्यस्तसमस्त चेति त्रिविध रूपकशुक्रम् । विदध इति । 'भूलतया' इत्यभेदे तृतीया । अन्यथा तदात्म्यारोपो न स्यात् ॥ सौजन्येति । सुचरितमे-

इदं मम । अत्र केषांचिद्रूपकाणां शब्दरूपमूलत्वेऽपि रूपकविशेष-
तत्वादर्थालंकारमध्ये गणनम् । एवं वक्ष्यमाणालंकारेषु बोध्यम् ।

अधिकारूढवैशिष्ट्यं रूपकं यत्तदेव तत् ।

तदेवाधिकारूढवैशिष्ट्यसंज्ञकम् । यथा मम—

‘इदं वक्रं साक्षाद्विरहितकलङ्कः शशधरः

सुधाधाराधारश्चिरपरिणतं बिम्बमधरः । —

इमे नेत्रे रात्रिदिवमधिकशोभे कुवलये

तनुर्लावण्यानां जलधिरवगाहे सुखतरः ॥’

अत्र कलङ्कराहित्यादिनाधिकं वैशिष्ट्यम् ।

विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ॥ ३४ ॥’

वाल्लेख्यं चित्रम्, शुभित्तिराकाशकुञ्जम् । सरलता कौटिल्यराहित्यमेव वाक्षि-
प्यम् । तस्या योगे श्वपुच्छच्छटा कुकुरलाङ्गलकुण्डली । भक्तिमानुसुलभे केवल-
यापि भक्त्या प्राप्ये ॥ अत्र केषांचिदिति । साधनस्य शेषस्य शब्दालंकारत्वेऽपि
साध्यत्वेन प्रधानसार्थालंकारमध्ये गणनमिति भावः । वक्ष्यमाणानां शेषापह्नवारी-
नाम् ॥ अधिकारूढवैशिष्ट्यं रूपकमाह—अधिकारूढेति । अधिकमलार्थमारूढं
वैशिष्ट्यं विशेषणं यत् तदित्यर्थः ॥ सुधाधाराधार इति बिम्बस्य विशेषणम् । कलङ्क-
रहितत्वादिविशेषणं चन्द्रादिरत्यन्तासंभवीति तत् तदारोपणादधिकारूढवैशिष्ट्यम् ।
‘कलङ्कराहित्यादिना’ इत्यभेदे तृतीया । परिणामालंकारमाह—विषयात्मतयेति ।

१. वैशिष्ट्यमिति । अभेदमप्यनुसंधेयम्—‘विषयभेदताद्रूप्यरजन विषयस्य यत् ।
रूपकं तन्निधाऽऽधिव्यन्यूनात्वनुमोकिभिः ॥ (१) अथ हि भूर्जटिः साक्षाद् येन
दग्धाः पुरः क्षणात् । (२) अयमास्ते विना शुभुस्तार्तीयकं विलोचनम् ॥’ (३)
शुभुर्विश्रमवलय स्त्रीकृत्य समदृष्टितम् । (४) अस्मा मुखेन्दुना लब्धे नेत्रानन्दे किमि-
न्दुना ॥ (५) साध्वीयमपरा लक्ष्मीरमुधासागरोदिता । (६) अयं कलङ्कित-
श्चन्द्रान्मुखचन्द्रोऽतिरिप्यते ॥’ इति । इत्योपमेयस्य राक्षो विषयस्य पूर्वपदत्वविशेषणेन
तत्सिद्धयमानस्य भगवतो भूर्जटिविशेषिणोऽभेदरूपणात्, उपमानस्योपमेये. न्यूनाधिक-
भावावर्णनाच्च प्रथममनुमेषाभेदरूपकम् ॥ तार्तीयकविरोचनज्ञानोक्त्या न्यूनाता-
पादनेन द्वितीय न्यूनाभेदरूपकम् । ‘तीयादीवक् स्वायं वाच्यः’ इति वार्तिकेन तृती-
यायै ईकम् ॥ समदृष्टितास्तीकारेण विश्रावणोक्त्या भगवतो राजन्याधिव्यलाभात्तृतीय-
मधिकाभेदरूपकम् । अत्र समदृष्टिपद छिद्यम् ॥ एवमस्या मुखेन्दुसत्त्वे प्रतिबेन्दो-
रनावश्यकत्वमापाद्य मुखेन्दोश्च नेत्रानन्दजनकत्वरूपप्रतिबेन्दुकार्यकर्तृत्वमात्रनिर्वाधनेन
न्यूनात्वाधिकत्वयोरनुपादानादनुभयताद्रूप्यरूपकं चतुर्थम् ॥ भगवत्या लक्ष्याम-

१. ‘इदं मम’ इति कल्ल पुल्लरयोर्नास्ति. २. ‘अत्र च’ घ. ३. ‘शशरूपक’ घ. ४. ‘मम’
इति नास्ति क पुल्लके.

परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा ।

प्रकृतार्थोपयोगिनि वस्तुनि विषयतादात्म्येनारोप्ये सति परिणाम इत्यर्थः । प्रस्तुत-
प्रयोजनसाधनत्वेन प्रसिद्धिरेव प्रकृतार्थोपयोगित्वम् । रूपके सदृशवस्तुनस्तादात्म्यं
विषये भासते । इह तु सजातीयफलसाधनतया विषयस्य तादात्म्यमारोप्यमाणे
भासत इति विशेषः ॥ तुल्याधिकरणः समानाधिकरणः । सच समानविभक्तिक-
पदद्वये प्रयोज्यः । विभिन्नविभक्तिकपदद्वयप्रयोज्यो व्यधिकरण एव तुल्याधिकरणः ॥

परेति विशेषणयोगात्ताद्रूप्यमात्रं सुधासागरोत्पत्तिमत्त्ववैकल्यं च दर्शितमिति न्यूनताद्र-
ूप्यरूपकं पञ्चमम् ॥ अत्र कान्ध्यालंकारसूत्रेषु चामनः—‘एकगुणहानिकल्पनायां
साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः ॥’ एकस्य गुणस्य हानेः कल्पनायां श्रेयैर्गुणैः साम्यं यत्तस्य
दार्ढ्यं विशेषोक्तिः । रूपकं चेदं प्राप्तेनेति । यथा—‘भवन्ति यत्रापथ्यो रज्ज्यामर्तै-
सपूराः सुरतमवीणाः ॥’ ‘धृतं हि नाम पुरुषस्त्वार्तिहासनं राज्यम् ॥’ ‘निद्रेयमकमला
लक्ष्मीः ॥’ ‘हस्ती हि जङ्घने दुर्गम् ॥’ अत्रापि जङ्घमशब्दस्य स्वावरत्नविभूतिमतिपाद-
कत्वादेकगुणहानिकल्पनेन । एतेन ‘वेद्या हि नाम मूर्तिमत्त्वेन निष्कृतिः ।’ ‘व्यसनं
हि नाम सोऽष्टासं मरणम् ।’ ‘दिनो मूर्तिमद्गरुडः ।’ इत्येवमाविश्वेकरुणहानिकल्पना
व्याख्याता ॥ अथ, प्रसिद्धचन्द्रामुखचन्द्रस्य दोषरहितरूपाधिवयवर्तनादधिक-
ताद्रूप्यरूपकं पञ्चमिति कुवलयानन्दे ॥ अथात्र रूपके ‘दिर्भावः पुष्पकेतो, विजुषविठ-
पिनां पौनरुत्थं, विकल्पक्षित्तारसस्य, वीप्सा तपनतनुमुक्तो, वासवस्य द्विरक्तिः । ईतं
देवस्य दैत्याधिपमधनकला केलिकारस्य, कुर्वन्प्रानन्दं कोविशानां, जगति विजयते श्रीनृ-
सिंह-क्षितीन्द्रः ॥’ इति चित्रमीमांसादत्तं परिणामोदाहरणं केचिन्निक्षिपन्ति ।
केचित्तुनरिदमेवं परिवर्तयन्ति—‘दिर्भावः कमलापतेर्भगवतो, वीप्सा दुष्पारमुदैर्द्वं
भानुमतो, द्विरक्षिप्रमरक्षोणीरहाणां परा । वैकल्यं कलिकर्मपापहरणस्वारान्य-
चिन्तामणैः भीमान् पञ्चमज्जान एव सुकवी सम्राज्यदेन्द्रायते ॥’ इति ॥

१. परिणाम इति । अत्राहुः शैलरक्षराः—‘उपमानप्रतियोगिकाभेदो रूपकम् ।
उपमेयप्रतियोगिकाभेदः परिणामः । प्रतीपवचनभावे उपमेयप्रतियोगिकत्वत्पर्ययादकं
प्रकृतकार्योपयोगः । न तु तच्छरीरेऽस्य प्रवेशः । एवं च यत्रोपमानस्य स्वात्मनेव प्रकृत-
कार्योपयोगे अत्र बोधासीनता तत्र रूपकमेव । इत्थं च परिणामो विशेषणतमासायत्तः ।
रूपकं मयूरन्यसकादिसमासायत्तं ‘मुपचन्द्रः’ इत्यादौ । यदि तु चन्द्रमुखमिति विप्रयुज्यते
तदा विशेषणसमासायत्तमपि रूपकमिति । परे तु—‘उपमानोपमेयपदानामुपमानप्रतियोगि-
काभेदसंसर्गं बोधकानां ‘मयूरन्यसकादयश्च’ इति समासेन विशेषणसमासबाधायच्छ्रु-
तमिति प्रयोग एव नेति वदन्ति । किंच । आरोप्यमाणो यत्र विषयात्मयैव प्रकृतकार्यो-
पयोगी, न सातत्त्वेन स किल परिणामः । अत्रच विषयभावे आरोप्यमाणे क्षुपयुज्यते,
रूपके तु नैवमिति विशेषः । ‘वदनेनेन्दुना तन्वी सरतायं विजुम्पति’ इत्यादितदुदाहरणे
सरतापनाशनसामर्थ्यं मुखात्मनेवेन्दोः शीघ्रसंतापहारकत्वाद्रमणीयशोभामयत्वाच्चन्द्रवि-
पदतशोभा च इति । तत्र चतुरसरा रुन्वी वदनपादात्म्यप्रतीतेर्वर्णनीयमुखापचतुरस्रकवेना-
लंकारत्वाभावात् ॥

उपायनं च उपनिषत्सु च उपनिषत्सु च

आरोप्यमाणस्यारोपविषयात्मतया परिणमनात्परिणामः ।

यथा—

‘सितेनोपायनं दूरादागतस्य कृतं मम ।

स्तनोपपीडमाश्लेषः कृतो धूते पणस्तया ॥’

अन्यत्रोपायनपणौ वसनाभरणादिभावेनोपयुज्येते । अत्र तु नाय-
कसंभावनधूतयोः सिताश्लेषरूपतया । प्रथमार्धे वैयधिकरण्येन प्रयोगः,
द्वितीये सामानाधिकरण्येन । रूपके ‘मुखचन्द्रं पश्यामि’ इत्यादा-
वारोप्यमाणचन्द्रादेरुपरज्जकतामात्रम्, न तु प्रकृते दर्शनादावुपयोगः ।
इह तुपायनादेर्विषयेण तादात्म्यं प्रकृते च नायकसंभावनदावुपयोगः ।

संज्ञावीजमाह—आरोप्यमाणस्येति । परिणमनात् परिणतबुद्धिविषयीकरणात् ।
बुद्धेः परिणामधानाहार्यत्वे सति धाराबाहिकत्वम् । रूपके आहार्य एव सकृदभेदबुद्धिः,
अनन्तरं तादृर्म्यप्रतीतिरेव न त्वभेदबुद्ध्यन्तरम् । इह तु वस्तुनोरेकार्यकारित्वेना-
त्यन्ततिरस्कृतभेदयोरभेदप्रतीतिधारेति भावः । इह प्रायेण भवत्यर्थस्य करोत्यर्थस्य
वा धातोः प्रयोगः । तत्र भवत्यर्थस्य प्रयोगो यथा—‘तिरस्करिष्यो जलदां
भवन्ति’ । अत्र योपिद्वात्रावरणरूपप्रस्तुतप्रयोजनसाधनत्वेन असिद्धे पटविशेषे
आरोप्यमाणे तत्साधनस्य जलदस्य तादात्म्यारोपः । यथा वा—‘मन्दो गन्धवहः
क्षारो बहिरिन्दुश्च जायते । चर्चा चन्दनपङ्क्तस्य शल्यधातः प्रवासिनाम् ॥’ अत्र
देहदाह्यदिरूपप्रस्तुतप्रयोजनसाधनत्वेन असिद्धे वस्तुनि क्षारादावारोप्यमाणे तत्साध-
नस्य गन्धवहादेर्विषयस्य तादात्म्यारोपः । करोत्यर्थप्रयोगे परिणाममाह—सिते-
नेति । तृतीयात्राभेदे । उपायनं मेष्यादि प्रीत्यर्थं वीयमानं द्रव्यम् । स्तनोपपीडं
स्तनावुपपीड्य । तत् इत्यत्र कृत इति पाठो न रमणीयः । कथितपदत्वदीपप्रसङ्गात् ।
पराजये एतहातव्यमित्यङ्गीकृतं द्रव्यं पणैः । आरोप्यमाणयोः प्रकृतोपयोगित्वेन
प्रसिद्धिं विषयतादात्म्यारोपं चोपपादयति—अस्यचेति । संभावनान्तरधूतान्तरयो-
रित्यर्थः । उपयुज्येते हेतु भवतः । अत्र त्विति । प्रस्तुतयोस्त्वित्यर्थः । सिताश्लेष-
रूपतया सिताश्लेषतादात्म्येन उपयुज्येते इत्यन्वयः । उपयोगित्वेन प्रतीयेते इति
तदर्थः । रूपकादस्य भेदमुपपादयति—रूपके इति । उपरज्जकत्वमात्रमुपलक्षण-
त्वमेव । यथा ‘आह्लादकं चन्द्रं पश्यामि’ इत्यादावाह्लादकत्वस्य दर्शनानुपयोगित्वे-
नोपलक्षणत्वं तथेहापीति भावः । न त्विति । चन्द्रस्य दर्शनयोग्यत्वेऽपि यथाह्लादा-
दिसाधनत्वेन प्रसिद्धिर्न तथा दर्शनसाधनत्वेनेति भावः । प्रकृते चेति । चकार-
स्योपयोगधेयत्वान्नयः । ननु ‘मुखचन्द्रः प्रकाशते’ इत्यादौ चन्द्रादेरारोप्यमाणस्य
प्रकाशासाधनत्वेन प्रसिद्धिरस्तीति परिणामप्रसङ्ग इत्यत आह—अत एवेति । परि-

अत एव रूपके आरोप्यस्यावच्छेदकत्वमात्रेणान्वयः । अत्र तु तादा-
त्म्येन । ‘दासे कृतागसि-’ (५२६ पृ.) इत्यादौ रूपकमेव, न तु
परिणामः । आरोप्यमाणकण्टकस्य पादभेदनकार्यस्याप्रस्तुतत्वात् । न सत्त्वं
तत्कस्यचिदपि प्रस्तुतकार्यस्य घटनार्थमनुसंधीयते ।

अयमपि रूपकवदधिकारुढवैशिष्ट्यो दृश्यते । यथा—

‘वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सन्ननिषक्तभासः ।

भवन्ति यत्रौपघयो रजन्यामतेरूपराः सुरतप्रदीपाः ॥’

अत्र प्रदीपानामौपघ्यात्मतया प्रकृते सुरतोपयोगिन्यन्वकारानादौ
उपयोगोऽतैरूपरूपत्वेनाधिकारुढवैशिष्ट्यम् ।

संदेहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ॥ ३५ ॥

शुद्धी निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा ।

नामलक्षणे ‘प्रिययात्रमतया’ इत्यस्य निवेद्यादित्यर्थः । अवच्छेदकत्वमात्रेण विप-
र्ययावर्तकत्वात्त्रेण, न तु विषयतादात्म्येन । अत्र स्थितिः । परिणामे त्वित्यर्थः ।
ननु ‘दासे कृतागसि-’ इत्यादौ पादभेदनरूपकार्यसाधनत्वेन प्रसिद्धस्य कण्टकस्य
पुंल्लङ्काररूपेणारोप इति परिणाम एवेत्यत आह—दासे इत्यादौ अप्रस्तुत-
त्वादिति । मानभग्नस्यैव तत्र प्रस्तुतत्वादिति भावः । ननु प्रस्तुतघटकस्यापि प्रस्तु-
तत्वमित्यत पादभेदनमपि प्रस्तुतमत आह—न सत्यिति । तत्पादभेदन घटना-
र्थमपीत्येपरन्वयः । उपपादनार्थमपीति तदर्थः । अनुसंधीयते प्रतीयते ॥ अधिका-
रुढवैशिष्ट्यं परिणाममाह—अयमपीति । परिणामोऽपीत्यर्थः ॥ यत्र हिमालये ॥
चन्देहालंकारमाह—संदेह इति । प्रकृते उपमेयेऽन्यस्योपमानस्य प्रतिभोत्थापितः
कविप्रौढोक्तिरिदं । न तु वस्तुस्तभावसिद्धः । ‘ससंदेहस्तु भेदोक्षौ तदनुक्षौ च
सञ्चयः’ इति काव्यप्रकाशदर्शनात्, ‘अनन्वयससंदेहावुपगम्येव दर्शितौ’ इति
वृण्ण्डदर्शनाच्चास्य ससंदेह इति सत्त्वान्तरम् । सन्देह इति सत्त्वं तु ‘उपमानोपमेय-
संशयः सन्देह’ इति चामनदर्शनादवसीयते । केचित्तु काव्यप्रकाशकारिकानेवं
व्याकुर्वन्ति—‘भेदोक्षौ तु ससंदेहो भेदानुक्षौ तु संशयः’ इत्यलंकारद्वयमेतदिति
वदन्ति । तत्र । तथार्थकत्वे विशेष्यं दुर्लभं स्यात् । उपमानोपमेययोर्भेदोक्षौ ससंदेह-
स्तदनुक्षौ सत्त्वा संशय इत्यर्थो यदि क्रियते तदा प्रथमस्य व्यतिरेके द्वितीयस्य रूप-
पादावतिप्रसङ्गः स्यात् सञ्चयार्थलंकारस्य पृथक्त्वेनाप्युपादानाच्च । भेदोक्षौ तदनुक्षौ
च सञ्चयः स तु सन्देह’ इति काव्यप्रकाशमिश्रयमाकलय्य ग्रन्थकृत्या लक्षणं कृत-

यत्र संशय एव पर्यवसानं स शुद्धः । यथा—

‘किं तारुण्यतरोरियं रसमरोद्धिजा नवा वल्ली

वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लवण्यवारानिधेः ।

उद्गाढोत्कलिकावता स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः ॥५८॥ ५९॥

किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः ॥’

यत्रादावन्ते च संशय एव मध्ये निश्चयः स निश्चयमध्यः ।

यथा—

‘अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः

कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशो नैव नियतम् ।’

कृतान्तः किं साक्षात् महिषवहनोऽसाविति पुनः

समंलोकयाजौ त्वां विदधति विकल्पान्प्रतिभटाः ॥’

अत्र मध्ये मार्तण्डाद्यभावनिश्चयो राजनिश्चये द्वितीयसंशयोत्थानासंभवात् ।

यत्रादौ संशयोऽन्ते च निश्चयः स निश्चयान्तः । यथा—

‘किं तावत्सरसि सरोजमेतदारा-

वाहोस्विन्मुखमवभासते तरुण्या ।

सशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चि-

द्विब्बोकैर्बकसहवासिना परोक्षैः ॥’

वान् ॥ वेलायां तीरे उच्छलितस्य उद्गतस्य । उद्गाढोत्कलिकावतामत्यन्तोत्कण्ठा-
शालिनाम् । स्वसमयस्य स्वविद्वान्तस्य स्वाचारस्य वा । उपन्यासे ज्ञापने । विश्र-
म्भिणः प्रणयिन । ‘समया शपथाचारकालविद्वान्तसविद’ इत्यमरः । ‘विश्रम्भ
केलिकलहे विश्वासे प्रणयेऽपि च’ इति मेदिनीकरः । अनवहितशिष्यताडनाय
या यष्टि उपदेशयष्टिः । शृङ्गारिणः कामस्य ॥ निश्चयगर्भः इत्यत्र गर्भपदस्य
मध्यायत्वाभिप्रायेण व्याकरोति—यत्रोति । अयं मार्तण्डः किमिति । त्वामार्ज
समालोक्य प्रतिभटा प्रतिकूलशराधिरमिति विकल्पान्विदधति । विकल्पानाह—अय
मिति । व्यावर्तकधर्ममाह—स खल्विति । इतो गत सर्वा इत्यादिकृशानुव्या
वर्तको धर्मः । एष कृशानुनियत सर्वा दिशः प्रसरति । वाय्वभिमुखदिङ्मात्रप्र-
सारितत्वात् । अयं तु सर्वदिक्प्रसादी न स इत्यर्थः । महिषवाहनत्वाभावः कृता-
न्तव्यावर्तको धर्मः । मार्तण्डाद्यभावनिश्चयो मार्तण्डादिभेदानुमानः न तु राजनिश्चय
इति शेषः । अत्र हेतुमाह—राजेति । द्वितीयसंशयानुत्थानात् द्वितीयसंश-
यानुत्थानप्रसङ्गात् ॥ किं तावदिति । सशय्येति योजना । विब्बोकैर्निरुक्त-

अप्रतिभोत्थापिते तु 'स्याणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादिसंशये नायमलंकारः ।

'मध्यं तव सरोजाक्षि ! पयोधरभरादितम् ।

अस्ति नास्तीति संदेहः कस्य चित्ते न भासते ॥' .

अत्रातिशयोक्तिरेव, उपमेये उपमानसंशयस्यैवैतदलंकारविषयत्वात् ।

साम्यादतस्मिंस्तद्वृद्धिर्भ्रान्तिमान्प्रतिभोत्थितः ॥ ३६ ॥

यथा—^{२५१८}

‘मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो बल्लवाः

कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि ।

कर्कण्डूफलमुच्चिनोति शवरी मुक्ताफलाकाङ्क्षया

सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तग्रमं चन्द्रिका ॥’

अस्वरसोत्थापिता भ्रान्तिर्नायमलंकारः । यथा—‘शुक्तिकायां रज-
तम्’ इति । न चासादृश्यमूला । यथा—

‘संगमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः ।

सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ॥’

सूचकैश्चेष्टाविशेषैः । यकसहस्राक्षिनां पद्मानां परोक्षैरपरिचेद्यैः । चिन्वोक्तानभिज्ञ-
त्वातिशयज्ञापनाय पद्मानां यकसहस्राक्षित्वेनोपन्यासः । प्रतिभोत्थित इत्यस्य
व्यावृत्तिमाह—अप्रतिमेति । अत्रोच्चस्वरत्वादिना सादृश्यमस्त्येव ॥ प्रकृतेऽन्य-
स्येत्यस्य व्यावृत्तिमाह—मध्यमिति । अत्रातिशयोक्तिरेवालंकारो न तु संदेहः ।
अत्र हेतुमाह—उपमेय इति । एतदलंकारविषयत्वात् सदैवालंकारस्वरूप-
त्वात् ॥ भ्रान्तिमदलंकारमाह—साम्यादिति । अत्र तत्पदद्वयमप्राकरणि-
कपरम् । प्रतिभोत्थितः कविप्रौढोक्तिसिद्धः । ननु रूपके उपमानोपमेयतिग-
णरूपायामतिशयोक्तौ चातिप्रसङ्ग इति चेत् । न । तयोपहार्यरूपत्वाद् भ्रमस्य चाहा-
र्यभिन्नत्वात् । भ्रमप्रमाभिज्ञं तृतीयप्रभारकं ज्ञानमाहार्यमिति तत्सिद्धान्तः ॥
मुग्धा इति । बल्लवा गोपाः गवामधः कुम्भान्विदधत इत्यन्वयः । चन्द्रिका
किरणः । अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धो भ्रमः साम्यातिशयव्यञ्जकः । अत्र ध्वनिवत्त्वेऽपि
वैचित्र्यविशेषस्यानुभवसिद्धत्वादलंकारत्वेनोपादानम् ॥ अस्वरसोत्थापिता वस्तु-
स्वभावजनिता । अयं भ्रान्तिमान् । शुद्धौ चाकचक्यविशेष एव रजतसा-
धर्म्यम् । साम्यादित्यस्य व्यावृत्तिमाह—न चेति । भ्रान्तिनामायमलंकार इत्य-
नुपपद्यते ॥ संगमेति । संगमविरहयोरेकतरस्याभीष्टत्वविवेचन इत्यर्थः । इयं

१. भ्रान्तिमानिति । अत्र भ्रान्तिमात्रमलंकारः । भ्रान्तिमानलंकार इति व्यवहार-
स्त्वोपचारिकः । तथा चाहु—‘प्रमादन्तरधीर्भ्रान्तिरूपा यस्मिन्नूपदे । ॥ भ्रान्तिमा-
निति ख्यातोऽलंकारे त्वोपचारिकः ॥’ इति ॥

कचिद्देदाद्गृहीतृणां विषयाणां तथा कचित् ।

एकस्थानेकधोलेखो यः स उल्लेख उच्यते ॥ ३७ ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

‘प्रिय इति गोपवधूमिः शिशुरिति वृद्धैरधीश इति देवैः ।

नारायण इति भैक्षैर्ब्रह्मेत्यग्राहि योगिभिर्देवः ॥’

अत्रैकस्यापि भगवतस्तत्तद्गुणयोगादनेकत्वोलेखे गोपवधूपभृतीनां
रुच्यादयो यथायोगं प्रयोजकाः । यदाहुः—

भावनातिशयजन्त्या भ्रान्तिः कविप्रौढोक्तिसिद्धापि न साम्यग्रहणमूल्य ॥ उल्लेखा-
लकारमाह—कचिदिति । ग्रहीतृणां बोधकानां विषयाणां हेतवच्छेदकारीनां
तथाभेदात् अनेकधा विविधप्रकारेण उल्लेखोऽवधारणम् ॥ प्रिय इति । वृद्धैर्न-
न्दादिभिः । भौक्षैरकूरादिभिः । अग्राहि अयोधि । योगिभिर्नारदादिभिः । देवः
श्रीकृष्णः । नन्वेकस्थानेकरूपेण स्फुरणे किं प्रयोजकं सर्वेषां ग्रहीतृणां वा किमित्ये-
कत्वेण स्फुरणं न भवतीत्यत आह—अत्रेति । तत्तद्गुणयोगात् प्रियत्वादितत्त-

1. उल्लेख इति । एकग्रहीतृकोटिकोऽनेकविषयभेदेनैकस्थानेकोलेखो यथा—‘निः-
स्पृहोऽनात्मसौख्येषु क्षतिषर्मेषु सत्पृहः । शास्त्रेषु चतुरस्रो मे नित्यं विजयते गुरुः ॥’
इति । ‘कातराः परदुःखेषु निजदुःखेष्वकातराः । कान्तास्त्वलोलुपाः सन्ति सन्तः-
कीर्तिषु लोलुपाः ॥’ इति वा । तत्रैवाश्रयभेदेनैकस्थानेकोलेखो यथा—‘सुदूरः पुण्य-
सत्तेषु दयमानाश्च दुःखिषु । सासु दृष्टा उदासीनाः खलेषु कसि पण्डिताः ॥’ इति ।
ननु अनात्मसौख्यादौ विषयता, पुण्यसत्तादिषु तु आश्रयता, तथा—‘अकुरुं कुचयोः
कुरुं बलमे विपुलं चक्षुषि विस्तृतं नितम्बे । अधरेऽरुणमाविरस्तु चित्तं करुणाशालि
कपालिभागधेयम् ॥’ इत्यादावपि कुचादिआश्रयतैवेत्यत्र किं नियामकम् सत्तन्मन्तत्वस्य
तुल्यत्वात् इति चेत्, सत्यम् । विवक्षैव नियामिकेति । अत एव रसगङ्गाधरे—‘तुषा-
रास्त्रापसत्राते तापिनस्तामसमजे । दुग्न्तास्त्राडकारातेर्गुणान्मैवभूतये ॥’ इत्युदा-
हृतोक्तम् । इह त्वाश्रयानेकत्वमनुक्रमेणैकविधत्वं दुग्न्तानाम् । आश्रयत्वमाधारत्वमेव ।
अकुरुमित्यत्र तु अवच्छेदकरवापराभिष सर्वसिन्नात्मास्त्रीलादाविव व्याप्यत्वमेव सत्तन्म-
र्थः । तत्रैव सामानाधिकरण्यभेदेनैकस्थानेकोलेखो यथा—‘योगिनो योगिना मध्ये
भोगिनोऽपि च भोगिनाम् । विदुषामपि विद्वांसः मिथुनाः वैविनिश्चिताः ॥’ एवमने-
कग्रहीतृकोटिकः स्वरूपोलेखो यथा—आत्मा भूमौ तत्त्वतः कर्तैवेति च कर्मठैः ।
देहादिसंप्रदान्यैः सर्वैरलिख्यतेऽद्भुतम् ॥’ तत्रैव कलोलेखो यथा—‘यत्तयो भोक्तुमे-
वेति पातुमेवेति भीरवः । प्रकटः कर्तुमेवेति कर्मिणस्त्वां गुरो विदुः ॥’ तत्रैव हेतुलेखो
यथा—‘केचित्प्रागैकनिष्ठत्वात्परे त्वैश्वर्यवन्ततः । धके तु संशयोच्छेदादेव साधून्भजन्त्य-
लम् ॥ इत्येवं षोडोलेखाङ्कारः साहित्यसारादौ द्रष्टव्यः ॥

‘यथारुचि यथार्थित्वं यथान्युत्पत्तिं भिद्यते ।

आभासोऽप्यर्थे एकस्मिन्ननुसंधानसाधितः ॥’

अत्र भगवतः प्रियत्वादीनां वास्तवत्वाद् ग्रहीतृभेदाच्च न माला-
रूपकमे, न च आन्तिमान्, न चायमभेदे भेद इत्येवंरूपातिश-
योक्तिः । तथाहि—‘अन्यदेवाङ्गलावण्यम्—’ इत्यादौ लावण्यादे-
विषयस्य पृथक्त्वेनाध्यवसानम् । न चेह भगवति गोपबधूप्रभृतिभिः
प्रियत्वाद्यध्यवसीयते । प्रियत्वादेर्भगवति तत्काले तात्त्विकत्वात् ।
केचिदाहुः—“अयमलंकारो नियमेर्नालंकारान्तरविच्छित्तिमूलः ।
उक्तोदाहरणे च शिशुत्वादीनां नियमनाभिप्रायाप्रियत्वादीनां भिन्नत्वाध्य-
वसाय इत्यतिशयोक्तिरस्ति । तत्सद्भावेऽपि प्रत्येतृभेदेन नानात्वप्रती-
तिरूपो विच्छित्तिविशेष उल्लेखाख्यभिन्नालंकारप्रयोजकः । श्रीकण्ठजनपद-

प्रकारसंबन्धात् । रुच्यादीत्यादिपदेन वक्ष्यमाणकारिकोकार्थित्वन्युत्पत्त्योर्ग्रहणम् ।
यथायोगं यथासंभवं । प्रयोजकाः कारणानि । भगवति शबद्गुणसत्त्वेऽपि रुच्या-
दिभेदेन विविधप्रकारेणैव स्फुरणं न त्येकरूपेण । रुच्यादीनामन्यतमस्य कारणस्य
सर्वनाभावादिति भावः ॥ यथारुचीति । रुचिरभिलाषः, अर्थित्वं प्रयोजना-
पेक्षित्वम्, व्युत्पत्तिर्भावनारुच्यादीनामनतिक्रमेणेत्यर्थः । मिथ्ये भिन्नत्वेनोपपद्यते ।
आभासो ज्ञानम् । अर्थे विषये । अनुसंधानसाधितः विविधविशेषणज्ञानजनितः ।
एकविषये । व्यक्तिभेदेन भिन्नप्रकारकज्ञानोत्पत्तौ तत्तद्विशेषणज्ञानसहकृतं रुच्या-
दिकं कारणमिति भावः ॥ यास्तवत्यादनारोपितत्वात्-ग्रहीतृभेदाच्चेति । एवं
च ‘पिता प्रजानां शमनो रिपूणां वनीपवानाममरद्वयम् । कविः कवीनां सुहृदां
सुधाशुः सतां गुरुभूमिपतिः प्रतीतः ॥’ इत्यादौ पितृत्वादीनां प्रकारानामवास्त-
वत्त्वेऽपि ग्रहीतृभेदादेव न मालारूपकमिति भावः । न च आन्तिमानिति । अत्र
प्रियत्वादीनां वास्तवत्वादिति हेतुर्वोध्यः । एवं चान सादृश्यजनितभ्रमाभावाच्च न
आन्तिमानिति भावः । अयमुक्तोल्लेखः । तात्त्विकत्वाद्-वियमानत्वात् । केचि-
दिति । अयमुल्लेखः अलंकारान्तरं विच्छित्तेर्मूलं यस्य सः । अलंकारान्तरसहकृत
एवार्थं विच्छित्तिविशेषं जनयतीति भावः । प्रियत्वादेर्भगवतः शिशुत्वादीनां नियमा-
भिप्रायाद् व्यवच्छेदे तात्पर्याद् भिन्नत्वाध्यवसायः शिशुत्वादिभेदप्रत्ययः । नन्वजाति-
शयोक्तिरेव वैचित्र्यप्रयोजिका आस्तां किमुल्लेखस्यालंकारत्वाङ्गीकारेणेत्यत आह—
तत्सद्भावेऽपीति । अतिशयोक्तिसद्भावेऽपीत्यर्थः । प्रत्येतृभेदेनेति । एक-
स्मिन्निधरे गोपबधूप्रभृतीनां रुच्यादिभेदेन प्रियत्वादिप्रतीतिरतिशयोक्त्यलंकार-

1. श्रीकण्ठेति । वानहृते हर्षचरिते श्रीकण्ठाख्यो जनपदस्तद्वर्णने ॥

वर्णने—‘वज्रपञ्जरमिति शरणागतैः, अम्बरविवरमिति वातिकैः’ इत्यादिश्चातिशयोक्तेर्विविक्तो विषयः । इह च रूपकालंकारयोगः ।” वस्तुतस्तु—‘अम्बरविवरं—’ इत्यादौ आन्तिमत्त्वमेवेच्छन्ति न रूपकम्, भेदप्रतीतिपुरःसरस्यैवारोपस्य गौणीमूलरूपकादिप्रयोजकत्वात् । यदाहुः शरीरकमीमांसामाप्यव्याख्याने श्रीवाचस्पतिमिश्राः—‘अपिच परशब्दः परत्र लक्ष्यमाणगुणयोगेन वर्तते इति । यत्र प्रयोक्तृप्रतिपन्नोः सप्रतिपत्तिः स गौणः, स च भेदप्रत्ययपुर सरः’ इति । इह तु वातिकानां श्रीकण्ठजनपदवर्णने आन्तिकृत एवाम्बरविवराधारोप इति । अत्रैव च ‘तपोवनमिति मुनिभिः कामाथतनूमिति वेद्याभिः’ इत्यादौ परिणामालंकारयोगः ।

‘गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वतः ।’

इत्यादौ चानेकधोलेखे गाम्भीर्यादिविषयभेदः प्रयोजकः । अत्र च रूपकयोगः । ‘गुरुर्वचसि, पृथुरसि, अर्जुनो यशसि—’ इत्यादिषु चास्य रूपकाद्विविक्तो विषय इति । अत्र हि श्लेषमूलातिशयोक्तियोगः ।

स्तन्मूलक । सन्मानां नानात्वप्रलय एव विच्छित्तिविशेष इति भावः ॥ अम्बरविवरमाकाशावकाशः ॥ रूपकस्य भेदप्रतीतिपुर सरत्वे हेतुमाह—गौणीमूलेति । गौणी सादृश्यलक्षणा मूलमश्लेषार्थः । रूपकादिप्रयोजकत्वादिति । रूपकादिस्वरूपत्वादिति तात्पर्यम् ॥ गौण्या लक्षणाया भेदप्रतीतिपुर सरत्वे प्राचीनसंवादमाह—यदाहुरिति । परशब्द उपमानाभिधायक शब्दः । परत्र उपमेये लक्ष्यमाणगुणयोगेन प्रतीयमानसाधारणधर्मसम्बन्धेन । यत्र यस्मिन्सति प्रयोक्तृप्रतिपन्नो वक्तृधोत्रो संप्रतिपत्तिः प्रमात्मकसादृश्यज्ञानः ॥ गौणः । शब्दव्यापार इत्यर्थः । स च वक्तृतात्पर्यज्ञानविशेषरूपशब्दव्यापारः ॥ प्रकृते रूपकवैधर्म्यं दर्शयति—इह त्विति । आन्तिकृतो विशेषदर्शनजन्यः । अत्रैव श्रीकण्ठजनपदवर्णने एव परिणामालंकारयोग इति । आरोप्यमाणयोस्तपोवनकामाथतनयोस्वप कामरूपप्रकृतप्रयोजनोपयोगिलात्परिणाम इति भावः ॥ विषयभेदेनोक्तमुदाहरति—गाम्भीर्येणेति । ‘कामदत्ताच्च लोकानामपि त्व कल्पपादपः ॥’ इत्युत्तरार्धमस्य ॥ अत्रैवस्य पुंसो हेतुभेदेन समुद्राद्यनेकरूपेणोलेखः ॥ गुरुरिति । गुरुर्विशालो जीवश्च । पृथुर्महान् वैजयश्च । अर्जुन शुक्रो धनजयश्च । अत्रैवस्य पुंसो वक्ष स्थलवचच्छेदेन गुरुत्वाद्यनेकरूपेणोलेखः ॥ अपह्रस्वलकारमाह—

प्रकृतं प्रतिपिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः ।

इयं द्विधा । कचिदपह्वपूर्वक आरोपः, कचिदारोपपूर्वकोऽपह्व इति । क्रमेणोदाहरणम्—

‘नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः ।

नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः ॥’

‘एतद्विभाति चरमाचरुचूडचुम्बि

हिण्डीरपिण्डरुचि शीतमरीचिविम्बम् ।

उज्ज्वालितस्य रजनीं मदनानलस्य

धूमं दधत्पकटलाञ्छनकैतवेन ॥’

इदं मम ।

एवम् ‘विराजति व्योमवपुःपयोधिसारामयास्तत्र च फेनभङ्गाः’

इत्याकारेण च प्रकृतनिषेधो बोध्यः ।

प्रकृतमिति । उपमेयमित्यर्थः । निपिध्वा स्वभिन्नत्वेनारोप्य अन्यस्थापनमुपमानारोपः । इयं चापह्नुतिश्च । अस्या उभयरूपत्वे विविगमनाभाव एव प्रयोजक इति भावः ॥ फेनभङ्गाः फेनखण्डानि । अत्र नभोमण्डलादीनां प्रथमं स्वभिन्नत्वेन पश्चादम्बुराशित्वादिनारोपः ॥ एतदिति । ‘हिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः’ इत्यमरः । लाञ्छनकैतवेनेति कलङ्के स्वभेदव्यञ्जकमिदम् । निपिध्वेत्यानन्तर्यमविब-

१. अपह्नुतिरिति । कुवलयानन्दे त्वयं शेषा इत्येव—“शुद्धापह्नुतिरयस्यारोपार्थो धर्मेनिद्वयः । तार्प्यं शुभांशुः, किं तर्हि ? व्योमगङ्गासरोरुहम् ॥” “स एव शुक्तिपूर्वश्चेतुष्यते हेत्वपह्नुतिः । नेन्दुस्त्रीयो, न निदयकः, सिन्धोरीवोऽयमुत्थितः ॥” “अन्यत्र तस्यारोपार्थः पर्यस्तापह्नुतिस्तु सः । तार्प्यं शुभांशुः, किं तर्हि ? शुभांशुः प्रेयसीमुखम् ॥” “भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शङ्कायां भ्रान्तिवारणे । तार्प्यं करोति सौत्कर्षं, उवरः किं ? न सखि ! सरः ॥” “छेकापह्नुतिरन्यस्य शङ्कातत्त्वस्य निद्वये । प्रत्यक्ष-न्मत्पदे छमः, कान्तः किं ? नहि नूपुरः ॥” “कैतवापह्नुतिर्वर्त्तौ व्याजायैर्निद्वयेः पदेः । नियांन्ति सरनाराचाः कान्ताइस्पातकैतवात् ॥” वर्णनीये तत्सदृशधर्मारोपफलक-स्त्रीयधर्मेनिद्वयः कविप्रतिभोपेक्षितधर्मान्तरस्यापि निद्वयः शुद्धापह्नुतिः । यथा—शुभांशो व्योमगङ्गासरोरुहवारोपकल्पस्तदीयधर्मस्य शुभांशुत्वसापह्नुत इति । (२) स एव शुद्धापह्वो हेतुपूर्वकश्चेद हेत्वपह्नुतिः । यथा—इन्द्रावेव वीजत्वनैश्वर्यहेतुभ्यामिन्दुत्वा-यैतवापह्वव औदित्यारोपार्थे इति । (३) कचिद् वस्तुनि तदीयधर्मेनिद्वयोऽन्यत्र वर्णनीये वस्तुनि तद्वर्माारोपार्थः पर्यस्तापह्नुतिः । यथा—शुभांशो तत्तापह्वो वर्णनीये मुखे तदा-

गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथंचन ॥-३८ ॥

यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत्साप्यपहुतिः ।

श्लेषेण यथा—

‘काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम् ।

उत्कण्ठितासि तरले ! नहि नहि सखि ! पिच्छिलः पन्थाः ॥’

अत्र ‘अपतितया’ इत्यत्र पतिं विनेत्युक्त्वा पञ्चात्पतनाभावेनान्यथा कृतम् । अश्लेषेण यथा—

‘इह पुरोऽनिलकम्पितविग्रहा

मिलति का न वनस्पतिना लता ।

सरसि किं सखि ! कान्तरतोत्सवं

नहि घनागमरीतिरुदाहृता ॥’

वक्तोक्तौ परोक्षेन्यथाकारः, इह तु सूक्ष्मेरेवेति भेदः । गोपन-
कृता, गोपनीयस्यापि प्रथममभिहितत्वाच्च व्याजोक्तेः ।

अन्यन्निपिध्यं प्रकृतस्त्रापनं निश्चयः पुनः ॥ ३९ ॥

निश्चयाख्योऽयमलंकारः । अन्यदित्यारोप्यमाणम् ।

क्षितमिति भावः ॥ प्रकरणान्तरेणापह्नवलंकारमाह—गोपनीयमिति । द्योतयित्वा
बोधयित्वा । कथंचन शब्देन सादृश्यादिना वा । अन्यथा श्लेषभिधेन कालस्वभावा-
दिना । अन्यथयेत् भिन्नत्वेन ख्यापयेत् ॥ काल इति । प्रथमार्थं विरहिण्याः,
तृतीयपादः सख्या, चतुर्थपादो विरहिण्या उक्तिः । अपतितया पतिहीनत्वेन,
अथ च अस्खलिततया । नहि नहीति सखीवाक्यार्थप्रतिषेधः । पिच्छिल इति
स्खलनाभावतात्पर्यमाहकम् ॥ इहेति । घनागमरीतिर्वर्पाकालस्वभावः ॥ व्याजो-
क्तेरिति । भेद इत्यनेनान्वितम् । व्याजोक्तौ गोपनीयस्य प्रथमं स्वयमभिधानं
नास्तीति भावः ॥ निश्चयालंकारमाह—अन्यदिति । उपमानं निपिध्य भिन्नत्वे-

रोपाधि इति । (४) भ्रान्तिवारणं तत्त्वाख्याने सति भ्रान्तापहुतिः । यथा तापका-
रित्वरूपे सरवृत्ते कथिते, कलुडुष्या किं ज्वर इति शङ्किते, न सखि सर इति कामि-
न्या तत्त्वाख्यानेन भ्रान्तिवारणं कृतमिति । दण्डी तु “न पच, मुखमेवेदं; न शृङ्गो,
चक्षुषी इमे । इति विस्पष्टसादृश्यात्तत्त्वाख्यानोपमा मता ॥” इत्याह स । ऐको विदग्धः
तत्कृता अपहुतिः छेकापहुतिः । (५) कैतवेन कपटेन अपहुतिः कैतवापहुतिः ।

१. ‘पञ्चाद’ नास्ति प-मुच्यते. २. ‘एवम्’—‘धीतरा’ शिष्ययति ऋणवत्पथर ततोति रोमाश्चम् ।
वागारिकः विमु मिळितो नहि नहि सखि’ हैमका एवम् ॥’ इत्यादि’ इत्यधिक क ख-मुच्यते. ३. ‘न व्याजोक्तिः’ क.

यथा मम—

‘वदनमिदं न सरोजं नयने नेन्दीवरे एते ।

इह सविधे मुग्धदृशो अमर ! मुदा किं परिभ्रमसि ॥’

यथा वा—

‘हृदि विसलताहारो, नायं मुजंगमनायकः

कुवलयदलश्रेणी कण्ठे, न सा गरलयुतिः ।

मलयजरजो, नेदं भस्म, प्रियारहिते मयि

प्रहर न हरभ्रान्त्यानङ्ग !, क्रुधा किमु धावसि ॥’

नक्षयं निश्चयान्तः सदेहः, तत्र संशयनिश्चययोरेकाग्रमत्वेनावस्थानात् । अत्र तु अमरादेः संशयो नायकादेर्निश्चयः । किंच न अमरादेरपि संशयः । एककोट्यनेधिके ज्ञाने तथा समीपगमनात्संभवात् । तर्हि भ्रान्तिमानस्तु । अस्तु नाम अमरादेर्भ्रान्तिः । न चेह तस्याश्चमत्कारविधायित्वम् । अपि तु तथाविधनायकाद्युक्तेरेवेति सहृदयसंवेद्यम् । किंचाविवक्षितेऽपि अमरादेः पतनादौ भ्रान्तौ वा नायिकाचाट्वादिरूपेणैव संभवति^१ तथाविधोक्तिः । न च रूपकध्वनिरयम्, मुखस्य कमलत्वेनाभिधारणात् । न चापङ्क्तिः, प्रस्तुतस्यानिषेधात् । इति पृथगे-

नाख्याय प्रकृतस्य उपमेयस्य स्थापनं तत्त्वेनावधारणम् । आरोप्यमाणं सादृश्यातिशयेन आरोपयिष्यतां नीयमानम् । अयमपि द्विधा । क्वचिदारोप्यमाणनिषेधपूर्वकं प्रकृतस्थापनम्, क्वचिच्च प्रकृतस्थापनपूर्वकं आरोप्यमाणनिषेधः । तत्राद्यो यथा—‘न पद्मं मुखमेवेदं न श्रौ चक्षुषी श्मे ।’ द्वितीयमाह—घटमस्मिति । घटप्रतिपत्तये प्राचीनोदाहरणमाह—हृदीति । विरहिण उक्तिरियम् ॥ एकाग्रमत्वेन एकात्मवृत्तित्वेन । तथा चान्न संशयनिश्चययोर्व्यधिकरणत्वान्नायं निश्चयान्तः सदेह इति भावः । ननु तत्र तयोः सामानाधिकरण्यनियमे किं मानमत आह—किंचेति । एककोट्यनेधिके एककोटिमात्रावगाहिनि । तथा समीपगमनात्संभवात् सदेहप्रसङ्गायोगात् । तर्हि एककोटिमात्रावगाहिज्ञानकनिश्चयत्वस्वीकारे भ्रान्तिमानिति । भ्रान्तेर्निश्चयरूपत्वादिति भावः । नायकाद्युक्तेरिति । चमत्कारविधायित्वमित्यनेनावतम् । उक्तिर्निश्चयः । ननु सवोप्यभ्रान्तिं विना तथाविधोक्तेरसंभव एव । एवं चास्य भ्रान्तिमूलकत्वं नियतेम् । तथा च प्रकृते सैव चमत्कारविधायिनी । तथाविधोक्तिस्तु अमव्यञ्जिकैवेत्यत आह—किंचेति । पतनादाविति । अमव्यञ्जकोपादानं तस्य नियतत्वादाह—भ्रान्ताविति । अवि-

वायमलंकारश्चिरंतनोक्तालंकारेभ्यः । शुक्तिकायां रजतधिया पतति पुरुषे शुक्तिकेयं न रजतमिति कस्यचिदुक्तिर्नायमलंकारो वैचित्र्याभावात् ।

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ।

वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता ॥ ४० ॥

वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः ।

जातिगुणः क्रिया द्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्यं द्वयोरपि ॥ ४१ ॥

तदष्टधापि प्रत्येकं भावाभावाभिमानतः ।

गुणक्रियास्वरूपत्वात्निमित्तस्य पुनश्च ताः ॥ ४२ ॥

द्वात्रिंशद्विधतां यान्ति—

वक्षितायामिति लिङ्गव्यत्ययेनान्वयः । चाद्वादिरूपेण चाद्वादिकारेण । मुख्यस्य सुखादेः, कमलत्वेन कमलत्वादिना, अनिर्धारणात् अनारोपात्, प्रायुत भिन्नत्वेन निर्णयात् । पतति रजतार्थं पतमाने । तथा च वस्तुतस्त्वमेव नालंकारत्वप्रयोजकमपि तु वैचित्र्याधायकत्वमेवेति भावः ॥ उत्प्रेक्षालंकारमाह—भवेदिति । संभावना उत्कटैककोटिकः संशयः । प्रकृतस्य उपमेयस्य । परात्मना उपमानरूपेण । तादात्म्यसंबन्धलाभायामपदोपन्यासः । प्रसरत्वं तृतीयार्थः, तथा च तादात्म्यसंसर्गकोपमानप्रकारकोपमेयविशेषकोत्कटैककोटिकः संशयः उत्प्रेक्षेत्यर्थः । संवेदालंकारवारणाय उत्कटैककोटिक इति । रूपकभ्रान्तिमदतिशयोक्तीनां निश्चयरूपत्वात्संशयपदेन वारणम् । उपमानं च कचित्संभवि, कचित्प्रौढोक्तिसिद्धम् । भावं यथा—‘गुणा गुणानुबन्धित्वात्’ इति । अत्र प्रसवपदार्थः संभवत्येव । द्वितीयं यथा—ऊरुरित्यादि । अत्र सुरतेच्छारूपस्सरस्य कनकमयविजयस्तम्भः शशविपाणवदलीकः प्रौढोक्त्यैव सिद्धः । परा प्रतीयमाना । सा द्वयोर्वाच्यप्रतीयमानयोः । जातिर्जातिवाचकपदप्रतिपादोऽर्थः । एवं गुणादयोऽपि । भावेति । भावाभिमाने जालादिरूपभावसंभावनायाम् । अभावाभिमाने जालादिप्रतियोगिकाभावसंभावनायाम् । एवं च षोडशप्रसरत्वेमुपपन्नम् । निमित्तस्य संभावना-

१. उत्प्रेक्षेति । उच्च ऊर्ध्वं गता प्रेक्षा दृष्टिः प्रतिभा वा यस्या सोत्प्रेक्षा । वितर्कयतः प्रेक्षा हि प्रायेणोक्तविधा जायत इति ॥

२. द्वात्रिंशदिति । वाच्या प्रतीयमाना चेत्युत्प्रेक्षा द्विविधा । स्वादिप्रयोगे वाच्या, तदभावे प्रतीयमाना । तत्र जातिगुणक्रियाद्रव्याणामप्रकृतानामव्यवसेयता चतुर्विधा । तेषां च प्रत्येकं भावाभावाभिमानरूपतया द्विविधेनाष्टविधा । भेदादृक्त्वात् च प्रत्येकं निमित्तस्य गुणक्रियारूपत्वे षोडश भेदाः । तेषां च प्रत्येकं निमित्तस्य पुनरुपदानानुपानाभ्यां द्वात्रिंशदिति ॥

तत्र वाच्योत्प्रेक्षायामुदाहरणं दिव्यात्रं यथा—

‘ऊरुः कुरङ्गकदम्बश्चञ्चलचेलाञ्चलो भाति ।

सपताकः कनकमयो विजयस्तम्भः सरस्वेव ॥’

अत्र विजयस्तम्भस्य बहुवाचकत्वाज्जात्युत्प्रेक्षा ।

‘ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः ।

गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥’

अत्र सप्रसवत्वं गुणः ।

‘गङ्गाम्भसि सुरत्राण । तव निःशाननिखनः ।

स्नातीवारिवधूर्वगर्भपातनपातकी ॥’

अत्र स्नातीति क्रिया ।

‘मुखमेणीदृशो भाति पूर्णचन्द्र इवापरः ।’

अत्र चन्द्र इत्येकव्यक्तिवाचकत्वाद्ब्रह्मशब्दः । एते भावाभिमाने ।

अभावाभिमाने यथा—

‘कपोलकलकावस्थाः कष्टं भूत्वा तथाविधौ ।’

अपश्यन्ताविवान्धोन्यमीदृक्षां क्षामतां गतौ ॥’

जनकज्ञानविषयसाधारणधर्मस्य । ता उत्प्रेक्षाः ॥ ऊरुरिति । शत्रुमभिभूय तद्विषये धीरैर्यः स्तम्भ आरोप्यते स विजयस्तम्भः । विजयस्तम्भपदस्य बहुवाचकत्वादिति । अनेककृतितिल्यसामान्यजातित्वस्वीकारादिति भावः ॥ गुणोत्प्रेक्षामाह—
ज्ञाने इति । शास्त्रादिज्ञाने तस्यपि मौनं जल्पवितण्डाराहित्यम् । क्षमा परामर्शानर्हस्यापराधसहिष्णुता । श्लाघा आत्मप्रशंसा, तस्या विपर्ययोऽभावः । गुणानुबन्धित्वात् गुणप्रयोजकत्वात् । प्रकर्षप्रयोजकधर्मोऽत्र गुणः । तस्य दिलीपस्य । कुक्षिगर्भयोर्विभानः प्रसवः तत्सहिताः सप्रसवाः । ज्ञानादीनां मौनाद्युत्पादनै प्रसवसंभावना । ज्ञानादिसत्त्वे एव मौनादीनां गुणत्वमिति ज्ञानादीनां मौनादिप्रयोजकत्वम् ॥ क्रियोत्प्रेक्षामाह—गङ्गेति । सुरत्राणेति प्रसिद्धस्य राज्ञः सवोषणम् । प्रयाणवालीनवाद्यं निःशानः । अरिवधूर्वगस्य गर्भपातनमेव पातकं पापजननयोग्यकर्म, तद्वान् । पापकर्मा हि गङ्गास्नानं करोति । शब्दोऽपि पापकर्मवानिति तदीयगङ्गाजलसंबन्धे स्नानसंभावना ॥ ब्रह्मोत्प्रेक्षामाह—मुखमिति । अपरः प्रसिद्धातिरिक्तः । अयं प्रौढोक्तिरिद्धः । एते दर्शितप्रकारोत्प्रेक्षाप्रकाराः ॥ कपोलेति । तथाविधौ अतिमुन्दरी । क्षामता कृशत्वम् । ननु कपोल्योः परस्परदर्शनाभावः सिद्ध एव कथमत्र संभावनेति चेत् । न । विरहजनितकृशत्वे परस्परदर्शनाभावजन्यकृशत्वसंभावनायां तात्पर्यात् । पातकित्वं पाप-

अत्रापश्यन्ताविति क्रियाया अभावः । एवमन्यत् । निमित्तस्य गुणक्रियारूपत्वे यथा—‘गङ्गाम्भसि’ इत्यादौ स्नातीवेत्युत्प्रेक्षानिमित्तं पातकित्वं गुणः । ‘अपश्यन्तौ—’ इत्यादौ क्षामतागमनरूपं निमित्तं क्रिया । एवमन्यत् । प्रतीयमानोत्प्रेक्षा यथा—

‘तन्वद्भ्या स्तनयुग्मेन मुखं न प्रकटीकृतम् ।

हाराय गुणिने स्थानं न दत्तमिति लज्जया ॥’

अत्र लज्जयेवेतीवाद्यभावात्प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । एवमन्यत् । ननु ध्वनिनिरूपणप्रस्तावेऽलकाराणां सर्वेषामपि व्यङ्ग्यत्वं भवतीत्युक्तम् । संप्रति पुनर्विशिष्य कथमुत्प्रेक्षायाः प्रतीयमानत्वम् । उच्यते—व्यङ्ग्योत्प्रेक्षाया ‘महिलासहस्र—’ (२१९ पृ) इत्यादावुत्प्रेक्षणं विनापि वाक्य-विश्रान्तिः । इह तु स्तनयोर्लज्जाया असमवाल्लज्जयेवेत्युत्प्रेक्षयैवेति व्यङ्ग्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदः । अत्र वाच्योत्प्रेक्षायाः षोडशसु भेदेषु मध्ये विशेषमाह—



तत्र वाच्याभिदाः पुनः ।

विना द्रव्यं त्रिधा सर्वाः स्वरूपफलहेतुगाः ॥ ४३ ॥

तत्रोक्तेषु वाच्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदेषु मध्ये ये वाच्योत्प्रेक्षायाः षोडश भेदास्तेषु च जात्यादीनां त्रयाणां ये द्वादश भेदास्तेषां प्रत्येकं स्वरूपफलहेतुगम्यत्वेन द्वादशभेदतया षट्त्रिंशद्भेदाः । द्रव्यस्य स्वरूप-

जननयोग्यात् गुणक्रियातिरिक्तो धर्मः यथाश्रुतस्य शब्देऽसंभव इति ध्येयम् । एतेन ‘निष्पन्दमरविन्दोक्षि नेत्रद्वन्द्वमिदं तव । विरविच्छिन्नमेकान्तं कान्तमाध्यायति ध्रुवम् ॥’ इत्यादौ गुणक्रियाभिन्नस्य निष्पन्दत्वादेरपि निमित्तस्य समग्रं । यद्वा निमित्तस्यापि भावाभावरूपत्वं द्वैविध्यं बोध्यम् ॥ तदन्यद्भेदा इति । कालिना वृत्तत्वात् । मुखप्रकटीकरणभाव इति भावः । गुणिने सूत्रवत्, अथ च विद्यादिगुणशालिने । दानाभावो हि लज्जासपादकः स्तनयोरिति सान्द्रत्वेन हारस्यावकाशाप्राप्तिस्तत्रेयमुत्प्रेक्षा । उत्प्रेक्षां विनापि तव हृदये बल्लुमिवेति फलोत्प्रेक्षा विनापि । उत्प्रेक्षयैव उत्प्रेक्षावाचकेवाद्यथाहारेणैव वाक्यविश्रान्तिरित्यन्वयः । अनयोः उत्प्रेक्षाध्वनिप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोः । स्वरूपेति । तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तेन तुमुनन्तेन वा पदेन यत्रोत्प्रेक्षा सा फलोत्प्रेक्षा । हेतुविभक्त्यन्तपदेन उत्प्रेक्षा हेतुत्प्रेक्षा । ताभ्यामितरा स्वरूपोत्प्रेक्षा समवतीति फलहेतुभावेन द्रव्यसमाव-नाया वैचित्र्याजनकत्वादिति भावः । पूर्वोदाहरणेषु ‘ऊरु—’ इत्यादिषु ॥ समाप्तो

पोल्लेक्षणमेव संभवतीति चत्वार इति मिलित्वा चत्वारिंशद्भेदाः । अ-
स्वरूपोल्लेक्षा यथा पूर्वोदाहरणेषु 'सरस्य विजयस्तम्भ' इति । 'सप्तस-
इव' इत्यादयो जातिगुणस्वरूपगाः । फलोल्लेक्षा यथा—

‘रावणस्यापि रामास्त्रो भित्त्वा हृदयमाशुगः ।

विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥’

अत्राख्यातुमिति भूप्रवेशस्य फलं क्रियारूपमुल्लेखितम् । हेतु-
ल्लेक्षा यथा—

‘सैषा स्थली यत्र विचिन्वतां त्वां अष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।

अदृश्यत त्वचरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव वदमौनम् ॥’

अत्र दुःखरूपो गुणो हेतुत्वेनोल्लेखितः । एवमन्यत् ।

उक्त्यनुक्तयोर्निमित्तस्य द्विधा तत्र स्वरूपगाः ।

तेषु चत्वारिंशत्संख्याकेषु भेदेषु मध्ये ये स्वरूपगायाः षोडश भे-
दास्ते उल्लेखानिमित्तस्योपादानानुपादानाभ्यां द्वात्रिंशद्भेदा इति मिलित्वा
षट्पञ्चाशद्भेदा वाच्योल्लेक्षायाः । तत्र निमित्तस्योपादानं यथा पूर्वोदा-
हृते ‘ज्ञातीव’ इत्युल्लेक्षायां निमित्तं पातकित्वमुपात्तम् । अनुपादाने
यथा—‘चन्द्र इवापरः’ इत्यत्र तथाविधसौन्दर्यावतिशयो नोपात्तः ।
हेतुफलयोस्तु नियमेन निमित्तस्योपादानमेव । तथाहि—‘विश्लेषदुःखा-
दिव’ इत्यत्र यन्निमित्तं वदमौनत्वम् ‘आख्यातुमिव’ इत्यत्र च
भूप्रवेशस्तयोर्नुपादानेऽसंगतमेव वाक्यं स्यात् । प्रतीयमानायाः षोडशसु
भेदेषु विशेषमाह—

प्रतीयमानाभेदाश्च प्रत्येकं फलहेतुगाः ॥ ४४ ॥

रामविक्षिप्तः । वाणस्य भूतलप्रवेशो रामवीर्यातिशयं ख्यापयति । तत्र प्रियाख्यानसं-
भावना ॥ सैवेति । सीता प्रति श्रीरामस्योक्तिरियम् । विचिन्वता । अन्विष्यता ॥
अत्र सीताचरणसम्बन्धः सीताचरणविश्लेषदुःखत्वेन समाहितः ॥ मिलित्वेति ।
‘चतुर्विंशतिप्रवारफलहेतुल्लेक्षाभिः’ इति शेषः । हेतुफलयोस्त्विति । हेतुल्लेक्षा-
फलोल्लेक्षयोस्त्वित्यर्थः । हेतुल्लेक्षायामुल्लेक्षमाणस्य फलमेव निमित्तं फलोल्लेक्षायां
तु हेतुरेवेत्यवधेयम् । असंगतमेवेति । विभक्त्यानुपस्थापितस्य हेतुत्वस्य कार्य-

यथोदाहृते 'तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन' इत्यत्र लज्जयेवेति हेतुरुत्प्रे-
क्षितः । अस्यामपि निमित्तस्यानुपादानं न संभवति । इवाद्य-
नुपादाने निमित्तस्य वाकीर्तने उत्प्रेक्षणस्य प्रमातुर्निश्चेतुमशक्यत्वात् ।
स्वरूपोत्प्रेक्षाप्यत्र न भवति । धर्मान्तरतादात्म्यनिबन्धनायाम-
स्यामिवाद्यप्रयोगे विशेषणयोगे सत्यतिशयोक्तेरभ्युपगमात् । यथा—
'अयं राजापरः पाकशासनः' इति । तदेवं द्वात्रिंशत्प्रकारा प्रतीय-
मानोत्प्रेक्षाः ।

उक्त्यनुक्तयोः प्रस्तुतस्य प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।

ता उत्प्रेक्षाः । उक्तौ यथा—‘ऊरुः कुरङ्गकण्ठः’ इति । अ-
नुक्तौ यथा मम प्रभावत्याम्—‘प्रद्युम्नः—इह हि संप्रति दिगेन्तर-
माच्छादयता तिमिरपटलेन—

षट्तिमिवाञ्जनपुष्पैः पूरितमिव भृगमदक्षोदैः ।

ततमिव तमालतरुमिधृतमिव नीलांशुकैर्भुवनम् ॥'

अत्राज्ञनेन घटितत्वादेरुत्प्रेक्षणीयस्य विषयव्याप्तत्वं नोपात्तम् ।

यथा वा—

लिपतीय तमोऽङ्गानि वर्पतीवाङ्मनं चमः । उष्टिष्टिष्टिष्टि

त्वस्य वा अभ्ययानुपयोग्यत्वात्मेनान्वयबोधविधुरं स्यादित्यर्थः । धर्मान्तरतादा-
त्म्यनियन्धनार्थां धर्मान्तरतादात्म्यविषयिष्यामस्यानुपप्रेक्षायां विशेषणस्यासंभ-
वित्वसंपादकधर्मस्य योगे इत्यर्थः । अभ्यवसीयमानस्य प्रादोक्तिसिद्धत्वेनोक्तृत्वमिति
विषयस्यापकृष्टत्वरूपमधःकरणमतिशयोक्तिप्रयोजकम् । अभ्युपगमादिति । इवा-
द्ययोगे संभावनायाः सिद्धत्वेनावभासादिति भावः । रूपकस्येति । अभ्युपगमा-
दित्यन्वयः । विषयस्याधःकरणाभावाद् रूपकस्यैव प्रसर इति भावः । प्रस्तुतस्य
विषयस्य तां निरुक्तावबिचयतिप्रकार उल्लेखाः ॥ लिम्पतीवेति । गाढान्धकार-

१. लिम्पतीयेति । 'असत्पुरुषत्वेन दृष्टिर्विफलता गता ॥' इति तूत्तरार्थम् । अत्र 'लिम्पति—नर्पति' इत्याख्यानाभ्यां 'गोर्जल्लपति' इत्यत्र बाह्यीकृत्य साध्यवसानलक्षणत्वात्पमानस्य तमसोऽञ्जनस्य च, उपमेयं व्यापनमप्यप्रसरणं चोपतिष्ठते । तथाच तम-क-तृकमङ्गकर्मकं व्यापनम्, नभःकर्तृकमञ्जनकर्मकमप्यप्रसरणम्, चेति तमसो व्यापनेन निमिषेन, नभसो भूतलपर्यन्तं वादनीलिमप्रसरेण निमिषेन च लेपन-वर्णनरूपाभ्यां संभावितम् । अथवा, अनेवनस्य तमसो व्यापनात्मकनिष्ठयो लेपनरेन, नभःतपयो

अत्र तमसो लेपनस्य व्यापनरूपो विषयो नोपात्तः । अज्ञानवर्ष-
णस्य तमःसंपातः । अनयोस्तत्त्वेष्वनिमित्तं च तमसोऽतिबहुलत्वं धा-
रारूपेणाधःसंयोगश्च यथासत्यम् । केचित्तु—‘अलेपनकर्तृमूतमपि तमो
लेपनकर्तृत्वेनोत्प्रेक्षितं व्यापनं च निमित्तम्, एवं नमोऽपि वर्षणक्रि-
याकर्तृत्वेन’ इत्याहुः ।

अलंकारान्तरोत्था सा वैचित्र्यमधिकं भजेत् ॥ ४५ ॥

वर्षणमिदम् ॥ तम संपात इति विषयो नोपात्त इत्यन्वयः । अतिबहुलत्वं अति-
बहुलप्रयुक्तनिविडसंयोगः । एव सति साधारणधर्मेत्वमुपपन्नम् । धारारू-
पेणेति । तमस इति योजना । अधःसंयोगश्चेति । तमसो द्रव्यत्ववादिमत-
माधित्वोक्तम् । व्यापनं चेति । निविडसंयोगानुकूलम्यापारयेत्यर्थः । पयमिति ।

वर्षणत्वेन च हंभायितः । विषयानुपपत्तौ तमस्यैव । ननु क्वनिमित्तेन लेपनवर्षणकर्तृत्वा-
दात्म्योत्प्रेक्षे एव स्यात्, इति न भ्रमितव्यम् । लिप्सति—वर्षतीत्याद्यातयोः कर्तृवाच-
कत्वेऽपि ‘भावप्रधानमाख्यातम्’ इति निरुक्तस्मृतेर्भास्वर्धकिदासां यत्र प्रधान्येन
तदुपसर्जनत्वेनान्वितस्य कर्तृत्वेऽप्येवमप्युक्तया अन्यथान्वयासम्भवादिति कुबलयानन्दे
व्यक्तमेव । भाट्ट्यात विदन्तम्, एतदर्थपेक्षया भावो धात्वर्थः क्रिया प्रधानम्, इति
निरुक्तस्मृतिपार्ष्वम् । अधिकं तु निवृत्तकालाव्याप्तौ निरीक्षणीयम् । यत्रमाख्यातार्थस्य कर्तृ-
क्रियोपसर्जनत्वेनान्वयायोगादेवास्त्रोपमायामुपमानत्वेनान्वयो दृष्टिना कल्प्यादर्शे निर-
क्ष्यते—‘कर्ता यद्युपमानं साध्यमभूतोऽसौ क्रियापदे । स क्रियासाधनव्यग्रो नात्मन्यद-
व्यपेक्षितुम् ॥’ इति । अयमर्थः—कर्ता विद्वन्मतिपात्रो व्यापारायैव । यदि उपमानं स्यात्
तमस उपमानत्वेन प्रतिपाद्येत, तर्हि असौ कर्ता क्रियापदे लिप्सति—प्रभृति क्रियापदेन वि-
शेष्यतया प्रतिपाद्ये लेपनव्यापारे—वर्षणो विशेषणीभूतः । ‘कलत्रापारयोर्भास्वरायै तु विज-
रुताः । फले प्रधान व्यापारसिद्धये तु विशेषणम् ॥’ इति वैवाकरणोक्तेः । लेपनव्या-
पारे विशेषणत्वेनान्वितस्य कर्तृः कथमुपमानतया तमसा सहान्वयित्वमिति भावः । अतएव
एतस्मिन् ज्ञातृप्रकृतेर्भास्वरायैव । तस्मात् साधनं सिद्धिः । विशेष्यत्वेनावयोऽ इति पद-
मार्थः । तत्र व्यग्रो व्यापृतः, प्रकारतां प्राप्त इति परमार्थः । अन्यत् पदार्थान्तरं व्यपेक्षि-
तुं स्वप्रकारकान्वययोगे विशेष्यत्वेनाकाङ्क्षितुं, पदार्थान्तरविशेष्यकयोगे पुन प्रकारी-
मविभुमिति भावः । नाहं न समर्थः । अयं भावः—एकत्राश्रितत्वात्प्राप्तव्यवस्थित-
युज्यत एव । परमेकत्र विशेषणतया अनित्यस्य अन्यत्रापि विशेषणतयेवान्वयो न युज्यत
इति । प्रकृते तु स्वव्यापारे विशेषणतया अनित्यस्य कर्तृः उपमानत्वाभ्युपगमे उपमे-
ये तमसपि विशेषणत्वेन अनित्यत्वमभ्युपेयमित्यसंगतम् । एतदेवोक्तं दीधितिचारे—
‘इतरेतरविशेषणत्वेनोपलितत्वाप्यन्यत्र विशेषणत्वेनान्वयायोगात्’ इति । तस्माज्जात्र
कर्तारभ्युपमानत्वमिति भावः ॥

तत्र सापहोत्प्रेक्षा यथा मम—

‘अनुच्छलेन सुदृशो हुतपावकधूमकलुषाक्ष्याः ।

अप्राप्य मानमङ्गे विगलति लावण्यवारिपूर इव ॥’

श्लेषहेतुगा यथा—

‘मुक्तोत्तर संकटशुक्तिमध्याद्विनिर्गत सारसलोचनायाः ।

जानीमहेऽस्याः कमनीयकम्बुग्रीवाधिवासाद्गुणवत्त्वमाप ॥’

अत्र गुणवत्त्वे श्लेष कम्बुग्रीवाधिवासादिवेति हेतुप्रेक्षाया हेतुः ।
अत्र ‘जानीमहे’ इत्युत्प्रेक्षावाचकम् । एवं मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नून-
मिलेवमावयः ।

कचिदुपमोपक्रमोत्प्रेक्षा यथा—

‘पारेजल नीरनिघेरपश्यन्मुरारिरानीलपलाशराशी ।

वनावलीरुत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः ॥’

इत्यत्राभाशब्दस्योपमावाचकत्वादुपक्रमे उपमा । पर्यवसाने तु

अवर्णनक्रियाकर्तृभूतमपीत्यर्थः । उत्प्रेक्षितमित्यनुपपन्नत्वे । अत्र धारारूपेणाध-
सपातो निमित्त नभसोऽचनवर्णनकर्तृत्वेन सभारनाया प्रकृतस्योपमेयस्य तमसो
बोधो दुर्धट इत्यस्वरस्य केचिदित्यनेन सूचितः । अपरे तु ‘तमोऽचनत्वेनोत्प्रेक्षित
नीलवसनं निमित्तम्’ इत्याहुः । सा उत्प्रेक्षा सापहवा अपहृत्यलक्षारमूय ॥
मानमित्युक्ताम् ॥ संकटेति कारणस्य गुणवत्त्वप्राप्तिप्रकारणत्वाभावसूचकम् ।
गुणवत्त्वमुत्कर्षप्रयोजकधर्मयोगित्वम्, अथ च सूत्रवत्त्वम् । अपकृतमाताना-
मप्युत्तमस्थानवासेन गुणवत्त्वं भवतीति भावः । हारस्य गुणवत्त्वप्राप्ती स्वभाव एव
हेतुस्तत्रेयमुत्प्रेक्षा । अथ च शुक्तिमध्यापेक्षया कम्बुग्रीवाया महत्त्वमुचितमेव ।
पश्यमिति । उत्प्रेक्षावाचक इत्यर्थः । आदिपदात्पल्लु-किमु प्रभृतीनां ग्रहणम् ।
यथा—‘इचयोऽस्तमितस्य भास्वतः स्थलिना यत्र निराभ्या यत्तु । अभिवायम-
तो विलेपनापण्यदनीरजपण्यवीचय ॥’, ‘पृथुर्तुलनचितम्बुहिमहिस्सन्दनशिल्प-
शिक्षया । विधिरेकचक्रचारिण किमु निर्मितस्य नान्मय रथम् ॥’ इत्युत्प्रेक्षा-
क्षावाचकत्वं प्रविष्टमिति तपोधम् । आदिपदेन वा तस्यापि ग्रहणम् ॥ उत्कलि-
कासहस्रेण तरङ्गसमूहेन प्रतिजगमुत्कृतिता दूत प्रापिता ये शैवालास्तत्तुल्या
इत्यर्थः । ‘कथितोत्कृतिष्वोत्कृष्टहेलासल्लिखीचिपु’ इति मेदिनी ॥ उपक्रम इति ।

1. मन्ये इति दण्डिनः काव्यादर्तः । तत्रेव—‘मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमिले-
वमावयि । उत्प्रेक्षा व्यञ्ज्यते शङ्कैव शब्दोऽपि पाठ्यः ॥’ इत्येव कारणत्वेन मूल-
कारस्य नाभिमतमप्यत्र कारिकाश्रमो न कर्तव्य इति कोह्ये निर्दिष्टम् ॥

जलधितीरे शैवालस्थितेः संभावनानुपपत्तौ संभावनोत्थापनमित्यु-
त्प्रेक्षा । एवं विरहवर्णने—‘केयूरायितमद्भदैः—’ इत्यत्र ‘विकासिनी-
लोत्पलति सा कर्णे मृगायताक्ष्याः कुटिलः कटाक्षः’ इत्यादौ च
ज्ञेयम् । आन्तिमदलंकारे ‘मुग्धा दुग्धधिया—’ इत्यादौ आन्तानां
वृद्धवादीनां विषयस्य चन्द्रिकादर्शानमेव नास्ति । तदुपनिबन्धनस्य
कविनैव कृतत्वात् । इह तु संभावनाकर्तुर्विषयस्यापि ज्ञानमिति द्वयो-
र्भेदः । संदेहे तु समकक्षतया कोटिद्वयस्य प्रतीतिः । इह तु कटा सं-
भाव्यभूतैका कोटिः । अतिशयोक्तौ विषयिणः प्रतीतस्य पर्यवसाने-
ऽसत्यता प्रतीयते । इह तु प्रतीतिकाल एवेति भेदः ।

रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु ।

पूरिता नु विषयेषु धरित्री संहता नु ककुभस्त्रिमिरेण ॥’

इत्यत्र यत्पूर्वादौ तिमिराकान्तता रञ्जनादिरूपेण संदिश्यत इति
संदेहालंकार इति ‘केचिदाहुः । तत्र । एकविषये समानबलतयाने-
ककोटिस्फुरणस्यैव संदेहत्वात् । इह तु सर्वादिव्याप्तेः प्रतिसंबन्धि-
भेदो व्यापनादेर्निर्गमणेन रञ्जनादेः स्फुरणं च । अन्ये तु—‘अनेकत्वनि-

प्रथममुपमाप्रतीतिरित्यर्थः । संभावनोत्थापनं संभावनाप्रतीतिः ॥ केयूरायि-
तमिति । भद्रदैः कंकणेः । अनयोरायततुकोरुपमावाचकत्वादुपक्रमे उपमाप्र-
तीतिः । पर्यवसाने तु भुजमध्ये कर्णे च कंकणकटाक्षयोरसंभवात्संभावनोत्थान-
मित्युत्प्रेक्षा । इदानीं आन्तिमदलदिभ्य उत्प्रेक्षाम् भेदमुपपादयति—‘आन्तिम-
दिति । तदुपनिबन्धनस्य चन्द्रिकाविवर्णनस्य । विषयस्य चेति । चक्राद्विषयि-
णश्च संप्रहः । समकक्षतया तुल्यस्वरूपतया । उत्कटा निधितत्राया । संभा-
व्यभूता अनिर्धारितस्वरूपा । कोटिः प्रकारः । एककोटिकज्ञानस्यापि यत्संशयत्व-
रुपसंशयधर्मयोगाद् गौणत्वमेव । पर्यवसाने शाब्दबोधानन्तरम् । प्रतीतिकाल
एवेति । रूपरूपादाहार्य एवान्वयतादात्म्यप्रत्ययः संभावनेति भावः ॥ रञ्जिता
नीलद्रव्येण लिप्ताः । नामितं प्रदीकृतम् । स्थगितं संशतम् । विषयेषु निम्न-
भागेषु । संहता अपनीताः ॥ प्रतिसंबन्धिभेद इति । तथा एकविषयाने-
ककोटिज्ञानत्वाभावादस्य संशयत्वमनुपपन्नमिति भावः । नन्विदं तमसा तद्दर्शना-
दिव्यापनं न तु रञ्जनमित्याद्याकारा नानासंदेहा एवेत्यत आह—‘व्यापनादेरिति ।

१. केचिदिति । अन्तरसर्वस्वकारादयः ॥

१. ‘पर्यवसानात्’ च तुल्ये

धारणरूपविच्छित्त्याश्रयत्वेनेककोट्यधिकेऽपि भिन्नोऽयं संदेहप्रकारः'
इति वदन्ति स्म । तदप्ययुक्तम् । निगीर्णस्वरूपस्यान्यतादात्म्यप्रती-
तिर्हि सभावना । तस्याश्चात्र स्फुटतया सद्भावानुशब्देन चेशब्दव-
चस्या द्योतनादुत्प्रेक्षैवेयं भवितुं युक्ता । अलमदृष्टसंदेहप्रकारक-
रूपनया ।

‘यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलमलीलां वितनुते

तदाचष्टे लोकः शशक इति नो.मां प्रति तथा ।

अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरहाकान्ततुरुणी-

कटाक्षोरकापातमणकिणकलङ्काद्विततनुम् ॥’

इत्यत्र मन्येशब्दप्रयोगेऽप्युक्तरूपायाः सभावनाया अप्रतीतिर्वितर्क-
मात्रं नासावपह्नवोत्प्रेक्षा ।

सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते ॥

विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः । अस्य चोत्प्रे-

निगरणेन अध करणेन । एककोट्यधिकेऽपीति । भावप्रधानो निर्देश । एक-
कोट्येकत्वद्वयेऽपीति तदर्थः । निगीर्णेति । निगीर्णत्वमथ कृतत्वं तच्च विच्छित्ति-
विशेषं प्रत्यक्षचित्तरत्नमेव न तु शब्दानुपात्तत्वमानम् । तथा सति ‘ऊरु ऊरु-
कदश-’ इत्यादौ विषयोपादानादव्याप्तिः स्यात् । अन्यतादात्म्यप्रतीतिरप-
मानतादात्म्यारोपः । प्रतीतिरन निर्धारणरूपा प्रत्येतव्या । तेनातिशयोक्तिर्व्युदासः ॥
यदेतदिति । यस्त्विति शेषः । जलदलमलीलां मेघरागसादृश्यं । वितनुते धार-
यति । तथा शशकवचनम् । तद्वस्तुन शशकवचनं न समेल्यते ॥ वितर्कमानं
प्रौढोक्तिसिद्धकोट्युपस्थितिमानम् । तथा च यदेतदित्यनेन किमप्यनिर्दिष्टस्वरूपं
यस्तु प्रस्तुतम्, तस्मान्न शशकत्वत्वेति विषयः किरणरूपरूपत्व व्यवस्थापितं न
तूपमानतादात्म्यं सभावितमिति भावः ॥ अतिशयोक्तयलंकारमाह—सिद्धत्वे
इति । निधितविषयिमाहकत्वे इत्यर्थः । निधयरूपत्व इति पर्यवसितोऽर्थः ॥
अध्यवसायपदार्थमाह—विषयेति । विषयिणोऽध्यवसायप्रसरत्वं अनेदप्रतिप-
त्तिस्त्वादात्म्यारोपः । सिद्धत्वं इत्यस्य व्याप्तिमाह—अस्य चेति । अध्यवसायस्य

१. अतिशयोक्तिरिति । अतिशयोऽतिशयिणः प्रसिद्धिनविक्रान्ता उचिरविशयोक्तिः ।
विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयस्त्वोक्तिरिति रसगङ्गाधरकारः ॥

१. ‘अधिक’ क-य. २. ‘तद्वस्तुन शशकवचनं इति निधितुच्छेव वदति. ३. ‘नतिपिद-
दित्ये’ इति मुद्रितपत्रम्.

क्षायां विषयिणोऽनिश्चितत्वेन निर्देशात्साध्यत्वम् । इह तु निश्चितत्वे-
नैव प्रतीतिरिति सिद्धत्वम् । विषयनिगरणं चोत्प्रेक्षायां विषयसाध-
करणमात्रेण । इहापि मुखं द्वितीयश्चन्द्र इत्यादौ । यदाहुः—

‘विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः ।

अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्वं प्रचक्षते ॥’ इति ।

भेदेऽप्यभेदः संबन्धेऽसंबन्धस्तद्विपर्ययौ ॥ ४६ ॥

पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा ततः ।

चेत्यर्थः । निर्देशाद् विषयीकरणात् । साध्यत्वं व्यक्ताग्राम्यत्वम् । प्रतीति-
रिति विषयिण इत्यन्वयः । ननु शब्देनानुपादानं निगरणम्, एवं सत्पुनःप्रस्तुतायां-
मुत्प्रेक्षायामतिशयोक्तौ श्लोकविषयायां कथं लक्षणगमनमत आह—निगरणं
चेति । अधःकरणमात्रेण विच्छित्तविशेषं प्रलङ्घित्वात्तत्वेनापकर्षमानेन न तु
शब्दानुपादानेनापि ॥ भेद इति । भेदे सत्यप्यभेदप्रतिपत्तिरित्यर्थः । एवमप्येऽपि ।
पौर्वापर्यात्ययः पौर्वापर्यविपर्यासः । स च पूर्वोत्पन्ने परोत्पन्नत्वारोपः परोत्पन्ने
पूर्वोत्पन्नत्वारोप इत्युभयस्वरूप एकः प्रकारः । क्रमोत्पन्ने च समकालोप-
नत्वारोप इति द्वितीयः ॥ केषांशादेरित्यादिपदेन भालनेत्रनासाधरमहणम् ।

१. भेद इति । भेदेभेदः, अभेदे भेदः, संबन्धेऽसंबन्धः, असंबन्धे संबन्धः, का-
र्यकारणपौर्वापर्यव्यत्यास इति पञ्चविधातिशयोक्तिः । कुत्रल्लयानन्दे त्वेवं लक्षणविभागो-
दाहरणानि—(१) “रूपकातिशयोक्तिः स्वातिगीर्षाध्यवसानतः । पश्य, नीलोत्पल-
इन्द्राकिःसरति शिवाः घटाः ॥” (२) “वषट्पुविपर्ययत्वं सैव सापक्षवा नवा ।
तत्सक्तिषु सुभा राजन्भ्रान्ताः पश्यन्ति वा विधौ ॥” (३) “भेदकातिशयोक्तिस्तु
तत्सैवान्तराधरणम् । अभ्यदेयास्त याम्नीर्यमन्यद् धैर्यं महीपतेः ॥” (४) “संबन्धाति-
शयोक्तिः स्वाद्योगे योगकत्वनम् । सौधपाणि पुरसास सृष्टमिदं रविमण्डलम् ॥” (५)
“योगोऽप्ययोगोऽसंबन्धातिशयोक्तिरितीयेति । त्वमि दत्तमि राजेन्द्र ! स्वद्वंभ्रादिदामदे ।”
(६) “अक्रमातिशयोक्तिः स्वात्सहत्वे हेतुकार्ययोः । आसिद्धन्ति समं देव ! उमा
शराश्च पराश्च ते ॥” (७) “अपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुमसक्तिरे । वास्यामी-
त्युदिते सन्त्या बल्योऽभवदूर्मिका ॥” (८) “अत्यन्तातिशयोक्तिस्तु पौर्वापर्यव्यति-
क्रमे । अथे भालो गतः पश्चादनुनीता त्रियेष सा ॥” अत्रोपमानवाचकम्भर्षा नीलोत्पल-
शरपद्माशुपमेययोरक्षयोक्त्या कदाद्यान्यं च निरूपणं निगरणम् । निगणपुरात-
नुपमेयस्योपमानत्वेन अप्यवसावमाहार्यज्ञानम् । ततो रूपकातिशयोक्तिः । रूपक-
विशेषेण तदुत्तरां प्रकाशयामित्यतिशयोक्त्यावति संबन्धोऽतिदिश्यत इति वीक्षिता-
नामाशयः । स्वमतिशयोक्तिर्वेदेऽपि दृश्यते—“ह्य गुणोऽप्युवा सखाया समानं वृथं
परिब्रज्यते । तयोरेकः सिपिष्ठं स्वादृश्यनयग्रन्थो अभिवाक्यीति ॥”

तद्विपर्ययौ अमेदे भेदः, असंबन्धे संबन्धः । सातिशयोक्तिः ।
अत्र भेदेऽभेदो यथा मम—

‘कथमुपरि कलापिनः कलापो

विलसति तस्य तलेऽष्टमीन्दुखण्डम् ।

कुवलययुगलं ततो विलोचं

तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात् ॥’

अत्र कान्ताकेशपाशादेर्मयूरकलापादिभिरभेदेनाध्यवसायः । यथा
वा—‘विलेपदुःखादिव बद्धमौनम्’ । अत्र चेतनगतमौनिस्त्वमन्यदचेत-
नगतं चान्यदिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदः । एवम्—

‘सहाधरदलेनास्या यौवने रागमाक्लिप्रयः ।’

अत्राधरस्य रागो लौहित्यम्, प्रियस्य रागः प्रेम, द्वयोरभेदः ।

अभेदे भेदो यथा—

‘अन्यदेवाङ्गलावण्यमन्याः सौरभसंपदः ।

तस्याः पद्मपलाशाक्ष्याः सरसत्वमलौकिकम् ॥’

संबन्धेऽसंबन्धो यथा—

‘अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः

शृङ्गारैरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।

सौन्दर्यनिबन्धनाभेदारोपरूपातिशयोक्तिमुदाहरत्य एकशब्दप्रतिपाद्यत्वनिबन्धनाभे-
दारोपरूपामुदाहरति—यथा चेति । अत्र युगपद्वृत्तिद्वयस्य स्वार्योपस्थापकत्वाङ्गी-
कारेण शक्यलक्ष्ययोरेकद्वैकशब्दोपस्थाप्यत्वमित्यभिप्रायेणाह—अत्रेति । चेतन-
गतं मौनित्वं वचनाभावरूपम्, अचेतनगतं च ध्वन्यभावरूपम् । आद्ये शक्तिर्द्वितीये
लक्षणा । ताभ्यामेकदेव उभयमुपस्थाप्यते श्लेषेण । एकशब्दप्रतिपाद्यत्वनिबन्धनाभे-
दारोपरूपानतिशयोक्तिमुदाहरति—एवमिति । अत्र द्वयोरप्येकत्वनिबन्धनकार्यसाध-
नत्वरूपातिशयोक्तिरवधेया ॥ अन्यदेवेति । सरसत्वं रसबोद्धत्वम् ॥ अस्या इति ।
सर्गविधौ सृष्टिकर्मणि । चन्द्रः प्रजापतिरभूत् । नु वितर्कः । चन्द्रस्य कान्तिमयत्वा-
त्कान्तिप्रदत्वं संभाव्योक्तम् । मदन इति प्रजापतिरभूदित्यन्वयः । अत्र हेतु —
शृङ्गारेति । पुष्पाकरश्चैत्रः । अत्र सौरभ्यसौकुमार्यास्पदत्वं हेतुर्बोध्यः । अस्य प्रति-
क्षत्वाच्च निर्देष्टुं शक्यदोषः । यद्य शृङ्गारैरस इति चैत्रस्यापि विशेषणम् । ननु

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो

निर्मातुं प्रमवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥'

अत्र पुराणप्रजापतिनिर्माणसंबन्धेऽप्यसंबन्धः ।

असंबन्धे संबन्धो यथा—

'यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम् ।

तदोपमीयते तस्या वदनं चारुलोचनम् ॥'

अत्र यद्यर्थबलादाहतेन संबन्धेन संभावनया संबन्धः । कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययश्च द्विधा भवति । कारणात्मकं कार्यस्य भावे, द्वयोः समकालत्वे च । क्रमेण यथा—

'मग्रेव हरिणाक्षीणा चित्तमुत्कलिकाकुलम् ।

पश्चादुद्भिन्नवकुलरसालमुकुलश्रियः ॥'

'सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।

तेन सिंहासनं पित्र्यं मण्डलं च महीक्षिताम् ॥'

इह केचिदाहुः—'केशपाशादिगतो लौकिकोऽतिघयोऽलौकिकत्वेनाध्यवसीयते । केशपाशादीनां कलापादिभिरध्यवसाये 'अन्यदेवा-

विधिरेव कलादस्या निर्माता नेत्यत आह—वेदेति । वेदाभ्यासेन परमतात्पर्यपर्यालोचनेन जडो विषयोपभोगाचतुर, अत एव विषयव्यावृत्तकौतूहलः । पुराण इति प्रजापतिरिति संबन्धः । मुनिमवनशीलः । एतेन सृष्टिकर्मणि चित्तैकप्रावं नास्तीति सूचितम् । तद्विनेतारूपसृष्टिर्न भवतीति भावः । इदं काव्यप्रकाशे शुद्धसदेहोदाहरणमेवोपन्यस्तम् । तन्मते विधेर्निर्मातृत्वव्यावृत्तिरपि संशयितेवेति न निश्चयान्ततयमस्य ॥ यदि स्यादिति । इयमद्वैतोपमेति दृष्टी । नन्विन्दीवरद्वयस्येन्दुमण्डले व्यतिरेकप्रतीतिरेव जायते कथं संबन्धाध्यवसाय इत्यत आह—यद्यर्थेति । यद्यर्थबलाद् यद्यर्थसामर्थ्यात् आहतेन कल्पितेन संबन्धेन पदार्थेन संभावनया अध्यवसायेन संबन्धः । 'यद्यते' इति शेषः । यद्यर्थप्रयोग एवायं प्रचारः सम्भवति आहर्ष एव संबन्धाध्यवसाय इति भावः । अत एवोक्तं काव्यप्रकाशे—'यद्यर्थो च कल्पनम्' इति । द्वयोः कार्यकारणयोः समकालत्वे समकाल्येत्युक्तम् ॥ मग्रेवेति । उत्कलिमरुत उत्कल्यव्याप्तं जातम् । उद्भिन्नानामुत्कुलानां वकुलमनुकुल्यना च श्रियो जात इत्यर्थः ॥ सममेव एकदेव समाक्रान्तमाकृतं वक्षीहृतं च । पित्र्यं पितृयगतम् । मनयोः पारणस्यात्यन्तक्षीप्र-

ज्जलावण्यं— इत्यादिप्रकारेष्वव्याप्तिर्लक्षणस्य' इति तत्र । तत्रापि-
ह्यन्यदज्जलावण्यमन्यत्वेनाध्यवसीयते । तथाहि 'अन्यदेव' इति स्थाने
'अन्यदिव' इति पाठेऽध्यवसायस्यासाध्यत्वमेवेत्युत्प्रेक्षाङ्गीक्रियते ।
'प्रागेव हरिणाक्षीणां—' इत्यत्र बकुलादिश्रीणां प्रथमभावितापि
पश्चाद्भावित्वेनाध्यवसिता । अत एवात्रापीवशब्दप्रयोगे उत्प्रेक्षा ।
एवमन्यत्र ।

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ॥ ४७ ॥

एकधर्माभिसंबन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।

अन्येषामप्रस्तुतानाम् । धर्मो गुणकारूपः । उदाहरणम्—

'अनुलेपे'ऽग्नि कुसुमान्यवलाः

कृतमन्यवः पतिषु दीपदशाः ।

समयेन तेन सुचिरं शयित-

प्रतिबोधितस्मरमबोधित ॥'

कारित्वं व्यज्यते । केचित्तु "सममेवेत्यादिद्वितीयप्रसारः 'धुनोति चासिं तनुते च
फीर्तिम्' इतिवत् समुच्चयालंकारस्यैव विषयः" इति वदन्ति । तत्र । विरूपशब्दा-
भ्यामेव क्रिययोद्भादाने हि समुच्चयस्वीकृतः । कलापादिभिरध्यवसाये विवक्षिते
इति शेषः । अव्याप्तिरिति । अन्यदेवेत्यत्र व्यवहृत्यन्तरस्य भेदसत्त्वेनाध्यवसाय-
रूपत्वाभावादिति भावः । एवमन्यत्रापि यथायथं हेयम् । अन्यदिति । अतिशय-
प्रतीतये एतद्व्यतिरेकं भेदस्तत्राध्यवसीयत इत्यर्थः । तथाहीति । निरुद्धाध्यवसा-
यस्वीकारेऽनुभवसिद्धोत्प्रेक्षा न स्यादिति भावः । बकुलादिश्रीणामिति । एव-
मुत्कलिषायाः पश्चाद्भावितापि पूर्वभावित्वेनाध्यवसितेति बोध्यम् । एवमिति ।
उच्यदिशा । अन्यत्र तृतीयचतुर्थप्रसारयोरव्याप्त्युद्धारो बोद्धव्य इत्यर्थः । तथाहि—
तादृशरूपस्य निर्माता विधिरनिर्मातृत्वेन इन्दुमण्डलस्य सफमिन्दीवरद्वयमिन्दुमण्डल-
सफत्वेनाध्यवसीयत इति भावः ॥ तुल्ययोगितालंकारमाह—पदार्थानामिति ।
अनुलेपनानीति । चन्दनद्रवमित्यर्थः । कुसुमानि शुक्रपुष्पाणि । तेन तमसिना
समयेन । पतिषु कृतमन्ययोऽवस्थाः सुचिरं शयितप्रतिबोधितस्मरं यथा स्यात्तथा

1. तुल्ययोगितेति । तुल्यः योगितान्वयो यत्रेति ॥ कुसुमयानन्दे तु "दिवादिदे
वृष्टिगोष्पमपरा तुल्ययोगिता । प्रदीपवत् पराभूतिर्मित्रशात्रवयोत्त्वया ॥" "गुणोत्पुष्टेः
समीकृत्य बोधेऽन्यां तुल्ययोगिता । लोहपात्रे वमः पात्री श्रीरः शनो भवानपि ॥"
इति विशेषः । अत्र दिवे मित्रे परा भूतिः उक्त्या संपत्, अद्विदे शात्रवे पराभूतिः
पराभवः, इति पराभूतिपदभेदेन वृत्तिगोत्पत् । मित्रशात्रवयोरिति संबन्धमामान्ये पदौ
पराभवस्य मुरयदानासंभवात् ।

अत्र संध्यावर्णनस्य प्रस्तुतत्वात्प्रस्तुतानामनुलेपनादीनामेकबोधन-
क्रियाभिसंबन्धः ।

‘तदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते ।

मालतीशशृङ्गेखाकदलीनां कठोरता ॥’

इत्यत्र मालत्यादीनामप्रस्तुतानां कठोरस्वरूपैकगुणसंबन्धः ।

एवम्—

‘दानं वित्तादृतं वाचः कीर्तिधर्मो तथायुषः ।

परोपकरणं कायादसारात्सारमाहरेत् ॥’

अत्र दानादीनां कर्मभूतानां सारस्वरूपैकगुणसंबन्धः एकाहरण-
क्रियासंबन्धः ।

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते ॥ ४८ ॥

अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

‘बलावलेषादधुनापि पूर्वव-

त्प्रवाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।

सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला

पुर्मासमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥’

अनुलेपनादीनि भवोपिषत् । बोधिता इत्यर्थः । तमस्यनुलेपनादीनां द्युप्रस्फूर्तिरस्ति,
ततश्च सरोद्बोधो जायते, मृगमदादीनां तमोप्रसूतया स्फूर्तिर्न संभवतीति भाषः ॥
अप्रेति । प्रस्तुते तमसि स्फुट्यत्वाद्दनुलेपनादीनामपि प्रस्तुतत्वमित्यभिप्रायः ॥
तदङ्गमिति । अत्र वर्णनीयतया नायिद्य प्रस्तुता । मालत्यादीनां तूपमानत्वेना-
प्रस्तुतत्वम् ॥ शुण्क्रियोभयाभिसंबन्धे तुल्ययोमितामुदाहरति—दानमिति ।
दीपकालङ्कारमाह—अप्रस्तुतेति । ननु ‘कमलसिख मुपं मनोतं-’ इत्यादावति-
व्याप्तिरिति चेत् । न । साम्यवाचकपदाभावे सतीत्यस्य विवक्षणीयत्वात् । एवं
वैधर्म्यात्तत्रभावे सतीत्यपि बोध्यम् । तेन ‘त्वं समुदय दुर्वाशे महासत्वी रातेजसो ।
अयं तु युवबोर्भेदः स जगत्या पदुर्भवान् ॥’ इत्यादिव्यतिरेकालङ्कारे नावि-
व्याप्तिः ॥ प्रथमप्रयेण दीपकमाह—अथेति । अपवेत्यर्थः । अनेकसु क्रियासु
कारकं यदि संबन्धं स्यात्तदापि दीपकं स्यादित्यर्थः । बलावलेषात् । सामर्थ्यगर्वात् ।
अधुनापि अस्मिन् जन्मन्यपि । पूर्ववत्पूर्वजन्मनीव । तेन विशुषाजेन । भया-

१. दीपकमिति । प्रकृतार्थमुपाधे धर्मः प्रसङ्गादप्रकृतमपि दीपयति प्रकाशयति
सन्दरीकरोतीति दीपकम् । अथवा । दीप इव दीपकम् । संज्ञायां कम् । दीपकार इव
प्रकाशप्रकृतप्रकाशकत्वेनाप्युच्यते ॥

अत्र प्रस्तुतायाः मुनिश्चर्यायाः प्रकृतेरप्रस्तुतायाश्च सत्यां योषित
एकानुगमनक्रियासंबन्धः ।

‘दूरं समागतवति त्वयि जीवनाथे

। भिक्षा मनोभवक्षरेण तपस्विनी सा ।

उत्तिष्ठति स्वपिति वासगृहं त्वदीय-

मायाति याति हसति श्रसिति क्षणेन ॥’

इदं मम । अत्रैकस्या नायिकाया उत्थानाद्यनेकक्रियासंबन्धः ।
अत्र च गुणक्रिययोरादिमध्यावसानसद्भावेन त्रैविध्यं न लक्षितम् ।
तथाविधवैचित्र्यस्य सर्वत्रापि सहस्रधा संभवात् ।

न्तरेषु जन्मान्तरेषु ॥ द्वितीयं दीपकमुदाहरति—दूरमिति । प्रतिबस्तूपमालं-

१. गुणेति । दण्ड्यादिग्रन्थ लक्ष्मीकृत्येयमुक्तिः । तथा आचार्यदण्डी—‘जाति-
क्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्र वर्तिना । सर्ववासयोपचारक्षेत्रमाशुदीपकं, यथा ॥’ इत्येव-
मादिदीपकचक्रमाह सः । आचार्यरुद्रटोऽपि—‘आदा मध्येऽन्ते वा वाक्ये तत्संस्थितं च
दीपयति । वाक्यार्थमिति भूयस्त्रिभैतदेवं भवेत्सोदा ॥’ इत्यादि । कुवलयानन्दे तु
‘अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरेव च । दीपकस्थान एवेष्टमलंकारत्रयं यथा ॥’
इत्यावृत्तिगोक्तदिष्टा—‘त्रिविधं दीपकवृत्तौ भवेदावृत्तिदीपकम् । वर्षत्यमुदमा-
लेयं वर्षत्येवा च शर्वरी । उन्मीलन्ति कदम्बानि स्फुरन्ति कुटजोद्गमाः । माघन्ति
चातकारवृत्ता माघन्ति च शिखावलाः ।’ इत्युपनिबद्धम् । प्रथमे वर्षतीति शब्दावृत्तिः
तत्र शर्वरी उदीपकत्वाद् वर्षमिवाचरति वर्षतीति छिष्टम् । द्वितीये उन्मीलन-स्फुरनयो-
रपेक्ष विकासरूपस्यावृत्तिः । तृतीये माघन्तीतिपदस्य तदपेक्ष एवंस्यावृत्तिरिति ।
एवं ‘कनिकैकगतानां तु शुम्भः कारकदीपकम् । गच्छत्यागच्छति पुनः पान्थः परयति
पुच्छति ॥’ इति कारकदीपकम् । अनेकस्य कर्तृकारकस्य गमनादिक्रियासंबन्धः ।
यस्य कारकान्तराण्यपि । तत्र—‘स्वार्थं यस्य निबं जगतां जनिरेधारी ततः
पालनं मुरायेः करणं दिवाहितविनिष्कायेः सुसंभावनम् । भूतेतिः सहसा कृपा
निबन्धिर्यस्यसह्यार्थमकलस्य पूर्वशुरुचभाष जगतामीशाय शिवे नमः ॥’ इति संरन्धिन
उदाहरणम् । यदपि नगरकपदस्य निमज्जवर्षद्वारा क्रियान्वयिनि शक्ततया पञ्चवत्स
च नामार्थे पदान्वयेन क्रियान्वयविरहाद् ‘यस्य’ इति पदस्य न कारकत्वम्, तथापि
पालनादिसमभिव्याहारे ‘कर्तृकर्मणेः कृति’ इति पक्षीविधानात्तत्र कर्मत्वलक्षणावरोपकत्वेन
तस्य क्रियान्वयादसोदाहरणत्वमविरुद्धम् ॥

प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ॥ ४९ ॥
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ।

यथा—

‘धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यथा समाकृष्यत नैषधोऽपि ।

इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदन्विमप्युत्तरीकरोति ॥’

अत्र समाकर्षणमुत्तरीकरणं च क्रियैकैव पौनरुक्त्यनिरासाय भि-
न्नावचकतया निर्दिष्टा । इयं मालयापि दृश्यते यथा—

‘विमल एव रविर्विशदः शशी

प्रकृतिशोभन एव हि दर्पणः ।

शिवगिरिः शिवहाससहोदरः

सहजमुन्दर एव हि सज्जनः ॥’

अत्र विमलविशदादिरर्थत एक एव । वैधर्म्येण यथा—

‘चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकाचामकर्मणि ।

विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रेतनर्मेणि ॥’

धारमाह—प्रतीति । वाक्ययोर्वान्वयार्थयोः गम्यसाम्ययोः प्रतीयमानोपमानोपमे-
यभावयोः । तेन ‘पथं मनोज्ञं कचिरः शशाङ्कः’ इत्यादौ नातिव्याप्तिः । तत्र वाक्या-
र्थयोरुपमानोपमेयभावप्रत्यवाभावात् । ‘प्रथमशते मुरं तस्याध्वन्त्रमा दीप्यते यथा’
इत्याद्युपमाधारणाय गम्येति । न चात्र प्रागुक्तरीत्यैवाक्यत्वमेवेति वाच्यम् । अत्र
गम्य इत्युपादानादेव तत्र तथा कल्पनात् । अन्यथा भिन्नवास्ये उपमाप्रयत्नभा-
वेन प्रतिवस्तूपमेय न स्यात् । दृष्टान्तवाङ्मयाह—एकोऽपीति । ‘एकरूपः
कश्चिदपि भिन्नः साधारणो गुणः’ इत्युक्तदिशा प्राप्तस्य भिन्नसामान्यधर्मस्य व्यप-
च्छेदः पृथग्भिन्नान्दान्वां तेन रीपस्य व्यपच्छेदः ॥ धन्यासीति । दमयन्ती
प्रति हंसस्योक्तिरियम् ॥ पौनरुक्त्येति । कथितपदत्वेनेत्यर्थः । भिन्नवाचक-
तया विभिन्नवाचकत्वेन ॥ इयं प्रतिवस्तूपमा । विमल इति । शिवगिरिः शिवहासः
शिवस्य हासस्य च सहोदरस्तुल्यः ॥ नन्वत्र प्रतिवाङ्मयं धर्मभेद एवेति कथं प्रति-
वस्तूपमेयत्वं भाह—अत्रेति । अर्थतत्त्वात्पर्यात् । विमल्यदिपदानां विभिन्नार्थत-
वाचकत्वेऽपि पर्यवसाने तात्पर्यवशाद्भिन्नत्वरूपधर्मोपपन्नमेति भावः ॥ अचन्ती-

१. प्रतीति । प्रतिवस्तु प्रत्ययमुपमा यस्यामेति ॥

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ॥ ५० ॥

सधर्मस्येति प्रतिवस्तूपमाव्यवच्छेदः । अयमपि साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां
द्विधा । क्रमेणोदाहरणम्—

‘अविदितगुणापि सत्कविमणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम् ।

अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला ॥’

‘त्वयि दृष्टे कुरङ्गाक्ष्याः संसते मदनव्यथा ।

दृष्टानुदयभाजीन्दौ ग्लानिः कुमुदसंहतेः ॥’

‘वसन्तलेखैकनिबद्धभावं परासु कान्तासु मनः कुतो नः ।

प्रफुल्लमह्नीमधुलम्पटः किं मधुव्रतः काङ्क्षति वल्लिमन्याम् ॥’

इदं पद्यं मम । अत्र ‘मनः कुतो नः’ इत्यस्य ‘काङ्क्षति वल्लिमन्याम्’
इत्यस्य चैकरूपतयैव पर्यवसानात्प्रतिवस्तूपमैव । इह तु कर्णे मधुधारा-
वमनस्य नेत्रहरणस्य च साम्यमेव, न त्वैकरूप्यम् । अत्र सामर्थ्यसम-
र्थकवाक्ययोः सामान्यविशेषभावोऽर्थान्तरन्यासः । प्रतिवस्तूपमादृष्टा-
न्तयोस्तु न तथेति भेदः ।

संभवन्वस्तुसंयन्धोऽसंभवन्वापि कुत्रचित् । निदर्शनात्

रवन्तिदेशोत्पन्ना नारीः । विनाशब्दोऽत्र भिन्नार्थः ॥ दृष्टान्तालंकारमाह—दृष्टान्त-
इति । सधर्मस्य सदृशस्य वस्तुनः सामान्यधर्मस्य प्रतिबिम्बनं प्रणिधानगम्यसा-
म्यत्वम् । अत्रापि वाक्ययोरित्यनुवर्तते । तेन ‘भङ्गापवर्जिते.’ इत्यत्र नातिव्याप्तिः ।
एकवाक्यत्वात् ॥ अयमपि दृष्टान्तोऽपि । संसते नश्यति । ग्लानिः संयोजः ।
मदनव्यथाग्लान्योः संतोषविरोधित्वात्साम्यम् । अनयोः सत्त्वासत्त्वाभ्यां वैधर्म्यम् ।
इह स्थितिः । प्रीतिमनन एव पर्यवसानादेकरूप्येऽपि प्रीतेर्बलक्षण्याद्वैलक्षण्यमिति
भावः । अत्रेति । प्रतिवस्तूपमादृष्टान्तयोरित्यर्थः । न तथा न सामान्यविशेषभावो
न वा समर्थसमर्थकभावः ॥ निदर्शनालंकारमाह—संभवन्निति । असंभवन् वा-

1. दृष्टान्त इति । तदुक्तम्—‘दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्’ इति । त्वयि
इह शत्रुदाहरणस्य मूलभूता तु—‘त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वन्ति मनो मनोमवज्जलि-
तम् । भालोके हि हिमागोर्विकसति कुसुमं कुमुदलाः ॥’ इति प्रकाशोदाहृत-
वार्ता । अत्र नायकदिमाश्रितोविकाकुमुदलोच्छ्रवयोः संवन्धिपदार्थयोस्तथा मनः-
कुसुमयोश्चपनेयोश्चमानयोर्निर्वाणवेकसंयोज्य विम्बप्रतिबिम्बभाव इति साधर्म्येन दृष्टान्तः ।
एव च कार्य इति प्रतिवस्तूपमोदाहरणे तृतीयचरणे ‘भावन्त्य एव निपुणा.’ इत्याकरस-
पाठे तु साधर्म्यमेव ॥

यत्र विम्बानुविम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना ॥ ५१ ॥

तत्र संभवद्वस्तुसंबन्धनिदर्शना यथा—

‘कोऽत्र भूमिवलये जनान्मुधा तापयन्सुचिरमेति संपदम् ।

वेदयन्निति दिनेन भानुमानाससाद चरमाचलं ततः ॥’

अत्र रवेरीदृशार्थवेदनक्रियायां चक्षुस्त्वेनान्वयः संभवत्येव । ईदृशार्थज्ञापनसमर्थचरमाचलप्राप्तिरूपकर्मवत्त्वात् । स च रवेरस्ताचलगमनस्य परितापिनां विपत्प्राप्तेश्च विम्बप्रतिविम्बभावं बोधयति । असंभवद्वस्तुनिदर्शना त्वेकवाक्यानेकवाक्यगतत्वेन द्विविधा । तत्रैकवाक्यगा यथा—

‘कलयति कुवलयमालाललितं कुटिलः कटाक्षविक्षेपः ।

अधरः कितलयलीलामाननमस्याः कलानिधिविलासम् ॥’

अत्रान्यस्य धर्मं कथमन्यो ब्रूहत्विति कटाक्षविक्षेपादीनां कुवलयमालादिगतललितादीनां कलनमसंभवचललितादिसदृशं ललितादिकमवगमयत्कटाक्षविक्षेपादेः कुवलयमालादेश्च विम्बप्रतिविम्बभावं बोधयति । यथा वा—

‘भ्रयाणे तव राजेन्द्र ! मुक्ता धैरिमृगीदृशाम् ।

राजहंसगतिः पञ्चामाननेन शशिद्युतिः ॥’

धितः । विम्बानुविम्बत्वमुपमानोपमेयभावं बोधयेत् । “व्यञ्जनया” इति शेषः ॥ कोऽत्रेति । मुधा निष्प्रयोजनम् । ततो दिनान्तरे ॥ ईदृशार्थेति । पूर्वाधेयार्थः । स च वेदनक्रियान्वयः । विम्बानुविम्बभावं सादृश्यम् । तच्चादर्शनप्रयोजकत्वेनेति बोध्यम् ॥ कलयतीति । अत्र धर्मधर्मिणोरुपमाकल्पनम् ॥ धर्मयोः उपमाकल्पने निदर्शनालङ्कारमुदाहरति—यथा वेति । मुक्ता लक्षा ॥ तयोः पदयोस्तत्सं-

१. निदर्शनेति । निश्चित दृश्यं सादृश्याभिप्रेक्षणं निदर्शना । दृश्येयन्तास्तिताभावे युज् ॥ कुवलयानन्दे स्तेवं लक्ष्यते—“वाक्याधेयोः सदृशयोरेववारोपो निदर्शना । यद्वातुः सौम्यता सेयं पूर्णेन्दोरकलङ्कता ।” अत्र यद् वातुः सौम्यतेरुपमेयवाक्याधेयेयं पूर्णेन्दोरकलङ्कतेत्युपमानवाक्याधेयस्य वचनानामेववारोपः । यदित्यन्वयम् । इयं वाक्याधेयचिनिदर्शना । “पदार्थवृत्तिमध्यके नन्दन्या निदर्शनाम् । त्वेष्वनुपलब्धे लीला नीलाङ्गुलमनोः ॥” इयं पदार्थवृत्तिनिदर्शना ललितोपमेयं चन्द्राब्धेके । “अपरा बोधने वातुः क्रियावत्सदृशधेयोः । नन्देद्वानविरोपीति धीर्णे पन्त्रेये तवः ॥ उपप्रेयं सतिता पद्मेध्वयमि भियद् । निभाषयन् सगुनीनां फलं यद्दरुमरः ॥” इत्यसदृश-सदृशे निदर्शने । असदृशनिदर्शनायां राजशब्दः हिटः ॥

अत्र पादाभ्यामसंबद्धे राजहंसगतेस्त्यागोऽनुपपन्न इति तयोस्तत्संबन्धः कल्प्यते, स चासंभवन् राजहंसगतिमिव गतिं बोधयति । अनेकवाक्यगा यथा—

‘इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःकुमं साधयितुं य इच्छति ।

ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया समिल्लतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥’

अत्र यत्तच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यार्थयोरभेदेनान्वयोऽनुपपद्यमानस्तादृशवपुस्तपःकुमत्वसाधनेच्छा नीलोत्पलपत्रधारया समिल्लताछेदनेच्छेवेति बिम्बप्रतिबिम्बभावे पर्यवस्यति ।

यथा वा—

‘जन्मेदं बन्ध्यतां नीतं भवभोगोपलिप्सया ।

काचमूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्मया ॥’

अत्र भवभोगलोभेन जन्मनो व्यर्थतानयनं काचमूल्येन चिन्तामणिविक्रय इवेति पर्यवसानम् । एवम्—

‘क सूर्यप्रभवो वंशः क चारुपविषया मतिः ।

तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥’

अत्र मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमुडुपेन सागरतरणमिवेति पर्यवसानम् । इयं च कचिदुपमेयवृत्तस्योपमानेऽसंभवेऽपि भवति । यथा—

‘योऽनुभूतः कुरङ्गाक्ष्यास्तस्यां मधुरिमाधरे ।

समास्त्रादि स मृद्वीकारसे रसविद्यारदैः ॥’

अत्र प्रकृतस्याधरस्य मधुरिमधर्मस्य द्राक्षारसेऽसंभवात्पूर्ववत्साम्ये पर्यवसानम् । मालारूपापि यथा मम—

‘क्षिपसि शुक्रं वृषदंशकवदने मृगमर्षयसि मृगादभरदने ।

वितरसि तुरगं महिषविषाणे निदधचेतो भोगविताने ॥’

यन्धः राजहंसगतिष्वन्धः ॥ इदमिति । शकुन्तरामालोक्य दुष्यन्तस्योक्तिरियम् । अव्याजनोहरं स्वभावमुन्दरम् । अर्थादनेन तप कुमं साधयितुं य इच्छतीत्यर्थः । ऋषिः कृष्वः । व्यवस्यति इच्छति ॥ जन्मेदमिति । वीतरागस्योक्तिरियम् । बन्ध्यतां निष्फलताम् ॥ एवमिति । उडुपेन ध्रुवनौद्वया ॥ उपमेयवृत्तस्य उपमेयधर्मस्य उपमेये बाधादुपमादल्पनमिति विशेषः ॥ एवं ‘सुखं ते चन्द्रम.सर्पि पद्मजद्वेष्टि लोचनम् ।’ अत्र सर्पाद्वेष्टयोद्येतनधर्मत्वान्मुखलोचनयोरसंभवादुपमायां पर्यवसानम् ॥ वृषदंशको मार्जारः । मृगादनस्त्राधुः । वितरसि

इह विम्बप्रतिविम्बताक्षेपं विना वाक्यार्थापर्यवसानम् । दृष्टान्ते तु पर्यवसितेन वाक्यार्थेन सामर्थ्याद्विम्बप्रतिविम्बताप्रत्यायनम् । नापी-
यमर्थापत्तिः । तत्र 'हारोऽयं हरिणाक्षीणां—' इत्यादौ सादृश्यपर्यव-
सानाभावात् ।

आधिक्यपुपमेयस्योपमानान्यूनताय वा ।

व्यतिरेकः—

स च—

एक उक्तेऽनुक्ते हेतौ पुनस्त्रिधा ॥ ५२ ॥

चतुर्विधोऽपि साम्यस्य बोधनाच्छब्दतोऽर्थतः ।

आक्षेपाच्च द्वादशधा श्लेपेऽपीति त्रिरष्टधा ॥ ५३ ॥

प्रत्येकं स्थान्मिलित्वाष्टचत्वारिंशद्विधः पुनः ।

उपमेयस्योपमानादाधिक्ये हेतुरुपमेयगतमुत्कर्षकारणमुपमानगतं नि-
कर्षकारणं च । तयोर्द्वयोरप्युक्तावेकः प्रत्येकं समुदायेन वानुक्तौ । त्रिविध
इति चतुर्विधेऽप्यस्मिन्नुपमानोपमेयत्वस्य निवेदनं शब्देन अर्थेन आक्षेपेण
चेति द्वादशप्रकारोऽपि श्लेपेऽपीत्यपिशब्दादश्लेपेऽपीति चतुर्विंशतिप्रकारः ।
उपमानान्यूनतायामप्यनयैव भङ्ग्या चतुर्विंशतिप्रकारतेति मिलित्वा-
ष्टचत्वारिंशत्प्रकारो व्यतिरेकः ।

क्षिपति । अत्र वैपयिकसुखानुभवसत्तावे चेतोविधानं वृषदंशरुवदनादौ शुभारपण-
मिवैःसुपमाया पर्यवसानम् ॥ दृष्टान्तादेर्निदर्शनाभेदमुपपादयति—इहेति । निद-
र्शनायामित्यर्थः । ननु 'वोऽत्र भूमिक्लये—' इत्यादौ जनतापकरः सूर्योऽप्यसं याति
निमुतान्य इति दृष्टापूपन्यायादर्शान्तरप्रतीतिरस्तीतीयमर्थापत्तिरित्यत आह—
नापीयमिति । सादृश्येति । तथा सादृश्यपर्यवसानस्थले निदर्शनेव, विशेषत्वा-
दन्यत्र त्वर्थापत्तिरिति भावः ॥ व्यतिरेकलंघनमाह—आधिक्यमिति । व्यति-
रिच्यते उपमानवैलक्षण्येनोपलभ्यते उपमेयमनेनेति व्यतिरेकपदव्युत्पत्तिरवधेया ।
आधिक्यपक्षं विरुत्पयति—एक इति । नोक्त इति हेतवित्यनुपपत्तिः । शब्दत
इति शब्दात् । अर्थतस्तुल्यादिपदार्थानुसंधानात् । आक्षेपाद् व्यग्रतातः ।
श्लेपेऽपीत्यादिना श्लेषाभावमुच्यते । त्रिरष्टधा चतुर्विंशतिप्रकारः ॥ निरूपोऽ-
परुपः । प्रत्येकमिति । उत्कर्षश्रृणुकावपर इत्यर्थः । अनयैव भङ्गयेति ।
निरुपक्रमेणेत्यर्थः । तथाहि—उपमेयस्योपमानान्यूनतायां हेतुरुपमेयगतं निर्व-
कर्ष-

उदाहरणम्—

‘अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा ।’

अत्रोपमेयगतमकलङ्कत्वमुपमानगतं च कलङ्कित्वं हेतुद्वयमप्युक्तम्, यथाशब्दप्रतिपादनाच्च शाब्दमौपम्यम् । अत्रैव ‘न कलङ्कविधूपमम्’ इति पाठ आर्थम् । ‘जयतीन्दुं कलङ्किनम्’ इति पाठे त्विवचतुल्यादिपदविरहादाक्षिप्तम् । अत्रैवाकलङ्कपदत्यागे उपमेयगतोत्कर्षकारणानुक्तिः । कलङ्कपदत्यागे चोपमानगतनिकर्षकारणानुक्तिः । द्वयोरनुक्तौ द्वयोरनुक्तिः । श्लेषे यथा—

‘अतिगाढगुणायाश्च नाञ्जवद्भङ्गुरा गुणाः’

अत्रैवार्थे वतिरिति शाब्दमौपम्यम् । उत्कर्षनिकर्षकारणयोर्द्वयोरप्युक्तिः । गुणशब्दः श्लिष्टः । अन्ये भेदाः पूर्ववद्दूषाः । एतानि चोपमेयस्योपमानादाधिक्य उदाहरणानि । न्यूनत्वे दिष्टान्नं यथा—

‘क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम् ।’

विरम प्रसीद सुन्दरि ! यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥’

अत्रोपमेयमूतयौवनास्वैर्यस्याधिन्यम् । तेनात्र ‘उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः’ इति केषांचिल्लक्षणे ‘विपर्यये वेतिपदमन-

कारणमुपमानोत्कर्षकारणं च । तयोर्द्वयोरप्युक्तावेकः । प्रत्येकं समुदायेन वानुक्तौ त्रिविध इत्याद्युक्तप्रकारेण चतुर्विंशतिविधत्वं बोध्यम् । जयतीति । जयः पराभवः स चापट्टशब्देन ज्ञानं तस्य च मुखेऽसंभवात्सादृश्ये पर्यवमानमित्याक्षेप इति भावः । द्वयोरिति । अकलङ्किकलङ्कपदयोरित्यर्थः । द्वयोरनुक्तिः उत्कर्षनिकर्षकारणयो-
रनुक्तिः मुखे चन्द्रसादृश्यनिषेधेनैवाधिक्यं प्रतीयते । अतिगाढेति । अतिगाढगुणशालित्वमुपमेयगतोत्कर्षकारणं भङ्गुरगुणभागित्वमुपमानाञ्जापकर्षकारणम् । पूर्वचदिति । ‘तस्या नाञ्जवद्भङ्गुरा गुणाः’ इति, ‘अतिगाढगुणायाश्च नाञ्जवद्भङ्गुराः’ इति, ‘तस्या नाञ्जवद्भङ्गुरा’ इति प्रकारत्रयमूच्यम् ॥ क्षीणः क्षीण इति । मानिनी प्रत्युक्तिरियम् । विरमेति । ‘मानात्’ इति श्लेषः । यातं यौवनं ॥ अनिवर्ति । यौवनं पुनर्न वर्धते इति तात्पर्यार्थः । अत्र पुनर्वर्धनमुपमानचन्द्रोत्कर्षकारणम् । अपुनर्वर्धनमुपमेययौवननिकर्षकारणम् । उपमानन्यूनतायां व्यतिरेकमस्तीकुर्वतां मतं दूषयति—अत्रोपमेयेति । चन्द्रास्वैर्यमत्रोपमानं बोध्यम् । तेन ‘क्षीणः क्षीणः—’इत्यादावाधिन्यव्यतिरेकेनैव समप्रसभवेन विपर्यये वा न्यूनतायां वा ।

१. केषांचिदिति । अलवारसर्वस्वकारणम् ॥

र्थकम्' इति यत्केचिदाहुः । तन्न विचारसहम् । तथाहि—अत्राधिक-
न्यूनत्वे सत्त्वासत्त्वे एव विवक्षिते । अत्र च चन्द्रापेक्षया यौवनसा-
सत्त्वं स्फुटमेव । अस्तु वात्रोदाहरणे यथाकथंचिद्भूतिः ।

‘हनूमदाद्यैर्यशसा, मया पुनर्द्विषा हसैर्दूतपथः सितीकृतः ।’

इत्यादिषु का गतिरिति सुप्रुक्तं ‘न्यूनताथवा’ इति ।

सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः ॥ ५४ ॥

सा संहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत् ।

अतिशयोक्तिरप्यत्राभेदाध्यवसायमूला कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्यय-
पा च । अभेदाध्यवसायमूलापि श्लेषभित्तिकान्यथा च । क्रमेणो-
दाहरणम्—

‘सहाधरदलेनास्मा यौवने रागभाविप्रयः ।’

तथाहीति । सत्त्वासत्त्वे उत्कृष्टत्वापहृष्टत्वे । ननु यौवनाद्यैर्गसाभिन्त्यस्य
निवेदनं प्रकृतस्य मानभास्योपपन्नकमेति तस्यैव वैचित्र्याधायकत्वं, न नु यौवना-
सत्त्वस्येवत आह—अस्तु वेति ॥ हनूमदाद्यैरिति । दमयन्तीं प्रति दूत-
त्वेनेन्द्रादिभिः प्रेषितस्य नलस्य तत्प्रयोजनादिदो विषादोक्तिरियम् । अत्र प्रभुप्र-
योजननिष्पादकत्वेन हनूमदादेरुपमानस्योत्कृष्टत्वं तदतिरेकेणोपमेयस्य नलस्यापहृ-
ष्टत्वं च प्रतीयते । अत्र दूतयोरुपमानोपमेयभावविवक्षणेऽपि उपमानस्यैवाभिन्त्यम्,
न रूपमेयस्येति ॥ सहोवत्त्वलभारमाह—सहार्थस्येति । सहार्थश्च साधु साधु-
सग-सज्ज प्रभृति । एकं बहुवाचकमन्वयि । अभेदाध्यवसायमूला अभेदा-
ध्यवसायहृपा । श्लेषभित्तिका श्लेषप्रतिपक्षमेदमूला । अन्यथा अश्लेषभित्तिका ।
सयन्धिमेदादयगतमेदमूलेति यावत् ॥ सहाधरेति । सहसन्दस्य रागभजनमर्थ,
तृतीयाया सयन्धित्वं तस्य च सहार्थसन्वय । सहसन्दस्याव्ययत्वात्तदर्थस्य द्वारी-
भूतविभक्त्यर्थं विनापि समग्रजीनत्वसवन्धेन रागभाससहार्थैर्द्वेष्टो रागभजनेना-
न्ययः । यौवन इति सतिशयस्या समग्रजीनत्वमर्थ, अस्यापि रागभजनेनान्वय ।
अस्या इति तात्पर्यसत्तादधरदलेन त्रियेण चान्वय । तथा चान्या त्रिय इदमपर-
दलस्येति सयौवनसजीनसगाभय इत्यन्वयशेष । राग. प्रेम लोहित च, तयोर-
भेदारोप । अन्यथा एतत्वाभावादेरस्योभयान्वयासंभवेन लक्षणमयंगत स्यात् ॥

1. हनूमदिति । ‘सगाम यत्राम पुषाभ्यधानसो महन्दक्षार्थं महदुत्तुम्भितम्’ ॥ ११
पूर्वापेक्षम् ।

2 सहोपीति । ‘सहोवत्त्वलोकि. सहोकि.’ इति हेमचन्द्रेण प्रतिपादम् ।
एतेन गवेषयताति श्रुतिः ॥

विनोक्तिर्यद्विनान्येन नासाध्वन्यदसाधु वा ॥ ५५ ॥

नासाधु अशोभनं न भवति । एवं च यद्यपि शोभनत्वं एव पर्यवसानं तथाप्यशोभनत्वागोचरमुखेन शोभनवचनस्यायमभिप्रायो यत्कस्यचिद्वर्णनीयस्याशोभनत्वं तत्परस्सनिधेरेव दोषः । तस्य पुनः स्वभावतः शोभनत्वमेवेति ।

यथा—

‘विना जलदकालेन चन्द्रो निस्तन्द्रतां गतः ।

विना ग्रीष्मोष्मणा मज्जुर्वेनराजिरजायत ॥’

असाध्वशोभनं यथा—

‘अनुयान्त्या जनातीतं कान्तं साधु त्वया कृतम् ।

का दिनश्रीर्विनाकेण का निशा शशिना विना ॥’

‘निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यथा न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम् ।

उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येत् ॥’

अत्र परस्परविनोक्तिभङ्ग्या चमत्कारातिशयः । विनाशब्दप्रयोगा-

कालीनरुद्धाध्यायः नूतमजरीत्यन्वयः ॥ विनोक्त्यलंघनमाह—विनोक्तिरिति । यत् यदि । एकपदार्थाशोभनत्वाभावादिप्रत्ययोरपराधार्थव्यतिरेकवचनं विनोक्तिरित्यर्थः । यद्यपीति । ‘नासाध्वन्यस्य’ इति शेषः । पर्यवसानं तात्पर्यम् । तथा च साधुत्वस्य साधुशब्देनैव प्रतिपादनमुचितमिति भावः । अशोभनत्वाभावमुखेन अशोभनत्वाभावप्रतिपादनद्वारा । तस्य परसंनिधिजातदोषस्य वस्तुनः । पुनर्दोषविषये सति स्वभावत एव न तु दोषविषयमरूपोपाधेः शोभनत्वमित्यन्वयः । शोषविषयेन च अशोभनत्वं भवति सामान्यविषय इति भावः ॥ चिनेति । निस्तन्द्रता निर्मलत्वम् । अत्र स्वतः सुन्दरसौधन्द्रकनराज्योर्मेषग्रीष्मोष्मसंनिधानरूपदोषविषयेन शोभनत्वं प्रतिपादीत्यर्थः ॥ जनातीतं मृतम् । का कृत्सिता चिनिद्रा । प्रफुल्ल । परस्परस्य दर्शनं विना, परस्परजन्मनिरर्थकत्वमुत्पत्तेनाशोभनत्वमिति भङ्गपेत्युक्तम् ॥

१. विनोक्तिरिति । इयं च न केवलं विनाशब्दस्य सत्य एव भवति । अपि तु विनाशब्दार्थवाचकमात्रस्य । तेन नन्-निर्वि-अन्तरेण-अन्ते-रहितेत्यादिप्रयोगे विनोक्तिरेव । अलंकारभाष्यकारस्तु ‘नित्यसंबन्धानामसंबन्धवचनं विनोक्तिः’ इति उच्यते । तत्र ‘मृणालमन्दानिलपन्दनानामुत्तीरस्वेवालकुशेयथानाम् । विद्योगद्रीकृतचेतनाया विनेव शैलं भवति प्रतीतिः ॥’ इत्युदाहरणम् । अत्र शैलस्याविनाशान्नेऽपि विनाभावो निवृत्त्यः ॥

१. ‘दोष-’ इत्यादि ‘-भावा’ इत्यन्ते वाच्ये पुनश्चान्तरे नास्ति । २. ‘अथ वार्ताद्वयं रिता यद्-’ स्याशोभनत्वं न भवति, शोभनत्वं तु तस्य सत्य एव । कदाचित्पुनः विनोक्त्या विना शोभनत्वं भवत्येव इति पुनश्चान्तरे वाच्यम् ।

भावेऽपि विनार्थविवक्षायां विनोक्तिरेवेयम् । एवं सहोक्तिरपि सहशब्दप्रयोगाभावेऽपि सहार्थविवक्षायां भवतीति बोध्यम् ।

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ।

व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥ ५६ ॥

अत्र समेन कार्येण प्रस्तुतेऽप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः । यथा—

‘व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनाया

वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः ।

आलिङ्गसि प्रसभमङ्गमशेषमस्या

धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाह ॥’

अत्र गन्धवाहे हठकामुकव्यवहारसमारोपः ।

लिङ्गसाम्येन यथा—

‘असमाप्तजिगीपस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः ।

अनाक्रम्य जगत्कुत्सं नो संध्यां भजते रविः ॥’

एवं सहोक्तिरिति । अत एव ‘सममेव नराधिपेन सा’ इदमित्युदाहरणमुपपन्नम् ॥ समासोक्त्यलंकारमाह—समासोक्तिरिति । समैः प्रस्तुताप्रस्तुतसाधारणैः । यत्रेत्यव्ययं य इत्यर्थे । लिङ्गं स्त्रीत्वादि । व्यवहियते विशेषेण प्रतीयतेऽनेनेति व्यवहारोऽवस्थामेदः । ‘इह तु स्वावस्थासमारोपेण’ इत्यादिवक्ष्यमाणस्वरसाद् अत्र व्यवहारसमारोपे कृतप्रकृतविशेषाधानस्यानुभवसिद्धतया व्यवहारः । अथवा ‘तत्त्वमीपम्ये यत्प्रतीयते’ इति प्राचीनोक्तानुसारेण च व्यवहारसमानरूपैव समासोक्तिरनेनाज्ञीकृता । ननु ‘परोक्तिर्भेदकैः छिष्टैः समासोक्तिः’ इति काव्यप्रकाशालक्षणा-नुसारेण प्रकृतवाचिना छिष्टविशेषणवत्यदप्रकृतव्यञ्जनरूपद्वितीयाधस्योपमानत्वान-ज्ञीकारेणासंगतिप्रसङ्गात् । अन्यस्याप्रस्तुतस्य समासेन सकृदुच्चारणरूपसंक्षेपेणावस्था-द्वयप्रतीतिः समासोक्तिरिति संज्ञाव्युत्पत्तिरवधेया । यद्वा समस्य कार्योदरासेन उपन्यासेन उक्तिरप्रस्तुतावस्थान्वयनम् ॥ व्याधूयेति । अत्र नायिकायाः स्वनव-सानाक्षेपपूर्वकालिङ्गनमेव कार्यं प्रकृतस्य बायोरप्रकृतस्य बायकस्य चेति समानम् । यदि पुनर्नायिकायास्त्वादृशालिङ्गनगप्राप्नुवतः कस्यचिदात्मनोऽधन्यत्वनिवेदनमेत-रस्यात्तदा बायोरप्रकृतत्वाधेयं समासोक्तिः । किंतु ‘धन्याः यत्तु यने वाताः—’ इत्यादिवक्ष्यमाणवद्वैधर्म्येणाप्रस्तुतप्रसंसेव । अहमधन्य इति प्रस्तुतस्य गम्यत्वात् । एवं च ‘नवा दत्ता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मरुन्दशीकरैः’ इत्याद्युदा-हरणमस्वाधगन्तव्यम् । यत्र वायुर्वर्पणीयत्वेन प्रकृतत्वत्र चुम्बनरूपकार्यसाम्येन दृष्टारित्वरूपनायकवस्थासमारोपपथादुक्तमावहति ॥ असमाप्तजिगीपस्येति ।

१. समेति । समासेन संक्षेपेणोक्तिर्यद्वयकथन समासोक्तिः ॥

१. यथा—‘इहापरद्वेनास्य केने रामवायिक’ इति पुलकितचरे पाठः ।

- अत्र पुंस्त्रीलिङ्गमात्रेण रविसंध्ययोर्नायकनायिकाव्यवहारः । विशेषणसाम्यं तु श्लिष्टतया, साधारण्येन, औपम्यगर्भत्वेन च त्रिधा । तत्र श्लिष्टतया यथा मम—

‘विकसितमुखी रागासङ्गाद्गलतिमिरावृत्तिं
दिनकरकरस्पृष्टामैन्द्री निरीक्ष्य दिशं पुर’ ।

जरठलवलीपाण्डुच्छायो मृशं कलुषान्तरः

श्रयति हरितं हन्त प्राचेतसीं तुहिनद्युतिः ॥’

अत्र मुखरागादिशब्दानां श्लिष्टता । अत्रैव हि ‘तिमिरावृत्तिम्’ इत्यत्र ‘तिमिराशुकम्’ इति पाठे एकदेशस्य रूपणेऽपि समासोक्तिरेव । न त्वेकदेशविवर्तिरूपकम् । तत्र हि तिमिरांशुकयो रूप्यरूपकभावो द्वयोरावरकत्वेन स्फुटसादृश्यतया परसाचिव्यमनपेक्ष्यापि स्वमात्रविश्रान्त इति न समासोक्तिबुद्धिं व्याहन्तुमीशः । यत्र तु रूप्यरूपकयो सादृश्यमस्फुटं तत्रैकदेशान्तररूपणं विना तदसंगतं स्यादित्यशाब्दमप्येकदेशान्तररूपणमार्थमपेक्षत एवेति तत्रैकदेशविवर्तिरूपकमेव । यथा—

‘जस्त रणन्तेउरए करे कुणन्तस्त मण्डलगलभम् ।

रससंमुही वि सहसा परम्मुही होइ रिउसेणा ॥’

मनस्विनो नीतिवेदिन । अत्र दृष्टान्तत्वेनाप्रकृतयोरपि रविसंध्ययो प्रकृताङ्गत्वे नैव प्रकृतत्वमवधेयम् । न चायं समासोक्तिमूलकोऽर्थान्तरन्यास इति वाच्यम् । प्रथममप्रकृतार्धप्रतीतेरसम्भवात्प्राथमिकप्रतीतिविषयत्वेन समर्थकत्वाद्दीवारात् । आरोपितस्त्रीपुंसभावयोः स्त्रीपुंसविशेषत्वाभावेन सामान्यसमर्थकत्वायोगाच्च ॥ साधारण्येन वाच्यमप्यवगतत्वेन ॥ विकसितेति । मुखमेकदेशो वक्ष्यते । रागो रक्तिमा सुरतेष्टा ॥ गलन्ती नश्यन्ती तिमिरावृत्तिर्यस्यास्ताम्, पक्षे—गलन्ती स्थलन्ती तिमिरमेवावृत्तिवसन यस्यास्ताम् । पङ्कलवलीफलत्वेन पाण्डुच्छाया कान्तिर्यस्य । कलुषान्तरं कलङ्गमलिनाभ्यन्तरं, पक्षे—इर्ष्यावपायितचित्तं ॥ अत्र प्राच्यां बन्धनीव्यवहारश्च नयकव्यवहारश्च प्रतीयते ॥ एकदेशविवर्तिरूपकेण सादृश्या विषमविभागं करोति—तत्र हीति । परस्य नाविव्यरूपणस्य साचिव्यमानुकूल्यम् । स्वमात्रेण गुणसामर्थ्येनैव विधान्त वैचित्र्यविशेषे कार्ये उपक्षीण ॥ जस्त इति ॥ परस्य रणान्तं पुरे करे उर्वाणस्य मण्डलाप्रवृत्ताम् । रससमुत्पत्तिं

१ ‘दिना’ इत्यदि—‘रण’ इत्यन्तः पाठो यत्पुस्तके नास्ति २ प्रथममप्रकृतार्धप्रथमपक्षे
‘विना मण्डलप्रवृत्तामप्येव समासोक्तिरवधारयताम्’ इति पुस्तकान्तरे. ३. ‘आरोपित’ इत्यदि भवे
‘ग’ इत्यन्तः पाठो पुस्तकान्तरे नास्ति.

अत्र रणान्तःपुरयोः सादृश्यमस्फुटमेव । कचिच्च यत्र स्फुटसादृ-
श्यानामपि बहूनां रूपणं शाब्दमेकदेशस्य चार्थं तत्रैकदेशविवर्ति
रूपकमेव । रूपकप्रतीतेर्व्यापितया समासोक्तिप्रतीतितिरोधायकत्वात् ।
नन्वस्ति रणान्तःपुरयोरपि सुखसंचारतया स्फुटं सादृश्यमिति चेत्,
सत्यमुक्तम् । अस्त्येव । किंतु वाक्यार्थपर्यालोचनसापेक्षम्, न खलु निर-
पेक्षम् । सुखचन्द्रादेर्मनोहरत्वादिवद्रणान्तःपुरयोः स्वतः सुखसंचारत्वा-
भावात् । साधारण्येन यथा—

‘निसर्गसौरभोज्ञान्तमृङ्गसंगीतशालिनी ।

उदिते वासराधीशे स्मेराजनि सरोजिनी ॥’

अत्र निसर्गेत्यादिविशेषणसाम्यात्सरोजिन्या नायिकाव्यवहारप्रतीतौ
स्त्रीमात्रगामिनः स्मेरत्वधर्मस्य समारोपः कारणम् । तेन विना विशेष-
णसाम्यमात्रेण नायिकाव्यवहारप्रतीतेरसंभवात् । औपम्यगर्भत्वं पुन-
स्त्रिधा संभवति, उपमारूपसंकरगर्भत्वात् । तत्रोपमागर्भत्वे यथा—

‘दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी ।

केशपाशालिवृन्देन सुवेपा हरिणेषणा ॥’

अत्र सुवेपत्ववशात्प्रथमं दन्तप्रभाः पुष्पाणीवेत्युपमागर्भत्वेन समा-

सहसा पराश्रुयी भवति रिपुसेना ॥’ इति संस्कृतम् । मण्डलप्रलतां खल्लताम् ।
रसेन समरेच्छया, मुरवेच्छया च । संमुखी अभिमुखगामिनी । अत्र यदि लिङ्गसा-
म्येन मण्डलप्रलतायां नायिकाव्यवहारः पराश्रुत्वस्वरूपसाम्येनापि रिपुसेनायां
प्रतिनायिकाव्यवहारः प्रतीयते, तथापि तदुभयं रणेऽन्तःपुररूपस्यासंगतिप्रसङ्ग-
सापेक्षमित्येव देशविषयतिरूपकमेवेदमिति भावः ॥ कचिच्च यत्रेति । अत्र सादृ-
श्यमर्यादया प्रथमतः एवाप्राप्तस्तुतोपस्थितिरिति भावः । नायिकाव्यवहारेति ।
यस्या मुखे स्वाभाविकं सौरभं तस्या एव व्यवहारसमारोपः । ननु शिष्टविशेषणस्य
व्यर्थं शाब्दप्रयोगसामर्थ्यादेवार्थान्तरप्रतिपादकत्वं साधारणविशेषणस्य तु वाच्यविशे-
षाधानेनैवोपलक्षणत्वात्प्रत्ययं तेनार्थान्तरप्रतीतिरित्यत आह—अत्रेत्यादि । मात्र
पदेन सरोजिन्या व्यवच्छेदः । सरोजिनीविक्रान्ते चित्तोद्वेगविशेषरूपस्मेरत्वस्य तादा-
त्म्यारोपः । कारणं सहकारि । तेन स्मेरत्वसमारोपेण । असंभवादिति ।
साधारणविशेषणस्य वाच्यविशेषाधानेनैव उपलक्षिततया व्यङ्ग्यरोपे सामर्थ्याभावा-
दिति भावः । एवं च साधारणविशेषणमप्रस्तुतासाधारण्यमार्थोपादिपदकृतमेवार्थ-
ान्तरप्रतिपादकमिति पठितम् । उपमारूपकयोः सङ्गित्वे सङ्गः ॥ दन्तप्र-
मेति । नन्वेतद्रूपकगर्भमेवेत्यत आह—सुवेपत्ववशादिति । सुवेपत्वस्यान्य

सः । अनन्तरं च दन्तप्रभासद्वयैः पुष्पैश्चितेत्यादिसमासान्तराश्रयेण समानविशेषणमाहात्म्याद्भरिणेषणायां लताव्यवहारप्रतीतिः । रूपकगर्भत्वे यथा—‘लावण्यमधुभिः पूर्ण—’ इत्यादि । संकरगर्भत्वे यथा—‘दन्त-प्रभापुष्प—’ इत्यादि । ‘सुवेपा’ इत्यत्र ‘परीता’ इति पाठे ह्युपमारूपकसाधकाभावात्संकरसमाश्रयणम् । समासान्तरं पूर्ववत् । समासान्तरमहिम्ना लताप्रतीतिः । एषु च येषां मते उपमासंकरयोरेकदेशविवर्तिता नास्ति तन्मते आद्यतृतीययोः समासोक्तिः । द्वितीयस्तु प्रकार एकदेशविवर्तिरूपकविषय एव । पर्यालोचने स्वाधे प्रकारे एकदेशविवर्तिन्युपमैवाङ्गीकर्तुमुचिता । अन्यथा—

‘ऐन्द्रे धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्वानार्द्रनखक्षताभम् ।

प्रमोदयन्ती सकलङ्गमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥’

इत्यत्र कथं, शरदि नायिकाव्यवहारप्रतीतिः । नायिकापयोधरेणार्द्रनखक्षताभशकचापधारणासंभवात् । ननु ‘आर्द्रनखक्षताभम्’ इत्यत्र स्थितमप्युपमानत्वं वस्तुपर्यालोचनया ऐन्द्रे धनुषि संचारणीयम् । यथा—‘दध्रा जुहोति’ इत्यादौ हवनस्यान्यथासिद्धेर्दधि संचार्यते विधिः ।

धातुपक्षेरेत्यर्थः । पुष्पपादार्द्राभ्यामपि शरीरशोभाविशेषस्य संभवेऽपि अलिङ्ग्येन तस्यासंभवात्तत्रैवोपमासमासस्यावश्यत्वमित्यवगन्तव्यम् । लताप्रतीतिः सुवेपात्वेन शोभात्वारोपो वेदितव्यः । लावण्येति । अत्र लावण्यमधुनोराहादपत्वे लोचनरोलम्बयोः श्यानत्वादिना स्फुटसादृश्यसंभवाद्रूपकाणां बहुत्वाभावाच्च समासोक्तिरेव, नत्वेकदेशविवर्तिरूपकम् । एकदेशविवर्तिरूपकस्य यदेतदुदाहरणं दत्तं तन्मतभेदेनेत्यवगन्तव्यम् । नन्वत्र मध्वादीनां मुखे बाधात्प्राथमिकरोधानुपपत्तिरिति चेत् । न । यथा ‘मुखचन्द्रं चुम्बति’ इत्यादौ चुम्बनस्य चन्द्रे बाधान्मुखे पर्यवसानं तथा मुखस्य चन्द्रस्य मध्वादावसंभवात्प्राप्यादौ पर्यवसानमिति स्वीकारात् । नन्वेवमपि पूर्ववत्समासद्वयाङ्गीकारेणोपमागर्भमेवेदमस्तु किमधिकेन रूपकगर्भत्वकल्पनेन इति चेत् । सत्यम् । गतानुगतिकन्यायेनास्य प्रकृतस्य स्वीकाराद् ग्रन्थरूपेण खण्डनीयत्वाच्च । द्वितीयस्त्विति । मुखे मध्वाद्यन्वयस्यासंभवात्प्रथमत एव पद्माभ्याहारेण प्रतीतिः, कुतो व्यग्रनायान्प्राणा समासोक्तिरिति भावः । घस्तुपर्यालोचनयेति । अभिप्रेतार्थबोधनानुरोधेन संचारणीयं याचितनाशदलन्यायेनार्पणीयम् । अत्र वैदिरव्यान्तमाह—दधेति । अन्यथासिद्धेः सायंप्रातर्जुशोकीति पयनान्तरप्राप्तेः । दधि दधिपदे । संचार्यते उपक्रम्यते । विधिरप्रातर्प्रापक्यत्वा-

एवं चेन्द्रचापाभमार्द्रनखक्षतं दधानेति प्रतीतिर्भविष्यतीति चेत् । न ।
एवंविधानिर्वाहे कष्टसृष्टिकल्पनादेकदेशविवर्त्यपमाङ्गीकारस्यैव ज्याय-
स्त्वात् । अस्तु वात्र यथाकथंचित्समासोक्तिः । 'नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैः—'
इत्यादौ, (५१७ पृ.) चान्यगत्यसंभवात् । किं चोपमायां व्यवहारमती-
तेरभावात्कथं तदुपजीविकायाः समासोक्तेः प्रवेशः । यदाहुः—

'व्यवहारोऽथवा तत्त्वमौपम्ये यत्प्रतीयते ।

तनौपम्यं समासोक्तिरेकदेशोपमा स्फुटा ॥'

एवं चोपमारूपकयोरेकदेशविवर्तिताङ्गीकारे तन्मूलसंकरेऽपि समा-
सोक्तेरप्रवेशो न्यायसिद्ध एव, तेनौपम्यगर्भविशेषणोत्थापितत्वं नास्या
विषय इति । विशेषणसाम्ये छिद्यविशेषणोत्थापिता साधारणविशेषणो-
त्थापिता चेति द्विधा । कार्यलिङ्गयोस्तुल्यत्वे च द्विविधेति चतुःप्र-
कारा समासोक्तिः । सर्वत्रैवात्र व्यवहारसमारोपः कारणम् । न च
कचिल्लौकिके वस्तुनि लौकिकवस्तुव्यवहारसमारोपः । शास्त्रीये वस्तुनि
शास्त्रीयवस्तुव्यवहारसमारोपः । लौकिके वा शास्त्रीयवस्तुव्यवहारसमा-
रोपः । शास्त्रीये वा लौकिकवस्तुव्यवहारसमारोप इति चतुर्था । तत्र
लौकिकवस्तुवपि रसादिभेदादनेकविधम् । शास्त्रीयमपि तर्कयुर्वेद-

विधिशक्तिः । तदुक्तम्—'सर्वप्राख्यातसंघन्धे श्रूयमाणे पदान्तरे । विधिशक्त्यु-
पसंक्रान्ते स्यादतोऽनुवादता ॥' इति । यथाख्याते स्थिता विधिशक्तिर्धोत्वर्थस्यान्य-
थासिद्धत्वे तत्रानुपयोगिनी अदग्धदहनन्यायेन पदार्थान्तरस्य विधेयतावाप्त्ययोगं
लभमाना पदान्तरे संचार्यते तथाप्रापीति भावः । अनिर्याह इति । अक्षय-
निर्वाहेत्यर्थः । ननु धर्मरूपनातो धर्मरूपत्वा लक्ष्यसीति न्यायेनोपमेयस्योपमा-
नत्वकल्पनमपेक्ष्यैकदेशविवर्त्यपमाकल्पना गुरुरित्यत आह—अस्तु चेति । नेत्रै-
रिवेति । 'नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैर्मण्डपैरिव सरःश्रियः । पदे पदे विभान्ति स्म चक्र-
माक्रेः स्रनैरिव ॥' इति प्रागुक्तोदाहरण इत्यर्थः । अन्यगत्यसंभवात्समासोक्ति-
प्रकारसंभवात् । 'एकदेशविवर्त्युपमेयाङ्गीकर्तुमुचिता' इति पूर्वोक्तान्वयः । ननु प्रागु-
क्तयुक्त्योत्पत्त्यनुपमानत्वं संचारणीयमिति चेत् । न । 'आर्द्रनखक्षताभम्' इत्य-
प्राप्त्या उपमाया अर्धबद्धेनैव कल्पनाया योग्यत्वात् । प्रकृते तु धोलास्रदसंभवा-
दिनि भावः । नन्यस्रचन्दबलयेनापि व्यवहारसमारोप इत्यत आह—किं
चेति । विशेषणना सादस्योपमममहिम्ना विशेष्यस्याप्यप्याहारेण प्रयमत एव
सादस्यप्रतीतिरुभयसिद्धा तथैव धोनुसाम्नाविरहाद् व्यवहारव्यञ्जनं न भव-
सीति भावः । व्यवहार इति । औपम्यगर्भविशेषणसाम्ये सति व्यवहारोऽप्रस्तु-

ज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धतयेति बहुप्रकारं समासोक्तिः । दिव्यात्रं यथा—
'व्याधूय यद्वसनं—' इत्यादौ लौकिके वस्तुनि लौकिकस्य हठकामुक-
व्यवहारादेः समारोपः ।

यैरेकरूपमखिलाखपि वृत्तिषु त्वां

पश्यद्भिरव्ययमसंख्यतया प्रवृत्तम् ।

लोपः कृतः किल परत्वजुषो विभक्ते-

स्तैर्लक्षणं तव कृतं ध्रुवमेव मन्ये ॥'

अत्रागमशास्त्रप्रसिद्धे वस्तुनि व्याकरणप्रसिद्धवस्तुव्यवहारसमारोपः ।
एवमन्यत्र । रूपकेऽप्रकृतमात्मस्वरूपसंनिवेशेन प्रकृतस्य रूपमव-
च्छादयति । इह तु स्वावस्थासमारोपेणावच्छादितस्वरूपमेव तं पूर्वा-
वस्थातो विशेषयति । अत एवात्र व्यवहारसमारोपो न तु स्वरूपस-
मारोप इत्याहुः । उपमाध्वनौ श्लेषे च विशेष्यस्यापि साम्यम्, इह तु
विशेषणमात्रस्य । अप्रस्तुतप्रशंसायां प्रस्तुतस्य गम्यत्वम्, इह त्वप्र-
स्तुतस्येति भेदः ।

तस्य साधर्म्यं तत्त्वं स्वरूपं नौ यत्प्रतीयते तदौपम्यं समासोक्तिर्न भवति तत्र
हेतुरेकदेशेति । स्फुटा सर्वानुभवसिद्धा । तथा च साहस्यप्रतीतिरेवानुभवसिद्धा न
व्यवहारप्रतीतिरिति । नात्र समासोक्तिप्रसङ्ग इति भावः । तत्त्वप्रतीतो समासोक्ति-
मन्ये स्वीकुर्वन्ति तन्मतानुसारेणैवाधवा तत्त्वमित्युक्तम् । व्यवहारदेरित्यादिपदेन
स्वरूपस्य ग्रहणम् ॥ यैरिति । अश्वेश्वरः संबोध्यः । वृत्तिषु वस्तुषु, पदार्थान्वयेषु
च । अव्ययमविनश्वरम्, अव्ययपदवाच्यं च । असेख्यतया अनन्तरूपतया,
संख्याविशेषप्रतिपादकतया च । परत्वजुष उक्तर्पमाजस्तव विभक्तेर्भेदग्रहस्य,
पक्षे—परवर्तिन्या विभक्तेः स्वादेर्लक्षणं विशिष्टज्ञानं सूत्रं च ॥ आगमशास्त्रप्रसिद्धे
वस्तुनीश्वरे व्याकरणशास्त्रप्रसिद्धवस्तुनो निपातस्य व्यवहारसमारोपः ॥ रूपका-
दस्याः परैरुपपादितं भेदं दर्शयति—रूपक इति । अप्रकृतं वस्तु आत्मरूप-
संनिवेशेन आत्मस्वरूपारोपणेन रूपं स्वरूपम् । इह तु समासोक्तौ तु ।
स्वावस्था स्वाधर्म्यम् । त्वं प्रकृतपदार्थं पूर्वावस्थातः प्रकृतावस्थामवच्छाद्य चिदो-
पपत्तिं ऊह्यत्वेन ज्ञापयति । अत्राप्यप्रकृतमिति कर्तृपदमन्वेति । विशेष्यस्या-
पीलादिना विशेषणस्यापि साम्यं प्रतीयत इति शेषः । गम्यत्वं व्यञ्जित्वम् ॥

1. एवमन्यत्रेति । 'गण्डान्ते मद्दन्तिनां प्रहरतः क्षमामण्डले वेधुते रक्षामाचरतः
सदा विदपते लोटेषु यात्रोत्सवम् । पूर्वमलयतः सिद्धिं शुभकरीमासेभ्यमानस्य ते वर्धन्ते
मिजंयभियः किमिव न धेयस्त्रिनां मद्गलम् ॥' अत्र ज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धवस्तुसमारोपः ॥

उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः ।

परिकरालंकारमाह—उक्तैरिति । विशेषणस्य प्रकृतोपयोगित्वज्ञापनमित्यर्थः ।
'विशेषणैः' इति बहुवचनं विवक्षितं तेनैव वैचित्र्यस्यानुभवसिद्धत्वात् । साभि-

1. परिकर इति । परिकरोति प्रकृतार्थमुपकरोतीति परिकरः साभिप्रायशब्दः सौ-
स्त्रिप्त्यतीति परिकरः । मत्वर्थोऽयं । भूषणार्थाभावात् सुहृत् । अत्र परिकरस्यालंकारत्वस्वी-
कारे विवृतिकारैः प्राचा संमतिरुक्तैव । तत्राप्ययदीक्षितास्तु—रूपयमकाद्यावपुष्टार्थत्वस्य दोष-
त्वाभावात्तत्रैकविशेषणस्य साभिप्रायत्वेऽप्यलंकारत्वं दुर्वारम् । एवं च 'सुधांशुकलितोत्त-
मस्य' इत्युक्तं नः शिवः' इत्यादावपि तत्संयुक्तत्वमित्याहुः । अन्ये तु रूपायतिरिक्तस्यैव
साभिप्रायविशेषणोपादानेन विच्छिन्नविशेषणस्वीकारे तस्यालंकारत्वं दुर्वारम् । अन्यथा
रूपादिस्यलेऽपि विच्छिन्नविशेषणो नास्तीत्यपि वक्तुं शक्यम् । यदि च तत्रानुभवः प्रमा-
णमित्युच्यते, तदान्यत्रापि मुख्यमिति न पृथगलंकारेति दीक्षितमर्थं दूषयित्वा—सुन्द-
रत्वे सत्युपस्कारकत्वमलंकारत्वम्, चमत्कारापकर्षकाभावत्वं च दोषाभावत्वम्, तयोश्च
कचिदेकत्र समावेशेऽपि नैकेनान्यस्यान्यथासिद्धेः उपाधेरसंकरात् । यथा माहात्म्यस्य मू-
खत्वं दोषः, विधा तु दोषाभावो गुणश्च तद्वदिह । अन्यथा काव्यलिङ्गमप्यलंकारो
न स्यात् । निर्हेतुत्वरूपदोषाभावात्प्रकृतात् । न च दोषाभावत्वेनैव संग्रहोऽस्तु, अलं-
कारत्वेन गणन किमर्थमिति वाच्यम् । दोषाभावान्तरपेक्षण्यवधारणाय तदुपपत्तेः । अ-
न्यथा गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन संगृहीतायाः समासोक्तेरप्यलंकारमध्ये गणना न स्यादिति
प्राहुः ॥

यत्तु दीक्षितैः—'साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकराङ्कुरः' । चतुर्णां पुरुषार्थानां दाया
देवश्चतुर्भुजः ॥' इत्युक्तम् । इह पुरुषार्थचतुष्टयदानोपपत्त्यर्थं चतुर्भुजपदं साभिप्रायमिति ।
तत्र परिकर एवान्तर्भावसंभवात् । चतुर्भुजपदस्य हि देवविशेष्यकभुजचतुष्टयवत्प्रकार-
रकबोधत्वं कार्यतावच्छेदकम् । तत्र विशेषणीभूतभुजचतुष्टयवत्त्वांशुर्देव प्रकृतोपकार-
कात्वात् ॥ 'फणीन्द्रस्ते गुणान्वक्तु लिखितुं वैद्यपाणिनः । द्रष्टुमाखण्डकः साक्षात्काहनेष
क ते गुणाः ॥' इत्यत्र प्रकृतोपपादकगौगिकार्थविरहात्कथं परिकरान्तर्भाव इति चेत्,
तर्हि सहस्रमुखादिपदानामभावात्कथं परिकराङ्कुरोऽपीत्यवधार्यताम् । सहस्रमुखत्वादी
फणीन्द्रादिपदानां सात्पर्यमिति चेत्, नूनमिदं विशेषणस्य साभिप्रायत्व एव संभवति
'फणीन्द्रस्तेतिशेषणोत्पत्तेर्न नृराज्ञेयत्वात्, अतो मृदुप्रदृष्टत्वेऽप्यत्रार्थः । प्रकृतोपपादकपदार्थ-
कचिन्नेनैव प्रकृतोपकारकस्य विशेष्यस्य प्रतीतिः सिद्धा । यथा—'मन्ये निजस्त्वल्लभदो-
षमवर्जनीयमन्यस्य मूर्ध्नि विनिवेश्य बहिर्भूयुः । आविश्य देव रसनानि महाकवीनां
देवी गिरामपि तव स्तवमातनोति ॥' अत्र देवी गिरामित्यनेन विषाविषयाभ्यादितत्वस्य
सरस्वतीत्वेन च बोधस्य सिद्धिः । यत्र रुढार्थवाचकपदान्तरमपि युज्यते तत्रावधार्य-
मात्रपरत्वमेव तस्य । यथा—'उद्यन्मृगाङ्कुरचिकन्दलकोमलानामुद्भिद्रशोणनलिनोदरसोद-
राणाम् । प्राहुं तवापररुचामवलेकनेन नालं सहस्रनयना स वृषाणि वृष्टिम् ॥' अत्र
सहस्रनयनेति दर्शनसामर्थ्यव्यञ्जनेऽपि तस्यैव नरेन्द्रपरत्वं वृषपदधीनरुक्त्यापत्तेः । अ-

कचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः ।

विभाकरपदस्य राजसूयोभयवाचकत्वादिति चेत्, संकीर्णमेवेदमुदाहरणम् । असंकी-
र्णोदाहरणं तु 'स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायासयोगतिम् । अहो सुसहशी वृत्ति-
स्तुलाकोटेः खलस्य च ॥' अत्रोन्नत्यधोगतिपदान्ध्यामुत्कर्षापकर्षौ लक्ष्यौ ॥ अप्रस्तु-
तप्रशंसालंकारमाह—कचिदिति । एतच्च वाच्यमप्येकेऽन्वेति । अप्रस्तुतादिति सा-

१. कचिदिति । कचित्सामान्यादप्रस्तुताद्विशेषः प्रस्तुतः, कचिद्विशेषादप्रस्तुतात्सा-
मान्यं प्रस्तुतम्, कचित्कार्यादप्रस्तुतात्प्रस्तुतं निमित्तम्, कचिन्निमित्तादप्रस्तुतात्प्रस्तुतं कार-
यम्, कचित्समादप्रस्तुतात्समं प्रस्तुतं चेन्न्यथे तदा पञ्चपादप्रस्तुतप्रशंसा स्यादिति निर्ग-
लिताधैः । अत्राप्ययीक्षितान्स्तु—“संबन्धान्तरेण प्रस्तुतगमनेऽप्येषा दृश्यते । यथा
'तापत्रयौपधिवरस्य तव सितस्य निःशासमन्दमरुता निजुसीकृतस्य । पृथे कडंगरचया
इव विप्रतीर्णा जैवातुल्य किरणा जगति भ्रमन्ति ॥' अत्राप्रस्तुतानां चन्द्रकिरणानां
भगवन्मन्दसितरूपदिन्यौपधिविशेषधान्यविशेषकडंगरतादात्म्योत्प्रेक्षया सिनस्य तत्सार-
तारूपोत्कर्षप्रतीतिः । न चात्र सिनकडंगरयोः कार्यत्वादिः कश्चिदुक्तः संबन्धोऽस्ति ।
अतोऽत्र सहोत्पत्त्यादिकमेव संबन्धनयाश्रयणीयम् ॥ एवं कार्यकारणयोः प्रत्येकमेव
प्रस्तुतार्थप्रत्यायकत्वमभिसंधाय दे अप्रस्तुतप्रशंसे दर्शिते । ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ।
यथा—'कालिन्दि मूढि, कुम्भोज्ज्व, जलधिरहं नाम गृह्णाति कसाच्छत्रोर्मै, नर्मैश्चाहं
त्वमपि वदसि मे नाम कसात्सपत्न्याः । मालिन्यं तदि कसादनुभवसि, मिलकज्जळे-
मालिनीनां नेत्राम्भोभिः, किमासां समजनि, कुपितः कुन्तलक्षोणिपालः ॥' अत्र कि-
मासां समजनीति मालिनीनां रोदननिमित्ते पृथे तत्प्रियमरणरूपनिमित्तमनाहवाय 'कुपितः
कुन्तलक्षोणिपाल' इति तत्कारणमभिहितमिति कारणनिबन्धना । अत्रैव मालवान्प्रति
प्रस्वितेन कुन्तलेश्वरेण किं ते निर्जिता इति प्रथे तद्विधान्तर्भावि नर्मैश्चाप्रक्षोत्तररूपं कार्य-
मभिहितमित्यत्रैव कार्यनिबन्धनापि । पूर्वसां प्रश्नः शाब्दः, उत्तरसां स्वाधे इति विशेषः"
इत्याहुः ॥

अत्र विश्वेश्वरपण्डिताः—सितकडंगरचययोः कार्यत्वादिसंबन्धाभावेऽप्यभेदाध्यव-
सायविषयीभूतदिव्यधान्येन सह कडंगरचयस्यावयवावयविभावस्य साररेण कार्यत्वसंब-
न्धोऽस्त्येव । न च यद्रूपावच्छिन्ने प्रस्तुतेऽप्रस्तुतव्यत्रयोऽर्थैः प्रतीयते तद्रूपावच्छिन्ने प्रकृतेऽ-
प्रस्तुतस्य कार्यत्वादिसंबन्धोऽपेक्षितः । अत्र च सितत्वावच्छिन्ने एव सिते सारत्वरू-
पोत्कर्षः प्रतीयते, न तु दिव्यधान्यातादात्म्यावच्छिन्ने । अतो दिव्यधान्यकडंगरयोस्तत्सं-
बन्धसर्वेऽपि सितकडंगरयोस्तदभावात्संबन्धान्तरानुसरणमावश्यकमेवेति वाच्यम् ।
अप्रस्तुतव्यत्रयार्थप्रकारकज्ञानविशेष्यभूते प्रकृतेऽप्रकृतमात्रसंबन्धस्यैव लाघवेन विव-
क्षितत्वात् । व्यङ्ग्यार्थबोधधर्मितावच्छेदकीभूतधर्मावच्छिन्नत्वनिवेशे गौरवात् । विशेष्यत्वं
च तत्त्वेन विक्षितत्वमात्रम् । अतः सितस्यैव तादृशज्ञानविशेष्यतया तत्राप्रकृतसंबन्धो
नास्तीत्याकारकदोषाभावः । तद्विशेष्यत्वेन विवक्षितस्य सिनस्य दिव्यधान्यजादात्म्याध्य-
वसायद्रशायामप्रकृतसंबन्धसत्त्वात् । एवं द्वितीयदोषस्याप्यनवकाशः । तथाहि—तत्र

किमुभयोरेकत्र दर्शनेन प्रत्येकं तत्प्रयोजकत्वानुपपत्तिरिति विवक्षितम्, उत कारणकारणसं-
कार्यकार्यस्य च निर्देशास्कार्यत्वकारणत्वाभावात् इति । नाथः । कचिन्मत्तैकपुरस्कारेण
तदर्थनादुभयोः प्रत्येकप्रयोजकत्वे स्थिते कचिदुभयसमानेशसादोपत्त्वात् न्यूनत्वानापादक-
त्वाच्च । तत्राप्येकस्यामेवामप्रस्तुतप्रशंसायां द्वयोः संबन्धयोरप्रयोजकत्वाच्च संबन्धनिर्ग-
नयोर्द्वयोरप्रस्तुतप्रशंसयोरैकत्र निबन्धनमात्रेण तदातिरेकत्वाभावाच्च । न द्वितीयः । कार्य-
कारणपदयोः प्रयोज्यप्रयोजकसाधारणत्वाया विवक्षितत्वात् । एवं च मालवीरोदनकारणी-
भूततद्विषयमरणकारणकुण्ठलेशकारणमात्रोक्तौ तत्प्रस्थानकार्यविनयकार्यप्रसादिमात्रोक्तौ च
तत्स्थानपायादिति कृतं बहुना ॥

यदध्यस्यदीक्षिताः—‘प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य चोत्तरे प्रस्तुताङ्कुरः । किं भृङ्ग ! सत्या
मालत्वां केऽस्या कण्टकेऽस्या ॥’ इति । अत्र वाच्यम्यङ्गवृत्तान्तयोर्द्वयोरपि प्रकृतत्वेन
समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसाभ्यामतिरिक्तत्वस्य स्फुटत्वात्, प्रस्तुतनिष्ठम्यङ्गकत्वानिरूपितव्य-
ङ्ग्यताशास्त्रप्रस्तुतत्वमेव अप्रस्तुतनिष्ठम्यङ्गकत्वानिरूपितम्यङ्गपताशालिप्रस्तुतकृते, च तदु-
भयोपगमात् । अत्र प्रियेण सह विहरन्त्या लक्ष्मी भृङ्गोऽपि प्रकृत एव । न
च भृङ्गबोधनानुपपत्त्या प्रियमात्राभिप्रायेणैवेवमुक्तिरिति वाच्यम् । अचेतनेऽप्याम-
ङ्गदर्शनेन तदविरोधात् । एवं च प्रस्तुतेन वाच्येन भृङ्गोपात्मनेन पश्याः
कुलरश्म्याः सौन्दर्यादिगुणशालिन्याः सस्ते क्रूरजनपतिभूतायां सर्वस्वापहरणसंकल्पदुष्टस-
दायां कण्टकाकुलकेतकीकृपायां वेश्यायां समागमेन किमित्युपात्मनो घोलते । यथा
वा—‘अन्यास्तु तावदुपमदंस्तहास्तु भृङ्ग ! जले विनोदय मनः मुमनोछतास्तु । बालामजात-
रजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदम्बपति किं नवमालिकायाः ॥’ श्रीकाङ्गनामस्तेऽपि बालां
छेदपति कामिनि प्रकृतभृङ्गोपात्मनेन तत्प्रतीतिः ॥ ‘कोषद्वन्द्वमिव दधाति नलिनी काद-
न्वचबुध्वं पते घूतलता नवं किसलयं पुंस्कोकिल्यसादितम् । इत्याकर्ण्य निधः सखी-
जनवचः सा दीर्घिकायास्तटे चैलान्तेन विरोदये स्तनतटं बिम्बाधरं पाणिना ॥’ अत्रेय-
मिति दीर्घिकेलादिचोदना वाच्यार्थस्य प्रस्तुतत्वनिर्णयः । नायकश्चतननाङ्गिणपरमिद्धि-
ष्ठनायिकारूपप्रकृतम्यङ्गवार्थप्रकाशने च चतुर्थचरण एव स्पष्टम् । आबोदाररणद्वयेऽन्या-
पदेशध्वनित्वं प्राचीनैककम् । अप्रस्तुतप्रशंसायामप्रस्तुतत्वेन वाच्यार्थस्यावर्गनीयतया
तत्राभिप्रायां विज्ञायां वाच्यार्थनाशेपात्प्रस्तुतार्थव्यक्तिरलंकारः सः । इदं तु वाच्यार्थ-
स्यापि प्रस्तुतत्वेन तत्रैव पूर्ववसानसंभवेऽपि वस्तुसौन्दर्यवलेनाभिमतार्थव्यक्तिध्वनिरे-
वेति । वस्तुतोऽप्राप्यलंकारध्वनित्वमेव । तृतीयस्यालंकारत्वे तु न कस्यचिद्विवादः । म्य-
ङ्गवार्थस्य चतुर्थचरणेन वाच्यत्वमापादितस्य ध्वनित्वायोगात् । ‘शब्दार्थश्रुत्याधितोऽपि
व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः । यथाविष्कियते स्वीयसा सेवान्यालं कृतिध्वनेः ॥’ इति ध्वनि-
कारोकेरिति ॥

तत्र रसराज्ञाधरकाराः—नत्राप्यप्रस्तुतप्रशंसैव गवतीति नालंकारान्तरकल्पनम् ।
किंचिदुचित्वेतिव्येण तत्त्वत्पनेऽलंकारानन्त्यमसङ्गात् । न च तत्तद्व्यथानाकान्तरात्करु-
मेवदिति वाच्यम् । नदाप्रस्तुतत्वं सर्वथा प्रत्यावरादित्वं विवक्षितम् । किन्तु मुख्यतात्पर्य-

कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम् ॥ ५८ ॥

अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद्गम्यते पञ्चधा ततः ।

अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्—

कमेणोदाहरणम्—

‘पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति । — ।

स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ॥’ ✓

अत्रासदपेक्षया रजोऽपि वरमिति विशेषे प्रस्तुते सामान्यमभिहितम् ।

‘स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं कचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥’

अत्रेश्वरेच्छया कचिदहितकारिणोऽपि हितकारित्वं हितकारिणोऽप्यहितकारित्वमिति सामान्ये प्रस्तुते विशेषोऽभिहितः । एवं चात्राप्रस्तुतप्रशंसामूलोऽर्थान्तरन्यासः । दृष्टान्ते प्रख्यातमेव वस्तु प्रति-

मान्यादित्यादिपञ्चकस्य विशेषणम् । प्रस्तुतमिति । यथायथं लिङ्गविपरिणामाविपरिणामाभ्यां विशेष इत्यादिपञ्चकस्य विशेषणम् । ततस्तदा अप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य प्रशंसान्यजनम् । यद्वा प्रस्तुतव्यञ्जकमप्रस्तुतकथनमप्रस्तुतप्रशंसा ॥ पादाहतमिति । बलदेवस्योक्तिरियम् । सामान्यमभिहितमिति । देहिन इति सामान्यवाचकम् ॥ स्रगियमिति । अजविलापोऽयम् । अहितकारिविशेषो विषं हितकारिविशेषोऽमृतम् ॥ नन्वत्र विन्यप्रतिविम्बभावसत्त्वात् दृष्टान्त एवायमित्यत आह—दृष्टान्त

विषयीभूतार्थातिरिक्तम् । इदं च सर्ववैवाप्रस्तुते प्रस्तुतेऽपि मुख्यतात्पर्यविषयीभूते च समानमेव । अतो भृङ्गादेस्तत्र सत्तामात्रेण प्रकृतत्वेऽपि मुख्यतात्पर्यस्य नायिकाद्युपाख्यमेव सत्त्वादप्रस्तुतत्वेन प्रस्तुतत्वप्रतीतिरिति सङ्गच्छनाकाङ्क्षत्वं स्पष्टमेवेत्याहुः ॥

१. इतोऽपि कुवलयानन्दे प्रस्तुताङ्कुरः—‘प्रस्तुतस्य प्रस्तुतेन श्रोतव्ये प्रस्तुताङ्कुरः । किं भृङ्ग ! सत्त्वां मालत्वां केतवया कण्टकेन्द्रया ॥’ इति । प्रधानभूतप्रस्तुतान्तरव्यञ्जक प्रस्तुतवर्गेन प्रस्तुतस्य व्यञ्जकत्वादङ्कुर इवाङ्कुर इति योगात्तन्नामालङ्कारः । उदाहरणे अमरवृत्तेन मनोहरायां मयि सत्त्वां केतवया पराश्रया किमिति नायकवृत्तं व्यञ्जयत इति तदाशयः । तत्र केचिदाहुः—अप्रस्तुतप्रशंसायामप्रस्तुतपदेन मुख्यतात्पर्यविषयीभूतार्थातिरिक्तोऽर्थो ग्राह्यः तेन सैव । अथवा अप्रस्तुतेन प्रशंसेत्यपि अप्रस्तुतप्रशंसापदार्थः । एवं वाच्येन व्यक्तेन वा अप्रस्तुतेन वाच्यं व्यक्तं वा प्रस्तुतं, यत्र सादृश्यारिना प्रशंसते उन्मील्यत इत्यादिद्यापि सैव सम्भवति किमलङ्कारान्तरेणेति ॥

बिम्बत्वेनोपादीयते । इह तु विषामृतयोरमृतविधीभावस्याप्रसिद्धेन
तस्य सद्भावः ।

‘इन्दुर्लित इवाज्जनेन, जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव,

प्रमलानारुणिमेव विद्रुमदलं, श्यामेव हेमप्रभा ।

कार्कश्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेऽपि प्रस्तुतं

सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव ॥’

अत्र संभाव्यमानेभ्य इन्द्रादिगता अनलिप्तत्वादिभ्यः कार्येभ्यो यद-
नादिगतसौन्दर्यविशेषरूपं प्रस्तुतं कारणं प्रतीयते ।

‘गच्छामीति मयोक्त्या मृगदृशा निःश्वासमुद्रेकिणं

त्यक्त्वा तिर्यगपेक्ष्य बाष्पफल्लुपेनैकेन मां चक्षुषा ।

अद्य प्रेम मदपितं प्रियसखीवृन्दे त्वया बध्यता-

मित्थं जेहविवर्षितो मृगशिशुः सोत्पासमाभाषितः ॥’

अत्र कस्यचिदगमनरूपे कार्ये कारणमभिहितम् । तुल्ये प्रस्तुते
तुल्याभिधाने च द्विधा श्लेषमूला सादृश्यमात्रमूला च । श्लेषमूला
समासोक्तिप्रद्विशेषणमात्रस्य श्लेषे श्लेषवद्विशेष्यस्यापि श्लेषे भवतीति
द्विधा । क्रमेण यथा—

इति । तस्य दृष्टान्तस्य सद्भावः संभवः । अस्याः खेकीर्णोदहारणं तु ‘मणिर्लु-
ठति पादेषु काचः शिरसि धार्यते । यथैवास्ति तथैवास्तु काचः काचो मणिर्मणिः ॥’
अत्रापियेव केनोत्कृष्टस्यानादरेऽपि नोत्कर्षोपचयः । अनुकृष्टस्यादरेऽपि नोत्कर्ष-
इति प्रस्तुतमप्रस्तुतेन वाक्यान्वेन प्रतीयते ॥ इन्दुर्लित इति । जडिता नि-
ष्पन्दा । कार्कश्यं माधुर्यविपर्यासः । प्रस्तुतं प्रचरीभूतम् । बर्हस्य इयामकोमलत्वा-
भाव एव गर्हा ॥ संभाव्यमानेभ्य उत्प्रेक्षणीयेभ्यः । अनुकनिमित्तयमुत्प्रेक्षा ।
तन्निष्ठकार्यत्वस्य तद्विषये उपचारादिदमुपपन्नम् । उदाहरणान्तरं तु ‘नाम्रातं न
कृतं कर्णे स्त्रीभिर्मूर्धेनि नार्पितम् । तद्विधा दीर्घिकास्त्वैव विधीर्णं नीलमुत्पलम् ॥’
अनोत्पलप्राणाद्यभावरूपकार्येभ्यः प्रस्तुतायाः शोच्यावस्थाया हेतोः प्रतीतिः । त-
त्त्वनिश्चितसत्ताकत्वमेव कार्यत्वमभावानामनगन्तव्यम् ॥ गच्छामीति । स-
त्यायं प्रति कस्यचिदुक्तिरियम् । सोत्पासं सूक्ष्महासयुक्तम् । मृगशिशुं प्रति मर-
णसूचकं तादृगभाषणमत्र कारणम् ॥ विशेषणमात्रस्येति । मानपदेन विशेष्य-

‘सहकार सदाभोदो वसन्तश्रीसमन्वितः ।

समुज्ज्वलरुचि श्रीमान्प्रभूतोत्कलिकाकुल ॥१

अत्र विशेषणमात्रश्लेषवशादप्रस्तुतात्सहकारात्कस्यचित्प्रस्तुतस्य नाय-
कस्य प्रतीतिः ।

‘पुस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि

यायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात् ।

अभ्युद्वेगदपि विश्वमितीदृशीय

केनापि दिक्प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥’

अत्र पुरुषोत्तमपदेन विशेष्येणापि छिद्येन प्रचुरप्रसिद्ध्या प्रथम
विष्णुरेव बोध्यते । तेन वर्णनीय कश्चित्पुरुषः प्रतीयते ।

सादृश्यमात्रमूला यथा—

‘एकः कपोतपोत शतश इयेनाः क्षुधामिधावन्ति ।

अभ्यरमावृतिशून्य हरहर शरण विधे करुणा ॥’

अत्र कपोतादप्रस्तुतात्कश्चित्प्रस्तुतः प्रतीयते । इयं च कश्चिद्वैध-
र्म्येणापि भवति ।

व्यवच्छेदः । विशिष्यस्यापीत्यपिना विशेषणपरिग्रहः ॥ आमोदः सौरभम्, आन-
न्दश्च । नतः तत्कालोपकरणपदवाविर्युक्तः । सम्यगुज्ज्वल रुचिर्गतिर्यस्य सः, पक्षे
सम्यगुज्ज्वले शृङ्गारे रुचिरमिलापो यस्य सः । श्री शोभा, वेपरचना च । प्रभू
तामि प्रचुराभिरुक्तलिकाभिरुद्धतमुकुनैराकुलो व्याप्तः । पक्षे—प्रकर्षेण भूतया उत्क
लिकया नायिकोत्कण्ठया आकुलो व्याकुलः । पुस्त्वादपीति । पुरुषभावाद्
यदि प्रविचलेत् स्त्री यदि भवेत् । अथ पातालमपि यदि यायात् । प्रणयने याच
ननिमित्तं यदि महाशयः स्यात् सवे स्यात् । तदपि विश्वमुद्वेगः । इतीयं दिक् ।
इदृशीऽयं प्रकारः केनाप्यनिर्वचनीयेन पुरुषोत्तमेन विष्णुना प्रकटिता दाशता ।
तेन हि दैत्यद्वेत राज्यमुद्धर्तुं मोहिनीरूपस्त्रीत्वं प्राप्तम् । जलप्लुत विश्वमुद्धर्तुं वराह-
रूपेण पातालं गतम् । बन्दिदेत्यापहतं राज्यमुद्धर्तुं पादत्रयभूमियाचननिमित्तं याम
नत्व प्राप्तम् । राजपक्षे—पुस्त्वात् पौरुषाद् यदि प्रविचलेद् यद्यधो नीचत्वमपि
यायाद् याचननिमित्तं यदि महिमशून्यः स्यात् तदपि विदः सगराजमुद्वेगदित्ययं
प्रकारश्च केनापि पुरुषोत्तमनाम्ना राज्ञा प्रकटितः ॥ विशेष्येणापि विशेष्यवाचके
नापि । प्रचुरप्रसिद्ध्या भूरिप्रयोगेण, अतिप्रसिद्ध्या वा । प्रकृतसैवान् व्यक्तवत्
न तूपमानस्यति नोपमाध्वनित्वम् । द्वयोरभिधेयत्वाभावाच्च श्लेषवत् ॥ कश्चि
त्प्रस्तुत इति । यस्य बहवः शत्रवो गोपनस्थानं नास्ति स इत्यर्थः ॥ इयं च अत्र
स्तुतप्रशंसा च । वैधर्म्येणापि विधर्मा-तरव्यञ्जकवैधर्म्यमिश्रितस्य कथनेनापि ।

‘धन्याः खलु वने वाताः कङ्कारस्पर्शशीतलाः ।

राममिन्दीवरश्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः ॥’

अत्र वाता धन्या अहमधन्य इति वैधर्म्येण प्रस्तुतः प्रतीयते । वाच्यस्य संभवासंभवोभयरूपतया त्रिप्रकारेयम् । तत्र संभवे उक्तोदाहरणान्येव ।

असंभवे यथा—

‘कोकिलोऽहं भवान्काकः समानः कालिमावयोः ।

अन्तरं कथयिष्यन्ति काकलीकोविदाः पुनः ॥’

अत्र काककोकिलयोर्वाकोवाक्यं प्रस्तुताध्यारोपणं विनासंभवि ।

उभयरूपत्वे यथा—

‘अन्तश्छिद्राणि मूयांसि कण्टका बहवो बहिः ।

कथं कमलनालस्य मा भूवन्मङ्गुरा गुणाः ॥’

अत्र प्रस्तुतस्य कस्यचिदध्यारोपणं विना कमलनालान्तश्छिद्राणां गुणभङ्गुरीकरणे हेतुत्वमसंभवि । अन्येषां तु संभवीत्युभयरूपत्वम् । अस्याश्च समासोक्तिवद् व्यवहारसमारोपप्राणत्वाच्छब्दशक्तिमूलाद्वस्तुधननेर्भेदः । उपमाध्वनावप्रस्तुतस्य व्यङ्ग्यत्वम् । एवं समासोक्तावपि । श्लेषे तु द्वयोरपि वाच्यत्वम् ।

एवं च पदप्रकारा अप्रस्तुतप्रशंसेति फलितम् ॥ धन्या इति । दशरथस्योक्तिरियम् । कङ्कारस्य कङ्कारमतो जलस्य स्पर्शेन शीतलाः । रौगन्धप्रतीतिरत्र लक्षणाप्रयोजनम् ॥ अत्रेति । वाता धन्या इति वैधर्म्येण अहमधन्य इति प्रस्तुत इत्यन्वयः । वाच्यस्य वाक्यार्थस्य ॥ कोकिलोऽहमिलन्तरं विशेषम् । काकलीकोविदाः सूक्ष्मगुरूप्यनिविदाः । वाकोवाक्यमुक्तिप्रत्युषी तौ प्रस्तुतौ तयोरध्यारोपणं स्वरूपव्यञ्जनम् । छिद्राणि विवरानि, दोषाश्च । कण्टकाः तीक्ष्णप्रवृद्धाः धुदराप्रवय । गुणास्तन्तवः, यथासि च ॥ छिद्राणां विवरानां गुणभङ्गुरीकरणे पद्मनालतन्तुच्छेदने । अन्येषां कण्टकानाम् । अस्याश्च श्लेषगूलनुत्वाप्रस्तुतप्रशंसायाश्च । समासोक्तिरिति । समासोर्ध्वं यथा श्लिष्टशब्दप्रयोगमात्रेण व्यवहारो न प्रतीयते किन्तु विशेषणगाम्यानुवृत्तधनेनापि, तथाप्रापि विशेषणगाम्यानुवृत्तधनमप्यपेक्षितम्, शब्दशक्तिमूलवस्तुष्वपी तु तत्रापेक्षितमिति ततोऽस्मात् भेद इति भावः । द्वयोः प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्वाच्यारं प्रहरणादिनियमाभावादित्यर्थः ।

~~कृते~~ व्याजस्तुति

उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः ॥ ५९ ॥

निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः ।

निन्दया स्तुतेर्गम्यत्वे व्याजेन स्तुतिरिति व्युत्पत्त्या व्याजस्तुतिः ।
स्तुत्या निन्दाया गम्यत्वे व्याजरूपा स्तुतिः । क्रमेण यथा—

‘स्तनयुगमुक्ताभरणाः कण्टककलिताङ्गयष्टयो देव ।

त्वयि कुपितेऽपि प्रागिव विश्वस्ता [द्विदे] स्त्रियो जाताः ॥’

इदं मम ।

व्याजस्तुत्यलंकारमाह—उक्तेति । वाच्याभ्यामापाततः प्रतीयमानाभ्याम् । ननु निन्दान्याजेन स्तुतिर्भवत्येव व्याजस्तुतिः स्तुतिव्याजेन निन्दा तु व्याजनिन्दैव भवति कथं व्याजस्तुतिरित्यतः संज्ञया द्विविधं योगार्थमाह—निन्दयेति ॥ स्तनयुगेति । राजानं प्रति कस्यचिदुक्तिरियम् । स्तनयुगे मुक्ताभरणं हारो यासाम् । पक्षे—स्तनयुगान्मुक्ताभरणं यासाम् । कण्टको रोमाश्च, तीक्ष्णाप्रवृक्षावयवश्च । प्रागितर-कोपात् पूर्वकाल इव । विश्वस्ता अयमस्माकं नापकर्तेति विश्वासाश्रयाः । पक्षे—विधवाः । ‘विश्वस्ता विधवा समे’ इत्यमरः । अत्र स्त्रीणां पीडाजनकत्वेनापाततो

1. व्याजेति । एवं व्याजनिन्दापि कुवल्लयानन्दे—‘निन्दाया निन्दया व्यक्तिर्वाज-निन्देति गीयते । विषे । स निन्दो यस्ते प्रागेकमेवाऽहरन्धिः ॥’ अत्र हरनिन्दया परिणामतापसंस्कारदुःखमयं जगद्दिदधतो विधेर्निन्दाभिन्वक्तिरिति । अत्र रसगङ्गाधरकाराः प्राहुः—इयं च व्याजस्तुतिर्यस्यैव वस्तुनः स्तुतिनिन्दे प्रथममुपक्रम्येते तस्यैव चैनिन्दा-स्तुत्योः पर्यवसानं भवेत्तदा भवति । वैयधिकरण्ये ॥ नेति प्राचामलंकारश्चात्मप्रवर्तकानां समयः । अतएव यत्र शब्देनाभिधीयमाना स्तुतिनिन्दा वा बाधितस्वरूपा निन्दायां स्तुतौ च स्वसमर्पणेन पर्यवस्यतीति तैस्तत्र तत्र स्वग्रन्थेषूपनिबद्धम् । एवं च—‘परोपसर्पणानन्तचिन्तानलशिखाशतैः । अनुग्नितान्तःकरणाः साधु जीवन्ति पादपाः ॥’ इत्यादिषु सांसारिकजननिन्दापर्यवसायिन्यामपि पादपस्तुतौ न व्याजस्तुति-त्वम् । प्रथमप्रतीयमानस्तुतेरबाधितत्वात् । एवं निन्दया स्तुतेर्गम्यत्वेऽपि । तथा—अन्यस्य स्तुत्या अन्यस्तुतौ, अन्यनिन्दया वा अन्यनिन्दायां गम्यमानायां नास्या अलंकृते-विषयः । पूर्वाक्तादेव हेतोः । यथा—‘ये त्वां ध्यायन्ति सततं त एव कृतिर्ना वराः । मुधा गतं पुराराते । भवदन्यथिया जनुः ॥’ अत्र पूर्वोच्चारणगताभ्यां ध्यातृस्तुतिनिन्दाभ्यां श्वेयस्तुतिनिन्दयोरवगमः । एवं स्थिते कुवल्लयानन्दकथां स्तुतिनिन्दाभ्यां वैयधिकरण्येन निन्दास्तुत्योः स्तुतिनिन्दयोर्वावगमे प्रकारचतुष्टयं व्याजस्तुतेर्बन्धकमुक्तं तदपास्तम् । यदि तु प्राचीनसकेतसेतुं निर्निष स्वरुचिरभगीया सरणिपदिवते, तदा निवेद्यन्तां सर्वेऽपि न्यङ्ग्यप्रकारा शुष्णीभूतव्यङ्ग्यप्रकारा वा अलंकारोदरेषु । निवेद्यतां वा व्याज-

‘व्याजस्तुतिस्तव पयोद ! मयोदितेयं
 संजीवनाय जगतस्तव जीवनानि ।
 स्तोत्रं तु ते महदिदं घन ! धर्मराज-
 साहाय्यमर्जयसि यत्पथिकानिहत्य ॥’

ॐ १२ पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ॥ ६० ॥

उदाहरणम्—

‘सृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसंभोगललिताः ।
 सावजं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः ॥’

अत्र हयग्रीवेण स्वर्गो विजित इति प्रस्तुतमेव गम्यं कारणं वैचि-
 त्त्यविशेषप्रतिपत्तये सैन्यस्य पारिजातमञ्जरीसावजस्पर्शनरूपकार्यद्वारे-
 णामिहितम् । न चेदं कार्यात्कारणप्रतीतिरूपामस्तुतमशंसा । तत्र
 कार्यस्यामस्तुतत्वात् । इह तु वर्णनीयस्य प्रभावातिशयबोधकत्वेन कार्य-
 मपि कारणवत्प्रस्तुतम् । एवं च—

‘अनेन पर्याययताश्रुचिन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमान्स्त्रनेपु ।
 मत्परिप्ताः शत्रुविलासिनीनामाक्षेपसूत्रेण विनैव हाराः ॥’

निन्दा, पर्ययसाने तु शत्रुनाशकत्वेन स्तुतिः प्रतीयते ॥ व्याजस्तुतिरिति । अ-
 यथार्थस्तुति धर्मराजस्य साहाय्याचरणेन आपाततः स्तुतिः, पर्ययसाने तु पथिका-
 पकारेण निन्दा प्रतीयते ॥ पर्यायोक्त्यलकारमाह—पर्यायोक्तमिति । भङ्ग्या
 वृत्तिर्वचिच्चित्त्यविशेषेण अभिधीयते अभिधेयवत्स्फुटं प्रतीयते । एवं च पर्यायेण भङ्ग्या
 व्यग्रस्य स्फुटप्रतिपादनं पर्यायोक्तम् ॥ केदोति । केतानां संभोगाय भूषणाय
 ललिताः सयज्ञं पालिताः । इन्द्रस्यातिपराभवेन भयस्य, हयग्रीवोदाने पारिजातम-
 ञ्जरीणामनुभूतत्वादादरस्य आभावश्च सावजमित्यनेन प्रतीयते । इत्थं च हयग्रीवेण
 स्वर्गं मुतरा जित इति व्यग्रस्य सुव्यक्त एव । वैचिन्न्यविशेषप्रस्ताप्रस्तुतप्रशंसाजन्यवै-
 चित्र्यादिलक्षणवैचित्र्यस्य । प्रतिपत्तये सिद्धये । कार्यद्वारेण चार्याभिधानमुखेन ।
 अभिहितं स्फुटं प्रतिपादितम् ॥ अनेनेति । पर्याययता पातयता । आक्षेपसूत्रेण

स्तुतिरपि योगार्थादित्यादप्रस्तुतप्रशंसायाम् । निरस्ततां च कार्यकारणादिविषयकत्वदु-
 रामदस्ता इति नट्ट आहुती स्यात् । एवं पूर्वोक्त प्रकारचतुष्टयं कुत्रान्तर्भवति वि-
 धेद्व्यग्रपदमेवेति गृहाण । नहि व्यग्रपदोदाः सर्वेऽप्यस्मिन्ना भव्यरूपकारणोपदे-
 शप्रभावेति नृपस्य इति ॥

१. भङ्गोति । येन रूपेण विवक्षितोऽर्थस्तदतिरिक्तः प्रकारो भङ्गी ॥

अत्र वर्णनीयस्य राज्ञो गम्यभूतशत्रुमारणरूपकारणवत्कार्यभूतं तथाविधशत्रुस्त्रीकन्दनजलमपि प्रभावातिशयबोधकत्वेन वर्णनार्हमिति पर्यायोक्तमेव ।

‘राजन् राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूर्णीं स्थिताः

कुब्जे भोजय मां कुमारसचिवैर्नाद्यापि किं मुच्यते ।

इत्थं राजशुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा-

चित्रस्थानवलोक्य शून्यबलभावेकैकमाभाषते ॥’

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं श्रुत्वा सहसैवारयः पलायिता इति कारणं प्रस्तुतम् । ‘कार्यमपि वर्णनार्हत्वेन प्रस्तुतम्’ इति केचित् ।

अन्ये तु—‘राजशुकवृत्तान्तेन कोऽपि प्रस्तुतप्रभावो बोध्यत इत्य-
प्रस्तुतप्रशंसैव’ इत्याहुः ।

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।

कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ॥ ६१ ॥

साधर्म्येणैतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ।

ग्रन्थनगुणेन ॥ वर्णनार्हं वर्णनार्हत्वेन प्रस्तुतम् । पर्यायोक्तमेवेत्येवकारेणा-
प्रस्तुतप्रशंसाव्यवच्छेदः ॥ काव्यप्रकाशे कार्यात्कारणरूपप्रस्तुतप्रशंसाया दत्त-
मुदाहरणं पर्यायोक्तविषयत्वेन सभावयति—राजशक्ति । अनुजयोद्यतं राजानं
प्रति तत्परस्योक्तिरियम् । तवारिभवने वास्तुनि अध्वगैः पञ्जरान्मुक्तो राजशुकः
शून्यबलभौ राजादिहीनगृहे चित्रस्थान् राजादीनवलोक्यैकैकमेवमाभाषते ।
चित्रस्थास्तानवलोक्य किमाभाषत इत्यत आह—राजशक्ति । देव्योऽपि
राजपत्न्योऽपि तूर्णीं स्थिता न पाठयन्ति । कुब्जा तद्भोजने नियुक्ता वाचित् ।
कुमारैरेव सचिवैरसद्भोजनसहचरैः । अद्यापि । इदानीमपि । कार्यमपीति ।
शुकाभाषणरूपं कार्यम् ॥ अर्थान्तरन्यासात्कारमाह—सामान्यमिति ।
व्यापकधर्मावच्छिन्नमित्यर्थः । विशेषेण व्याप्यधर्मावच्छिन्नगोचरेण । साधर्म्येण
साधर्म्यप्रकारकज्ञानेन वैधर्म्यज्ञानेन वा यदि समर्थ्यते उत्पाद्यते सशया-

1. सामान्यमिति । सामान्य विशेषस्य विशेषो वा सामान्यस्य समर्थक इति भेद-
द्वयम् । तथा कार्यं कारणस्य कारणं वा कार्यस्य समर्थकमिति भेदद्वयम् । एव च भेद-
चतुष्टये प्रत्येकं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां भेदद्वये भेदाष्टमुपपद्यते । एतोऽग्रे कुन्तलवानन्दे
विकस्वर. प्रौढोक्तिः संभावना मिथ्याप्यवसितिल्लित महर्षेण विपादनमुखा-
सोऽवशाऽनुज्ञा लेशो मुद्रा रसावलीति श्रवोदशाब्जवरा यथा—“यसिन्विशेष-
सामान्यविशेषा. स विकस्वरः । स न जिम्बे, महान्तो हि दुर्धर्मा. सागरा इव ॥”

क्रमेणोदाहरणम्—

‘बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।

(५) अ. ५. १०१

संभूयाम्भोधिमध्येति महानद्या नगापगा ॥’

अत्र द्वितीयार्धगतं विशेषरूपेणार्थेन प्रथमार्धगतः सामान्योऽर्थः
सोपपत्तिकः क्रियते ।

साधर्म्यं प्रकृतकार्यसाधनत्वम् । वैधर्म्यं स्वविरुद्धस्य कार्यविरुद्धसाधनत्वम् । इदं
कारणं कार्यस्य साधर्म्यं प्रकृतकारणजन्यत्वम् । वैधर्म्यं स्वविरुद्धस्य स्वकारण-
विरुद्धजन्यत्वम् ॥ सामान्यविशेषसाधर्म्येण समर्थनमाह—बृहत्सहाय इति ।
कार्यान्तं कार्यातिशयम् । महाकार्यमित्यर्थः । क्षोदीयानपि अतिछद्रोऽपि । गच्छति
प्राप्नोति । साधयतीति यावत् । संभूय मिलित्वा । नगापगा गिरिगटी । नद्या
नगसंबन्धदर्शनेन जलपाहुल्याभावः प्रतीयते, तेन चातिछद्रत्वम् । द्वितीयार्-
धगतं द्वितीयवाक्यार्थसंगतेन विशेषरूपेण विशेषस्वरूपेण नगापगया अर्थेन
महानदीमेलनप्रयुक्तसमुद्रप्राप्तिरूपमहाकार्यसाधनत्वप्रतिपत्तिविषयेण सोपपत्तिको
विधीयमानसंशयनिरासेन निश्चयविषयः । एकविशेषस्य यदुद्भूयते बाधकाभावेन
तुल्यन्यायतया तत्संभोगाणामन्येषामपि तत्संभवतीति विशेषदर्शनां सामान्य-
विधीयमानस्य संशयो निवर्तत इति सुतरां दृढप्रतिपत्तिरिति भावः । अत्र
सामान्यसमर्थनमुखेनास्माच्छ्रुतस्यापि शिशुपालस्य कलमवनादिबृहत्सहाय-

प्रवर्णनमपि नालंकारान्तरम् । समाधानतः पातात् । अस्मादीप्तितार्थलाभस्य वाञ्छित-
सिद्ध्यर्थत्वाच्चदधिकलाभस्य उपायसिद्ध्यर्थत्वात्साक्षात्कलामवर्णनस्य च तद्वमेव ।
सौकर्यस्यानायासेन सिद्धादिरूपस्यैवाकस्मिन्त्वादिरूपस्यापि ग्राह्यत्वं ॥ विषादनमपि नालं-
कारान्तरम् । दूषमाणविरुद्धार्थप्राप्तेरपि विषमत्वात् तादृशेच्छया तादृशार्थलाभयोगस्य
विषमत्वात् ॥ उक्तासौऽपि नालंकारान्तरम् । अन्यगुणेनान्यत्र गुणवत्त्वमुप्या अन्यदोषे-
णान्यत्र दोषवत्त्वमुप्या वा वैपरीत्येन वा विषमावकाशात् ॥ अवज्ञापि नालंकारान्तरम् ।
अन्यगुणेनान्यत्र गुणाभावस्य अन्यदोषेणान्यत्र दोषाभावात् वा प्रतिपादनेऽपि विष-
मप्रवेशात् ॥ अनुशापि नालंकारान्तरम् । दोषेऽपि गुणमाकलय्य तदभ्यर्थनेऽपि विशेष-
पक्षोक्तित्वाच्चविषयस्य प्रायोवादाच्च ॥ एवं गुणेऽपि दोषमाकलय्य तदभ्यर्थनेऽपि विशेषस्य
प्रवेशाल्लेखोऽपि नालंकारान्तरम् ॥ मुदा तु नालंकारपदसीमधिरोहति प्रकृतोपस्कारकत्वा-
भावात् । यदपि ‘एवं नाटकेषु वक्ष्यमाणार्थसूचनेष्वपि’ इति कुवलयानन्दफकि कामा-
लम्ब्य टीकाकारिः ‘यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य स्तिर्यङ्गोऽपि सहायताम् । अपन्यान्तं तु गच्छन्तं
सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥’ इत्यनर्थराधवनाटकलोक उदाहरणतया न्यासि; तत्र ध्वनिरिति
सहृदयाः । एवं रत्नावल्यपि नालंकारः । तत्र रूपकेण वर्षं उपस्क्रियते, न तु तथा-
विधक्रमेणेत्युक्त्योक्तद्वौ प्रतिपादितम् ॥

‘यावदर्थ्यपदां वाचमेवमादाय माधवः ।

विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥’

‘पृथ्वि ! स्थिरा भव भुजङ्गम ! धारयैनां

त्वं कूर्मराज ! तदिदं द्वितयं दधीथाः ।’

दिकुञ्जराः ! कुरुत तन्नितये दिधीर्षां •

देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥’

अत्र कारणभूतं हरकार्मुकाततज्यीकरणं पृथिवीस्थैर्यादेः कार्यस्य समर्थकम् ।

१) ‘सहसा विदधीत न क्रियां—’ इत्यादौ (४१६ पृ.) संपद्वरणं कार्यं सहसा विधानाभावस्य विमृश्यकारित्वरूपस्य कारणस्य समर्थकम् । पदानि साधर्म्यं उदाहरणानि । वैधर्म्यं यथा—

उपस्थास्तरपराभवरूपपट्टहत्कार्यसाधनत्वं समर्थितमित्यवधेयम् ॥ विशेषस्य सामान्य-
साधर्म्येण समर्थनमाह—यावदर्थ्यपदामिति । यावन्त्येवाध्यानि प्रकृतो-
पयुक्तार्थादनपेतानि पदानि यस्या ता नत्वनुपपुक्तार्थपदैर्बहुलाम् । एतेन
वाक्यस्याल्पत्वं सूचितम् । आदाय कवचित्वा । महीयासो महत्तराः । प्रकृत्या
स्वभावेन । मितभाषिणः अल्पवचसः । अत्र ‘व्यञ्जनया विधीयमानमपि माधव-
स्याल्पभाषणं प्रतिपादयामुत्वे सत्यनुपपन्नमहत्तरस्य स्वभावत एवाल्पभाषणमिति
सामान्यगोचरसाधर्म्यज्ञानेन समर्थ्यते । सामान्यधर्मो विज्ञेयेष्वप्रतिहतप्रसर इति
विज्ञेयदर्शनेनानुपपत्तिरित्युक्त इति भावः ॥ कारणसाधर्म्येण कार्यसमर्थनमाह—
पृथ्वीति । श्रीरामेण हरधनुर्जयोयोगोचमे कृते पृथ्व्यादीनामस्थैर्यादिकं सभावमतो
लक्ष्मणस्योक्तिरिवम् । भुजङ्गमोऽनन्तः । एना पृथ्वीम् । द्वितयमनन्तं पृथ्वीं च ।
तन्नितये कूर्मानन्तपृथ्वीषु । दिधीर्षा धारणेच्छाम् । देवः श्रीरामः । आततज्यं
आरुडगुणम् । आततज्यीकरणं गुणयोगानुकूलव्यापारः । पृथ्व्यादीनां स्थैर्यादेः
सिद्धत्वे तत्तन्निर्गोपपत्त्या स्थैर्यादिविशेषो लक्षणीयः, तस्य च ज्यायोग-
संभावनायामनुष्ठितत्वेन कार्यत्वमक्षतमेव, तच्च ज्यायोगसंभावनायाः कारणत्व-
प्रहेणैव समर्थ्यते । स्थैर्यादीनां नियुज्यमानत्वेन कार्यत्वं प्रतीयते, तच्च कारण-
मन्तरेण नोपपद्यते, इत्यनुपपत्तिरत्रावधेया ॥ कार्यसाधर्म्येण कारणसमर्थनमाह—
सदसेति । अत्र विधीयमानस्य सहसा विधानाभावस्य किञ्चिदिष्टं प्रति साधन-
त्वमरगम्यते । तच्च किञ्चिदिष्टं साध्यत्वमदमन्तरेण नोपपद्यते इति कार्यस्य
समर्थकत्वं संपद्वरणं कार्यमिति कार्यं कार्यतत्प्रतीतिविषयः । कार्यत्वप्रतीतिरत्र ‘उपो-
मिनं पुरयतिहमुंति लक्ष्मीः’ इतिवत् विमृश्यकारित्व एव सहसाविधानाभावः
पर्यवस्यतीति नानयोर्भेदः । विशेषधर्म्येण सामान्यसमर्थनं यथा—‘गुणानामेव

इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिधाति भुवनत्रयम् ।
शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥

अत्र सामान्यं विशेषस्य समर्थकम् । 'सहसा विदधीत' इत्यत्र
सहसा विधानाभावस्यापत्प्रदत्वं विरुद्धं कार्यं समर्थकम् । एवमन्यत् ॥

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते ॥ ६२ ॥

तत्र वाक्यार्थता—

'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले ममं तदिन्दीवरं
मेघैरन्तरित. प्रिये ! तव मुखच्छायानुकारी शशी ।

दौरात्म्याद्भुर्यो धुरि नियुज्यते । अलं जातकिणस्कन्ध सुख स्वपिति गौर्गडि ॥' दु दा-
वहकर्मप्रयोजकत्वाद्गुणमा निन्दा । धुर्यो धूर्वहनयोग्य । किणो वहनविहविशेष ।
गडिरलस । अत्र गुणवन्त एव धुर्या भारवहने नियुज्यन्त इत्यन्ययोगव्यवच्छेद-
प्रतीतिरन्यत्रायोगग्रहेणोपपद्यत इति धूर्वहनयोग्यतया धुर्यविशेषे 'गडिगवे धूर्वह-
नायोगरूपवैधर्म्यज्ञान समर्थकम् । किणहीनस्कन्धत्वेन सुखस्वपनेन च भारवह-
नायोग प्रतीयते ॥ सामान्यवैधर्म्येण विशेषसमर्थनमाह—इत्थमिति । प्रकाश
प्रति वृहस्पतेस्तारकदौरात्म्यनिवेदनमिदम् । क्लिधाति विबाधते । शाम्येत् अप-
काराच्चिर्वर्तत ॥ समर्थकमिति । अनुकूलचरणेनोपशमाभावोऽयोग्यतयापुपपन्न
एव । दुर्जनसामान्यस्वभावेन प्रत्युपकारमात्रपसाम्यत्वेन वैधर्म्येण समर्थ्यत इति
भाव । कारणवैधर्म्येण कार्यसमर्थनं यथा—'बहिरेव चिरादनाश्रये विलसत्येव
तुपारदीधिति । अत्र सपदमत्र संतत ननु सतापमित प्रसूयते ॥' चन्द्रस्य
सतापजनकत्वाभवेन समदजनकत्वे बाध प्रति सदधर्ती विरहिणी प्रति तत्सख्या
उक्तिरियम् । अनाश्रये अवचनस्थे । अत्र सूर्यस्य सतापजनकत्वप्रदर्शनेन
तद्विरुद्धस्य चन्द्रस्य सतापविरुद्धसमदजनकत्वमुपपन्नम् ॥ कार्यवैधर्म्येण कारण-
समर्थनमाह—सहसेति ॥ विरुद्धं विरुद्धजन्यम् । समर्थकमिति । सप-
द्विरुद्धकार्ये विपदि विवेकविरुद्धविवेकाभावजन्यत्वज्ञानेन सपदि विवेकजन्यत्व दृढ
प्रत्याख्यते । यजन्य यद्विरुद्ध तत्कारणविरुद्धजन्यमेवेति नियमादिति भाव । अत्र
घटत्वादौ व्यभिचारवारणाय जन्यमिति ॥ काव्यलिङ्गालंकारमाह—हेतोरिति ।
वाक्यपदार्थत्वे वाक्यपदान्यतरप्रतिपाद्ये वाक्यार्थस्य पदार्थस्य वा हेतुत्वे व्यङ्ग्ये
इति पर्यवसितोऽर्थः । क्रियान्वयसमाप्तौ वाक्यार्थत्वम् । अन्यथा पदार्थत्वम् । अय-
मेव हेतुलकार उच्यते ॥ यत्त्वन्नेत्रेति । वर्णानितोत्कृष्टस्य ओषितस्योक्तिरि-
यम् । मुखच्छायानुकारी मुखकान्तिसदृश । गत । मानसमिति शेष । सादृश्य-

1 काव्येति । काव्याभिमत लिङ्ग काव्यलिङ्गम् । सर्ववैलक्षण्यार्थं काव्यग्रहणम् ।
न ह्यत्र व्याप्तिपक्षधर्मोपसंहारादयं क्रियन्ते ॥

येऽपि त्वद्गमनानुसारिण्यस्ते राजहंसा गताः

६३—स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥

अत्र चतुर्थपादे पादत्रयवाक्यानि हेतवः । पदार्थता यथा मम—

('त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलीपटलपङ्क्तिराम् ।

न घृते शिरसा गङ्गा भूरिभारमिया हरः ॥')

अत्र द्वितीयाधे प्रथमार्धमेकपदं हेतुः । अनेकपदं यथा मम—

('पश्यन्त्यसंख्यपथगां त्वद्गानजलवाहिनीम् ।

देव । त्रिपथगात्मानं गोपयत्युग्रमूर्धनि ॥')

इह केचिद् वाक्यार्थगतेन काव्यलिङ्गेनैव गतार्थतया कार्यकारण-
भावेऽर्थान्तरन्यासं नाद्रियन्ते । तदयुक्तम् । तथा खत्र हेतुलिङ्गा भ-
वति—ज्ञापको निष्पादकः समर्थकश्चेति । तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य
विषयः, निष्पादकः काव्यलिङ्गस्य, समर्थकोऽर्थान्तरन्यासस्य, इति
पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गात् । तथाहि—'य-
त्स्वनेत्र—' इत्यादौ चतुर्थपादवाक्यम् । अन्यथा साकाङ्क्षतयासम-
ञ्जसमेव स्यात् इति पादत्रयगतवाक्यं निष्पादकत्वेनापेक्षते । 'सहसा
विदधीत—' इत्यादौ तु—

विनोदमानं सादृश्यमात्रेण विनोदः । मात्रपदेन सङ्गव्यवच्छेदः । दैवेन इदं दैवेन ॥
चतुर्थपादे चतुर्थपादप्रतिपाद्ये सादृश्यमात्रविनोदाभावे । पादत्रयवाक्यानि
पादत्रयरूपवाक्यत्रयार्थाः ॥ त्वद्वाजीति । अत्र कविप्रोक्तोक्तिविदं तादृशं
पङ्क्तिखण्डं सभाव्यमानभूरिभारभयकरणकहरगङ्गात्यागे हेतुः । वास्तवहेतुदाहरणं
तु—'बदनाभ्युदालोदनिन्दितेन्दुप्रभाभरम् । त्वामवेक्ष्य मनोजस्य यो ध्रुवा न
यशंवदः ॥' अत्र पूर्वार्धस्यैकपदार्थस्यार्थः परार्धार्थे हेतुः ॥ पश्यन्त्यसंख्य-
पथगामिति । अत्र पूर्वार्धे क्रियान्वयसमाप्तौ वाक्यत्वमन्तपद्मनेकपदपठितं
तदर्थस्य हेतुता । अत्रापि कविप्रोक्तोक्तिविदो हेतुः । संभाव्यमानमात्मगोपनं
कार्यम् । वास्तवहेतुदाहरणं तु—'अपाङ्गान्तनटधेनं वीक्ष्यमाणा मनागपि ।
अनङ्गसचिवाः खन्ता हरन्ति जगतां मनः ॥' कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्या-
समनशीलुर्बतः काव्यप्रकाशप्रसिद्धमर्थं दूषयति—इह केचिदिति । पदार्थगतेन
काव्यलिङ्गेनार्थान्तरन्यासासम्भवाद्—वाक्यार्थगतेनेति । अन्यथा हेत्वनुष-
ङ्गाद्युक्तया कारणजिज्ञासया । असमञ्जसं गृह्यप्रतिपत्तिजननाशमम् ।
पादत्रयगतवाक्यं पादत्रयस्वरूपवाक्यम् । निष्पादकत्वेन निष्पादकत्वप्रति-

‘परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह संगतिः ।

वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन ॥’

इत्यादिवदुपदेशमात्रेणापि निराकाङ्क्षतया स्वतोऽपि गतार्थं सहसा विधानाभावं संपद्धरणं सोपपत्तिकमेव करोतीति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गात् ।

‘न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारमिया हरः ।

त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलिभिः पङ्क्तिः हि सा ॥’

इत्यत्र हिशब्दोपादानेन पङ्क्तिरत्वादितिवद्वेतुत्वस्य स्फुटतया नायमलंकारः । वैचित्र्यस्यैवालंकारत्वात् ।

अनुमानं तु विच्छिन्ना ज्ञानं साध्यस्य साधनात् ।

यथा—

‘जानीमहेऽस्या हृदि सारसाक्ष्या विराजतेऽन्तः प्रियवक्रचन्द्रः ।

उत्क्रान्तिजालैः प्रसृतैस्तदङ्गेष्वापाण्डुता कुब्जलताक्षिपमे ॥’

अत्र रूपकवशाद्विच्छितिः ।

पादकत्वेन ॥ स्वतोऽपि हेतुर्किं विनापि । गतार्थं निःसंशयप्रतिपादितस्वार्थम् । तथैव हेत्वाकाङ्क्षया यद्वाक्यं यद्वाक्यमपेक्षते तदर्थस्य तदर्थो निष्पादकः, स एव काव्यलिङ्गस्य विषयः । यत्र हेतूपदेशादिना हेतुनिरपेक्षं वाक्यं तत्र हेतुवान्मय-स्वार्थः समर्थक एव, स चार्थान्तरन्यासस्य विषयः । एवंविधं भेदमनङ्गीकृत्य समर्थकहेतोरपि काव्यलिङ्गविषयत्वस्वीकारेऽर्थान्तरन्यासमानोच्छेदप्रसङ्ग इति भावः ॥ अनुमानालंकारमाह—अनुमानं त्विति । विच्छिन्ना अलंकारादिकृतवैचित्र्येण । परिपुष्टवैचित्र्यमिति शेषः । साध्यस्य व्यापकस्य । साधनात् साधन-गोचरव्याप्यत्वज्ञानात् । अनुमितिं प्रति साधनस्य हेतुत्वाङ्गीकारेऽस्तीतानागतलिङ्ग-कानुमितिर्न स्यात् ॥ जानीमहे इति । विरहवर्णनमिदम् । जानीमहे अनुमिनुमः । विरहजन्यपाण्डुत्वाक्षिकुब्जलतयोश्च प्रियवक्रचन्द्रकिरणजन्यत्वमुपेक्ष्य हेतुः कियते । अत्र रूपकोत्प्रेक्षाभ्यां परिपुष्टवैचित्र्यमनुमानमलंकारः । कविप्रादोक्तिजन्यविच्छि-

1. अनुमानमिति । तच्चानुमानं स्वार्थपराधर्मभेदेन द्वेषा । यत्र मयायमवगतोऽर्थ-इति स्वपरामर्शस्य निश्चयः सात्त्वतस्वार्थम् । यत्र परेणानवगतस्य वस्तुनः प्रतिपादनात्प-रप्रत्यायकत्वं तत्पराधर्मम् । द्विविधमप्येकोऽलंकार इति विमर्शिन्यां व्यक्तम् ॥

यथा वा—

‘यत्र पतत्यवलानां दृष्टिर्नशिताः पतन्ति तत्र शराः ।
तच्चापरोपितशरो घावत्यासां पुरः सरो मन्ये ॥’

अत्र कविप्रौढोक्तवशाद्विच्छित्तिः । उत्प्रेक्षायामनिश्चिततया प्र-
तीतिः, इह तु निश्चिततयेत्युभयोर्भेदः ।

अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह ॥ ६३ ॥

यथा मम—‘तारुण्यस्य विलासः—’ इत्यत्र (१३० पृ.) वशी-
करणहेतुर्नायिका वशीकरणत्वेनोक्ता । विलासहासयोस्त्वध्यवसायमूलो-
ऽयमलंकारः ।

अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धि चेत् ।

यथा—

‘कुपितासि यदा तन्निव ! निषाय करजक्षतम् ।

वधानं भुजपाशाभ्यां कण्ठमस्य दृढं तदा ॥’

अस्य च विच्छित्तिविशेषस्य सर्वालंकारविलक्षणत्वेन स्फुरणास्पृ-
थगलंकारत्वमेव न्याय्यम् ।

तिपतिपुष्टवैचित्र्यमनुमानमुदाहरति—यथावेति । ततस्मात् । आसामवलानाम् ।
मन्ये अनुमिनोमि । अत्र ‘अवलादृष्टिपातसहचरितशरपातोऽवलापुरोवर्तिचापरोपि-
तशरजन्मोऽवलादृष्टिपातसहचरितशरपातत्वात्’ इत्यनुमानम् । तत्रैतदस्य बाधा-
स्तरस्य सिद्धिः । वस्तुतस्तुल्यलंकारविसहकारं विनापि यत्र वैचित्र्यमनुभूयते तत्रा-
प्ययमलंकारः । यथा—‘विकसन्ति कदम्बानि स्फुटन्ति कुटजोदृमाः ।’ अत्र
वर्षाकालानुमानम् ॥ (अभिधा) हेत्वलंकारमाह—अभेदेनेति । हेतोर्हेतुमता कार्येण
सहाभेदेनाभेदारोपेण अभिधा हेतुरित्यर्थः ॥ तारुण्यस्येति । अत्र प्रकरणाच्चायि-
काया लाभः । हासः प्रकाशः । नन्वत्र लक्षणाया वशीकरणकारणप्रतीतिरेव न त्वमे-
दप्रतीतिरित्यत आह—विलासहासयोस्त्विति । अध्यवसाय आहार्यमेदप्र-
तीतिः । तथा च नायिकाया विलसहासयोः प्रत्ययकारणभावरूपसंबन्धाभावेन कारण-
लक्षणाया असंबन्धादाहार्यमेदप्रतीतिरवश्यमत्रोक्तव्या । तत्साहचर्यात्प्रकृतेऽप्या-
हार्यप्रतीतिरेव, न तु नायिकी प्रतीतिरिति भावः ॥ अनुकूललंकारमाह—अनु-
कूलमिति । अनुकूलानुबन्धि आनुकूल्यकारम् ॥ कुपितेति । नायिका प्रति सख्या
वचनमिदम् । अत्र करजक्षतभुजबन्धयोः प्रातिकूल्यं नायकानुकूल्यपरम् ॥ आक्षे-

वस्तुनो वस्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये ॥ ६४ ॥

निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा ।

तत्र वक्ष्यमाणविषये कचित्सर्वस्यापि सामान्यतः सूचितस्य निषेधः कचिदंशोक्तावंशान्तरे निषेध इति द्वौ भेदौ । उक्तविषये च कचिद्वस्तु स्वरूपस्य निषेधः, कचिद्वस्तुकथनस्येति द्वौ । इत्याक्षेपस्य चत्वारो भेदाः । क्रमेण यथा—

‘स्मरशरशतविधुराया भणामि सख्याः कृते किमपि ।

क्षणमिह विध्रम्य सखे ! निर्दयहृदयस्य किं वदाम्यथवा ॥’

अत्र सख्या विरहस्य सामान्यतः सूचितस्य वक्ष्यमाणविषये निषेधः ।

‘तव विरहे हरिणाक्षी निरीक्ष्य नवमालिका दलिताम् ।

हन्त नितान्तमिदानीमाः किं हतजल्पितैरथवा ॥’

अत्र मरिष्यतीत्यंशो नोक्तः ।

‘बालञ्ज ! णाह दूती तुअ प्पिओसि सि ण मह वावारो ।

सा मरह तुज्झ अअसो एअं धम्मवम्बरं भणिमो ॥’

अत्र दूतीत्वस्य वस्तुनो निषेधः ।

पालकारमाह—वस्तुन इति । विशेषप्रतिपत्तये विवक्षितवस्तुनो वस्तुर्वा वैलक्षण्यसूचनाय । विवक्षितस्य वक्ष्यमाणोक्तरूपद्विविधेनाक्षेपस्यापि द्वैविध्यमाह—वक्ष्यमाणोक्तग इति । वक्ष्यमाणविषय उक्तविषयश्चेत्यर्थः ॥ सर्वस्यापि समुचितस्यापि । वक्ष्यमाणविषये विवक्षितकथनाभावस्यैव वैचित्र्यव्यञ्जकत्वमिति । तत्र प्रकारान्तरासम्भवाद् द्वितीयप्रकारस्यैव वस्तुतत्कथननिषेधत्वेन द्वैविध्यमाह—उक्तविषये चेति ॥ स्मरशरशतेति । कृते निमित्तम् ॥ विरहस्य कान्तिविच्छेदस्य । सामान्यतो विरहत्वेन सूचितस्य स्मरशरशतेत्यनेन निर्दयहृदयेत्यनेन च व्यञ्जितस्य विषये मरणयोग्यत्वेनातिमहति निषेध इति विवक्षितस्य वचननिषेधेनैव निषेध इति भावः । इदानीं त्वयि गतेऽपि सावश्यं मरिष्यतीति त्वदि नञ्निवेदनमनर्थकमिति विवक्षितवस्तुनो विरहस्य मरणाव्यभिचारितरूपवैलक्षण्यविशेषवचननिषेधेनैव व्यञ्ज्यते । विरहविशेषस्य प्रकरणादिना वाच्यवत्स्फुटप्रतीयमानतया तत्कथननिषेधस्याकिञ्चित्करत्वेनाभासत्वम् ॥ तवेति । दलिता विकसिताम् । अथ जलनस्य निन्दया सूचितस्य मरिष्यतीत्यंशस्य सुहृदनिष्ठत्वेनाशक्यवक्ष्यत्वं वस्तुवैलक्षण्यं प्रतीयते ॥ बालञ्ज इति । ‘बालञ्ज माहं दूती तस्या प्रियोऽसीति न मम व्यापारः । सा म्रियते तवायन्न एव धर्माक्षर भणामः ॥’ इति संस्कृतम् । दूतीत्वेन कथितात्मनः सख्या वचनमिदम् । धर्माक्षरं यथाध-

‘विरहे तव तन्वङ्गी कथं क्षपयतु क्षपाम् ।

दारुणव्यवसायस्य पुरस्ते भणितेन किम् ॥’

अत्र कथनस्योक्तस्यैव निषेधः । प्रथमोदाहरणे सत्या अवश्य-
भाविमरणमिति विशेषः प्रतीयते । द्वितीयेऽश्वयवक्तव्यत्वादि ।
तृतीये दूतीत्वे यथार्थवादित्वम् । चतुर्थे दुःखस्यातिशयः । न चायं
विहितनिषेधः । अत्र निषेधस्याभासत्वात् ।

अनिष्टस्य तथार्थस्य विद्याभासः परो मतः ॥ ६५ ॥

तथेति पूर्ववद्विशेषप्रतिपत्तये । यथा—

‘गच्छ गच्छसि ! चेत्कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।

-ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ॥’

अत्रानिष्टत्वाद्गमनस्य विधिः प्रस्खलद्रूपो निषेधे पर्यवस्यति ।

विशेषश्च गमनस्यात्यन्तपरिहार्यत्वरूपः प्रतीयते ।

वचनम् । अत्र स्वस्मिन् सतोऽपि दूतीत्वस्य निषेधेन दूत्यन्तरयन्नाहं सिद्ध्या
पदांगीति स्ववैलक्षण्यं व्यज्यते । निषेधस्यारोप्यमाणत्वादाभासज्ञम् ॥ विरह
इति । वर्षारम्भे प्रवसन्तं नायकं प्रति सख्या वचनमिदम् । दारुणव्यवसायस्य
वृद्धच्छेदतत्समीपप्रपापनिश्चयस्य । अत्र पूर्वार्धे तत्समीपं त्वं याहीति वस्तुमिष्टं
वस्तु तस्य व्यञ्जकनिषेधेनैवार्थतो निषेधः सिध्यतीति न लक्षणगमनानुपपत्तिरित्य-
भिप्रायेणाह—कथनस्योक्तस्यैवेति । पूर्वार्धस्यैवैतत्पर्यः । अवश्यंभाविमरणं
मरणव्यभिचारित्वं विरहविशेषस्य वस्तुनो वैलक्षण्यम् । अशङ्कयेति । अवकाशं
वचनं यस्य तत्त्वम् । आदिना अतिप्रसिद्धत्वपरिग्रहः । दूतीत्वे यथार्थवादित्वं
दूतीत्वे सत्यपि यथार्थवादित्वम् । दुःखस्य दूतीदुःखस्य । न चाक्षेपालंकार-
घटकनिषेधो वास्तवनिषेध एव, न तु निषेधाभास इति वाच्यम् । आक्षेपालंकारे
निषेधाभासस्यैव वैचित्र्याधायकत्वाद् इत्यभिप्रायेणाह—नचेति । अयमाक्षे-
पालंकारघटकनिषेधः ॥ प्रथमान्तरेणाक्षेपालंकारमाह—अनिष्टस्येति । परो
निष्ठरूपमादन्य आक्षेप इत्यनुपज्यते ॥ प्रस्खलद्रूपोऽत्यन्तमर्थभयम् ॥

१. ‘प्रस्थानस्य’ क. २. ‘पुरस्ते’ इति । तृतीये द्विवचिच्छेदहेतुत्वाद् व्यपश्रवस्य निरा । क.
परोक्तस्येति । अत्रैव सखीकान्तविरहव्यवसायनकारणविज्ञात्वात्पुनः कथनस्य निषेध इत्यर्थः ।
अथ तारपत्रिणां मम दुःखविशेषं ननु यतोऽपि तन्निषेधं न च त्वमिति कथनमात्रोदाहरणस्य वैलक्षण्यं
गृहीतम् । इति पुनश्चास्तरे पाठः, ३. ‘दुःखस्य दूतीदुःखस्य’ इति पुनश्चास्तरे नष्टि.

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।

उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद्विधा सा परिकीर्तिता ॥ ६६ ॥

विना कारणमुपनिबध्यमानोऽपि कार्योदयः किञ्चिदन्यत्कारणमपेक्ष्यैव भवितुं युक्तः । तच्च कारणान्तरं कचिदुक्तं कचिदनुक्तमिति द्विधा । यथा—

‘अनायासकृशं मध्यमशङ्कतरले दृशौ ।

अभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुवः ॥’

अत्र वयोरूपनिमित्तमुक्तम् । अत्रैव ‘वपुर्भाति मृगीदृशः’ इति पाठोऽनुक्तम् ।

सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिस्तथा द्विधा ।

विभावनालङ्कारमाह—विभावनेति । हेतु प्रसिद्धकारणम् ॥ किञ्चिदप्रसिद्धम् ॥ दृश्यसि यौवने । ‘वयः पक्षिणि वात्स्यादौ वयो यौवनमात्रके’ इति कोप ॥ विशेषोक्तयलङ्कारमाह—सतीति । फलाभावः फलाभावकथनम् । अत्र निमित्त फलाभावप्रयोजकमुत्फण्डया कारण नायकाद्यभावस्तद्विरुद्धो नायकादि कार्यमुत्क

१. विभावनेति । विभाव्यते विभाव्यते हेतुरस्यामिति विभावना । बाहुलकावधिकरणे युक् । विशिष्टा कारणनिरपेक्षा भावना कार्योत्पत्तिर्यत्रेति वा । अत्र विशेषः कुवलयानन्दे—‘हेतुनामसमग्रत्वे कार्योत्पत्तिश्च सा मता । अस्मैरतीक्ष्णकठिनैर्जगज्जयति मन्मथ ॥’ ‘कार्योत्पत्तिरुत्तीया स्वस्तसत्यतिप्रतिबन्धके । नरेन्द्रानेव ते राजन्मन्त्रालसिभुज-जम् ॥’ ‘अकारणात्कार्येन-मन्वतुर्भाः स्याद्विभावना । शङ्कादीणानिनादोऽयमुदेति महदद्भुतम् ॥’ ‘विरुद्धात्वार्यसपत्तिर्दृष्टा काचिद्विभावना । शीतांशुकिरणास्तन्वि ! हन्त संतापयन्ति ताम् ॥’ ‘कामात्कारणजन्मापि दृष्टा काचिद्विभावना । यथा पयोराक्षिरभूत्करकल्पतरोस्तव ॥’ इति । तत्र विशेषधरपण्डिता—यत्त ‘अकारणात्’ इत्यादि, तच्चिन्त्यम् । कारणं विना कार्योत्पत्तिरिति भेद एव तदन्तर्भावत्वात् । अधिक ॥ रसगङ्गाधरादौ द्रष्टव्यम् । वेदेऽपि विभावना दृश्यते—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स मृणोलकर्णः ।

स वेत्ति येष नहि तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरस्य पुरुष मष्टातम् ॥”

(भैताभतरोप० ३।१५)

२. विशेषोक्तिरिति । रसोपे कुवलयानन्देऽसम्भव—‘असम्भवोऽर्थे निष्पत्तेरसम्भाव-यववर्णनम् । को वेद गोपक्षिशुक् शैलेमुत्पादयेदिति ॥’ अत्रोत्पादनक्रियाया गोपक्षिशुकेन कर्त्रा शैलेन कर्मणा च द्रव्येण सह विरोधः । मनुष्यविशेषस्य गोपक्षिशु-कस्य शैलोत्पादनासंभवात् । स च भगवतः कृष्णस्य प्रभावातिशयेन परिद्वियत इति विरोधाभासस्ततो नाहकारान्तरकल्पनेति प्रकाशानुयायिनः ॥

तथेत्युक्तानुक्तनिमित्तत्वात् । तत्रोक्तनिमित्ता यथा—

‘धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चञ्चलाः ।

प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः ॥’

अत्र महामहिमशालित्वं निमित्तमुक्तम् । अत्रैव चतुर्थपादे ‘कि-
यन्तः सन्ति भूतले’ इति पाठे त्वनुक्तम् । अचिन्त्यनिमित्तत्वं चा-
नुक्तनिमित्तस्यैव भेद इति पृथङ् नोक्तम् । यथा—

‘स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।

हरतापि तनुं यस्य शंभुना न हतं बलम् ॥’

अत्र तनुहरणेनापि बलाहरणे निमित्तमचिन्त्यम् । इह च कार्या-
भावः कार्यविरुद्धसद्भावमुखेनापि निबद्ध्यते । विभावनायामपि कारणा-
भावः कारणविरुद्धसद्भावमुखेन । एवं च ‘यः कौमारहरः—’ इत्यादे-
रुत्कण्ठाकारणविरुद्धस्य निबन्धनाद्विभावना । ‘यः कौमार—’ इत्यादेः
कारणस्य च कार्यविरुद्धाया उत्कण्ठाया निबन्धनाद्विशेषोक्तिः । एवं
चात्र विभावनाविशेषोक्तयोः संकरः । शुद्धोदाहरणं तु मृग्यम् ।

जातिध्वस्तुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः ॥ ६७ ॥

क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद्रव्यं द्रव्येण वा मिथः ।

विरुद्धमेव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः ॥ ६८ ॥

षष्ठभावः । कार्यकारणविरुद्धसद्भावमुखेन कार्याभावकारणाभावोक्तौ । विशेषोक्तिवि-
भावनयोः शुद्धोदाहरणे क्रमेण यथा—‘धनिनोऽपि स्थिरस्त्वान्ता यौवने धर्मत-
त्पराः । अनात्मश्लाघिनः शूरा भूपाला रघुवंशजाः ॥’ अत्र स्थिरस्त्वान्तत्वमुन्ना-
दविरुद्धं धर्मापार्जनकारणं नार्थकं तद्विरुद्धं यौवनम् ॥ विरोधात्तरारमाह—जाति-
रिति । जात्यापरित्यागपदेन गुणक्रियाद्रव्याणां ग्रहणम् । गुणक्रियाद्रव्याणां जात्या
सह विरोधस्तु गुणादिभिः सह जातिविरोध एवेति पृथङ् नोक्तः । विरुद्धमेवेति ।
कचिदाशेषेण कचित्कविप्रौढोक्त्या कचित्कालभेदेन कचिद्विभवादिनादिमातिसायेन
समावेशं लभमानैर्जात्यादिभिः सह जात्यादेर्यदापाततो विरोधभावं स विरोधाम-

१. विरोध इति । अयमेव विरोधाभास इत्युच्यते । आ रूपद्रासव रत्याभासः,
विरोधभासाभासश्चेति । वस्तुतस्तव जात्यादिभेदानामप्यस्यान्तुद्भवत्वेनमूलाभ्यां द्वि-
विध इति सदृश्याः । तत्र केवलमूलो यथा विन्पातनीवर्जने—‘पुष्पवत्यपि पवित्रा’ इति ॥

क्रमेण यथा—

‘तव विरहे मलयमरुद्धानलः शशिरुचोऽपि सोष्माणः ।

हृदयमलिरुतमपि भिन्ते नलिनीदलमपि निदाघरविरस्थाः ॥’

‘संततमुसलासङ्गाद्बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते ! ।

द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ॥’

‘अजस्रं गृह्यतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।

स्वपतो जागरुकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥’

‘वल्लभोत्सङ्गसङ्गेन विना हरिणचक्षुषः ।

राकाविभावरीजानिर्विषज्वालाकुलोऽभवत् ॥’

(नयनयुगासेचनकं मानसवृत्त्यापि दुष्प्रापम् ।

रूपमिदं मदिराक्षया मदयति हृदयं दुनोति च मे ॥)

‘स्वद्विज’ इत्यादि, (५८४ पृ०) ‘वल्लभोत्सङ्ग’—इत्यादिकोके चतुर्थपादे ‘मध्यंदिनदिनाधिपः’ इति पाठे द्रव्ययोर्विरोधः । अत्र ‘तव विरह—’ इत्यादौ पवनवादीनां बहुव्यक्तिवाचकत्वाज्जातिशब्दानां दवानलोष्मह-

कार इति भावः ॥ चतुर्भिः पादैर्जात्यादीनां चतुर्णां विरोधमाह—तवेति । गुणेन सह गुणविरोधमाह—संततेति । सुसलं धान्यकण्डनोपकरणम् । भवति त्वयि । भवता द्विजेभ्यस्तया वित्तानि दत्तानि यथा तेषां दासीभिरेव कर्मकरणात्-
स्पत्रीनां कराः सुकुमारा जाता इत्यर्थः ॥ अत्र कठिन्यकोमलत्वयोर्गुणयोरपगततो विरोधभानम् । समाधानं तु कालमेवेन ॥ गुणस्य क्रियाया विरोधमाह—अज-
स्येति । स्वप्नस्य सिद्ध्या मनःसंयोगरूपतया गुणत्वम् ॥ गुणस्य द्रव्येण सह विरोध-
माह—वल्लभेति । राकाविभावरीजानिः पूर्णचन्द्रः । अत्र पूर्णचन्द्रेण द्रव्येण सह
दाहजनकत्वस्य गुणस्य तादात्म्येनापाततो विरोधभानम् । विरहहेतुकत्वात् समाधा-
नम् ॥ क्रियायाः क्रियाया सह विरोधमाह—नयनेति । व्याख्यातमिदं प्राक्
(२०४ पृ.) प्रहपेजननक्रियाया सह चेदजननक्रियाया अपाततो विरोधभानम् ।
विरहहेतुकत्वात् समाधानम् ॥ क्रियाया द्रव्येण सह विरोधमाह—त्यद्वाजीति ।
अत्र हरेण द्रव्येण सह गङ्गाधारणाभावक्रियायास्त्वादात्म्येनापाततो विरोधभानम् ॥
द्रव्यस्य द्रव्येण सह विरोधमाह—वल्लभेति । अत्र चन्द्रसूर्ययोर्द्रव्ययोस्तादात्म्येन
विरोधभानम् । जातिशब्दानामिति । प्रतिपाद्यतया जातीनां पवनवादीनामिति

१. उदितपुच्छे तु ‘स्वद्विज’ इति पाठः । न च ते विरहा गङ्गा भूरिवारविवा-
हः । इत्यत्र हरेरेव गङ्गाधारणाभावेन विरोधो न भवति । अत्र उत्तरार्धेनैव पदयो-
गम्—गङ्गा गङ्गाधरो भवेत् न विनारेव सूर्यः । एतमेव ‘हरेरिव गङ्गाधरोऽन्तेत्यर्थः ।’ इति पाठः.

दयभेदनसूर्यैर्जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपैरन्योन्यं विरोधो मुखत आभासते ।
 विरहहेतुकत्वात्समाधानम् । अत्र 'अजस्य-' इत्यादावजत्वादिगुणस्य
 जन्मग्रहणादिक्रियया विरोधः । भगवतः प्रभावस्यातिशयित्वात्तु समा-
 धानम् । 'त्वद्वाजि-' इत्यादौ 'हरोऽपि शिरसा गङ्गां न धत्ते' इति
 विरोधः । 'त्वेद्वाजि-' इत्यादिकविप्रौढोक्त्या तु समाधानम् । स्पष्ट-
 मन्वत् । विभावनायां कारणाभावेनोपनिबध्यमानत्वात्कार्यमेव बाध्य-
 त्वेन प्रतीयते । विशेषोक्तौ च कार्याभावेन कारणमेव । इह त्वन्योन्यं
 द्वयोरपि बाध्यत्वमिति भेदः ।

कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसंगतिः ।

यथा—

'सा बाला वयमप्रगल्भमनसः सा स्त्री वयं कातराः

सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते सखेदा वयम् ।

शेषः । यद्वा पवनानीनामिति धर्मपरो निर्देशः । पवनत्वादीनामिति तदर्थः । जातिः
 शब्दो येषाम् । दयानलेति । दवानल इवेत्यर्थः । मुखतः प्रथमतः । विरह-
 हेतुकत्वादिति । मलयमरुदोर्विरहिणो सतापजनकत्वेन दवानलत्वाद्या-
 रोपात्समावेद्य इति भावः । नन्वजत्वं जन्माभाव एव कथमस्य गुणत्वमिति चेत्,
 जातिक्रियाभिधानां विशेषणानामपि गुणत्वस्वीकारात् । विशेषोक्तौ चेति ।
 कार्याभावेनोपनिबध्यमानत्वात्कारणमेव बाध्यत्वेन प्रतीयत इत्यन्वयः । इह
 तिष्ठति । विरोधालम्बरे विवर्धम् । ननु 'मलयमरुदवानल-' इत्यादौ रूपकमेवेति
 चेत् । न । तद्दामवस्थाननियमरूपविरोधस्य पुर स्फूर्तिकृतया वैचित्र्यापायकत्वात् ॥
 असंगत्वलंकारमाह—कार्यकारणयोरिति । भिन्नदेशतायां वैयधिकरण्ये ॥
 सा बालेति । सखायं प्रति नायिकमग्राह्यं दुःखभाज उक्तिरियम् । अग्रगल्भ-
 मनसः कार्याकार्यावधारणाधमचेतसः । तस्या बाल्यत्वेन मनुष्यभोगरूपसर्वा-
 नधारणाधमत्वं युक्तम् । मम तु तद्व्यास्युपायरूपकार्यावधारणाधमत्वमित्याशयत्वम् ।
 कातराः सभमचेतसः । स्त्रीणां स्वाभाविकं भयम्, मम तु स्वरभयमिति भावः ।
 स्त्री वयम् । अत्र बालत्वादीनां अरणानां नायिकवृत्तित्वमप्रगल्भमनस्यापीना
 कार्याणां नायकवृत्तित्वमिति वैयधिकरण्यम् । केचित्तु—'अयं अरणभूतयोर्धर्म-
 नोरलन्तं भिन्नदेशतया युष्मदुत्पत्तत्वेन क्लृप्तिरसंगतिः ।' एकपक्षिष्यरच्छेदक-
 भेदेन भिन्नदेशतावारणायालन्तमिति । तेन 'दधो भुजङ्गेन गदेऽक्षिघूर्णना-' इत्यत्र
 नातिव्याप्तिः । दंशनपूर्णनयोरेकसिञ्जरीरे संगतिरसंगत्वात् । कालभेदेन तदुभय-

साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं न शक्ता वयं

दोषैरन्यजनाश्रयैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम् ॥'

अस्याश्चापवादकत्वादेकदेशस्योर्विरोधे विरोधालंकारः ।

गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ॥ ६९ ॥

यद्धारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च संभवः ।

विरूपयोः संघटना या च तद्विषयं मतम् ॥ ७० ॥

क्रमेण यथा—

‘सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।

तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्वलोकभरणं प्रसूते ॥’

अत्र कारणरूपासिलतायाः ‘कारणगुणा हि कार्यगुणमारमन्ते’
इति स्थितेर्विरुद्धा शुक्लयशस उत्पत्तिः ।

ख्यातिवारणाय युगपदिति । तेन ‘क्रिया शरीरेऽत्र परत्र भोग’ इत्यत्र नातिव्याप्तिः ।
इत्याहुः । तत्र । ‘दन्तक्षतं मणौले बध्वा वेदना तपस्वीनाम्’ इत्यत्र स्त्रोकोदाहरणे
बोधकाभावेन कार्यकारणयोर्युगपदुत्पन्नत्वख्यातिविरहात् । ‘या ज्ञी वय कातरा’
इत्यत्र स्त्रीत्वस्य कारणस्योत्पन्नत्वाभावादेव कार्योत्पत्तिर्युगपदुत्पन्नत्वख्यातिविरहात्
न च स्त्रीत्वस्योत्पन्नत्वमारोप्यमिति वाच्यम् । तस्य वैविश्यानावहत्वेन तदधी-
कारस्यान्याप्यत्वात् । ‘दष्टो भुजगेन—’ इत्यादौ युगपदुत्पन्नत्वख्यातिविरहादेवाति-
प्रसङ्गभङ्गेन तन्मात्रार्थमुपात्तस्यान्तपदस्यानर्थक्याय । अस्मन्मते तु कार्य-
कारणयोरवैयधिकरणस्यैव यत्र विच्छित्तिविशेषजनकत्वं तत्रैव तस्यालंकारवस्तीकारः ।
‘दष्टो भुजगेन—’ इत्यादौ कार्यकारणयोरवच्छेदकमेदमस्त्वेऽप्यधिरारणस्यैकत्वेन वैय-
धिकरण्यभावात् । ‘क्रिया शरीरे—’ इत्यादौ वैयधिकरण्यस्य सत्त्वेऽपि तस्य विच्छित्ति-
विशेषानाधायकत्वादेव नातिप्रसङ्गः । ननु कार्यकारणयोः सहानवस्थानलक्षणो वि-
रोधोऽप्राप्तिस्तस्यैवात्रालङ्कारत्वमास्तां किमधिककल्पनयेत्यत आह—अस्याश्चेति ।
कार्यकारणवैयधिकरण्यरूपाया असंगतोर्विलक्षणवैविश्याधायकत्वेन विशेषत्वात् ।
समानाधिकरणयोर्विरोधे विरोधालङ्कारस्य विषय इत्यर्थः ॥ विषयालङ्कारमाह—
गुणाविति । कार्यकारणयोर्युगौ विरुद्धौ क्रिये वा विरुद्धे चेत्स्यातां तद्विषयमित्य-
मेणान्वयः । वैफल्यमभिमतफल्यनवाप्तिः । अनर्थस्य अनिष्टफलस्य । विरूपयोरेकत्र
पलुन्यत्यन्तमसम्भूतो संघटनं मेहनम् ॥ कार्यकारणयोर्युगविरोधमाह—सद्य
इति ॥ कारणगुणा इति । यद्यप्यवयवविरूपसर्वगुणक्रिययोरेकावयवरूपकारण-
गुणक्रियान्यत्वनियमस्त्वथापि तत्र तथा दर्शनादन्यत्रापि तथात्वं क्वचित्तु क-

‘आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने । ददासि त्वम् ।-

विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥’

अत्रानन्दजनकस्त्रीरूपकारणात्तापजनकविरहोत्पत्तिः ।

‘अयं स्नाकरोऽम्भोषिरित्यसेवि घनाशया ।

धनं दूरेऽस्तु नदनमपूरि क्षास्वारिमिः ॥’

अत्र केवलं काङ्क्षितधनलाभो नाभूत्, मृत्युत क्षास्वारिभिर्वदनपूरणम् ।

‘क वनं तरुवल्कभूषणं नृपलक्ष्मीः क महेन्द्रवन्दिता ।

नियतं प्रतिच्छलवर्तिनो यत धातुश्चरितं सुदुःसहम् ॥’

अत्र वनराज्यश्रियोर्विरूपयोः संघटना । इदं मम ।

यथा वा—

‘विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा

भुवनानि यस्य पषिरे युगक्षये ।

मदविभ्रमासकलया पपे पुनः

स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥’

कथ्यत इति नानुपपत्तिरिति भावः ॥ कार्यकारणयोः क्रियाविरोधमाह—आन-
न्दमिति । नायिका प्रति नायकस्योक्तिरियम् । अत्र कारणस्य नायिकाया क्रिया
आनन्दवान् नायिकाकार्यस्य विरहस्य क्रिया शरीरतापन सद्विरहम् । वदन्त्यान-
न्दतापौ गुणौ तथान्यत्र द्वयोर्धात्वर्थघटकत्वेन क्रियात्वेनैव व्यवहारः ॥ तृतीयं
प्रकारमाह—अयमिति । अत्र समुद्रसेवया धनप्राप्तिरूपफलस्यानवाप्तिः । क्षा-
स्वारिभिर्वदनपूरणस्यानिष्टस्य प्राप्तिः । सेव्यस्नानभीष्टसंपादकत्वातिशय स्वस्य दुर-
हृद्यदिशस्य वा व्यग्रयति ॥ चतुर्थं प्रकारमाह—क वनमिति । अत्रैकस्मिन्वस्तुति
श्रीरामेऽत्यन्तमसम्भवतोर्वनवासराज्यश्रीलाभयोर्मेलनम् । वस्तुतस्तदानीं रामस्य राजन-
श्रीराम, एव काङ्क्षीति क विरुद्धयोः सङ्घटनम्, किन्तु दूरपरम्पर्यस्य रामस्य राज्य-
रामरूपफलानवाप्तिः प्रयुतानिष्टस्य रामवनवासस्य सम्भव इति तृतीयप्रकार एवेदं
पर्यवस्यति । एव च ‘शिरीषादपि नृद्वद्भी वयमायतजेचना । अयं क च नृहृज-
मिर्कर्कशो मदनाल ॥’ इत्युदाहरणस्य वेदितव्यम् । अत्रात्रामार्दवमदनान्त-
सहनयोरेकत्र नायिकायां मेलनम् ॥ विपुलेनेत्यानुकत्वेत्यादावपि विपनाय यथायोग-
मतुगन्तव्यमिति काव्यप्रकाशोक्तं चतुर्थप्रकार एव समग्रयति—यथा वेति । वि-
पुलेनेति । सागरशयस्य धीकृणस्य । मदविभ्रमेण असकलया कटाक्षरूपया पपे
पीत । कटाक्षेण सर्वाङ्गीण दृष्ट इत्यर्थः । यत्र येदेकदेशेन कुक्षिणा जगत्पीयते ॥ पुन-
र्यधुरेकदेशेन क्रिया पीयत इति विरूपयोर्मेलनम् । चतुर्थं प्रकारं क द्वयप्रयोग एव
संगततीति वदन्तः केचिदेतदवयववयवयोः कार्यकारणयोः क्रियाविरोधोदाहरण-

समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः ।

यथा—

‘शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्त
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा ।’

इति समगुणयोगप्रीत्यस्तत्र पौरा

श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्य विवत्रुः ॥’

विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत् ॥ ७१ ॥

यथा—

‘प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।

दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्य ॥’

आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते ।

मेतद्वदन्ति । तथाहि—कुक्षिरवयव कारण तत्त्वर्तुका भुवनपानक्रिया कुक्षिकार्य-
स्यावयविन सागरशयस्य कर्मतासबन्धेन पानक्रियाया विरुध्यते । भुवनपातुकुक्षि-
मत कटाक्षपेयत्वस्य विरुद्धतया भानादिति । तच्च । प्रमाणान्तरवेद्यस्य हेतुहेतु-
मद्भावास्यान बोधाभावेनाप्रत्ययात् । धारणदर्शनरूपयो पानयो स्वनो विरोधाभा-
वाद् उपदर्शितविरोधस्य क्रियागतत्वाभावेन प्रकृतानुपयोगित्वाच्च ॥ समालङ्कारमाह—
समं स्यादिति । आनुरूप्येण योग्यकर्मणा । श्लाघा प्रशंसा ॥ शशिनमिति ।
इयमिन्दुमती कौमुदी अनुरूपमज शशिनमुपगतेत्यर्थ । एवमप्रेऽपि । समगुण-
योग्येण प्रीतिर्येषा ते तथा । नृपाणामिन्दुमतीलिप्सया समागतानामजेतरराशाम् ।
विवत्रु कथयामासु ॥ विचित्रालङ्कारमाह—विचित्रमिति । तद्विरुद्धस्य
इष्टविरुद्धस्य ॥ प्रणमति अपकृत्यो भवति । उन्नतिरुत्कर्ष । जीवित प्राणरक्षा ।
दुःखीयति दुःखमिच्छति ॥ अधिकालङ्कारमाह—आश्रयेति । एकस्याश्रयस्य आ-

१. सममिति । सह तुल्यतया नीयते इति समम् ॥

२. अधिकमिति । कुयलयानन्दे (वस्त्रमपि—‘अथ तु यस्मादापेयापदापारस्य
सुखमवा । मणिमालोर्मिका तेषां करे जपवटीयते ॥’ अथ मणिमालामयी कर्मिणा
अनुनीयक मणुलीनिवत्वादतिसुसुमा, सापि निरदिष्ट्या करे कङ्कणवत्प्रवेशिता जपमालेव
लम्बत इति ततोऽपि करस्य विरहकार्यदतिसुखमता निरुपितेलक्ष्णाख्यमञ्जारा-वर-
मिति । तदन्त्ये न मयन्ते । आधारापेक्षया आपेयस्य महत्त्वकल्पनरूपाधिनयभेद एव
पर्यवसानात् । यवमन्येऽन्यत् ॥

१. जीवन कर्म-य २ ‘कृष्ण-रीरस्य पञ्चवर्णाङ्गीकरोऽति जगत्प्राप्तुये-स्तदजनकत्वत्
कोऽथर ततो मे एव सर्ववस्तुनामम्भबन्’ इत्युपक्रम्यानिहितेन अलिङ्गिते मधुमाना समभ्यासोवाप-
ममाभ्यने-‘सर्व-’ इत्यनेन जगत्प्राप्तवर्तुरीश्वरेहस्य निरुपयन्निधानात्’ इति पुलकितकर पाठः ।

आश्रयाधिक्ये यथा—

‘किमधिकमस्य ब्रूमो महिमानं वारिधेर्हरिर्यत्र ।

अज्ञात एव शेते कुक्षौ निक्षिप्य सुवनानि ॥

आश्रिताधिक्ये यथा—

‘युगान्तकालप्रतिसंहतात्मनो

जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।

तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विप-

स्तपोधनाभ्यागमसंभवा मुदः ॥’

अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः कारणं मिथः ॥ ७२ ॥

‘त्वया स, शोभते तन्वी तया त्वमपि शोभसे ।

रजन्या शोभते चन्द्रश्चन्द्रेणापि निशीथिनी ॥’

यदाधेयमनाधारमेकं चानेकगोचरम् ।

अधिगो वा आधिक्ये महत्तातिशये । प्रतिपाद्ये इति शेषः ॥ अज्ञात एवेति ।
एकदेश एव शयनात्समुद्रस्थैः सर्वैः सत्त्वैर्न ज्ञात इत्यर्थः । अत्र ‘कुक्षौ निक्षिप्य’
इत्यनेन हरेर्महत्त्वमवगम्यते, समुद्रैकदेशे तच्छयनेनाश्रयस्य समुद्रस्यातिशयमहत्त्वं
व्यज्यते ॥ युगान्तेति । नारदागमे श्रीकृष्णस्य दर्पातिशयवर्णनमिदम् । युगा-
न्तकाले प्रलयसमये प्रतिसेहताः स्फोदरं प्रवेशिता आत्मानः समस्तप्राणिनो येन
तस्य कैटभद्विपः श्रीकृष्णस्य यस्यां तनौ जगन्ति सविकासमवध्रं यथा स्यात्तथा
आसत, तस्यां तनौ तपोधनस्य नारदस्य अभ्यागमसंभवा मुदो न ममुर्नावकाशं
प्राप्ताः । अत्र ‘जगन्ति’ इत्यादिना श्रीकृष्णतनोराश्रयस्याधिक्यमुक्तम् । तत्राव-
काशाब्जभादाधिताना मुदामतिमहत्त्वं व्यज्यते ॥ अन्योन्यालंकारमाह—अन्योन्य-
मिति । अत्र चेदित्यनुपज्यते । उभयोरेकजातीययोः क्रिययोर्मिथः परस्परं
चोत्कारणं तद्वान्योन्यनामालंकारो भवतीत्यर्थः ॥ त्वया सेति । अत्र परस्परशो-
भयोः परस्परकारणम् । क्रियापदं गुणस्याप्युपलक्षणम् । तेन ‘निशया हचिरश्चन्द्र-
श्चन्द्रेण हचिरा निशा’ इत्याद्याप्यमलंकारः । ‘दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मयवा
दिवम्’ इत्यादिभ्यावृत्तये ‘उभयोः’ इति । अत्र स्वं स्वं दोहनं प्रत्येव स्वं स्वं कारणं
न तु परस्परस्य दोहनं प्रति परस्परं कारणम् । अत्र कारणयोः क्रिययोश्च दान्दैक्यं
वैचित्र्यपरिपोषकमेव, न तु नियामकम् । तेन ‘नलेन भावाः शयिना निशेव
त्वया स भावाभिशया शशीव’ इत्यादौ शब्दभेदेऽप्ययमलंकारः ॥ विशेषालंकार-
माह—यदाधेयमिति । यच्छब्दो यदार्थः । इतरस्य शक्यस्य कार्यस्य अप्रका-

१. यदिति । भाषारमन्त्रेणाधेयं न वर्तते इति स्थित्वापि यस्तत्परिहारेणाधेयस्यो-
पनिबन्धः स एवेति विशेषः । यथैकं वस्तु परिमितं युगपदनेकधा वर्तमानं क्रियते ॥
द्वितीयः । यत्किञ्चिदारभमाणस्तत्समाप्त्यनस्तत्कारणं स एतीय इति ॥

किञ्चित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा ॥ ७३ ॥

कार्यस्य करणं दैवाद्विशेषस्त्रिविधस्ततः ।

क्रमेण यथा—

‘दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।

रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिव कवयो न ते वन्धाः ।’

‘कानने सरिदुद्देशे गिरीणामपि कंदरे ।

पश्यन्त्यन्तकसंकाशं त्वामेकं रिपवः पुरः ॥’

‘गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।

करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥’

व्याघातः स तु केनापि वस्तु येन यथा कृतम् ॥ ७४ ॥

तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्यस्तदन्यथा ।

यथा—‘दशा दग्धं मनसिजं—’ इत्यादि (४७६ पृ०) ।

सौकर्येण च कार्यस्य विरुद्धं क्रियते यदि ॥ ७५ ॥

व्याघात इत्येव ।

न्तस्य करणमुपसिद्धेवात्प्रतिस्थानं विना ॥ दिवमपीति । अनस्यो गुणानां माधुर्यादीनां गणो यासां ताः । अत्र निर्मातृत्वेन प्रतिष्ठाधारान्कवीन् विनापि काव्यरूपाणां गिरां स्थितिः ॥ कानन इति । अत्र भावनादिशयेन केनैव स्वभावेन काननादावनेकत्र सुम्पत्पदार्थस्य युगपत्स्थितिः । पर्यायालंकारलक्षणे कमादित्यस्योपादानादत्र परिशेषाद् युगपदित्यस्य व्यभिचयः । गृहिणीति । इन्दुमत्या मरणे तत्पत्युरजस्यार्यं विलापः । गृहिणी हृतेत्यन्वयः । एयमन्यत्रापि । स्वमेव गृहिण्यादि सर्वमिति भावः । दृष्टोपदेशकत्वात्सचिवः मिथो रहसि समीहितसाधकत्वात्सखी । ललिते कलाविधौ सुरते । नन्विन्दुमतीहरणमेव सचिवादिहरणं तथैकमेव कार्यं कथमत्र कार्यान्तरोत्पत्तिरिति चेत्, सचिवादिहरणे तात्पर्यात् ॥ व्याघातालंकारमाह—व्याघात इति । येनोपायेन यथा यत्प्रकारे कृतं तदन्यथा तद्विरुद्धप्रकारमित्यर्थः ॥ दशा दग्धमिति । हरस्य दशेत्यर्थः । दशैवेति । कटाक्षरूपया दशेत्यर्थः । इत्थं क्रियया जयनुक्त्वा रूपेणापि जयमाह—विरुपाक्षस्येति । विरूपममुन्दरं प्रित्वा-लोचनानां वामं मुन्दरमतो जय इत्यर्थः । अत्र दृगुपायेन हरेण साधितस्य दाहस्य दृगुपायेनैव वामलोचनादिभिरन्यथाकरणम् ॥ प्रत्यग्रन्तरेणापि व्याघातमाह—सौकर्येणेति । क्रियते कथ्यते । केनापि येनोपायेन तत्पर्यमुच्यते, तदन्येन तेनैवो-

१. व्याघात इति । यं च ईदृशोपायविशेषमवबुध्य केनचित्प्रतिष्ठापितं तदप्युच्यते केनचित्प्रतिष्ठितं तेनैवोपायविशेषेण यदन्यथा क्रियते स निष्ठापितवस्तुस्यादिति हेतुत्वाद् व्याघातः ॥

‘इहैव त्वं तिष्ठ द्रुतमहमहोभिः कतिपयैः

समागन्ता कान्ते । मृदुरसि न चायाससहना ।

मृदुत्वं मे हेतुः सुमग्न ! भवता गन्तुमधिकं

न मृद्वी सोढा यद्विरहकृतमायासमसमम् ॥’

अत्र नायकेन नायिकाया मृदुत्वं सहगमनाभावहेतुत्वेनोक्तम् ।
नायिकया च प्रत्युत सहगमने ततोऽपि सौकर्येण हेतुतयोपन्यस्तम् ।

परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता ।

तदा कारणमाला स्यात्—

यथा—

‘श्रुतं कृतधियां सङ्गाज्जायते विनयः श्रुतात् ।

लोकानुरागो विनयात् किं लोकानुरागतः ॥’

तन्मालादीपकं पुनः ॥ ७६ ॥

धर्मिणामेकधर्मेण संबन्धो यद्यथोत्तरम् ।

यथा—

‘त्वयि संगसंप्राप्ते धनुषासादिताः शराः ।

शरैररिश्चिरस्त्रेण भूस्तया त्वं त्वया यशः ॥’

पायेन सौकर्येण तद्विरुद्धं कार्यं यद्युच्यते तदा व्याघात इति तात्पर्यार्थः ॥ इहिवेति ।
त्वमिदं तिष्ठ, न तु मया सह गच्छ, अधिकं मृदुत्वमित्यन्वयः । अथममृतम् ॥
कारणमालालंकारमाह—परं परमिति । पूर्वपूर्वस्य कार्यस्य ॥ श्रुतमिति । अप्य-
यनमित्यर्थः । कृतधियां पण्डितानाम् ॥ मालादीपकालंकारमाह—तन्मालादीपक-
मिति ॥ त्वयीति । तेन अरिश्चिरसा । तया भुवा ॥ एकारक्यलंकारमाह—

१. कारणेति । अत्र यद्यपि कार्याणामपि माला निघटे तथापि कारणगुणवर्णनमेव
कपित्तरम्भ इति ‘निबन्धापूर्विका हि राश्याप्यप्रतिपत्तिः’ इति न्यायेन कारणमालात्वमिधानम् ॥

२. मालेति । यथा मालायां पूर्वपूर्वमधिवृष्णाणामुधरोत्तरधारणादुपकारकत्वं तद्व-
त्तापि मालारूपेणेति वक्तव्यम् । अप्ययदीधितैः पुनरेवमवादि—‘दीपदेष्टाश्लीलोमान्मा-
लादीपकमिभ्यते । सारथं दृश्ये वसास्तेन त्वयि कृता स्थितिः ॥’

३. त्वयीति । ‘संभाषावृत्तमागतेन भवता चाले सभासोपिते देवार्त्तमेव तेन तेन
सहसा यथासमासादितम् । अत्रेदं तेन शराः शरैररिश्चिरस्त्रेणापि भूमण्डले तेन त्वं भवता
य कीर्तिपुष्पा कीर्त्ता ॥ अत्रेदं यम् ॥’ इति प्रकाश उदाहृतम् अत्रो वासपदार्था-
गणानुरक्तः ॥

अत्रासादनक्रिया धर्मः ।

पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम् ॥ ७७ ॥

स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत्स्याच्चदैकावली द्विधा ।

क्रमेणोदाहरणम्—

‘सरो विकसिताम्भोजमम्भोजं मृङ्गसंगतम् ।

मृङ्गा यत्र ससंगीताः संगीतं ससरोदयम् ॥’

‘न तज्जलं यत्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनपद्मम् ।

न पद्मपदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार श्रमनः ॥’

कचिद्विशेष्यमपि यथोत्तरं विशेषणतया स्थापितमपोहितं च दृश्यते । यथा—

‘वाप्यो भवन्ति विमलाः स्फुटन्ति कमलानि वापीषु ।

कसलेषु पतन्त्यलयः करोति संगीतमलिषु पदम् ॥’

एवमपोहनेऽपि ।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते ॥ ७८ ॥

परं परमिति । यद्विशेष्यं अपोह्यते निषिध्यते । यत्र हारदि । अत्राम्भोजमृङ्गसङ्गी-
तानि उत्तरोत्तरम्, विशेष्याणि पूर्वपूर्वेषु सरोऽम्भोजमृङ्गेषु विशेषणत्वेनोपन्यस्यन्ति ॥
अपोहने त्याह—न तज्जलमिति । अत्र पङ्कजपद्मपदगुञ्जितान्युत्तरोत्तरविशेष्याणि
पूर्वपूर्वेषु जलपङ्कजपद्मपदेषु विशेषणत्वेनापोहितानि ॥ अत्रान्तरेणाप्येकवचन्यलंकार-
माह—कचिदिति । एवमपोहनेऽपीति । ‘पुण्यक्षेत्रं न सर्वत्र पुण्यक्षेत्रं न
नास्ति तथा । नास्त्रिकेषु न धर्मोऽस्त्रि न धर्मो दुःखहेतुता ॥’ अत्र पूर्वपूर्वेषु विशेष्याः
पुण्यक्षेत्रनास्त्रिकधर्मः परेषु परेषु नास्त्रिकधर्मो दुःखहेतुतासु विशेषणत्वेनापोहिताः ॥
सारलंकारमाह—उत्तरोत्तरमिति । वस्तुनो विशेषस्य उत्तरोत्तरमुत्कर्षः
सार उच्यते इत्यर्थः । केचित्तु ‘आम्भोजसमापनमुत्तरोत्तरमुत्कर्षेणायमलंकारो भवति,
तथात्व एव वैचित्र्यविशेषप्रतीतेः’ इत्याहुः । तत्र ‘लोकप्रजि यौदित्यि चादितेया
अप्यादितेयेषु महान्यहेन्द्रः । किं कर्तुमर्थायति सोऽपि रागान्मार्गं कथा किमतः
परं वे ॥’ इत्यादौ श्लोकार्थसमाप्तिपर्यन्तमुत्कर्षस्वरूपेणाप्यस्यालंकारस्य संभवात् ॥

१. पूकायलीति । पूकायली हारविशेषस्तत्रादित्यादिशाश्वतः ॥

२. सार इति । अयमलंकारस्तत्रैव लोकारनाम्ना न्यवहृतः ॥ अयमलंकारो वेदेऽपि
दृश्यते । यथा—‘महत्तः परममलंकारमव्ययपुत्रः परः । पुत्रप्राप्तं परं किंचिदपि
नाशा सा परा गतिः ॥’

यथा—

‘राज्ये सारं वसुधा, वसुधायामपि पुरं पुरे सौधम् ।

सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥’

यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत् ।

यथा—

‘उन्मीलन्ति नखैर्लुनीहि वहति क्षौमाञ्जलेनावृणु

क्रीडाकाननमाविशन्ति वलयकणैः समुद्रासय ।

इत्थं वञ्जुलदक्षिणानिलकुहकण्ठेषु साकेतिक-

व्याहाराः सुभग ! त्वदीयविरहे तस्याः सखीनां मिथः ॥’

राज्यं राज्याङ्गं तत्र वसुधा सारं तत्र सौधमद्याल्लिङ्गग्रहं सारं सौधवर्तिनि तल्पं सारं दाय्यावर्तिनि धनसर्वस्वं वराङ्गना सारेल्यर्थः । सर्वत्र निर्धारणे सप्तमी । एतदनुरो-
धेनैव राज्यादिपदानां मुख्यार्थपरित्यागः । तदुपादाने तु सामान्यविशेषभावाभावा-
न्निर्धारणे सप्तमी न स्यात् । नहि भवति घटेषु पटः सुन्दर इति । अत्र क्लीबाक्ली-
वयोः क्लीबः स चैकवद्वेति एकशेषेण क्लीबत्वमुपपन्नम् । यद्वा राज्ये वसुधा सारं
वस्तिवत्यर्थः । अथवा राज्ये वसुधासारं धनं तद्वदुपादेयमित्यर्थः । तथा च मेदिनी—
‘सारो बले स्थिरांशे च यत्ते पुंसि धने जले । न्याये क्लीबं त्रिषु वरे’ इति । केचित्तु
‘राज्ये राजत्वविषये यानि वस्तूनि तेषु वसुधा सारम् । वसुधायामित्यादावधिकरणे
सप्तमी । वसुधायां यानि वस्तूनि सन्ति तेषु पुरं सारम् । एवमग्रेऽपि । सर्वत्र तेभ्यस्ति
निर्धारणे सप्तमी । राजत्वस्याधिकरणत्वात्संभवादिपत्यविबक्षा । राज्यवसुधादीनां
सामान्यविशेषभावाभावेन निर्धारणासंभवात् यानीत्यादेरध्याहारः । सारस्य रूपस्य
विशेषणत्वाभावात् स्त्रीत्वादि’ इत्याहुः । १. तत्र । धर्मे वेदा इतिवत् राज्ये वसुधेत्यत्र
वसुधायाः प्रतिपादकत्वाभावेन राज्यत्वस्य प्रतिपाद्यत्वरूपविषयत्वासंभवात् यानीत्य-
ध्याहारेण न्यूनपदत्वदोषप्रसङ्गात् सारस्य विशेषणत्वं विनोत्कर्षप्रतीतेः सामानाधि-
करण्येन विशेषणविशेष्ययो रूपात्तरूपकभावसंभवाच्च । नहि भवति चन्द्रः सुन्दरमिति ।
यदि न सारपदस्य धनपरत्वं विवक्ष्यते तदा रूप्यरूपकभावः संभवति । उत्कर्षप्रतीतिस्तु
व्यञ्जनयमेति ध्येयम् ॥ यथासंख्यालंकारमाह—उद्दिष्टानामिति । अनूद्देशः पथा-
नुद्देशः । वञ्जुत्वमत्राविवक्षितम् । तेन ‘ददर्श कृष्णं रामं च मजे गोदोहनं गतो ।
पीतनीलान्वरभृते शरदम्बुरुहद्वयौ ॥’ इत्यादावप्यमलंछरः ॥ उन्मीलन्तीति ।
शोभितं प्रति तद्दृष्टागतस्य कस्यचिदुक्तिरियम् । उन्मीलन्ति स्फुरन्ति वञ्जुल इति

१. यथासंख्यमिति । कर्षं निर्दिष्टा उद्दिष्टाः पथाभिर्देशोऽनूद्देशः । ऊर्ध्वं निर्दिष्टा-
नानयोनां पथाभिर्दिष्टैरर्थैः क्रमेण संज्ञन्ते यथासंख्यमिति वाक्यार्थः । ग्रामनादपरिवम-
मलंछरं क्रमसंज्ञाभिदधिरे । यदाहुः—‘उपमेयोपमानानां क्रमसंज्ञः क्रमः’ इति ॥

कचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकं क्रमात् ॥ ७९ ॥

भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते ।

क्रमेण यथा—

‘स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः

पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।

बलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे

क्रमेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥’

‘विचरन्ति विलासिन्यो यत्र श्रोणिभरालसाः ।

वृककाकशिवास्तत्र धावन्त्यरिपुरे तव ॥’

‘विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः

स्तनाङ्गरागादरुणाच्च कन्दुकात् ।

कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः

कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तथा करः ॥’

‘ययोरारोपितस्तारो हारस्तेऽरिवधूजनैः ।

निधीयन्ते तयोः स्थूलाः स्तनयोरश्रुबिन्दवः ॥’

एषु च कचिदाधारः सहतरूपोऽसंहतरूपश्च । कचिदाधेयमपि ।
यथा—‘स्थिताः क्षणं—’ इत्यत्रोदबिन्दवः पक्ष्मादानसंहतरूप आधारे

वर्तुपदं सकेतगम्यम् । उनीहि वज्रमुकुलानीति कर्मपदं सकेतगम्यम् । वहति
दक्षिणानिल इति सकेतगम्यम् । आवृणुत इति सकेलम् । आविष्टान्ति कुङ्कुण्डा
इति सकेलम् । समुप्रासय तानिति संकेलम् । वज्रुलादीनां नामग्रहणे नायि-
काया विरहपीडितिशयो भवतीति तत्सखीनामयं साकेतिको व्यवहारः । सके-
तस्थानं योग्यकर्त्राव्याहारः ॥ पर्यायान्तरमाह—कचिदेकमिति । भवति स्व-
नवति । क्रियते परेण क्रियते ॥ स्थिताः क्षणमिति । तस्यां पार्वत्या । तत्र प्रथ-
मोदबिन्दुरूपमेकं वस्तु पक्ष्मादावनेकं क्रमेण स्वयं भवति ॥ अनेकस्मिन्ननेकं भवन-
मुदाहरति—विचरन्तीति । अत्रैकस्मिन्ननेकं विचरन्तीति । विलासिनीनां श्रुतीनां चानेकानां
(कर्पा) क्रमेण भवनम् ॥ एकस्यानेकं करणमुदाहरति—विसृष्टरागादिति । अ-
त्रैकः करणपरा पूर्वं रागदानार्थमधरे प्रीत्यर्थं कन्दुके कृतः । तत्र काष्ठे ॥ कुशाङ्-
कुरेऽक्षसूत्रे च एतत् इत्ययं क्रमः ॥ अनेकस्मिन्ननेकं करणमाह—ययोरिति । तारः
मुद्रमुष्णपटितः । अत्रैकस्मिन्ननेकं पतिसरवे हारस्व तरसरवेऽश्रुबिन्दुनां करणम् ॥
कचिदाधेयमपीति । संहतरूपमसंहतरूपं चेत्यर्थः । ननु द्विविधोऽत्र पर्यायः
परिपूरयमिष एव पूर्वत्र लक्ष्मणरूपत्वेन परार्थकास्तुलागानन्तरापरस्परसंलक्ष-
साहि० ५१

क्रमेणाभवन् । 'विचरन्ति—' इत्यत्राधेयभूता वृत्तादयः संहतरूपारि-
पुरे क्रमेणाभवन् । एवमन्यत् । अत्र चैकस्यानेकत्र क्रमेणैव वृत्तेर्विशे-
पालंकाराद् भेदः । विनिमयाभावात्परिवृत्तेः ।

परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत् ॥ ८० ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

‘दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी जग्राह हृदयं मम ।

मया तु हृदयं दत्त्वा गृहीतो भवनज्वरः ॥’

अत्र प्रथमेऽर्धे समेन, द्वितीयेऽर्धे न्यूनेन ।

‘तस्य च प्रवयसो जटायुषः

स्वर्गिणः किमिव शोच्यतेऽपुना ।

येन जर्जरफलेवरव्यया-

त्कीर्तमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः ॥’

अत्राधिनयेन ।

प्रश्नादग्रभूतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत् ।

तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छब्द आर्थोऽध्वा तदा ॥ ८१ ॥

परिसंख्या—

पाथेन परिवृत्तिर्भवादत्त आह—विनिमयाभावादिति । एकवस्तुत्यागोपाधिका-
परवस्तुत्पादान्तरस्य विनिमयस्याभावादित्यर्थः । परिवृत्तेर्भेद इत्यन्वयः । तथा च पू-
र्वेत्र वस्तुभेदाभावादपरत्रापरवस्तुत्पादानं प्रत्यन्यवस्तुत्यागस्य नियमाभावात्पर्यायद्वये
परिवृत्त्यभेदसंभावना नास्तीति भावः ॥ परिवृत्त्यलंकारमाह—परिवृत्तिरिति ।
समेनेति ॥ द्वयोरेवोपादेयत्वात्समत्वम् । ज्वरस्य भवहेतुत्वाच्चनूतनत्वम् ॥ परिसंख्या-
लंकारमाह—प्रश्नादिति । कथितत्वाद् उपादेयत्वेन निर्णयोक्तत्वात् । तादृगिति ।
‘कथितसदृशत्वार्थः । व्यपोहो निषेधः ॥ अत्र वाच्ये व्यपोहो प्रश्नपरिसंख्यामाह—

१. परिवृत्तिरिति । विनिमयोऽत्र किञ्चित्पनस्ता कसचिदाद्यन्तम् ॥

२. परिसंख्येति । परिवृत्त्योऽत्र सर्वनामकः । ‘परेर्बर्जने’ इति पाणिनिप्रज्ञाप । संख्या
शुद्धिः । ‘परात्तादृशैः प्राप्यते स्थानम्’ इति भगवद्भचनात् । तेन बर्जनशुद्धिः परिसंख्येत्य-
न्वयेनभिधानम् । सां चेया प्रश्नपूर्विका अप्रश्नपूर्विकेति द्विविधा । प्रत्येकं च पुनः शाब्द-
त्वाभेदाभावात् द्विविधेति त्रयविधा । यत्र कविप्रक्षिप्तोपायितेवत्याशुसिद्धिर्वाक्यकार-
विषयः । तेन ‘पञ्च पञ्चनखा भद्रया धर्मतः परिकीर्तिताः । गोपा कूर्मः शशा खड्गो उत्तरा-
वधे’ इति च श्रुताः ॥ इत्यादिवाक्यीदपरिसंख्यायां नास्तीत्येतन्नयत्र सिद्धरः ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

‘किं भूषणं सुहृदमत्र यशो न रत्नं
किं कार्यमार्थचरितं सुकृतं न दोषः ।
किं चक्षुरप्रतिहतं धिपणा न नेत्रं
जानाति कस्त्वंदपरः सदसद्विवेकम् ॥’

अत्र व्यवच्छेद्यं रत्नादि शाब्दम् ।

‘किमाराध्यं सदा पुण्यं कश्च सेव्यः सुदागमः ।’

को ध्येयो भगवान्विष्णुः किं काम्यं परमं पदम् ॥’

अत्र व्यवच्छेद्यं पापाद्यार्थम् । अनयोः प्रश्नपूर्वकत्वम् ।

अप्रश्नपूर्वकत्वे यथा—

‘भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे ।

चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥’

‘बलमार्तमयोपशान्तये विदुषां संमतये बहु श्रुतम् ।

वसु तस्य न केनलं विभोर्गुणवचापि परप्रयोजनम् ॥’

श्लेषमूलत्वे चास्य वैचित्र्यविशेषो यथा—

किमिति । भूषणमत्युत्कृष्टप्रयोजकम् । सुहृदं स्थिरतरम् । रत्नस्य भद्रापहरणादिस-
त्वात् तदात्मम् । आर्यमैन्वादिभिश्चरितं सुकृतं पुण्यजनकं तपस्यादि, न दोषः पाप-
जनक परदारगमनादिः । किमप्रतिहतं चक्षुरकृष्टज्ञानसाधन धिपणा मनो, न नेत्रम् ।
तस्य रविकरप्रतिहन्यमानत्वात् । जानातीति प्रत्युत्तरपरिवृष्टस्य प्रश्नार्थं प्रत्युत्तर-
यितृप्रशंसैयम् । यद्वा स्वस्थैवोत्तरमभिप्रेत्य प्रश्नान्तरमाह—जानातीति । सदसद्वि-
वेकं को जानातीति प्रश्नः । तदभिप्रायबोधेन हृदस्योत्तरमिदम्—त्वदपर इति ।
त्वं तु न जानासीत्यर्थव्यपोहोऽन बोध्यः । केचित्तु ‘तदपरः’ इति पाठं पल्लवित्वा
‘धिपणातोऽपरः’ इति व्याचक्षते । तैश्च । धिपणाप्रशंसायां जानातीत्यन्यथापत्तेः ॥
प्रतीयमानव्यपोषां प्रश्नपरिसरुषामाह—किमाराध्यमिति । कार्यमित्यर्थः । पुण्यं
कार्यं न पापं, नरकसाधनत्वात् । सुदागमः सेव्यो नापत्यमागमः, पापसाधन-
त्वात् । विष्णुर्ध्येयो न धनं, भवप्रमादादिसाधनत्वात् । परमं पदं पारमार्थिकं सुखं
काम्यं न वैयर्थिकं सुखम्, अनित्यत्वात् ॥ वाच्यव्यपोषान्प्रश्नपरिसरुषामाह—भ-
क्तिरिति । व्यसनमनुशीत्यम् । युवतिरुत्तरमास्त्रे ॥ प्रतीयमानव्यपोषान्प्रश्नपरि-

‘यसिंश्च राजनि जितं जगति पालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसकर-
श्चापेषु गुणच्छेदः—’ इत्यादि ।

उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुत्तरयो यदि । ३७२

यच्चासकृदसंभाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम् ॥ ८२ ॥

यथा मम—

‘वीक्षितुं न क्षमा श्वश्रू स्वामी दूरतरं गतः ।

अहमेकाकिनी बाला तवेह वसतिः कुतः ॥’

अनेन पथिकस्य वसतियाचनं प्रतीयते ।

‘का विसमा देवगई, कि लद्धवं जणो गुणगाही ।

कि सोक्खं सुकलत्तं, कि दुग्गेज्झं खलो लोओ ॥’

अत्रान्यव्यपेक्षे तात्पर्याभावात्परिसंख्यातो मेदः । न चेदमनुमा-
नम् । साध्यसाधनयोर्द्वयोर्निर्देश एव तस्याङ्गीकारात् । न च काव्य-
लिङ्गम् । उत्तरस्य प्रश्न प्रत्यजनकत्वात् ।

सख्यामाह—चलमिति । आर्तभयोपशान्तये, न परपीडनाय । समतये सम्यग्ज्ञानाय,
न विवादाम् । श्रुतमभ्ययनम् । तस्य दशरथस्य ॥ चित्रकर्मसु न मनुष्येषु । वर्णा-
नो शुक्लादिद्रव्याणां विप्रादीनां च सकरो मेलकः । चापेषु न जनेषु, गुणस्य मौर्व्या-
इष्टेदो द्विषीभवनम्, अथ च गुणस्य विद्यादेश्छेदो विरहः ॥ उत्तरात्तरमाह—उत्त-
रमिति । उतयः प्रतीयमानत्वम् । असकृदिति प्रश्ने उत्तरे चान्येति । असंभाव्य
लोकप्रसिद्धिगम्यम् । लोकोपलक्षणमित्यर्थः ॥ का विसमा इति । ‘का विपमा
देवगति किं लद्धव्यं जणो गुणगाही । किं सोक्खं सुकलत्तं किं दुग्गेज्झं खलो लोओ ॥’
इति संस्कृतम् । सौख्यं सुखसाधनम् । अत्र प्रतीयमानव्यपेक्षायाम् ॥ परिसंख्या-
या प्रसक्तं वारयति—अनेति । ननु वीक्षितुं न क्षमेत्यादावुत्तरात्प्रश्नानुमानमि-
त्यनुमानालङ्कार एवायमित्यत आह—न चेदमिति । ननु तरेण प्रश्न कल्प्य चेत्तर्हि
हेतुताया उत्तरस्यान्ये व्यङ्ग्यत्वेन काव्यलिङ्गालङ्कार एव स्यादत आह—न चेति ॥

१. उत्तरमिति । प्रश्नेऽसति यद्युत्तरात्प्रश्नस्योत्तरं कल्पनं तदेकमुत्तरम् । अपि चास-
रूपप्रश्ने सति यदसंभाव्य संभावितुमशक्यमसह्युत्तरं प्रतिवचनं तत्पुनरपरमुत्तरमिति
योजना । यद्यप्युत्तरालङ्कारो द्विविधोऽपि प्रश्नोत्तरयोरन्यतरस्योभयोश्च साभिप्रायत्वेन
निरभिप्रायत्वेन च पञ्चविध इत्यष्ट्या ॥

दण्डापूपिकयान्यार्थगमोऽर्थापत्तिरिष्यते ।

मूपिकेण दण्डो भक्षित इत्यनेन तत्सहचरितमपूपभक्षणमर्थादायातं भवतीति नियतसमानन्यायादर्थान्तरमापत्ततीत्येष न्यायो दण्डापूपिका । अत्र च कचित्प्राकरणिकादर्थद्विप्राकरणिकस्यार्थस्यापत्तनं कचिदप्राकरणिकार्थात्प्राकरणिकार्थस्येति द्वौ भेदौ । क्रमेणोदाहरणम्—

‘हारोऽयं हरिणाक्षीणां लुठति स्तनमण्डले ।

मुक्तानामप्यवख्येयं के वयं स्मरकिंकराः ॥’

‘विललाप म बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।

अतितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम् ॥’

अत्र च समानन्यायस्य श्लेषमूलत्वे वैचित्र्यविशेषो यथोदाहृते-
‘हारोऽयं—’ इत्यादौ । न चेदमनुमानम् । समानन्यायस्य संबन्धरूप-
त्वाभावात् ।

विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयु(य)तः ॥ ८३ ॥

अर्थापत्त्यलंकारमाह—दण्डापूपिकयेति । दण्डापूपन्यायेनेत्यर्थः । अन्यार्थगमो
भिप्रार्थप्रतीतिः ॥ दण्डापूपन्यायमाह मूपिकेणेति । इतिशब्दो हेतौ । अनेन
मूपिकेण तत्सहचरितं दण्डभक्षणसहचरितमर्थादोचित्यादायातमवगतं भवतीत्यन-
न्तर ‘वदन्यप्रापि’ इति पूरणीयम् । नियतेति । नियतस्य तद्वत्त्वेन निश्चितस्य स-
मानन्यायात्तुल्यसामर्थ्यादर्थान्न तु शब्दात् । आपत्तति प्रतीतिरपि यो भवति । मूपि-
यस्य हि दण्डभक्षणं दुष्करं तत्क्षिप्पन्तौ तत्सहचरितापूपभक्षणमतिमुक्तत्वात्तथा/
सभाव्यते तथाप्रापि सहचरितेकसिद्धेरपरसिद्धिरोचित्यात्सभाव्यत इति भावः ॥
हारोऽयमिति । मुक्तानां हारपदपरस्मिन्विशेषाणां निवृत्तसंस्कारदुष्टानां च । मु-
क्तानां तावदपि दालिग्रनं दुर्घटं सन्निध्यत्वावमुक्तानामस्याकं सुखं तास्यादिति पुं-
स्त्वमत्र समानी धर्मः । मुक्तानां वर्णनीयत्वेन प्राकरपिक्त्यम् ॥ विललापेति ।
योऽजः । इत्येवमत्र समानी धर्मः । अयसो वर्णनीयत्वाभावादप्राकरमित्त्वम् ।
संबन्धरूपत्वाभावादिति । न्यातिरूपत्वाभावादित्यर्थः । न्यातिश्च ज्ञाप्यनाप-
कयोरेव्यभिचरितसामानाधिकरण्यरूपः । प्रवृत्ते तु एकस्य साधर्म्यमहेन औचित्या-
त्तत्त्वान्नस्य तादृशधर्मान्तरग्रहो भवतीति ज्ञाप्यज्ञापकयोर्व्याप्त्यसम्भवादिति भावः ॥
विकल्पानलंकारमाह—विकल्प इति । तुल्यबलत्वं तत्तदुदाहरणे यथामथ बोध्यम् ।

1. दण्डेति । दण्डापूपयोर्भावे दण्डापूपिका । ‘दण्डमनोवादिभ्यश्च’ इति वृत् ।
पुत्रोदरादिभ्यश्चभाव इति वेदित्वा । अनेन तु दण्डापूपे विदेते यस्यां नीतो सा दण्डा-
पूपिका । ‘अत्र एवेदनी’ इति ठगित्वाङ्गः । भारे दण्डापूपनिव दण्डापूपिकेति ‘हरे प्र-
तिहृती’ इति कन वर्णयन्ति ॥

यथा—‘नमयन्तु शिरांसि धनूंषि वा कर्णपूरीक्रियन्तामाज्ञा-
मौव्यो वा ।’

अत्र शिरसां धनुषां च नमनयोः संधिविग्रहोपलक्षणत्वात्, सं-
धिविग्रहयोश्चैकदा कर्तुमशक्यत्वाद्विरोधः । स चैकपक्षाश्रयणपर्यव-
सानः । तुल्यबलत्वं चात्र धनुःशिरोनमनयोर्द्वयोरपि स्पर्धया संभाव्यमान-
त्वात् । चातुर्यं चात्रौपम्यगर्भत्वेन । एवं ‘कर्णपूरीक्रियन्ताम्’ इत्य-
त्रापि । एवं ‘युष्माकं कुरुतां भवतिष्ठमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः’ । अत्र
श्लेषावष्टम्भेन चारुत्वम् ।

‘दीयतामर्जितं विंशं देवाय ब्राह्मणाय वा ।’

अर्थतोऽलंशरादेः चारुता वैचित्र्यं यदि साहित्यार्थः । ‘विरोधश्चान्तरा यतः’ इति
पाठस्तु न सम्यक् । अर्थोसंगतेः । ‘चातुरी यतः’ इति पाठे तु यतो विरोधाद्या-
तुरी वैचित्र्यं स विकल्प इत्यर्थः ॥ ‘नमयन्तिवति । बलवदुद्युत्तोऽकिरियम् ।
अरय इति कर्तृपदमश्रोक्षम् । कर्णपूरीक्रियन्तां कर्णभूषणसदृशीक्रियन्ताम् । कर्ण-
संगतीक्रियन्तानिति यावत् । अरिभिरिति कर्तृपदमश्रोक्षम् । नन्वसमर्थस्य शिरोन-
मनं समर्थस्य धनुर्नमनमिति कथं तुल्यबलत्वमत आह—अत्र शिरस्तामिति ।
संधिविग्रहयोर्द्वयोश्चेद्व्याजं राजाद्यनुष्ठेयत्वात्तुल्यबलत्वम् । विरोधमुपपादयति—
संधिविग्रहयोरिति । ननु सर्वत्रोदाहरणे तादृशविरोधो न संभवतीत्यत आह—
स चेति । विरोधश्चेत्यर्थः । तुल्यबलयोरेकतरस्यैव प्रकृतोऽन्वय एकरुपाश्रयण-
यस्य स इत्यर्थः । तथा च तुल्यबलयोरेकस्मिन्प्रकृतोऽन्वयो विरोध इति परमतो-
त्तर्यम् । इदानीं धनुःशिरोनमनयोर्बलकथंचित्तुल्यबलत्वमुपपादयितुं विनैव
सङ्गर्षं संगमयति—तुल्यबलत्वमिति । वक्तुः स्वार्थजन्यसंभावनाविपरत्वादि-
त्यर्थः । चातुर्यमिति । वैचित्र्यमित्यर्थः । औपम्यगर्भत्वेनेति । शिरोनमन-
स्योत्कटत्वेन धनुर्नमनस्योपमानत्वेन पर्यवसानमिति भावः । युष्माकमिति ।
अत्र तनुनेत्रयोर्भक्त्यतिष्ठमनसाधनक्षमत्वेन तुल्यबलत्वम् । तयोरेकतरस्यैव भवा-
तिष्ठानरूपे प्रकृतकार्यं हेतुत्वेनान्वयो न तु समुच्चयवदुभयोरिति विरोधः । श्लेष-
पावष्टम्भेन श्लेषानुकूल्येन । ‘पतत्स्वविरतं वारि वृत्तान्ति शिचिनो मुदा । अथ
वान्तः कृतान्ती वा दुःखस्वान्तं करिष्यति ॥’ अत्र विग्रहश्च श्लेषावष्टम्भेन ‘वा-
रत्वम् । एवमन्यत्रापि यथायथं चारुत्वमवगन्तव्यम् । चारुतार्थतः इति यदुक्तं
तस्य व्याप्तिमाह—दीयतामिति । अत्र देवब्राह्मणयोरुत्तमपात्रत्वेन तुल्यबल-

1. ‘भक्तिप्रकृतिलोकेनमनयिनी नीलोत्पलवर्षिणी ध्यानालम्बनता समापिनितेनी-
तेतिष्ठमात्रे । एतत्पदस्य महामिषी इति कृतां लक्ष्मीदृशोत्पलवती—’ इति पूर्वोपादयसी ॥

इत्यत्र चातुर्याभावाच्चायमलंकारः ।

समुच्चयोऽयमेकस्मिन्सति कार्यस्य साधके ।

खलेकपोतिकान्धायात्तत्करः स्यात्परोऽपि चेत् ॥ ८४ ॥

गुणौ क्रिये वा युगपत्स्यातां यद्वा गुणक्रिये ।

यथा मम—

‘हंहो धीरसमीर हन्त जननं ते चन्दनक्षमाभृतो

दाक्षिण्यं जगदुत्तरं परिचयो गोदावरीवारिमिः ।

प्रत्यङ्गं दहसीति मे त्वमपि चेदुद्दामदावाग्निव-

न्मत्तोऽयं मलिनात्मको वृन्चरः किं वक्ष्यते कोकिलः ॥’

अत्र दाहे एकस्मिन्चन्दनक्षमाभृज्जन्मरूपे कारणे सत्यपि दाक्षिण्या-
दीनां हेतुन्तराणामुपादानम् । अत्र सर्वेषामपि हेतूनां शोभनत्वात्स-
द्योगः । अत्रैव चतुर्थपादे मत्तादीनामशोभनानां योगादसद्योगः ।

सदसद्योगो यथा—

‘शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी

सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्नाकृतेः ।

त्वम् । प्रकृते दाने एतत्तत्स्यैव सबन्धो न त्वभयोरित्यस्ति विरोधः ॥ समुच्चया-
लंकारमाह—समुच्चयोऽयमिति । गलेकपोतिकान्धायात्—‘रुद्धा युवान् दिशव,
कपोतः खले यधामी युगपत्पतन्ति ।’ यथा भक्षणार्थं कपोतानां खले युगपत्पतनं
तथैककार्यानुष्ठानार्थं युगपदनेकस्योपस्थापनम् । प्रसन्नान्तरेण समुच्चयालंकार-
माह—गुणाविति । गुणश्च क्रियाभिन्नधर्ममात्रम् । क्रिया धात्वर्थरूपः ॥ हंहो
इति । विरहिण उच्चिरियम् । दाक्षिण्यं दक्षिणदिग्भनत्वम्, अथ च सारत्वम् ।
किं वक्ष्यते कोकिल इति । कोकिल मुनयः दाहजननी भवतीति भावः । अ-
नर्थपक्ष्यलंकारसमीर्षः । सतामुपादेयानां कारणानां केवलानां दोग सद्योगः ।
तेषामेवानुपादेयानां योगोऽसद्योगः । उभयमिधमे सदसद्योगः ॥ शशीति । मे
मनसि सत्सैव दत्त्वानि दुःखदायकत्वात् । किं निमित्ताह—शशीति । स्नाकृतेः
शोभनशरीरस्य अनक्षरं वचनहीनम् । धनपरायणो धनलालप्रवृत्तेन सदस-
द्विदेकहीनः । शशिप्रभृतीनामिति सम्बन्धपर्यन्तानाम् । धूररत्नादीनामिति सततदु-

१. तत्कर इति । चेत्परोऽ-योऽपि तत्करः तस्य कार्यस्य संपदकः स्यात् । एव एवः
प्रकारः, गुणयोः क्रिययोर्गुणविषयोर्वा वीगपदेनावस्थाने विविध इति चतुर्विधः । गोऽयं
सदुपध. सद्योऽसद्योगे सदसद्योगे च भवतीति विधा निषेधे ॥

प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो

नृपाङ्गनगतः खलो मनसि सद्यः शल्यानि मे ॥'

इह केचिदाहुः—'शशिप्रभृतीनां शोभनत्वं खलस्याशोभनत्वं चेति सदसद्योगः' इति । अन्ये तु—'शशिप्रभृतीनां स्वतः शोभनत्वं धूसरत्वादीनां त्वशोभनत्वमिति सदसद्योगः ।' अत्र हि शशिप्रभृतिषु धूसरत्वादेरत्यन्तमनुचितत्वमिति विच्छित्तिविशेषस्यैव चमत्कारविधायित्वम् । 'मनसि सद्यः शल्यानि मे' इति सप्तानामपि शल्यत्वेनोपसंहारश्च । 'नृपाङ्गनगतः खल' इति तु क्रमभेदादुत्पत्त्यावहति सर्वत्र विशेष्यस्यैव शोभनत्वे प्रक्रमादिति । इह च खलेकपोतवत्सर्वेषां कारणानां साहित्येनावतारः । समाध्यलंकारे स्वेककार्यं प्रति साधके समग्रेऽप्यन्यस्य काकतालीयन्यायेनापतनमिति भेदः ।

'अरुणे च तरुणि नयने तव मलिनं च प्रियस्य मुखम् ।

मुखमानतं च सखि ते ज्वलितश्चास्यान्तरे सरज्ज्वलनः ॥'

अत्राद्येऽर्थे गुणयोर्योगपद्यम्, द्वितीये क्रिययोः । उभयोर्योगपद्ये यथा—

'कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात्सितपङ्केरुहसोदरश्चि चक्षुः ।

पतितं च महीपतीन्द्र तेषां वपुषि प्रस्फुटमापदां कटाक्षैः ॥'

गन्तव्यपर्यन्ताज्ञां ग्रहणम् । खलस्य तु स्वतोऽशोभनत्वं नृपाङ्गनगतत्वस्य शोभनत्वमेति वैपरीत्येन सदसद्योगः । मनोदुःखं प्रति धूसरत्वादिविशिष्टाश्चन्द्रादयः कारणानि करणीभूतानां विशेष्याणां विशेषणानां च यथासंभवं च यथासंभवं सत्तामसतां च योग एव सदसद्योग इति भावः । अन्येषां मतमुपपादयति—अत्र हीति । विच्छित्तिविशेषस्यैवेत्येवकारेण मनसीत्यादेर्व्यावृत्तिः । मन्येतद्विरयं क्रमत आह—मनसीति । तथा च वाक्यसमासकत्वेनैव तत्सार्थकमिति भावः । प्रथमतः वृत्त्यति—नृपाङ्गनगत इति । विशेष्यस्यैवेत्येवकारेण विशिष्टव्यवच्छेदः । तथा चात्र विशेष्यविशेषणयोर्योग एव वैचित्र्यावहो ननु विशिष्टानां योगः । क्रमभेदरूपदोषावहत्वादिति भावः । समाध्यलंकारद्वयस्य भेदमाह—इहेति । साहित्येन मिलितत्वेनावतारः । समग्रे समर्थे पर्याप्ते क्वकतालीयन्यायेन अप्रतिषेधतत्वेनापतनमुपस्थापनम् । यत्र कार्यविशेषं मिलितान्येव कारणानि जनयन्ति समुपपत्त्यस्य विषयः । यत्र स्वेकस्मिन्कारणे फलसाधनायाजुष्टीयमाने देवादुत्पत्तेन कारणान्तरेण तत्फलस्य मुरारत्वं च समाधिरिति भावः ॥ गुणयोगपदे समुपपत्त्याह—अरुणे चेति । नायित्रीं प्रति शल्या उपरिधियम् । नयने वृत्ते इति शेषः ॥ कलुषमिति । रोपस्याप्यतिमिलयः । सितपङ्केरुहस्य सोदरी सारसी शीः शोभा यस्य नर । अस्य येनधिरुज्ये एव प्रयोगप्रचुरं विच्छित्तिविशेषजनकत्वं च । क्वचि-

‘धुनोति चासिं तनुते च कीर्तिम् ।’

इत्यादावेकाधिकरणेऽप्येष दृश्यते । न चात्र दीपकम् । एते हि गुणक्रियायौगपथे समुच्चयप्रकारानियमेन कार्यकारणकालनियमविपर्ययरूपातिशयोक्तिमूलाः । दीपकस्य चातिशयोक्तिमूलत्वाभावः ।

समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात् ॥ ८५ ॥

यथा—

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।

उपकाराय दिष्टेदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥’

प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि ।

तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधनः ॥ ८६ ॥

तस्यैवेति रिपोरेव । यथा मम—

‘मध्येन तनुमध्या मे मध्यं जितवतीत्ययम् ।

इभकुम्भौ भिनत्यस्याः कुचकुम्भनिभौ हरिः ॥’

प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्प्रकल्पनम् ।

निष्फलत्वाभिधानं चाप्रतीपमिति कथ्यते ॥ ८७ ॥

सामानाधिकरण्येऽपि प्रयोगमाह—धुनोति चेति । कार्यकारणयोः कालनियम-
पौर्वापर्यं तस्य निपर्ययो यौगपद्यमारोपितं सति फलोत्पादनप्रतिपत्त्यर्थम् ॥
समाध्यलंकारमाह—समाधिरिति । दैवादकृत्वाद् वस्त्वन्तरागमात्प्रत्ययान्तर-
समाधानाकार्ये सुकरे सति समाधिरित्यर्थः । एतेन प्रकान्तकारणेन कार्यस्य दु-
ष्करत्वं प्रतीयते ॥ मानमिति । सत्यायं प्रति कस्यचिदुक्तिरियम् । दिष्ट्या भा-
ग्येन । उदीर्णमुत्पन्नम् ॥ प्रतीपालंकारमाह—प्रसिद्धस्येति । निष्फलत्वाभि-
धानमिति । उपमानस्येत्यन्वयः । अभिधानं रूपं उपमानोपमेयभावे वैपरीत्य-

१. प्रत्यनीकमिति । अनीकेन सङ्घट्ट प्रत्यनीकम् । सादृश्यस्य यथाभारेणैव समष्टे
पुनः सादृश्यमवधानादुदीर्णभूतेऽपि सादृश्येऽवधीभवः । लोके प्रतिपक्षस्य तिरस्कारावानीकं
प्रयुज्यते । तदनुचरे प्रतिपक्षसंबन्धिनः कस्यचिदतिरस्कारः क्रियते । यथा चानीकसङ्घट्टप्र-
युज्यमानत्वात्प्रत्यनीकमुच्यते । अत्र च प्रतिपक्षगत बलवत्त्वम्, आत्मगतं दुर्बलत्वं च
गम्यत इति पण्डितराजः ॥

२. प्रतीपमिति । प्रतीपः अन्त्याधो वसिप्रति प्रतीपं निधोप्रत्ययकम्, अन्त्याधो-
दलकारे लक्षणा । ‘कवच-’ इत्यादिनाप्रत्ययः । ‘मन्त्रवचस्ये-’-‘-’-’ इतीशदेवः ॥
उत्पलवानन्दे इतिप्रकम्—‘वर्षेन-’-‘वस्योपमाया अनिष्पत्तिवचस्य यत् । गुणाप-
वादे गुणादि, तदनुसारं किञ्चिदुच्यते ॥’ ‘प्रतीपमुपमानस्य वैमर्शमिति मन्त्रदे ।

क्रमेण यथा—

‘यत्त्वन्नेत्रसमानकान्तिं सलिले मयं तदिन्दीवरं—’ इत्यादि (५८३ पृ०) ।

‘तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा हा हेम सा चेद्द्युति-

स्तच्चक्षुर्यदि हारितं कुवलयैस्तुचेत्सितं का सुधा ।

धिकंदर्पधनुर्ध्रुवौ यदि च ते किं वा बहु ब्रूमहे

यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविमुखः सर्गकमो वेधसः ॥’

अत्र वक्त्रादिभिरेव चन्द्रादीनां शोभातिवहनात्तेषां निष्फलत्वम् ।

‘उक्त्या चात्यन्तमुत्कर्षमत्पुत्कुट्टस्य वस्तुनः ।

कल्पितेऽप्युपमानत्वे प्रतीपं केचिदूचिरे ॥ ८८ ॥

यथा—

‘अहमेव गुरुः सुदारुणानां

मिति हालाहल तात मा सा हृष्यः ।

ननु सन्ति भवादृशानि भूयो

भुवनेऽस्मिन्वचनानि दुर्जनानाम् ॥’

मन्नेति प्रतीपमुच्यते । द्वितीयपक्षे निष्फलत्वाभिधानेनोपमेयस्य प्रकृतेप्रतीतेरुपमा-
नप्रातिकूल्यमिति प्रतीपमुच्यते । आद्ये उपमानस्योपमेयत्वकलनेन द्वितीये वैक-
ल्याभिधानेनापकर्षः प्रतीयते ॥ तद्वक्त्रमिति । शशिनः कथा सौन्दर्यप्रशंसा ।
हास्येन हेमः शोच्यत्वम्, तेन च तस्य वैकल्यं प्रतीयते । विफलार्थं वा हा-
स्यन्दः । हारितं विकलीभूतम् । यद्वा-हा येदे, रितं गतम् । नष्टमिति यावत् ।
यत्सत्यमिति । वेधसः सर्गकमः पुनरुक्तवस्तुहीन इति यद्वीर्ये तत्तत्त्वमेवै-
त्यर्थः । एतेन केशपाशादिसत्त्वे चामरादीनां वैकल्यं प्रतीयते । वैकल्यमुपपाद-
यति—वक्त्रादिभिरेवेति । प्रमाणन्तरेण प्रतीपालंकारमाह—उक्त्येति ।
येन धर्मेण उत्कर्ष उच्यते तेनैव धर्मेणाप्रतिद्वन्द्व्युपमानत्वं कल्प्यत इति भावः ।
अपिवाप्युत्कर्षप्रकारयोः समुच्चयः ॥ अहमेवेति । हे हालाहल, हे तात,
अहमेव सुदारुणानां गुरुरिति दर्पवान्मा भूः । कथमित्यत आह—नन्विति । ननु
भोः, अस्मिन्भुवने दुर्जनानां वचनानि भूयो यथा स्यात्तथा सन्ति । अत्र दाहय-
त्वातिशयः सामान्यगुणस्ययोगादुपमानत्वमभूत्पूर्वमपि दाहयत्वाद्ये दर्पनिषेधाद-

दृष्ट चेद् वदनं तस्याः किं पद्मेन क्लिप्तमुना ॥’ इति चतुर्थं प्रतीपम् । केचिषु
पद्ये प्रतीपप्रकारोपमानस्य यैर्मर्षवर्जनासाधेयाल्लक्ष्येण इत्युक्तम् । अन्ये तु प्रमादिय-
पीपयस्य अनन्वयोरनेवोपमेयोपमानेऽप्येतेन तदन्वयवर्जितेति ॥

अत्र प्रथमपादेनोत्कर्षातिशय उक्तः । तदनुक्तौ च नायमलंकारः ।
यथा—‘ब्रह्मेव ब्राह्मणो वदति’ इत्यादि ।

मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्षणा ।

अत्र समानलक्षणं वस्तु कचित्सहजं कचिदागन्तुकम् । क्रमेण
यथा—

‘लक्ष्मीवक्षोजकस्तूरीलक्ष्म वक्षःस्थले हरेः ।

प्रसृतं नालक्षि भारत्या भासा नीलोत्पलाभया ॥’

अत्र भगवतः श्यामा कान्तिः सहजा ।

‘सदैव शोणोपलकुण्डलस्य यस्यां मयूखैररुणीकृतानि ।

कोपोपरक्तान्यपि कामिनीनां मुखानि शङ्कां विदधुर्न यूनाम् ॥’

अत्र माणिक्यकुण्डलस्यारुणिमा मुखे आगन्तुकः ।

सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः ॥ ८९ ॥

यथा—

‘मल्लिकाचितधम्मिल्लाश्चारुचन्दनचर्चिताः ।

अविभाज्याः सुखं यान्ति चन्द्रिकास्वभित्तारिकाः ॥’

मीलिते उत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणस्य तिरोधानम् । इह तूभयोस्तु-
ह्यगुणतया भेदाग्रहः ।

नुभूतमेव विवक्षितम् ॥ ग्रहणेति । अत्रोत्कर्षो गम्य एव न तु वाच्यः ॥ सामा-
न्यालंकारमाह—सामान्यमिति । प्रकृतस्य प्रकृतस्य अन्यतादात्म्यमितरभिज्ञ-
त्वेनापरिचयत्वम् ॥ मल्लिकेति । ‘धम्मिल्लः मयताः कपाः’ इत्यमरः । अत्राभि-

१. कुशलयागन्दे तु “भेदवैशिष्ट्ययोः रूपांशुन्मीलितविशेषकौ । विमादि स्वपशो-
मयं गुराः शीतेन जानते ॥ छिद्यन्तुदिते चन्द्रे वृषाणि च मुखानि च ॥” इति निरुक्तिः ।
स्यावेन भेषान्प्यवसाये प्राप्ते कुतोऽपि देतोर्भेदरूपो निरुक्तिरिति उन्मीलितम् ।
तथा सामान्येन विशेषादुरने प्राप्ते व्यापान्ताद्विशेषरूपो सामान्यप्रतिबन्धो विशेषरूप-
इति छिद्यन्तां तात्पर्यम् । अत्र चेद्विद्वद्भिरुक्तं—स्यक प्रतीयमानस्य कस्यचिद् वस्तुनो
निर्देशरूपं सामान्यं विषयेनाज्ञादमानानां वस्तुनोऽपि निर्देशनां स्वस्वगतुमापन्न-
स्यु मीलितम् । एवं च “विमादि—” इत्यत्र शीतेन वस्तुनोऽपि वस्तुतः साधारण-
निर्देशकविमर्शनिष्ठानुमानाभाव इति शीतेन जानते” इत्यनेनापि मीलनस्यैव दार्ढ्यं न
रहनेनेति प्रत्यक्षानुमीलितं न प्रत्यक्षरूप इति । तथा चन्द्रोदने वस्तुनोऽपि भेदमानेति
प्रापन्नविमर्शनिष्ठानुमानस्य वस्तुतया निरावृत्तये सामान्यमेव । चन्द्रोदने वस्तुनोऽपि भेदमानेन उपर-
कालेन वस्तुनोऽपि भेदमानमेव नानुमानेति तात्पर्यं इति वक्तव्यम् । एतेन विशेषेण न
इत्यमरः ॥

तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः ।

यथा—

‘जगाद वदनच्छन्नपन्नपर्यन्तपातिनः ।

नयन्मधुलिहः श्वैत्यमुदग्रदशनांशुभिः ॥’

मीलिते प्रकृतस्य वस्तुनो वस्तुन्तरेणाच्छादनम् । इह तु वस्तु-
न्तरगुणेनाक्रान्तता प्रतीयत इति भेदः ।

तद्गुणानुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः ॥ ९० ॥

यथा—

‘हन्त सान्द्रेण रागेण भृतेऽपि हृदये मम ।

गुणगौर निपण्णोऽपि कथं नाम न रज्यसि ॥’

सारिका वर्णनीयत्वेन प्रस्तुताश्चन्द्रिकाभिन्नत्वेनापरिचिताः ॥ तद्गुणालंकारमाह—
तद्गुण इति । अत्युत्कृष्टगुणस्य अर्थात्संनिकृष्टस्य वस्तुनोऽतिनिबिडगुणस्य ग्रहः
स्कृतिः । अत्युत्कृष्टेति गुणविशेषणं स्वगुणतिरोधाने बीजम् ॥ जगादेति । अत्र
प्रक्रान्तो वलदेवः कर्ता । नन्वत्रोत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणतिरोधानमस्तीति मीलिता-
दस्य को भेद इत्यत आह—मीलित इति । इह तु तद्गुणे तु । संनिकृष्टगुणेन
स्वगुणस्यैव तिरोधानं न तु वस्तुनः । मीलिते तु वस्तुनोऽपीति विशेषः । मीलिते
स्वजातीयोत्कृष्टगुणतिरोधानम्, अत्र तु विजातीयोत्कृष्टगुणेनापकृष्टगुणतिरोधानं
‘स्वगुणत्यागात्’ इत्यनेन लभ्यत इत्यपि बोध्यम् । अनेन सामान्यालंकारपदस्य भेद-
स्तत्र ‘तद्गुणः’ इत्युपादानात् ॥ अतद्गुणालंकारमाह—तद्गुणेति । तद्गुणस्य उ-
त्कृष्टगुणवस्तुनो गुणस्माननुहारः । अपकृष्टगुणेन वस्तुना अग्रहणमित्यर्थः । हेता-
विति । उत्कृष्टगुणवस्तुसंनिधानमत्र हेतुरवधेयः ॥ रागेण अनुगुणेन भृते पूर्णे ।

यथा वा—

‘गङ्गाम्बु सितम्बु यामुनं कज्जलभमुभयत्र मज्जतः ।

राजहंस ! तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥’

पूर्वत्रातिरक्तहृदयसंपर्कात्प्राप्तवदपि गुणगौरवदवाच्यस्य नायकस्य रक्तत्वं न निष्पन्नम् । उत्तरत्राप्रस्तुतप्रशंसायां विद्यमानायामपि गङ्गायमुनापेक्षया प्रकृतस्य हंसस्य गङ्गायमुनयोः संपर्केऽपि न तद्व-
पता । अत्र च गुणाग्रहणरूपविच्छित्तिविशेषाश्रयाद्विशेषोक्तेर्भेदः । वर्णा-
न्तरोत्पत्त्यभावाच्च विषमात् ।

संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा ।

कयापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते ॥ ९१ ॥

सूक्ष्मः स्थूलमतिभिरसंलक्ष्यः । अत्राकारेण यथा—

‘वक्रस्यन्दिस्वेदविन्दुमवन्वैर्दृष्ट्वा भित्तं कुङ्कुमं कापि कण्ठे ।

पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खङ्गलेखां लिलेख ॥’

गुणगौरयश्च शुक्ल । शुक्लगुणस्य रक्तगुणयोगेन रक्तत्वं सुतरां जायते । अत्र श्लेषा-
दनुरागरक्तिक्रोरेकत्वाध्यासादेतदुपपद्यते । अत्र प्राकरणिकेन नायकेन प्राकरणि-
कस्य नायिकाहृदयस्य गुणाग्रहणम् ॥ प्राकरणिकेनाप्राकरणिकगुणाग्रहणेऽप्ययमलं-
कार इत्याह—राजहंसेति । चीयते गङ्गाजलसंपर्केणोपचीयते । अपचीयते यमु-
नाजलसंपर्केणोपक्षीयते ॥ प्राप्तवदपि भवितुं योग्यमपि । वनूत्तरत्राप्रस्तुतप्रशं-
सया स्वसंयन्धिगुणग्राही जन एव प्रकृतो न तु राजहंस इति प्रकृतस्याप्रकृतगुणा-
ग्रहणोदाहरणं कथमेतत्संगच्छतामत आह—उत्तरत्रेति । प्रस्तुतस्य प्रतिपाद्य-
त्वेन प्राकरणिकस्य गङ्गायमुनाम्बुपेक्षया प्रतिपाद्यत्वेन राजहंसस्यापेक्षिक प्रकृत-
त्वमिति भावः । नन्वत्र कारणसत्त्वे कार्यानुत्पत्तिरस्तीति विशेषोक्त्यलंकार एवाय-
मित्यत आह—अत्र चेति । विच्छित्तिविशेषाश्रयाद् वैचित्र्यविशेषसंबन्धात् ।
कारणसत्त्वे कार्यानुत्पत्तिरूपवैचित्र्यादुक्त्वैचित्र्यं विलक्षणं तत्प्रयोजकत्वादलंका-
रस्य वेलक्षण्यमिति भावः । ननु नायिकाहृदयादिरूपकारणगुणस्य विरुद्धत्वात्संपृक्त-
नायकादिरूपकार्यगुण इति विषमालंकार एवायं संपर्कस्य कार्यत्वात्संपृक्तस्यापि
कार्यत्वमुपचर्यत इत्यभिप्रायेणाह—वर्णान्तरेति । कार्यस्य कारणगुणविरुद्धगुणो-
त्पत्तावेव विषमस्य विषयः । प्रकृते तु तदभावाच्च तद्विषय इति भावः । विषमा-
दिति । भेद इत्यन्वयः ॥ सूक्ष्मालंकारमाह—संलक्षित इति । आकारो
धर्मः । इदितं किमामग्री विदग्धचेष्टा ॥ मतेः स्थूलत्वं गहनार्थप्रादित्वम् ॥ वक्र-
स्यन्दीति । अपि वयस्या तन्व्या नायिकायाः कण्ठे वक्रात्स्यन्दिभिः स्वेदविन्दु-

अत्र कयाचिक्कुटुम्बमेदेन संलक्षितं कस्याश्चित्पुरुषायितं पाणौ
पुरुषचिह्नद्वलेखालिखनेन सूचितम् । इक्षितेन यथा—

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।

हसन्नेत्रार्पिताकृतं लीलपत्रं निमीलितम् ॥

अत्र विटस्य भ्रूविक्षेपादिना लक्षितः संकेतकालाभिप्रायो रजनी-
कालभाविना पत्रनिमीलनेन प्रकाशितः ।

व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः ।

संतर्नगिप्तं देयारूपकृतविभागं कुटुम्बं दृष्ट्वा तस्याः पुंसत्वं द्रष्टुं पुरुषायितं व्य-
यन्ती शपयन्ती स्मिता तस्या एव पाणौ पत्रलेखं लिखेत् । पुरुषायिताया एव
पत्रगणितस्वेदानां गण्डे गलनं संभवति न गूढानुगमायाः । अतः सूत्रमपि पुरु-
षायितं लक्षितं पुरुषधर्मस्य पत्रलेखायाः संसितलिखनेन प्रकाशितम् । पत्रलेखा
पत्राकृतिचिह्नविशेषः पुंशो हस्ते तिष्ठति । कुटुम्बमेवोऽग्राकारः । एतदेवाह—
अत्र कयाचिदिति ॥ संकेतेति । संकेतकालजिज्ञासुमित्यर्थः । विटं धूर्तमुप-
नायकं ज्ञात्वा भ्रूविक्षेपादितरिक्षितादिना ज्ञात्येति बोध्यम् । हसता हर्षसूचकचेष्टा-
यता नेत्रेणार्पितं शपितमाकृतमभिप्रायो यस्य यत्र वा तयया स्यात्तथा निमीलित-
मित्यर्थः । संकेतकालाभिप्रायः संकेतकालजिज्ञासा ॥ व्याजोक्त्यलंकारमाह—
व्याजोक्तिरिति । व्याजात्कारणान्तरोद्भावनच्छब्दाद् उद्भिन्नस्य कार्यादिना व्यकी-

1. व्याजोक्तिरिति । पञ्चमसङ्गेन कुवलयानन्दे । गूढोक्तिर्विभूतोक्तियुंक्तिलो-
कोक्तिश्चेकोक्तिर्यकोक्तिरिति पदलङ्घतयो निरूपिता यथा—‘गूढोक्तिरन्योद्देश्यं चेष्टवन्त्यं
प्रति कथ्यते । वृषापेदि परक्षेत्रादायाति क्षेत्ररक्षकः ॥’ ‘विभूतोक्तिः छिद्युक्तं कविना-
विष्कृतं यदि । वृषापेदि परक्षेत्रादिति वक्ति सद्यश्चनम् ॥’ ‘युक्तिः परातिसंधानं क्रियया
भर्तृपुत्रये । त्वामालिखन्ती ज्ञान्यं धनुः पौष्पं करोऽलिखत् ॥’ ‘लोकोपवादानुकृति-
ल्लोकोक्तिरिति भण्यते । सदस्य कविनिर्मासान्नीकमित्वा विलोचने ॥’ ‘चेकोक्तिर्यदि
लोकोक्ते स्वादर्धान्तरगमिता । मुञ्जस्य पदं जानीते मुञ्जचरणं सखे ॥’ ‘वकोक्तिः के-
पकाङ्गुभ्यामपराधर्मकल्पनम् । मुञ्जस्य गानं दिवं प्रातः वेद नन्दी हरान्तिके ॥’ इति । अत्र
गूढोक्तेर्नालंकारत्वमिष्यते, तस्या इवनिषिध्यत्वात् । विभूतोक्तेरपि नालंकारत्वं गुणीभूतव्य-
ञ्जयमात्रत्वाद् वाच्यरसाधुत्वर्यकत्वामावाच । युक्तिरपि व्याजोक्तिरेव, उक्तिपदस्य व्यापार-
मात्रपरत्वात् तेन नालंकारान्तरत्वमिष्टम् । लोकोक्तिश्चेकोक्ती अपि नालंकारी उपरहा-
रकत्वामावाच । वकोक्तिस्तु शब्दालंकारे (४८३ पृ.) उक्तेः ॥

यथा—

‘शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-

द्रोमाञ्चादिविसंस्थुलाखिलविधिव्यासङ्गमङ्गाकुलः ।

आः शैल्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान्ससितं

शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः शिवः ॥’

नेयं प्रथमापह्नुतिः, अपह्नवकारिणो विषयस्यानभिधानात् । द्वितीया-
पह्नुतेर्भेदश्च तत्पश्चात्वे दर्शितः ।

स्वभावोक्तिर्दुरुहार्थस्त्रिक्रियारूपवर्णनम् ॥ ९२ ॥

दुरुहयोः कविमात्रवेद्ययोरर्थस्य डिम्भादेः स्वयोस्तदेकाश्रययो-
श्चेष्टास्वरूपयोः । यथा मम—

‘लाङ्गुलेनाभिहत्य क्षितितलमसकृद्धारयन्नप्रपञ्चा-

मात्मन्येवावलीय द्रुतमथ गगनं प्रोत्पन्नन्विक्रमेण ।

भूतस्य ॥ शैलेन्द्रेति । शैलेन्द्रेण हिमालयेन प्रतिपाद्यमानाया दीयमानाया
गिरिजायाः पार्वत्या हस्तस्योपगूढेन सपर्केणोल्लसन् यो रोमाञ्चादिः पुलक-
वम्पादिल्लेन विसंस्थुलोऽयथाभूतो, योऽखिलविधिव्यासङ्गः समस्तवैदिकक्रियासंय-
न्धस्त्वस्य भङ्गेनाकुलो व्याकुलः । शैलस्य हिमालयस्यान्तःपुरवार्तिनो(र्तानि)ये(यानि)
मातृरामण्डला(नि) मण्डलीभूता मातरस्तेषां गणैः ॥ अत्र रोमाञ्चादिना कार्येणो-
द्भिन्नः स्वकीयोद्भाविशेषः शैलरूपस्मरणान्तरोद्भावेन शिवेन गोपितः । ननु
प्रकृतगोपनेनाप्रकृतोद्भावेनमपह्नुतिरुक्त्य तदनयोः को भेद इत्यत आह—नेय-
मिति । प्रथमा कृतनिषेधपूर्वकप्रकृतस्थापनरूपा । विषयस्य अप्रकृतारोपवि-
षयस्य । अत्र तु गोपनाकारमिन्नेन काञ्चादिना विषयो व्यज्यत एव, नत्वभिधीयत
इति भावः । द्वितीयापह्नुतेः, ‘गोपनीयं कमप्यर्थं शोतयित्वा कथंचन । यदि श्लेषे-
णान्यथा वान्यथयेत्साप्यपह्नुतिः ॥’ इत्युक्तश्रवणायाम्प्रस्ताये दर्शित इति । तत्र
गोपनकृता गोपनीयं प्रथममभिधीयते, अत्र तु न तथेति भावः ॥ स्वभावोक्त-
लंकारमाह—स्वभावोक्तिरिति । व्याचष्टे—दुरुहयोरिति । डिम्भादेरित्यादि-
भेदेनाकृतिक्रियास्वरूपस्याप्रकृतप्रत्ययुक्तिप्रसङ्गः । ‘स्वार्थं कृत्यं प्रपञ्चे’ इत्य-
मरः । स्वपदं स्वकीयपरतया—व्याचष्टे—स्वयोरिति । तस्याप्यवधारणपरता-
माह—तदेकाश्रययोरिति । डिम्भादिमात्रगतयोरित्यर्थः । कारिकास्ये क्रियारू-
पपदे व्याचष्टे—चेष्टास्वरूपयोरिति । स्वरूपं वर्णयस्थानादि । तत्र डिम्भस्य
क्रियावर्णनं यथा—‘कण्ठविन्देन पदारविन्दं मुण्डारविन्दे विनिवेशयन्तम् । वटस्य
पत्रस्य पुटे शयानं चालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ॥’ आदिपदमात्रस्य तरङ्गोः क्रि-
यावर्णनमाह—लाङ्गुलेनेति । क्षितितलमिति काञ्चाधिन्यादेन पूर्वापरयो-

१. शैलेन्द्रेति । अत्र रोमाञ्चादिनोद्भिन्नो रसभावः शैलमण्डपेनावलम्बितः ॥

स्फूर्जदुंकारघोषः प्रतिदिशमखिल्यन्द्रावयत्नेव जन्तू-

न्कोपाविष्टः प्रविष्टः प्रतिवनगरुणोच्छूनचक्षुस्तारुः ॥'

अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः ।

यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविक्मुदाहृतम् ॥ ९३ ॥

यथा—

‘मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसंभवः ।

येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ॥’

यथा वा—

‘आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।

भाविमूषणसभारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ॥’

न्वेति । आरमणि स्वदेहे अयलीय लीनो भूत्वा । भतिवामनीभूयेति यावत् । प्रति-
मर्तं यावद्भनम् । तदधुर्व्याप्रविशेषः । ईदृशक्रिया अकृत्रिमा दृष्टतरक्षोरेव ॥ वर्ण-
वर्णनं दण्ड्याचार्येणोदाहृतं यथा—‘तुण्डैरताम्रकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलैः । त्रिवर्ण-
राजिभिः कण्ठैरेते मञ्जुगिरः शुभ्रः ॥’ सस्थानवर्णनं यथा—‘पश्चात्पुच्छं वहति वि-
पुलं तच्च धूनोऽस्यजलं दीर्घमीवः स भवति पुरास्त्रस्य चत्वार एव । क्षाण्याप्यति
प्रकिरति द्यौरिषण्डकानाम्रमानानास्तामेतद्भजति स पशुर्वूरमेष्टेहि यामः ॥’ अत्र
विपुलपुच्छचतुष्टयदीर्घमीवा अश्वस्यैव सस्थानानि ॥ भाविकालंकारमाह—अ-
द्भुतस्येति । प्रत्यक्षायमाणत्वं वर्णनाविशेषवशेन प्रत्यक्षवद्भासमानत्वं भावो
वक्त्रमिषायः । स च वर्णनीयगोचर (वति) स्वरूपस्त्वद्योगाद्भाविक् तद्योगश्च व्यञ्जक-
त्वेन ॥ अद्भुतस्य प्रत्यक्षायमाणत्वे भाविकमाह—मुनिरिति । दिव्यौ विष्णोरव-
तारौ तौ प्रसिद्धौ । अत्र चुलुकीकृतसमुद्रे दृश्यमानदिव्यमत्स्यकच्छपकूपमद्भुतं वस्तु
वर्णनाविशेषवशेन मुनिसनिकृष्टभ्रोतृणां प्रत्यक्षवद्भासते ॥ भूतभाविनो. प्रत्यक्षाय-
माणत्वे भाविकमाह—आसीदिति । अत्रानयोः । अत्र पूर्वार्धे भूतस्य परार्धे
‘भविष्यः’ प्रत्यक्षायमाणत्वं मयनशोभाविशेषवशेनाञ्जनं सौन्दर्यवतिरादयसीकृतस्य
पनिन. पत्युरापरातिशयेन भूषणसमारम्भमाय सख्या तथाभिहितं यथा भूतभा-
विनावप्यञ्जनभूषणसभारौ सनिकृष्टभ्रोतृणां प्रत्यक्षवद्भासते । केचित्तु ‘यौवनोद्दे-
दादञ्जनं विनापि चक्षुषि तच्छोभा भूषणाभावेऽपि वपुषि तच्छोभारम्भः’ इति
व्याचक्षते । तत्र । तादृशार्थस्य व्यञ्जकभावेनाप्रतीतेः । भूतभाविनोरञ्जनभूषणयोः
प्रत्यक्षायमाणत्वे तत्कृतवाच्य एव तात्पर्यात् । ननु सनिकृष्टपदार्थस्य वर्णनातः
प्रत्यक्षायमाणत्वं तदा भवति यदि प्रसन्नार्था शब्दाः प्रयुज्यन्ते । एवं सति प्रसा-

1. भाविकमिति । कविगतो भाव भावयः भोतरि प्रतिविम्बत्वेनास्तीति, भावो
भावना वा पुनः पुनश्चेतसि निवेशन सोऽनास्तीति व्युत्पत्तिः ॥

न चायं प्रसादाख्यो गुणः । भूतभाविनोः प्रत्यक्षायमाणत्वे तस्याहे-
तुत्वात् । न चाद्भुतो रसः । विस्मयं प्रत्यस्य हेतुत्वात् । न चातिश-
योक्तिरलंकारः । अध्यवसायाभावात् । न च भ्रान्तिमान् । भूतभावि-
नोभूतभावितयैव प्रकाशनात् । न च स्वभावोक्तिः । तस्य लौकिक-
वस्तुगतसूक्ष्मधर्मस्वभावस्यैव यथावद्वर्णनं स्वरूपम् । अस्य तु वस्तुनः
प्रत्यक्षायमाणत्वरूपो विच्छित्तिविशेषोऽस्तीति । यदि पुनर्वस्तुनः कचि-
त्स्वभावोक्तावप्यस्या विच्छित्तेः संभवस्तदोभयोः संकरः ।

‘अनातपत्रोऽप्ययमत्र लक्ष्यते

सितातपत्रैरिव सर्वतो वृतः ।

अचामरोऽप्येव सदैव धीज्यते

विलासवालव्यजनेन कोऽप्ययम् ॥’

अत्र प्रत्यक्षायमाणस्यैव वर्णनान्नायमलंकारः । वर्णनावशेन प्रत्य-
क्षायमाणत्वस्यास्य स्वरूपत्वात् । यत्पुनरप्रत्यक्षायमाणस्यापि वर्णने
प्रत्यक्षायमाणत्वं तत्रायमलंकारो भवितुं युक्तः । यथोदाहृते ‘आसीद्-
जनन्—’ इत्यादौ ।

दाख्यो गुण एवायमित्यभिप्रायेणाशङ्कते—न चायं प्रसादाख्यो गुण इति ।
भूतभाविनोरित्यद्भुतस्याप्युपलक्षणम् । तस्य प्रसादगुणस्य । अद्भुतस्य प्रत्यक्षायमा-
णत्वपक्षे शङ्कते—न चाद्भुतो रस इति । विस्मयं समत्कारम् । समत्कारयोगे
रसरूपत्वासंभवादिति भावः । नन्वत्र वर्णनीयगतः कोऽप्यतिशयः प्रतीयत इत्य-
तिशयोक्तिरेवायमित्याशङ्कते—न चातिशयोक्तिरिति । अध्यवसायाभावाद्
अनेदारोपाभावात् । ननु भूतभाविपदार्थाभाववति तत्प्रकारकप्रतीतिरप्राप्तीति
भ्रान्तिमानेवायमित्याशङ्कते—न च भ्रान्तिमानिति । भूतभाविनोर्वर्तमानत्वेन
भावेऽपि भ्रमः सम्भवतीति तद्वारणाय भूतभावितयैवेत्युक्तम् । प्रकाशनात्तद्वति
विपरीकरणात् । तस्य स्वाम्नोक्त्यलंकारस्य । सूक्ष्मेति । कवितृमात्रवेद्य इत्यर्थः ।
यथावद्वर्णनं संभाषणादिक्रमेण वर्णनम् । अस्य भाविमलंकारस्य तु । विच्छित्ति-
विशेषोऽस्तीति शब्दो हेतुः ॥ अनातपत्रोऽपीति । अत्र सदनुमानवशेन यत्तुः
प्रत्यक्षायमाणयोः सितातपत्रचामरोर्वर्णनम्, न तु वर्णनाविशेषवशेन धोतृणां
तयोः प्रत्यक्षायमाणत्वमिति नास्ति भाविभावसर इति भावः । अस्य भाविमलं-
कारस्य । नन्वेवमासीदजनमित्यादावपि सदनुमानवशेन प्रत्यक्षायमाणत्ववर्णनमिति
नास्य विषय इत्यत्र आह—यत्पुनरिति । यद् यदा धर्मिसंनिर्गुरुरित्येव हेतुभा-
वदशायामित्यर्थः । वर्णने इति । वर्णने चापेक्षित्यविशेषेऽस्तीत्यर्थः । तत्राय-
मिति । तत्राप्ययमित्यर्थः । न चातपत्रोऽपीत्यादावप्युक्त्या भाविप्रसङ्गिरिति

लोकातिशयसंपत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ।

यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् ॥ ९४ ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

‘अधःकृताम्भोधरमण्डलानां यस्यां शशाङ्कोपलकुट्टिमानाम् ।

ज्योत्स्नानिपातात्सरतां पयोभिः केलीवनं वृद्धिमुरीकरोति ॥’

‘नाभिप्रभिन्नाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।

‘अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिरोते ॥’

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रथमस्तथा ।

गुणीभूतत्वमायान्ति यदालंकृतयस्तदा ॥ ९५ ॥

‘रसवत्प्रेष ऊर्जसि समाहितमिति क्रमात् ।

वाच्यम् । श्रोतॄणां धर्मिसनिकर्षाभावेन प्रत्यक्षायमाणत्वाभावात्तस्यापि प्रकृतोपयो-
गित्वेन विपक्षणीयत्वात् ॥ उदात्तालंकारमाह—‘लोकेति’ । लोकानतिशयेऽतिक्रा-
मति या संपत्तिर्धनसंगृह्णितस्यां वर्णना व्यञ्जनया ज्ञापनम् । अन्यविधमुदात्तलं-
कारमाह—‘यद्वेति’ । महतां प्रस्तुतसंबन्धिमहताम् । चरितं महत्त्वप्रतिपादकता-
धर्म्यम् । प्रस्तुतमहत्त्वव्यञ्जकप्रस्तुतमहत्त्वसंबन्धिवचरितमुदात्तमित्यर्थः । अधःकृ-
तेति । यस्यां नगर्यां उरीकरोति स्त्रीकरोतीति । प्राप्नोतीति यावत् । अत्र पौराणां
सम्बुद्धतिशयो व्यङ्ग्यः ॥ नाभीति । नामेः अभिन्नमुत्पन्नमम्बुरुहमासने यस्य तेन ।
अमुं समुदम् । अथ प्रस्तुतसमुदस्य महत्त्वव्यञ्जकं सर्वलोकसंहारकस्य हरेश्चरितम् ॥
रसवदाद्यलंकारचतुष्टयमाह—‘रसभावाविति । गुणीभूतत्वं रसान्तरादीनामुत्कर्षा-
धायकत्वेनाश्रयम् । रसस्येतराद्वत्वे रसवत् । भावस्येतराद्वत्वे प्रेयः । आभासयो-
रतराद्वत्वे ऊर्जसि । भावप्रथमस्येतराद्वत्वे समाहितमित्यर्थः । ‘न भावहीनोऽस्ति रसः—’
इत्युक्तदिशा रसव्यभिचारिभावयोरव्यभिचारेणालंकारभावासंभवात्तयोरज्ञा-

१. उदात्तमिति । अतोऽप्ये कुबलस्थान-देऽत्युक्तिर्निरुक्तिः ‘प्रतिपेधो विधिरिति
ज्ञत्वारोऽलंकारः यथा—‘अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्ध्वादावर्णनम् । त्वयि दातारि
राजेन्द्र । याचकाः कल्पशोखिनः ॥’ ‘निरुक्तिर्योगतो नास्त्रामत्यादेवप्रकल्पनम् । ईदृशै-
श्चरितैर्जने रसलोपाकरो भवान् ॥’ ‘प्रतिपेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम् । न चूष-
मेतत्कितव । श्रीजने निश्चितैः चरैः ॥’ ‘सिद्धस्यैव विधानं यददाहुर्विध्यलंकारम् ।
पद्मगोदञ्चने फाळे कोकिलः कोकिले भवेत् ॥’ इति । अत्र अत्युक्तिरुदात्तालंकारे प्रवि-
शति, तत्र ‘असंख्ये सवन्धातिशयोक्तिरनुप्राणिका ॥ निरुक्तिः श्लेषविशेष एव ॥ सिद्ध-
स्यैव विधानं विधिरलंकारः । यथात्र द्वितीयकोकिलपदं ध्वनिमाधुर्यं लक्ष्यद् द्वदशवर्जन-
‘यनक्ति । तदेवद् ध्वनिना गतायेम् । कचिद् गुणीभूतव्यङ्ग्येव वा । एव सिद्धस्य निषेधा-
नुकीर्तनमपि पर्वालोचनीयम् ॥

तदाभासौ रसाभासो भावाभासश्च । तत्र रसयोगाद्रसवदलंकारो
यथा—‘अयं स रसनोत्कर्षी—’ इत्यादि [२३९ पृ.] । अत्र शृङ्गारः
करुणस्याङ्गम् । एवमन्यत्रापि । प्रकृष्टप्रियत्वात्मेयः । यथा मम—

‘आमीलितारुसविवर्तिततारकाक्षीं

मत्कण्ठबन्धनदरश्लथबाहुवल्लीम् ।

प्रखेदवारिकणिकाचितगण्डविम्बां

संस्मृत्य तामनिशमेति न शान्तिमन्तः ॥’

अत्र संभोगशृङ्गारः स्मरणाख्यभावस्याङ्गम् । स च विप्रलम्भस्य ।
ऊर्जो बलम्, अनौचित्यप्रवृत्तौ तदत्रास्तीत्यूर्जस्त्रि । यथा—

‘वनेऽखिलकलासक्ताः परिहृत्य निजस्त्रियः ।

त्वद्वैरिवनितावृन्दे पुलिन्दाः कुर्वते रतिम् ॥’

अत्र शृङ्गाराभासो. राजविषयरतिभावस्याङ्गम् । एवं भावाभासो-
ऽपि । समाहितं परिहारः । यथा—

‘अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।

ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः कापि तवेक्षणे क्षणात् ॥’

अत्र मदाख्यभावस्य प्रथमो राजविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

भावस्य चोदये संधौ मिश्रत्वे च तदाख्यकाः ॥ ९६ ॥

त्रिभावेनैतदलंकारप्रसङ्ग इति ध्येयम् ॥ एवमन्यत्रापि । वीरदेः शृङ्गाराद्य-
त्वेऽप्युदाहरणान्युपहानीत्यर्थः । करुणस्य भावाद्यङ्गत्वे उदाहरणं गुणीभूतव्यङ्ग्य-
प्रकरणे ‘मानोपतां प्रणयिनी—’ इत्यादि स्वयमेवोक्तम् ॥ आमीलितेति । भल-
त्वेन रसावेशजनितालस्येन विवर्तितं स्थिरीकृतं तारकं यस्य तादृशमधि यस्मात्स्यात् ।
मत्कण्ठबन्धने दरश्लथा इपच्छिद्यित्वा बाहुवद्विष्यस्यालाम् । पुलिन्दाः किर-
तविशेषाः । अत्र परोदाविषयत्वाच्चृङ्गाराभावः ॥ एवं भावाभासोऽपीति ।
भावाभासस्याङ्गत्वेऽपीत्यर्थः । एतदुदाहरणं यथा—‘बन्दीकूल वृष ! क्षिप्तं मृगदश-
व्याः पश्यतां प्रेयसां श्लिष्यन्ति प्रणनन्ति खन्ति परितपुम्वन्ति ते धीनिघ्नः ।
अस्माकं गुरुवेदोर्निपतितस्वोचितवारांनिधे । पिबन्त्या म्रियदोऽशिलास्रदिनि तेः
प्रतरधिभिः स्तूपसे ॥’ अत्र राजविषयरतिभावस्योत्तरार्धयोत्तो भावः दातृविषयवा-
दाभासरूपोऽङ्गम् ॥ अविरलेति । तवेक्षणे त्वद्वैर्यदर्शने गतीत्यर्थः ॥ भावोदयदि-
नानद्यलंकारप्रथमाह—भावस्य चेति । अस्मरदृ गुणीभूतव्यङ्ग्यादीजगु-
-

तदारूपका भावोदयभावसंधिभावशबलनामानोऽलंकाराः । क्रमे-
णोदाहरणम्—

‘मधुपानप्रवृत्तास्ते सुहृद्भिः सह वैरिणः ।

श्रुत्वा कुतोऽपि त्वन्नाम लेभिरे विपमां दशाम् ॥’

— अत्र त्रासोदयो राजविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

‘जन्मान्तरीणरमणस्याङ्गसङ्गसमुत्सुका ।

सलज्जा चान्तिके सख्याः पातु नः पार्वती सदा ॥’

अत्रौत्सुक्यलज्जयोश्च संधिर्देवताविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

१. भावोदयेति । भावस्योदय उद्गमभावस्या, संधिर्दयोर्विरुद्धयोः स्पष्टित्वेनोपनिबन्धः,
शबलता बहूनां पूर्वोपमर्देन निबन्ध इति ॥ शतोऽधस्तात्कुचलवानन्दे प्रत्यक्षमनुमानमु-
पमान शब्दोऽर्थापत्तिरनुपलब्धिः संभव येतिहमित्यष्टौ प्रमाणालंकाराः ॥ तत्र प्रत्यक्षम्—
‘क्रान्तक्रान्तवदनप्रतिनिम्बे भगवात्सहकारसुगन्धौ । स्वादुनि प्रणदितालेति शीते निर्व-
चार मधुनीन्द्रियवर्गः ॥’ अपेन्द्रियाणां वृष्ट्या तज्जगत् प्रत्यक्षमलंकारः । अनुमानम्—
‘विलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पङ्कजेः । उन्मीलद्भिश्च कुमुदैर्गण्डोऽस्तं क्षायते रविः ॥’
रविरस्तगमनवान् तादृशकालसंश्लिष्टत्वात्, इत्यनुमानप्रयोगः । उपमानम्—‘तां
रोहिणीं विजानीहि ज्योतिषामत्र मण्डले । बलम्बि ! तारकान्यासः शकटाकारमाश्रितः ॥’
ता रोहिणीं विजानीहीत्यतिदेशवाक्याधेशानमुपमानम् । शब्दः—‘विषुवता दोषमपि श्रुता-
त्मना त्वयैकमीश प्रति साधु भाषितम् । यमामनन्त्यात्मभुकोऽपि कारण कथं स लक्ष्य-
मभवो भविष्यति ॥’ अत्र श्रियो मरणोऽपि हेतुरित्यत्र क्षतिरूपं शब्दप्रमाणमुपमन्त्रम् ।
श्रुतपक्षः । ‘अचिन्त्यमन्यकमनन्तरूपं शिव प्रशान्तममृतं महाबोधिम् । समादिमध्यान्त-
विहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम् ॥’ इत्येवमादयः । भगवन्तं मनुमुपहसन्ती
‘बलात्कुस्त पापानि सन्तु तान्प्रकृणानि वः । सर्वान् बलकृतानर्थानकृतात्मनुरमरीद ॥’
इति नास्तिकोक्तिरपीह द्रष्टव्या । अर्थापत्तिः—‘निर्णेतुं शक्यमस्तीति मध्यं तव नित-
म्बिनि । अन्यथा नोपपद्येत पयोधरमरस्त्रिभिः ॥’ अनुपलब्धिः—‘रुक्मसद्वल्लभं
सन्नि ! निश्चिन्वते तदनुपलभमानास्तर्कयन्तोऽपि लोकाः । कुचगिरिवरसुगमं यद्विना-
भारमास्ते तदिह मकारकेतोर्निन्दनार्थं प्रतीमः ॥’ संभवः—‘ये नाम केचिदिह नः प्रथ-
यन्त्यवशां जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः । उत्पत्सतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्यथ निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥’ ऐतिह्यम्—‘कल्याणी बत गावेर्यं लौकिकी
प्रतिमाति मे । पति जीवन्तमानन्दो नर वर्षशतादपि ॥’ अत्र प्रमाणेषु प्रथममेकं चार्वाकाः,
द्वयं चैरेषिकाः, त्रयं (शब्देन) सांख्याः पातञ्जलश्च, चतुर्थं नैयायिकाः, पञ्चक
प्राभाकराः, षष्ठं भाट्टा वैदान्तिकाश्च, सर्वमैतिह्यान्तं पौराणिकाश्च मन्यन्ते । पदेषां
सरूपाण्याकरती वेयानीति ॥

‘पश्येत्कश्चिच्चल चपल । रे ! का त्वराहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर हहहा व्युत्क्रमः कासि यासि ।

इत्थं पृथ्वीपरिवृढ ! भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कंचित्फलकिसलयान्याददानाभिधत्ते ॥’

अत्र शङ्कासूयाधृतिस्मृतिश्रमदैव्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता राजवि-
पयरतिभावस्याङ्गम् । इह केचिदाहुः—‘वाच्यवाचकरूपालंकरणमुखेन
रसाद्युपकारका एवालंकाराः । रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्या
एवेति न तेषामलंकारता भवितुं युक्ता’ इति । अन्ये तु—‘रसाद्यु-
पकारमात्रेणेहालंकृतिव्यपदेशो भाक्तश्चिरंतनप्रसिद्धाङ्गीकार्य एव’
इति । अपरे च—‘रसाद्युपकारमात्रेणालंकारत्वं मुख्यतो रूपकादौ
तु वाच्याद्युपधानम्, अजागलस्तनन्यायेन’ इति । अभियुक्तास्तु—
‘स्वव्यञ्जकवाच्यवाचकाद्युपकृतैरङ्गभूतै रसादिभिर्गङ्गिनो रसादेर्वाच्यवा-
चकोपस्कारद्वारेणोपकुर्वेद्विरलंकृतिव्यपदेशो लभ्यते । समासोक्तौ तु
नायिकादिव्यवहारमात्रस्यैवालंकृतिता, नत्वास्वादस्य, तस्योक्तरीतिविर-
हात्’ इति मन्यन्ते । अत एव ध्वनिकारेणोक्तम्—

‘प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।

काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥’

तैवे । अप्रायातीति सप्तम्यन्तमवगन्तव्यम् योग्यत्वात् ॥ पश्येदिति । चल
इतोपसर । भ्रमभरेण किंचिद्विप्राविता क्षयिति चेतनां प्राप्याह—व्युत्क्रम इति ।
वैपरीत्यमित्यर्थः ॥ इदानीं रसवदादीनामलंकारत्वमस्तीकुर्वतो केषाचिन्मतमाह—
इह केचिदिति । वाच्यवाचकरूपालंकरणमुखेन शब्दार्थस्वरूपशोभाजननद्वारेण
इह रसवदाद्यलंकृतिव्यपदेशोऽलंकारपदप्रयोगो भाषो गीण । चिरंतनप्रसि-
द्धा प्राचीनमतेन । वाच्याद्युपधानं वाच्यवाचकलंकरणम् । अजागलस्तन-
न्यायेनेति । अजागलस्तनो यथा दुग्धानुपयोगी तथा प्रवृत्तानुपयोगीत्यर्थः ।
स्वव्यञ्जकेति । समग्रभूतं रसादि तदन्यत्राभ्यामेव वाच्यवाचकभ्यामुपकृतैर्न
तु प्रधानीभूतरसादिव्यञ्जकभ्याम् । प्रत्युत स्वव्यञ्जकशब्दार्थपटितत्वेन तयोप-
कारस्य एतादृशरादयो न तद्वर्ग्याः । एतेन रसादयस्तु वाच्यवाचकभ्यामुपकार्या
एवेति वर्यणमुक्तं तन्निरसम् । नन्वत्र गुणप्रधानभावेनालंकारत्वं स्यात्तद्वर्ग्य उपपद्यते
तन्मासोक्तौ तु व्यवहारममात्रेणन्यास्यादस्यालंकारत्वस्यास्यरेऽलंकार्योनात्तत्वं स
उपपद्यत इत्यत आह—समासोक्तौ न्विति । व्यवहारमात्रस्य प्रवृत्ते पलुन्य-
प्रवृत्तताधर्मात्प्रधानत्व, न तु तत्रन्यासादस्य । उक्तरीतिविरहात् काव्यात्त-
त्वालंकारद्वारेण रसाद्युपकारकत्वस्याभावात् ॥ प्रधान इति । अन्यत्र रसादी

यदि च रसाद्युपकारमात्रेणालंकृतित्वं तदा वाचकादिष्वपि तथा प्रसज्येत । एवं च यच्च कैश्चिदुक्तम्—‘रसादीनामङ्गित्वे रसवदावलंकारः । अङ्गित्वे तु द्वितीयोदाचालंकारः’ इति, तदपि परास्तम् ।

यद्येत एवालंकाराः परस्परविमिश्रिताः ।

तदा पृथगलंकारौ संसृष्टिः संकरस्तथा ॥ ६७ ॥

यथा लौकिकालंकाराणामपि परस्परमिश्रणे पृथक्चारुत्वेन पृथगलंकारत्वं तथोक्तरूपाणां काव्यालंकाराणामपि परस्परमिश्रत्वे संसृष्टि-संकरारूपौ पृथगलंकारौ । तत्र—

मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः ‘संसृष्टिरुच्यते ।

एतेषां शब्दार्थालंकाराणाम् । यथा—

‘देवः पायादपायाच्चः स्मेरेन्दीवरलोचनः ।

संसारध्वान्तविध्वंसहंसः कंसनिपूदनः ॥’

अत्र पायादपायादिति यमकम्, संसारेत्यादौ चानुप्रास इति शब्दालंकारयोः संसृष्टिः । द्वितीये पादे उपमा, द्वितीयार्धे च रूपकमित्यर्थालंकारयोः संसृष्टिः । एवमुभयोः स्थितत्वाच्छब्दार्थालंकारसंसृष्टिः ।

वाक्यार्थे वा ॥ रसाद्युपकारकत्वंमात्रेणालंकारत्वं मुख्यत इति प्रागुक्तमपरेषां मत्वं वक्ष्यति—यदीति । एवं चेति । उक्तरीतिविरहादित्यर्थः ॥ प्रत्येकमलंकारानुक्त्वा तेषां मेलके संसृष्टिसंकरालंकारवाह—यद्येत इति । एते उक्ता यमकोपमादयः परस्परविमिश्रिता एकस्मिन्पद्ये गद्ये वा स्थिताः ॥ तयोः सामान्यलक्षणमुक्त्वा विशेषलक्षणमाह—मिथ इति । परस्परव्यपेक्षाविरहेणेत्यर्थः । स्थितिरेकस्मिन्पद्ये गद्ये वा शब्दालंकाराणामर्थालंकाराणामुभयेषां च परस्परानपेक्षया स्थित्या त्रिविधा संसृष्टिः । आद्या यथा—‘बाहूचान्द्रमव भीरु ! बिम्बं पश्येदमन्बरे । मन्मतो मन्मथाक्रान्तं निर्दमं हन्तुमुद्यतम् ॥’ अत्र प्रथमार्धे उपमा, द्वितीयार्धेऽनुप्रासः, तृतीयपादे यमकम् । द्वितीया यथा—‘द्विपद्भ्यश्चापसं देवः फुलेन्दीवरलोचनः । भवान्धकारसंशोभरजिः केचिनिपूदनः ॥’ अत्र प्रथमार्धे उपमा, द्वितीयार्धे रूपकम् । उभयसंसृष्टिर्द्विविधा—शुद्धा, संसृष्टिमित्रा च । आद्या यथा—‘त्वयि वीर ! परं विराजते दमयन्तीकिलकिञ्चितं फिल । तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारवलिगमणीयकम् ॥’ अत्र यमकानुप्रासाभ्यां शब्दालंकाराभ्यां सह प्रतिवस्तूपमाया अर्था-लंकारस्य संसृष्टिः ॥ एकस्मिन्पद्ये चतुर्विधां संसृष्टिमुदाहरति—देव इति । हंसः सूर्यः ॥ एवमिति । शब्दालंकारयोरर्थालंकारयोश्च स्वजातीयत्वेनान्तरङ्गतया

१. संसृष्टिरिति । तिलतण्डुलव्यायेन स्पृष्टावगम्यभेदालंकारमिश्रणे संसृष्टिरिति । तेषां शब्दालंकारवत्त्वेनार्थालंकारवत्त्वेनोभयालंकारवत्त्वेन च त्रिधा भिद्यते ॥

अङ्गाद्वित्वेऽलंकृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।

संदिग्धत्वे च भवति 'संकरस्त्रिविधः पुनः ॥ ९८ ॥

संस्पृष्टभूय वैचित्र्यविशेषं जनयित्वा संस्पृष्टत्वेनाप्यतिरिक्त्वैचित्र्यजनकत्वमिति भावः ॥ अङ्गाद्वित्वे इति । गुणप्रधानभावे इत्यर्थः । एकाश्रयस्थितौ एकस्मि-

१. संकर इति । नीरक्षीरन्यायेनास्फुटमेदालंकारमिश्रणे संकरः । स षोऽङ्गाद्वि-
भावेन संदेहेनेकाश्रयानुप्रवेशेन च द्विविधः ॥

अथैकहेलायात्र स्फूर्त्यर्थमुपमादयोऽलंकाराः संख्यायन्ते, नवीनोद्भाविता अपि ते यथा-
यथं निवेदयन्ते—

(१) उपमा । पूर्णोपमा-श्रौती=तद्वित्तगा, समासगा, वाच्यगा ३ । पूर्णोपमा-
आधी=तद्वित्तगा, समासगा, वाच्यगा ३ । एवं षोढा । उदा०—'सौरभ—' 'मधुरः—' ॥
लुप्तोपमा-श्रौती=समासगा, वाच्यगा २ । लुप्तोपमा-आधी=तद्वित्तगा, समासगा,
वाच्यगा ३ । एवं पञ्चधा । उदा०—'मुखमिन्दु—' । सेयं लुप्तोपमा=आधारकर्तृणोः क्वचि
२, क्वचि १, कर्मकर्त्रोर्गोमुत्ति २, । एवं पुनः पञ्चधा । ५ उदा० 'अन्तःपुरीयसि—' ।
तदेवं धर्मलोपे ५+५=१० दशधा । 'उपमानानुपादाने'—इति कारिकाक्रमेणैव उपमान-
लोपे २ वाचकलोपे २ धर्मोपमानलोपे २ धर्मवाचकलोपे २ उपमेयलोपे १ धर्मो-
पमेयलोपे १ धर्मवाचकोपमानलोपे १ । संकलने २१ एकविंशतिधा लुप्तोपमा प-
द्विभिः पूर्णोपमाभिः २१+१=२२ सप्तविंशतिधा ॥

प्रकाशे तु लुप्तैव विभज्यते—श्रौत्याधीति धर्मलुप्ताः पञ्च, उपमानलुप्ते द्वे, वा (वाच-
का) दितुप्ताः षट्, (पञ्चमेकलुप्ताःषोडश), दितुप्ताः पञ्च, विलुप्ता एकैकेकोनविंश-
तिलुप्ता यथायथं पूर्वव्यामृता एव ॥

कुचलयानन्दे पुनरुपदीक्षितैः 'वर्ण्योपमानधर्माणानुपमावाचकस्य च । एकद्वित्र्यनु-
पादानेभिर्भा लुप्तोपमाष्टधा ॥' इति कारिकाया वा वाचकोपमानलुप्ता निरवाचि सा तु जा-
ग्राम्भर्मवति । तदुदाहरणं 'काकतालीयम्' इत्यत्र समासार्थोपमा । (छाया. ५१५ पृ.)

(२) अनन्ययः । उदा०—'राजीवमिव—' । अयं पूर्णो लुप्तश्च, पूर्णः षोढा
(छा. ५१९ पृ.) ॥

(३) उपमेयोपमा । उदा०—'कमलेव मतिः—' ॥

(४) स्मरणम् । उदा०—'अरविन्दमिदं—' ॥

(५) रूपकम् । साह-रूपकम्=समस्तवस्तुविषयम्, एकदेशनिवर्ति २ । उदा०—
'रायगा—' । 'लावण्य—' । निरुह-रूपकम्=केवलं (शुद्धम्), मातारूपम् २ । उदा०—
'दासे—' । 'निर्माण—' । परम्परितरूपकम्=छिन्ने केवलम्, छिन्ने मातारूपम् २ । उदा०—
'आदये—' । 'पद्मोदयो—' । अछिन्ने केवलम्, अछिन्ने मातारूपम् २ । उदा०—'पान्थु—' ।
'मनोहररात्रि—' । एवं प्रकृत्यावाक्यव्यष्ट ८ भेदाः ॥

कुचलयानन्दे तु अनुपपन्नानाधिकरूपाभिसिद्धनिर्वाहनिर्वाहिनोऽभेरतादृशान्वा-
विषयस्य रश्मिनानुभवविशेषादिपटितानि षट् रूपकानि ह । पूर्वेः सह चतुर्दश ८+६=

१४ (छा. ५२७ पृ.)-यदि सरस्वतीकण्ठाभरणीय रूपकरूपकं संकल्पते तर्हि पञ्च-
दश १५ रूपवाणि स्युः । यतदुदाहरणं तु—‘मुखपङ्कज-रङ्गेऽस्मिन् भ्रूज्वा-नर्तकी
तव । लीलानाट्या-मृतं वृष्टी सखि ! नृतां निषिञ्चति ॥’ इति दिक् ॥

(६) परिणामः । उदा०—‘मितेनो—’ । प्रकाशादिभवे त्वस्य रूपव्यञ्जकत्वेन-
मावः ॥

(७) संदेहः । अयं शुद्धो निश्चयगर्भो निश्चयान्त इति त्रिधा । उदा०—‘किं ताव-
प्य—’ । ‘अयं मार्तण्डः—’ । ‘किं तावत्—’ ॥

(८) भ्रान्तिमात्र । उदा०—‘मुग्धा—’ ॥

(९) उत्प्रेषः । उदा०—‘प्रिय इति—’ । अयमनेकधाप्यतिशयोक्तावन्तर्भवतीति
प्रकाशानुयायिनः । ‘कस्याप्यतिशयस्योक्तिरित्यन्वयविचारणात् । प्राप्तेणामी भर्तृकारा
भिज्ञा नातिशयोक्तिरः ॥’

(१०) अपङ्कतिः । इयमपङ्कवर्णके आरोपे, आरोपपूर्वकेऽपङ्कवे चेति त्रिधा ।
उदा०—‘नेदं नमोमण्डल—’ । ‘एतदिभाति—’ । एवं च छेपाद्येष्टाभ्यामपि संभवति ।
उदा०—‘काले वारिधराणा—’ । ‘इह पुरो—’ । कुवलयानन्दे त्वयं षोढा (छा. ५३६)

(११) निश्चयः । उदा०—‘वदनमिदं—’ ॥ अयं प्रकाशादावनुक्तः ॥

(१२) उत्प्रेक्षा । एवं गम्या प्रतीयमाना (गम्या) इति त्रिधा । तत्र वाच्यो-
त्प्रेक्षायाः—‘उरः—’ इति, जात्युत्प्रेक्षा ‘ज्ञाने—’ इति, गुणोत्प्रेक्षा ‘यज्ञाग्निमसि—’ इति,
क्रियोत्प्रेक्षा ‘मुखमेणीदृशः—’ इति, द्रव्योत्प्रेक्षेति चत्वारो भेदा भावाभिमाने, ‘कपोल—’
इत्येवमादयस्तावन्तोऽभावाभिमाने, मिलित्वा अष्टौ ८, एते निमित्तस्य गुण-क्रियारूप-
त्वेन षोडश $२ \times ८ = १६$, तत्रापि जातिगुणक्रियाणां द्वादशभेदाः स्वरूपफल-हेतु-
गम्यत्वेन पद्मत्रिंशत् $३ + १२ = ३६$, द्रव्यस्य तु केवल स्वरूपोत्प्रेक्षणसंभवात्तत्वार इति
मिलित्वा चत्वारिंशत् $४ + ३६ = ४०$, तत्रापि स्वरूपोत्प्रेक्षायाः षोडश भेदा उत्प्रेक्षा-
निमित्तस्योपादानानुपादानाभ्यां द्वात्रिंशत् ३२, द्वादशभिः फलोत्प्रेक्षाभिरावकीरितैव
हेतुत्प्रेक्षाभिः सह पद्मत्रिंशत् $३२ + १२ + १२ = ५६$ ॥

प्रतीयमानोत्प्रेक्षायास्तु षोडश भेदाः फल-हेतुगम्यत्वेन द्वात्रिंशत् $१६ \times २ = ३२$ ॥

छापङ्कवोत्प्रेक्षा । उदा०—‘अधुच्छनेन—’ । छेपहेतुगा । उदा०—‘मुक्तोत्तरः—’ ।

वपनोपक्रमोत्प्रेक्षा । उदा०—‘पारे जलं—’ ॥

अथ—

‘यदायनुपमानाद्यो लोकतः सिद्धिमृच्छति ।

तदोपमेव येनेव-उभयः सादृश्यवाचकः ॥

यदा पुनरयं लोकादसिद्धः कविचलितः ।

ततोपमेव येनेव-उभयः संभावनादरः ॥’

इति पञ्चपर्विभेदावप्यनुसंधेयी ।

(१३) भविष्योक्तिः । एवं पञ्चधा । तत्र । भेदेऽभेदः—‘कथमुपरि—’ । अभेद-
भेदः—‘अन्यदेव—’ । संभवेऽसंभवे—‘अस्ताः सूर्याधी—’ । भर्तृक-
भेदः—‘अन्यदेव—’ ।

संबन्धः—‘यदि स्थान्मण्डले—’ । कार्यकारणपूर्वापरव्यत्यये—‘प्रागेव—’ । कुबलयानन्दे
त्वष्टा (छा. ५४८ पृ.)

(१४) तुल्ययोगिता । अत्र, प्रस्तुतानां बोधनरूपैकक्रियासंबन्धे उदा०—‘अनुले-
पनानि—’ । अप्रस्तुतानां कठोरत्वरूपैकगुणसंबन्धे उदा०—‘तदङ्ग—’ । उभयसंबन्धे
उदा०—‘दानं विद्या—’ ॥

(१५) दीपकम् । अत्र, एकानुगमनक्रियासंबन्धे—‘बलाबलेपात्—’ । अनेक-
क्रियासंबन्धे—‘दूर समागतवति—’ ॥

आवृत्तिदीपकम् । कारकदीपकम् । (छा. ५५३ पृ.)

(१६) प्रतियस्तूपमा । उदा०—‘धन्यासि वैदग्धि—’ । इयं मातृयापि—‘विमल
एव—’ । वैधर्म्येणापि—‘चकोर्य एव—’ ॥

(१७) दृष्टान्तः । अत्र, साधर्म्ये—‘अविदितगुणापि—’ । वैधर्म्ये—‘स्वयि दृष्टे’ ॥

(१८) निदर्शना । अत्र, संभवद्वस्तुसंबन्धे—‘कोऽत्र—’ । असंभवद्वस्तुसंबन्धे एक-
वाक्यगता—‘कलपति—’ । अनेकवाक्यगता—‘इदं किला—’ । मातृरूपापि—‘क्षिपति—’ ।
अभेयं वाक्यार्थवृत्तिः, पदार्थवृत्तिः, असदार्था, सदार्थापि व्यवहियते (छा. ५५६ पृ.) ।

(१९) व्यतिरेकः । उपमेयस्योत्कर्षहेतोरुपमानस्य निकर्षहेतोश्चोक्तावेकः, उत्कर्ष-
हेतुमात्रस्य निकर्षहेतुमात्रस्य उभयोश्चानुक्तौ भव इति, पूर्वेण सह चत्वारः, एते
प्रत्येकं शब्दे भाष्ये आक्षिप्ते च साम्ये दादद्य, एतेषां लेपालेषाम्भाष्यं द्विविध्याद्यनुविद्यति-
भेदाः । एते उपमेयस्योपमानादाधिक्ये, न्यूनतायामप्येवमेव चतुर्विधविभेदाः, संभूय अष्ट-
धावतिष्ठन् । आधिक्ये—‘अकलङ्क—’ । न्यूनत्वे—‘क्षीणः क्षीणोऽ—’ ॥

(२०) सहोक्तिः । उदा०—‘सह कुमुद—’ । ‘सममेव—’ ॥

(२१) विनोक्तिः । उदा०—‘विना जलद—’ । ‘अनुयाग्ला—’ ॥

(२२) समासोक्तिः । अत्र कार्यसाम्ये—‘वशाभूय—’ । लिङ्गसाम्ये—‘असमाप्त—’ ।
छद्मया विशेषणसाम्ये—‘विकसितमुखी—’ । साधारण्येन—‘निर्गर्भ—’ । भीषम्यगर्भ-
वेन तु त्रिविधा—‘दन्तप्रभा—’ इत्युपमानार्थाः । ‘काव्यमधुभिः—’ इयं रूपकगर्भा ।
दन्तप्रभा—’ इत्येव पाठभेदेन संकरणगर्भा ॥

(२३) परिकरः । उदा०—‘अन्नराव—’ ॥

परिकराद्वारः (छा. ५६९ पृ.) ॥

(२४) रूपः । उदा०—‘प्रवर्तयन्—’ ॥

(११५) अप्रस्तुतप्रज्ञासा । इयं पञ्चमः । तत्र विधेये प्रस्तुते सामान्यम्—‘पादाहतं—’ ।
जामान्ये विशेषः—‘सखिवं—’ । कार्ये कारणम्—‘इन्दुटिष्ठ—’ । कारणे कार्यम्—‘गच्छा-
नीति—’ । तुल्ये प्रस्तुते विशेषवक्ष्ये—‘सहकारः—’ । विधेयवक्ष्ये—‘पुंसवारति—’ ।
तुल्यविधाने सादृश्यमूला—‘एकः कपोत—’ । वैधर्म्येण—‘धन्याः—’ । बाध्यस्य संभ-
वासंभरोभवत्सत्येन विविधेयम् । तत्र संभवे जलान्मुद्राहरनानि । अद्यन्ते—‘चोदितो-
द—’ । उभयकाले—‘अन्तरिष्ठानि—’ ॥

प्रस्तुताद्वारः (छा. ५७३ पृ.) ॥

साहि० ५३

(२६) व्याजस्तुतिः । निन्दया सुतेर्मन्यत्वे—‘स्तनयुग—’ । सुत्या निन्दाया गम्यत्वे—
‘व्याजस्तुतिः—’ ॥

व्याजनिन्दा (छा. ५७७ पृ.) ॥

(२७) पर्यायोक्तम् । उदा०—‘स्पृष्टास्ता—’ ।

(२८) अर्थान्तरन्यासः । यपोऽष्टधा । साधर्म्ये विशेषेण सामान्यसमर्थने—‘बृहत्स-
हायः—’ । सामान्येन विशेषस्य समर्थने—‘यावदर्थ्य—’ । कारणेन कार्यस्य समर्थने—‘शुद्धि-
स्मिरा—’ । कार्येण कारणस्य समर्थने—‘सहसा विदधीत’ । वैधर्म्ये तु सामान्येन विशेषस्य
समर्थने—‘इत्य—’ ।

विकस्वरः ।

प्रौढोक्तिः ।

संभावना ।

मिथ्याभ्यवसितिः ।

कलितम् ।

प्रहर्षणम् ।

विपादनम् ।

उद्धासः ।

अवशा ।

अनुशा ।

लेशः ।

मुद्रा ।

रत्नावली ।

पत्रेषां विकस्वरदिरस्यवत्यन्तानां प्रयोदशा-
नामलंकाराणां लघुगोदाहरणादि छायायां
द्रष्टव्यम् (५७९ पृ.) ॥

(२९) काव्यलिङ्गम् । तत्र, वाक्यार्थता—‘यत्तन्नेन—’ । पदार्थता—‘त्वद्वाजि—’ ॥

(३०) अनुमानम् । उदा०—‘जानीमहेऽस्याः—’ ॥

(३१) हेतुः । उदा०—‘तारुण्यस्य—’ ॥

(३२) अनुकूलम् । उदा०—‘कुपितसि—’ ॥

(३३) आक्षेपः । एष चतुर्विधः । तत्र वक्ष्यमाणविषये सामान्यतः सूचितस्य
निषेधः—‘सरसर—’ । अशोकावस्थान्तरस्य निषेधः—‘तव विरहे—’ । उक्तविषये वस्तु-
स्वरूपस्य निषेधः—‘वाल्म—’ । यस्तु कथनस्य निषेधः—‘विरहे तव—’ । यत्नं निषेधा-
भावविध्याभासोऽपि—‘गच्छ गच्छसि—’ ॥

(३४) विभावना । इयं द्विविधा । तत्र उक्तनिमित्ता—‘अनायास—’ रतिः ।
‘वपुर्माति गुणीदृश—’ इत्येवं चतुर्थचरणे अनुक्तनिमित्ता । अत्र विशेषः कुवलयानन्दे
(छा. ५८९ पृ.) ॥

(३५) विरोधोक्तिः । विभावनेव द्विविधा । उदा०—‘यत्निनोऽपि—’ ॥

(छा. ५८९ पृ.) असंभवः ॥

(३६) विरोधः । अत्र दशधा । तत्र नादेर्जालादिचतुर्विधविरोधः—‘तव विरहे—’ ।
गुणस्य गुणेन—‘संवद—’ । गुणस्य क्रियया—‘अवस—’ । गुणस्य द्रव्येन—‘वदमो—’ ।

क्रियायाः क्रियाया-‘नयनयुगा-’ । क्रियाया द्रव्येण-‘त्वदाजि-’ । द्रव्यस्य द्रव्येण सह विरोधः-‘वृद्धभो-’ इत्यत्रैव पाठभेदे ॥

(३७) असंगतिः । उदा०-‘सा बाला-’ ॥

(३८) विषमम् । इदं चतुर्विधम् । तत्र हेतुकार्ययोर्गुणविरोधे-‘सद्यः’ । हेतु-कार्ययोः क्रियाविरोधे-‘आनन्द-’ । आरब्धस्य वैकल्ये साधने-‘अयं रत्ना-’ । विरूपयो-र्घटने-‘क वन-’ ॥

(३९) समम् । उदा०-‘अश्विन-’ ॥

(४०) विचित्रम् । उदा०-‘प्रणमत्युन्नति-’ ॥

(४१) अधिकम् । इदं द्विविधम् । तत्र आश्रयाधिक्ये-‘किमधिक-’ । आश्रिता-धिक्ये-‘युगान्त-’ ॥

अल्पम् (छा. ५.९.५ पृ.) ॥

(४२) अन्योऽन्यम् । उदा०-‘त्वया सा-’ ॥

(४३) विशेषः । अयं त्रिविधः । तत्र अनायादे आधेये-‘द्विवमन्युप-’ । अनेका-धारे एकाधेये-‘कानने-’ । किञ्चित्कुर्वतोऽशक्यस्य घटने-‘गृहिणी-’ ॥

(४४) व्याघातः । अयं द्विविधः । तत्र येन यथाकृतस्य तेनैवान्येनान्यथाकरणे-‘दृशा दग्ध-’ । सौकर्येणान्यथाकरणे-‘इदं-’ ॥

(४५) कारणमाला । उदा०-‘क्षतं कृत-’ ॥

(४६) मालादीपकम् । उदा०-‘त्वयि संगर-’ ॥

(४७) एकावली । इयं द्विविधा । तत्र साधने-‘सरो-’ । अपोहने-‘न तज्जलं’ ॥

(४८) सारः । उदा०-‘राज्ये सार-’ ॥

(४९) यथासंख्यम् । उदा०-‘उन्मीलन्ति-’ ॥

(५०) पर्यायः । एकस्यानेकप्रभवनम्-‘सिताः-’ । अनेकसंज्ञकं भवनम्-‘विचरन्ति-’ । पर्वं करणे-‘मिश्र-’ । ‘ययोरारोपि-’ ॥

(५१) परिगृह्यतिः । समेन, न्यूनेन-‘दस्ता-’ । आधिक्येन-‘तस्य च-’ ॥

(५२) परिसंख्या । प्रश्नपूर्वकारणे-‘किं भूषण-’ । ‘किमारार्थ-’ । अग्रशर्पूर्व-कारणे-‘भक्तिर्भवे-’ । ‘श्रमार्थ-’ ॥

(५३) उत्तरम् । प्रश्नेऽस्ति उत्तरात्प्रश्नोत्तरमन्-‘वीक्षितुं-’ । असत्तरात्प्रश्नेऽसंभाष्यं प्रतिवचनम्-‘का भिस्मा-’ ॥

(५४) अर्थापत्तिः । प्राकरणिक्कात्तदन्वार्थापत्तये-‘हारोऽय-’ । अत्राकरणिक्कात्तया-‘मिष्टलाप-’ ॥

(५५) विकल्पः । उदा०-‘नमयन्तु-’ ॥

(५६) समुच्चयः । अत्र सधोगः-‘हृद्यो-’ । इदं च चतुर्थे असधोगः । सदसधोगः-‘गृही-’ । गुणयोः द्विविधोऽयं योगपचम्-‘अहने च-’ । गुणद्विविधो योगपचम्-‘कनुपं च-’ ॥

(५७) समाधिः । उदा०-‘मानमस्ता-’ ॥

(५८) प्रत्यनीकम् । उदा०—‘मघ्येन—’ ॥

(५९) प्रतीपम् । उपमानसोपमेयत्वे—‘यत्त्वेत्रेव—’ । निष्फलत्वे—‘तद्वक्—’ ।

प्रकारान्तरेण—‘अह—’ । अधिकं कुञ्जलयानन्दे (छा. ६०९ पृ.) ॥

(६०) मीलितम् । उदा०—‘छद्मी—’ ॥

(६१) सामान्यम् । उदा०—‘मल्लिका—’ ॥

उन्नीलितम्

विशेषकम्

}

(छा. ६११ पृ.)

(६२) तद्गुणः । उदा०—‘जगाद वदन—’ ॥

पूर्वरूपम् (छा. ६१२ पृ.) ॥

(६३) अतद्गुणः । उदा०—‘इन्त सान्नेन—’ ॥

अनुगुणः (छा. ६१२ पृ.) ॥

(६४) सूक्ष्मम् । उदा०—‘वक्रसन्दि—’ ॥

(६५) व्याजोक्तिः । उदा०—‘शैलेन्द्र—’ ॥

गूढोक्तिः

विबुधोक्तिः

शुक्तिः

छोयोक्तिः

छेकोक्तिः

वक्रोक्तिः

}

यर्षा गूढोक्तिप्रभृतिवक्रोक्तिपर्यन्तानां

पञ्चमालंकाराणां लक्षणोदाहरणादि

छायायां द्रष्टव्यम् (६१४ पृ.) ॥

(६६) स्वभावोक्तिः । उदा०—‘आहूतेना—’ ॥

(६७) भाविकम् । उदा०—‘मुनिर्जयति—’ ॥

(६८) उदात्तम् । इदं द्विविधम् । तत्र प्रथमम्—‘अधःशृता—’ । द्वितीयम्—‘ताभिः प्रभिन्ना—’ ॥

आत्युक्तिः

निश्क्तिः

प्रतिशेषः

विधिः

}

अत्युक्तिप्रभृतीनां चतुर्णां लक्षणादि

छायायां द्रष्टव्यम् (६१८ पृ.) ॥

(६९) रसवत् । उदा०—‘अयं स—’ ॥

(७०) प्रेयः । उदा०—‘आमीलित—’ ॥

(७१) ऊर्जस्वि । उदा०—‘वनेऽपिल—’ ॥

(७२) समोदितम् । उदा०—‘अविरल—’ ॥

(७३) भावोदयः । उदा०—‘मधुपान—’ ॥

(७४) भावसंधिः । उदा०—‘अग्न्यान्तरीन—’ ॥

(७५) भावशयलक्षणम् । उदा०—‘पदवेत्कथित—’ ॥

अज्ञाद्विभावो यथा—

‘आकृष्टिवेगविगलद्भुजगेन्द्रभोग-
निर्मोकपट्टपरिवेष्टनयाम्बुराशेः ।

मन्यव्यथाव्युपशमार्थमिवाशु यस्य
मन्दाकिनी चिरमवेष्टत पादमूले ॥’

अत्र निर्मोकपट्टापहवेन मन्दाकिन्या आरोप इत्यपहृतिः । सा च मन्दाकिन्या वस्तुवृत्तेन यत्पादमूलवेष्टनं तच्चरणमूलवेष्टनमिति श्लेषमु-
त्थापयतीति तस्याङ्गम् । श्लेषश्च पादमूलवेष्टनमेव चरणमूलवेष्टनमि-
त्यतिशयोक्तेरङ्गम् । अतिशयोक्तिश्च मन्यव्यथाव्युपशमार्थमिवेत्युपे-
क्षाया अङ्गम् । उपेक्षा चाम्बुराशिमन्दाकिन्योर्नायकनायिकाव्यवहारं
गमयतीति समासोक्तेरङ्गम् ।

न्यादे पदे वा स्थितौ ॥ आकृष्टीति । समुद्रमन्थनसमये देवादीनामाकर्षणवेगेन
विगलन् यो भुजगेन्द्रभोगस्य बासुकिदेहस्य निर्मोकपट्टस्त्यक्त्यर्मपट्ट तद्वेष्टनया । तद्वे-
ष्टनच्छलेनेत्यर्थः । पादमूले एकदेशे । पक्षे—चरणसमीपे । अवेष्टत अवहत् । पक्षे—
सनाहृकिययात्यतिष्ठत् ॥ अज्ञाद्विभावमुपपादयति—अत्रेति । सा च अपहृतिश्च ।
वस्तुवृत्तेन वल्लुगत्वा । ‘नायकनायिका’ इति पाठे नायकेन सहिता नायिका-

प्रत्यक्षम्
अनुमानम्
उपमानम्
शब्दः
अर्थापत्तिः
अनुपलब्धिः
संभवः
प्रेतिष्ठम्

इमेऽष्टौ प्रमाणावकाराः । (छा. ६२० पृ) ॥

(७६) संसृष्टिः । उदा०—‘देवः पाया—’ ॥

(७७) संकरः । एष त्रिविधः । तत्र अज्ञाद्विभावः—‘आकृष्टिवेग—’ । संदेहसकरः—
‘इदमाभाति—’ । पञ्चमयानुपवेश—‘कृत्यक्षेष्ण—’ ॥

‘इयद्विरेवालवारेलकारः सुमेधसाम् ।

अज्ञोपमर्दफलकेरसारैर्बहुभिः किमु ॥

यथा वा—

‘अनुरागवती संध्या दिवसस्तपुरःसरः ।

अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥’

अत्र समासोक्तिर्विशेषोक्तेरङ्गम् । संदेहसंकरो यथा—

‘इदमाभाति गगने भिन्दानं संततं तमः ।

अमन्दनयनानन्दकरं मण्डलमेन्दवम् ॥’

अत्र किं मुखस्य चन्द्रतयाध्यवसानादतिशयोक्तिः, उत इदमिति मुखं निर्दिश्य चन्द्रत्वारोपान्मुखम्, अथवा इदमिति मुखस्य चन्द्रमण्डलस्य च द्वयोरपि प्रकृतयोरेकधर्माभिसंबन्धानुस्ययोगिता, जाह्नोस्विचन्द्रस्याप्रकृतत्वाद्दीपकम्, किं वा विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य मुखस्य गम्यत्वात्समासोक्तिः, यद्वा प्रस्तुतचन्द्रवर्णनया प्रस्तुतस्य मुखस्यावगतिरित्यप्रस्तुतप्रशंसा, यद्वा मन्मथोद्दीपनः कालः स्वकार्यभूतचन्द्रवर्णनामुखेन वर्णित इति पर्यायोक्तिरिति चहनामलंकाराणां संदेहात्संदेहसंकरः ।

यथा वा—‘मुखचन्द्रं पश्यामि’ इत्यत्र किं मुखं चन्द्र इत्युपमा, उत चन्द्र एवेति रूपकमिति संदेहः । साधकबाधकयोर्द्वयोरेकतरस्य सद्भावे न पुनः संदेहः । यथा—‘मुखचन्द्रं चुम्बति’ इत्यत्र चुम्बनं मुखस्यानुकूलमित्युपमायाः साधकम् । चन्द्रस्य तु प्रतिकूलमिति रूपकस्य बाधकम् । ‘मुखचन्द्रः प्रकाशते’ इत्यत्र प्रकाशाख्यो धर्मो रूपकस्य साधको मुखे उपचरितत्वेन संभवतीति नोपमाबाधकः ।

‘राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम् ।’

अत्र योपित आलिङ्गनं नायकस्य सादृश्येनोचितमिति लक्ष्म्यालिङ्गनस्य राजन्यसंभवादुपमाबाधकम्, नारायणे संभवाद्वूपकम् । एवम्—

‘वदनाम्बुजमेणाक्ष्या भाति चञ्चललोचनम् ।’

अत्र वदने लोचनस्य संभवादुपमायाः साधकता, अम्बुजे चासंभवाद्वूपकस्य बाधकता । एवं ‘सुन्दरं वदनाम्बुजम्’ इत्यादौ साधारणधर्मप्रयोगे ‘उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे’ इति वचनादुपमा-

नायकनायिका । इन्द्रविषय एकशेषप्राप्तेः ॥ अनुरागेति । अनुरागो लोहितम् सुरताभिन्नपथ ॥ संदेहसंकरातिरिक्तस्थले एकाग्रयस्थितेर्विषयो भविष्यतीति चरमोऽप्यपि संदेहसंकरं प्रथमं दर्शयति—इदमिति । संततं सम्प्रत्ययात्तम् । पक्षे—संततं तमः स्मररुताज्ञानं भिन्दानम् । ‘इदमाभाति वदनं’ इति पाठो न रमणीयः । विषयस्य निगटनाभावादतिशयोक्तेरसंभवापत्तेः, इदमिति मुखं निर्दिश्येति निर्वचना-

समाप्तो न संभवतीत्युपमाया बाधकः । एवं चात्र मयूरव्यंसकादि-
त्वाद्वृत्तसमाप्त एव । एकाग्रयानुप्रवेशो यथा मम—

‘कटाक्षेणापीपत्क्षणमपि निरीक्षेत यदि सा

तदानन्दः सान्द्रः स्फुरति पिहिताशेषविषयः ।

सरोमाञ्चोदञ्चकुचकलशनिर्भिन्नवसनः

परीरम्भारम्भः क इव भविताम्भोरुहदृशः ॥’

अत्र कटाक्षेणापीपत्क्षणमपीत्यत्र च्छेकानुप्रासस्य निरीक्षेतेत्यत्र
क्षकारमादाय वृत्त्यनुप्रासस्य चैकाग्रयेऽनुप्रवेशः । एवं चात्रैवानुप्रा-
सार्थापत्त्यलंकारयोः । यथा वा—‘संसारध्वान्तविध्वंस—’ इत्यत्र
रूपकानुप्रासयोः । यथा वा—‘कुरवका रवकारणतां ययुः’ इत्यत्र
रवका रवका इत्येकं वकार-वकार इत्येकमिति यमकयोः ।

संगतिप्रसङ्गाच्च । ‘वदनम्’ इत्यत्र ‘गगनम्’ इति पाठोऽपि न सुन्दरः । अव्यावर्तक-
त्वात् । तस्मात् ‘इदमाभाति रुचिरम्’ इति पाठो रुचिरः ॥ कटाक्षेणापीति ।
सान्द्रादिविशेषणद्वयेन आनन्दस्य नन्दानन्दसदृशत्वं प्रतीयते । सरोमाञ्चोदञ्चद-
र्शनात् कुचकलशानिर्भिन्नं विगठितं वसनं यत्र सः । क इवेति । निरुपम इत्यर्थः ।
कटाक्षेणापीपत्क्षणमपीति वर्णद्वयघटितस्य क्षकारस्य क्रमस्वरूपाभ्यां सङ्घासान्ध्याच्छे-
कानुप्रासः । पश्चाद्विरीक्षेतेति क्षकारमादाय क्रमस्वरूपाभ्यामसङ्घासान्ध्यासंभवाद्वृत्त्यनु-
प्रासः । एवं चतुर्थपादेऽपि मकारभकारघटितवर्णपिण्डस्य च्छेकवृत्त्यनुप्रासौ वेदि-

1. कुरवका इति । ‘विरचिता मधुनोपवनभियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः । मधु-
लिङ्गा मधुरानविशारदाः—’ इत्यवशिष्टा दादयसी । अर्थात्कारविषयाणां कुपलयानन्दा-
दिषु एवपादितत्वादिव विस्तरेण तत्रतविशेषो न न्यासीति शिवम् ॥

भीमानुदारचरितः धृतपादवृथा जागति भृशुरसासी सरयूमसादः ।

यश्च व्यथाञ्जयपुरेन्द्रसमागमेण निर्मत्सरान्तरात्मोनिद्राश्रितवान् ॥

तस्मादनापत्त मदेश्वरपादयेनी दुर्गामसाद् इति शास्त्रनिविष्टचेताः ।

यस्माधुना जयपुरे नियमागमेषु व्युत्पादयन्निजवदन्तमयाकरोति ॥

तेनेय दर्पणच्छाया विदिता सारसंहतिः ।

यदत्र कुशलं तस्य सुश्रुतं कुशलानपाः ॥

इत्यभ्युपगमपरान्तरवर्तिष्विष्टपुतीवाद्यम्यद्विदेशोपाख्याचार्यभीसरयूमसादसुत-

दुर्गामसादभिरचिता सादित्यदर्पणच्छाया नक्षार्पणं भवतु ॥

सोऽयं ज्ञायाव्यतिष्पन्नीसद्वितः सकलः सादित्यदर्पण- पत्रमे, पक्षे पाक्षिन् संस्कारणे

टिप्पणीकाराणां सारसंप्रदायाचार्यवर्णानां श्रीरामदिपेन्द्रशानामाहया पदन्दे-

वातिना जयपुराजनीयसंस्कृतग्रन्थेनाभ्यापकेन पण्डितवन्द्याण-

यसुभदाक्षिणा दाषीयेन संशोध्य उभरयतीति शिवम् ॥

(भीरुचरणापार्पणमखु)

यथा वा—

‘अहिणअपओअरसिएसु पहिअसामाइएसु दिअहसु ।

रहसपसारिअगीआणं णच्चिजं मोरविन्दाणम् ॥’

अत्र ‘पहिअसामाइएसु’ इत्येकाश्रये पथिकश्यामायितेलुपमा ।
पथिकसामाजिकेऽपि रूपाय प्रविष्टमिति ।

श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनु-

श्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम् ।

साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य

साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त ॥ ९९ ॥

यावत्प्रसन्नेन्दुनिभानना श्रीनारायणसाङ्गमलंकरोति ।

तावन्मनः संमदयन्कवीनामेव प्रबन्धः प्रथितोऽस्तु लोके ॥ १०० ॥

इत्यालंकारिकचक्रपार्ष्णीसाधिविग्रहिकमहापात्रधीविश्वनाथकविराजकृते
साहित्यदर्पणे दशमः परिच्छेदः ।

(अत्र मूलकारिकाः=१०० पूर्वाभिः सह ७९९ उदाहरणानि २५६ पूर्वैः सह ७५४)

तव्यौ ॥ एकपदे संकरमाह—अहिणअ इति ॥ ‘अभिनवपयोदरचितेषु’ पथिक-
श्यामायितेषु दिवसेषु । रहसप्रसारितप्रीवाणां नृत्वं मयूरनृन्दानाम् ॥’ इति संस्कृतम् ।
महति वस्त्रवायते । पथिकानां प्रियाविरहदुःखेन श्यामत्वम्, दिवसानां मेघेनेत्यु-
पमा । पक्षे—पथिका एव सामाजिकालेषु नाध्यदर्शनेन सामाजिकानामुत्पद्यो
भवतीति रूपणम् । पथिकानां मयूरनृत्वं सुखदं न भवतीति महतीत्युक्तम् । वस्तु-
तस्तु ‘सुखचन्द्रं पश्यामि’ इत्यादौ यथा समासद्वयसंभवात्संदेहः, तथेहापि ‘पहि-
असामाइएसु’ इति प्राकृतयोनिशब्दद्वयसंभवात्संदेह एवेत्यवधेयम् । एवं चैकपद-
वृत्तिचक्ररस्योदाहरणम् ‘संसारध्वान्तविष्णुसहस्रः’ इत्याद्यप्यन्तव्यम् । यथा वा—
‘मनो विद्धं सरोजाक्षीस्तरश्चया मुनिर्भरम् । सा चेद्विषजते पाठं स्वास्थ्यमाल-
म्बते सत्तु ॥’ इत्याद्युदाहरणमुच्यमिति ॥

अक्षिपक्षरसचन्द्र (१६२२) संमिते हायने शकवसुं परापतेः ।

धीररामचरणाम्रजन्मना दर्पणस्य विवृतिः प्रकाशिता ॥

दोषं कंचन वीक्ष्य सुहृन्मतयो दिनाः क्षणन्त्यत्र चे-

त्तन्नां न व्यथयेदुरोरपि निरो निर्दोषणा दुर्वचाः ।

छात्राणां मतिमादधाति यदसौ गूढार्थसंश्लेषना-

दानन्दं पितनोति यद्वृणवतां तेनास्म्यमोघप्रभः ॥’

इति श्रीरामचरणतर्कनागीशभट्टचार्यविरचितानां साहित्यदर्पणविवृती

दशमः प्रकाशः । ग्रन्थसंह्या (१०००) ॥

साहित्यदर्पणस्योदाहरणश्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका ।

| श्लो | पृष्ठम् | पङ्क्तिः | श्लो | पृष्ठम् | पङ्क्तिः |
|---------------------------|---------|----------|---------------------------|---------|----------|
| अकलङ्कं मुखं तस्याः... | ५५९ । | २ | अनायासकृशं मय्यं ... | ५८९ । | ६ |
| अकस्मादेव तन्वह्नी ... | १३८ । | ४ | अनुयान्ता जनातीतं | ३३६ । | ४ |
| अज्ञानि खेदयसि ... | ३४३ । | ५ | „ ... | ५६२ । | १० |
| अर्घ्यमर्घ्यमिति ... | १४७ । | ८ | अमुरागवती संध्या ... | ६३० । | २ |
| अचला अबला वा स्युः | ४१६ । | ३ | अमुरागवन्तमपि ... | ४२९ । | ४ |
| अजस्य गृह्णतो जन्म... | ५९१ । | ६ | अनुलेपनानि कुसुमानि | ५५१ । | १० |
| अजयत रतिस्तस्याः... | ४२१ । | ७ | अनातपत्रोऽप्ययमत्र | ६१७ । | ८ |
| अत्ता एव निमज्जह... | १८ । | ३ | अनेन च्छिन्दता मातुः | ४०६ । | ९ |
| अतिगाढगुणायाश्च ... | ५५९ । | ९ | अनेन पर्यासयता- ... | ५७८ । | १४ |
| अत्युन्नतस्वनमुरो नयने | ११२ । | ४ | अनेन लोकगुरुणा ... | २४४ । | ५ |
| अत्युन्नतस्वनयुगा- ... | २३६ । | ३ | अन्तःपुरीयसि रणेषु | ५१० । | १ |
| अत्रान्तरे किमपि वाक् | १३२ । | ५ | अन्तर्दिष्टाणि भूयांसि | ५७६ । | ११ |
| अत्रासीत्कमिपाद्यबन्ध- | ३४९ । | १३ | अन्तिकगतमपि मामिय-१४० । | २० | |
| अत्रास्माप्यमुपाध्याय ... | ४३६ । | १ | अन्यदेवाङ्गलावण्य- ... | ५४९ । | १३ |
| अथ तत्र पाण्डुतनयेन | १६० । | ८ | अन्यास्तु तावदुपमर्दसहासु | १६२ । | ३ |
| अथ प्रचण्डभुजदण्ड- | ३६१ । | ५ | अन्यास्ता गुणरत्नरोहण- | ४०३ । | ३ |
| अद्यापि देहि वैदेहीं ... | ३४९ । | १७ | „ ... | ४४० । | १५ |
| अद्यापि स्वनशील ... | ४११ । | १० | अग्रियाणि करोत्येव वाचा | ३१८ । | ११ |
| अथःकृतान्मोघरमण्डलानां | ६१८ । | ४ | अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा | ३०६ । | ५ |
| अथरः किसलयरागः | ३३७ । | ९ | अमितः समितः प्रातैः | २१४ । | ५ |
| अथरे करजकर्त ... | ४१७ । | ३ | अमुष्ठा भवता नाथ | ३८६ । | ९ |
| अध्यासितुं तव विराट् | ३६१ । | ११ | अयि मयि मानिनि मातुः | ४०२ । | २ |
| अनङ्गमङ्गलभुवः ... | ४५३ । | ७ | अयमुदयति मुशभजनः | ४६८ । | ११ |
| अनलङ्कृतोऽपि गुन्दर | ११५ । | २ | अयं मार्तण्डः किम् ... | ५३१ । | ८ |
| अनन्यताधारणधीता | २२५ । | ३ | अयं रसाकरोऽम्भोधि- | ५१४ । | ४ |
| अनपुरणन्मनिमेयत्वं | ४२८ । | ८ | | | |

१. विश्वावस चन्द्रकलायाम् । २. काटिशसस एवमेव । ३. काटिशसस
जुमारुधरे । ४. धमिकस दण्डकालोके । ५. भवभूतेर्मांछीमाधरे । ६. राव-
नेसरस बाढानायणे । ७. नाथस शिशुपावणे । ८. विश्वावस प्रभावत्तान् ।
९. काटिशससविज्ञानशान्तिश्लोके । १०. भट्टनारायणस वेणीसंहारे । ११. विश्व-
नाथस । १२. शिशुपावणे । १३. शिशुपावणे । १४. एवमेव । १५. विश्व-
नाथस । १६. विद्युत्प्रेतमायाः । १७. वेणीसंहारे । १८. भविज्ञानशान्तिश्लोके ।

| पृष्ठम् पङ्क्तिः. | पृष्ठम् पङ्क्तिः. |
|-------------------------------------|------------------------------------|
| अयं स रशनोत्कर्षा ... २३९ । ३ | 'अहिणधपजोभरसिएस ६३२ । २ |
| ” ... ४४३ । ३ | आ |
| अयं सर्वाणि शास्त्राणि ४८६ । ६ | आकृष्टिवेगविगलद् ... ६२९ । २ |
| अरविन्दमिदं वीक्ष्य ... ५२१ । ४ | आक्षिपन्त्यरविन्दानि ३३५ । ८ |
| अरातिविक्रमालोक-... ५१४ । ७ | आचरति दुर्जनो यत् ४४० । १० |
| अरुणे च तरुणि नयने ६०८ । ९ | आत्मा जानाति यत्पापम् ३९२ । १२ |
| अलमलमतिभात्रं साहसेन २८९ । ४ | आदाय वकुलगन्धान् ४७५ । ५ |
| अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् २३० । २ | अदित्योऽयं स्थितो मूढाः २३० । ८ |
| अलिकुलमञ्जुलकेशी ... ३६२ । ११ | आनन्दममन्दमिमम् ... ५९४ । १ |
| अलिभपसुतध ... १७५ । ५ | आनन्दयति ते नेत्रे ... ३९१ । ९ |
| अविदितगुणायि ... ५५५ । ४ | आनन्दयति ते नेत्रे योऽधुना ३९२ । ७ |
| अविरलकरवालकम्पनैः ६१९ । १४ | आनन्दितस्त्रपलोऽसौ ४२० । १ |
| अव्यूढाङ्गमरूढपाणि- ४६१ । ३ | अनन्दाय च विस्मयाम च ३२६ । ६ |
| अशङ्कवन्सोढुमपीरलोचनः २०२ । ७ | अपतन्तममुं दूरा- ... २१६ । ५ |
| अश्रुच्छलेन सुदशो ... ५४५ । २ | आपातसुरसे भोगे ... ४१९ । ३ |
| अश्वरथामा हत इति... ३१० । ७ | अमीलिवालसविवर्ति- ६१९ । ४ |
| असमाप्तजिगीपस्य ... ५६३ । १२ | आवर्त एव नाभिल्ले ... ४१८ । ८ |
| असावन्तध्वद्विकच- ३३९ । १६ | आशीःपरम्परां वन्द्यां ३८३ । १ |
| असंभृतं मङ्गलमप्रयष्टे १२९ । ८ | अश्लिष्टभूमि रसितारमुषैः १५२ । १० |
| असंशयं क्षुप्रपरिग्रह्यमा १५८ । ५ | असमुद्रक्षितीशानाम् ३८६ । ५ |
| अस्माकं सखि वासयी ९९ । १३ | आसारितप्रकटनिर्मल- २८२ । २ |
| अस्य राशो गृहे भान्ति ५१८ । ११ | आसीदजनमनेति ... ६१६ । ९ |
| अस्य वक्षः क्षणेनैव ... ३४७ । ३ | आहवे जगदुद्दण्ड- ... ५२२ । १० |
| ” ... ३६१ । २ | आहारे विरतिः समस्त- २३२ । ६ |
| अस्माः र्गविधौ प्रजापति ५४९ । १६ | आहूतस्याभिषेकाय ... १०६ । १२ |
| अहमेव भतो महीपतेः १०५ । १४ | अहूतेषु विद्वज्जनेषु ... ४२९ । ७ |
| अहमेव गुरुः सुदारुणानाम् ६१० । ११ | |

१. भीमहाभारते द्रोणपर्वणि । २. श्रीहर्षदेवस्य रत्नावल्याम् । ३. श्रीनृसिंहभारते द्रोणपर्वणि । ४. हालस्य गाथासप्तशत्याम् । ५. सुबन्धोर्वासवदत्तायाम् । ६. शिशुपालवधे । ७. विश्वनाथस्य । ८. वेणीसंहारे । ९. कन्हयस्य राजतरङ्गिण्याम् । १०. चन्द्रकलायाम् । ११. कुमारसंभवे । १२. अभिज्ञानशाकुन्तले । १३. हर्षस्य ग्रहारविजये । १४. मत्स्यवल्याम् । १५. पिक्रमोर्वद्व्याम् । १६. रघुवंदे । १७. गाथासप्तशत्याम् । १८. श्रीमहाभारते द्रोणपर्वणि । १९. भवभूतेर्नृसिंहचरिते । २०. शिशुपालवधे । २१. विश्वनाथस्य । २२. शिशुपालवधे । २३. रघुवंदे । २४. मत्स्यवधे ।

| पृष्ठम् पङ्क्तिः. | पृष्ठम् पङ्क्तिः. |
|---------------------------------------|-------------------------------------|
| आज्ञा शकश्चिखामणि- ४१८ । १ | उपत्यकमललौहिलैः ... ३८९ । ९ |
| इ | उर्वैमितैकभूलत- ... ३९१ । ९ |
| इति गदितवती रुपा... १२६ । ५ | उन्मज्जलकुञ्जरेन्द्र- ४५७ । ६ |
| इत्थमाराध्यमानोऽपि ५८३ । १ | उन्मीलन्मधुगन्धलुब्ध- ४७५ । १४ |
| इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः ३३८ । ६ | उन्मीलन्ति नखैर्लनीहि ६०० । ६ |
| „ ... ५५७ । ४ | उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते ४४ । ५ |
| इदमामासि गगने ... ६३० । ५ | उर्व्यसावत्र तर्वाली ... ४०४ । ८ |
| इदं वक्रं साक्षात् ... ५२७ । ५ | उवाच मधुरां वाचं ... ४०० । २ |
| इन्दुर्विभाति कर्पूरगौरैः ४०५ । २ | उवाच मधुरं धीमान् ४०० । ५ |
| इन्दुर्विभाति यस्तेन ... ३९३ । १४ | ऊ |
| इन्दुर्लित इवाजनेन ... ५७४ । ३ | ऊरुः कुरङ्गकदम्बश्वल- ५४० । २ |
| इन्द्रजिघृक्षवीर्योऽसि ३४७ । १६ | ए |
| इयं स्वर्गाधिनायस्य ... ३३६ । ११ | एकं ध्याननिमीलनात् ४४४ । १ |
| इह पुरोऽनिलकम्पित- ५३७ । ८ | एकः कपोतपोतः ... ५७५ । १२ |
| इहैव त्वं तिष्ठ हृतम् ५९८ । १ | ऐक्यसिन्धयने पराङ्मुखतया १७६ । ४ |
| ई | ऐक्यैव विपाकोऽयम् ३१२ । १६ |
| ईक्षसे यत्कटाक्षेण ... ४०५ । १६ | ऐक्यप्रासनसंस्थितिः ... ११४ । १२ |
| उ | ऐतद्विभाति चरमाचल- ५३६ । ६ |
| उभ निचल निष्पन्दा ६७ । ४ | एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः ४०८ । २ |
| उत्कृष्टोत्कृष्ट कृतिम् १९० । १७ | ऐवंवादिनि देवर्षी ... १५५ । ५ |
| „ ... ४३१ । ८ | एष दुष्यवन् नौमि ... ४४७ । १७ |
| उत्क्षिप्तं करकङ्कणद्वयमिदम् १२० । १८ | एष मूर्तो यथा धर्मः... ४२६ । १३ |
| उत्तिष्ठा वृत्ति यामो ... १२२ । १३ | ऐसा कुडिलघणेन ... १६१ । ३ |
| उत्फुल्लकमलकेसर- ... ३५३ । १३ | एसो सप्तहरविम्बो ... ४३६ । ५ |
| उत्साहातिशयं वत्स ... ३०४ । ११ | ऐ |
| उदन्वच्छिन्ना भूः ... ४०९ । ६ | ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण ५६६ । १० |
| उदेति पूर्वं क्रुद्धं ततःफलम् २४४ । ६ | ऐशस्य घनुषो भङ्गम्... ४१७ । ६ |
| उदेति सविता ताम्रः... ४०८ । ७ | ओ |
| „ ... ४३३ । १३ | ओवष्टइ उष्टद ... ३९८ । १० |
| उद्दामोत्कलिकाविपाण्डुर २९१ । २ | |

१. बालरामायणे । २. शिशुपालवधे । ३. कुमारसंभवे । ४. अभिशानशाकुन्तले ।
 ५. विश्वनाथस्य । ६. ययातिनिबन्धे । ७. गाथासप्तशत्याम् । ८. मालवीमाधवे ।
 ९. बालचरिते । १०. अभिशानशाकुन्तले । ११. रत्नावल्याम् । १२. अभि-
 शानशाकुन्तले । १३. अमरकृतके । १४. त्रेणीसंहारे । १५. अमरकृतके;
 सुभाषितावली तु पुलिनस्य । १६. विश्वनाथस्य । १७. कुमारसंभवे ।
 १८. विश्वनाथस्य ।

| पृष्ठम् पङ्क्तिः. | पृष्ठम् पङ्क्तिः. |
|------------------------------------|---|
| औ | कौलरात्रिकरालेयं ... ३४८। १७ |
| औत्सुक्येन कृतत्वरं ... ४४२। ४ | कालान्तककरालस्यं ... ३१३। ११ |
| क | काले कोकिलवाचाले ... ४८४। १ |
| कैटाक्षेणापीपत् ... ६३१। ४ | कौलो मधुः कुपित एष न ६४। ९ |
| कटिस्ते हरते मनः ... ३८२। ५ | काले वारिधायणाम् ... ५३७। ४ |
| कैयमुपरि कलापिनः ... ५४९। ३ | का विद्यमा देवगर्भे ... ६०४। ९ |
| कधनीक्षे कुराहाक्षी ... १७२। ४ | ^{१३} किं करोषि करोषान्ते ३७१। १६ |
| कंदली कदली करभः करभः २०८। ९ | ^{१४} किं तावत्सरसि सरोजमेतत् ५३१। १५ |
| कदा वाराणस्यामिह ... १९४। ९ | ^{१५} किं तावत्तरोरियं ... ५३१। २ |
| कपोलफलकावस्याः ... ५४०। १४ | किं देव्या न विभु- ... ३४६। ११ |
| कपोले जानक्याः करिकलम ४४६। १० | ^{१६} किं भूषणं सुदृढ- ... ६०३। २ |
| कमलालिखितस्वारहार- ४२७। ६ | किमधिकमस्य श्रमो ... ५९६। ९ |
| कमले चरणाघातं ... ३८३। ५ | किमाराध्यं सदा पुण्यं ६०३। ७ |
| कमलेव मतिमेतिरिव ५२०। ९ | किरणा हरिणाकुस्य ... ४८५। ७ |
| कमलेण विक्षसिष्णु ... १६३। २ | ^{१७} किं रुद्रः प्रियया कया १२४। २ |
| कर्ता घृतच्छलानां जनुमय ३६०। ५ | ^{१८} किं श्रीकरैः क्लमविमर्दिभिः ३४१। १४ |
| कर्पूरच्छब्द इव राजति ४२६। ३ | ^{१९} किसलयमिव मुरधं १६२। ११ |
| कर्मुदयमहीधरस्तनामे १४३। ४ | कुञ्जं हन्ति कुसोदरी... ३९६। ६ |
| , , ... ५३६। २ | कुपितास्य यदा तन्नि ५८६। १२ |
| करिहस्तेन संयापे ... ४३१। १२ | कुर्यां हरस्यापि ... ३९९। ८ |
| कलयति कुबलयमाला ५५६। १० | ^{२०} कुर्वन्त्वाप्ता हतानां ... ३१५। १३ |
| कलुषं च तवाहिते च कस्मात् ६०८। १३ | कुमारस्ते नराधीश ... ४१६। १ |
| कस्य व ण होइ रोसो २५९। ३ | कुञ्जन्ति कोकिलाः ... ४९९। ६ |
| कान्तास्त एव भुवनप्रितयेऽपि २०१। २ | कृतप्रवृत्ति ... ३८९। ७ |
| कान्ते तथा कथमपि ११०। ७ | कृतमनुवृत्तं ... १८६। १२ |
| कानने सरिदुर्देशे ... ५९७। ६ | कृत्वा चीनविपीडनां ... १६१। ९ |
| कौप्यभिहया तयोद्यसीत् ४२७। १३ | कृष्टा केशेषु भार्या ... ३१४। ६ |
| कौमं प्रिया न सुलभा ३०६। १ | के हुमास्ते क्व वा ग्रामे १३७। ५ |
| कार्तार्थ्यं यातु तन्वशी ३८०। १५ | के यूयं स्थल एव संप्रति ४८३। ५ |

१. राजघोरस्य रघावल्याम् । २. विश्वाधस्य । ३. विश्वाधस्य । ४. जय-
देवस्य प्रसन्नरागये । ५. विश्वाधस्य । ६. नेमीसंहारे । ७. विश्वाधस्य ।
८. गङ्गातटिके । ९. रघुवंशे । १०. अभिषेकान्ताकुन्तले । ११. नागरामायणे ।
१२. विश्वाधस्य । १३. विश्वाधस्य । १४. शिशुपालवधे । १५. पद्मोः ।
१६. पद्मस्य । १७. गङ्गातटिके । १८. अभिषेकान्ताकुन्तले । १९. पद्मराजपारितो ।
२०. नेमीसंहारे । २१. नेमीसंहारे । २२. विश्वाधस्य । २३. नेमीसंहारे ।

| | पृ. | प. |
|------------------------------|-------|----|
| केशः काशः स्तवकविकासः | ४७७ । | ५ |
| कोऽत्र भूमिवलये ... | ५५६ । | ३ |
| कोकिलोऽहं भवान्काकः | ५७६ । | ७ |
| कूरप्रहः सकेतुधन्द्र- | २८४ । | १२ |
| कैचित्तम्बूलाकः ... | ११२ । | ९ |
| कै सूर्यप्रभवो वंशः ... | ५५७ । | १४ |
| कै वनं तद्वत्कभूषणं | ५९४ । | ८ |
| काकार्यं शासलक्ष्मणः... | २०४ । | ५ |
| | ४४२ । | १३ |
| क्षेत्रधर्मोचितैर्धर्मैः ... | ३३८ । | २ |
| क्षिपति शुक वृषदंशक- | ५५७ । | २२ |
| क्षितो हस्तावलमः ... | ४४४ । | ६ |
| क्षीर्णः क्षीणोऽपि क्षणी | ५५९ । | १३ |
| क्षीरोदजावसतिजन्म- | ३८५ । | २ |
| क्षेम ते ननु पक्ष्मलाक्षि | १८२ । | १० |
| ख | | |
| खड्ग क्षमासौविदलः ... | ५२५ । | १३ |
| ग | | |
| गङ्गाम्भसि सुरराण- | ५४० । | ८ |
| गच्छ गच्छसि चेतकान्त- | ५८८ । | ९ |
| गच्छामीति मयोक्तया | ५७४ । | ९ |
| गता निशा इमा बाळे | ३९९ । | १ |
| गदंभति श्रुतिपरुषं ... | ५१३ । | ८ |
| गैभनमलस शून्या दृष्टिः | ३२५ । | ६ |
| गात्रमम्बु सितमम्बु... | ६१३ । | २ |
| गाढकान्तदशनक्षतव्यथा | २१६ । | ९ |
| गौडालिङ्गनयामनीकृत- | ४३९ । | ९ |
| गौणदीवीकनकशिला- | ३९६ । | ८ |
| गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि | ५३५ । | ११ |

| | पृ. | प. |
|-----------------------------|-------|----|
| गीतेषु कर्णमादत्ते - ... | ३८४ । | ४ |
| गुंस्तरकलमुपराजुनादं | १३५ । | ८ |
| गुरुपरतन्त्रतया वत ... | ६८ । | ५ |
| गुरोर्मिरः पद्मदिनान्यधीत्य | १८४ । | ५ |
| ग्रन्थमि काव्यशशिर्न... | ४२५ । | ४ |
| गृहीत येनासीः- ... | ४१५ । | ११ |
| गृहिणी सचिवः सखी | ५९७ । | ८ |
| गृध्रतामर्जितमिदं ... | ३१० । | १३ |
| घ | | |
| घटितमिवाञ्जनपुष्पैः ... | ५४३ । | १२ |
| घोरो वारिमुचां रवः ... | ४१० । | ४ |
| चकोर्य एव चतुराश्वन्द्रिका- | ५५४ । | १३ |
| चकाधिष्ठितता चक्री... | ४३० । | २ |
| चंखद्वजप्रमितचण्ड- | ३०२ । | १४ |
| | ४४१ । | १२ |
| चण्डाल इव राजासी... | ४२६ । | २ |
| चण्डीशचूडाभरण- | ४२० । | ३ |
| चन्द्रं मुख कुरङ्गाक्षी ... | ४१२ । | २ |
| चन्द्रायते शृङ्गवचापि | ५१८ । | २ |
| चरणानतकान्तायाः ... | ४०७ । | १५ |
| चैरणपतनप्रत्याख्यानात् | २०३ । | ७ |
| चलण्डामरवेष्टितः ... | ४०४ । | ६ |
| चैलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि | २३१ । | ४ |
| चौरणा स्फुरितेनाय ... | ३४६ । | ३ |
| चित्रं चित्रमनाकाशे ... | ४३३ । | १७ |
| चिन्ताभिः स्तिमितं मनः | १७८ । | १३ |
| चिरं जीवतु ते सुनुः... | ४२७ । | १९ |
| चिरैरितिपरिखेदप्राप्त ... | १५१ । | ६ |

१. विशाखदत्तस्य मुद्राराक्षसे । २. अमरशतके । ३. रघुवशे । ४. विशना-
थस्य । ५. कालिदासस्य विक्रमोर्वश्याम् । ६. विश्वनाथस्य । ७. अमरशतके ।
८. रुद्रस्य बाव्याल्कारे । ९. चन्द्रशेखरस्य । १०. दण्डिनः काव्यादर्शे ।
११. मालतीमाधवे । १२. अमरशतके । १३. भारतेः किराणार्जुनीये । १४. शिशु-
पालवशे । १५. शङ्खधरस्य लटकमेलके । १६. वेणीसंहारे । १७. रघुवशे । १८. क्षेमे-
श्वरस्य चण्डव्रीशिके । १९. वेणीसंहारे । २०. अमरशतके । २१. अभिषानशाकुन्तले ।
२२. अभिषानशाकुन्तले । २३. चन्द्रशेखरस्य । २४. शिशुपालवशे ।

| अ | पृ. प. | अ | पृ. प. |
|-----------------------------|---------|------------------------------|---------|
| अइ सहस्रिजइ तमो ... | ३३९। १२ | १०दिच्छेदकृशस्य ... | ४३०। ९ |
| अधुर्विष भूतविघ्नादि | ४००। १० | तद्वेसोऽसहस्रोऽन्याभिः | ४२८। ४ |
| अगाद वदनच्छद्य ... | ६१२। ३ | तनुस्पर्शादस्या दरमुकुलिते | १४५। ६ |
| अघनस्थलनदपन्नवद्दी | २०१। ११ | तन्वद्भ्याः स्तनयुग्मेव | ५४१। ५ |
| अनस्थाने भ्रान्तं ... | २४०। २ | तैर्व कितव किमाहितैः | १२६। १ |
| अन्मान्तरीणरयणसाङ्ग- | ६२०। ६ | सव विरहे मलयमरुत् | ५९१। ३ |
| अन्मेन्दोर्विमले बुले ... | ३१५। ५ | सव विरहे हरिणाक्षी ... | ५८७। १० |
| अन्मेदं बन्ध्यतां नीतं | ५५७। १० | तैर्वास्मि गीतरागेण ... | २८२। ७ |
| अलकेलितरलकरतल- | २६५। १ | सस्य च प्रवयसो जटायुपः | ६०२। ९ |
| अवल्लुतु गगने रात्रौ ... | १३१। ६ | तस्यान्तद्रूपसौन्दर्य ... | ३६३। ५ |
| अस्त रणन्ते उरए ... | ५६४। १६ | तस्या मुखेव सहस्रं ... | ५१२। ७ |
| आता लज्जावती मुग्धा | ४२१। ९ | तद् से क्षति पञ्चता ... | १२९। ३ |
| आनीमहेऽस्या हृदि ... | ५८५। १२ | तामिन्दुसुन्दरमुखी ... | ३९३। १० |
| जीयन्ते जयिनोऽपि | ३२७। १४ | तामुदीक्ष्य कुरङ्गाक्षी ... | ४२१। ४ |
| जुगोपारमानमप्रसो ... | ३८८। ४ | १०ती जानीयाः परिमितकथा | १२३। २ |
| शीतिप्रीतिमंसि ... | ३१४। १७ | १०तारुण्यस्य विलासः ... | १३०। १ |
| शौने मौनं क्षमा शायौ | ५४०। ५ | १०तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभा | ४३९। १६ |
| ज्योत्स्ना इव सिता ... | ४२७। १२ | १०तीर्णे भीष्ममहोदधौ | ३१७। ७ |
| ज्योत्स्नाचय. पय.पूरः | ४०६। ३ | तीर्थे तक्षीये गजसेतुबन्धात् | ४१०। १० |
| प्र | | १०तीर्णाभिपक्षप्रभवेण वृत्ति | १५०। १४ |
| पेवैरि भतं जुभजुभलं | १४९। १० | तृष्णापहारी विमलो ... | ३४०। ३ |
| त | | १०ते हिमालयमामल्य | ४०९। ३ |
| ततश्चचार समरे ... | ४१६। १० | तैर्द्वाजिराजिनिर्भूत- | १९८। १३ |
| तत्पदपेयमनत्रमङ्गल ... | ३४६। १८ | ” ... | ५८४। ४ |
| तैर्त्रैच्छ सिद्धौ कुरु ... | ३९४। १० | त्वया तपस्विषाण्डाढ | ३४६। ७ |
| तदत्रमार्दवं ब्रष्टु. ... | ५५२। ३ | त्वया सा शोभते सन्धी | ५९६। १० |
| तैर्देवितयमचाकीर्यन्मस | ११३। १३ | त्वयि दृष्टे कुरङ्गाक्ष्याः | ५५५। ६ |
| तैर्दप्राप्तिमहादुःख- ... | २२६। ७ | त्वयि सगरसप्राप्ते ... | ५९८। १५ |
| तद्वक्तं यदि मुद्रिता ... | ६१०। ३ | त्वामस्मि वक्ष्य विदुषा | २२२। ३ |

१. शिशुपालवधे । २. कविमहाकाव्यस्योदारराधवे । ३. वाचस्पतिभट्टस्य । ४. वेणीसंहारे । ५. मालवीयाधवे । ६. उदात्तरामवे । ७. खड्गवे । ८. वेणीसंहारे । ९. रघुवधे । १०. विश्वनाथस्य कुनल्याम्बविरते । ११. कुमारसम्भवे । १२. शिशुपालवधे । १३. धीविष्णुप्रपणे । १४. विश्वनाथस्य । १५. विश्वनाथस्य । १६. शिशुपालवधे । १७. अभिशानशाकुन्तले । १८. काळिदासस्य मेघदूते । १९. विश्वनाथस्य । २०. विक्रमोत्तरायणम् । २१. वेणीसंहारे । २२. कुमारसम्भवे । २३. कुमारसम्भवे । २४. विश्वनाथस्य ।

| | पृ. | प. | | पृ. | प. |
|-------------------------------|------|----|-------------------------------|------|----|
| धौमामनन्ति प्रकृतिं ... | ४३३। | २ | दूरागतेन कुशलं ... | १३६। | ६ |
| त्रैलोक्यं चलशफरी ... | १३८। | ९ | रत्नारिविजये. राजन् ... | ३८१। | ३ |
| त्रिभागशेषास्तु निशास्तु | १७२। | १० | दृष्ट्वा दग्धं मनसिज ... | ४७६। | १० |
| वृ | | | दृश्येते तन्नि यावेतो ... | ३४४। | २ |
| दैते सालसमन्तरं भुवि | १०८। | ११ | दृष्ट्वा दृष्टिमधो ददाति | १०९। | २ |
| दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी ... | ६०२। | ६ | दृष्टिं हे प्रतिवेष्टिनि ... | २१५। | ६ |
| दैत्वाभयं सोऽतिरथो ... | ३४२। | ३ | दृष्टिस्तुणीकृतजगप्रय- | १०६। | ४ |
| दैवद्विगुल्लेखामिव ... | ३२०। | १८ | दृष्ट्वाकासनसंस्थिते प्रियतमे | ११५। | ११ |
| दन्ताप्रभापुष्पविता ... | ५६५। | १४ | " | ४६३। | ११ |
| दैलति हृदयं गाढोद्वेगो | ३१६। | ११ | दृष्ट्वा केशवगोपराग- | २४६। | ३ |
| दलिते उत्पले एते ... | ४०४। | २ | देवः पायादपायाजः ... | ६२२। | ११ |
| दैधाननकिरीटेभ्यः ... | २१७। | १० | देवः सोऽयमरात्रिशोणितज- | ३५०। | १३ |
| दानं वित्तादतं ... | ५५२। | ७ | देहि मे वाजिनं राजन् | ४१३। | ४ |
| दासे कृतागसि भवेत् | ५२५। | ५ | दैर्घ्याधितचन्द्रशेखरधनुः | १९१। | ११ |
| द्विजातजघटाविभक्त ... | ४४१। | ५ | दैर्घ्यं गतं संप्रति शोचनीयता | ४०७। | ३ |
| दिनं मे त्वयि संप्राप्ते ... | ३८४। | ७ | दैर्घ्यादपि ... | २८१। | १३ |
| दिर्घाकराद्रक्षति यो गुहास्तु | ४२६। | ६ | ध | | |
| दिवैर्मध्युपयातानां ... | ५९७। | ४ | धनिनोऽपि निरुन्मादा | ५९०। | २ |
| ११ दिवि वा भुवि वा ममास्तु | ११८। | ७ | धन्यः स एव सख्यो नयते | २२१। | १० |
| १२ दिशि मन्दायते ... | २१६। | १ | धैर्यासि वैदर्भि गुणैः | ५५४। | ४ |
| वीचीवेवीदसमः ... | ४३५। | ७ | धैर्यासि या कथयति | १११। | ६ |
| वीपयन्रोदसीरन्ध्र- | २४२। | ८ | धन्याः खलु बने वाताः | ५७६। | १ |
| वीर्यतामार्जितं वित्त ... | ६०६। | ९ | धम्मिहमर्धमुक्तं कलयति | १३७। | ११ |
| १३ वीर्धांश्च शरदिन्दुकान्ति | ८८। | १२ | धम्मिहस्य न कस्य प्रेक्ष्य | ३९१। | १ |
| दुर्गालङ्घितविप्रदो मनसिजं | ६२। | ८ | धम्मिह नवमक्षिका- | २१८। | ३ |
| दुर्गहजणपुराभो ... | ३०७। | २ | धवलयति शिशिररोन्ध्रि | ४२१। | १५ |
| दूरं समागतवति त्वयि | ५५३। | ३ | धातुमतां धिर्निर्धते ... | ३९४। | ११ |

१. कुमारसंभवे । २. शिशुपालवधे । ३. कुमारसंभवे । ४. विश्वनाथस्य प्रभाववीपरिणये । ५. वेशीसहारे । ६. प्रभावल्याम् । ७. मालवीमाधवे । ८. रघु-वधे । ९. भट्टप्रमाकरस्य । १०. कुमारसंभवे । ११. कान्यालंकारे । १२. कुल-शेखरानुपदे । १३. रघुवधे । १४. कालिदासस्य मालविकाग्निमित्रे । १५. चन्द्र-शेखरस्य । १६. रत्नावल्याम् । १७. विश्वनाथस्य । १८. राजशेखरस्य विद्वत्शालमञ्जिकायाम् । १९. श्रीहर्षदेवस्य । २०. विज्जाकायाः । २१. भवभूते-रुचिररामचरिते । २२. जयदशरुके । २३. भवभूतेवीरचरिते । २४. कुमार-संभवे । २५. रत्नावल्याम् । २६. श्रीहर्षस्य जैषथीयचरिते । २७. विज्जाकायाः ।

| पृ. प. | पृ. प. |
|---------------------------------------|--------------------------------------|
| धिग्वन्त्यमूनि मदमूर्च्छद- २३७। १ | ११ निर्वाणं गुरुत्वापभाषित- ३४२। ७ |
| धीरो वरो नरो याति... ३९९। ३ | १२ निक्षेपच्युतचन्दनं स्वनतटं ६४। १६ |
| धुनोति चासि तनुते ... ६०९। १ | १३ विश्वासान्ध इवादर्शः २०९। ४ |
| धृतायुधो यावदहं ... १५२। १६ | १४ निसर्गसौरभोद्भान्त ... ५६५। ८ |
| न | १५ निहताशेषकीरव्यः ३१४। १३ |
| नै खलु वयममुष्य दानयोग्याः १२५। ७ | १६ " ... ३४०। ७ |
| नै च मेऽवगच्छति यथा १२०। १६ | १७ नीतानामाकुलीभावं ... ४८७। १ |
| नै तज्जलं यच्च शुचाह... ५९९। ७ | १८ नेदं नमोमण्डलमम्युराशि-५३६। ४ |
| न तथा भूपयस्त्रयम् ... १५४। २ | १९ नेत्रे खड्गनगजने सरसिज-११०। १३ |
| न धत्ते चिरसा गङ्गा... ५८५। ६ | २० नेत्रैरिवोत्पलैः ... ५१७। ९ |
| न मे क्षमयिता कोऽपि ३९४। २ | २१ नो चाहु धवणं कृतं न च १२२। ६ |
| न ब्रूते पदपां गिरं ... १३०। १८ | प |
| न्येकारो ह्ययमेव मे ... ७। ३ | २२ वैशभकुविषाणं दोषां १७५। ९ |
| नयनज्योतिषा भाति ४२७। ३ | २३ पद्मोदयदिनाधीशः ... ५२३। १ |
| नयनयुगासेचनकम् ... २०४। २ | २४ पन्थिभ न एतय सत्परमरिष २१३। ३ |
| ॥ ... ५९१। १० | २५ पन्थिभ विभासिभो विभ १४१। १२ |
| नयने तस्यैव नयने च ४३४। १ | २६ परापकारनिरतैर्दुर्जनैः ५८५। १ |
| नैवजलधरः सल्लोऽयम् ३८७। २ | २७ पैरेपदियमृषीणां ... ३०९। ९ |
| नैव नक्षपदमग्नं ... १७७। २ | २८ पैरिस्फुरन्मीनविषद्वितोरवः १५९। २ |
| नैवपलाशपलाशवनं ... ४८२। ४ | २९ परिहरति रतिं मतिं ... ४२२। १ |
| नैवं वर्पवरेर्ननुध्यागणना- १०३। ८ | ३० पैर्वैतमेदि पवित्रं जैनं ४३२। ६ |
| ॥ ... १९०। ७ | ३१ पलवाकृतिरफोष्ठी ... ३९९। ४ |
| नैभिप्रमिषाम्युद्धासनेन ६१८। ६ | ३२ वैल्लेखोपसितिसाम्यसपथं १३४। ११ |
| नाशयन्तो घनध्वान्तं ४०५। ५ | ३३ वैश्यन्यासद्वयापथ्यां ... २२८। १ |
| नैहं रक्षो न भूतो ... ३१८। ३ | ३४ " ... ५८४। ७ |
| निजनयनप्रतिबिम्बैः- ४६४। १० | ३५ पश्यामि शोक- ... ३४५। १३ |
| निर्माणकौशलं धातुः... ५२५। २० | ३६ परयेत्कश्चिद्यत्त वपल रे ६२१। १ |
| ११ निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या. ५६२। १२ | ३७ प्राणि. पल्लवरेज्जः ... ३९५। ४ |
| १२ निर्वाणवैरदहनाः ... ३८५। १२ | |

१. वेणीसंहारे । २. शिशुपालवधे । ३. शिशुपालधे । ४. भट्टिकाव्ये । ५. हनुमन्नाटके । ६. विक्रमोर्वश्याम् । ७. शिशुपालवधे । ८. शिशुपालवधे । ९. रत्नावल्याम् । १०. रघुवज्जे । ११. वेणीसंहारे । १२. निरुद्ध-राजकन्ययोः । १३. वेणीसंहारे । १४. वेणीसंहारे । १५. अमरकटके । १६. भगवतो वात्मीके । १७. वेणीसंहारे । १८. विश्वनाथस्य । १९. चन्द्रोत्तरस्य । २०. गाथासप्तशत्याम् । २१. विश्वनाथस्य । २२. महावीरचरिते । २३. किराताजुनीवे । २४. भिन्निकास दयन-वीरकाव्याम् । २५. शिशुपालवधे । २६. विश्वनाथस्य ।

| पृ. | प. | पृ. | प. | पृ. | प. |
|------------------------------|---------|-----------------------------|---------|-----|----|
| पाणिरोधमविरोधित ... | १३३। १२ | प्रायश्चित्तं चरिष्यामि... | १५४। ८ | | |
| पाण्डवानां सभामध्ये | ५००। ४ | प्रायेणेन हि दृश्यन्ते ... | ३३७। ५ | | |
| पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं | १७२। १४ | प्रिय इति गोपवधूभिः | ५३३। ४ | | |
| पादाहतं यदुत्थाय ... | ५७३। ५ | प्रियजीवितताम्रैर्य- ... | ३६३। ३ | | |
| पादाघातादशोकस्ते ... | ४०६। १३ | प्रेमाद्राः प्रणयस्पृशः ... | १७१। १३ | | |
| पान्तु वो जलदश्यामाः | ५२३। ६ | प्रोज्ज्वलज्ज्वलनज्ज्वाला | ४०३। १० | | |
| पारेजलं नीरनिधेरपश्य- | ५४५। ११ | य | | | |
| पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि | ५७५। ५ | बलमार्तभयोपशान्तये | ६०३। १३ | | |
| पुरिते रोदसी ... | ४३८। १३ | बैलावलेपादधुनापि, ... | ५५२। १४ | | |
| पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशाः | ११७। १४ | बालभ णाहं वृत्ती ... | ५८७। १३ | | |
| पृथुकार्तस्त्रपात्रं ... | ४३५। २ | बैले नाय विमुञ्च ... | ११३। १८ | | |
| पृथिवि स्थिरा भव ... | ५८२। २ | बृहत्सहायः कार्यान्तं... | ५८१। २ | | |
| प्रज्वलजलधारावत् ... | ४२६। १ | मौद्वाणातिकमत्यागो ... | २४३। ३ | | |
| प्रणमत्युज्जतिहेतोः... | ५९५। ९ | भ | | | |
| प्रणयिसखीसलीलपरिहास- | १५०। ६ | भक्तिभवे न विभवे ... | ६०३। ११ | | |
| प्रतिकूलतामुपगते ... | ४८५। ४ | भैमं भीमेन भवतो ... | २९०। ११ | | |
| प्रयागे तव राजेन्द्र ... | ५५६। १६ | भैम धम्मिभ वीरयो | २०९। ९ | | |
| प्रवर्तयन्क्रियाः सार्व्वीः | ५७०। ६ | भैलपयर्जितेस्तेषां ... | ५१६। ७ | | |
| प्रैष्टुदं यद्वैरं मम खलु | ३०२। ८ | भावि पद्म सरोवरे ... | ३८२। २ | | |
| प्रससार घनैर्वायुः ... | ३८१। ४ | भौतुः सकृद्युक्तुरा ... | ४१५। ९ | | |
| प्रसाधय पुरीं लङ्का ... | ३४१। ६ | भिसिणीभलसभणीए | १७२। १७ | | |
| प्रसौधिकालम्बितमम्रपादं | १३७। १६ | भिक्षो मांसनिषेवणं ... | ३६०। १३ | | |
| प्रैस्थानं वलयैः कृत ... | १७९। ७ | भुक्तिमुक्तिद्वेकान्त- | २२४। ५ | | |
| आगेव हरिणाक्षीणां ... | ५५०। १० | भुजङ्गकुण्डली ... | ४७३। ३ | | |
| प्राणप्रयाणदु र्त्तार्त- ... | ३५०। २ | भूतयेऽस्तु भवानीशः | ३८५। ४ | | |
| प्रीतिशेन प्रहितनखरेष्वज- | १५७। ५ | भूमी क्षिप्तं शरीरं ... | ३१९। १६ | | |
| प्रीतिभं प्रसरकेण गतानां | १४९। ४ | भूयः परिभवह्लाग्निसलजा | ३०५। ९ | | |
| प्रीतिवेकरयाकटौ पृच्छन्तौ | ३१३। ८ | भो लङ्केश्वर दीयतां जनकजा | १८९। ५ | | |

१. शिशुपालवधे । २. शिशुपालवधे । ३. शिशुपालवधे । ४. भृष्टदृष्टके । ५. वेणी-
संहारे । ६. बालरामायणे । ७. मालवीमाधवे । ८. शिशुपालवधे । ९. वेणीसंहारे ।
१०. रघुवधे कुमारसंभवयोः । ११. अमरुतके । १२. विश्वनाथस्य । १३. शिशुपालवधे ।
१४. वेणीसंहारे । १५. वेणीसंहारे । १६. मालवीमाधवे । १७. शिशुपालवधे । १८. अ-
मरुतके । १९. शिशुपालवधे । २०. महावीरचरिते । २१. वेणीसंहारे । २२. माथा-
सप्तशल्याम् । २३. रघुवधे । २४. अमिहानशाकुन्तले । २५. विश्वनाथस्य । २६. राना-
नकरव्यफस्य भीकण्ठस्त्रवे । २७. वेणीसंहारे । २८. वेणीसंहारे । २९. बालरामायणे ।

| | पृ. प. | पृ. प. | पृ. प. |
|---------------------------|---------|---------------------------|---------|
| लौक्यलेनाभिहंसः ... | ६१५। ११ | विपिने कञ्जटानिवन्धनं | १८५। ७ |
| लावण्यमधुभिः पूर्णः— | ५२४। ७ | विपुलेन सामरशयस्य | ५९४। १२ |
| लावण्यं यदसौ कान्तिः | २२३। २ | विभाति मृगशावाक्षी | ३९३। १३ |
| लिम्पतीव तमोऽङ्गानि | ५४३। १६ | विमल एव रविर्विशदः | ५५४। ८ |
| लीलागतैरपि तरङ्गयतो | ३१२। २ | विरहे तव तन्वन्निः ... | ५८८। १ |
| | | विलोप्य सवाष्पः ... | ६०५। ८ |
| वक्रस्पन्निस्त्रेद ... | ६१३। १२ | विलोकनेनैव तवामुना | १९८। १० |
| वदनमिदं न सरोजं ... | ५३८। २ | विलोक्य वितले व्योम्नि | ४९२। १८ |
| वदनाम्बुजमेणाक्षया ... | ६३०। २४ | विरूपाक्षी शैलमुतापि | १२८। ११ |
| वदनं मृगशावाक्षया ... | ५१३। ७ | विस्मयैरागादधराजिवर्तितः | ६०१। १० |
| वैतस्य मे प्रकृतिः— | ३४८। २ | विस्मयं सुन्दरि ... | ३२४। १४ |
| वैनेचराणां वनितासयानां | ५३०। ६ | वीक्षितुं न क्षमा श्रद्धः | ६०४। ६ |
| वनेऽखिलकलासफाः | ६१९। १० | वेदोन्तेषु वमाहुरेकपुरुषं | २८०। २ |
| वर्ण्यते किं महासेनो ... | ३९५। २ | वृद्धोऽन्धः पतिरेव मयकमतः | १४८। २ |
| वर्षसेतदहर्पतिर्ननु चनो | ४१४। ६ | व्यतिक्रमलवं ... | ४०७। ११ |
| वल्लभोरसस्रस्रजेन ... | ५९१। ८ | वैद्यपोहिणं लोचयतो ... | १३८। १६ |
| वैसन्तलेखैकनिबद्धभावं— | ५५५। ८ | व्याजस्तुतिस्त्व... .. | ५७८। १ |
| वाचमुवाच कौरवः ... | ३९९। ११ | व्याधूय यद्वसन ... | ५६३। ६ |
| वाणीरकुडहृणीणसवणि | २४४। ९ | श | |
| वाप्यो भवन्ति विमलाः | ५९९। ११ | शैथान्यस्याः | १००। ६ |
| वारिजेनेष सरसी ... | ५१८। ६ | शशिनमुपगतयेयं ... | ५९५। २ |
| वासवाशामुखे माति ... | ४०४। ५ | शैशो दिवसधूसरो ... | ६०७। १४ |
| विकसन्नेननीलाब्जे ... | ४८९। ३ | शिवरिणि क नु नाम ... | २१८। ९ |
| विकसितमुखी रागासङ्गात् | ५६४। ४ | शिरसि धृतमुरापगे ... | २७९। १ |
| विद्यरन्ति विलासिन्यो ... | ६०१। ८ | शिरौमुखेः स्फन्दित एव | १८९। १० |
| विद्वरे केयूरे कुठ ... | १२३। ९ | शिरीषमृद्धी गिरिषु ... | ५२१। ९ |
| विधवति मुखान्नमस्या | ५१४। २ | शीताशुर्मुखमुत्पले... .. | ३१२। ८ |
| विनयति सुदृशो दृशोः परमं | १७६। १२ | शुश्रूषत गुरुन्कुरु ... | २३९। ६ |
| विना जलदकालेन ... | ५६२। ७ | शैत्यं वासपट्टं ... | २३। १ |

१. विशनाथस्य । २. जानकीरायणे । ३. वेणीसंहारे । ४. कुमारसंभवे । ५. विश-
नाथस्य । ६. विशनाथस्य । ७. रायमानन्दस्य चाटके । ८. शिशुपालवधे । ९. विशनाथस्य
रायविलासे । १०. रघुवधे । ११. शिशुपालवधे । १२. कुमारसंभवे । १३. कुमारसं-
भवे । १४. माणविकान्याम् । १५. विक्रमोद्भवाम् । १६. किराणाजुनीये । १७. अमरक-
वके । १८. रघुवधे । १९. अरुणवधे । २०. चन्द्रसेखरस्य पुष्पमालाधाम् । २१. श्रीहर्ष-
देवस्य नागानन्दे । २२. रत्नावल्याम् । २३. अतिशयान्याकुण्ठके । २४. अमरकवके ।

| | पृ. | प. | | पृ. | प. |
|---------------------------|------|----|------------------------------|------|----|
| श्रुता अभरतां यावन्ति... | ३८१। | ६ | समाश्लिष्टाः समाश्लेषैः | १३०। | १३ |
| शोफालिकां विदलितां | १८३। | ६ | समीक्ष्य पुत्रस्य विराट्पिता | १६०। | २ |
| शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमान... | ६१५। | २ | सैरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि | १३०। | ६ |
| शोणं वीक्ष्य मुखं ... | ९९। | ६ | सरसं कर्णं कव्वं ... | ४८४। | १२ |
| श्रैवणैः पेयमनेकैः ... | २७६। | १० | सरागया क्षुतघन- | ४४३। | ६ |
| श्रीपरिचयाज्जडा अपि | ५३। | २ | सरो विकसिताम्भोज | ५९९। | ५ |
| श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः | ३०८। | १४ | सर्वक्षितिमृतां नाथ ... | ३५९। | १७ |
| श्रीहर्षो निपुणः कविः | २८३। | १० | सर्वस्वं हर सर्वस्य ... | ४८७। | ५ |
| श्रुताप्सरोगीतिरपि ... | १०६। | १६ | स वः शशिकलामौलिः | ३९३। | ९ |
| श्रुतं कृतधियां सप्तात् | ५९८। | १० | सहकारः सदा मोदो ... | ५७५। | १ |
| श्रुत्वा मान्तं बहिः ... | १३५। | ३ | सैहं कुमुदकदम्बैः ... | ५६१। | २ |
| श्रौसान्मुच्यति भूतले ... | १३६। | ११ | सै हृत्वा वालिनं वीरः | ३९३। | ७ |
| स | | | सैहं मृग्यगणं सवान्धवं | ३४०। | १४ |
| स एकलीणि जयति ... | ५९०। | ७ | सहसामिजनैः क्षिरधै. | ४२६। | १० |
| स एव सुरभिः कालः | १२८। | ५ | सैहसा विदधीत न ... | ४१६। | ६ |
| सकलकलं पुरमेतत् ... | ४९४। | १ | सहाधरदलेनास्या- | ५४९। | १० |
| सज्जनो दुर्गतो ममः ... | ४१७। | ९ | " " | ५६५। | ११ |
| सज्जेहि सुरदिमासो ... | २१७। | १ | सौन्धानन्दमनन्तमव्यय- | ३७१। | ११ |
| सर्वतीमपि शक्तिकुलैक | ३४८। | ११ | सौ पत्युः प्रथमापराधसमये | १०९। | ७ |
| सैत्पक्षा मधुरगिरः ... | ४९६। | १४ | सौ याला ययमप्रगतभमनसः | ५९२। | ११ |
| सदा चरति जे भातुः | ४१५। | ४ | सायं ज्ञानमुपासितं ... | २२५। | ७ |
| सदाशिवं नौमि ... | ३९९। | ६ | सार्धैर्वानर्थकपदं ... | १५४। | १४ |
| सदैव शोणोपलकुण्डलस्य | ६११। | ९ | सौधं मनोरथशते- | ११४। | ४ |
| सद्योमुग्धितमस्त ... | ४६४। | ८ | सुचरणविनिधिः ... | ४५९। | १ |
| सद्यः करस्पर्श- | ५९३। | ८ | सुतलु जहिहि कोपं ... | २०३। | २ |
| सद्यः पुरीपरिधरेऽपि... | १४८। | ९ | सुधेव विमलशम्भुः ... | ४२७। | ११ |
| सद्दशसमयः श्रद्धः ... | ३३५। | १६ | सुनयने नयने ... | ४३३। | १९ |
| सममेव नराधिपेन ... | ५६१। | ७ | सुभय इतरकथारम्भे ... | १३४। | ५ |
| सममेव समाक्रान्तं ... | ५५०। | १३ | सुभगे कोटिसंख्यत्वमुपेक्ष्य | २१८। | १३ |
| समय एव करोति ... | ४०६। | १५ | | | |

१. विश्वनाथस्य । २. विश्वनाथस्य । ३. बालरामायणे । ४. रत्नावल्याम् । ५. रत्ना-
वल्याम् । ६. कुमारसंमवे । ७. विश्वनाथस्य । ८. अभिज्ञानशाकुन्तले । ९. वेणीसंहारे ।
१०. रघुवधे । ११. रघुवधे । १२. शिशुपालवधे । १३. अभिज्ञानशाकुन्तले । १४. वि-
क्रमोर्वदयाम् । १५. विश्वनाथस्य । १६. रघुवधे । १७. वेणीसंहारे । १८. किराताजु-
नीये । १९. विश्वनाथस्य । २०. अमरकण्ठके; दुभाषितावली तु स्त्रीकाचन्द्रस्य । २१.
अमरकण्ठके; दुभाषितावली तु कल्याणदत्तस्य । २२. गृध्रादिकके । २३. अमरकण्ठके ।

| पृ. प. | पृ. प. |
|--|-----------------------------------|
| सैचीमुखेन सकृदेव ... ४५६ । ४ | स्वच्छाम्नाः जपनविधौ १३२ । १३ |
| सौर्याचन्द्रमसौ यस्य ... ३४२ । १६ | स्वपिहि त्वं समीपे मे ४१३ । ६ |
| संघा स्थली यत्र विविन्वता ५४२ । ८ | सौमिन्महुरयाळकं ... ११३ । ३ |
| सौर्जेन्याम्बुमरुस्थली ... ५२६ । १७ | सौमी नि.श्वसिते ... ११६ । ४ |
| सौरभमम्भोरुह- ... ५०७ । १ | सौमी मुग्धतरो वनं ... २०० । ७ |
| संकेतकालमनसं ... ६८ । ९ | स्वेच्छोपजातविषयोऽपि ४९३ । ९ |
| ” ” ... ६१४ । ३ | ह |
| सगमविरहविकल्पे ... ५३२ । १३ | हृते जरति गात्रेये ... ३४३ । १३ |
| समाने निहताः क्षरा ... ३९५ । ६ | हर्षमदाद्यैर्वक्षसा ... ५६० । ४ |
| सततमुसलासङ्गात् ... ५९१ । ४ | हन्त सततमेतस्या ... ४०२ । १ |
| सधौ सर्वस्वहरणं ... २४४ । १ | हन्त सान्द्रेण रानेण ... ६१२ । ९ |
| सप्रति सभ्यासमयः ... ४३६ । १० | हन्त हन्त गतः कान्तो ४३३ । १५ |
| स्वनयुगमुक्ताभरणाः ... ५७७ । ५ | हर्षमेव प्रवृत्तस्य ... ४१४ । ३ |
| स्वनावद्विषमानो ते ... ४२६ । ५ | हरन्ति हृदयं यूनां ... ४१३ । १० |
| स्वोक्तेनोद्यतिनायाति ... ४९२ । १ | हरवशीलकण्ठोऽयं ... ४२६ । ४ |
| स्थिताः क्षणं पक्ष्मस्तु ... ६०१ । ४ | हर्षस्तु किञ्चित्- ... ११९ । २ |
| स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरमुता ९८ । १८ | हसति परितोपरहितं ... ३३८ । १४ |
| श्लिग्धश्यामलकान्ति- ५४ । १ | हर्षं पूर्णचन्द्रमुचि ... ३१७ । १ |
| रुद्राष्टा नन्दने शच्या ५७८ । ७ | हारोऽयं हरिणाक्षिणा ६०५ । ६ |
| सरदारशवविधुराया ... ५८७ । ७ | हिताय यः सम्भृणुते ... ४११ । ३ |
| सरालम्ब. कदा ... ३८९ । ६ | हिमयुक्तचन्द्र ... ३२० । ७ |
| स्मितेनोपामनं दूरात् ... ५२६ । ३ | हीरकाणां विधेरस्य ... ४१८ । ६ |
| सौरं विधाय नयनं ... ५१७ । ३ | हृदि विखलता हारो ... ५३८ । ५ |
| सौररात्रीयनयने ... ४७८ । २ | हंसचन्द्र इवाभाति ... ५१८ । ९ |
| सैनियं यदि जीवितापहा ५७३ । ९ | हृदो धीरसमीर- ... ६०७ । ६ |

भाषाततः प्रेषापयमाह्वानां कवीनां प्रवन्धानां चाभिधानैः समेतायावन्नुक्तमनिका समाप्तेति शिवम् ॥

१. शृण्वन्तस्य सहरयानन्दे । २. विक्रमोर्वशाम् । ३. रघुवधे । ४. विध-
नायस (I) । ५. कुमारसंभवे । ६. मेघदूतः । ७. रघुवधे । ८. शिशुपालवधे ।
९. शृण्वन्तस्य । १०. विद्याधनस्य । ११. विश्वनाथस्य । १२. नेपथीसंहारे ।
१३. नेपथीयचरिते । १४. भागवतकाव्ये । १५. कुमारसंभवे । १६. विश्वनाथस्य
प्रभावनाम् । १७. विश्वनाथस्य ।

॥ श्रीः ॥

अथाग्नेयपुराणीयाः साहित्यविषयाः ।

तत्र काव्यादिलक्षणम् ।

अग्निरुवाच—

काव्यस्य नाटकादेश्च-अलंकारान् वदाम्यहम् ।
ध्वनिवर्णः पदं वाक्यमित्येतद् वाङ्मयं मतम् ॥ १ ॥
शास्त्रेतिहासवाक्यानां त्रयं यत्र समाप्यते ।
शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठता ॥ २ ॥
अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ।
नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ॥ ३ ॥
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा ।
व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः ॥ ४ ॥
सर्वं शास्त्रमविद्धि(श्च)मृग्यमाणं न सिद्ध्यति ।
आविर्गणां द्वितीयाश्च महाप्राणास्तुरीयकः ॥ ५ ॥
वर्णेषु वर्णवृन्दं स्यात्पदं सुप्तिद् त्वमेदतः ।
संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥ ६ ॥
काव्यं स्फुटदलंकारं गुणबहोपवर्जितम् ।
योनिर्वेदश्च लोकश्च सिद्धिमन्नादयोनिजम् ॥ ७ ॥
वेद्यादीनां संस्कृतं स्यात्प्राकृतं त्रिविधं नृणाम् ।
गद्यं पद्यं च मिथं च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम् ॥ ८ ॥
अपदः पदसंतानो गद्यं तदपि गद्यते ।
चूर्णकोत्कलिकागन्धिवृत्तमेदात्रिरूपकम् ॥ ९ ॥
अल्पाल्पविग्रहं नाति मृदु संदर्भनिर्भरम् ।
चूर्णकं नामतो दीर्घसमासात्कलिका भवेत् ॥ १० ॥
भवेन्मध्यमसंदर्भं नातिकृत्सितविग्रहम् ।
वृत्तच्छायाहरं घृत्तसंधिनैतत्किलोत्कटम् ॥ ११ ॥
आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा ।
कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यं च पञ्चधा ॥ १२ ॥
कर्तृयंशप्रशंसा स्याद्यत्र गद्येन विस्तयात् ।
कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भविपत्तयः ॥ १३ ॥
भवन्ति यत्र दीप्ताश्च रीतिघृत्तिप्रवृत्तयः ।
उच्छ्वासेश्च परिच्छेदो यत्र या चूर्णकोत्तरा ॥ १४ ॥

1. यद्यपीदमाग्नेयं काव्यादिलक्षणं विशुद्धपुस्तकाभावादिना बहुनासत्तमं तथापि काव्यमीमासाभूतस्यास्य प्रचारोऽस्त्वावश्यक इति पुरस्कृतम् । यथास्य भामहदि-
भिर्विषयो गृहीतस्तथा प्राग्दर्शि (भू. २१ पृ.) ॥

चक्रं वा परचक्रं वा यत्र सार्व्यायिका स्मृता ।
 श्लोकैः स्वचंशं संक्षेपात्कविर्यत्र प्रशंसति ॥ १५ ॥
 मुख्यस्यार्थावताराय भवेद्यत्र कथान्तरम् ।
 परिच्छेदो न यत्र स्याद्भवेद्वा लम्बकैः कचित् ॥ १६ ॥
 सा कथा नाम तद्गर्भे निवधीयाच्चतुष्पदीम् ।
 भवेत्खण्डकथा यासौ यासौ परिकथा तयोः ॥ १७ ॥
 अमात्यं सार्थकं वापि द्विजं वा नायकं विदुः ।
 स्यात्तयोः करुणं विद्धि विप्रलम्भश्चतुर्विधः ॥ १८ ॥
 समाप्यते तयोर्नाद्या सा कथामनुधावति ।
 कथाव्यायिकयोर्मिश्रभावात्परिकथा स्मृता ॥ १९ ॥
 भयानकसुखपरं गर्भं च करुणो रसः ।
 अद्भुतोऽन्ते सुहृत्पाथो नोदात्ता सा कथानिका २० ॥
 पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति त्रिधा ।
 वृत्तमक्षरसंख्येयमुप्यं तत्कृतिशेषजम् ॥ २१ ॥
 मात्राभिर्गणनाप्यत्र सा जातिरिति काश्यपः ।
 सममर्धसमं वृत्तं विपमं पैङ्गलं त्रिधा ॥ २२ ॥
 सा विद्या नैस्तितीर्ण्णां गभीरं काव्यसागरम् ।
 महाकाव्यं कलापश्च पर्यायन्धो विशेषकम् ॥ २३ ॥
 कुलकं मुक्तकं कोप इति पद्यकुटुम्बकम् ।
 सर्गवन्धो महाकाव्यमारब्धं संरुतेन यत् ॥ २४ ॥
 तादात्म्यमजहत्तत्र तत्समं नातिदुष्यति ।
 इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ॥ २५ ॥
 मन्त्रदूतप्रयाणाजिनियतं नातिविस्तरम् ।
 शक्त्यातिजगत्यातिशक्त्या त्रिष्टुभा तथा ॥ २६ ॥
 पुष्पिताग्रादिमिर्येकाभिजनैश्चारुभिः समैः ।
 मुक्ता तु मित्रवृत्तान्ता नातिसंक्षिप्तसर्गकम् ॥ २७ ॥
 अतिशर्करिकाष्टिभ्यामेकसंकीर्णकैः परः ।
 मात्रयाप्यपरः सर्गः प्राशस्त्येषु च पश्चिमः ॥ २८ ॥
 कल्पोऽतिनिद्रितस्तस्मिन्विशेषानादरः सताम् ।
 नगरार्णवशैलतुचन्द्रार्कमपपादपैः ॥ २९ ॥
 उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ।
 दूतीयचनविन्यासैरसतीचरिताद्भुतैः ॥ ३० ॥
 तमसा मरुताप्यन्यैर्विभावैरतिनिर्भरैः ।
 सर्ववृत्तिप्रवृत्तं च सर्वभावप्रभावितम् ॥ ३१ ॥
 सर्वरीतिरसैः पुष्टं पुष्टं गुणविभूषणैः ।
 अत एव महाकाव्यं तत्कर्ता च महाकविः ॥ ३२ ॥

वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।
 पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्य वाग्वक्त्रिम्णि रसाद्गुः ॥ ३३ ॥
 चतुर्वर्गफलं विष्वग्ब्याख्यातं नायकाख्यया ।
 समानवृत्तिनिर्व्यूढः कैशिकीवृत्तिकोमलः ॥ ३४ ॥
 कलापोऽत्र प्रवासः प्रागनुरागाद्द्वयो रसः ।
 सविशेषकं (?) च प्राप्त्यादि संस्कृतेनेतरेण च ॥ ३५ ॥
 श्लोकैरनेकैः कुलकं स्यात्संदानि(कं द्वि)तकानि तत् ।
 मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम् ॥ ३६ ॥
 सूक्तिभिः कविसिंहानां सुन्दरीभिः समन्वितः ।
 कोपो ग्रह्यापरिच्छिन्नः स विदग्धाय रोचते ॥ ३७ ॥
 आभासोपमशक्तिश्च सर्गे यद्भिन्नवृत्तता ।
 मिथं वपुरिति ख्यातं प्रकीर्णमिति च द्विधा ।
 श्रव्यं चैवाभिनेयं च प्रकीर्णं सकलोक्तिभिः ॥ ३८ ॥
 इत्यादिमहापुराणे आग्नेये काव्यादिलक्षणवर्णनं नाम सप्तत्रिंशद-
 धिकत्रिंशततमोऽध्यायः ॥ ३३७ ॥

अथ नाटकनिरूपणम् ।

अभिदधाच—

नाटकं सप्रकरणं द्विम ईहामृगोऽपि वा ।
 द्वेयः समवकारश्च भवेत्प्रहसनं तथा ॥ १ ॥
 व्यायोगमाणवीथ्यङ्कजोटकाम्यथ नाटिका ।
 सङ्कं शिल्पकः कर्णा एको दुर्मेष्टिका तथा ॥ २ ॥
 प्रस्थानं भाणिकाभाणीगोष्ठीहलीशकानि च ।
 काव्यं श्रीगदितं नाट्यरासकं रासकं तथा ॥ ३ ॥
 उल्लास्यकं प्रे(ङ्)क्षणं च सप्तविंशतिरेव तत् ।
 सामान्यं च विशेषश्च लक्षणस्य द्वयी गतिः ॥ ४ ॥
 सामान्यं सर्वविषयं शेषः कापि प्रवर्तते ।
 पूर्वरेङ्गे निवृत्ते द्वौ देशकालानुभावपि ॥ ५ ॥
 रसभावविभावानुभावा अभिनयास्तथा ।
 अङ्कः स्थितिश्च सामान्यं सर्वत्रैवोपसर्पणात् ॥ ६ ॥
 विशेषोऽवसरे वाच्यः सामान्यं पूर्वमुच्यते ।
 त्रिवर्गसाधनं नाट्यमित्याहुः करणं च यत् ॥ ७ ॥
 इतिकर्तव्यता तस्य पूर्वरेङ्गे यथाविधि ।
 नान्दीमुखानि द्वात्रिंशदङ्कानि पूर्वरेङ्गके ॥ ८ ॥

१. इदं नाट्यप्रदिउक्षण भारतीय नाट्यशास्त्रे १८ अध्यायेऽपि । नाट्यशास्त्रस्य
 मूलानि वाक्यानि दर्पणस्य ६ परिच्छेदे छायाया सवाचार्थं न्यस्तानि ॥

देवतानां नमस्कारो गुरुणामपि च स्तुतिः ।
 गोब्राह्मणनृपादीनामाशीर्वादादि गीयते ॥ ९ ॥
 नान्यन्ते सूत्रधारोऽसौ रूपकेषु निबध्यते ।
 गुरुपूर्वकम् वंशप्रशंसा पौरुषं कवेः ॥ १० ॥
 संवन्धायां च काव्यस्य पञ्चैतानेष निर्दिशेत् ।
 नटी चिद्रूपको वापि पारिषाद्विक एव वा ॥ ११ ॥
 सहिताः सूत्रधारेण संलापं यत्र कुर्वते ।
 चित्रैर्वाग्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताशेषिमिर्मिथः ॥ १२ ॥
 आमुखं तच्च विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनापि सा ।
 प्रवृत्तकं कथोद्धातः प्रयोगातिशयस्तथा ॥ १३ ॥
 आमुखस्य त्रयो भेदा बीजांशेषूपजायते ।
 कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत् ॥ १४ ॥
 तदाधयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवृत्तकम् ।
 सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्यार्थभेद वा ॥ १५ ॥
 गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्धातः स उच्यते ।
 प्रयोगेषु प्रयोगं तु सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत् ॥ १६ ॥
 ततश्च प्रविशेत्पात्रं प्रयोगातिशयो हि सः ।
 शरीरं नाटकादीनामिति वृत्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥
 सिद्धमुत्प्रेक्षितं चेति तस्य भेदाद्युभौ स्मृतौ ।
 सिद्धमागमदृष्टं च सृष्टमुत्प्रेक्षितं कवेः ॥ १८ ॥
 बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ।
 अर्थमकृतयः पञ्च पञ्च चेष्टा अपि क्रमात् ॥ १९ ॥
 प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च प्राप्तिः सङ्गाद्य एव च ।
 नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः ॥ २० ॥
 मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्शश्च तथैव च ।
 तथा निर्वहणं चेति क्रमात्पञ्चैव संधयः ॥ २१ ॥
 अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यत्प्रसर्पति ।
 फलावसानं यच्चैव बीजं तदभिधीयते ॥ २२ ॥
 यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा ।
 कान्ये शरीरानुगतं तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥ २३ ॥
 इष्टस्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ।
 रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गुह्यानां चैव गूहनम् ॥ २४ ॥
 आश्चर्यचदभिरूपातं प्रकाशानां प्रकाशनम् ।
 अङ्गहीनं नरो यद्वन्न श्रेष्ठं काव्यमेव च ॥ २५ ॥
 देशकालौ विना किञ्चिन्नैविवृत्तं प्रवर्तते ।
 अतस्तयो रूपादाननियमात्पदमुच्यते ॥ २६ ॥

देशे तु भारतं वर्षं काले कृतयुगत्रयम् ।
 नर्ते ताभ्यां प्राणभृतां सुखदुःखोदयः क्वचित् ।
 सर्गे सर्गादिवार्ता च प्रसज्जन्ती न दुष्यति ॥ २७ ॥
 इत्यादिमहापुराणे आग्नेये नाटकनिरूपणं नामाष्टत्रिंशदधिक-
 त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३३८ ॥

अथ शृङ्गारादिरसनिरूपणम् ।

अग्निरुवाच—

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमलं विभुम् ।
 वेदान्तेषु चदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥ १ ॥
 आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन ।
 व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ॥ २ ॥
 आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः ।
 ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम् ॥ ३ ॥
 अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी ।
 व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते ॥ ४ ॥
 तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः ।
 स्वस्वस्थायिपिशोपोत्थपरिपोषस्वलक्षणाः ॥ ५ ॥
 सत्त्वादिगुणसंताना जायन्ते परमात्मनः ।
 रागाद्भवति शृङ्गारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात्प्रजायते ॥ ६ ॥
 वीरोऽवष्टम्भजः संकोचभूर्वीभत्स उच्यते ।
 शृङ्गाराज्जायते हासो रौद्रास्तु करुणो रसः ॥ ७ ॥
 वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्वाद्रीभत्साद्भयानकः ।
 शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ॥ ८ ॥
 बीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो (?) रसाः ।
 लक्ष्मीरिव विना त्यागाच्च धाणी भाति नीरसा ॥ ९ ॥
 अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
 यथा वै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥ १० ॥
 शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
 स चेत्कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत् ॥ ११ ॥
 न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।
 भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति ॥ १२ ॥
 स्थायिनोऽष्टौ रतिमुपाः स्तम्भाद्या व्यभिचारिणः ।
 मनोनुकूलेऽनुभवः सुखस्य रतिरिष्यते ॥ १३ ॥
 हर्षादिमिश्र मनसो विकासो हास उच्यते ।
 चित्रादिदर्शनाच्चेतोवैकल्यं तुचते भयम् ॥ १४ ॥

जुगुप्सा च पदार्थानां निन्दादौर्भाग्यवाहिनाम् ।
 विस्रयोऽतिशयेनार्यदर्शनाच्चित्तविस्मृतिः ॥ १५ ॥
 अष्टौ स्तम्भादयः सत्त्वाद्रजसस्तमसः परम् ।
 स्तम्भधेष्टप्रतीघातो भयरागाद्युपाहितः ॥ १६ ॥
 भयरागाद्युपेतान्तःक्षोभजन्म वपुर्जलम् ।
 खेदो हर्षादिमिर्वेदोच्छ्वासोऽन्तःपुलकोद्गमः ॥ १७ ॥
 हर्षादिजन्मवाग्मङ्गः स्वरमेदो भयादिभिः ।
 मतोपैक्यव्यसिच्छन्ति शोकमिष्टक्षयादिभिः ॥ १८ ॥
 क्रोधस्तैक्ष्ण्यप्रबोधश्च प्रतिकूलानुकारिणि ।
 पुरुषार्थसमाप्त्यर्थो यः स उत्साह उच्यते ॥ १९ ॥
 चित्तक्षोभभयोत्तम्भो वेपथुः परिकीर्तितः ।
 वैषम्यं च विषादादिजन्मा कान्तिविपर्ययः ॥ २० ॥
 दुःखानन्दादिजं नेत्रजलमश्रु च विध्रुतम् ।
 इन्द्रियाणामस्तमयः प्रलयो लङ्घनादिभिः ॥ २१ ॥
 वैराग्यादिर्मनःखेदो निर्वेद इति कथ्यते ।
 मनःपीडादिजन्मा च सादो ग्लानिः शरीरगा ॥ २२ ॥
 शङ्कानिष्टागमोत्प्रेक्षा स्यादसूया च मत्सरः ।
 मदिरापुपभोगोत्थं मनःसंमोहनं मदः ॥ २३ ॥
 क्रियातिशयजन्मान्तः शरीरोत्थक्रमः भ्रमः ।
 शृङ्गारादिक्रियाद्वेषश्चित्तस्यालस्यमुच्यते ॥ २४ ॥
 वैभ्यं सत्त्वादपभ्रंशश्चिन्तार्थपरिभावनम् ।
 इतिकर्तव्यतोपायादर्शनं मोह उच्यते ॥ २५ ॥
 स्मृतिः स्यादनुभूतस्य वस्तुनः प्रतिविम्बनम् ।
 मतिरर्थपरिच्छेदस्तत्त्वज्ञानोपनायितः ॥ २६ ॥
 व्रीडानुरागादिभवः संकोचः कोऽपि चेतसः ।
 भवेच्चपलतास्यैव हर्षश्चित्तप्रसङ्गता ॥ २७ ॥
 आवेशश्च प्रतीकारः श(स)यो वैधुर्यमात्मनः ।
 कर्तव्ये प्रतिभाभ्रंशो जडतेत्यभिधीयते ॥ २८ ॥
 इष्टप्राप्तेरुपचितः संपदाम्युदयो धृतिः ।
 गर्वः परेष्ववज्ञानमात्मन्युत्कर्षभावना ॥ २९ ॥
 भवेद्विषादो दैवादेर्विघातोऽभीष्टवस्तुनि ।
 औत्सुक्यमीप्सिताप्राप्तेर्वाञ्छया तरला स्थितिः ॥ ३० ॥
 चित्तेन्द्रियाणां स्तैमित्यमपसारोऽचला स्थितिः ।
 युद्धे याधादिभिस्त्रासो वीप्सा चित्तचमत्कृतिः ॥ ३१ ॥
 क्रोधस्याप्रशमोऽमर्षः प्रबोधश्चेतनोदयः ।
 अथहित्यं भवेदुत्तिरिङ्गिताकारगोचर ॥ ३२ ॥

रोपतो गुरुचाम्दण्डपारुष्यं विदुरुग्रताम् ।
 ऊहो वितर्कः स्याद् व्याधिर्मनोवपुरवग्रहः ॥ ३३ ॥
 अनिवद्धप्रलापादिरुन्मादो मदनादिभिः ।
 तत्त्वज्ञानादिना चेतः कपायोपरमः शमः ॥ ३४ ॥
 कविभिर्योजनीया वै भावाः काव्यादिके रसाः ।
 विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते ॥ ३५ ॥
 विभावो नाम स द्वेधाऽऽलम्बनोद्दीपनात्मकः ।
 रत्यादिर्भाववर्गोऽयं यमाजीव्योपजायते ॥ ३६ ॥
 आलम्बनविभावोऽसौ नायकादिभवस्तथा ।
 धीरोदात्तो धीरोद्धतः स्याद्धीरललितस्तथा ॥ ३७ ॥
 धीरप्रशान्त इत्येवं चतुर्धा नायकः स्मृतः ।
 अनुकूलो दक्षिणश्च शठो धृष्टः प्रवर्तितः ॥ ३८ ॥
 पीठमदो विटश्चैव विदुपक इति त्रयः ।
 शृङ्गारे नर्मसचिवा नायकस्यानुनायकाः ॥ ३९ ॥
 पीठमदः संघलकः धीमोस्तद्देशजो विटः ।
 विदुपको वैद्वसिकस्त्वष्ट नायकनायिकाः ॥ ४० ॥
 स्वकीया परकीया च पुनर्भूरिति कौ(के)शिकाः ।
 सामान्या(हि)न पुनर्भूरित्याद्या यदुभेदतः ॥ ४१ ॥
 उद्दीपनविभावास्ते संस्कारैर्विविधैः स्मृतैः ।
 आलम्बनविभावेषु भावानुद्दीपयन्ति ये ॥ ४२ ॥
 चतुःपष्टिकला द्वेधा कर्माद्यैर्गातकादिभिः ।
 कुड्मकं स्मृतिरन्येषां प्रायो हासोपकारकः ॥ ४३ ॥
 आलम्बनविभावस्य भावैरुद्बुद्धसंस्कृतैः ।
 मनोधागुद्विघपुषां स्मृतीच्छाद्वेपयन्ततः ॥ ४४ ॥
 आरम्भ एव विदुषामनुभाव इति स्मृतः ।
 स चानुभूयते चात्र भवत्युत निरुच्यते ॥ ४५ ॥
 मनोव्यापारभूयिष्ठो मनआरम्भ उच्यते ।
 द्विविधः पौरुषः स्त्रेण ईदृशोऽपि प्रसिद्धयति ॥ ४६ ॥
 शोभा विलासो माधुर्यं स्थैर्यं गाम्भीर्यमेव च ।
 ललितश्च तथौदार्यं तेजोऽष्टाविति पौरुषाः ॥ ४७ ॥
 नीचनिन्दोत्तमस्पर्धा शौर्यं दाक्ष्यादिकारणम् ।
 मनोधर्मं भवेच्छोभा शोभते भवनं यथा ॥ ४८ ॥
 भावो हावश्च ह्वेला च शोभा कान्तिस्तथैव च ।
 दीप्तिर्माधुर्यशौर्यं च प्रागल्भ्यं स्यादुदारता ॥ ४९ ॥
 स्थैर्यं गम्भीरता स्त्रीणां विभावा द्वादशेरिताः ।
 भावो विलासो हावः स्याद् भावः किञ्चिद्द्वर्पजः ॥ ५० ॥

घाचोयुक्तिर्भवेद्वागारम्भो द्वादश एव सः ।
 तत्राभाषणमालापः प्रलापो वचनं बहु ॥ ५१ ॥
 विलापो दुःखवचनमनुलापोऽसहद्वयः ।
 संलाप उक्तप्रत्युक्तमपलापोऽन्यथावचः ॥ ५२ ॥
 वार्ता प्रयाणं संदेशो निर्देशः प्रतिपादनम् ।
 तत्त्वादेशोऽतिदेशोऽयमपदेशोऽन्यवर्णनम् ॥ ५३ ॥
 उपदेशश्च शिक्षावाग्व्याजोक्तिरपदेशकः ।
 बोधाय (?) एष व्यापारः सुबुद्धयारम्भ इष्यते ।
 तस्य भेदास्त्रयस्ते च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः ॥ ५४ ॥
 इत्यादिमहापुराणे आग्नेये शृङ्गारादिरसनिरूपणं नामैकोन-
 चत्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३३९ ॥

अथ रीतिनिरूपणम् ।

अग्रिरुपाच—

पाण्डिचासंप्रतिष्ठाने रीतिः सापि चतुर्विधा ।
 पाञ्चाली गौडदेशीया वैदर्भी लाटजा तथा ॥ १ ॥
 उपचारयुता मृद्वी पाञ्चाली ह्रस्वविग्रहा ।
 अनवस्थितसंदर्भा गौडीया दीर्घविग्रहा ॥ २ ॥
 उपचारैर्न बहुभिरुपचारैर्विजिता ।
 नातिकोमलसंदर्भा वैदर्भी मुक्तविग्रहा ॥ ३ ॥
 लाटीया स्फुटसंदर्भा नातिविस्फुटविग्रहा ।
 परित्यक्तापि भूयोभिरुपचारैरुदाहृता ॥ ४ ॥
 क्रियासविपमा धृतिर्भारत्यारम्भटी तथा ।
 कैशिकी सात्त्वती चेति सा चतुर्धा प्रतिष्ठिता ॥ ५ ॥
 वाक्प्रधाना नरमाया स्त्रीयुक्ता प्राकृतोक्तिता ।
 भरतेन प्रणीतत्वाद् भारती रीतिरुच्यते ॥ ६ ॥
 चत्वार्यङ्गानि भारत्या वीथी प्रहसनं तथा ।
 प्रस्तावना नाटकादेर्वाथ्यङ्गानि त्रयोदश ॥ ७ ॥
 उदात्तकं तथैव स्यात्तुपितं स्याद् द्वितीयकम् ।
 अस्तप्रलापो वाक्प्रेषी नालिका चिपणं तथा ॥ ८ ॥
 व्याहारस्त्रिमतं चैव च्छलायस्कन्दिते तथा ।
 गण्डोऽथ मृदवश्चैव त्रयोदशमथोचितम् ॥ ९ ॥
 तापसादेः प्रहसनं परिहासपरं यचः ।
 मायेन्द्रजालयुजादिवज्रुलारम्भटी स्मृता ।
 संहिंसकारपातो च यस्तूत्थापनमेव च ॥ १० ॥

इत्यादिमहापुराणे आग्नेये रीतिनिरूपणं नाम चत्वारिंश-
 दधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४० ॥

अथ नृत्यादावङ्गकर्मनिरूपणम् ।

अग्निरुवाच—

चेष्टाविशेषमप्यङ्गप्रत्यङ्गे कर्म चानयोः ।
 शरीरारम्भमिच्छन्ति प्रायः पूर्वोऽवलाश्रयः ॥ १ ॥
 लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिंचितम् ।
 मोहायितं कुट्टमितं विव्वोको ललितं तथा ॥ २ ॥
 विरुतं श्रीडितं केलिरिति द्वादशधैव सः ।
 लीलेष्टजनचेष्टानुकरणं संवृतक्षये ॥ ३ ॥
 विशेषं दर्शयन्किंचिद् विलासः सद्भिरिष्यते ।
 हसितरुन्दितादीनां संकरः किलकिंचितम् ॥ ४ ॥
 चिकारः कोऽपि विव्वोको ललितं सौकुमार्यतः ।
 शिरः पाणिहरः पार्श्वं कटिरङ्गिरिति क्रमात् ॥ ५ ॥
 अङ्गानि भूलतादीनि प्रत्यङ्गान्यभिजानते ।
 अङ्गप्रत्यङ्गयोः कर्म प्रयत्नजनितं विना ॥ ६ ॥
 न प्रयोगः कचिन्मुखं तिरस्त्रीनं च तत्कचित् ।
 आकम्पितं कम्पितं च धृतं विधूतमेव च ॥ ७ ॥
 परिबाहितमाधूतमवधूतमथाचितम् ।
 निकुञ्चितं परावृत्तमुखिक्षप्तं चाप्यधोगतम् ॥ ८ ॥
 ललितं चेति विज्ञेयं त्रयोदशविधं शिरः ।
 भ्रूकर्म सप्तधा ज्ञेयं पातने भ्रूकुटीमुखम् ॥ ९ ॥
 दृष्टिस्त्रिधा रसस्थायिसंचारिप्रतियन्धना ।
 पद्मत्रिशङ्गेदविधुरा रसजा तत्र चाष्टधा ॥ १० ॥
 नवधा तारकाकर्म भ्रमणं चलनादिकम् ।
 पोढा च नासिका ज्ञेया निःश्वासो नवधा मतः ॥ ११ ॥
 पोढौष्ठकर्मकं पापं सप्तधा चिबुकक्रिया ।
 कलुषादि(मु)सुप्तं पोढा ग्रीवा नवविधा स्मृता ॥ १२ ॥
 असंयुतः संयुतश्च भूम्ना हस्तः प्रमुच्यते ।
 पताकस्त्रिपताकश्च तथा ये कर्तरीमुखः ॥ १३ ॥
 अर्धचन्द्रोत्करालश्च शुकतुण्डस्तथैव च ।
 मुष्टिश्च शिखरश्चैव कपित्थः खेटकामुखः ॥ १४ ॥
 सूच्यास्यः पद्मकोपोऽहिशिराः स मृगशीर्षकः ।
 फास्वूलकालपसौ च चतुरभ्रमरौ तथा ॥ १५ ॥
 हंसास्यहंसपक्षौ च संदंशमुकुलौ तथा ।
 ऊर्णेनाभस्ताम्रचूडश्चतुर्विंशतिरित्यमी ॥ १६ ॥
 असंयुतकराः प्रोक्ताः संयुतास्तु त्रयोदश ।
 अञ्जलिश्च कपोतश्च कर्कटः स्वस्तिकस्तथा ॥ १७ ॥

कटको वर्धमानश्चाप्यसङ्को निपधस्तथा ।
 दोलः पुष्पपुटश्चैव तथा प्रकर एव च ॥ १८ ॥
 गजदन्तो वह्निस्तम्भो वर्धमानोऽपरे कराः ।
 उरः पञ्चविधं स्यात्तु(?) आभुग्ननर्तनादिकम् ॥ १९ ॥
 उदरं दुरतिक्षामं खण्डं पूर्णमिति त्रिधा ।
 पार्श्वयोः पञ्च कर्माणि जङ्घाकर्म च पञ्चधा ।
 अनेकधा पादकर्म नृत्यादौ नाटके स्मृतम् ॥ २० ॥
 इत्यादिमहापुराणे आग्नेये नृत्तादाचङ्ककर्मनिरूपणं नामैक-
 त्वारिशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४१ ॥

अथाभिनयादिनिरूपणम् ।

अग्निहोत्र—

आभिमुख्यं नयत्यर्धान्विक्षेपोऽभिनयो बुधैः ।
 चतुर्धा संभवः सत्त्वचागङ्गाहरणाश्रयः ॥ १ ॥
 स्तम्भादिः सात्त्विको वागारम्भो वाचिक आङ्गिकः ।
 शरीरारम्भ आहार्यो बुद्ध्यारम्भप्रवृत्तयः ॥ २ ॥
 रसादिविनियोगोऽथ कथ्यते ह्यभिमानतः ।
 तमन्तरेण सर्वेषामपार्थेय स्वतन्त्रता ॥ ३ ॥
 संभोगो विप्रलम्भश्च शृङ्गारो द्विविधः स्मृतः ।
 प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च तावपि द्विविधौ पुनः ॥ ४ ॥
 विप्रलम्भाभिधानो यः शृङ्गारः स चतुर्विधः ।
 पूर्वानुरागमानाश्रयः प्रवासकरुणात्मकः ॥ ५ ॥
 यत्तेभ्योऽन्यतरं जायमानसंभोगलक्षणम् ।
 विवर्तते चतुर्थेव न च प्रागतिवर्तते ॥ ६ ॥
 स्त्रीपुंसयोस्तदुदयस्तस्य निर्वर्तिका रतिः ।
 निखिलाः सात्त्विकास्तत्र वैवर्ण्यप्रलयौ विना ॥ ७ ॥
 धर्मार्थकाममोक्षैश्च शृङ्गार उपचीयते ।
 बालम्यनविशेषैश्च तद्विशेषैर्निरन्तरः ॥ ८ ॥
 शृङ्गारं द्विविधं विद्याद् वाह्नेपथ्यक्रियात्मकम् ।
 ह्यसश्चतुर्विधोऽलक्ष्यदन्तः सित इतीरितः ॥ ९ ॥
 किञ्चिद्वक्षितदन्ताग्रं हसितं फुललोचनम् ।
 विहसितं सखनं स्याज्जिह्वोपहसितं तु तत् ॥ १० ॥
 सशब्दं पापहसितमशब्दमतिहासितम् ।
 यश्चासौ करुणो नाम स रसस्त्रिविधो भवेत् ॥ ११ ॥
 धर्मोपघातजश्चित्तविलासजनितस्तथा ।
 शोकः शोकाद् भवेत्स्वायी कः स्वायी पूर्वजो मतः ॥ १२ ॥

अङ्गनेपथ्यवाक्यैश्च रौद्रोऽपि त्रिविधो रसः ।
 तस्य निर्वर्तकः क्रोधः खेदो रोमाञ्चवेपथू ॥ १३ ॥
 दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीर इति त्रयम् ।
 वीरस्तस्य च निष्पत्तिहेतुरुत्साह इष्यते ॥ १४ ॥
 आरम्भेषु भवेद्यत्र वीरमेवानुवर्तते ।
 भयानको नाम रसस्तस्य निर्वर्तकं भयम् ॥ १५ ॥
 उद्वेजनः क्षोभणश्च बीभत्सो द्विविधः स्मृतः ।
 उद्वेजनः स्यात्पुत्याद्यैः क्षोभणो रुधिरादिभिः ॥ १६ ॥
 जुगुप्साऽऽरम्भिका तस्य सात्त्विकांशो निर्वर्तते ।
 काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते ॥ १७ ॥
 अलंकरिण्यस्ते च शब्दमर्थमुभौ त्रिधा ।
 ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलंकर्तुमिह क्षमाः ॥ १८ ॥
 शब्दालंकारमाहुस्ताम्काव्यमीमांसका विदः ।
 छाया मुद्रा तथोक्तिश्च युक्तिर्गुम्फनया सह ॥ १९ ॥
 चाकोषाफ्यमनुप्रासश्चिधं दुष्करमेव च ।
 ज्ञेया नवालंकृतयः शब्दानामित्यसंकरात् ॥ २० ॥
 तत्रान्योक्तेरनुकृतिश्छाया सापि चतुर्विधा ।
 लोकच्छेकार्भकोकीनामेकोक्तेरनुकारतः ॥ २१ ॥
 आभाणकोक्तिर्लोकोक्तिः सर्वसामान्य एव ताः ।
 यानुधावति लोकोक्तिश्छायामिच्छन्ति तां बुधाः ॥ २२ ॥
 छेका विदग्धा वैदग्ध्यं कलासु कुशला मतिः ।
 तामुल्लिखन्ती छेकोक्तिश्छाया कविभिरिष्यते ॥ २३ ॥
 अव्युत्पन्नोक्तिरखिलैरर्भकोक्त्योपलक्ष्यते ।
 तेनार्भकोक्तिश्छाया तन्मात्रोक्तिमनुकुर्यती ॥ २४ ॥
 विस्तृताक्षरमश्लीलं यच्चो मत्तस्य तादृशी ।
 सा सा भवति मत्तोक्तिश्छायायोज्याप्यतिशोभते ॥ २५ ॥
 अभिप्रायविशेषेण कविशक्तिं विवृण्वती ।
 मुत्प्रदायिनीति(?) सा मुद्रा सैव शय्यापि नो मते ॥ २६ ॥
 उक्तिः सा कथ्यते यस्यामर्थकोऽप्युपपत्तिमान् ।
 लोकयात्रार्थविधिना धिनोति हृदयं सताम् ॥ २७ ॥
 उभौ विधिनिषेधौ च नियमानियमावपि ।
 विकल्पपरिसंख्ये च तदीयाः पञ्चोक्तयः ॥ २८ ॥
 अयुक्तयोरिव मिथो वाच्यवाचकयोर्द्वयोः ।
 योजनार्थं कल्प्यमाना युक्तिरुक्ता मनीषिभिः ॥ २९ ॥
 पदं चेव पदार्थं च वाक्यं वाक्यार्थमेव च ।
 विषयोऽस्याः प्रकरणं प्रपञ्चश्चेति पट्टिपः ॥ ३० ॥

शुष्कना रचना चर्या शब्दार्थक्रमगोचरा ।
 शब्दानुकारादर्थानुपूर्वार्थेयं क्रमात्रिधा ॥ ३१ ॥
 उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यं वाकोवाक्यं द्विधैव तत् ।
 ऋजुवक्रोक्तिभेदेन तत्राद्यं सहजं वचः ॥ ३२ ॥
 सा पूर्वप्रश्निका प्रश्नपूर्विकेति द्विधा भवेत् ।
 वक्रोक्तिस्तु भवेद्ब्रह्म्या काकुस्तेन कृता द्विधा ॥ ३३ ॥
 इत्यादिमहापुराणे आमेयेऽभिनयादिनिरूपणं नाम द्वावत्ता-
 रिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४२ ॥

अथ शब्दालंकाराः ।

अभिरुचाच—

स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः ।
 एकवर्णानेकवर्णावृत्तेर्वर्णगुणो द्विधा ॥ १ ॥
 एकवर्णगतावृत्तेर्जायन्ते पञ्च वृत्तयः ।
 मधुरा ललिता प्रौढा भद्रा परुषया सह ॥ २ ॥
 मधुरायाश्च वर्गान्तादधोवर्ग्या रणौ स्वनौ ।
 ह्रस्वसरेणान्तरितौ संयुक्तत्वं नकारयोः ॥ ३ ॥
 न कार्या वर्ग्यवर्णानामावृत्तिः पञ्चमाधिका ।
 महाप्राणोष्मसंयोगप्रविमुक्तलघूत्तरौ ॥ ४ ॥
 ललिता यलभूयिष्ठा प्रौढा या पणवर्गजा ।
 ऊर्ध्वं रेफेण युज्यन्ते नटवर्णौ न पञ्चमाः ॥ ५ ॥
 भद्रायां परिशिष्टाः स्युः परुषा साभिधीयते ।
 भवन्ति यस्यामूष्माणः संयुक्तास्तत्तदक्षरैः ॥ ६ ॥
 अकारवर्जमावृत्तिः स्वराणामतिभूयसी ।
 अनुस्वारविसर्गां च पारुष्याय निरन्तरौ ॥ ७ ॥
 शपसा रेफसंयुक्ताश्चाकारश्चापि भूयसा ।
 अन्तस्था भिन्नमाभ्यां च ह्रः पारुष्याय संयुतः ॥ ८ ॥
 अन्यथापि गुरुवर्णः संयुक्ते परिपन्थिनि ।
 पारुष्याद्यादिमांस्तत्र पूजिता न तु पञ्चमी ॥ ९ ॥
 क्षेपे शब्दानुकारे च परुषापि प्रयुज्यते ।
 कर्णाटी कौन्तली कौन्ती कौटुणी वामनासिका ॥ १० ॥
 द्रावणी माधवी पञ्चवर्णान्तःस्थोष्मभिः क्रमात् ।
 अनेकवर्णावृत्तिर्या भिन्नार्थप्रतिपादिका ॥ ११ ॥
 यमकं साव्यपेतं च व्यपेतं चेति तद् द्विधा ।
 आनन्तर्याव्यपेतं व्यपेतं व्यवधानतः ॥ १२ ॥

द्वैविध्येनानयोः स्थानपादभेदाच्चतुर्विधम् ।
 आदिपादादिमध्यान्तेष्वेकद्वित्रिनियोगतः ॥ १३ ॥
 सप्तधा सप्तपूर्वेण चेत्पादेनोत्तरोत्तरः ।
 एकद्वित्रिपदारम्भस्तुल्यः षोढा तदा परम् ॥ १४ ॥
 तृतीयं त्रिविधं पादस्यादिमध्यान्तगोचरम् ।
 पादान्तयमकं चैव काञ्चीयमकमेव च ॥ १५ ॥
 संसर्गयमकं चैव विक्रान्तयमकं तथा ।
 पादादियमकं चैव तथाप्रेडितमेव च ॥ १६ ॥
 चतुर्व्यवसितं चैव मालायमकमेव च ।
 दशधा यमकं श्रेष्ठं तद्भेदा बहवोऽपरे ॥ १७ ॥
 स्वतन्त्रस्यान्यतन्त्रस्य पदस्यावर्तना द्विधा ।
 भिन्नप्रयोजनपदस्यावृत्तिं मनुजा विदुः ॥ १८ ॥
 द्वयोरावृत्तपदयोः समस्ता स्यात्समासतः ।
 असमासात्तयोर्व्यस्ता पादे त्येकत्र विग्रहात् ॥ १९ ॥
 चाफ्यस्यावृत्तिरप्येवं यथासंभवमिष्यते ।
 अलंकाराद्यनुप्रासो लघु मध्येयमर्हणात् ॥ २० ॥
 यथा कयाचिद्वृत्त्या यत्समानमनुभूयते ।
 तद्रूपादिपदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥ २१ ॥
 गोष्ठ्यां कुतूहलाध्यायी चाग्वन्धश्चिन्नमुच्यते ।
 प्रश्नः प्रहेलिकागुप्तं च्युतदत्ते तथोभयम् ॥ २२ ॥
 समस्या सप्त तद्भेदा नानार्थस्यानुयोगतः ।
 यत्र प्रदीयते तुल्यवर्णविन्यासमुत्तरम् ॥ २३ ॥
 स प्रश्नः स्यादेकपृष्ठद्विपृष्ठोत्तरभेदतः ।
 द्विधैकपृष्ठो द्विविधः समस्तो व्यस्त एव च ॥ २४ ॥
 द्वयोरप्यर्थयोर्गुह्यमानशब्दा प्रहेलिका ।
 सा द्विधाऽऽर्थी च शाब्दी च तत्रार्थी चार्थबोधतः ॥ २५ ॥
 शब्दावबोधतः शाब्दी प्राहुः षोढा प्रहेलिका ।
 यस्मिन्गुप्तेऽपि चाफ्याङ्गे भाव्यर्थोऽपारमार्थिकः ॥ २६ ॥
 तदङ्गविहिताकाङ्क्षस्तद्वृत्तं गूढमप्यदः ।
 यत्रार्थान्तरनिर्भासो चाफ्याङ्गच्यवनादिभिः ॥ २७ ॥
 तदङ्गविहिताकाङ्क्षस्तद्वृत्तं स्याच्चतुर्विधम् ।
 स्वरव्यञ्जनविन्दूनां विसर्गस्य च विच्युतेः ॥ २८ ॥
 दत्तेऽपि यत्र चाफ्याङ्गे द्वितीयोऽर्थः प्रतीयते ।
 दत्तं तदाहुस्तद्भेदाः सरायेः पूर्ववन्मताः ॥ २९ ॥
 अपनीताक्षरस्थाने न्यस्ते वर्णान्तरेऽपि च ।
 नासतेऽर्थान्तरं यत्र च्युतदत्तं तदुच्यते ॥ ३० ॥

सुश्रितपद्यमेकं यन्मानलोकांशनिर्मितम् ।
 सा समस्या परस्यात्मपरयोः कृतिसंकरात् ॥ ३१ ॥
 दुःखेन कृतमत्यर्थं कविसामर्थ्यसूचकम् ।
 दुष्कर नीरसत्वेऽपि विदग्धानां महोत्सवः ॥ ३२ ॥
 नियमाच्च विदर्भाच्च बन्धाच्च भवति त्रिधा ।
 कवेः प्रतिष्ठानिर्माणरसस्य नियमः स्मृतः ॥ ३३ ॥
 स्थानेनापि स्वरेणापि व्यञ्जनेनापि स त्रिधा ।
 विकल्पः प्रातिलोम्यानुलोम्यादेवाभिधीयते ॥ ३४ ॥
 प्रातिलोम्यानुलोम्यं च शब्देनार्थेन जायते ।
 अनेकधा वृत्तचर्णविन्यासैः शिल्पकल्पना ॥ ३५ ॥
 तत्तरप्रसिद्धचस्तूनां बन्ध इत्यभिधीयते ।
 गोमूत्रिकार्धभ्रमणे सर्वतोभद्रमम्बुजम् ॥ ३६ ॥
 चक्रं चक्राक्षकं दण्डो मुरजाधेति चाष्टधा ।
 प्रत्यर्थं प्रतिपादं स्यादेकान्तरसमाक्षय ॥ ३७ ॥
 द्विधा गोमूत्रिकां पूर्वामाहुरध्वपदां परे ।
 अन्त्यां गोमूत्रिकां धेनुं जालबन्धं वदन्ति हि ॥ ३८ ॥
 अर्धोभ्यामर्धपादैश्च कुर्याद्विन्यासमेतयोः ।
 न्यस्तानामिह वर्णानामधोधः क्रमभागिनाम् ॥ ३९ ॥
 अधोधःस्थितवर्णानां यावत्तुर्यपदं नयेत् ।
 तुर्यपादान्नयेदूर्ध्वं पादार्धं प्रातिलोम्यतः ॥ ४० ॥
 तत्रैव सर्वतोभद्रं त्रिविधं सरसीरुहम् ।
 चतुष्पत्रं ततो विप्रं चतुष्पत्रे उभे अपि ॥ ४१ ॥
 अथ प्रथमपादस्य मूर्धन्यं त्रिपदाक्षरम् ।
 सर्वेषामेव पादानामन्ते तदुपजायते ॥ ४२ ॥
 प्राक्पदस्यान्तिमं प्रत्यक्पादादौ प्रातिलोम्यतः ।
 अन्त्यपादान्तिमं चाद्यपादादावक्षरद्वयम् ॥ ४३ ॥
 चतुश्छदे भवेदष्टच्छदे वर्णत्रयं पुनः ।
 स्यात्पोडशच्छदे त्वेकान्तरं चैकमक्षरम् ॥ ४४ ॥
 कर्णिकां तोलयेदूर्ध्वं पञ्चाक्षराक्षरवलिम् ।
 प्रवेष्टयेत्कर्णिकायां चतुष्पञ्चसरोरुहे ॥ ४५ ॥
 कर्णिकायां लिखेदेकं द्वे द्वे दिक्षु विदिक्षु च ।
 प्रवेशनिर्गमौ दिक्षु कुर्यादष्टच्छदेऽम्बुजे ॥ ४६ ॥
 विष्वग्विषमवर्णानां तावत्पञ्चावलीजुषाम् ।
 मध्ये समाक्षरन्यासः सरोजे पोडशच्छदे ॥ ४७ ॥
 द्विधा चक्रं चतुररं पडरं तत्र चादिमम् ।
 पूर्वार्धे सदृशा वर्णाः पादप्रथमपञ्चमाः ॥ ४८ ॥

अगुजोऽश्वगुजश्चैव तुर्यावर्ण्यमावपि ।
 तस्योपपादप्राक्प्रत्यगरेषु च यथाक्रमम् ॥ ४९ ॥
 स्यात्पादार्धचतुष्कं तु नामौ तस्याद्यमक्षरम् ।
 पञ्चमारावधि नयेन्नेमौ शेपे पदद्वयी ॥ ५० ॥
 तृतीये तुर्यपादान्ते प्रथमौ सदृशावुभौ ।
 वर्णो पादत्रयस्यापि दशमः सदृशो यदि ॥ ५१ ॥
 प्रथमे चरमे तस्य पङ्क्वर्णाः पश्चिमे यदि ।
 भवन्ति द्यन्तर तर्हि बृहच्चक्रमुदाहृतम् ॥ ५२ ॥
 संमुखारद्वये पादमेकैकं क्रमशो लिखेत् ।
 नामौ तु वर्णं दशमं नेमौ तुर्यपदं नयेत् ॥ ५३ ॥
 श्लोकस्याद्यन्तदशमाः समा आद्यन्तिमौ युजोः ।
 आदौ वर्णः समौ तुर्यपञ्चमावाद्यतुर्ययोः ॥ ५४ ॥
 द्वितीयप्रातिलोभ्येन तृतीयं जायते यदि ।
 पदं विदध्यात्पत्रस्य दण्डश्चक्राङ्गकं कृते ॥ ५५ ॥
 द्वितीयौ प्राग्दले तुर्यौ सप्तमौ च तथापर्यै ।
 सदृशानुत्तरदलौ द्वितीयाभ्यामधार्धयोः ॥ ५६ ॥
 द्वितीयपट्टाः सदृशाश्चतुर्थपञ्चमावपि ।
 आद्यन्तपादयोस्तुर्यौ परार्धसप्तमावपि ॥ ५७ ॥
 समौ तुर्यं पञ्चमं तु क्रमेण विनियोजयेत् ।
 तुर्यौ योज्यौ तु तद्वच्च दलान्ताः क्रमपादयोः ॥ ५८ ॥
 अर्धयोरन्तिमाद्यौ तु मुरजे सदृशावुभौ ।
 पादार्धपतितो वर्णः प्रातिलोभ्यानुलोमतः ॥ ५९ ॥
 अन्तिमं परिवर्त्तनीयाद्यावत्तुर्यमिहादिमत् ।
 पादास्तुर्याद्यदेवाद्य नवमात्पोऽदशादपि ॥ ६० ॥
 अक्षरात्पुटके मध्ये मध्येऽक्षरचतुष्टयम् ।
 कृत्वा कुर्याद्यथैतस्य मुरजाकारता भवेत् ॥ ६१ ॥
 द्वितीयं चक्रशार्दूलविक्रीडितकसंपदम् ।
 गोमूत्रिका सर्ववृत्तैरन्ये बन्धास्त्यनुष्टुभा ॥ ६२ ॥
 नामधेयं यदि न चेदमीषु कविकाव्ययोः ।
 मिश्रधेयानि तुभ्यन्ति नामित्रः सिद्यते तथै ॥ ६३ ॥
 घाणघाणासनव्योमयङ्गमुद्ररशक्तयः ।
 द्विचतुर्थप्रिशङ्गाटा दम्भोलिमुसलाङ्कुशाः ॥ ६४ ॥
 पदं रथस्य नागस्य पुष्करिण्यसिपुत्रिका ।
 पते बन्धास्तथा चान्य एवं ज्ञेयाः स्वयं बुधैः ॥ ६५ ॥
 इत्यादिमहापुराणे आद्ये शब्दालंकारनिरूपण नाम त्रिच-
 चत्वारिंशदधिकत्रिंशततमोऽध्यायः ॥ ३४३ ॥

अथार्थालंकाराः ।

अग्निरुवाच—

अलंकरणमर्थानामर्थालंकार इष्यते ।
 तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम् ॥ १ ॥
 अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती ।
 स्वरूपमथ सादृश्यमुत्प्रेक्षातिशयावपि ॥ २ ॥
 विभावना विरोधश्च हेतुश्च सममष्टधा ।
 स्वभाव एव भावानां स्वरूपमभिधीयते ॥ ३ ॥
 निजमागन्तुकं चेति द्विविधं तदुदाहृतम् ।
 सांसिद्धिकं निजं नैमित्तिकमागन्तुकं तथा ॥ ४ ॥
 सादृश्यं धर्मसामान्यमुपमा रूपकं तथा ।
 सहोत्तर्यर्थान्तरन्यासाविति स्यात्तु चतुर्विधः ॥ ५ ॥
 उपमा नाम सा यस्यामुपमानोपमेययोः ।
 सत्ता चान्तरसामान्ययोगित्वेऽपि विवक्षितम् ॥ ६ ॥
 किञ्चिदादाय सारूप्यं लोकयात्रा प्रवर्तते ।
 समासेनासमासेन सा द्विधा प्रतियोगिनः ॥ ७ ॥
 विग्रहादभिधानस्य सप्तमासाऽन्यथोत्तरा ।
 उपमाद्योतकपदेनोपमेयपदेन च ॥ ८ ॥
 ताभ्यां च विग्रहाद्विधा सप्तमासान्तिमा विधा ।
 विशिष्यमाणा उपमा भयन्त्यष्टादश स्फुटाः ॥ ९ ॥
 यत्र साधारणो धर्मः कथ्यते गम्यतेऽपि वा ।
 ते धर्मवस्तुभाधान्याद् धर्मवस्तूपमे उभे ॥ १० ॥
 तुल्यमेधोपमीयते यत्रान्योन्येन धर्मिणौ ।
 परस्परोपमा सा स्यात्प्रसिद्धेरन्यथा तयोः ॥ ११ ॥
 विपरीतोपमा सा स्याद् व्यावृत्तेर्नियमोपमा ।
 अन्यत्राप्यनुवृत्तेस्तु भवेदनियमोपमा ॥ १२ ॥
 समुच्चयोपमातोऽन्यधर्मबाहुल्यकीर्तनात् ।
 यद्वर्धमस्य साम्येऽपि वैलक्षण्यं विवक्षितम् ॥ १३ ॥
 यदुच्यतेऽतिरिक्तत्वं व्यतिरेकोपमा तु सा ।
 यत्रोपमा स्याद् बहुभिः सदृशैः सा बहूपमा ॥ १४ ॥
 धर्माः प्रत्युपमानं चेदन्या मालोपमैव सा ।
 उपमानविकारेण तुलना विक्रियोपमा ॥ १५ ॥
 प्रेलोक्यासंभवि किमप्यारोप्य प्रतियोगिनि ।
 कविनोपमीयते या हि प्रथते साद्रुतोपमा ॥ १६ ॥
 प्रतियोगिनमारोप्य तदभेदेन कीर्तनम् ।
 उपमेयस्य सा मोहोपमासौ भ्रान्तिमद्वयः ॥ १७ ॥

उभयोर्धर्मिणोस्तथ्यानिश्चयात्संशयोपमा ।
 उपमेयस्य संशय्य निश्चयाग्निश्चयोपमा ॥ १८ ॥
 वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थोपमा स्यादुपमानतः ।
 आत्मोपमानादुपमा साधारण्यतिशायिनि ॥ १९ ॥
 उपमेयं यदन्यस्य तदन्यस्योपमा मता ।
 यशुत्तरोत्तरं याति तदासौ गगनोपमा ॥ २० ॥
 प्रशंसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा ।
 किञ्चिच्च सदृशी ज्ञेया उपमा पञ्चधा पुनः ॥ २१ ॥
 उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
 गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ॥ २२ ॥
 उपमेव तिरोभूतमेदा रूपकमेव वा ।
 सहोक्तिः सहभावेन कथनं तुल्यधर्मिणाम् ॥ २३ ॥
 भवेदर्थान्तरन्यासः सादृश्येनोत्तरेण सः ।
 अन्यथोपस्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य च ॥ २४ ॥
 अन्यथा मन्यते यत्र तामुल्लेक्षां प्रचक्षते ।
 लोकसीमातिवृत्तस्य वस्तुधर्मस्य कीर्तनम् ॥ २५ ॥
 भवेदतिशयो नाम संभवासंभवाद् द्विधा ।
 गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम् ॥ २६ ॥
 विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरुच्यते ।
 प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किञ्चित्कारणान्तरम् ॥ २७ ॥
 यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना ।
 संगतीकरणं युक्त्या यदसंगच्छमानयोः ॥ २८ ॥
 विरोधपूर्वकत्वेन तद्विरोध इति स्मृतम् ।
 सिंसाधयिपितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः ॥ २९ ॥
 कारको ज्ञापक इति द्विधा सोऽप्युपजायते ।
 प्रवर्तते कारकाख्यः प्राक्पश्चात्कार्यजन्मतः ॥ ३० ॥
 पूर्णशेष इति ख्यातस्तयोरेव विशेषयोः ।
 कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् ॥ ३१ ॥
 ज्ञापकाख्यस्य मेदोऽस्ति नदीपूरादिदर्शनात् ।
 अविनाभावनियमो ह्यविनाभावदर्शनात् ॥ ३२ ॥
 इत्यादिमहापुराणे आग्नेयेऽर्थालंकारनिरूपणं नाम चतुष्टया-
 रिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

अथ शब्दार्थयोरलंकाराः ।

अग्निरुवाच—

शब्दार्थयोरलंकारो द्वावलंङ्कुरुते समम् ।
 एकत्र निहितो हारः स्तनं ग्रीवामिथ क्रियाः ॥ १ ॥

प्रशस्तिः कान्तिरौचित्यं संक्षेपो वाचदर्थता ।
 अभिव्यक्तिरिति व्यक्तं पदभेदास्तस्य जायति ॥ २ ॥
 प्रशस्तिः परचन्मर्मद्रवीकरणकर्मणः ।
 वाचोयुक्तिर्द्विधा सा च प्रेमोक्तिस्तुतिमेवतः ॥ ३ ॥
 प्रेमोक्तिस्तुतिपर्यायो प्रियोक्तिगुणकीर्तने ।
 कान्तिः सर्वमनोरुच्यवाच्यवाचकसंगतिः ॥ ४ ॥
 यथा वस्तु तथा रीतिर्यथा वृत्तिस्तथा रसः ।
 ऊर्जस्विमृदुसंदर्भादौचित्यमुपजायते ॥ ५ ॥
 संक्षेपो वाचकेरुपेयहोरेष्यस्य संग्रहः ।
 अन्यूनधिकता शब्दवस्तुनोर्यावदर्थता ॥ ६ ॥
 प्रकटत्वमभिव्यक्तिः श्रुतिरक्षेप इत्यपि ।
 तस्या भेदे श्रुतिस्तत्र शाब्दं सार्थसमर्पणम् ॥ ७ ॥
 भवेधैमित्तिकी पारिभाषिकी द्विविधेय सा ।
 संकेतः परिभाषेति ततः स्यात्पारिभाषिकी ॥ ८ ॥
 मुख्यौपचारिकी चेति सा च सा च द्विधा द्विधा ।
 स्वाभिधेयस्वलङ्घितिरमुख्यार्थस्य वाचकः ॥ ९ ॥
 यथा शब्दो निमित्तेन केनचित्सौपचारिकी ।
 सा च लक्षणीकी गोणी लक्षणागुणयोगतः ॥ १० ॥
 अभिधेयायिनाभूता प्रतीतिलक्षणेच्यते ।
 अभिधेयेन संबन्धात्सामीप्यात्समयायतः ॥ ११ ॥
 वैपरीत्यातिक्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ।
 गोणी गुणानामानन्त्यादनन्ता तद्विवक्षया ॥ १२ ॥
 अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधेन ।
 सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिदं स्मृतः ॥ १३ ॥
 श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद्भाति सचेतनः ।
 स भाक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यप्यते यतः ॥ १४ ॥
 शब्देनार्थेन यन्मार्थं कृत्वा स्वयमुपाज्जनम् ।
 प्रतीवेद्य इवेष्टस्य यो विशेषोऽभिधित्सया ॥ १५ ॥
 तमोक्षेप वृथन्त्यत्र स्तुत स्तोत्रमिदं पुनः ।
 अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ॥ १६ ॥
 यत्रोक्तं गम्यते नार्थस्तत्समानविशेषणम् ।
 सा समासोक्तिरुदिता संक्षेपार्थतया बुधैः ॥ १७ ॥
 अपङ्कितिरपङ्कत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम् ।
 पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणभिधीयते ॥
 पयामेकतमस्यैव समारया ध्वनिरित्यतः ॥ १८ ॥
 इत्यादिमहापुराणे आमेवे शब्दार्थालंकारनिरूपण नाम पञ्च-
 चत्वारिंशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४५ ॥

शब्दार्थो (नु) दुपकुर्वाणो नाम्नोभयगुणः स्मृतः ।
 तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यं प्रशस्तता ॥ १८ ॥
 पाको राग इति प्राज्ञैः पदं मपञ्चविपश्चिताः ।
 सुप्रसिद्धार्थपदता प्रसाद इति गीयते ॥ १९ ॥
 उत्कर्षवान्गुणः कश्चिद्यस्मिन्नुक्ते प्र(ली) तीयते ।
 तत्सौभाग्यमुदारत्वं प्रचदन्ति मनीषिणः ॥ २० ॥
 यथासंख्यमनूदेशः सामान्यमतिदिश्यते ।
 समये वर्णनीयस्य दारुणस्यापि वस्तुनः ॥ २१ ॥
 अदारुणेन शब्देन प्राशस्त्यमुपवर्णनम् ।
 उच्चैः परिणतिः कापि पाक इत्यभिधीयते ॥ २२ ॥
 मृद्धीकानारिकेलाम्बुपाकभेदाद्यतुर्विधः ।
 आदावन्ते च सौरस्यं मृद्धीकापाक एव सः ॥ २३ ॥
 काव्येच्छया विशेषो यः स राग इति गीयते ।
 अभ्यासोपहितः कान्तिं सहजामतिवर्तते ॥ २४ ॥
 द्वारिद्वैधैव कोसुम्भो नीलीरागाश्च स त्रिधा ।
 वैशेषिकः परित्येयो यः स्वलक्षणमोचरः ॥ २५ ॥
 इत्यादिमहापुराणे आग्नेये काव्यगुणविवेकवर्णनं नाम पदचत्वारः
 रिशदधिकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४६ ॥

अथ काव्यदोषविवेकः ।

अभिख्याच—

उद्देशजनको दोषः सभ्यानां स च सप्तधा ।
 वक्तृवाचकवाच्यानामेकद्वित्रिनियोगतः ॥ १ ॥
 तत्र वक्ता कविर्नाम प्रथमे स च भेदतः ।
 संदिहानोऽविनीतः सन्नद्धो ज्ञाता चतुर्विधः ॥ २ ॥
 निमित्तपरिभाषायामर्थसंस्पर्शवाचकम् ।
 तद्देवौ पदवाक्ये द्वे कथितं लक्षणं द्वयोः ॥ ३ ॥
 असाधुत्वाप्रयुक्तत्वे द्वावेव पदनिग्रहौ ।
 शब्दशास्त्रविरुद्धत्वमसाधुत्वं विदुर्बुधाः ॥ ४ ॥
 व्युत्पन्नैरनिवृद्धत्वमप्रयुक्तत्वमुच्यते ।
 छान्दसत्वमविस्पष्टत्वं च कष्टत्वमेव च ॥ ५ ॥
 तदसामयिकत्वं च ग्राम्यत्वं चेति पञ्चधा ।
 छान्दसत्वं न भाषायामविस्पष्टमवोघतः ॥ ६ ॥
 गूढार्थता विपर्यस्तार्थता संशयितार्थता ।
 अविस्पष्टार्थता भेदास्तत्र गूढार्थतेति सा ॥ ७ ॥
 यन्प्रायो दुःखसंवेद्यो विपर्यस्तार्थता पुनः ।
 विवक्षितान्यशब्दार्थप्रतिपत्तिर्मल्लीमसा ॥ ८ ॥

अन्यार्थत्वासमर्थत्वे एतावेवोपसर्पतः ।
 संदिह्यमानवाच्यत्वमाहुः संशयितार्थताम् ॥ ९ ॥
 दोषत्वामनुवधाति सज्जनोद्वेजनादते ।
 असुखोच्चार्यमाणत्वं कष्टत्वं समयाच्च्युतिः ॥ १० ॥
 असामयिकता नेयामेतां च मुनयो जगुः ।
 ग्राम्यता तु जघन्यार्थप्रतिपत्तिः खलीकृता ॥ ११ ॥
 वक्तव्यग्रामवाच्यस्य वचनात्स्मरणादपि ।
 तद्वाचकपदेनाभिसाम्याद्भवति सा त्रिधा ॥ १२ ॥
 दोषः साधारणः प्रातिस्विकोऽर्थस्य तु सा द्विधा ।
 अनेकभागुपालम्भः साधारण इति स्मृतः ॥ १३ ॥
 क्रियाकारकयोर्भ्रंशो विसंधिः पुनरुक्तता ।
 व्यस्तसंयन्धता चेति पञ्च साधारणा मताः ॥ १४ ॥
 अक्रियत्वं क्रियाभ्रंशो भ्रष्टकारकता पुनः ।
 कर्त्रादिकारकाभावो विसंधिः संधिद्वयणम् ॥ १५ ॥
 विगतो वा विच्छिन्नो वा संधिः स भवति द्विधा ।
 संघेर्विच्छिन्नता कष्टमपदार्थान्तरागमात् ॥ १६ ॥
 पुनरुक्तत्वमाभीक्ष्ण्यादभिधानं द्विधैव तत् ।
 अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरर्थावृत्तिरपि द्विधा ॥ १७ ॥
 प्रयुक्तयरशब्देन तथा शब्दान्तरेण च ।
 नावर्तते पदावृत्तौ वाच्यमावर्तते पदम् ॥ १८ ॥
 प्यस्तसंयन्धता सुषु संयन्धो व्यवधानतः ।
 संयन्धान्तरनिर्भासात्संयन्धान्तरजन्मनः ॥ १९ ॥
 अभावेऽपि तयोरन्तर्व्यवधानात्रिधैव सा ।
 अन्तरा पदवाक्याभ्यां प्रतिभेदं पुनर्द्विधा ॥ २० ॥
 वाच्यमर्थार्थ्यमानत्यासद् द्विधा पदवाक्ययोः ।
 व्युत्पादितं पूर्वावाच्यं व्युत्पाद्यं चेति भिद्यते ॥ २१ ॥
 इष्टव्याधातकारित्वं हेतोः स्यादसमर्थता ।
 असिद्धत्वं विरुद्धत्वमनैकान्तिकता तथा ॥ २२ ॥
 एवं सत्प्रतिपक्षत्वं फाल्गुनार्तित्यसंकरः ।
 पक्षे सपक्षे नास्तित्वं विपक्षेऽस्तित्वमेव च ॥ २३ ॥
 काव्येषु पारिषद्यानां न भवेदप्यस्तुतम् ।
 एकादश निरर्थत्वं दुष्करादी न दुष्यति ॥ २४ ॥
 दुःखीकरोति दोषज्ञानदार्ढ्यं न दुष्करे ।
 न ग्राम्यतोद्वेगकरी प्रसिद्धलोकशास्त्रयोः ॥ २५ ॥
 क्रियाभ्रंशे न लक्ष्मास्ति क्रियाभ्यादात्योगतः ।
 भ्रष्टकारकतादोषयत्वाभ्यादात्कारक ॥ २६ ॥